हिन्दी-समिति-ग्रन्थमाला—९४

# पूर्व एशिया का आधुनिक इतिहास

[प्रथम खण्ड]

लेखक

हेराल्ड एम्० विनाके, पी०-एच्० डी०
प्राध्यापक, सिनसिनाटी विश्वविद्यालय

अनुवादिका

कुमारी विमला मिश्र, एम्० ए०

उत्तर प्रदेश हिन्दी संस्थान
(हिन्दी समिति प्रभाग)
राजर्षि पुरुषोत्तमदास टण्डन हिन्दी भवन;
महात्मा गांधी मार्ग, लखनऊ

## प्रस्तावना

हिन्दी और प्रादेशिक भाषाओ को शिक्षा का माध्यम बनाने के लिए यह आवश्यक है कि इनमे उच्चकोटि के प्रामाणिक ग्रन्थ अधिक-से अधिक संख्या मे तैयार किये जायँ। शिक्षा मन्त्रालय ने यह काम अपने हाथ मे ले लिया है और इसे बड़े पैमाने पर करने की योजना बनायी है। इस योजना के अन्तर्गत अग्रेजी और अन्य भाषाओ के प्रामाणिक ग्रन्थो का अनुवाद किया जा रहा है तथा मौलिक ग्रन्थ भी लिखाये जा रहे हैं। यह काम राज्य सरकारो, विश्वविद्यालयो तथा प्रकाशको की सहायता से आरम्भ किया गया है। कुछ अनुवाद और प्रकाशन-कार्य शिक्षा-मन्त्रालय स्वय अपने अधीन करा रहा है। प्रसिद्ध विद्वान् और अध्यापक हमे इस योजना मे सहयोग प्रदान कर रहे हैं। अनुदित और नये साहित्य में भारत सरकार की शब्दावली का ही प्रयोग किया जा रहा है, ताकि भारत की सभी शैक्षणिक सस्थाओ मे एक ही पारभाषिक शब्दावली के आधार पर शिक्षा का आयोजन किया जा सके।

यह पुस्तक भारत सरकार के शिक्षा-मन्त्रालय की ओर से उ० प्र० हिन्दी संस्थान के हिन्दी समिति प्रभाग द्वारा प्रकाशित की जा रही है। इसके अंग्रेजी संस्करण के लेखक सिनसिनाटी-विश्वविद्यालय के प्राध्यापक हेराल्ड एम्० विनाके पी-एच डी. हैं और इसका हिन्दी अनुवाद कुमारी मिसला मिश्र ने किया है। आशा है कि भारत सरकार द्वारा मानक ग्रन्थों के प्रकाशन-सम्बन्धी इस प्रयास का सभी क्षेत्रों में स्वागत किया जायेगा।

भूतपूर्व शिक्षा मन्त्री
**भारत सरकार**

# संकेत

"पूर्व एशिया का आधुनिक इतिहास" प्रथम खण्ड आज से लगभग 18 वर्ष पूर्व हिन्दी समिति, सूचना विभाग द्वारा प्रकाशित किया गया था। यह पूर्वी एशिया के नवजागरण का उन्मेषकाल था जिसने पाठक वर्ग को उन समस्याओ की ओर विशेष आकर्षित किया जिनके आह्वान पर सघर्ष और उत्सर्ग का नया इतिहास निर्मित हो रहा था। तब से अब तक यांग-सी-क्यांग और गगा में बहुत पानी बह चुका है। चीन और भारत दोनो साम्राज्यवादी बन्धनो से मुक्त ही नही हुए, गरीबी, शोषण और वैषम्य के विरुद्ध जिहाद बोलते हुए बहुत आगे बढ चुके है। द्वितीय महायुद्ध के बाद चीन में माओ-युग और भारत में गाँधीयुग के साथ-साथ जापान का भी कायाकल्प हो गया। अब पूर्व एशिया सर्वथा नये परिवेश में अपने ही अन्तर्विरोधों से जूझ रहा है, फिर भी इस पुस्तक के द्वितीय संस्करण से साम्यवाद, गणतन्त्र और सैनिक निरंकुशता के दोले में झूलते हुए उत्तर-पूर्वी और दक्षिण-पूर्वी एशिया को अपनी पूर्व यात्रा के चरण चिह्नों से नये पथारोहों का संधान लगाने अथवा अपने युगान्तरकारी अभियानों के औचित्य-अनौचित्य के आकलन का अवलम्ब मिल सकता है। हम अब उस मोड पर आ गये हैं जहाँ से इक्कीसवी सदी का चौराहा धूमिल सा दिखने लगा है। सतत् अन्वेषी मानवता अपने ही अनुभवो के आधार पर यदि विश्व बन्धुत्व के स्वप्नो को साकार कर सकी तो इतिहास की ये कड़ियाँ उसके भावी पथ को प्रशस्त करने में सहायक हो सकेंगी, इसी बीच हिन्दी समिति अपने पुरोगामी विकास-क्रम में हिन्दी संस्थान का रूप ले चुकी है, जिसमें हिन्दी ग्रन्थ अकादमी भी जमुना के रूप मे आ मिली है। अन्तस्तल में सरस्वती तो प्रवाहित है ही। अस्तु, पूर्व एशिया का आधुनिक इतिहास का द्वितीय संस्करण अब उत्तर प्रदेश हिन्दी सस्थान की ओर से प्रकाशित हो रहा है जिसका मैं अभिनन्दन करता हूँ।

**विनोद चन्द्र पाण्डेय**
निदेशक
उ० प्र० हिन्दी संस्थान,
लखनऊ

**शिवमंगल सिह "सुमन"**
उपाध्यक्ष
उ० प्र० हिन्दी संस्थान,
लखनऊ

दिनांक 16/5/82

# विषय-सूची

**( पाद-टिप्पणी के लिए परिशिष्ट देखें )**

# पूर्व एशिया का आधुनिक इतिहास

[ प्रथम खण्ड ]

## पहला अध्याय

# चीन, मंचू शासन-काल में

## (१) देश और उसके आर्थिक साधन

सुदूर पूर्व के देशो का आधुनिक इतिहास तब से आरम्भ होता है, जब से वे अपने दीर्घकालीन एकान्त से निकल कर पश्चिमी ससार के सम्पर्क मे आये। इस इतिहास का निर्माण अधिकांशत उन बाहरी शक्तियों द्वारा हुआ है जिनसे इनमे से प्रत्येक देश की पुरातन संस्कृतियों तथा प्राचीन और दृढता से स्थित सस्थाओं का सुधार तथा रूप परिवर्तन हुआ है। यह ऐतिहासिक विकास तथा तज्जनित परिवर्तन समझने के लिए आधुनिक युग के प्रारम्भ में समाज की सामान्य परिस्थिति समझ लेना आवश्यक है। फलत' सन् १८४२ के बाद के चीन के इतिहास की रूपरेखा प्रस्तुत करने के लिए आधुनिक-युग के पूर्व चीन के बहुमुखी जीवन का वर्णन करना आवश्यक है।

पूर्व के पश्चिम से समागम के प्रारम्भ मे चीनी साम्राज्य के अग थे—(१) १८ प्रान्तों वाला मुख्य चीन, (२) मंचूरिया, जो अब तीन प्रान्तों मे विभाजित है, (३) तिब्बत, मगोलिया तथा सिक्यांग-जैसे अधीन क्षेत्र, जिनसे सघन पर्यवेक्षणीय संबंध स्थापित थे, तथा (४) कोरिया और अनाम-जैसे केवल नाम भर के सामन्त राज्य। इन सामन्त राज्यों को छोड़कर, किन्तु अधीन राज्यो को लेकर, चीन का कुल क्षेत्र-फल ४२,७७,१७० वर्गमील था—यह संहत क्षेत्र पोर्टो रीको, हवाई तथा अलास्का शामिल करके भी अमरीकी सयुक्त राज्य के क्षेत्रफल से ७,०५,९४७ वर्गमील अधिक है। इस क्षेत्र की भौगोलिक और एक सीमा तक जलवायु-संबंधी स्थिति यह कहने से भी स्पष्ट हो जायगी कि उत्तर में वैकूवर और दक्षिण में मैक्सिको नगरों के उष्ण और शीत जलवायु की पराकाष्ठाएँ वहाँ उपलब्ध है। इस प्रकार स्पष्ट हो जायगा कि चीन का बड़ा भाग उत्तरी शीतोष्ण कटिबंध में स्थित है, पर वहाँ उष्ण तथा अतिशीत कटिबंधो का जलवायु भी प्राप्त है।

इस भौगोलिक व जलवायु वैविध्य से चीन के कृषि जीवन मे भी यथासम्भव अनेकता है और चावल, कपास, चीनी, चाय, गेहूँ, जौ, मोटे अनाज व दूसरे अन्न आदि की उपज उपलब्ध है। इस उत्पादन विविधता के फलस्वरूप चीनियों ने न केवल अपना भोजन प्राप्त किया, वरन् वस्त्र, औजार, आभूषण आदि की सीमित

आवश्यकताएँ पूरी करने के लिए औद्योगिक क्रियाओं का भी विकास कर लिया। संवहन के सीमित साधनों में जितना व्यापक व्यापार सभव था उसका विकास भी हुआ।

यदि इस संपन्नता में पृथ्वी के गर्भ में छिपी संपदा भी जोड़ दें तो चीन की आत्म-निर्भरता के कारण तत्काल स्पष्ट हो जाते हैं। कोयला और लोहा, टीन, सीसा, चाँदी, सुरमा—चीन में ये सभी खनिज पदार्थ प्राप्त थे और पूर्व-आधुनिक काल में जनता की आदिम आवश्यकताओ की पूर्ति के लिए इनका पर्याप्त प्रयोग होता था। इस प्रकार, आर्थिक दृष्टि से, साम्राज्य स्वावलम्बी था और इसीलिए प्राचीन काल के यूरोपीय यात्रियो व व्यापारियो को इससे कुछ ईर्ष्या भी होती थी। आधुनिक युग से पहले चीन ने अपनी वास्तविक आवश्यकताओं की पूर्ति के लिए कभी विदेशों की ओर नही ताका, जबकि, दूसरे लोग बीच-बीच में लगातार चीन से व्यापार-संबंध स्थापित करने के लिए आतुर रहे। दूसरों की इस दिलचस्पी से, चीन के प्राकृतिक साधनो की समृद्धि, निर्विवाद रूप से, वास्तविकता से अधिक ही आँकी गयी, किन्तु अतिशयोक्ति छोड़ कर भी, यह वास्तविकता का सही अदाज था कि चीन, मूल रूप में, समृद्धिशाली देश है।

कृषि उत्पादन की विविधता केवल जलवायु के परिवर्तनों से ही संभव नहीं हुई, चीन के भौतिक और भौगोलिक लक्षणों मे भी उतनी ही व्यापक विविधता है जितनी कि अमरीकी संयुक्त राज्य में। एक ओर उत्तरी-पश्चिमी चीन और मंगोलिया के रेगिस्तान और चरागाहें हैं तो साथ ही उत्तर के पवनोढ मिट्टी के उपजाऊ मैदान भी हैं जो "चीन के शोक", पीत नद से सीचे जाते हैं और बहुधा आप्लावित भी होते रहते हैं। पीत नद के दक्षिण में मध्यक्षेत्र है जिसके जल का निकास चीन के सबसे बड़े और संसार के सबसे बड़ों में एक, जलमार्ग, यांग्त्सी नद द्वारा होता है। इससे भी दक्षिण में पश्चिम नद तथा उसकी सहायक नदियों का क्षेत्र है। इन तीन नदियों के पात्र, तीन प्राकृतिक, भौगोलिक क्षेत्र हैं जो एक ओर चीनी जनता के जीवन में अपना विशिष्ट योगदान करते हैं और दूसरी ओर उनमें अनेक समानताएँ भी हैं। इन समानताओं में सबसे प्रमुख है भूमि की प्रबल उर्वरा शक्ति जो उत्तर से दक्षिण तक समान रूप से फैली हुई है।

इन मैदानों की एकरूपता का शमन होता है उन पर्वत श्रेणियों से जो पश्चिम और दक्षिण-पश्चिम की ओर ऊँची होती हुई हिमालय श्रृंखला तक जा पहुँचती हैं। पर्वतों की चार मुख्य श्रृंखलाएँ हैं—लिएनशान, क्वानलुन, हिनगन, हिमालय—जो नदियों की भाँति विभिन्न भौगोलिक क्षेत्रों को विभाजित करती हैं। देश के जीवन

में इन पर्वतो का दूसरा बडा योग है खनिज संपदा का। किन्तु जहाँ नदियाँ समागम और संवहन का साधन है, वही पर्वत श्रेणियाँ उनमे अवरोध उपस्थित करती है। इस प्रकार, जेचुआन प्रान्त, शेष चीन के निरतर और प्रभावकारी संपर्क से कटकर स्वयमेव एक साम्राज्य-सा बन गया है। इसी प्रकार, दक्षिणी-पश्चिमी प्रान्तों से घनिष्ठ सपर्क और उनके नियत्रण मे ये पर्वत श्रेणियाँ व्यवधान उपस्थित करती है। दूसरी ओर, पर्वतो की पश्चिमी शृखला मुख्य चीन और पश्चिम के क्षेत्रो के बीच एक अवरोध बनी हुई है।

## (२) लोग

सन् १८४२ में चीन न केवल दुनिया का सबसे बडा भौगोलिक-राजनीतिक क्षेत्र था, वरन् सबसे अधिक जनसख्या का देश भी था। जनसख्या के केवल अनुमान मात्र प्राप्त है क्योकि गणना के ढंग सदोष थे, किन्तु, सन् १८१२ की आबादी ३६,२४,७३,१८२ काफी ठीक मानी जा सकती है।[१] आबादी के घनत्व और अत्यधिक भार के कारण सामान्यत: जनता गरीब थी और आधुनिक पश्चिमी मान के अनुसार रहन-सहन का स्तर नीचा था, यद्यपि सर्वसाधारण के लिए यह स्तर सत्रहवीं व अट्ठारहवी शताब्दी के यूरोप के मुकाबले में, विशेष नीचा नहीं था।

आज जो लोग सामूहिक रूप से चीनी जान जाते हैं, उनमें निर्विवाद रूप से उन विभिन्न वंशों का सम्मिश्रण है जो प्रारम्भ में मध्य एशिया तथा कालान्तर मे उत्तर-पश्चिम से चीन में आये। अनुमान है कि सबसे पहले आये प्रवासी पीत नद की घाटी में बस गये और वहाँ के आदिवासियो को दक्षिण की ओर धकेल दिया। इन वशों और इनकी संतानों को बाद में आनेवाले वंशों की लहरो ने दक्षिण की ओर खदेड़ दिया। वंशों की यह हलचल समाप्त होने के बाद सम्मिश्रण प्रारम्भ हुआ, या पूर्णता की ओर अग्रसरण हुआ। अब, आदिवासियों के अवशिष्ट वंशज, जैसे मिआओ लोग, दक्षिणी-पश्चिमी चीन में पाये जाते है; दूसरे आदिवासी, दक्षिण की ओर खदेड़े जाने पर, मलेशिया, हिन्दचीन, स्याम मे स्थान पा गये। उत्तरी और दक्षिणी चीनियों मे अब भी स्पष्ट शारीरिक अंतर है; अंशत जलवायु के अतर के कारण और अशत: अपूर्ण वंश-सम्मिश्रण के कारण क्योकि प्रवासी समूह एक दूसरे को अन्यत्र खदेड़ते गये, एक दूसरे के साथ रहे नही। मचू विजय के समय सांस्कृतिक आत्मी-करण शारीरिक व आकृतिक सम्मिश्रण से आगे बढ़ चुका था।

## (३) पूर्व-आधुनिक समाज

सैद्धान्तिक तथा व्यावहारिक, दोनों दृष्टियों से जनता पाँच वर्गों या व्यावसायिक समूहों में विभाजित थी। समाज के सबसे ऊँचे स्तर पर थे विद्वान् या पंडित जिनसे

अधिकारी वर्ग छाँटा जाता था। उनके बाद आते थे किसान जो सख्या की दृष्टि से सबसे बड़े वर्ग के थे और आत्मनिर्भर राज्य मे जीवन चलाने की दृष्टि से सबसे अधिक महत्त्वपूर्ण थे। शिल्पी तीसरे वर्ग में थे और व्यवसायी व व्यापारी चौथे वर्ग में। समाज के सबसे नीचे वर्ग मे आते थे सिपाही व भृत्य। चीन में एक कहावत है जिसका अर्थ है कि श्रेष्ठ लोहे से कीलें नही बनती और न भले लोगो से सिपाही बनते हैं।

अंशतः तो इस कारण कि आधिकारिक अधिमान्यता और प्रतिष्ठा का पथ विद्वत्ता और पठन-पाठन ही था, किन्तु इस कारण भी कि शिक्षा और विद्वत्ता को सर्वमान्य प्रतिष्ठा प्राप्त थी, चीनी समाज मे शिक्षित वर्ग का मान सबसे अधिक था। सभी सन्त-मनीषियो ने उन विद्वज्जनो की प्रतिष्ठा पर बल दिया जिनकी सफलता से संपूर्ण समाज की श्रीवृद्धि होती थी। इसके अतिरिक्त, शिक्षा का मार्ग कठिन, कठोर और श्रमसाध्य था। शिक्षित की उपाधि के इच्छुकों में इन कठिनाइयों के कारण अनेक मृत्यु को प्राप्त हो जाते थे और इसीलिए सफल व्यक्तियो की प्रतिष्ठा और अधिक होती थी।

किन्तु, समाज मे शिक्षा को मिलने वाली इस प्रतिष्ठा और बल से चीन में न तो उस अर्थ मे 'स्कूलों' की ही स्थापना हुई जिसमे वे आज पश्चिम मे जाने जाते हैं और न ज्ञान का प्रगतिशील प्रसार ही हुआ। वस्तुतः, साम्राज्य में ज्ञान के प्रसार में शिक्षा एक बड़ा अवरोध बन गयी। इसका एक बड़ा कारण तो केवल प्राचीन मनीषियों के विचारों और कृतियो—कहावतों के हू-ब-हू पुनरुत्पादन मात्र पर अत्यधिक बल दिया जाना था। दूसरा कारण यह भी था कि शिक्षा का ध्येय परीक्षाओं के लिए तैयारी मात्र था।[१] ये परीक्षाएँ केवल चिरप्रतिष्ठित शास्त्रीय सस्थापनाओं (क्लैसिक) पर आधारित होती थी और छात्र जानते थे कि इस संस्थापित साहित्य के अतिरिक्त और कुछ पठन-पाठन में समय लगाना समय नष्ट करना ही है।

विगत पर बल देकर शिक्षा-प्रणाली ने स्थायित्व प्रदान किया और फलतः उस स्थायी समाज का हितसाधन किया जिसे अपनी संस्कृति के पूर्णत्व की चेतना थी। जहाँ तक शिक्षा-प्रणाली सच्चाई से लागू होती थी, तथा केवल पुनरुत्पादन का प्रशिक्षण विकसित हुआ, इस प्रणाली में जनसेवाओ के लिए योग्यता-सम्पन्न व्यक्तियों को आकर्षित करने की क्षमता थी, तथा परीक्षाओं से वह प्रतिभा प्रकट होती थी जो जन-सेवाओं के कार्यान्वय के अनुकूल होती थी। उस समय के मानदण्डों के अनुसार इस प्रणाली से परिश्रमशील अतिपरिष्कृत अध्येता उत्पन्न हुए। किन्तु इसकी अच्छाइयों के बावजूद और इस बात के होते हुए भी कि विकसित सामाजिक जीवन

के सर्वोत्तम गुणो के परिरक्षण ओर स्थायित्व मे उपादेयता के बावजूद, इस तथ्य को स्वीकार करना ही होगा कि इस प्रणाली में एक ऐसे समाज की आवश्यकता पूर्ति की पूरी क्षमता नही थी जो नये विचारो और व्यवहारो को आत्मसात् करना चाहता है।

इस पडित या अध्येता वर्ग की सदस्यता से जो प्रतिष्ठा जुड़ी हुई थी, अनेक व्यक्ति उमे प्राप्त करने की आकाक्षा करते थे या इन अनेक व्यक्तियो के परिवार उन्हे यह प्रतिष्ठा दिलाने की अभिलाषा करते थे। जिस प्रकार अन्य देशो मे परिवार का एक बालक गिरजाघरो मे धर्म-पुरोहिताई करने के लिए अभिषिक्त कर दिया जाता था, उसी प्रकार बहुधा हर परिवार शिक्षा-दीक्षा के लिए एक बालक छॉट लेता था। ऐसे सौभाग्यशाली बालक का भरण-पोषण पूरे परिवार द्वारा होता। यदि बालक मेधावी हुआ और उसके परिवार के साधन ऐसे न हुए कि उसे शिक्षा दिला सकें, तो पूरा गाँव का गॉव उसके भरण-पोषण का दायित्व उठा लेता। सात या आठ वर्ष की वय में वह गाँव की पाठशाला जाता (इन संस्थाओ को वे लोग चलाते थे जिनके बच्चे पढते थे), और जब उसके भाई खेलते होते या काम करते होते, वह प्रात काल से रात मे देर तक किताबों मे जुटा रहता। निश्चित ग्रन्थों को रट लेना उसका काम था। यह कार्य सामान्यत., "ट्राइमीट्रिकल क्लासिक" से प्रारम्भ होता था और उसके बाद दूसरी प्रारम्भिक पुस्तक "Thousand Characte Classic" सहस्राक्षर ग्रन्थ होती थी। इसके उपरान्त छात्र कन्फूशियस की 'साहित्य चतुर्थी' Four Books पर पहुँचता था और फिर......"Great Learning" "Doctrine of the Mean" और Mencius के कार्य। इनका काव्यशास्त्र (Poetical Classic) द्वारा अनुसरण होता था, फिर इतिहास का ग्रन्थ (Book of History), Book of Changes, और Spring and Autumn Annals पढ़ी जाती थी। छात्र से अपेक्षा की जाती थी कि वह धीरे-धीरे इन पुस्तको को कण्ठस्थ कर ले; विषयो की उसकी समझ अधूरी ही रहती और उनके अर्थ वह लगभग नही के बराबर ही जानता होता था। इन क्लासिक ग्रन्थों की असंख्य टीकाओं में पारंगत होना शिक्षा का अगला कदम था। इसी के साथ-साथ यह प्रारम्भिक शिक्षार्थी शिक्षा की अगली मंज़िल मे पहुँचने के लिए अनिवार्य पूर्वांग के रूप में अक्षर बनाना भी सीखता जाता था। सबसे छोटी उपाधि की परीक्षा के लिए भी निबन्ध-रचना मे पारंगत होना आवश्यक होता था और यही शिक्षा की दूसरी मंज़िल होती थी।

तीन वर्ष में एक बार या पाँच वर्ष में दो बार पेकिंग से परीक्षक हर प्रान्त में आते थे। इन परीक्षकों के आगमन के पहले ही प्रान्त के कई-कई ज़िलों के छात्रो की

एक परीक्षा हो जाती थी जिसमें प्रान्तीय परीक्षाओं मे शामिल होने के लिए छात्र छाँटे जाते थे। जिले की परीक्षा मे लगभग पाँच सौ छात्र शामिल होते थे। पहले दिन छात्रों को तीन विषय दे दिये जाते—इनमें से दो पर छात्रों को क्लासिक शैली में निबन्ध रचने होते और एक पर कविता लिखनी होती थी। प्रातःकाल से ही छात्र परीक्षा में जुट जाते और उनमे से कुछ ही, शाम को तीन या चार बजे तक काम पूरा कर पाते, कुछ आधी रात तक जटे रहते थे और जो मन्द होते, उन्हे अवसर मिलता तो, दूसरे दिन प्रातः तक लिखते रहते। परीक्षा का परिणाम जाँचने मे दो-एक दिन लगते और उसके बाद परीक्षा फिर जारी हो जाती और इस बार परीक्षार्थियों की सख्या घट जाती, कभी-कभी आधी रह जाती। जिला स्तर की परीक्षा चार बार अलग-अलग दिन होती और हर बार कुछ-न-कुछ परीक्षार्थी छाँट दिये जाते।

जिला परीक्षाओं में सफल छात्र प्रधान नगर में होने वाली अगली प्रतियोगिता में भाग लेते थे। प्रधान नगर के हर जिले से आये इन परीक्षार्थियों की संख्या हजारों तक पहुँचती थी। परीक्षा पद्धति और प्रणाली जिला परीक्षा के समान ही होती थी, केवल ज्ञान का स्तर ऊँचा होता और निबन्ध के विषय और कठिन होते थे। प्रधान नगर की परीक्षा में उत्तीर्ण होने पर उपाधि मिलती थी---सिउ त्साइ या स्नातक की उपाधि।

सिउ त्साई उपाधिधारी चू-जेन नामक उपाधि के लिए होने वाली प्रान्तीय परीक्षाओं मे भाग लेने के अधिकारी हो जाते थे। जिन्हें चू-जेन की उपाधि मिल जाती थी, वे सरकारी पद पाने का अधिकार पा जाते थे और साथ ही, चिन शिह उपाधि के लिए होनेवाली केन्द्रीय परीक्षा में सम्मिलित हो सकते थे। चौथी और सबसे ऊँची उपाधि होती थी हानलिन, पर वह पद के रूप में होती थी, क्योंकि इससे साम्राज्य की विद्वत्परिषद् या अकादमी की सदस्यता मिलती थी और वेतन भी मिलता था।

इस शिक्षा से छात्र को, परीक्षाओं में सफल होने पर, सरकारी पद तो मिल सकता था, किन्तु आधुनिक जीवन की जटिल समस्याओं के संतोषजनक समाधान के लिए छात्र को तैयार करने में यह शिक्षा असफल थी। परीक्षा में असफल होने पर, या उन लोगों में होने पर जो सरकारी पद पाने के अधिकारी तो थे, किन्तु पदों की संख्या से अधिक छात्र छाँटे जाने के कारण बेकार थे, इन विद्वानो के पास जीविका कमाने के केवल दो ही साधन होते थे—अध्यापक या लिपिक का काम। शिक्षा के लिए प्रतिष्ठा और सम्मान होने के बावजूद अध्यापकों का वेतन कम था। इसके अतिरिक्त, हर पाठशाला के लिए कई अभ्यर्थी होते थे और पाठशाला के संरक्षक

अध्यापक पर होनेवाले खर्च को कम करने के लिए एक अभ्यर्थी को दूसरे से लड़ा कर वेतन कम करवा सकते थे।

इस प्रकार, सरकारी पद न मिलने पर, सफल अध्येता का जीवन भी चिन्ताओं से परे न होता था। सिद्धान्तो के बावजूद सरकारी पद प्राप्त करने के लिए सामान्यत समृद्धि या प्रभाव आवश्यक होते थे, क्योंकि पद देनेवाले पद के लिए पुरस्कार की अपेक्षा करते थे। फलत पडित वर्ग मे भी बडी सख्या मे लोग, प्रतिष्ठा के बावजूद घोर आर्थिक कठिनाइयों में जीवन-यापन करते थे। भौतिक दृष्टि से अध्यापन द्वारा इन विद्वानो को बहुत थोडा वेतन मिलता था। हाँ, उनके कुछ विशेषाधिकार अवश्य होते थे, यदि वे अपराधी सिद्ध हो जाते, तब भी उन्हे बाँस से पीटा नही जाता था, दण्डनायक के कार्यालय मे भी विद्वानो के अधिकार सामान्य जन से अधिक होते थे।

पहली बार सोचने पर आश्चर्य होता है कि चीनियों द्वारा शिक्षा और ज्ञान पर इतना जोर देने पर भी, वहाँ विज्ञान का विकास नही हो पाया, या समाज में बड़े व्यावसायिक वर्ग नहीं बन पाये, पर वस्तुस्थिति वास्तव मे यही थी। चिकित्सा अधिकांशत: झाड़-फूँकवाली नीमहकीमी थी, क्योंकि वह प्रयोगों द्वारा सचित ज्ञान पर आधारित नही थी; वकालती पेशे का अस्तित्व ही नहीं था; यांत्रिक या अभियात्रिक ज्ञान आशाजनक प्रारम्भ के उपरान्त अविकसित अवस्था में छूटा हुआ था। उदाहरणार्थ, फेंग शुइ[3] (वायु व जल का सिद्धान्त) मे भवन-निर्माण की समस्याओ का समाधान कम था, इमारतो की स्थिति और बनावट सबंधी व्याख्या अधिक थी। यह बात फिर दोहरायी जा सकती है कि ज्ञान की हर शाखा में अवरुद्ध विकास की जो स्थिति थी, वह मूलतः उस शिक्षा प्रणाली के कारण थी जो (१) प्राचीन उपदेशों में सर्वकालीन ज्ञान के समुच्चय के आधार पर स्थित थी, और जो (२) दार्शनिकों की सूक्तियों की हू-ब-हू पुनरावृत्ति और निबन्ध-रचना की क्षमता को मुख्य योग्यता मान कर अफसरों की नियुक्ति की दृष्टि से परीक्षाओं के लिए छात्रो को तैयार करने की प्रेरणा पर आधारित थी। अवरुद्ध विकास की इस स्थिति का एक कारण उन समाजो से समागम का अभाव भी था, जो चीन के समकक्ष ही विकसित हो चुके थे। इस समागम-सपर्क से विचार-व्यवहार की तुलनाएँ होती और विकास की प्रेरणा मिलती, इस प्रेरणा का वहाँ अभाव था। सभवतः, अवरुद्ध विकास का यह भी उतना ही मूलभूत कारण था जितना कि शिक्षा-प्रणाली मे कुछ बातों पर अनुचित बल दिया जाना। स्थिति को समझने के लिए दोनों ही कारणो को समझना होगा।

चीन की ८० प्रतिशत जनता खेती में लगी थी, किन्तु किसान अपने खेतों पर नहीं रहते थे जैसा कि अमरीका में होता है वरन्, गाँवो मे रहते थे जहाँ कहीं तो

कुछ ही घर होते थे और कही कई सौ तक। जहाँ इतनी बड़ी जनसख्या खेती मे लगी हो, यह अनिवार्य ही था कि कुछ क्षेत्रो मे एक गाँव के खत्म होते ही दूसरा गाँव शुरू हो जाय। किसी अमरीकी यात्री को चीनी भू दृश्य में जो विलक्षणता दिखाई दी वह गाँवों के बाहर घरो का पूर्ण अभाव था।

चूँकि आबादी का इतना बड़ा भाग गाँवो मे रहता था, इसलिए यहाँ ग्राम-समाज का सगठन और जीवन सक्षेप मे समझ लेना उचित होगा। सामान्यतः, गाँवो के नाम एक-दो परिवारो के नाम पर ही रखे जाते थे, और चूँकि इन नामो की संख्या सीमित थी, चुआंग या गाँवो के नामो में चैग, वैग, ली आदि की बहुलता थी। किन्तु, कभी-कभी किसी गाँव का नाम प्राचीन काल में बने गाँव के मन्दिर पर भी पड़ जाता था, या दण्डनायक की राजधानी से दूरी पर नाम पड़ जाता था। कभी-कभी गाँव के असली नाम की जगह चिढ़ाने के लिए कोई उपनाम पड़ जाता और वही सरकारी व गैर-सरकारी तौर पर प्रयुक्त होने लगता था।[६]

गाँव के जीवन का केन्द्र होता था मंदिर—वह चाहे प्राचीन, पुश्तैनी हो या बौद्ध—यद्यपि वहाँ कोई प्रभावशाली पुरोहित-वर्ग नही था जो जनता का मार्ग-दर्शन करता या भर्त्सना करता। मंदिरों से लगी भूमि पर ही, सामान्यतः, साप्ताहिक या अर्द्ध-साप्ताहिक हाट लगती थी, जहाँ लोग अपनी पैदावार की बचत लाते थे और उन चलते-फिरते व्यापारियो से सामान लेते थे जो एक हाट से दूसरी हाट घूमते रहते थे। इसी भूमि पर जनता के मनोरंजन के लिए नाटकों आदि का आयोजन होता था और यहीं वह "तटस्थक्षेत्र" होता था जहाँ व्यक्तियों या परिवारों के पारस्परिक विवाद निपटाने के लिए "सुलह की बात करने वाले" मिलते थे।

सामाजिक दृष्टि से चीन व्यक्ति के आधार पर नहीं, परिवार के आधार पर संगठित था। स्वभावतः, यही संगठन गाँवो मे भी व्याप्त था। चीनी परिवार केवल पति, पत्नी व बच्चों तक ही सीमित नही होता था। युवक विवाह के बाद पत्नी को अपने माता-पिता के घर लाता जहाँ माता-पिता के माता-पिता भी रहते थे। इस प्रकार एक ही घर में पर-बाबा, बाबा, पिता, पुत्र, सभी रहते थे। घर पर नियन्त्रण सबसे बड़े-बूढ़े मर्द का या पर-बाबा या बाबा के मर जाने पर दादी या पर-दादी का होता था। तीस, चालीस, पचास साल तक की उम्र का व्यक्ति भी अपनी उम्र के बल पर घर का मालिक नहीं हो सकता था।

जहाँ भी इस प्रकार का पितृसत्तात्मक समाज होता था यह स्वाभाविक ही था कि परिवार के सनातन स्थायित्व और परिवार के भीतर पारस्परिक संबंधों पर विशेष बल दिया जाय। इस प्रकार व्यक्ति को विवाह करने या न करने की स्वतंत्रता नहीं थी;

वश चलाने के लिए छोटी उम्र मे ही उसका विवाह तय कर दिया जाता था, और व्यक्ति का एक विशेष उत्तरदायित्व यह होता था कि वह पुत्र उत्पन्न कर वश की श्रृंखला कायम रखे। चूँकि वश-परपरा केवल पुत्रो से ही चल सकती थी, पुत्रो को पुत्रियो की तुलना मे वरीयता मिलती थी। पुत्र-जन्म खुशी मनाने का अवसर होता था जबकि पुत्री-जन्म चुपचाप गुजर जाता था (यदि शोक न किया गया तो)। पुत्र और पुत्री के बीच का यह भेद इस बात से और भी मुखर हो उठता था कि विवाह के बाद कन्या अपने कुल से पूरी तरह सबंध-विच्छेद कर पति के परिवार मे पूरी तरह अपने को मिला देती थी। इस प्रकार लडकियाँ अपने परिवारो का वश तो चला ही नही पाती थी, उनके परिवार उनके श्रम के लाभ से भी शीघ्र वचित हो जाते थे। लडकियो को शिक्षा-दीक्षा या अन्य सुविधाएँ देने का केवल एक ही लाभ था, और वह यह कि लडकी को अच्छे परिवार का अच्छा वर मिले और इस प्रकार लडकी के कुल का नाम ऊँचा हो।

परिवार के इस मत का प्रचलन तलाक के लिए माने गये कारणो मे भी प्रकट है। पति को पत्नी से निम्नलिखित कारणो मे से किसी पर भी पत्नी से छुटकारा मिल सकता था—बाँझपन, लम्पटता, पति के माता-पिता की अवहेलना, बातूनीपन, चोरी की प्रवृत्ति, ईर्ष्यालु या शकालु स्वभाव तथा स्थायी दुर्बलता। किन्तु तलाक तभी सभव था जब पत्नी के माता-पिता जीवित हों जिनके पास वह लौट सके, यदि वह पति के माता-पिता के लिए रीति-अनुकूल अवधि मे शोक-सतप्त न हो चुकी हो, या वह अपने पति के साथ निर्धनता से सम्पन्नता की स्थिति मे न आ चुकी हो। दूसरी ओर, चरम पराकाष्ठा वाले मामलों को छोड़ कर, पत्नी के पास केवल एक चारा था—उसके हितों की रक्षा के लिए उसके अपने परिवार का दबाव। वस्तुतः तलाक बहुत ही कम होते थे।

पितृ-परंपरा और पितृपूजा के विकास ने पुत्र प्राप्ति और पुत्र विवाह को और बल दिया। जो व्यक्ति पुत्रहीन मर जाता उसे मरने के बाद भेंट अर्पित नही होती और इसीलिए वह अपने पिता व बाबा के प्रति अपना कर्त्तव्य नही निबाह पाता। इस प्रकार, परिवार पर बल देने की एक धार्मिक परपरा बन गयी और इस परंपरा ने परिवार के गौरव को बल दिया।

वंश चलाने के दायित्व से रखैल या उप-पत्नी रखने की परपरा चली और उसे तर्कसगत माना गया। पत्नी के बाँझ होने पर या पुत्र उत्पन्न न कर सकने पर समृद्ध पति एक या एक से अधिक उप-पत्नियाँ रख सकता था। उप-पत्निया की हैसियत और पद, कानून और घर के अधिकार, दोनों दृष्टियों से पत्नी से कम होते थे।

आज्ञापालन और मृत्यु पर शोक-संताप मनाने की दृष्टियों से उनके बच्चे पत्नी के बच्चे ही माने जाते थे।

परिवार के भीतर स्वभावतः पिता की आज्ञा पालने पर बहुत ज़ोर दिया जाता था, किन्तु पति-पत्नी, भाई-भाई, भाई-बहन के पारस्परिक संबंध परिवार के बुजुर्ग के निर्देशन और अनुशासन में नियंत्रित होते थे। आशा की जाती थी कि इससे सौहार्द्र, स्नेह और परिवारिक शांति होगी, किन्तु सभवत जीवन की एकरसता के कारण, अंशतः पारिवारिक घर में अनेक व्यक्तियो के मौजूद रहने से एकान्त के अभाव के कारण, मतभेद बहुधा होते ही रहते थे। यदि कलह सतह पर आ जाती तो पड़ोसी भी उसमें आकृष्ट हो जाते थे (इस सिद्धान्त के आधार पर कि किसी का काम हर एक का काम है); क्योकि स्वय पारिवारिक जीवन भी एकान्त में निर्वाह नहीं होता था, जो एकान्त पश्चिम में स्वाभाविक माना जाता है।

गाँव के मुखिया के निर्देशन में, गाँव के बुजुर्गों की ज्येष्ठि-परिषद् द्वारा गाँव के भीतर अतर-पारिवारिक सबंध अन्य मामलो की भाँति परिचालित होते थे। पूरी परिषद् कभी एक बार विधिवत् चुनी नहीं जाती थी, वरन् विभिन्न परिवारों के बुजुर्ग उसमे शामिल होते रहते थे, या कुछ ऐसे लोग ही इस परिषद् में ले लिये जाते थे जिन पर सामान्यतः सबका भरोसा होता था कि वे गाँव की समस्याओं को सुचारु रूप से सुलझाते रहेंगे। देश के विभिन्न भागो में इस प्रथा के रूप बदलते रहते थे। बहुधा कठिनाइयों को "सुलह कराने वालो" के प्रयत्नों द्वारा हल करा लिया जाता था; ये सुलह कराने वाले या तो छाँट लिये जाते थे, या वे लोग होते थे जो स्वयं विशिष्ट विवादों में दोनों पक्षों में समझौता कराने का बीड़ा उठा लेते थे। सामान्यतः उनकी सेवाओं के लिए उन्हें दावतों द्वारा पुरस्कृत किया जाता था।

गाँव के बाहर, भूमि गाँव वालो के व्यक्तिगत स्वामित्व में होती थी। एक पीढ़ी के बाद दूसरी पीढ़ी में बराबर बँटते रहने के कारण जोतें छोटी थीं और बहुधा बिखरी हुई होती थीं। अतएव अमरीकी दृष्टि से बिलकुल अपर्याप्त जोतों से बहुत-से व्यक्तियों का पेट भरना होता था। इसलिए चीनी किसान आदिम औज़ारों से भी भूमि से, अत्यत कुशल श्रम-प्रधान कृषि द्वारा काफी उपजा लेता था। किन्तु इसके लिए सभी के अनवरत परिश्रम और अनेक छोटी-मोटी आर्थिक परियोजनाओं को भूमि पर लागू करना आवश्यक होता था। पीढ़ी-दर-पीढ़ी खेती होती रहने से भूमि की उर्वरा शक्ति क़ायम रखने का काम जारी रहता था। सारा कूड़ा-करकट सहेज कर इकट्ठा किया जाता और खाद बनाने के काम आता। पश्चिम में आधुनिक

विज्ञान ने भूमि की उर्वरा शक्ति क़ायम रखने के लिए जो प्रक्रियाएँ अब बतानी शुरू की है वे चीनियो को पूर्वजो के अनुभवो से पहले ही प्राप्त हो चुकी थी।

किन्तु इस सारे लाघव और कौशल के बावजूद चीनी किसान अपनी छोटी जोत से मुश्किल से जीवनयापन के साधन भर जुटा पाता था। अधिकांश किसान साल भर के आगे सोच भी नहीं सकते थे, साल-ब-साल, जैसे-तैसे, बीज का प्रबन्ध, औज़ारो की मरम्मत, शादी-समी का इन्तजाम, कभी किसी दावत में शामिल होने, गाँव के नाटको के लिए चन्दा देने आदि भर के लिए ही साधन जुटा पाते थे, किन्तु भविष्य मे दैन्य-विपन्नता को देशनिकाला देने के लिए काफी बचा लेना कठिन था। यदि बाढ़ या सूखे के कारण फसल ख़राब हो गयी या औसत से कम पैदावार हुई तो इस कठिन स्थिति का सामना करने का कोई उपाय नही होता था। बस, अकाल पड़ जाता और उसके साथ आने वाली भयावह स्थिति पैदा हो जाती—जड़ो और पत्तियों पर निर्वाह, परिवारो का विघटन, पुत्रियो का दासियों के रूप मे विक्रय और अनेक लोगो के लिए भुखमरी।

सामान्यत' अच्छे वर्षों मे भी कुछ ऐसे लोग होते थे जिनका निर्वाह कठिन होता था और वे परिवार के अधिक सौभाग्यशाली सदस्यो के आश्रित होते थे (यदि परिवार मे ऐसे सपन्न सदस्य हुए तो)। कभी वे फ़सल कट जाने के बाद खेतों में पड़े बचे-खुचे अनाज पर गुज़ारा करते थे और कभी, अवसर मिलने पर, फ़सल कटने के पहले ही कुछ अनाज चुरा लाते थे। चोरी की इस आशंका के कारण हर किसान अपनी फसल की तब तक चौबीसो घण्टे चौकसी करता था जब तक वह कट कर घरों में न आ जाती थी। बहुधा सारा गाँव मिल कर रखवाले नौकर रख लेता या गाँववाले बारी-बारी पहरा देते थे। पकड़े जाने पर, गाँववाले चोरो को कठोर दण्ड देते थे।

इस प्रकार, भूमि की उर्वरा-शक्ति किसान के कौशल और परिश्रम के कारण थी। चीन के प्राकृतिक साधनों की बहुलता के बावजूद वहाँ का किसान-समाज बड़ा अस्थिर और अनिश्चित जीवन बिताता था। सतानोत्पत्ति को वरीयता देने के कारण बढ़ती हुई जनसंख्या जीवन के इस सघर्ष के लिए उत्तरदायी थी। संघर्ष जीवन की आवश्यकताओ की पूर्ति के लिए होता था, विलास की सामग्री जुटाने के लिए नहीं। मिट्टी की दीवारें, छप्परों की छतें, सजावट और गर्म रखने की सुविधाओं से वचित घर, ठंढे कपड़े और जाड़ों के लिए रुई भरे कपड़े, निर्वाह योग्य भोजन और सतत् अनवरत परिश्रम—अधिकतर लोगों के लिए यही जीवन का स्वप्न था और विगत व भविष्य मे वे इसी जीवन की कल्पना कर पाते थे।

और तब भी लोगों का जीवन न तो निराशामय था और न बिलकुल रागहीन। श्रम की एकरसता भग करने के लिए कभी नाटक द्वारा मनोरंजन हो जाता। दावतों के लिए हर बहाना ढूँढ निकाला जाता—भोजन आनन्द का मुख्य साधन था। यद्यपि हार से अपार कष्ट होता था फिर भी लोग जुआ खेलने के अवसर उत्सुकता-पूर्वक ढूँढते थे।

किसानो के बाद शिल्पी या कारीगरो का वर्ग आता था। चूँकि उद्योग दस्त-कारी या हस्तशिल्प की मजिल तक ही पहुँचा था, इस वर्ग में मालिक या पूँजीपति और मजदूर या कारीगर-जैसे कोई स्पष्ट विभाजन नही हुए थे, जैसे कि अधिकाश पश्चिमी देशो मे आजकल है। सारा काम छोटे-छोटे घरो में होता था जो दूकान भी होते थे और घर भी। बहुधा दूकान सड़क पर या गली में खुलती थी ताकि आने-जाने वाले कारीगरो को काम करते देख सकें। इन उद्योग-संस्थानों में मालिक, शिल्पकार और शिक्षार्थी होते थे। सामान्यतः इन शिक्षार्थियो को सात साल तक काम सीखना पड़ता था जिसके बाद वे धन्धे में कारीगर या मालिक की हैसियत से शामिल हो सकते थे। धन्धो के नियमो के अनुसार हर कारीगर के नीचे काम करने वाले शागिदो की संख्या नियत होती थी, इसलिए इस बात की आशका नही थी कि उद्योग आवश्यकता से अधिक विकसित हो जायगा, या शिक्षार्थियो या कारीगरों का बाहुल्य हो जायगा। काम सीखने के बाद शिक्षार्थी दूकान में ही लगा रहकर अपने काम के लिए वेतन पा सकता था और शागिर्दी का गुजारा खत्म कर सकता था। या वह किसी दूसरी दूकान में नौकरी कर सकता था। या फिर वह अपनी दूकान स्वयं खोल सकता था। किन्तु, वास्तव में शागिर्द, उसी दूकान मे, जहां वे काम सीखते थे, कारीगर बनने के बाद भी काम करते रहते थे।

बड़े सस्थान दो या अधिक व्यक्तियों की साझेदारी में चलते थे यद्यपि सामूहिक या मिश्रित पूँजी संगठन-जैसे संस्थानों का तब अस्तित्व नहीं था। संस्थान के काम और देने-पावने के लिए साझेदार सामूहिक व व्यक्तिगत दोनों रूप से उत्तरदायी होते थे। और इस प्रथा को इस प्रचलित प्रणाली से बल मिलता था कि परिवार के सदस्यों का दायित्व परिवार का होता था। चीनियों की ईमानदारी की तो कहावतें बन गयी थीं कि चीनी की बात उतनी ही पक्की होती है जितने उसके दस्तखत। इससे पता चलता है कि वैयक्तिक व्यावसायिक मान अपेक्षतया ऊँचे थे। किन्तु यह भी स्वीकार करना होगा कि इन ऊँचे मानों की स्थापना और उन्हें कायम रखने में पारिवारिक उत्तरदायित्व वाले सामाजिक सगठन तथा संवृत्त आर्थिक संगठन से बहुत सहायता मिली।

पूरा उद्योग गिल्ड या श्रेणी में सगठित होता था। शिक्षार्थियों को छोड़ शेष सभी लोग श्रेणी के सदस्य होते और उसे चलाते थे। श्रेणी संगठन में वार्षिक चुनावो के द्वारा एक अध्यक्ष, एक मत्री तथा एक कार्यकारिणी समिति गठित होती थी। मत्री पंडितवर्ग का उपाधिधारी होता था और श्रेणी का सारा प्रशासनिक कार्य भार उसी पर होता था।

श्रेणी कीमतो को स्थिर करती थी, उद्योग के उत्पादन की किस्म निर्धारित करती थी और उद्योग में लगे लोगो के वेतन तय करती थी। वार्षिक बैठको मे निम्नतम कीमत, वेतन व उत्पादन के मान स्थिर कर दिये जाते थे। यद्यपि मालिकों को अपने विवेक से निम्नतम वेतन बढाने का भी अधिकार था, किन्तु व्यवहार मे ऐसा कदाचित् ही होता था। इस नियत्रण से अनुचित प्रतियोगिता रुक जाती थी और उद्योग मे एक स्थायित्व आ जाता था; जैसे शिक्षार्थियों की सख्या नियत करने से आता था।

श्रेणी के सदस्यो के बीच, मालिक और कारीगर के बीच, या एक श्रेणी व दूसरे उद्योग के बीच के विवादो को तय करने का काम भी महत्त्वपूर्ण था। श्रेणी मध्यस्थ समिति के .फ़ैसलों के विरुद्ध कदाचित् ही कोई अपील दण्डनायक तक पहुँचती थी, क्योंकि दण्डनायक समिति के पंच .फ़ैसले से लगभग हमेशा ही सहमत होना इष्टकर मानते थे। .फ़ैसला स्वीकार कर दण्ड भोगने के अलावा कोई चारा नही था, सिवा संगठन से अलग हो जाने के; और क़दम लोग कभी नही उठाते थे क्योंकि इससे व्यक्ति अपने प्रतियोगियों की दया का आश्रित हो जाता था। ये प्रतियोगी उसके कारीगरों को फ़ुसला लेने, उसके रास्ते मे अनेक छोटी-मोटी बाधाएँ डालने, समस्त मालिक और कच्चे माल के आढ़तिये मिलकर अपनी सामूहिक शक्ति द्वारा उसे व्यवसाय से बाहर खदेड़ देने को स्वतंत्र हो जाते थे।

औद्योगिक विवाद और अन्तर-उद्योग कठिनाइयों को श्रेणी-सहायता से हल करने के अलावा दण्डनायक व उद्योग के बीच सपर्क रखने का काम भी महत्त्वपूर्ण था। जैसा कि अभी कहा गया है उद्योग स्वयं अपना विनियमन कर लेता था, किन्तु कभी-कभी श्रेणी के सदस्य दण्डनायक के कार्यालय ऐसे मामले लेकर पहुँच जाते जिनका सबंध शान्ति और व्यवस्था से होता था और जो श्रेणी के निर्णय पर नही छोड़े जा सकते थे और जिन्हे दण्डनायक उपेक्षित नहीं कर सकता था। ऐसे मामलों मे पूरा सगठन अपने सदस्य के बचाव के लिए सन्नद्ध होता। श्रेणी का उपाधिधारी मंत्री दण्डनायक के कार्यालय में प्राप्त सुविधाओं के आधार पर यह निश्चित कर लेता था कि दण्डनायक का निर्णय मनमाना न हो। वह दण्डनायक को स्थानीय

जन-भावना से भी अवगत करा देता था ताकि वह कोई ऐसा निर्णय न कर बैठे जिससे बाद में कठिनाई हो। इस प्रकार, अधिकारियो से काम पड़ने पर, श्रेणी-सदस्य होने के नाते व्यक्ति को एक ऐसी सहायता प्राप्त हो जाती थी जो किसी अन्य सूत्र से मिलना कठिन था। चीन के जीवन मे यह आर्थिक रूप में सामूहिक हित की सुदृढ़ता उतनी ही महत्त्वपूर्ण थी जितनी कि सामाजिक परिवार-हित की सुदृढ़ता।

दण्डनायक भी नये कर लगाने, परपरागत करो में वृद्धि करने, या उद्योग से संबंधित कोई क़दम उठाने से पहले श्रेणी से परामर्श कर लेना इष्टकर समझता था। यदि श्रेणी के पदाधिकारियो से विवाद के सबंध में बात करके पहले से ही दण्डनायक समझौता नही कर लेता तो उसके निर्णय का विरोध होने पर व्यर्थ का झगड़ा शुरू होता। व्यापार बन्द हो सकता था, उत्पादन ठप हो सकता था। ऐसे भी अवसर आ सकते थे जब भीड इकट्ठी कर दण्डनायक के कार्यालय पर धावा बुलवाया जा सकता था, उसका घर लूटा जा सकता था और उसकी जान पर भी ख़तरा आ सकता था। फलतः, सफल दण्डनायक श्रेणी के पदाधिकारियों से मिल-जुलकर काम चलाता था, आवश्यकता पड़ने पर श्रेणी के नियम पालन कराने और दण्ड दिलाने मे सहायता करता था और इन पदाधिकारियों के सहयोग से अपने पद का कार्य संचालन करता था।

बैठकें करने और सामाजिक प्रयोजनों के लिए बहुत-सी श्रेणियों के अपने भवन होते थे; जो श्रेणियाँ सपन्न और महत्त्वपूर्ण होती थीं वे बड़ी सिब्बकियाँ रखते थे। यहाँ सदस्यों की दावतें और उनके मनोरजन के लिए नाटक आदि होते थे। छोटी और आर्थिक दृष्टि से कमज़ोर श्रेणियाँ बड़ी श्रेणियों से उनके भवन किराये पर ले लेती थीं ताकि अपनी बैठकें और मनोरंजन कर सकें; यहाँ यह स्पष्ट कर देना उचित होगा कि श्रेणियाँ न केवल आर्थिक संगठन थीं, वरन् सामाजिक संगठन भी होती थी। श्रेणियो के परोपकारी कृत्य भी महत्त्वपूर्ण होते थे, यद्यपि प्रान्त या व्यापार श्रेणियों के मुक़ाबिले में उनके परोपकारी काम इतने बड़े नहीं होते थे।

सौदागरों और व्यापारियों के संगठन भी उसी प्रकार बनते थे जैसे कि कारीगरों के। स्थानीय रूप से पैदा की हुई वस्तुओं के व्यापारी कारीगर भी होते थे और अपनी दूकान मे वह माल बेचते भी थे जो दूकान के पीछे तैयार होता रहता था। किन्तु जो व्यापारी किसी स्थान पर ऐसा विशिष्ट उत्पादन करते थे जो साम्राज्य के दूसरे भागों में बिकता था, उन्हें किसी संगठन की सदस्यता की आवश्यकता पड़ती थी। यह संगठन प्रान्तीय श्रेणी या क्लब का रूप लेता था जिसमें विभिन्न आर्थिक समुदायों के लोग होते थे, पर ये सभी एक ही भौगोलिक क्षेत्र के निवासी होते थे।

इस प्रकार, फकीन या शानतुग के लोग टीटसीन, पीकिंग या शंघाई में एक ही क्लब में हो जाते, चाहे वे सरकारी अधिकारी होते या सौदागर। इस प्रकार के सगठन की उपादेयता समझ मे आ जायगी यदि इस बात पर ध्यान दिया जाय कि ज़िले-जिले और प्रान्त-प्रान्त मे बोलियों मे भेद होता जाता था और बहुधा यह भेद भाषा का अतर बन जाता था; फिर रहन-सहन, आचार-व्यवहार और प्रथाओ मे भी महत्त्वपूर्ण अतर होता जाता था। कोई कैण्टन नगर का निवासी यदि उत्तरी क्षेत्र में जाता तो बिलकुल विदेशी हो जाता, न वह वहाँ की बोली समझता, न वहाँ वाले उसकी बोली समझते और न वह उस क्षेत्र की प्रथाएँ ही समझता था। इससे भी अधिक महत्त्वपूर्ण यह बात थी कि उससे अजनबी देश मे एक विदेशी जैसा व्यवहार किये जाने की आशका थी। ऐसी स्थिति मे यह कोई विलक्षण बात नही थी कि वह ऐसे लोगों से संपर्क बनाये जो उसी-जैसी स्थिति मे होते थे और इस प्रकार सगठन द्वारा अपने और उस समाज के बीच एक व्यवधान बना ले। इस सगठन से उसे एक और सहायता यह मिलती थी कि अधिकारी, जो अजनबी व्यक्ति से अशिष्टता का बरताव कर सकते थे, सगठन से अशिष्ट होने की हिम्मत नही करते थे।

इस प्रकार हम देखते है कि देश का समस्त आर्थिक जीवन सुसगठित और अधिकाशत स्व-नियन्त्रित था—गाँव मे किसान और श्रेणियों में कारीगर, व्यापारी, सौदागर। श्रेणी सगठन कितने प्रकार के होते थे इसका अनुमान कुछ नाम गिनाने भर से हो जायगा; साम्राज्य के विभिन्न भागों में बुनने-कातने वालों की श्रेणियाँ थी, महाजनों की श्रेणियाँ व एक प्रान्तीय क्लब भी था, क्योकि महाजन शासी प्रान्त से ही आते थे, रेशम की श्रेणी थी, ठेके पर सामान तैयार करनेवालो की श्रेणी थी, सुनारों, गाड़ी वालों की थीं, चोरों और भिखमंगों के संगठन थे, हर बड़े नगर मे प्रान्तीय क्लब थे।

चूँकि चीन मे व्यापारी थे, यह निष्कर्ष उचित है कि वहाँ व्यापार भी था और इसी प्रकार संचार साधन भी। आधुनिक युग के पूर्व के चीन में अतर्देशीय व्यापार, संचार साधनो की कमी के बावजूद, व्यवसाय की धमनियो (सड़कों) के विकास और बढ़िया रख-रखाव के कारण था। समुद्र तटो पर स्थित एक स्थान से दूसरे स्थान तक माल ढोया तो जाता था, पर उसमे जोखिम भी रहता था क्योकि औसत चीनी छोटी नावे लम्बी यात्रा या तूफानों का सामना करने योग्य नहीं होती थी। कुछ नदियों मे भीतर देश से समुद्र तट तक नावो मे माल ब.खूबी ढोया जा सकता था। इस प्रकार, यांग्त्सी नदी मे समुद्र तट से सोलह सौ मील भीतर तक नावें चल सकती थीं और उसकी सहायक नदियो में भी नावें चल सकती थी; इससे पूरे,

विशाल मध्य देश में व्यापार संभव हो गया था। पश्चिम नद ने इसी प्रकार दक्षिण प्रदेश की सेवा की थी और पी हो व पीन नद ने उत्तर मे पूर्व से पश्चिम में वहाँ तक संचार सभव कर दिया था जहाँ तक इन नदियो में नावें चल सकती थी। इन जल-मार्गों का नहरों द्वारा कृत्रिम विस्तार किया गया था और इस जलमार्गप्रणाली में सबसे बड़ी नहर थी जो पीकिंग से उत्तर में हेग चाउ तक और दक्षिण में यागत्सी के दक्षिण तक आती थी। इस प्रकार उत्तर से दक्षिण के बीच एक जल-मार्ग बन गया था। मध्य और दक्षिण चीन मे, विशेष कर वहाँ के पूर्वी प्रान्तो में, बहुत-सी छोटी-छोटी नहरे थी जो एक क्षेत्र से दूसरे क्षेत्र तक माल ढोने के काम आती थीं। दुर्भाग्यवश, इन नहरो में से अनेक, जिनमे बडी पीकिंग नहर के भी कई अग शामिल थे, मंचू साम्राज्य के उत्तरकाल मे इतनी उपेक्षित रही कि वे प्रयुक्त ही नही होती थीं।

जिन स्थानो तक जल-मार्गों द्वारा नही पहुँचा जा सकता था वहाँ संचार और परिवहन अधिक कठिन था। अच्छी सड़कें थी ही नही, क्योंकि शाही फौज और हरकारों के लिए जो बनी भी थी वे बेमरम्मत रह कर खराब हो गयी थीं। उत्तर में ऊँट और गधा-गाड़ियों पर माल ढोया जाता था, पर जिन मार्गों से ले जाया या खींचा जाता था वे लीक भर ही थे और बीच-बीच में उनमें कई-कई फुट के गड्ढे होते थे; साल के कई महीने इन मार्गों पर यातायात असंभव था। मध्य और दक्षिण के प्रदेशो में यह मार्ग नहीं थे। उनकी जगह धान के खेतों के बीच की पग-डण्डियों ने ले ली थी। उत्तरी मैदान व मध्य चीन में माल ढोने और कभी-कभी सवारियाँ ले जाने के लिए सामान्यत: रेढ़ी या एक पहिये का ठेला काम आता था। पहिया गाड़ी के बीच में होता था और माल दोनों ओर ऊँचाई से लाद दिया जाता था। माल ढोने के लिए रेढी खींची भी जाती थी और धकेली भी, और इस तरह काफी माल ढो लिया जाता था। दक्षिण मे थोड़ी दूरी के लिए ढुलाई मनुष्य की पीठ पर होती थी; बहुँगी के बाँस के दोनो ओर माल लटकाकर कधे पर बहुँगी ले जायी जाती थी।

ऐसे आदिम परिवहन साधनो के होते हुए यही अद्‌भुत बात थी कि चीन में इतना अतर्देशीय व्यापार हो पाता था। इस स्थिति में यह भी आश्चर्यजनक नहीं था कि लोग कम-से-कम यात्रा करते थे, उन अधिकारियों को छोड़कर जो एक प्रान्त से दूसरे प्रान्त को जाते रहने को बाध्य थे। यातायात के साधनों की कमी लोगों को अपने घरों पर रखने में उतनी ही प्रभावकारी थी जितने कि पारिवारिक बन्धन; अतएव स्थानीय तथा प्रान्तीयता की भावनाएँ भी कायम रहती थीं।

अभी तक चीन और चीनियों की बात करते रहने मे यह न भूलना चाहिए कि साम्राज्य मे इतनी ही विविधता थी जितनी कि उन्नीसवी शताब्दी में यूरोप मे। बोलचाल की भाषा के अतर तथा प्रथा व परपरा मे एकरूपता के अभाव का विवरण ऊपर हो चुका है। यह विविधता, मुख्य अनाजो को छोडकर भोजन मे, विशेषकर भोजन बनाने मे, और दैनिक जीवन की सूक्ष्म बातो मे भी परिलक्षित थी। यूरोपीय लोगो के चीन पहुँचने के पहले, लोग अपने-आपको स्थानीय या हद से हद प्रान्तीय सीमाओ तक बाँधते थे। इस प्रकार, कोई भी व्यक्ति सबसे पहले अपने-आपको अपने गाँव से सबद्ध करता था—जैसे, "मै वाग परिवार के गाँव (वाग चुआग-जेन) का रहने वाला हूँ।" उसकी समस्याएँ स्थानीय होती थी और उनका समाधान स्थानीय लोगो के हित मे ही होना होता था, फिर चाहे इस समाधान का प्रभाव-कुप्रभाव दूसरी जगह क्यो न पड़े। यह सभव था कि गाँववालों के साथ कोई गाँव वाला सहयोग करे या कोई व्यक्ति अपने नगरनिवासियो के साथ सहयोग करने को तैयार हो जाय, पर यह लगभग असंभव था कि किसी गाँववाले का किसी बाहरी व्यक्ति-समुदाय को सहयोग प्राप्त हो जाय। उदाहरण के लिए, पीत नद पर, बाढ़ रोकने के लिए उन योजनाओ के लागू करने में स्थानीय स्तर पर सहयोग प्राप्त हो जाता था जिनका प्रभाव दूसरे गाँवों पर विनाशकारी होता था। किन्तु सभी की समान समस्या के समाधान के लिए अंतरग्रामीण सहयोग दुर्लभ था। हर गाँव अपने हितों की रक्षा के लिए तत्पर रहता था और चाहता था कि दूसरे गाँव अपने-अपने हितो की रक्षा अपने-आप करें।

## (४) सांस्कृतिक जीवन

एकता के जिन बन्धो से चीन की एक इकाई के रूप मे कल्पना सच होती थी वे वहाँ के राजनीतिक संगठन और बृहत्तर सास्कृतिक जीवन मे निहित थे। बोल-चाल की भाषा की अनेकता लिखी जाने वाली भाषा की एकता से सतुलित होती थी। कैण्टनवासी उत्तरी क्षेत्र वालो से बात भले ही न कर पायें, लिखा-पढी अवश्य कर सकते थे। लिपि मे अक्षर नही थे, विशिष्ट वस्तु, विचार आदि के लिए पृथक् चिन्ह होते थे जिनसे भाषा सार्वलौकिक साहित्य तथा विचारो, आदर्शों और संस्कृति के विराट् संगम का विकास और परिरक्षण करती थी। कनफूशियस की आचार-संहिता, जिसमें परिवारिक संबंधो पर विशेष बल दिया गया था, तथा दूसरे महान् दार्शनिको के सिद्धान्त समस्त साम्राज्य मे एक ही रूप मे पढ़ाये जाते थे और उन्हें सार्वजनीन स्वीकृति प्राप्त थी। बौद्ध धर्म स्थानीय मत नही था, लेकिन समस्त देश में प्रचलित था; उसे विदेशी धर्म नहीं माना जाता था, वरन् मूलतः चीनी मत

समझा जाता था, क्योकि विदेशी धर्म में मूलतः काफी लम्बे समय तक रूपान्तर और हेर-फेर हुआ था। कोई भी दक्षिणवासी, याग्त्सी के उत्तर में भी ताओ संप्रदाय के मन्दिर में अपने को अजनबी नही मानता था। और सामान्य जनता शुभ और अशुभ प्रेतात्माओं के प्रति अन्धविश्वास में एक थी। यात्रा, विवाह, समाधि देने आदि के लिए कुछ दिन शुभ होते है, झाड-फूँक से भूत भगाये जा सकते है, अशुभ प्रेतात्माएँ सीधे सामने चलती हैं, वायु की प्रेतात्माओ का मनुष्यों के प्रारब्ध पर प्रभाव पडता है—ये स्थानीय नही राष्ट्रीय विश्वास थे, यद्यपि स्थानीय परिस्थितियो की विशिष्टताओं के कारण इन विश्वासों के रूपभेद और रूपान्तर भी होते थे। देवताओं के नाम स्थान-स्थान पर बदलते रहते थे, पर उनकी विशेषताएँ समान थी और देवताओं के कोप से बचने के उपाय सारे साम्राज्य में एक-से ही थे।

बौद्ध धर्म के भारत से आये मूल मार्मिक, सूक्ष्म सिद्धान्तों को बिगाड़ कर, विपत्तिकाल में प्रयुक्त आराधना या शमनकारी कृत्यों की प्रणाली बना लेने के पीछे कोई सच्ची धार्मिक भावना नही, यही अन्धविश्वास था। प्राचीन दार्शनिक (लाओ त्जू) के उपदेशों को संस्कार या विधि-विधान लाद कर ऐसा भ्रष्ट कर देना भी कि ताओ (पथ, मार्ग) से संबद्ध शुद्ध, धार्मिक जीवन-यापन के मूल सिद्धान्त दृष्टि से ओझल हो जायँ और व्यवहार से लुप्त हो जायँ, यह सब इसी अन्धविश्वास के कारण हुआ।

कनफ़ूशियस के सिद्धान्त भी बदल दिये गये थे। यद्यपि कनफ़ूशियस ने ईश्वर तथा इस जीवन के बाद किसी जीवन के सबध मे कुछ भी कहने से अपने को रोका ही था, और केवल सही ढंग से जीवन बिताने पर ही ध्यान केन्द्रित किया था, स्वयं उन्हें देवता बना दिया गया था और उनके दर्शन को धर्म बना दिया गया था। किन्तु तब भी कनफ़ूशियस के सिद्धान्त इतने भ्रष्ट नही किये गये थे जितने कि बुद्ध या ताओ के, क्योंकि इसमें पूजा-आराधना के जो तत्त्व थे उन्हें, इस संसार में रहने से संबंधित उपदेशों के मुक़ाबिले, बहुत असावधानी से स्वीकार किया गया था। आज्ञा-पालन, पितृ-भक्ति, पड़ोसियो से उपयुक्त व्यवहार संबंधी उनके उपदेश जनता के जीवन और विचार-पद्धति में पूर्णरूपेण समा चुके थे। कनफ़ूशियसवाद के दुर्भाग्यजनक निष्कर्ष विगत पर अत्यधिक बल देने के फल थे। इस महान् गुरु ने कोई नयी दर्शन-प्रणाली उत्पन्न करने का दावा नहीं किया, वह तो विगत के नैतिक अनुभवो को प्रणालीबद्ध कर उनकी पुनरुक्ति मात्र कर रहे थे। इस प्रकार उन्होंने नवीन मार्ग ढूंढ़ने और प्रयोग करने के स्थान पर प्राचीन व्यवहार को ही स्वीकार करने पर बल दिया था। उनका उपदेश था पीछे आदर्श जीवन पर लौटो, यह नहीं था कि आदर्श

जीवन के लिए आगे बढ़ो। सन् १६४४ में मचू विजय के उपरान्त अत्यन्त स्थायी समाज चीन मे कायम रहा, इस समाज का सम्पर्क गैर-चीनी ससार के साथ नही था और इसी समाज ने कनफूशियस के मत की इतनी दीर्घकालीन स्वीकृति दी थी।

## (५) राजनीतिक प्रणाली

जो चीन सन् १८४२ में सीमित विदेशी समागम के लिए खुला वहाँ सास्कृतिक एकता के अतिरिक्त राजनीतिक एकता भी थी। यह सही है कि साम्राज्य प्रान्तो मे बँटा हुआ था जो राज्य के प्रशासनिक व राजनीतिक भाग थे। और यद्यपि सारे प्रान्तीय अधिकारियो की नियुक्ति सम्राट् करते थे, शाही आज्ञाओ के पालन मे इतनी स्वच्छन्दता अवश्य मिलती थी कि वास्तव मे वे अर्धस्वाधीन शासक ही होते थे। यातायात के साधनो की कमी तथा स्थानीय प्रथाओं और समस्याओ की विविधता देखते हुए ऐसा करना आवश्यक भी था। फिर भी, अधिकारियों की निष्ठा पीकिंग मे ही निहित होती थी; वे एक प्रान्त से दूसरे प्रान्त को सारे साम्राज्य में तबादलों पर जाते रहते थे; प्रान्तों में शाति और व्यवस्था कायम रखने का समान दायित्व उन पर था और इसी प्रकार केन्द्रीय सरकार के संचालनार्थ धन भेजने का काम भी इनका था, प्रांतीय अधिकारियों के निर्णयों के विरुद्ध अपील पीकिंग में ही होती थी।

प्रान्त उप-प्रान्तो (फू) मे विभाजित थे और शासन की दृष्टि से उप-प्रान्तो को क्षेत्रगो (ताओ) में संगठित कर दिया गया था। अट्ठारह प्रान्तों मे लगभग एक-सौ चौरासी उप-प्रान्त और पच्चानबे क्षेत्रग थे। हर उप-प्रान्त कई-कई ज़िलो (हसीन) में बँटा था। पूरे देश में चौदह सौ सत्तर ज़िले थे। यद्यपि हर ज़िले मे अनेक गाँव होते थे, प्रशासनिक और राजनीतिक इकाई ज़िला ही माना जाता था।

चारो ओर करद राज्य होने के कारण और यूरोपीय देशों से ऐसा संपर्क कम ही होने के कारण जिससे राष्ट्रीय भावना का विकास होता, चीन में राष्ट्रीय एकता के स्थान पर विविधता की प्रवृत्ति थी। निष्ठा और भक्ति स्थानीय, गाँव तक ही सीमित रहती थी और बहुत बढ़ती थी तो प्रान्त तक पहुँच जाती थी। जब तक पश्चिम के संपर्क से समता और असमानता की तुलना का नया आधार नही बना था, दूसरे गाँवों या प्रान्तों मे जो भी घटता था उसमे केवल उस घटना से प्रत्यक्षतः प्रभावित होनेवाले लोगों की ही दिलचस्पी होती थी। विदेशी संपर्क के बाद के वर्षों में स्थानीयता के ऐतिहासिक फल पूरी तरह प्रकट हुए। किन्तु, यहाँ साम्राज्य मे बाद में होने वाली घटनाओं की एक व्याख्या पर ध्यान केन्द्रित करने के लिए देश के क्षेत्रीय विकेन्द्रीकरण के महत्त्व पर बल देना आवश्यक है।

[इसी प्रकार, आधुनिक चीन और उससे प्रभावित सुदूरपूर्व के देशों के इतिहास को समझने के लिए, आधुनिक युग से पहले के चीन के राजनीतिक संगठन पर, पीकिंग (केन्द्र) तथा प्रान्तीय स्तर के संगठन पर, ध्यान देना आवश्यक है।]

एक जानकार लेखक ने चीनी साम्राज्य की राजनीतिक पद्धति का वर्णन करते हुए उसे "लोकतंत्र पर अध्यारोपित स्वेच्छाचारी एकतत्र" कहा है। एक दृष्टि से, इस निरूपण की सगति साम्राज्य के राजनीतिक सबधो के सिद्धान्त मे परिलक्षित होती है। सिद्धान्तत., सम्राट् को निरकुश शासक के अधिकार प्राप्त थे। राज्य का वह सर्वोच्च विधि-निर्माता था, उसके नियन्त्रण व निदेशन मे प्रशासनिक व कार्यकारी कर्त्तव्य संपन्न होते थे, और, वही न्याय का स्रोत था। दूसरे शब्दो मे, जनता और अधिकारी सम्पूर्ण सत्ता के एक व्यक्ति में पूर्ण केन्द्रीकरण के आदि थे। यद्यपि सैद्धान्तिक, किन्तु वास्तविक अर्थ मे भी, सम्राट् "दैवी अधिकार" से शासन करता था, क्योंकि वह जनता या महत्वपूर्ण समुदायों के प्रतिनिधियों के प्रति उत्तरदायी नहीं था। शासन के लिए उसे ईश्वरीय निर्देश प्राप्त था और इस निर्देश के वापस हुए बिना ऐसी कोई सत्ता ही नही थी जिसके प्रति वह अपने कार्यों के लिए उत्तरदायी हो। हाँ, व्यवहार मे, उससे अपेक्षा की जाती थी कि वह नीतिशास्त्ता-परिषद् के सदस्यों तथा दूसरे उच्च-स्तरीय अधिकारी सगठनों की सम्मति पर उत्तरदायी ढग से कार्य करेगा। अतः सम्राट् सीमित अर्थ में उत्तरदायी ढंग से काम करता भी था। ईश्वर प्रदत्त स्वेच्छाचारी एकतंत्रीय अधिकारों के बदले में वह साम्राज्य में शांति, सुरक्षा तथा आपेक्षिक समृद्धि का उत्तरदायित्व वहन करता था। इस प्रकार, यदि कहीं व्यापक रूप से अकाल पड़ गया तो यह सम्राट् की किसी असफलता का परिणाम समझा जाता था। अकाल से, स्वाभाविक रूप में, लूट-मार भी शुरू हो सकती थी और बड़ी सख्या में सशस्त्र लोगों के एकत्र हो जाने पर साम्राज्य-सत्ता के विरुद्ध विद्रोह भी हो सकता था। सफल विद्रोह से राजवंश का अत हो सकता था, जिसका यह निष्कर्ष निकाला जा सकता था कि ईश्वरीय या दैवी अधिकार वापस ले लिये गये। स्पष्टत., यह सम्राट् के ही सच्चे हित में था कि नीतिशास्त्ता-परिषद्-जैसे शासन के अगो द्वारा, जहाँ तक संभव हो, यह निश्चित करता रहे कि जनता की दशा ठीक है। वस्तुस्थिति यह है कि चीनी इतिहास में कई राजवंशों का अत इसी ऊपर लिखी प्रक्रिया के रूपान्तर से ही हुआ, चाहे नये शासक देश के भीतर से ही आये हों या बाहर से विजय करने आये हों। किन्तु यह कहना भी संगत होगा कि अकाल-जैसे कठिन समय के साथ ही शासन सत्ता भी काफी ढीली हो तभी विद्रोह सफल हो सकते थे। सन् १९११ में मंचू वंश का बलात् पराभव हुआ क्योंकि राज-

वंशो से छुटकारा पाने का कोई नया तरीका नही था। चीनी राजनीतिक सिद्धान्त मे विद्रोह के अधिकार को स्पष्ट मान्यता थी और चीन सदैव विद्रोहो का देश जाना ही जाता था।

प्राचीन चीनी राजनीतिक सस्थाओं के दर्शन और सिद्धान्त समझने के लिए कनफ़्शियस के क्लैसिक ग्रंथो मे से कुछ उद्धरण उपयुक्त होगे—"जो जनता सुनती है, ईश्वर सुनता है, जो जनता देखती है, ईश्वर देखता है।" फिर, "राजनीतिक राज्य मे जनता सबसे अधिक महत्वपूर्ण है, सस्थाओ का महत्त्व उससे कम है, सबसे कम महत्त्व सम्राट् का है।" विद्रोह के सिद्धान्त और व्यवहार द्वारा कार्यान्वित जनता के महत्त्व की इस सकल्पना ने चीन को सचमुच ही "दैवी अधिकार" का एक कामचलाऊ सिद्धान्त प्रदान कर दिया, जिसके पूरे और ठीक कार्यान्विय से सुचारु रूप से चलनेवाला राज्य बन सकता था।

किन्तु सम्राट् के परम, निर्बाध अधिकारो पर कुछ अन्य सीमाएँ व प्रतिबन्ध भी थे। अपने पूर्ववर्ती सम्राटो की राजाज्ञाओ और शाही महल के कानूनो की सीमा सम्राट् द्वारा अपनी सर्वोच्च सत्ता के प्रयोग पर लागू रहती थी। शब्दश. इनका पालन करने को वह बाध्य नहीं था, किन्तु वे उसके व्यक्तिगत व शासन दोनों क्षेत्रो मे व्यवहार के लिए बहुमूल्य मार्गदर्शन तो थे ही। फिर, निश्चय ही उस पर प्रथा और परपरा के प्रतिबन्ध थे। प्रथा के विरुद्ध आदेश कर देने का अधिकार तो उसे था, पर कानून द्वारा प्रथा बदलना तो कभी सभव नही होता और यह बात जिस हद तक चीन के सबध मे सही है उस हद तक कही के लिए नही; चीन मे परंपरा के महत्त्व का अत्यकन असभव है।

उन देशो मे, जहाँ व्यक्ति का शासन चलता है, शुरू मे तो निरंकुश शासक अपने अधिकारों का व्यापक प्रयोग करते हैं, किन्तु धीरे-धीरे, वंश आगे चलने पर, आगे आने वाले शासक राज्य के कार्यों मे दिलचस्पी लेना कम कर देते है और असली सत्ता सलाहकारों के हाथो में आ जाती है। जब शासक महल और राजधानी मे ही रहता है, तब उसके लिए आवश्यक हो जाता है कि राज्य की नीतियाँ निर्धारित करने के लिए वह अधिकाधिक दूसरो के परामर्श पर निर्भर करे; और इस प्रकार वास्तविक शक्ति उन लोगो तक पहुच जाती है जो शासक का विश्वास प्राप्त कर लेते हैं और वह विश्वास क़ायम रखते है, कभी-कभी ये लोग महल के सेवक भर होते है। हर दशा में निरकुश शासक को अपने आदेशों का पालन कराने के लिए दूसरो का भरोसा करना ही होता है। यह भरोसा भी उसकी वास्तविक शक्ति में हेरफेर करता है।

अपने निर्णयो में चीन के सम्राट् को दो निकायो से सहायता मिलती थी, महासचिवालय और महापरिषद् से। सन् १७२९ के बाद महासचिवालय महाअभिलेखागार मात्र बन गया था और शासन मे उसका कोई महत्त्व नहीं था। दूसरी ओर महापरिषद् अत्यधिक महत्त्व की परामर्श-समिति थी। सामान्यत: इसके छ: सदस्य होते थे, वे सब केन्द्रीय सरकार के उच्च पदो पर होते थे, बहुधा प्रशासकीय मडलों के अध्यक्ष भी होते थे।

जहाँ तक पीकिंग का संबध था, साम्राज्य का वास्तविक प्रशासन इन्हीं मंडलों द्वारा होता था। इन मंडलो की सख्या छ. होती थी; सन् १९०१ के सुधारो के बाद इनकी संख्या बढ़ाकर ग्यारह कर दी गयी थी। मूल छ. मण्डल थे—असैनिक नियुक्तियाँ जिसका मुख्य काम था प्रश्रय—वितरण; माल जिसके अतर्गत प्रान्तों से आये कर व अंशदान विभिन्न कार्य के लिए वितरित होते थे, रीति—जो समारोहों का नियंत्रण करता था और पूर्वीय दरबारों के इस महत्त्वपूर्ण काम को सम्हालता था; युद्ध—जो उस फौजी व नौसैनिक सगठन की देखभाल करता था जो प्रान्तीय नियंत्रण में नही आता था या जिसके लिए कोई और व्यवस्था नही होती थी; दण्ड—जो न्याय विभाग का काम देखता था; तथा, निर्माण—जो सरकारी सड़कों, इमारतों, सरकारी संपत्ति आदि की देखभाल करता था।

केन्द्रीय सरकार के अंगों में नीतिशास्त्ता-परिषद् महत्त्वपूर्ण थी और उसे सम्राट् के "आँख और कान" कहना उचित ही था। इसके चौबीस पार्षद पीकिंग में होते थे और छप्पन प्रान्तों में। प्रान्तो के राज्यपाल और वाइसराय इसके अवैतनिक सदस्य होते थे। परिषद् का काम था आलोचना करना और उसके सदस्य यह काम खुल कर करते थे, यद्यपि सदैव यह आलोचना निष्पक्ष नहीं होती थी। पूरी शासन प्रणाली में ऊपर स्वयं सम्राट् से लेकर नीचे ज़िला दण्डनायक तक कोई भी ऐसा अधिकारी न था जिसकी आलोचना इस परिषद् में न हो सके। पिछली शताब्दी की अंतिम दशाब्दियों में ही चीन की शासक, विधवा सम्राज्ञी को एक आलोचक पार्षद ने एक स्मृतिपत्र भेजा जिसमें इस बात की कड़ी आलोचना की गयी थी कि सम्राज्ञी ने अब तक उत्तराधिकारी की व्यवस्था नहीं की थी जो मृत सम्राट् की पूजा का भार उठाता। इस आलोचना को भेजने के बाद पार्षद ने आत्महत्या कर ली ताकि उसकी आलोचना पर ध्यान केन्द्रित हो और उसे बल मिले और इसलिए भी कि सम्राज्ञी का कोपभाजन बनने से वह बच जाय। एक अर्थ में, प्रान्तीय पार्षद, प्रान्तीय अधिकारियों के कार्य-कलाप पर निगाह रखनेवाले भेदिये होते थे जो सम्राट् को इन अधिकारियों के अच्छे-बुरे कामों की सूचना देते रहते थे और

जिस सूचना के आधार पर सम्राट् अच्छे काम करने वालो को पुरस्कार और कर्त्तव्य-अवहेलना करने वालो को दण्ड देता था। प्रान्तीय अधिकारियो पर अपना नियत्रण रखने के केन्द्रीय शासन के जो उपाय थे, उनमे से एक यह भी था।

यह बताया जा चुका है कि प्रान्त साम्राज्य की अर्ध-स्वायत्तशासी इकाइया थी। सामान्य नीतियो का निर्धारण पीकिंग में होता था, इनका कार्यान्वय होता था प्रान्तों मे जहाँ स्थानीय परिस्थितियो और प्रथाओ तथा उच्च प्रान्तीय अधिकारियों की नीति पर प्रतिक्रिया के अनुरूप इनमे हेरफेर होता था। बौक्सर आदोलन के विकास में इस बात का अच्छा उदाहरण मिलता है। जब अततः विधवा सम्राज्ञी ने बाक्सरो के समर्थन का संकल्प कर लिया, प्रान्तो को गुप्त आदेश भेज दिये गये कि सभी विदेशी समुद्र मे खदेड दिये जायँ। कुछ प्रान्तों मे तो इस आदेश का पालन करने के प्रयत्न हुए, कुछ अन्य प्रान्तो में इस आदेश की अवहेलना ही नही कर दी गयी, वरन् शाही आदेश के विपरीत अधिकारियों ने अपनी शक्ति भर विदेशियो की सुरक्षा भी की। जब आदोलन समाप्त हो गया, तब इन अधिकारियों को, जिनमें यु आन शिहकाई और चाग चिह तुग भी शामिल थे, शाही आदेश की अवहेलना पर दण्ड देने की जगह, बाहरी शक्तियों की मजबूती की बेहतर समझदारी के लिए सम्मानित किया गया। किन्तु, यद्यपि इस विशिष्ट घटना मे अधिकारियो का विवेक ही सही साबित हुआ, यह तो स्वीकार करना ही होगा कि जब भी किसी नीति के साम्राज्य भर मे एक साथ समान रूप से लागू करने की आवश्यकता होती, यही बात दुर्बलता का लक्षण बन जाती थी।

प्रान्त के शासन मे सबसे ऊपर राज्यपाल या वाइसराय होता था। अधिकाश प्रान्तो के समूह बना कर उन्हें वाइसरायों के अधीन कर दिया गया था। इसमें अपवाद थे शानतुंग, शांसी, होनान जो राज्यपालो के अधीन थे। चिहली और जेचुआन प्रान्तों को राज्यपालो के अधीन नही किया जाता था और उनके लिए वाइसराय नियुक्त होते थे। तीन प्रान्तो—किआगसू, आनहुई तथा किआगसी—के लिए एक वाइसराय होता था, शेष दस प्रान्तो मे हर दो के लिए एक वाइसराय होता था।

उन जगहों को छोड़कर जहाँ वह अपने कार्यभार के अतिरिक्त किसी-किसी प्रान्त के राज्यपाल का काम भी अपने ऊपर ले लेते थे, जैसा कि कानसू, चिहली तथा जेचुआन प्रान्तो में होता था, वाइसराय राज्यपाल के ज्येष्ठ सहयोगी होते थे और अपने अधिकार-क्षेत्र के प्रान्तों पर सामान्य देखभाल का काम करते थे। इन दोनो अधिकारियो का अपने-अपने क्षेत्रो से वही संबध होता था जो सम्राट् का चीन से था। प्रान्त की स्थिति ठीक रखने और प्रान्तीय अशदान पीकिंग तक पहुँचाने का उत्तरदायित्व उन्ही का होता था। इन सीमित कर्त्तव्यो को पूरा करने के लिए इन्हे व्यापक साधन

उपलब्ध होते थे; सिद्धान्ततः अपने अधीन क्षेत्र मे उन्हे परम अधिकार प्राप्त थे। किन्तु यह ध्यान मे रखने की बात है कि इन अधिकारों के प्रयोग मे वे ही सामान्य सीमाएँ थीं, जो कि सम्राट् के लिए लागू होती थी, अर्थात् प्रान्त की प्रथा व परंपराएँ और शान्ति, सुरक्षा व समृद्धि कायम करने की आवश्यकता। चूँकि वे केन्द्रीय सरकार के प्रत्यक्ष उत्तरदायी थे, वे तात्कालिक उत्तरदायित्व की भावना से काम करने को बाध्य थे। साथ ही, उनके अधिकारो की एक और सीमा यह भी थी कि केन्द्रीय सरकार द्वारा नियुक्त और उसी के अधीन काम करने वाले अनेक अधिकारी भी प्रान्तो मे मौजूद रहते थे। ये अधिकारी राज्यपालों व परस्पर एक दूसरे पर एक प्रकार की रोक बने रहते थे। और अत मे, उच्च प्रान्तीय अधिकारियों की सत्ता उसी सीमा तक सर्वोच्च थी जिस सीमा तक पुराध्यक्ष तथा दण्डनायक उनकी आज्ञाओं को मानते और उन पर अमल करते थे।

प्रान्त के अन्य महत्त्वपूर्ण अधिकारियों में कोषाध्यक्ष होता था। "वह हर प्रान्त की असैनिक सेवा (सिविल सर्विस) का साकेतिक अध्यक्ष होता है, जिसके नाम से सारा संरक्षण प्रदान किया जाता है, चाहे यह सरक्षण प्रत्यक्षतः राज्यपाल द्वारा ही क्यों न प्रदान किया जाय; वह प्रान्तीय कोष का कोषाध्यक्ष है और इस प्रकार केन्द्रीय सरकार द्वारा राज्यपाल पर, जो कि कोषाध्यक्ष के पद से साकेतिक रूप से ऊँचा पद है, रखा गया एक निरोध है।"[5] अन्य अधिकारी थे—न्यायाधीश, जिनका अधिकार-क्षेत्र फौजदारी की अपीलें सुनने और फौजदारी के मामले निपटाने तक था, नमक नियंत्रक, जो नमक के "उत्पादन, यातायात व विक्रय का नियंत्रण" करता था (नमक का व्यापार सरकारी इजारेदारी में था), तथा अनाज-अधीक्षक जो गल्ले के रूप मे मिलने वाले कर का संग्रह नियंत्रित करता था। इन अधिकारियो से मिलकर सामान्य प्रान्तीय अधिकारी प्रणाली बनती थी।

हर प्रशासकीय परिधि का अध्यक्ष होता था ताओ-ताई पदाधिकारी जिसके विशिष्ट प्रशासकीय कर्त्तव्य थे; उप-प्रान्त का सर्वोच्च अधिकारी प्रिफेक्ट या पुराधिपति होता था जो अपने प्रतिनियुक्त अधिकारियो की सहायता से शासन-प्रबन्ध करता था।

अधिकारियों की इस शृंखला में सबसे नीचे होता था दण्डनायक या ज़िला-अधिकारी जिसे हसीन कहते थे; साम्राज्य मे असली प्रशासकीय अधिकारी यही होता था और कई दृष्टियों से पूरे संगठन मे सबसे अधिक महत्त्वपूर्ण भी। उसके कार्य और कर्त्तव्य इतने अधिक और विस्तृत होते थे कि उनकी पूरी गिनती यहाँ करना असंभव है। शासन-प्रणाली में उसका स्थान व जनता के संबंध में उसकी स्थिति उसकी

उपाधि "माई-बाप अफसर" से प्रकट है, इसी उपाधि से कभी-कभी वह पुकारा भी जाता था। उसके अपेक्षतया अधिक महत्त्वपूर्ण कर्त्तव्यो की ओर यहाँ इगित कर दिया जाय। वह पुलिस दण्डनायक होता था और पुलिस द्वारा लाये गये सामान्य मामलो का फैसला करता था। सभी दीवानी और फौजदारी के मामले पहले-पहल उसकी अदालत मे आते थे। वह अपमृत्यविचारक (कौरोनर), अभियोजन न्याय-वादी (प्रौसीक्यूटिंग एटर्नी), नगर प्रमुख (शेरिफ), कारागार सरक्षक (जेल वार्डेन), राजस्व और अन्नकर की वसूली के लिए केन्द्रीय सरकार का प्रतिनिधि, भूमि-पजी-यक (रजिस्ट्रार), जिले का दुर्भिक्ष आयुक्त, निर्माण मण्डल तथा प्रान्तीय कोपाध्यक्ष का स्थानीय प्रतिनिधि, सरकारी भवनो का परिरक्षक भी होता था। इन अनेक कर्त्तव्यो के अलावा, दण्डनायक का महत्त्व यह भी होता था कि अधिकाश जनता केवल इसी अधिकारी को जानती थी और वही देश की राजनीतिक पद्धति और जनता के बीच की कडी होता था। यह तथ्य कालान्तर मे प्रतिनिधित्वपूर्ण शासन की राष्ट्रीय पद्धति स्थापित करने के जो प्रयास हुए उनके सदर्भ मे काफी महत्त्वपूर्ण है।

शाही युग की प्रान्तीय शासन-प्रणाली का विशद वर्णन इसलिए आवश्यक था कि इसी प्रणाली की आधारभित्ति पर गणराज्य की स्थापना होती थी। और इसी प्रणाली से क्रान्ति के बाद की वह स्थिति उत्पन्न हुई जिससे चीन मे फौजी शासन हुआ—प्रान्तो पर नियत्रण और उसे पीकिंग तक बढा लेने वाला फौजी शासन।[६]

अधिकारियो की इस श्रृंखला या सोपान के सभी सदस्यो को सम्राट् या तो स्वय ही या किसी उच्च पदाधिकारी की सिफारिश पर नियुक्त करता था। सम्राट् से अपेक्षा की जाती थी कि उन परीक्षाओं द्वारा छाँटे गये व्यक्तियो मे से ही नियु-क्तियाँ करेगा जो देशभर में निश्चित समय पर होती रहती थी। असैनिक सेवा मे नियुक्त होने के लिए उम्मीदवार जिले, उप-प्रान्त, प्रान्त की प्रतियोगिताओ में भाग लेते व उत्तीर्ण होते हुए केन्द्रीय सेवा के लिए पीकिंग मे होनेवाली परीक्षा मे भाग लेते थे। फौज या कुछ पेशो के लोगो को छोड़कर कोई भी व्यक्ति इन परीक्षाओ मे भाग ले सकता था। किन्तु परीक्षाओ मे सफलता से नियुक्ति या नियुक्ति के बाद पदोन्नति निश्चित नही हो जाती थी। क्योंकि आगे बढ़ने के लिए उच्च पदाधिकारियों या दरबार मे किसी से मित्रता आवश्यक थी; उत्तर मचू शासन मे किसी या अनेक प्रभावशाली व्यक्तियो के लोभ-लालच को पूरा करने पर ही यह पदोन्नति या नियुक्ति संभव थी। वास्तव में, पदो के व्यापार की एक नियमित प्रणाली बनी हुई थी जो सम्राट् के महल से ही शुरू होती थी। सम्राट् के महल-कानूनों के अंतर्गत कचुकी या नपुसक महल-रक्षकों को राजनीति या प्रशासन मे दिलचस्पी लेने का

अधिकार नहीं था, किन्तु विधवा सम्राज्ञी के शासनकाल मे वास्तविक सत्ता मुख्य कंचुकी के हाथों में आ गयी थी। मंचू शासन की अंतिम अर्धशती में जो राजनीतिक ह्रास हुआ उसका एक कारण यह स्थिति भी थी।

इस तथ्य के बावजूद इस परीक्षा-प्रणाली का यह अर्थ तो था ही कि उस समय के मानदण्ड के अनुसार अधिकारी वर्ग उन्ही लोगों में से नियुक्त होता था जिन्हें संतोषजनक शिक्षा मिल चुकी होती थी। दुर्भाग्यवश, इन परीक्षाओ में प्रशासकीय क्षमता की जाँच बिलकुल नही हो पाती थी और न शासन की समस्याओ के ज्ञान की ही जाँच हो पाती थी, क्योकि शिक्षा-प्रणाली कनफूशियस की सस्थापनाओ पर आधारित थी और परीक्षाओं में जिन योग्यताओं पर जोर दिया जाता था वे शास्त्रीय विषयों पर निबन्ध रचना से ही सबधित थीं। किन्तु जब तक प्रशासक के कर्त्तव्य वास्तविक कम और सांकेतिक अधिक रहे और प्रशासन की आवश्यकताओं की पूर्ति प्रशासन में प्राविधिक प्रशिक्षण की जगह सहज बुद्धि से ही हो जाती थी, तब तक इस प्रणाली से संतोषजनक रूप से काम चलता रहा।

सामान्य नियम के अनुसार सभी अधिकारी तीन साल के लिए नियुक्त होते थे; किसी अन्य पद पर स्थानान्तरण के पहले तीन साल की एक नियुक्ति के बाद उसी पद पर एक पुनर्नियुक्ति की सभावना रहती थी। किन्तु यह कोई अपरिवर्तनीय नियम नहीं था और कुछ महत्त्वपूर्ण पदों पर कुछ अधिकारी बहुत लम्बी अवधि के लिए रख लिये जाते थे। नियम का एक प्रसिद्ध अपवाद था टींटसिन के वाइसराय पद पर ली हुन-चांग का चौबीस वर्ष तक रखा जाना। किन्तु जिस नियम का अपवाद नहीं होता था वह था किसी भी राज्यपाल या दण्डनायक को उसकी पैदाइश के जिले या प्रान्त में नियुक्त न करना। इन नियमों, विशेषकर दूसरे नियम के लिए पर्याप्त कारण थे। उदाहरणार्थ, यदि किसी बुद्धिमान् और कुशल प्रशासक को उसकी पैदाइश के प्रान्त में राज्यपाल बनाकर लम्बी अवधि के लिए छोड़ दिया जाता तो वह केन्द्रीय सरकार से स्वतंत्र होकर अपनी स्थिति प्रान्त में मजबूत कर सकता था। यह इसलिए संभव था कि सफल प्रान्तवासी होने के नाते उसके स्थानीय अनुयायी तो होते ही थे और उसके पारिवारिक जीवन की जड़ें प्रान्त मे ही होने के फलस्वरूप इन अनुयायियो-अनुचरो की संख्या और निष्ठा बढ़ती जाती थी। एक ऐसे नये प्रान्त में नियुक्ति जहाँ की स्थानीय प्रथाओ से वह अनभिज्ञ हो और थोड़े-थोड़े समय बाद नये स्थानों और वातावरणो मे स्थानान्तरण द्वारा केन्द्रीय शासन राज्यपालों में स्वाधीनता की भावना पैदा होने से रोक देता था और साम्राज्य से प्रान्त के स्वतंत्र करने के प्रयास की संभावना भी रुक जाती थी। यह खतरा उन प्रान्तों

मे और भी अधिक था जो पीकिंग से बहुत दूर थे। ये दो रीतियाँ ऐसी थी जिनके फलस्वरूप अधिकारियो को व्यापक विवेकाधिकार मिले रहने के बावजूद शाही शासन कायम रहा।

शाही शासन के कायम रहने का कारण यह प्रथा या रीति भी थी कि सरक्षण वितरण मे विभिन्न गुटो या समुदायो मे सतुलन रहे। पहले तो केन्द्रीय सरकार मे, नियुक्ति के समय यह ध्यान रखा जाता था कि मचू और चीनी लोगो के बीच सतुलन रहे; यह रीति गत शताब्दी के लगभग अत तक पाली जाती रही जब मचुओ का प्राधान्य शुरू हो गया। फिर इसी बीच, दो बड़े और मुख्य समुदायो को, जो अपने नेताओं के प्रान्तो के आधार पर चिहली और आनहुइ के लोगों के समुदाय कहे जाते थे, लगातार आपस मे एक-दूसरे से लडाया जाता रहा ताकि उनमें से कोई प्रभुत्व पूर्ण या शक्तिशाली बन कर मचुओ के लिए सकट न बन जाय। सन् १८९५ के बाद एक तीसरा, कैण्टनवासियों का समुदाय, जिससे अब तक हमेशा अधिकारी जीवन में भेदभाव बरता जाता रहा था, सम्राट् के शासन-सुधार के प्रयास मे समर्थ योग देकर प्रमुख बन गया।[७] सुधार-आन्दोलन की असफलता के बाद उनमे से अनेक निर्वासित कर दिये गये, और इस प्रकार कैण्टनवासी क्रान्तिकारी प्रचार से सम्बद्ध समझे जाने लगे। सन् १९११ के विद्रोह मे दक्षिण के नेतृत्व का एक कारण यह भी था। एक गुट को दूसरे गुट के विरुद्ध संतुलित रखने के लिए प्रान्तीय ही नही, केन्द्रीय नौकरियों मे भी नियुक्तियाँ इसी दृष्टि से की जाती थी।

शासन की अधिकारी पद्धति से हटकर, गैर-सरकारी या अधिकारियो के अतिरिक्त जो प्रणाली थी, उसका वर्णन करने के पहले अधिकारी-शृखला मे एक-दूसरे के सबंधो का कुछ विवरण दे देना उपयुक्त होगा। जैसा कि पहले स्पष्ट किया जा चुका है, सम्राट् सारे देश के शासन के लिए उत्तरदायी था। किन्तु वह वाइसराय या राज्यपाल नियुक्त कर और उन्हे अपने-अपने अधिकार-क्षेत्रो के लिए उत्तरदायी बना कर अपना उत्तरदायित्व निभाता था। राज्यपाल उप-प्रान्त अधिकारी को उप-प्रान्त की स्थिति के सबध मे जिम्मेदार बनाता था और वह अपने अधीन जिलों के दण्डनायको पर यह जिम्मेदारी लाद देते थे। दण्डनायक अपने क्षेत्रो के गाँवो के मुखियो को गाँवो की स्थिति के लिए उत्तरदायी बना देते थे। किन्तु इस उत्तरदायित्व वितरण या विकेन्द्रीकरण के बावजूद, कोई भी अधिकारी अपने कर्त्तव्यो की पूर्ति न कर पाने पर यह बहाना नहीं कर सकता था कि उसके अधीनस्थ अधिकारियों ने कर्त्तव्य-अवहेलना की थी।

पार्कर ने प्रशासकीय घोषणाओं का जो उदाहरण दिया है उससे उत्तरदायित्व को दूसरा को सौंपने की यह पद्धति काफी स्पष्ट हो जाती है—"दण्डनायक उप-प्रान्तपति से आदेश पाकर सम्मानित हुआ है, उप-प्रान्तपति ने ताओ-ताई के आदेश का हवाला दिया है; महामहिम राज्यपाल और वाइसराय के आदेश प्राप्त कर कोषाध्यक्ष व न्यायाधीश ने ताओ-ताई को निर्देशित किया था, वाइसराय और राज्यपाल उस विदेश मडल के आदेश पर कार्य कर रहे थे जो सम्राट के आदेश पाकर सम्मानित हुआ था...."

चीन के राजनीतिक जीवन के एक अन्य विशिष्ट लक्षण पर ध्यान देना शेष है। किसी भी अधिकारी को इतना वेतन नही मिलता था कि वह सम्यक् रूप से अपनी सिब्बदी का निर्वाह कर सके या अपने भविष्य के लिए कोई उपयुक्त प्रबन्ध कर सके। मोर्स ने दण्डनायक का वार्षिक वेतन सौ से लेकर तीन सौ ताएल तक बताया है, और इसी अनुपात मे उच्च पदाधिकारियो का वेतन-क्रम बढ़ता हुआ बताया है; किन्तु ये वेतन बिलकुल ही कम और अनुपयुक्त थे। इस वेतन के अतिरिक्त उन्हें "अधिकारियों में ईमानदारी प्रोत्साहित करने का" भत्ता भी मिलता था जो वेतनों से कई गुना अधिक होता था। किन्तु इस भत्ते के बावजूद अधिकारियों की आय उनकी आवश्यकताओं से कम रहती थी। इसका स्वाभाविक फल यह होता था कि वे हर उपलब्ध साधन द्वारा अपनी आय बढ़ाते रहते थे। साम्राज्य के आर्थिक प्रशासन की प्रणाली मे अधिकारियों को अपने कम वेतनों को 'ऊपरी' आय से पूरा करने की छूट रहती थी।

केन्द्रीय शासन व्यक्तियों पर कर नही लगाता था, बल्कि प्रान्तो की उगाहने की क्षमता के आधार पर राजस्व की अपनी आवश्यकताएँ हर प्रान्त पर आरोपित कर देता था। इस प्रकार, राज्यपाल को सूचना प्राप्त हो जाती थी कि शाही कोष में उस प्रान्त से कितना धन पहुँचने की अपेक्षा की जाती थी। यह धनराशि केन्द्र पहुँच जाय तो फिर केन्द्र प्रान्तीय अर्थ-व्यवस्था मे दिलचस्पी नही लेता था। चूँकि केन्द्र के खर्च अधिक नही थे, सामान्यतः प्रान्त राजस्व के सुस्थापित मदो से ही राजस्व-मण्डल की माँग से अधिक धन दे सकते थे। अतः यह प्रथा बहुत पहले ही शुरू हो गयी थी कि राज्यपाल केन्द्रीय माँग मे वह राशि भी शामिल कर दे जो उसके बड़े अमले या सिब्बदी और बहुसख्यक कर्मचारियों को रखने पर खर्च होती थी, पर जिसकी व्यवस्था अर्थ-प्रणाली मे आधिकारिक रूप से नहीं होती थी और स्वयं राज्यपाल से जिसका खर्च भरने की अपेक्षा की जाती थी। यह बढ़ी हुई राशि वह विभिन्न उप-प्रान्तों में बाँट देता था। यदि उप-प्रान्तों से ये माँगें पूरी हो जाती थीं तो राज्यपाल का उत्तरदायित्व पूरा हो जाता था और वह यह जाँचने की कोशिश नहीं करता था कि प्रान्तीय कोष

मे वह पूरी राशि जमा हुई या नहीं जो नीचे के अधिकारियो द्वारा वसूल की गई थी। पुराधिपति या उप-प्रान्तपति राज्यपाल द्वारा आँकी व माँगी गयी रकम मे वह रकम भी जोड देता था जो उसकी आवश्यकताओ की पूर्ति के लिए चाहिए थी। यह बढी हुई माँग जिलो पर बाँट दी जाती थी और दण्डनायक इसे वसूल करते थे। चूँकि दण्डनायक को केवल उसी राशि का हिसाब देना होता था जो उसके जिले पर आँकी गयी होती थी, वह व्यक्तियो पर उतना कर लगा देता था जितना कि बिना अनावश्यक झगडा-झझट के वसूल हो सके। ऊपर से माँगी गयी रकम अदा कर देने के बाद शेष राशि वह अपने खर्च के लिए रख लेता था।

यह बात एकदम स्पष्ट हो जाती है कि गाँववालो से वसूल कर-राशि और केन्द्रीय कोष तक पहुँची राशि में बड़ा अन्तर होता था। इस अतर के सबध मे जानकारी व्यापक थी और केन्द्रीय माँग मे जोड़ी गयी विभिन्न राशियो की वसूली उचित और ठीक मानी जाती थी। तुर्की साम्राज्य में जिस प्रकार निश्चित एक मुश्त रकम लेकर मनमाना कर वसूल करने का ठेका लोगों को दे दिया जाता था, उसीसे मिलती-जुलती इस चीनी प्रणाली मे यह आशका हो सकती थी कि शीघ्र ही, व्यक्तियों पर करो का बोझ असहनीय हो उठता होगा। किन्तु यह आशका इसलिए सही नहीं थी कि व्यक्ति उस राशि से अधिक अदा करने मे स्वभावतः ही अनिच्छा दिखाते थे जो उनके पूर्वज अदा करते आये थे, और कर वसूल करने वाले अधिकारी तथा किसान या ग्रामीण के बीच जो सघर्ष हर वर्ष होता था, उसमे प्रथा-परपरा का बल किसान या ग्रामीण को प्राप्त हो जाता था। जिस समाज में हर विवाद मे प्रथा के पक्ष मे ही निपटारा हो, व्यक्ति के हित काफ़ी सुरक्षित रहते है। प्रत्यक्ष करो के स्रोत स्थिर और अपरिवर्तनीय थे और इनकी वसूली मे प्रथा द्वारा नियत दर से बहुत अधिक जोड़ देने से उपद्रव की आशका उठ खड़ी होती थी। चूँकि खुले उपद्रव से दण्डनायक की शासकीय क्षमता पर उँगली उठती थी, उसकी सामान्य प्रवृत्ति यही होती थी कि जहाँ पर व्यक्ति खुला प्रतिरोध करने को तैयार हो जाय उस सीमा को वह न लाँघे। वास्तव मे, चीन जब विदेशो से समागम और संपर्क मे आया तब करो का बोझ अत्यधिक नही था।

यही वित्त प्रणाली सीमा-शुल्क तथा नमक की इजारेदारी के प्रशासन में भी चालू थी, जिसमे पीकिंग को घाटा हो जाता था और अधिकारी व्यक्तिगत रूप मे निश्चित लाभ मे रहते थे। साम्राज्य भर मे सबसे अधिक आय वाले कुछ पद वे थे जो कैण्टन मे वैदेशिक व्यापार से सबधित थे। इन पदो की प्राप्ति के लिए बड़ी-बड़ी रकमें अदा की जाती थीं, किन्तु अधिकारी इन पदों से स्थानान्तरण के पहले सामान्यतः काफी दौलत इकट्ठी कर लेते थे। साम्राज्य से सामान के निर्यात या आयात पर

सीमा-शुल्क की दरें निर्धारित नहीं थी और विदेशी व्यापारियों से उतनी रकम ऐंठ ली जाती थी जितनी वे दे सकते थे। इस तरह वसूली धनराशि का बड़ा भाग अधिकारियों की जेबों में चला जाता था।[८]

इस प्रकार पूरी वित्तीय व्यवस्था भर में भ्रष्टाचार व्याप्त था जिसके पक्ष में कम वेतनों का तर्क था, किन्तु जिससे अधिकारियों की ईमानदारी घटती थी।

जब तक केन्द्रीय सरकार की वित्तीय आवश्यकताएँ सीमित और स्थायी थी, उपर्युक्त प्रणाली से काम चल जाता था। किन्तु केन्द्रीय सरकार द्वारा विदेशी हर्जानों की अदायगी के लिए कोष से बढ़ती हुई माँगें करने, शस्त्रास्त्रों की बढ़ती हुई आवश्यकता की पूर्ति के लिए या विद्रोह या अकाल पड़ने पर प्रान्तों से धनराशियाँ आना बन्द हो जाने पर यह आवश्यक हो जाता था कि या तो राजस्व के मौजूद साधनों से ही अधिक वसूली की जाय, या नये साधन पैदा किये जायँ, या वास्तव में जो राशि वसूल होती थी उसका पहले से बड़ा भाग केन्द्रीय कोष में लिया जाय। किन्तु लगान की तरह मौजूद साधनों से अधिक वसूली एक सीमा तक ही की जा सकती थी, उसके आगे कर उगाहने वाले को प्रतिरोध का सामना करना पड़ता। जिस गति से आवश्यकताओं का विस्तार हो रहा था, उस गति से आय के नये साधनों का विकास हो नहीं सकता था, क्योंकि प्रक्रिया के प्रथाबद्ध रूप अति शक्तिशाली थे, यद्यपि गत शताब्दी के उत्तरार्ध में लगाया और बढ़ाया गया पारवहन (ट्रैंसिट) कर से सरकार को पर्याप्त आय होने लगी थी; आय तेजी से न बढ़ सकने का एक कारण यह भी था कि विदेशी सीमा-शुल्क, जो कि किसी भी राज्य की आय के विकास का सबसे बड़ा साधन होता है, सन्धियों द्वारा बहुत पहले ही बहुत नीची दरों पर स्थिर हो गया था। सरकारी आय बढ़ाने का तीसरा विकल्प कार्यान्वय में असंभव साबित हुआ, क्योंकि अधिकारी अपनी आवश्यकताओं और माँगों को कम करके, वसूली हुई रकम का और बड़ा भाग केन्द्रीय कोष में भेजने को तत्पर नहीं थे। अतः मंचू शासन के अंतिम दिनों में वित्तीय समस्याएँ बढ़ती हुई कठिनाइयाँ पैदा करती रहीं।

अभी तक यहाँ विकेन्द्रित क्षेत्रीय प्रणाली के अन्तर्गत उस अतिकेन्द्रित प्रशासकीय प्रणाली का वर्णन हुआ है जिसका मुख्य लक्षण था कुछ महत्त्वपूर्ण लोकतांत्रिक सुधारों के साथ निरंकुश, स्वेच्छाचारी प्रभुता। किन्तु राजनीतिक चीन की जो "लोकतन्त्र पर आरोपित स्वेच्छाचारी शासन" व्याख्या की गयी है उसका सटीक होना यहाँ अभी तक साबित नहीं किया गया है, क्योंकि इस प्रणाली के लोकतांत्रिक लक्षणों पर अधिक ध्यान नहीं दिया गया है। ये लक्षण ग्राम, परिवार व श्रेणी (गिल्ड) प्रणाली में मिलते हैं जिनका कुछ वर्णन ऊपर हो चुका है। अधिकारी प्रणाली उस जगह समाप्त हो जाती

थी, जहाँ से जनजीवन का सच्चा नियंत्रण आरम्भ होता था, अर्थात् जिले मे दण्डनायक के नीचे की व्यवस्था। जनता कर देती थी और उसके बदले में सरकार से शाति और सुरक्षा बनाये रखने की अपेक्षा करती थी। कानून की दृष्टि से इसका अर्थ यह था कि अधिकारी फौजदारी कानून बनाते और लागू करते थे। श्रेणी सगठन व्यावसायिक कानून बनाते व लागू करते थे और व्यापार-सबधी या श्रम-सबधी विवाद सामान्यतः अदालतो के बाहर ही निपटा लिये जाते थे। बहुधा दण्डनायक कर भी स्वय वसूल नही करता था और गॉव के मुखिया आकर सरकारी मॉग की राशि भर जाते थे, मुखिया को गाँववाले ही चुनते थे, दण्डनायक नियुक्त नही करते थे।[९] जैसा कि पहले ही कहा जा चुका है,[१०] ग्रामजीवन का नियत्रण विभिन्न परिवारो के बड़े-बूढो की गुरुजन-परिषदो द्वारा होता था और देश की सच्ची मूल इकाई परिवार थी और वह आधुनिक पश्चिमी देशो के मुकाबले मे, नियत्रण का बहुत बड़ा निमित्त या अभिकरण होता था।

इससे यह स्पष्ट हो गया है कि चीन मे सच्चा सामाजिक व आर्थिक जीवन सरकारी अधिकारियो के निर्देश के बिना ही चलता था और साथ ही उस जीवन मे बड़े ऊँचे दरजे की सगठन व्यवस्था थी। जीवन के लगभग हर भाग मे जनता आत्म-नियत्रित थी। प्रान्तीय और व्यापारिक श्रेणियो तथा ग्रामीण व पारिवारिक सगठनो द्वारा उस सरकार से निभाव संभव था जो व्यावहारिक रूप मे निम्नतम शक्ति प्रयोग करती थी। अधिकारी पद्धति की कलम परिवार और श्रेणी पद्धतियो पर लगी थी और जनता उसके साथ ऊपर लिखे कारणो से सहयोग करती थी। सरकार या शासन की गैर-राजनीतिक या राजनीति से परे इस पद्धति में ही चीनी राज्य के लोकतात्रिक तत्त्व मिलते थे और मुख्यतः स्थानीय प्रथा-परपराओ को क़ायम रखने वाले इन तत्त्वो के फलस्वरूप ही अधिकारी प्रणाली के स्वेच्छाचारी लक्षणो का सुधार या नियत्रण होता था। किन्तु इस तथ्य को ध्यान मे रखना उचित होगा कि राजनीतिक अर्थ में यह लोकतंत्र नही था।

चीनी जीवन के इन लक्षणों में किस प्रकार सुधार हुआ, यह आधुनिक चीन के उस इतिहास का भाग है, जो पश्चिमी देशो के चीनी साम्राज्य से राजनीतिक संबंध स्थापित करने के प्रयासों से आरम्भ होता है।

## दूसरा अध्याय

# चीन का विदेशों से संपर्क-स्थापन

### (१) पश्चिम से प्राचीन संबंध

अट्ठारहवी शताब्दी के मध्य से सन् १८४२ तक चीनी साम्राज्य विदेशियो के लिए बन्द था, विदेशी केवल कैण्टन व मकाओ की "खिड़कियों" से चीन मे झाँक भर पाते थे। सन् १७५७ से पहले चीनी सरकार ने विदेशियो के चीन में प्रवेश की अनुमति दे दी थी; किन्तु यह विदेशियो के आगमन का सक्रिय प्रोत्साहन नही था, अनुमति मात्र थी। आधुनिक काल में समुद्री मार्ग से पाश्चात्य लोगों मे सबसे पहले पुर्तगाली ही चीन पहुँचे। पुर्तगाली जहाज् सबसे पहले सन् १५१६ में चीन पहुँचे थे और उसके बाद अन्य यूरोपीय देशों के लोग व्यापार की खोज में वहाँ पहुँचने लगे। स्पेन वाले सन् १५७५ में वहाँ पहुँचे, डच सन् १६०४ मे, अंग्रेज सन् १६३७ में और अमरीकी सन् १७८४ में। इसी समय, जब इन देशों के जहाज् चीन के दक्षिणी भागों में पहुँच रहे थे, रूस पूर्व में प्रशान्त सागर की ओर अपना क्षेत्र बढ़ा रहा था।[१] सन् १६८९ में रूस और चीन की सीमाएँ मिलने पर दोनो ओर के लोगों के सीमा के आर-पार आवागमन और व्यापार के नियंत्रण के लिए समझौता आवश्यक हो गया और उस वर्ष चीन ने आधुनिक युग की अपनी पहली संधि (नर्चिस्क की संधि) पर हस्ताक्षर किये। इसी संधि द्वारा रूस को अपना एक मिशन पीकिंग भेजने का अधिकार मिल गया और इस प्रकार अन्य देशों के मुकाबले में रूस का स्तर भिन्न हो गया।

अजनबियों के साथ सद्भावनापूर्ण आतिथ्य के व्यवहार की प्राचीन परंपरा के अनुरूप विदेशी व्यापारियो की राह में कोई बड़ी कठिनाई चीन में उपस्थित नहीं की गयी। फिर भी, विदेशियो के प्रति क्या नीति बरती जाय, इस प्रश्न को लेकर गंभीर संशय और संकल्प-विकल्प अवश्य ही उठे होंगे, क्योंकि पुर्तगालियों के भारत व मलेशिया में कार्य-कलाप, स्पेन द्वारा फिलिपीस पर अधिकार तथा अंग्रेजो व डचों के हमलो के समाचार पीकिंग तक अवश्य ही पहुँचे होगे। इन समाचारो मे अतिशयोक्ति नही थी, यह सबसे पहले चीन पहुँचने वाले विदेशियों के व्यवहार ने ही प्रकट कर दिया। पुर्तगाली जाब्ते के व्यापार से अधिक लूटपाट मे दिलचस्पी रखते थे और शीघ्र ही उनका संपर्क मकाओ तक ही सीमित कर दिया गया। स्पेन वालों को बहुत पहले ही चेता-

वनी दे दी गयी थी और उन्होंने व्यापार-सबध स्थापित करने का कोई सच्चा प्रयास भी नही किया। डचो ने पहले-पहल अपने को पेस्काडोर द्वीपो और फिर फारमूसा मे स्थापित करने का प्रयास किया और कुछ समय तक वे वहीं रहे भी। और चीनियो में अंग्रेजो के विरुद्ध पक्षपात की भावना बन ही गयी थी, एक तो अंग्रेजों को व्यापार से अलग रखने की आशा मे पुर्तगालियों द्वारा उन्हे बदनाम करने के कारण, और दूसरे स्वयं अंग्रेजो के फूहड, असभ्य व खोटे व्यवहार के कारण। इन सब बातो के कारण विदेशियो के चीन से संपर्क का प्रारम्भ ही गडबड हो गया और इनमे आपसी सघर्ष से अच्छे सबध होने की सभावना बढ़ भी नही सकी।

इसी समय राजवश को एक ओर उत्तर से मचुओ का खतरा बढ रहा था, और दूसरी ओर बड़ी दीवार के दक्षिण मे विद्रोह सिर उठा रहा था। इस स्थिति मे कोई आश्चर्य नही था कि मिंग शासक पश्चिमी लोगो के आगमन से उत्पन्न जटिलता से डर गये; इन विदेशियां का व्यवहार बहुधा भयकारक होता भी था। देश पर आधिपत्य के उपरान्त, सन् १६८५ मे मंचुओं ने शासनादेश द्वारा सभी तटीय बन्दरगाहो में विदेशियों को व्यापार करने की अनुमति दे दी, किन्तु अततः संभवतः व्यापारियों को नियंत्रित करने के अपने अनुभवो के कारण भी, उन्होने विदेशियो के देश के भीतर आने पर प्रतिबन्ध लगा दिया। सन् १७५७ में व्यापार निश्चित रूप से दक्षिण के अतिम बन्दरगाह कैण्टन तक ही सीमित था।

जिस तरह व्यावसायिक संबंधों पर प्रतिबन्ध लगा, बिलकुल उसी तरह, चीनी सरकार पश्चिम से आये ईसाई धर्म प्रणिधियों के भव्य स्वागत के बाद, धीरे-धीरे मित्रता कम करने लगी और अत में ईसाई धर्म प्रचार पर रोक लगा दी। रोमन कैथोलिक पादरियों के चीन में कार्य की पहली अवधि तेरहवी से सोलहवी शताब्दी तक थी। दूसरी अवधि सोलहवी शताब्दी के मध्य से उस देश में मेतिओ रिक्की की स्थापना के समय तक फैली थी और इसके संबंध में कुछ विवरण देना उपयुक्त होगा क्योकि यह अवधि पहली के मुकाबले अधिक फलदायक थी। सबसे पहले आनेवाले धर्म-प्रचारक जेसूट थे, जिन्होने अधिकांशतः चीनियो के व्यवहार और पूर्वग्रहों के आधार पर अपने धार्मिक विश्वासों को ढाल कर अपने पैर जमा लिये थे, वे दार्शनिक व वैज्ञानिक बनकर आये, धर्म-प्रचारक नही। सन् १६०१ तक रिक्की पीकिंग में जम गया था जहाँ उसे उसके साथियों व उत्तराधिकारियों को दरबार से अनुग्रह प्राप्त हुए और उच्चाधिकारियों तक का धर्मपरिवर्तन किया। जेसूटो के प्रयत्नों के फलस्वरूप प्रान्तो में भी काफी धर्मपरिवर्तन हुए। जेसूटो के उपरान्त, उनके विरोध के बावजूद, फ्रांसिस्की और डोमिनिकी धर्म-प्रचारकों ने आकर पैर जमाये।

कैथोलिक धर्म-प्रचारकों के मजबूती के साथ पैर जम जाने के बाद फिर उन्हें किसी गंभीर रुकावट का सामना तब तक नहीं करना पड़ा जब तक उनके विभिन्न मतों या पंथों में आपसी स्पर्धा नहीं शुरू हो गयी। प्रतिस्पर्धा की यह छूत उन चीनियों में भी फैल गयी जो मत-परिवर्तन कर ईसाई बन गये थे और इसका राजनीतिक महत्त्व इसलिए बढ़ गया कि कुछ पादरी-पुरोहित तो पीकिंग व प्रान्तों में पद पा गये थे और ईसाई मतावलम्बियों पर धार्मिक व अधार्मिक दोनों तरह का प्रभाव डालते थे। अतः यह आशंका प्रकट की गयी कि धर्म-प्रचार के उत्साह से गंभीर आंतरिक अशांति पैदा हो सकती है।

इससे भी अधिक गंभीर परिणाम उस विवाद का हुआ जो देशी ईसाइयों द्वारा पूर्वज-पूजा जारी रखने की वैधानिकता को लेकर उठ खड़ा हुआ था। इसी के साथ दूसरा विवाद ईश्वर की ईसाई कल्पना के लिए उपयुक्त चीनी शब्द के संबंध में उठा। इस विवाद के संबंध में याचिका चीन के सम्राट् को भी भेजी गयी और रोम को भी, और चूँकि उन दोनों के निर्णयों में अंतर था और उनके निष्कर्ष भिन्न थे, यह प्रश्न भी उठा कि उस धर्म के प्रचार का चीनी राज्य पर क्या प्रभाव पड़ेगा जो दूर देश में बैठी एक बाहरी शक्ति को सर्वोच्च मानता है। "ईसाई धर्म-प्रचारकों के मतों या पंथों के आपसी झगड़ों और विवादों, पूर्वज-संबंधी रीति-रिवाज के संबंध में सम्राट् की आज्ञाओं के कुछ उन चीनियों द्वारा प्रतिरोध जो मत-परिवर्तन कर ईसाई बन गये थे तथा अधिकारियों के इस अभिवेदन या शिकायत ने कि नया धर्म सम्राट् की प्रभुसत्ता की जड़ काट रहा है, इन पादरियों के कार्य-कलाप के संबंध में धीरे-धीरे सम्राट् की आँखें खोल दीं।"[१] अतः, सन् १७२४ में एक शासनादेश द्वारा "ईश्वर जो स्वर्ग में है" के धर्म के प्रचार पर रोक लगा दी गयी।

कुछ धर्म-प्रचारक कुछ दिनों के लिए पीकिंग में वैज्ञानिक पदों पर रहने दिये गये। कुछ पादरी देश निकाले के बाद भी प्रान्तों में विभिन्न स्थानों में छिप कर आ गये और अपना काम जारी रखा। इन पादरियों तथा चीनी ईसाइयों की मौजूदगी से बीच-बीच में उनका उत्पीड़न होता रहता था, किन्तु इसका असर यह नहीं हुआ कि ईसाई धर्म चीन से जड़-मूल से नष्ट हो जाता। "सन् १८२० के एक अनुमान के अनुसार चीन में उस समय २,१५,००० चीनी ईसाई, अस्सी चीनी पादरी, तेईस विदेशी धर्म-प्रचारक, छः बिशप तथा उनके दो सहायक मौजूद थे।"[२]

इस प्रकार चीन से पश्चिम के समागम की पहली दो शताब्दियों की पड़ताल से ज्ञात होता है कि चीनी साम्राज्य यदि विदेशियों के लिए बन्द कर दिया गया तो वह कोई विदेशी-विरोधी मूल भावना के कारण नहीं, वरन् अनुभव और प्रयोग के आधार

पर। निष्ठा की शपथ लेकर कुछ पादरी रह गये थे और यह भी सही है कि ईसाई धर्म भी चीन से उखाड़ फेका नही गया था, किन्तु कैथोलिक मिशनो को अपना पुराना महत्त्व फिर से तब तक नही मिल पाया जब तक कि सन् १८४४ मे रोक हटा नही ली गयी। कैण्टन और मकाओ द्वारा होने वाले सीमित प्रवेश को छोडकर विदेशी व्यापारियो पर साम्राज्य भर मे रोक लगी रही और यह रोक सन् १८४२ तक जारी रही। कैण्टन व मकाओ से भी केवल व्यावसायिक सबधो की ही अनुमति दी गयी थी और विदेशी व्यापारी केवल चीनी सौदागरो से ही सपर्क स्थापित कर पाते थे। पुर्तगाल, हालैण्ड व इग्लैण्ड ने पीकिंग से राजनीतिक सबध स्थापित करने के लिए वहाँ राजदूत भेजने के प्रयत्न किये, पर हर प्रयत्न असफल रहा। राजदूतो को हमेशा करद-दूत माना जाता रहा और उनसे सम्राट् या सम्राट् के चित्र के सामने काओ-टाओ (नौ बार दण्डवत्) करने की अपेक्षा की जाती रही, अग्रेज लगातार इससे इनकार करते रहे और डच करते भी रहे, पर कोई फल नही निकला। इन राजदूतो को अच्छा व्यवहार व आज्ञापालन पर लम्बे भाषण दिये जाते और फिर उनसे कह दिया जाता कि स्थापित प्रक्रियाओं को बदलने की कोई आवश्यकता सम्राट् को प्रतीत नही होती।

## (२) कैण्टन व्यापार

विदेशी सौदागरो से कैण्टन में व्यापार तो होता था, किन्तु उन्हे पूरे वर्ष भर वहाँ रहने नही दिया जाता था। गर्मियो मे या व्यापार के एक मौसम के खत्म होने और दूसरे के शुरू होने के बीच के समय मे ये सौदागर मकाओ चले जाते थे जहाँ पुर्तगाल को पट्टा मिला हुआ था, यद्यपि चीनी अधिकार-क्षेत्र वहाँ भी कायम था। जब ये व्यापारी कैण्टन वापस लौटते थे तो अपने बीबी-बच्चो को मकाओ मे ही छोड आने को बाध्य होते थे। इ ससे उनके कैण्टन निवास के अस्थायी और अनिश्चित रूप को प्रमुखता मिलती थी।

व्यापार की सभी शर्ते चीनी तय करते थे, किन्तु शुल्क या प्रभार बदलते रहते थे; प्रभार नियत करने का सिद्धात यह था कि जो भी अधिकतम वसूली की जा सके, कर ली जाय। इस आय का एक बहुत छोटा भाग पीकिंग तक पहुँच पाता था, शेष कर वसूल करने वाले से लेकर वाइसराय तक के पेटों मे पहुँच जाता था। टनमान, आयात व निर्यातकर, अनेक प्रकार के सेवा प्रभार, सभी इस आय के अंग थे।

व्यापार से सफलतापूर्वक अधिकतम आय पैदा करने के लिए चीनियों ने एक इजारेदार संगठन स्थापित कर लिया और सारा व्यापार उसी के द्वारा होना अनिवार्य कर दिया। सन् १७०२ में "सम्राट् का व्यापारी" नामक एक पदाधिकारी कायम

कर दिया गया जो विदेशियो से व्यापार करने का एकमात्र आढतिया या एजेंट बना दिया गया।[४] यह प्रथा भी संतोषजनक सिद्ध नही हुई और पचास वर्ष बाद, विदेश व्यापार मे संलग्न चीनी सौदागरो की 'को-हंग' नामक श्रेणी (गिल्ड) स्थापित कर दी गयी और ये "सुरक्षा व्यापारी" सारा विदेशी व्यापार सम्हालने लगे। सन् १७७१ मे को-होंग तोड़ दी गयी, किन्तु सन् १७८२ मे फिर स्थापित कर दी गयी और सन् १८४२ तक कायम रही। को-होंग के पुनर्गठन से व्यापार की इजारेदारी समाप्त नही हुई, केवल उसमे यह सुधार हो गया कि इस व्यापार मे भाग लेने वाले व्यावसायिक संघो की सख्या बढायी गयी। यह सख्या बढ़कर पहले बारह हुई फिर तेरह कर दी गयी। हर विदेशी व्यापारी की जमानत या प्रतिभूति होंग का कोई व्यापारी लेता था। इसका अर्थ था कि होंग सदस्य के द्वारा ही यह विदेशी व्यापारी क्रय-विक्रय कर सकता था और होंग सदस्य निम्नतम मूल्य पर खरीदता था और अधिकतम मूल्य पर बेचता था। ये सुरक्षा-व्यापारी, अपनी ओर से अधिकारियों की समुचित पूजा कर देते थे और उन असख्य छोटे-मोटे लेने-पावनो को भर देते थे जो अधिकारियो ने बना रखे थे; इस प्रकार विदेशी व्यापारी को अधिकारियों से नही निपटना पड़ता था। व्यापार का यह बोझ अततः माल की उस कीमत में मुजरा हो जाता था जो समझौते से तय होती थी।

चीनी अधिकारी वर्ग और विदेशी समाज के बीच को-होंग व्यवधान का काम देती थी। ये तेरह व्यापारी कारखानों और वाइसराय, राज्यपाल, दण्डनायक आदि के बीच संपर्क का एकमात्र साधन थे। यदि होंग व्यापारियों के विरुद्ध शिकायत हो तो भी वह, याचिका के रूप में, उन्हीं के द्वारा आगे बढ़ायी जा सकती थी। कुछ समय बाद यह तय हो गया कि याचिकाएँ सीधे अधिकारियों के पास भेजी जा सकेंगी, किन्तु इसका कोई आश्वासन नही था कि इस नियम का सदा पालन ही होगा। फिर दूसरे चीनी व्यापारी केवल को-होग सदस्यों के द्वारा ही विदेश व्यापार में भाग ले सकते थे। इस प्रकार सारा आयात व निर्यात व्यापार इन्हीं सदस्यों के नियंत्रण में था; इसमें केवल अधिकारी ही हस्तक्षेप कर सकते थे और ऊपर से नीचे तक सभी अधिकारियो को "निचोड़" का अपना-अपना हिस्सा मिल जाने पर वे हस्तक्षेप करें, इसके उदाहरण बहुत कम थे। चतुर व्यापारियो की भाँति ये "सुरक्षा व्यापारी" इस ढंग से व्यवसाय चलाते थे कि उनका लाभ अधिकतम हो और कीमते इस प्रकार निर्धारित करते थे कि विदेशियों को भी घाटा न हो और इजारेदारी नियत्रण के बाद भी विदेशी व्यापारियों का मुनाफा इतना अधिक होता था कि वे व्यापार जारी रखने के लिए कोई भी परेशानी व कठिनाई सहने को तैयार रहते

थे। व्यापार कायम रखने की इस इच्छा को चीनी भली-भाँति समझते थे और विदेशी समुदाय से बर्ताव करने मे इसी का लाभ उठाकर अपनी श्रेष्ठता कायम रखते थे।

कैण्टन नगर की चहारदीवारी के बाहर एक सीमित क्षेत्र मे ये विदेशी व्यापारी रहते थे। गोदामो के ऊपर उनके घर होते थे और "कारखानो" मे कार्यालय, विदेशी आस्थानो के स्थायी प्रतिनिधियो को कारक (फैक्टर) कहते थे और उसी से उनकी इमारतो को कारखाना कहा जाता था। विदेशी लिपिको व अन्य सहायको के अतिरिक्त विश्वासपात्र चीनी बिचवलिया भी इन विदेशी सस्थापनो मे होता था जो अपने विदेशी व्यापारी और उसके "सुरक्षाव्यापारी" के बीच व्यवधान बनता था, इनके अतिरिक्त दुभाषिये व नौकर होते थे। विदेशी व्यापारी न भाषा जानते थे और न देश की व्यावसायिक आवश्यकताएँ और न ही वे स्वय माल खरीद सकते थे, इसलिए वे विश्वासपात्र चीनियो को व्यापार का यह अग सिपुर्द कर देते थे। व्यक्तिगत आवश्यकताओ तथा सुविधाओ की पूर्ति के लिए विदेशी चीनियो की सद्भावना पर आश्रित थे। वे जो चीनी नौकर रखते थे वह अधिकार के आधार पर नही, नियम अवहेलना के फलस्वरूप। उनका खाना-पानी चीनी नगर से आता था और मनोरजन के उनके स्थान सीमित थे। चीनी नियमो और घोषणाओ के अनुसार विदेशी यूरोपीय स्थानीय जनता के मुकाबले निचले नैतिक स्तर के प्राणी गिने जाते थे और उनके साथ व्यवहार भी वैसा ही होता था। किन्तु यह बात ध्यान में रखनी होगी, जो अधिकारी ये घोषणाएँ जारी करते थे वे या तो विदेशियों को जानते ही नही थे या दूसरो से सुन-सुना कर ही जानते थे। जिन होग व्यापारियों या अन्य लोगों के संपर्क मे ये विदेशी आते थे उनसे उनके सबंध अति मैत्रीपूर्ण होते थे। और इन घोषणाओ की भाषा व स्वर पर विचार करते समय यह भी स्मरण रखना चाहिए कि इन व्यापारियो मे सभी अपने-अपने देशों के सबसे बेहतर तत्वों का प्रतिनिधित्व नहीं करते थे।

अट्ठारहवीं शताब्दी के मध्य से पूर्व ही कैण्टन के व्यापार में अंग्रेज अपने अन्य प्रतियोगियो से आगे बढ गये थे। सन् १७१५ मे कैण्टन में ईस्ट इडिया कम्पनी का कारखाना बन जाने के बाद व्यापार का बड़ा भाग इस कपनी के नियत्रण मे आ गया, क्योकि अंग्रेजी व्यापार की इजारेदारी कपनी के हाथ मे थी। दूसरे अंग्रेज कम्पनी से लैसंस पाकर ही व्यापार कर सकते थे और वह भी केवल अशतः। कैण्टन में कम्पनी का प्रतिनिधित्व करते थे अधीक्षक जो काफी हद तक सारे विदेशी व्यापारियों के प्रवक्ता भी थे। चूँकि इन अधीक्षको का अन्य विदेशी प्रतिनिधियो के मुकाबले मे अंग्रेज व्यापा-

रियों पर अधिक नियंत्रण था और चूंकि विदेशी व्यापारियों में अंग्रेजों का गुट सबसे बड़ा था, चीनी लोगों की प्रवृत्ति भी यही थी कि वे अंग्रेजों से ही व्यवहार रखें और व्यापार के विदेशी अंग के लिए अंग्रेजों को ही उत्तरदायी बनायें।

सन् १७८९ के बाद अमरीकियों ने अपनी स्थिति सुधारी और वे अंग्रेजों के बाद सबसे बड़े व्यापारी हो गये। सन् १८३२ तक सात सुस्थापित व्यापारिक संस्थान और बीस अमरीकी लगातार कैण्टन आने लगे। ये संस्थान या फर्म पूरे अमरीकी व्यापार के दलाल की हैसियत से काम करते थे; जो भी माल लाते थे उसे बेचते थे और बाहर ले जाने के लिए माल इकट्ठा करते थे। यह ध्यान देने योग्य बात है कि अमरीकी व्यापारी व्यक्तिगत रूप से आये थे और इससे जहाँ एक ओर उन्हें अंग्रेज प्रतियोगियो से अधिक व्यापार-स्वतंत्रता प्राप्त थी, वहीं दूसरी ओर अंग्रेजों की ईस्ट इंडिया कंपनी जैसी शक्तिशाली संस्था उनके पीछे न होना उनकी कमजोरी थी। यह सही है कि उन्हें एक वाणिज्य-दूत की सेवाएँ प्राप्त थी; किन्तु इस दूत का चीनियों में वही रुतबा था जो किसी भी अन्य विदेशी व्यापारी का था। "यह दूत केवल एक व्यापारी भर होता था जिसे मुआविजे के रूप में पद की फीस प्राप्त होती थी; पद की प्रतिष्ठा तथा अपने प्रतियोगियों के व्यापार के संबध में वह सूचना जो वह सरकारी प्रतिवेदनों तक पहुँचने के कारण पा जाता था।"[1] इस पद के लिए व्यापारी लालायित रहते थे, पर इसलिए नहीं कि वाणिज्य-दूत का अन्य व्यापारियों पर कोई प्रभाव होता था। सहमति के सिवा कोई समान नीति चलाने का उसके पास कोई उपाय नहीं था और इसलिए वह किसी सुसंगठित समुदाय के साधिकारी प्रवक्ता की हैसियत से चीनियों से बरताव नहीं कर सकता था। इस प्रकार, किसी नियंत्रक कंपनी के अनुशासन से मुक्ति होने से अमरीकियो को जो लाभ था वह चीनियों से संबंधों में घाटा बन जाता था।

प्रारम्भिक व्यापार में एक विशेषता यह थी कि वह एकतरफा था। चीनी लोग यूरोपीय माल लेने के इच्छुक नही थे, पर यूरोपीय लोग लम्बी-लम्बी समुद्री यात्राएँ करके आते थे और चीनी माल प्राप्त करने में जो अनिवार्य संकट थे उन्हें झेलते थे। अतः चीनियों में यह धारणा बनने लगी कि यूरोप की जनता अपनी भलाई के लिए चीन पर आश्रित है। वह चीनी आयुक्त लिन के सन् १८३९ तक में किये उल्लेख से प्रकट है जिसमें कहा गया था कि चीन की "चाय और रेवन्द चीनी" बिना विदेशियो का काम नहीं चलता।

इस कारण चीनियों में विदेशी व्यापारियों से बर्ताव करने में शक्ति की एक भावना बन गयी। ऐसी धारणा बन गयी थी कि व्यापार रुक जाने से चीनियों की केवल जेबों पर ही असर पड़ता जब कि यूरोपीय व्यापारियो के देशों की जनता के कल्याण में भी

रुकावट आ जाती। अतएव, विदेशी सौदागर को नियंत्रित करने के लिए वे व्यापार बन्द कर देने की धमकी को बडा प्रभावकारी अस्त्र मानने लगे। व्यापार की अनुमति मिलती थी किसी विदेशी के अधिकार के रूप में नही, वरन् एक ऐसी विशिष्ट सुविधा के रूप मे जो चीनी अधिकारियो की इच्छा या विवेक पर छीनी जा सकती थी। इस प्रकार, चीन के शेष ससार से सपर्क केवल व्यवसाय के क्षेत्र तक सीमित रहने के कारण, कैण्टन से व्यापार करने की छूट पाने के लिए विदेशी व्यापारियो के चीन द्वारा लगायी गयी लगभग हर शर्त मान लेने के कारण तथा इस भावना के कारण कि यह व्यापार विदेशियो का अधिकार नही है, वरन् उन्हे दी गयी एक सुविधा है, कैण्टन-वासियो मे विदेशियो को अनावश्यक रूप से हीन समझने की भावना और अपने को बड़ा समझने का दर्प पैदा हो गया जिससे अतत उन्ही का अहित हुआ।

शुरू में तो व्यापार बिलकुल एकतरफा था और चीनी माल के लिए सोना-चॉदी आदि बहुमूल्य धातुएँ दी जाती थी, धीरे-धीरे माल का विनिमय चल गया। चाय, रेशम, नानकिन कपड़े तथा अन्य चीनी सामग्री के बदले मे अमरीकी और अग्रेज जड़ी (जिनसेंग) लाते थे जिसकी साम्राज्य मे अच्छी खपत थी, अमरीका के पूर्वी व पश्चिमोत्तर तटो तथा सील मछली के शिकार से फर (कीमती खाल) लाते थे, चन्दन, सूती वस्त्र, चावल व दूसरे सामान लाते थे, उन्नीसवीं शताब्दी के पहले पच्चीस वर्षों में सूती वस्त्र की खपत काफी बढ गयी थी। चीन जिन वस्तुओ का आयात करता था उनकी गणना से ही यह स्पप्ट हो जायगा कि यह व्यापार आपसी न होकर त्रिकोणात्मक था। व्यापारी अपना माल विभिन्न स्थानो में उस माल से बदलते थे, जिसकी चीन मे खपत थी। अमरीकियो को न केवल माल ही जुटाना पडता था, बल्कि सोना-चॉदी भी इकट्ठा करना होता था; क्योकि चीनी आयात मे अफीम की मात्रा काफी बढने के पहले व्यापार का सतुलन बनाये रखने के लिए सोना-चाँदी ही देना पड़ता था।

चीन मे अफीम की माँग बढती ही गयी, यहाँ तक कि सन् १८३० मे व्यापार-संतुलन चीन साम्राज्य के प्रतिकूल पड़ गया, चीन में जितनी अफीम का आयात हुआ उसका मूल्य, निर्यात के सभी माल के मूल्य से अधिक था। अफीम का अधिकांश भारत से आता था, कुछ अफीम ईरान से आती थी और बाद में अमरीकी तुर्की से कुछ अफीम लाने लगे थे। कैण्टन मे जितने देशो के व्यापारी थे, उन सभी देशों से अफीम लायी जाती थी, यद्यपि सभी व्यापारी इस व्यापार मे भाग नही लेते थे; शेष व्यापार की भाँति अफीम के व्यापार मे भी अंग्रेज अग्रणी थे, यद्यपि अफीम का लदान "देशी" नावों पर होता था। इस व्यापार का उत्तरदायित्व ब्रिटेन पर सिर्फ इस कारण नहीं था कि अंग्रेज व्यापारी अफीम चीन में बेचते थे, बल्कि इसलिए भी था कि भारत में

अफीम की खेती को प्रोत्साहन दिया जाता था, भारत में अफीम की बिक्री पर निर्यात की दृष्टि से नियंत्रण था और भारत-सरकार इस व्यापार मे आय के एक साधन के रूप में दिलचस्पी लेती थी।

अफीम के आयात में वृद्धि[६] इस बात का सकेत थी कि अफीम का प्रयोग करने वालो की सख्या बढ रही थी। यहाँ यह बता देना उपयुक्त होगा कि अफीम या मदक पीना चीनियो का कोई स्वाभाविक दुर्गुण नही था, वरन् देश मे लाया गया था। अफीम के औषधि के रूप मे जो गुण थे वे बहुत पहले से ज्ञात थे, नशे के रूप में उसका प्रयोग बहुत बाद मे शुरू हुआ। हुक्के या पाइप में तम्बाकू में मिलाकर अफीम पीने का चलन फारमूसा से आया लगता है, जहाँ सन् १६२४ मे अस्थायी रूप से डचों का आधिपत्य हो गया था; स्वय तम्बाकू भी चीन मे विदेशियों द्वारा लायी गयी थी, बाद में तम्बाकू मिलाये बिना ही अफीम पी जाने लगी। एक बार शुरू होने पर अफीम पीने का चलन तेजी से बढा और वह आम रिवाज बन कर राष्ट्रीय दुर्गुण के रूप में फैल गया। अनेक अधिकारी, सभ्य भद्र लोग और जो भी इस खर्चीले शौक का भार उठा सकते थे, इसके आदी हो गये।

अफीम के प्रयोग के विरुद्ध नैतिक तथा स्वास्थ्य दोनों दृष्टियों से ही बहुत पहले ही आवाज उठायी गयी थी। सन् १७२९ के शासनादेश में अफीम के प्रयोग के विरुद्ध डाँट-फटकार थी और सन् १८०० के शासनादेश मे तो अफीम के आयात पर ही रोक लगा दी गयी थी। किन्तु, इस प्रतिबन्ध के बावजूद इस विदेशी माल का व्यापार बढ़ता ही गया, यद्यपि को-होंग व अंग्रेजों की ईस्ट इंडिया कंपनी, दोनो ने इसका व्यापार छोड़ दिया था। अधिकारियों को आदेश दिये गये कि इस व्यापार का उन्मूलन कर दिया जाय, किन्तु "निचोड़" के इस साधन को उन्होंने इतना लाभदायक पाया कि शासनादेशो से उन्होंने इस आयात से होने वाली आय को इतना अधिक बढ़ा लिया जो इसके गैरकानूनी न होने पर असंभव होती। सन् १८२० के बाद, पीकिंग के आदेशानुसार, यह व्यापार कुछ समय के लिए कैण्टन में बन्द हो गया, पर इसका फल सिर्फ यह हुआ कि व्यापारी ऊपर तट पर जाकर अपना माल उतारने लगे। इसका यह भी फल हुआ कि अधिकारियो की 'निचोड़' इतनी कम हो गयी कि उन्होने इस व्यापार की ओर आँखें मूँद ली और व्यापारियो को लिण्टिन में आनेवाले जहाजों में जम जाने की अनुमति दे दी। सन् १८३८ तक नशाबंदी का कोई गंभीर प्रयास नहीं हुआ और सन् १८३८ के इस प्रयास के कारण ही वह सघर्ष हुआ जिससे युद्ध और फिर नानकिंग की संधि हुई।

मदक पीने की आदत को प्रोत्साहन देने मे विदेशियों के उत्तरदायित्व को निगाह से ओझल नही किया जा सकता और न उसे कम करके ही देखना चाहिए। किन्तु केन्द्रीय सरकार की इस दुर्गुण की रोकथाम करने मे अक्षमता को या उस अक्षमता के कारणो को भी नही भूला जा सकता। आयात पर लगे प्रतिबन्ध सफलतापूर्वक कार्यान्वित नही हो सके उसका मुख्य कारण 'निचोड़' की प्रथा थी। प्रशासन की विकेन्द्रित प्रणाली ने—जिसमें शाही आदेशों का पालन अधिकारियों के विवेक पर छोड दिया जाता था—अफीम की खपत पर आयात सीमित कर देने के सिवा रोक लगाना असंभव कर दिया था। साथ ही विदेश से आने वाली अफीम की मात्रा मे दक्षिण-मध्य व पश्चिमी प्रान्तो में तेजी से बढ रही अफीम की उपज भी वृद्धि कर रही थी। अफीम के प्रयोग को सीमित करना था तो यह देशी उत्पादन बन्द करना ही था। किन्तु यह फसल बड़े मुनाफे की थी, क्योंकि सारे साम्राज्य भर मे इसकी खपत थी, और जब तक अधिकारी काश्तकारो के खिलाफ कड़ी कार्रवाई न करे उत्पादन बढ़ता ही। अधिकारी या तो सम्राट् के आदेश का पालन करते या इस आदेश से मुक्ति दिलाने, अर्थात् खेती निरापद बनाने के लिए बडी रकमें वसूल करते। सामान्यतः अधिकारियों ने बड़ी रकमें वसूल करने का रास्ता ही अपनाया। यह ध्यान देने की बात है कि अफीम के इस उत्पादन का अफीमचियों को अधिक मात्रा मे अफीम उपलब्ध कराने के अलावा एक और महत्वपूर्ण प्रभाव यह हुआ कि अन्न उपजाने का क्षेत्र कम हुआ और देश के कुछ भागों में इससे अन्न उत्पादन पर कुप्रभाव पडा। आर्थिक महत्त्व के ये दोनों नतीजे ध्यान में रखने चाहिए।

अफीम के विदेशी व्यापार से एक अन्य आर्थिक तथ्य उत्पन्न हुआ जिससे अफीम के विरुद्ध सामाजिक आपत्तियों को बल मिला। अफीम का आयात बढ़ने से देश का सोना-चाँदी खिचकर कैण्टन आने लगा ताकि विपरीत व्यापार संतुलन को भरने के लिए सोने-चाँदी में भुगतान किया जा सके। देश की मुद्राप्रणाली और आर्थिक जीवन पर इसका सभाव्य प्रभाव अंततः क्या होगा, यह उच्च पदाधिकारियो ने शीघ्र ही भाँप लिया और स्मृति-पत्रों व याचिकाओं द्वारा सम्राट् का ध्यान इस ओर दिलाया। कुछ लोगों ने इसे नशाबन्दी के पक्ष में एक नया तर्क सिद्ध किया, जब कि कुछ अन्य लोगों ने इस व्यापार को नियन्त्रित करने का सबसे आसान उपाय उसे वैध कर देना बताया। नशाबन्दी संबंधी शासनादेश लागू करने के अंतिम प्रयास से पहले, कुछ समय तक ऐसा लगा कि अफीम व्यापार को वैध करने के समर्थकों की ही पीकिंग में जीत होगी, किन्तु जीत के ठीक पहले सम्राट् ने सुस्थापित को लागू करने का संकल्प कर लिया। परिवर्तन की सभावना ने, जिसे कैण्टन में संभावना की जगह निश्चय माना

गया, अंततः जो कदम उठाया उसे विदेशियों की निगाह में वास्तविकता से अधिक कठोर बना दिया गया।

यद्यपि अफीम की रफ्तनी में लगभग हर देश के व्यापारी लगे हुए थे, यह बता देना उपयुक्त होगा कि कुछ व्यापारियों को नशाबन्दी की नीति से सहानुभूति थी। उनके लिए सामाजिक आपत्ति तर्कसगत थी तथा कुछ अंग्रेज व अमरीकी व्यापारियों को लगा कि अफीम के बढ़ते हुए आयात से जाब्ते के आयात व्यापार के विकास मे निश्चय ही बाधा पड़ेगी। तब भी अनेक व्यापारियों की चीन के बाजार के रूप मे शोषण में उतनी ही दिलचस्पी थी जितनी कि चीन से माल पाने मे। विदेशी सामान के बाजार के विकास मे अफीम का आयात निश्चय ही बाधक था, क्योकि एक तो अफीम का व्यापार बहुत सहूलियत और आसानी से चल जाता था, दूसरे चीन के लिए अफीम व अन्य आयातों के लिए सोना-चाँदी में भुगतान करना असंभव था। इस प्रकार विदेशियों में, आधुनिक युग से पूर्व के चीन से समागम की अवधि में, अफीम को लेकर हित-वैषम्य था।

## (३) आंग्ल-चीनी संबंध (१८३४–१८४०)

किन्तु चीन और ब्रिटेन के बीच जो युद्ध हुआ अफीम उसका कारण नही, प्रसग थी। इसे समझने के लिए कैण्टन मे व्यापार की स्थिति पर हमें एक बार फिर ध्यान देना होगा। काफी लम्बे समय से स्वतंत्र अंग्रेज व्यापारी कैण्टन में ईस्ट इंडिया कंपनी की इजारेदारी समाप्त करने के लिए आंदोलन कर रहे थे। व्यापार प्रतियोगिता मे वे अन्य देशों के व्यापारियां, विशेषकर अमरीकियों की भाँति ही स्वतंत्र रूप से भाग लेना चाहते थे। भारत की उस समय की परिस्थिति तथा इस आदोलन ने मिलकर अंततः ब्रिटिश सरकार को सन् १८३४ मे यह इजारेदारी तोड़ देने को प्रेरित कर दिया। किन्तु इस समाप्ति के बाद ब्रिटिश सरकार सुदूर पूर्व में अंग्रेजी हितों के विस्तार व संरक्षण के लिए कोई दूसरी व्यवस्था करने को बाध्य हो गयी। इस समाप्ति से चीन के लिए भी व्यापारियों के नियंत्रण की समस्या नये रूप में पैदा हुई। केन्द्रीय सरकार ने विदेशियों पर भी उत्तरदायित्व का सिद्धान्त लागू करने का प्रयास किया था और इन व्यापारियों के लिए अंग्रेज अधीक्षक को उत्तरदायी बनाया था और उसीके द्वारा उनसे संबंध व व्यवहार करने की नीति अपनायी थी। अतएव, दोनों पक्ष चाहते थे कि ऐसा कोई अधिकारी नियुक्त हो जाय जो कम्पनी के एजेण्टों या आढ़तियो के कर्त्तव्यों को अपने ऊपर ले ले। किन्तु चीनी व्यवसाय-एजेण्ट की नियुक्ति मात्र से संतुष्ट थे जिसे चीनी व्यापारियों से व्यापार-व्यवहार का अधिकार था।

दूसरी ओर अंग्रेजों ने ऐसे अधीक्षकों की नियुक्ति का फैसला किया जो एक व्यावसायिक कम्पनी की जगह ब्रिटिश सरकार का प्रतिनिधित्व करते। इन अधीक्षको को वे ही अधिकार मिले थे जो ईस्ट इंडिया कंपनी के एजेण्टो के थे और इस सीमा तक चीनियो की इच्छापूर्ति इससे हो जाती थी। किन्तु लार्ड पामर्स्टन एक कदम आगे बढ गये और उन्होंने तीन व्यापार अधीक्षको के प्रधान लार्ड नेपियर को उनकी सन् १८३४ मे नियुक्ति के समय उन्हे निर्देश दिया कि, "अपने कैण्टन पहुँचने की घोषणा वाइसराय को पत्र लिख कर करना।" यह बात ध्यान मे रखने से कि अभी तक आने वाले एजेण्ट केवल व्यवसाय एजेण्ट या व्यापारियो के एक समूह मात्र से सपर्क रखते थे और प्रान्त के अधिकारियो से केवल इन व्यापारियो के द्वारा ही सपर्क मे आते थे, तथा वे एक व्यावसायिक कम्पनी के प्रतिनिधि थे, किसी सार्वभोम राष्ट्र के नही, पाठक देखेंगे कि केवल वाइसराय से, जोकि प्रान्त का सर्वोच्च अधिकारी होता था, संपर्क रखने के निर्देश से कितना बड़ा परिवर्तन हो गया।

सपर्क स्थापित करने की जो प्रणाली अब तक उनके लिए सतोषजनक रूप से चल रही थी उसमें परिवर्तन करने का कोई कारण चीनियों की समझ मे नही आया। वाइसराय अंग्रेज प्रतिनिधि से सीधा संपर्क नहीं रखना चाहता था और चाहता भी तो संपर्क का ढंग उस व्यक्ति को बहुत संतोषजनक न लगता जो अपने को संसार के बड़े देशों में से एक का प्रतिनिधि मानता था। वाइसराय उससे व्यवसाय एजेण्ट-जैसा ही बरताव करता, जिसका रुतबा उससे बहुत छोटा होता था, ब्रिटिश सरकार के प्रतिनिधि-जैसा नही। चूंकि लार्ड नेपियर, हर बात मे चीन की बराबरी का दावा करनेवाले राज्य के प्रतिनिधि के रूप में व्यवहार पाने पर अड़ने को तैयार थे, उनकी नियुक्ति तथा तत्पश्चात् कैण्टन में आगमन से पश्चिमी संसार के राज्यो के चीन में बराबरी के दर्जे पर संस्थापनों का प्रश्न उठ खड़ा हुआ।

राज्यों की बराबरी का विचार भी चीन के लिए अजनबी ही था; और ऐसा होना भी था। उन देशों को छोड़कर जो उससे क्षेत्र, शक्ति व सभ्यता में कम थे, इतने लम्बे काल से चीन अन्य राज्यों से संपर्क बिना अपना एकान्त जीवन रखे जा रहा था, उसकी यह धारणा हो गयी थी कि वही एकमात्र सभ्य राज्य था जो चारो ओर से ऐसे राज्यों से घिरा था जो कम या बेश विकसित बर्बरता की स्थिति में थे। इसी धारणा के अधीन चीन अपने को "मध्य राज्य" (केन्द्र राज्य) कहता था। इससे पहले बराबरी के स्तर पर चीन से संबंध स्थापित करने के सारे प्रयास इसी धारणा के कारण असफल हो चुके थे और शताब्दियों के अविच्छिन्न एकाकी जीवन से उत्पन्न अपनी उत्कृष्टता की भावना एकाएक खत्म भी नही हो सकती थी। वास्तव

में, बलप्रयोग और बार-बार साम्राज्य के अपमान के बाद ही चीन की केन्द्रीय सरकार ससार में अपनी सही स्थिति समझ सकी ।

यह बात आसानी से समझ मे आती है कि चीन के विरुद्ध बल-प्रयोग करने वालो मे सबसे पहले अंग्रेज ही थे। कैण्टन मे व्यापार करने वालो मे वे प्रमुख थे और अपने व्यापार को उन्हें अर्ध-सरकारी समर्थन व सहायता प्राप्त थी। जब ईस्ट इंडिया कपनी समाप्त की गयी, यह स्वाभाविक ही था कि कपनी का स्थान औपचारिक रूप से सरकार ले ले। व्यापारियों में दूसरा बडा समुदाय अमरीकियों का था जिन पर सरकारी पर्यवेक्षण-निर्देशन का प्रतिबन्ध कम ही था। अमरीकी संपर्क गैर-सरकारी, गैर-राजनीतिक रहता रहा था और व्यापारी उसे इसी स्थिति मे रखना भी चाहते थे ताकि अन्य व्यापारियों के साथ उनका कैण्टन मे व्यापार पर जो थोड़ा-सा काबू था वह खत्म न हो जाय और उनका व्यापार बँट न जाय। तात्कालिक रूप से उनकी दिलचस्पी थी कि शांति रहे, चाहे जो कीमत भी उसके लिए चुकानी पड़े, और चीन के विदेशी समागम के लिए थोड़ा-बहुत खुल जाने पर भी अमरीकी नीति और दिलचस्पी शांति के लिए प्रयत्नशील रही। अग्रेजों के कैण्टन छोडने के लिए बाध्य होने पर भी अमरीकियों ने अपना व्यापार जारी रखा; और वास्तव में उनकी उपस्थिति से अग्रेज व्यापारियों का ही लाभ हुआ, क्योंकि अपनी सरकार की ओर से प्रतिबन्ध लग जाने पर भी वह अपना माल अमरीकी व्यापारियों द्वारा वहाँ उतारते रहे ।

किन्तु औपचारिक रूप से सरकारी स्तर पर संपर्क स्थापित करने और व्यापार की और अधिक सुविधाएँ व अवसर प्राप्त करने पर अग्रेजों के अड़ने का कारण ईस्ट इंडिया कंपनी की इजारेदारी खत्म होना ही नहीं था । सच तो यह है कि यह समाप्ति एक और बड़े व गहरे हित की ही अभिव्यक्ति थी । और यह हित था नये बाजारों का विकास और सारे गैर-यूरोपीय ससार से कच्चे माल की सप्लाई का द्वार खोलना । दूसरे देशों मे यह हित इंग्लैण्ड के बाद विकसित हुआ और इस हित-साधन के लिए उन्होंने लगभग यही साधन अपनाये भी। व्यावसायिक क्रांति से यूरोप में पूर्व से व्यवसाय सबंध स्थापित करने की जो इच्छा जमी थी उसी के फलस्वरूप अमरीका की खोज हुई । और औद्योगिक क्रान्ति तथा तज्जनित व्यापार-विकास ने (क्योंकि कच्चे माल और नये बाजार की माँग बढ रही थी) यह निश्चित कर दिया कि यूरोप के औद्योगिक देश किसी भी व्यापार केन्द्र को केवल इसीलिए अशोषित न छोड़ेंगे कि वहाँ की सरकार या जनता अंतरराष्ट्रीय घटनाओ और मामलों की धारा से अलग रहना चाहती थी । यदि ब्रिटेन के पहले किसी अन्य देश में उद्योगीकरण हो गया होता तो वह देश पूर्व के देशों पर पश्चिम से संपर्क-समागम लादने मे अगुआई करता।

यदि सन् १८४०–१८४२ में ब्रिटिश शस्त्र-बल द्वारा चीन इस प्रकार के सपर्क के लिए खुल न जाता तो उसे ऐसे ही अन्य हमला का सामना करना पड़ता, और इन सब हमलो की प्रेरणा होती यूरोप मे विकसित अतरराष्ट्रीय कानून के बुनियादी सिद्धान्तों के आधार पर अतरराज्य संबंधो की स्थापना का हठ या आग्रह ।

सन् १८३४ की जुलाई मे लार्ड नेपियर[७] जब मकाओ पहुँचे, अपने निर्देशो और उनका जो अर्थ उन्होंने लगाया उससे वह बड़ी दुर्भाग्यपूर्ण परिस्थिति मे पड गये । एक व्यावसायिक कम्पनी नही, वरन् इग्लैण्ड के प्रतिनिधि के रूप मे अपने कैण्टन पहुँचने की सूचना उन्हें सीधे वाइसराय को देनी थी । प्राप्त निर्देशो की जो व्याख्या उन्होने की उसके अनुसार वह होंग व्यापारियो के माध्यम का प्रयोग यह सूचना पहुँचाने मे नही कर सकते थे और अपने देश व सम्राज्ञी की प्रतिष्ठा और सम्मान के संरक्षक की हैसियत से कार्य करने को बाध्य थे। किन्तु उनकी उपाधि वही थी जो ब्रिटिश ईस्ट इडिया कम्पनी के प्रतिनिधिगा की थी और उनके कर्त्तव्य भी वही थे जो इन प्रतिनिधियो के थे । और इसके आगे उन्हें आदेश थे कि चीनी पूर्वाग्रहो का वह विरोध न करें, सावधानी और सुलह का रवैया रखें और चीनियो से समझदारी और मित्रता के सबध रखे ताकि व्यापार पर सकट न आये। किन्तु जो परिस्थितियाँ विद्यमान थी उनमे उनके लिए यह असंभव था कि अपने पद के संबंध में उन्हें जो निर्देश थे, प्रारम्भ से ही उनके पालन में जैसा कि उन्होंने किया भी वह चीनी पूर्वाग्रहों को ठेस न पहुँचाये, उद्वेग न पैदा करें और कैण्टन में व्यापार संबंधों को संकट मे न डालें । चीनियों को सूचना दिये बिना और उनसे अनुमति लिये बिना उनके कैण्टन आने से ही उत्पात शुरू हो गया । कैण्टन पहुँचने पर उन्होंने सीधे वाइसराय से संपर्क स्थापित करने का प्रयत्न किया । इसमें कई बार बातचीत और समझौते की असफल कोशिशें हुईं, लार्ड नेपियर प्राप्त निर्देशों का पालन करना चाहते थे और उन्हीं के अनुसार व्यवहार कर रहे थे, चीनी प्राचीन प्रथाओं को कायम रखने की कोशिश कर रहे थे । विदेशियों से सपर्क-समागम से संबंधित सिद्धान्तों पर चीनी दृष्टिकोण को पेश करते हुए वाइसराय[८] ने लिखा था—

इस उपर्युक्त बर्बर मुखिया (लार्ड नेपियर) का कैण्टन आने का उद्देश्य व्यावसायिक कार्य है। ईश्वरीय साम्राज्य नागरिक अधिकारियों को जनता पर शासन के लिए नियुक्त करता है, सैनिक अधिकारियों को दुष्टों को दण्ड देने व डराने के लिए नियुक्त करता है; किन्तु व्यवसाय के छोटे, ओछे मामले व्यापारियो के निर्देशन के लिए ही छोड़ दिये जाते हैं । अधिकारियां का ऐसे मामलो से कोई संबंध नही होता। उपर्युक्त बर्बरो के व्यापार में यदि कोई नियम-परिवर्तन होना है तो हर मामले मे

होंग व्यापारियों को परस्पर परामर्श कर सीमाशुल्क-अधीक्षक व मेरे कार्यालय में सयुक्त वक्तव्य देना चाहिए और तभी उन्हें औपचारिक रूप से सूचित किया जायगा कि उनके प्रस्ताव स्वीकृत हुए हैं या अस्वीकार.... .... ....

ईश्वरीय साम्राज्य के महान् मंत्रियों को पत्र द्वारा विदेशी बर्बरों से व्यक्तिगत संपर्क करने की अनुमति नही है। यदि उपर्युक्त बर्बर मुखिया पत्र भेजता है, तो मैं वाइस-राय, उन्हें स्वीकार नही करूँगा, उनकी ओर देखूँगा भी नही। जहाँतक नगरकोट या शहरपनाह के बाहर कम्पनी के बर्बर कारखाने का सबध है, वह व्यापार के लिए कैण्टन आये हुए बर्बरो के अस्थायी निवास का स्थान है। उन कारखानो मे वे रह, खा, सो, खरीद, बिक्री कर सकते हैं। उन्हें बाहर जाकर घूमने-फिरने की अनुमति नही है। ये सब बातें नियत और निश्चित कानूनो तथा विनियमो द्वारा निर्धारित होते हैं जिनकी अवहेलना नहीं की जा सकती।

पूरी बात को सक्षेप मे रखते हुए राष्ट्र के कानून है; ऐसा हर देश में है। इंग्लैण्ड में भी कानून हैं; हमारे ईश्वरीय साम्राज्य मे कितने अधिक कानून है! इसके नियम कानून, अध्यादेश कैसे ज्वलन्त और महान् है! भयावह वज्र से भी अधिक दारुण !.... .... ....

यह स्पष्ट है कि जब तक चीनी अधिकारी ऐसे विचारों के आधार पर कार्य करते, व्यापारिक आधार के स्थान पर अर्ध-राजनीतिक आधार भी बनाने के प्रयास असफल होने ही थे। वाइसराय से सीधा संपर्क स्थापित करने का लार्ड नेपियर का हर प्रयास विफल हुआ और कैण्टन में उनकी उपस्थिति मात्र अन्य व्यापारियो के लिए व्यग्रता व व्याकुलता का कारण बनी हुई थी, क्योंकि वे व्यापार में संकट आने की जगह पुरानी परिस्थिति अधिक पसन्द करते थे, चाहे पुरानी परिस्थिति कितनी भी असंतोषजनक क्यों न रही हो। अत' अपने उद्देश्य में, जैसा कि वह उसे समझते थे, सफल न होने पर और बीमार पड़कर, लार्ड नेपियर अंततः मकाओ चले गये और वहीं उनकी मृत्यु हो गयी। प्रथम प्रतिरोध में चीनियों की पूर्ण विजय हुई और वे कैण्टन मे संपर्क-समागम की शर्तें तय करते रहे। ब्रिटिश प्रतिनिधि के वापस लौट जाने से विदेशियों से मनचाहा व्यवहार करने की अपनी योग्यता में उनका विश्वास बढ़ गया। इसका सीधा निष्कर्ष उन्होने यही निकाला कि लार्ड नेपियर वाइसराय के आदेश, अंग्रेजो का व्यापार बन्द कर देने और अ-संपर्क की घोषणा के कारण ही वापस लौटे थे।

लार्ड नेपियर का स्थान एल. बी. डेविस ने लिया और उसके कुछ समय पश्चात् ही सर जार्ज बी. रौबिनसन ने; ये दोनों नेपियर के सहयोगी थे। इनके उपरान्त

मुख्य अधीक्षक के पद पर कप्तान ईलियट आये। अगले कुछ वर्षो तक अधिकारी-माध्यम से चीन के साथ सीधा सपर्क स्थापित करने का कोई गम्भीर प्रयत्न नही किया गया। किन्तु बात छोड़ी नही गयी थी, केवल रुकी हुई थी। इस अवधि मे व्यापार की देखभाल मकाओ-स्थित ब्रिटिश अधीक्षक ही करते रहे।

व्यापार के विनियमन का पूरा प्रश्न सन् १८३८ मे फिर उठ गया जब सम्राट् ने अफीम के मसले को निपटाने के लिए एक विशेष आयुक्त नियुक्त कर दिया और उसे नशाबन्दी और अफीम के आयात पर प्रतिबन्ध लगाने के आदेश और अधिकार दे दिये। आयुक्त, लिन त्से-ह् सू, ने कैण्टन आते ही[९] उद्वेजक काररवाई आरम्भ कर दी। स्थिति के सक्षिप्त अध्ययन के बाद उन्होने निश्चय किया कि प्रतिबन्धात्मक शासनादेश पालन करने के लिए विदेशियो को बाध्य किया जाय। अत उन्होंने आदेश निकाला कि व्यापारियों के पास जितनी अफीम हो वह सब अधिकारियो के हवाले कर दे और भविष्य में इस रफ्तनी मे भाग न लेने का वचन दें। इस माँग की पूर्त्ति के लिए उन्होंने व्यापार बिलकुल बन्द करने की धमकी भी दे दी। अंग्रेजो ने अततः अफीम संबंधी माँग को स्वीकार कर लिया और अमरीकी जहाजो पर लदी अफीम भी साथ ही साथ चीनी अधिकारियों को समर्पित कर दी; किन्तु उन्होंने यह वचन लिखित रूप मे देने से इनकार कर दिया कि भविष्य में अफीम की रफ्तनी मे वे हाथ न डालेगे। फलतः इन कारखानों से संपर्क पूरी तरह से काट दिया गया, खाना, पानी, नौकरों की सेवा तक बन्द कर दी गयी। आखिरकार ब्रिटिश व्यापारी व्यापार-अधीक्षक के निर्देश से कैण्टन से हट आये और हांगकाग में आकर जम गये। अमरीकियो ने थोड़े-से संशोधन के बाद यह वचन ले लिया और उनके व्यापार-संबध खुल गये। कुछ समय बाद अंग्रेज व्यापारियों ने अपना माल अमरीकियो के द्वारा उतारना शुरू कर दिया और इस तरह कैण्टन से हटने के बाद भी उन्हें बहुत क्षति नहीं पहुँची।

इन प्रतिबन्धात्मक शासनादेशों के कार्यान्वय के ढग पर हुए विवाद तथा दूसरी कठिनाइयों से सक्रिय शत्रुता[१०] बढ़ गयी। पहले तो यह कैण्टन व उसके निकटवर्त्ती क्षेत्र मे ही सीमित रही, किन्तु बाद में यह उत्तर मे भी समुद्र तट पर फैल गयी, युद्ध तभी समाप्त हुआ जब अंग्रेजी जहाज यांग्त्सी नदी में कुछ दूर तक पहुँच चुके थे और साम्राज्य के पूर्वी भाग को दो हिस्सो मे बाँट चुके थे और इस प्रकार पीकिंग की केन्द्रीय सरकार को स्थिति की उस गंभीरता को समझने को बाध्य कर चुके थे जो युद्ध के कैण्टन में सीमित रहते वह नहीं समझ रही थी।

## (४) आंग्ल-चीनी युद्ध के कारण और परिणाम

चीनी दृष्टिकोण से विवादग्रस्त प्रश्न केवल अफीम के आयात का था और इसलिए चीनी समझते थे कि उनका पक्ष उच्च नैतिक कारणो पर आधारित है। सयुक्त राज्य अमरीका मे भी विवाद और सघर्ष के सबध में मुख्यत यही दृष्टिकोण अपनाया गया; इंग्लैण्ड से परपरागत शत्रुता अमरीका में अभी भी चली आ रही थी। इस समय और आगे आनेवाले कई वर्षों तक, चीन में ब्रिटेन ने जो भी कदम उठाया, अमरीकी उसे आक्रामक नीति की अभिव्यक्ति ही मानते रहे। अनेक लोग ऐसे भी थे जो शान्ति सधि और हांगकाग के अर्पण को चीन के टुकड़े-टुकड़े हो जाने की दिशा मे पहला कदम मानते थे। इंग्लैण्ड के संबध में आक्रामक होने और चीन पर जबरदस्ती अफीम थोपने के लिए संकल्पबद्ध होने की जो धारणा थी उसी के आधार पर सन् १८४२ से लेकर दूसरे हमले तक अमरीका की नीति निर्धारित हुई। इस प्रकार, मैसेचुसैट्स की इतिहासपरिषद् में जॉन क्विसी एडम्स ने जो यह संबोधन किया उससे अमरीकी जनमत में बहुत अधिक उत्तेजना फैली जो कि संबोधन में प्रतिपादित सिद्धान्त के प्रतिकूल थी।

चीनी साम्राज्य का मूलभूत सिद्धान्त व्यवसाय-विरोधी है.........वह अन्य देशों से व्यावसायिक संपर्क स्थापित करने की कोई बाध्यता नहीं मानता। वह अन्य देशों को अपने बराबर या स्वाधीन भी मानने से इनकार करता है।.....यही सत्य है, और मुझे लगता है, ब्रिटेन और चीन के राष्ट्रों व सरकारों के बीच केवल यही एकमात्र विवादग्रस्त प्रश्न है। यह आम, लेकिन मैं समझता हूँ बिलकुल गलत, धारणा है कि विवाद अफीम की उन कुछ पेटियों को लेकर है जो ब्रिटिश व्यापारियो ने चीन पहुँचायी है; यह तो विवाद में एक घटना मात्र है। किन्तु यह बात युद्ध का कारण बिलकुल नहीं है, जैसे कि बोस्टन बन्दरगाह में कुछ चाय का जहाजो से फेंक दिया जाना उत्तरी अमरीकी क्रान्ति का कारण नही था।[११]

अंग्रेजों के दृष्टिकोण से एडम्स का वक्तव्य ठीक था। अफीम का प्रश्न तो निश्चित रूप से साम्राज्य से राजनीतिक संबंधों की स्थापना के बड़े प्रश्न के अधीन ही था, जिसके फलस्वरूप ठोस बुनियाद पर व्यावसायिक सबंध स्थापित हो सकते थे। क्योंकि यह भी याद रखने की बात है कि व्यापार को एक ही बन्दरगाह, कैण्टन, तक सीमित रखने के प्रतिबन्ध तथा को-होंग के कुछ छँटे हुए व्यापारियो मात्र से व्यापार करने के अतिरिक्त प्रतिबन्ध के कारण व्यावसायिक संबंध असंतोषजनक थे। इसके अतिरिक्त, चीनियो और विदेशी व्यापारियो के बीच लेन-देन में उधार खाते का जो ढंग था उसमें ब्रिटिश व्यापारियो का बहुत-सा धन बकाया पड़ा रहता था। बकाये की

इन राशियो की अदायगी में होग व्यापारी असफल रहे थे और ब्रिटिश सरकार ने इसे सघर्ष का एक अन्य कारण बताया था।

कैण्टन में उस समय जो सबध थे उनमे अधिकार-क्षेत्र के प्रश्न भी शामिल हो गये और उनसे अधिकार-क्षेत्रो के पुन. समजन के ब्रिटिश सकल्प को बल मिला। सन् १७८४ मे ही अधिकार-क्षेत्रका प्रश्न उठ चुका था जब लेडी ह्यूज नामक ब्रिटिश जहाज के तोपची द्वारा सलामी दागने से दुर्घटनावश एक चीनी मर गया था। दबाव डालने पर वह तोपची चीनी अधिकारियो के सिपुर्द कर दिया गया था और गला घोट कर उसे प्राणदण्ड दे दिया गया था। इससे, सन् १७९३ के मैकार्टनी मिशन के समय, अग्रेजो के लिए अपरदेशीय या क्षेत्रातीत अधिकार प्राप्त करने का प्रयास भी हुआ था। बाद मे ऐसे ही मामले सामने आते रहे जिनमे कभी तो विदेशी सफलता-पूर्वक अधिकार-क्षेत्र के चीनी दावों को चुनौती दे लेते थे और कभी, जैसा कि सन् १८२१ के टेरानोवा मामले में हुआ, जिसमें अमरीकी फँस गये थे, उन्हें सफलता नही मिलती थी। इस प्रकार चीनी अधिकारियों द्वारा फौजदारी के मामलो मे चीनी कानून लागू करने से अमरीकियो और अग्रेजो दोनों मे काफी असतोष पैदा हुआ था।[१२]

अंग्रेजों द्वारा कैण्टन की नाकेबन्दी से सामरिक काररवाई शुरू हुई; किन्तु नौसेनापति (एडमिरल) जॉर्ज इलियट तथा कप्तान ईलियट के, जो पूर्ण अधिकार-प्राप्त दूत थे, आदेश पर अंग्रेजी जहाज फौरन उत्तर की ओर बढ़ गये। आदेश यह था कि विवादग्रस्त प्रश्नों से संबंधित लार्ड पामर्स्टन का एक पत्र, पीकिंग पहुँचाने के लिए चीनी अधिकारियो के सिपुर्द कर दिया जाय। चुसान द्वीप स्थित तिंगहाई पर ६ जुलाई, १८४० को अधिकार कर लिया गया। इसके उपरान्त अंग्रेजो ने अमोय तथा निंगपो होते हुए पत्र पहुँचाने का प्रयत्न किया, पर वे असफल रहे। तब ब्रिटिश जहाजी बेड़ा सीधा पीइहो बढ़ गया जहाँ अंततः चिहली प्रान्त के वाइसराय से संपर्क स्थापित हुआ। कुछ विलम्ब के उपरान्त निर्णय हुआ कि समझौते के प्रयास झगड़े की जगह कैण्टन से ही किये जायँ।

कैण्टन मे समझौते के प्रयास शुरू हुए और आशा बँधी कि कुछ सफलता मिलेगी; किन्तु अंततः यह समझौता वार्त्ता टूट गयी और फिर से युद्ध शुरू हो गया। सन् १८४१ मे अंग्रेजों ने कैण्टन पर स्थायी रूप से अधिकार कर लिया; किन्तु ६० लाख डालर की अदायगी पर फौजें हटा ली गयी; चीनियो ने यह अदायगी उस अफीम के लिए समझौता मानी जो आयुक्त लिन को समर्पित की गयी थी, किन्तु लगता है कि अंग्रेजों ने इसे युद्ध-व्यय के मद मे दी गयी राशि समझा। कैण्टन के फिर से चीनी अधिकार में आने पर व्यापार फिर शुरू हो गया, यद्यपि उत्तर में युद्ध जारी

रहा। अमोय, तिगहाई, चिन हाइ तथा निगपो, सब पर कब्जा हो गया और निगपो से चिक्यांग और नानकिंग की ओर बढ़ाव शुरू हुआ।

पूरे युद्ध के दौरान और दिशा से चीन की एक बहुत बड़ी दुर्बलता प्रकट हुई जो आगे आनेवाले अनेक वर्षों तक कायम रही। चीनी साम्राज्य, एक इकाई के रूप में, ब्रिटेन से युद्ध मे नही फँसा, देश के विभिन्न भाग ही युद्धरत रहे, और वह भी तब जब सीधे उन पर ही हमला बोल दिया गया। जब तक स्वय पीकिंग सरकार मे युद्ध के परिणामस्वरूप उत्पन्न सकट की पूर्ण चेतना नही हुई, समझौते या व्यापार की शर्तों पर पूर्ण संतोषजनक समझौता असभव था। यदि सन् १८४० मे ही अंग्रेजो ने टींटसीन में इस प्रश्न पर जोर दिया होता और दक्षिण की ओर न हट गये होते तो आगे आनेवाले वर्षों की कठिनाइयाँ न पैदा होती।

जब यांग्त्सी नदी मे अंग्रेजों के नानकिंग तक बढ़ जाने से, उत्तर व दक्षिण के बीच यातायात की राह कट जाने से देश बँट गया तब समझौते की बातचीत शुरू हुई। २९ अगस्त, १८४२ को नानकिंग में जिस सन्धि पर हस्ताक्षर हुए, उसमें शांति की शर्तें दी गयी थी। चीन ने हांगकांग ब्रिटेन को अर्पित कर दिया। चीन ने २ करोड १० लाख डालर क्षतिपूर्ति के रूप में देना भी स्वीकार किया; इसमें से ६० लाख डालर कैण्टन में बरामद अफीम की कीमत के रूप में थे, ३० लाख डालर होंग व्यापारियों पर ब्रिटिश सौदागरो के पावने की मद में थे और १ करोड़ २० लाख डालर इस अभियान मे हुए व्यय की मद में थे। पाँच बन्दरगाह कैण्टन, अमोय, फूचाओ, निगपो और शंघाई—व्यापार के लिए खुलने थे और विदेशी व्यापारियों को यहाँ रहने और हर बन्दरगाह में स्थानीय अधिकारियों से सपर्क के लिए वाणिज्य-दूतों की नियुक्ति का अधिकार भी मिल गया था। व्यापार की जो इजारेदारी कुछ चुने हुए चीनी व्यापारियों को मिली हुई थी, वह समाप्त होनी थी, और आयात-निर्यात पर समान और नरम शुल्क-पद्धति लागू होनी थी जिसके नियम बाद में बनने थे। यह समझ लिया गया था कि अभी लगी शुल्क-दर बाद में, आपसी समझौते के बिना, बढ़ायी न जायगी। २६ जून, १८४३ को सम्राट् ने एक 'घोषणा' के रूप में शुल्क की दरें निर्धारित कर लागू कर दी। तब से सन् १९३० तक चीन अपने आयात-निर्यात शुल्क स्वेच्छा से तय करने में असमर्थ रहा। जहाँ तक शुल्कों की वसूली का संबंध था, संधि की शर्तों के अनुसार, अंग्रेज वाणिज्य-दूतों ने यह कर्त्तव्य अपने ऊपर ले लिया कि "ब्रिटेन की सम्राज्ञी की प्रजा पर जो भी उचित पावना या दूसरे पावने होंगे, जिनका आगे उल्लेख व निश्चय होगा, उनकी पूरी अदायगी की जायगी।"

ब्रिटिश प्रतिनिधि, सर एच पौटिंगर ने नाजायज आयात या रफ्तनी रोकने मे सह-योग प्रदान करने का भी वादा किया।'[१]

इस बात पर ध्यान जायगा कि नानकिंग सधि मे उस विषय पर कुछ भी नही कहा गया था जो चीनी दृष्टिकोण से युद्ध का मुख्य कारण था। अफीम के व्यापार के सबध में सधिपत्र मौन था यद्यपि चीनियो को उस अफीम के लिए हरजाना देने के लिए बाध्य होना पडा था जो उन्होने अपने कब्जे मे कर ली थी। अग्रेजो की ओर से समझौते की बातचीत करने जो आये थे उन्होने अनौपचारिक रूप से यह विश्वास प्रकट किया कि बेहतर होगा कि चीन अफीम के आयात को कानूनी रूप दे दे और फिर उस आयात की मात्रा पर रोक लगा दे। यह सुझाव, जो सम्राट् को उनके कुछ सलाहकारो ने पहले ही दिया था, चीनी प्रतिनिधियो को अमान्य था, और चूँकि इंग्लैण्ड चीन के लिए उसकी नशाबन्दी नीति लागू करने को तैयार नही था, इस व्यापार के संबंध में सधि मे कुछ नही कहा गया, यद्यपि अग्रेज यह अवश्य कहते रहे कि जो भी अग्रेज इस रफ्तनी मे फँसेगा उसे कोई सहायता या सरक्षण नही दिया जायगा।

## (२) संधि संबंधों की स्थापना

चीन का द्वार, अशत ही सही, बलात् खोल देने का दायित्व इग्लैण्ड पर पड़ा। किन्तु इस प्रकार उत्पन्न नयी परिस्थिति का लाभ उठाने के लिए अन्य राष्ट्र तुरन्त तैयार हो गये। (नानकिंग सधि पर हस्ताक्षर होने के लगभग फौरन बाद ही) ८ अक्तूबर को अमरीकी कोमोडोर की अर्नी ने अमेरिका के हितो की ओर ध्यान दिलाते हुए कैण्टन के वाइसराय, किकुंग से यह आशा प्रकट की कि अमरीका को भी "अधि-कतम अनुग्रह का व्यवहार" प्राप्त होगा। अग्रेजों से सधि की शर्तें तय करने वाले नानकिंग के वाइसराय कियिंग पहले ही इस संभावना पर विचार कर चुके थे कि अग्रेजों के अतिरिक्त अन्य विदेशी भी यह नयी हैसियत पाना चाहेगे। १९ जनवरी, १८४३ को पीकिंग पहुँचे एक अभ्यावेदन मे उन्होने लिखा था—"अग्रेजो से (नान-किंग मे) समझौते की बात करते समय गत अगस्त मे ही मैंने इस सभावना पर सोचा था कि अन्य बर्बर भी वही सुविधाएँ (जो अग्रेजो को प्राप्त हुई है) माँगेगे। मैंने इस सबध में अंग्रेजों से जानकारी चाही और उनका उत्तर था कि यदि अन्य समुद्री राष्ट्र तब भी केवल कैण्टन तक सीमित रहें तो उनकी ओर से वे (अंग्रेज) कोई माँग नही उठायेंगे, किन्तु यदि महान सम्राट् अन्य राष्ट्रो को भी व्यापार के लिए फूकिन, चेक्यांग तथा क्यांगसू तक आने देते हैं तो अंग्रेज इसमें संकीर्ण मनोवृत्ति से काम नहीं लेगे; यदि अन्य राष्ट्रों के जहाज हागकांग आयें-जायें तो अंग्रेज उस पर आपत्ति नही करेंगे।"

किन्तु शाही शासन की प्रारम्भिक प्रतिक्रिया अंग्रेजो के अतिरिक्त अन्य राष्ट्रो को नयी और अतिरिक्त सुविधाएँ देने के प्रतिकूल थी। कैण्टन आने के बाद, शाही आयुक्त, इली पू व कियिंग ने संधिपूर्व के दिनों में कैण्टन में जो प्रथा थी, उसी के अनुकूल सभी राष्ट्रों को समान हैसियत देने के पक्ष में तर्क दिये जिसके बाद शाही शासन ने नानकिंग-सधि के लाभ सभी को उपलब्ध करने का निर्णय कर लिया। इस प्रकार कोमोडोर की अर्जी ने जो "उन्मुक्त द्वार" सिद्धान्त के अनुरूप अधिकतम अनुग्रह प्राप्त देश के समान व्यवहार की माँग की चीन ने उसे शुरू से ही स्वीकार कर लिया। किन्तु इस स्वीकृति के मुख्य कारण थे, दो चीनी (या कि दो मचू) राज-मर्मज्ञो, इलिपू व कियिंग के विचार और कार्य, जिन्होंने केवल अट्ठारहवी शताब्दी की चीनी परंपराओं को कायम भर रखा था। नानकिंग में सर हैनरी पौटिंगर द्वारा अंग्रेजी रुख की घोषणा के बाद चीनी राजमर्मज्ञ अपनी समानता की नीति बरतने के लिए अपने को स्वतंत्र मानते थे। कोमोडोर लॉरेंस की अर्जी के राजनय के फल-स्वरूप अमरीका का समानता का दावा चीनी सरकार के समक्ष विचारार्थ आ गया और उस पर नानकिंग-सधि के तत्काल बाद, विचार व निर्णय हो गया। और कैलब कशिगने केवल पहले हो चुकी बातचीत को संधि का रूप दे दिया।[१४]

जब चीन और इंग्लैण्ड के बीच युद्ध जारी था तभी अमरीका में एक आंदोलन उठ खड़ा हुआ जिसके फलस्वरूप चीन के लिए पहले अमरीकी मंत्री की नियुक्ति हुई। राष्ट्रपति टाइलर द्वारा दोनों देशों के बीच प्रथम संधि के लिए समझौते के नाजुक काम के लिए कैलब कशिग को छाँटा गया और वह २४ फरवरी, १८४४ को मकाओ के बन्दरगाह पहुँचे। उन्हें निर्देश थे कि चीनी अधिकारियों से समझौते की बात पूर्ण-समता के स्तर पर ही की जाय, चीनियों को स्पष्ट कर दिया जाय कि अमरीका की नीयत बिलकुल आक्रामक नहीं है, नानकिंग की ब्रिटिश सधि के समान, किन्तु संभव हो तो और अधिक पूर्ण शर्तों के साथ, संधि की जाय तथा पीकिंग पहुँच कर सम्राट्, या इसमें असफल होने पर केन्द्रीय शासन के किसी उच्चाधिकारी के हाथ में राष्ट्रपति का पत्र दिया जाय। वह पीकिंग तो नहीं पहुँच सके, किन्तु कुछ बिलम्ब के बाद सधि समझौते में सफल हो गये।[१५] यह सधि ब्रिटिश संधि के समान ही थी, किन्तु कई विषयों में इसकी शर्तें अधिक व्यापक थीं; जो नयी शर्तें जुड़ी थीं, उनमें सबसे महत्त्वपूर्ण थी राज्यक्षेत्रातीतता के सिद्धान्त पर एक बिलकुल स्पष्ट वक्तव्य। सन् १८४४ की संधि की २१ वी धारा में व्यवस्था थी कि—

अमरीका के नागरिकों के विरुद्ध कोई अपराध करनेवाले चीनी लोगों को चीनी अधिकारी गिरफ्तार करेंगे और चीन के नियमो-कानूनों के अनुसार उन्हें दण्ड देंगे;

चीन मे अपराध करनेवाले अमरीकी नागरिको पर अमरीका के राजदूत या अमरीकी अधिकारी द्वारा अमरीका के नियम-कानूनो के अनुसार मुकदमा चलाया जायगा और दण्ड दिया जायगा, अभक्ति और विवाद बचाने के लिए, दोनो पक्षो द्वारा निष्पक्ष रूप से और समान रूप से न्याय किया जायगा।

यह शर्त जो केवल फौजदारी के अपराधो तक सीमित थी, २४ वी और २५ वी धाराओ मे दीवानी के मामलो मे भी लागू कर दी गयी थी। फलत चीनी सर्वोच्च सत्ता पर लगी जिन दो सीमाओ (अर्थात् न्यायिक सार्वभौमिकता और शुल्क की क्षति) को चीनी बहुत दिनो तक हटाने की कामना करते रहे, लेकिन वे सीमाएँ अमरीका और इग्लैण्ड से हुई पहली सधियो मे ही शामिल हो गयी थी।[१६]

अमरीका के उपरान्त फ्रास ने सधि की। फ्रासीसी सधि मे भी पहले की दो सधियों के समान ही शर्तें थी, किन्तु फ्रासीसी दूत ने चीन का दरवाजा और अधिक खोलने की दिशा मे एक छोटा-सा कदम यह उठाया कि चीनी आयुक्त को इस बात पर राजी कर लिया कि सम्राट् को प्रज्ञप्ति भेजकर उनसे रोमन कैथोलिक धर्मप्रचारको को सधि-बन्दरगाहों में गिरजाघर बनाने और वहाँ के देशी व विदेशी ईसाइयो के प्रति सहिष्णुता बरतने की प्रार्थना की जाय। इस तरह की कोई शर्त संधिपत्र में नही थी। सम्राट् ने इस सुझाव को स्वीकार कर लिया और बाद मे यह सीमित सहिष्णुता प्रोटेस्टेण्ट धर्मप्रचारको के लिए भी लागू कर दी।

प्रोटेस्टेण्ट पादरी सन् १८०७ से ही इस देश मे पैर जमाने की कोशिश करने लगे थे जब लन्दन की धर्मप्रचारक सस्था की ओर से रेवरेण्ड रॉबर्ट मॉरिसन कैण्टन आये थे। कैण्टन मे सीमित सुविधाओ और अवसरो के कारण उनका काम सन् १८४४ तक बहुत नही बढ़ा था। वास्तव में मलय द्वीप समूह के चीनियों की ओर मुख्य चीन के निवासियो की अपेक्षा अधिक ध्यान दिया गया था। किन्तु प्रोटेस्टेण्ट धर्म प्रचारक समुदाय कुछ तो बढा ही था और कुछ लोगो को ईसाई बनाया भी गया था। लेकिन प्रोटेस्टेण्ट धर्मप्रचारक का असली महत्त्व, इस समय तथा आनेवाले कुछ वर्षों तक, उसके धर्म नहीं भाषा संबधी काम मे था। राजनीतिक और व्यावसायिक एजेण्ट या दूत बहुत हद तक अनुवाद और दुभाषिये के काम के लिए इन्ही पादरियो पर निर्भर रहते थे, और इस प्रकार कुछ पादरी बहुधा काफी प्रभावशाली हो जाते थे। इसके अतिरिक्त इस क्षेत्र के अग्रणियो ने, जिनका मॉरिसन से सिलसिला शुरू हुआ था, बाद में आनेवालों के लिए शब्दकोश तैयार किये तथा पश्चिमी पुस्तको का चीनी में और चीनी पुस्तको का अंग्रेजी में अनुवाद का काम शुरू किया; पश्चिमी पुस्तको के अनुवाद में प्रारम्भ तो धार्मिक पुस्तिकाओ से हुआ, पर बाद मे महत्त्वपूर्ण अधार्मिक

ग्रंथों का भी अनुवाद किया गया। इस प्रकार उन्होंने इस क्षेत्र मे और औषधि-विज्ञान के क्षेत्र में वह काम शुरू किया जिसने कालान्तर मे पश्चिम व चीन, दोनो के विकास में महत्त्वपूर्ण योग दिया। सन् १८४४ के बाद रोमन कैथोलिकों के समान इनकी स्थिति भी काफी हद तक सहनीय हो गयी थी और १८५८ की सन्धि द्वारा पूर्ण सहिष्णुता प्राप्त होने पर इनके काम की सभावनाओ में भी विस्तार हुआ।

नानकिंग की सधि, बोग की पूरक सधि तथा बाद की फ्रासीसी व अमरीकी संधियों ने चीन तथा बाहर की दुनिया के बीच सीधे सपर्क-समागम के विकास के लिए एक पच्चड़ अवश्य ठोंक दी थी, किन्तु अब भी बहुत कुछ होना शेष था —क्योंकि इस पच्चड़ को और गहरा ठोंकने के लिए बार-बार प्रहार हुए तब कही जाकर चीन का द्वार उन्मुक्त हुआ।

यह पच्चड थी व्यापार के लिए पाँच बन्दरगाहों के खुलने की व्यवस्था और चीनी इजारेदारी के बीच में आये बिना स्वतंत्र रूप से व्यापार करने का अधिकार। यद्यपि यह सुविधा ब्रिटिश हथियारों के दबाव से चीन ने दे दी थी, किन्तु इसके प्रभावकारी होने मे जो कठिनाइयाँ थी वे तत्काल ही सामने आ गयी। पहले तो इस सबके बावजूद, पीकिंग सरकार की बाहरी दुनिया से उत्कृष्ट होने की भावना मे कमी नहीं आयी। दबाव के सामने वह झुक गयी, किन्तु दबाव हटते ही उसने उन लोगो को मौन रूप से और खुले रूप से भी प्रोत्साहित किया जो पुरानी स्थिति फिर से लाना चाहते थे। समझौतों में वह झुकी, किन्तु सधि की शर्तों को प्रभावकारी बनाने में टालमटोल कर उसने खोये हुए अधिकार वापस पाने का प्रयत्न किया। दूसरे यदि केन्द्रीय सरकार अपने नये उत्तरदायित्वों को निबाहने के लिए हर संभव प्रयास करती भी, जो उसने नही किया, तो भी उसे उन्हें लागू करने में कठिनाइयों का सामना करना पड़ता, क्योंकि चीनी शासन-प्रणाली के अंतर्गत प्रान्तों व स्थानीय संस्थाओं को व्यापक सार्वभौम अधिकार प्राप्त थे और स्थानीय विरोध के समक्ष केन्द्र को इन कठिनाइयो का सामना करना पड़ता।

कुछ स्थानो पर बन्दरगाहो में आवागमन, विदेशियो के निवास की सुविधा तथा व्यापार के लिए आवश्यक प्रबन्ध करने में किसी कठिनाई का सामना नही करना पड़ा। उदाहरणार्थ, शंघाई में शुरू से ही विदेशियो तथा स्थानीय अधिकारियो के बीच अपेक्षतया अच्छे संबंध थे। विदेशियों के रहने के लिए जमीन अलग छोड़ दी गयी और व्यापार में सुविधाएँ देने के लिए प्रयास हुए। शघाई मे निवास के ये प्रबन्ध संधि-बन्दरगाहों में विदेशियों को रियायतें देने और उनके अपने निवास-क्षेत्र बनाने की प्रणाली का प्रारम्भ था। शुरू में अंग्रेजों ने जो बस्ती बनायी थी और जिसमें बाद में अमरीकी व्यापारी आ गये थे और अमरीकी वाणिज्य दूतावास बन

गया था, वह अमरीकियो के जोर देने पर बाद मे अतरराष्ट्रीय बस्ती बन गयी। फ्रासीसी अपने लिए अलग इलाका मांगने लगे। तभी से अब तक अतरराष्ट्रीय बस्ती कायम है और उसका विस्तार हुआ है, इसीकी बगल मे फ्रासीसियो की बस्ती है। विदेशियो के इन समाजो ने फौरन वहाँ अलग-अलग नगरपालिकाओ का स्थानीय शासन चला दिया।

अमोय और निगपो मे सधि की शर्तो के अनुसार अपनी-अपनी स्थिति बनाने मे विदेशियो को कोई कठिनाई नही हुई, यद्यपि अमोय मे दासो के क्रय-विक्रय मे विदेशियो के शामिल होने से, विशेषकर इन विदेशियो द्वारा राज्यक्षेत्रातीतता प्रणाली की आड मे, उनके लिए काम करने वाले चीनियो के बचाव की कोशिश से खटपट और सघर्ष की स्थिति आ गयी थी। फूचाउ मे सौहार्दपूर्ण सबधो की स्थापना कुछ कठिन साबित हुई, अशत. इसलिए कि वहाँ लाभकर व्यापार विकसित होने मे समय लगा।

मुख्य बाधाओ का सामना कैण्टन मे हुआ। अन्य बन्दरगाहो मे पहले से चली आ रही कैण्टनवासियो की व्यापारिक इजारेदारी समाप्त करने में ही दिलचस्पी थी, किन्तु स्वय कैण्टन में तो कैण्टनवासियो के श्रेष्ठ माने जाने और उनकी आज्ञाओ के पालन की स्थापित परपरा थी, फिर वहाँ हाल मे ही विदेशियो के विरुद्ध विद्वेष की जनभावना बन गयी थी, इस कारण स्थानीय जनता और अधिकारियों द्वारा नयी परिस्थितियो की स्वीकृति बहुत कठिन थी। जबतक नानकिंग के चीनी सर्वाधिकार-प्राप्त दूत मचू किंयिग केन्द्रीय आयुक्त रहे सबंध काफी सतोषजनक रहे, क्योंकि वह कम-से-कम सधि के शब्दो के अनुरूप तो काम करने की कोशिश करते ही थे, उनके हटने के बाद खटपट और मनमुटाव ही नही, सघर्ष भी उत्पन्न हो गया।

अधिकारियो ने हांगकांग और मुख्य चीनी क्षेत्र के बीच संपर्क को इस प्रकार नियंत्रित करने का प्रयास किया जिससे कि हागकाग की बस्ती एकदम घुट कर रह जाय। उन्होंने या तो कैण्टन में निवास का अधिकार माना ही नही या उस अधिकार की प्राप्ति में अड़चनें डाली।[१७] उन्होंने समता के आधार पर सीधे अधिकारी स्तर पर सपर्क की अनुमति नही दी, उन्होंने व्यापार को चीनी व्यापारियो की विस्तृत इजारेदारी मे ही रखने की कोशिश की, और उन्होंने सधि की राज्यक्षेत्रातीतता संबधी शर्तें मानने से इनकार कर दिया। सामान्यत विदेशी और उनके प्रतिनिधि अपने व्यवहार मे मैत्री और समझौते का रुख ही अपनाते थे, किन्तु कभी-कभी कोई-कोई व्यक्ति ऐसा व्यवहार कर बैठते थे जिससे चीनी वैमनस्य उभर आता

था। विदेशियो के प्रतिनिधि लगातार इस बात पर जोर देते थे कि संधि की शर्तों को पूरी तरह लागू होना चाहिए।

## (६) संधि-पुनरीक्षण

इसके अतिरिक्त, कालान्तर में संधि कार्यान्वय में कुछ ऐसे दोष प्रकट हुए जिन्हें विदेशी दूर करवाना चाहते थे। अमरीकी संधि में बारह वर्ष बाद पुनरीक्षण की शर्त थी और अन्य देश भी संधियां में मौजूद "परम मित्र राष्ट्र" धारा के अनुसार पुनरीक्षण का अधिकार माँग सकते थे। एक के बाद एक, कई अमरीकी आयुक्तो ने पुनरीक्षण की आवश्यकता समझाने का असफल प्रयास किया, इस प्रश्न पर केवल कैण्टन के चीनी आयुक्त येह् को विचार करने का अधिकार था और अमरीकी आयुक्त उनसे भेंट तक न कर सके। अंग्रेजो के प्रयास भी इसी प्रकार असफल रहे। इस प्रश्न और कैण्टन के असंतोषजनक संबंधों के फलस्वरूप अनेक विदेशी समझने लगे कि चीन से संतोषजनक ढंग से व्यवहार करने का एक ही उपाय है—शक्ति के बल पर समझौता वार्त्ता।

असली संकट "लोरचा ऐरो" काण्ड से शुरू हुआ जिसमें कैण्टन में अधिकार-क्षेत्र पर विवाद था। लोरचा ऐरो एक जहाज था जिसका मालिक चीनी था, पर जो हांगकांग में निबन्धित हुआ था,[१८] जिस पर अंग्रेजी झण्डा लगा था और जिसका कप्तान एक अंग्रेज था। जब जहाज नदी में लंगर डाले हुए था, चीनी वाइसराय के आदेशानुसार कुछ चीनियों ने जहाज पर जाकर उसके बारह नाविकों को पकड़ लिया। अंग्रेजों ने माँग की कि ये नाविक वापस किये जायँ। चीनियों ने पहले तो यह माँग अस्वीकार कर दी, फिर इसे बड़े असंतोषजनक ढंग से माना। विवाद चलता रहा और अंततः सन् १८५६ में इसके कारण उत्पात हुआ और सन् १८५७ में कैण्टन नगर पर अंग्रेजों ने कब्जा कर लिया। ऐसा प्रतीत होने लगा कि अंग्रेज फिर चीनियों से युद्ध में फँस रहे हैं, किन्तु वास्तव में उपद्रव तब तक स्थानीय बना रहा, जब तक विदेशियो ने उत्तर की ओर बढ़कर संधि-पुनरीक्षण की माँग टींटसीन में पेश करने का फैसला न कर लिया। अन्य संधि बन्दरगाहों में अंग्रेजों के चीनी अधिकारियों व व्यापारियो से संबंध सामान्य और सौहार्दपूर्ण बने रहे; किन्तु जब प्रकट शत्रुता कैण्टन में समाप्त हुई और वहाँ व्यापार फिर शुरू हो गया तब स्थिति बदल गयी, क्योंकि अंग्रेज और फ्रांसीसी पीकिंग की ओर बढ़ रहे थे।

चीन से महत्त्वपूर्ण संपर्क में आनेवाले चारों देश इंगलैण्ड, फ्रांस, रूस व अमरीका चाहते थे कि व्यापार व संपर्क की और अधिक संतोषजनक शर्तें तय हो जायँ।

सन् १८४२ के बाद से अग्रेजो की नीति मैत्रीपूर्ण रही थी, लेकिन सन् १८५६ से अग्रेज १८४०-४२ वाले कार्यक्रम पर वापस पलट गये, अर्थात् शक्ति के प्रदर्शन व प्रयोग के आधार पर समझौते की बात आगे बढाना। फ्रास व्यापारिक शक्ति के रूप मे महत्त्वहीन था और उसने प्रकट कर दिया था कि उसकी विशेष दिलचस्पी रोमन कैथोलिक पादरियो व गिरजाघरो की रक्षा है जिनके लिए उसने काफी हद तक सहिष्णुता प्राप्त कर रखी थी। सन् १८५६–५७ के कैण्टन उत्पात के समय फ्रासीसियो को चीन सरकार के विरुद्ध एबे चेपडेलेन की 'न्यायिक' हत्या के कारण शिकायत थी। सामान्य धर्म प्रचारको की भाँति वह देश मे भीतर तक घुस गया था; पहले तो उसका ठीक स्वागत हुआ, किन्तु बाद मे उसे पकड़ लिया गया और अतत एक चीनी दण्डाधिकारी के आदेश से उसकी हत्या कर दी गयी। क्षतिपूर्ति की माँग अस्वीकार होने पर फ्रासीसी भी कैण्टन पर दूसरी बार की गोलाबारी और कब्जे मे अग्रेजो के साथ शामिल हो गये। सन् १८५८ मे जब अंग्रेज और फ्रासीसी सर्वसत्ताधिकारी दूतों, लॉर्ड एल्गिन व बैरन ग्रौस, का सयुक्त दल उत्तर गया तब भी यह सहयोग जारी रहा।[११]

इस अग्रेज-फ्रासीसी अभियान मे तो अमरीकी व रूसी मत्री शामिल रहे, किन्तु युद्ध से अलग रहने के स्पष्ट आदेशो के कारण, उन्होने शत्रुतापूर्ण काररवाइयो मे भाग नही लिया। अमरीका की नीति अब भी शातिपूर्ण समझौते की ही थी। अमरीका के जो प्रतिनिधि चीन मे थे वे लगातार सिफारिश करते थे कि अमरीकी हितो की रक्षा व उनके विस्तार के लिए शक्ति का भय दिखाना चाहिए, और इस बार वाशिंगटन मे ब्रिटिश राजदूत ने प्रस्ताव रखा कि चीन के विरुद्ध अमरीका, ब्रिटेन व फ्रास त्रिगुट समझौता हो जाय। किन्तु, सन् १८५४ से १८५८ तक शक्ति का भय दिखाये बिना चीन की शाही सरकार से समझौते की हर कोशिश असफल होने के बावजूद अमरीका अपनी पूर्व नीति पर अडिग रहा। चीन स्थित अमरीकी मत्री को आदेश था कि ब्रिटेन के साथ हर शांतिमय तरीके मे सहयोग दिया जाय, किन्तु चीन के विरुद्ध किसी भी शत्रुतापूर्ण प्रदर्शन मे कोई भाग न लिया जाय। रूसियो को भी शांतिपूर्ण तरीको तक सीमित रहने का निर्देश था। वास्तव मे रूस उत्तर में प्रशान्त सागर की ओर लगातार बढ़ कर दबाव डाल ही रहा था। इस दबाव के फलस्वरूप सन् १८५८ की ऐगुन की सधि मे उत्तर की क्षेत्रीय स्थिति मे परिवर्तन हुआ। रूसी काउण्ट मुरावीव ने सधि समझौता किया था और उनके कृतित्व व लब्धियों के लिए नाम बदल कर आमुर्स्की कर दिया गया था। काउण्ट ने सीमा की नयी हदबन्दी का समझौता किया जिसके अनुसार आर्गुन और आमूर के मुहाने के

उत्तर के क्षेत्र पर रूसी अधिकार स्वीकार कर लिया गया और उसुरी व समुद्र के बीच के क्षेत्र के स्वामित्व का प्रश्न बाद के परिसीमन के लिए स्थगित कर दिया गया। अंग्रेज-फ्रांसीसी अभियान के साथ गये काउण्ट पुटियाटीन के लिए केवल यही शेष रह गया था कि रूस के लिए अपेक्षतया महत्त्वहीन, चीन से समुद्र के रास्ते से व्यापार करने का अधिकार प्राप्त कर ले तथा अन्य विदेशियों के साथ चीन में जैसा व्यवहार होता था वही व्यवहार रूसियों के लिए भी हासिल कर ले।

अतएव फ्रांस और इंग्लैण्ड सैन्यबल के साथ उत्तर में टीटसीन की ओर बढ़े; उनके पीछे रूसी व अमरीकी समझौता-वार्त्ताकार थे; इस प्रकार पश्चिमी राज्य दो भागों में बँट गये थे। रूसी और अमरीकी प्रतिनिधि पहले ही शांति व मैत्रीपूर्ण संबंध स्थापित किये हुए थे। टींटसीन में सन् १८५८ में पुराने समझौतों की जगह नयी संधियाँ हुईं। पहले की उपलब्धियों के अतिरिक्त संधियों में नयी व्यवस्था यह हुई कि चीन के नये ग्यारह बन्दरगाह, जिनमें कई यांग्त्सी नदी पर थे, व्यापार के लिए खुल गये, हंकाउ नदी में नौसंचरण की सुविधा प्राप्त हो गयी और राजनयिक प्रतिनिधियों के पीकिंग में निवास का निर्णय हो गया। "परमामित्र राष्ट्र" संबंधी संधि-धारा के अनुसार एक देश को मिली सुविधाएँ अन्य देशों को भी मिल ही जाती थीं। सीमा-शुल्क तालिका का भी पुनरीक्षण हुआ, जो अधिकतर विदेशियों के ही हित में था; इसके अनुसार प्रचलित मूल्यों के आधारपर यथामूल्य पाँच प्रतिशत उगाही स्थिर कर दी गयी। इस पुनरीक्षण में अफीम के आयात पर कर लगा दिया गया जिससे अफीम का व्यापार वैध व नियंत्रित हो गया। यह बात ध्यान देने की है कि संधि के समय अफीम का सवाल अमरीकी मंत्री की विशेष प्रार्थना पर उठाया गया था और आयात को वैधता भी उन्हीं के आग्रह पर मिली थी। अफीम के व्यापार के संबंध में अब तक अमरीका की जो नीति और स्थिति थी, यह प्रार्थना उसके विपरीत थी। अमरीकी संधि में धर्म-प्रचारकों और ईसाई धर्म ग्रहण करनेवालों के प्रति सहिष्णुता बरतने की धारा थी, किन्तु इसमें उनके रहने व काम करने के स्थान का विवरण नहीं था। इस प्रकार पादरियों का प्रश्न पहली बार संधिस्तर पर आ गया। अंग्रेजों से हुई संधि में भी इसी प्रकार की व्यवस्था थी, किन्तु, फ्रांसीसी संधि में एक धारा बढ़ गयी थी जिसमें देश के भीतर भी पादरियों की रक्षा की व्यवस्था थी। यहाँ यह कह देना संगत होगा कि सन् १८६० की पीकिंग की फ्रांसीसी उप-संधि में चीन सरकार से आशा की गयी थी कि वह साम्राज्य भर में घोषणा कर देगी कि धर्म-प्रचारकों की काररवाइयों को अनुमति दी गयी है और ईसाइयों को अविचारपूर्ण ढंग से पकड़नेवालों को दण्ड दिया जायगा; यह भी तय हुआ कि कैथो-

लिको के चीन से निष्कासन के समय उनकी जो भू-सपत्ति जब्त कर ली गयी थी उसका मूल्य चुकाया जायगा। सन् १८६५ मे केन्द्रीय सरकार ने १८६० की उपसधि के चीनी मसौदे मे चुपचाप जोड दी गयी उस धारा को भी स्वीकृति दे दी जिसमे ईसाई धर्म-प्रचारको को साम्राज्य भर मे भूमि खरीदने और उस पर इमारते खडी करने का अधिकार दिया गया था।[२०]

अग्रेजो की समझौता वार्ता पूरी होने के पहले अन्य देशो से हुई सधियो व लार्ड एल्गिन द्वारा की गई ब्रिटिश सधि मे और अतर तो थे ही, एक विशेष अतर यह था कि अन्य देशों के पीकिंग मे स्थायी मिशनो की जगह राजदूतावास रखने की व्यवस्था थी। किन्तु "परममित्र राष्ट्र" सिद्धान्त के अनुरूप सभी देश एक स्तर पर आ जाते थे। यद्यपि रूस व अमरीका शक्ति प्रदर्शन के बिना ही सधि करने मे सफल हो गये थे, उनका भी अनुभव यही था कि हर मॉग को भरसक पूरा करते हुए भी चीन १८४२-४४ की सधियों का पुनरीक्षण नही करता यदि ब्रिटेन व फ्रास का सयुक्त दबाव न पड़ता। ब्रिटिश दूत से, जो पीकिंग मे निवास पर बहुत जोर दे रहा था, कहा गया कि वह अपनी सरकार से इस अधिकार के तत्काल कार्यान्वय पर जोर न देने का आग्रह करे। यह भी प्रयास किया गया कि सधि शर्तों के अनुसार सधिपत्रो का अनुसमर्थन पीकिंग मे न कर कैण्टन या शघाई में हो। जब यह प्रयास असफल हो गया तब टीटसीन के लिए कोशिश की गयी। अतत अग्रेजो व उनके मित्र फ्रासीसियो ने फिर बलप्रयोग किया और सीधे पीकिंग तक बढ गये। उनका बढाव रोकने की कोशिशें बेकार हुई। पीकिंग पर कब्जा हो गया और मचू दरबार उत्तर में जेहोल भाग गया; पीकिंग का ग्रीष्म-भवन कुछ बदियो के साथ चीनियो द्वारा दुर्व्यवहार किये जाने के प्रतिशोध मे नष्ट कर दिया गया। समता के स्तर पर विदेशियो से सपर्क स्थापित करने के लिए चीन को बाध्य करने के लिए यह अतिम कदम था जिसमें बलप्रयोग किया गया था।

पीकिंग की ओर बढाव के समय और उस पर कब्जा हो जाने के बाद मित्रराष्ट्रो और शाही शासन के प्रतिनिधि स्वरूप राजकुमार कुंज के बीच समझौता वार्त्ता के समय रूसी बराबर चीन के मित्र होने का ढोंग करते रहे। जब शाति स्थापित हो गयी उन्हें इस मित्रता के बदले उसुरी और प्रशान्त महासागर के बीच का क्षेत्र प्राप्त हो गया और इस प्रकार रूस का क्षेत्रीय सपर्क चीन व कोरिया से स्थापित हो गया तथा एशिया के उत्तरी तटपर स्थित द्वीपो मे उसके हित बन गये।[२१]

पीकिंग पर आधिपत्य या सन् १८५८ की सधियो की स्वीकृति से चीनी जनता या केन्द्रीय सरकार के इस मत मे कोई अंतर नही आया कि चीन अन्य देशो से अतर्निहित रूप से श्रेष्ठ है और न उनके विदेशियों के प्रति विचार ही बदले। वे

दबाव के फलस्वरूप झुके थे और उन्होंने केवल वही दिया था जो उन्हे विदेशी की माँगों का न्यूनतम भाग बताया गया था। जहाँ बलप्रयोग नही हुआ था वहाँ उन्होने स्वेच्छा से कोई भी सुविधाएँ नहीं दी थी। यदि सन् १८६० के बाद केन्द्रीय शासन ने नवस्थापित सबधों को सद्भावना से स्वीकार किया होता, यदि चीन ने बाहरी दुनिया की जानकारी करने के लिए और अधिक व्यापक प्रयत्न किया होता और पश्चिम की भौतिक सभ्यता से और अधिक सीख कर अपने को सशक्त बनाने के अवसर का उपयोग करने का प्रयास किया होता और यदि विदेशो द्वारा की गयी प्रगति को निष्प्रभाव करने की फिर से कोशिश चीन ने न की होती, तो अगले साठ वर्षों का इतिहास बहुत भिन्न होता। किन्तु चीन ने यह नही किया। अपने को नयी दुनिया और नयी परिस्थितियो के अनुकूल बनाने के पूरे और खुले प्रयत्न की जगह वह अपने गौरवशाली अतीत की ओर आँखे लगाये रहा। और केवल साम्राज्य की सेना के आधुनिकीकरण की ओर ध्यान लगाया। विभिन्न देशों से स्थापित नये संबधों के फलस्वरूप आये राजदूतों से पूर्ण समता[२२] के स्तर पर व्यवहार करने की जगह वह लगातार छोटे-छोटे अपमान करता रहा जो कि स्वयं उसके अहित का कारण बनते रहे। कुछ व्यक्तिगत उदाहरणों को छोडकर चीन का रवैया मूलरूप से नहीं बदला, इसका आंशिक कारण वे परिस्थितियाँ थीं जिनमे पश्चिम से संबंध निश्चित और स्थापित हुए—परिस्थितियाँ जो नये सपर्कों की पूर्ण और सहज स्वीकृति की प्रेरक तो निश्चित रूप से नहीं ही थी। अंशतः इसका एक कारण सन् १८६० के बाद का इन विदेशी सत्ताओं का रवैया भी था। किन्तु चीनी दृष्टिकोण का जो भी कारण रहा हो, तथ्य यही है कि नयी व्यवस्था को सहज रूप से स्वीकार न करने से सबसे अधिक अहित चीन का ही था, यद्यपि यह नयी व्यवस्था चीन पर थोपी ही गयी थी।[११]

## तीसरा अध्याय
# विदेशी संघट्टन (१८६०–१८९४)

### (१) विद्रोह की पूर्ववर्त्ती परिस्थितियाँ

"ईश्वरीय" साम्राज्य मे हर वश के अंत समय लम्बी अवधि तक भीतरी उद्वेलन होते रहे है। केन्द्रीय शाही शासन का नियत्रण ढीला हो जाता है। अधिकारी जन-कल्याण के प्रति उदासीन होकर लोभी और पैसे पर बिकने वाले बन जाते है। अधिकारियों की साँठ-गाँठ से समृद्ध कुलीन किसान भूमि-कर देने से बचने लगते है। फलतः कर का बोझ छोटे और निर्धन किसानो पर बढ जाता है। कर अधिभार 'परिवर्तन शुल्क' उगाहीव्यय आदि अनेक नये भार जनता पर पड़ते हे और उनकी मात्रा बढती जाती है। इस बढे कर-भार को सह न सकने के फलस्वरूप 'छोटे परिवार' अपनी जमीन रोक नही पाते और इस तरह काश्तकार वर्ग बढ़ता जाता है। जैसे-जैसे कर-भार बढता है—केन्द्रीय शासन के हित में नही, वरन्, मुख्यत. प्रान्तीय अधिकारियो के लाभ के लिए—अशान्ति के आर्थिक व सामाजिक कारण उत्पन्न होते जाते है। फलतः केन्द्रीय सत्ता के निर्बल होने के साथ डाकू और जल-दस्यु जोर पकडने लगते है।[१] बहुधा सूखे या बाढ या दोनो के कारण देश की अर्थ-व्यवस्था और बिगड़ जाती है और अशान्ति की स्थिति और उग्र हो उठती है, जीविका के लिए डाकुओ के संगठित गिरोह पनपने लगते हैं। राज्यवशविरोधी गुप्त संस्थाएँ जन्म लेने और बढने लगती है। कभी-कभी बाहरी आक्रमण भी हो जाता है जिसका ह्रासोन्मुख शासन मुकाबला नहीं कर पाता। तब राज्यवश का पतन हो जाता है, क्योकि राज्य करने का उसे मिला "ईश्वरीय आदेश" वापस हो जाता है—वापस होने का सबूत होते है सम्राट् की आतरिक शाति कायम रखने में असफलता, जनता की अत्यधिक शोषण से रक्षा तथा बाहरी आकमण से देश की रक्षा करने में अयोग्यता।

### (२) विदेश संबंध

उन्नीसवीं शताब्दी के चीन में वे सभी परिस्थितियाँ विद्यमान थीं जो शासन-परिवर्तन के लिए आवश्यक मानी जाती है, यद्यपि मंचू सम्राट् के विदेशी शत्रु सीमा पार से नही बहुत दूर-दूर के देशो से आये थे। शताब्दी के मध्य तक विदेशी पहले

अवरोध सफलतापूर्वक ध्वस्त कर चुके थे। उन्होंने अपने प्रतिनिधि पीकिंग मे स्थापित कर दिये थे और कुछ क्षेत्र बलात् अपने स्वामित्व में ले लिये थे (इंग्लैण्ड को हांगकांग मिल गया था और रूस को उत्तरी इलाका)। साम्राज्य मे व्यापार के लिए वे कैण्टन से आगे बढ़ गये थे और ईसाई धर्म-प्रचारकों को देश के भीतर जाकर काम करने की अनुमति थी और इन पादरियों पर केन्द्रीय सरकार का प्रभावकारी नियंत्रण भी नही रह गया था। उन्होंने साम्राज्य के विरुद्ध दो बार सफलतापूर्वक युद्ध छेड़ा था और एक बार राजधानी पर कब्जा कर सम्राट् को अस्थायी निर्वासन में भेज दिया था। यह अवश्य सत्य है कि उन्होने देश का शासन अपने हाथ मे लेने का प्रयत्न नहीं किया था और सम्राट् को फिर अपनी सत्ता बनाने दी थी।

वस्तुतः विदेशी यह मानकर चलने लगते थे कि पीकिंग में दूतावासों की स्थापना, बन्दरगाहों के खुलने तथा व्यापार बढ़ने और धर्म-प्रचारकों के लिए सहिष्णुता मिलने से स्वतंत्र सम्पर्क मे जो भौतिक और मनोवैज्ञानिक अवरोध थे वे समाप्त हो जायेंगे। किन्तु अनुभव से उन्हें पता लगा कि उनकी उपस्थिति अब भी खलती थी, उन्हें अपनी नवप्राप्त विशेष सुविधाओं को कायम रखने के लिए लगातार संघर्ष करना होता था और नये परिवर्तनों के सुझावों के प्रति सरकार और जनता दोनों उदासीन रहती थीं या उनका विरोध करती थी।

सन् १८४२ से १८६० तक यूरोपीय शक्तियों को उन सभी जगहों में संधियों द्वारा प्राप्त अधिकारों व स्थितियों की व्याख्या प्राप्त करने के लिए स्थानीय अधिकारियों से बात करने को बाध्य होना पड़ता था जहाँ पैर जमाने भर की जगह उन्होंने प्राप्त कर ली थी। संधि-पुनरीक्षण जैसे सामान्य महत्व के प्रश्न पर विचार-विनिमय करने के लिए केवल कैण्टन का वाइसराय सक्षम था और वह पीकिंग से सबसे अधिक दूरी पर था। पीकिंग पहुँचने के पहले जहाँ और जब भी आवश्यकता हुई स्थानीय शासकों द्वारा दबाव डाल लिया गया था। आशा और अपेक्षा यह थी कि पीकिंग में निवास का अधिकार प्राप्त हो जाने का फल यह होगा कि शक्ति के केन्द्र से संपर्क होगा और स्थानीय शासनों पर दबाव अनावश्यक हो जायगा।

यह स्थानीय दबाव डालने में पहल की थी एक विदेशी शक्ति ने, किन्तु इससे जो सुविधाएँ मिलीं वे सभी विदेशी शक्तियों की हो गयीं और किसी भी विदेशी शक्ति ने स्वतंत्र नीति अपनाकर केवल अपने लिए विशेष सुविधाएँ प्राप्त करने का प्रयास भी नहीं किया। संभवतः रूस को छोड़ कर शेष सभी पश्चिमी शक्तियों का संयुक्त लक्ष्य केवल यही था कि एकान्त का युग समाप्त हो। सन् १८६० से लगभग सन् १८७५ तक पीकिंग में पश्चिम के प्रतिनिधि सामूहिक हितों के आधार पर ही

सोचते और कार्य करते रहे--उनकी नीति का आधार था एकान्त की दीवार मे जो छेद हुआ है वह और बढे और दीवार हटे, किन्तु चीन ध्वस्त या बरबाद न हो। सन् १८६१ से सन् १८६७ तक पीकिंग मे अमरीकी प्रतिनिधि थे एनसन बर्लिंगेम और वही मुख्यत इस सहयोग की नीति को विशिष्ट और व्यावहारिक रूप मे लागू करने के उत्तरदायी थे, उन्होने इस सम्बन्ध मे बहुत स्पष्ट और उचित वक्तव्य दिया[२]—

"जिस नीति पर हमारा मतैक्य है, सक्षेप मे वह इस प्रकार है—यद्यपि हम अपने इस सधि अधिकार का दावा करते है कि हमे सधि-बदरगाहो मे, अपनी-अपनी सरकारो के व्यक्ति और सपत्ति सबधी अधिकार-क्षेत्रो को खरीदने व बेचने और किराये पर लेने का अधिकार है, हम सधि-बन्दरगाहो मे क्षेत्र स्वामित्व की न तो माँग करेगे और न यह सुविधा स्वीकार करेगे और न चीनी जनता पर चीनी सरकार के अधिकार क्षेत्र मे कोई हस्तक्षेप करेगे और न ही चीनी साम्राज्य की क्षेत्रीय अखण्डता के लिए ही कोई खतरा बनेगे। जहाँ तक अपने सधि अधिकारो को कायम रखने के लिए आवश्यक हो, उससे आगे चीन के आतरिक सघर्ष मे हम भाग न लेगे। सधि अधिकारों की रक्षा हम सयुक्त रूप से करेंगे उन्हे छीनने वाला कोई भी हो। इस नीति के अनुरूप ताईपिगो या विद्रोहियों से सधिबन्दरगाहो की रक्षा करने की हमारी नीति स्पष्ट है; किन्तु यह रक्षा हम इस प्रकार करेगे कि हमे चीनी जनता के बड़े भागो से, उन्हे देश के भीतर खदेडने मे, युद्ध न करना पड जाय।"

सयुक्त प्रयास की यह नीति धीरे-धीरे बदलती गयी और शक्तियाँ अपनी शिकायतें दूर करवाने या नयी सुविधाएँ प्राप्त करने के लिए अलग-अलग कदम उठाने लगी और इस प्रकार सन् १८७५ के बाद, इन शक्तियो के बीच ध्येय की वह एकता नही रही जो पिछले दिनो चीन की सर्वोच्च सत्ता के सम्मान की स्वीकृति पर आधारित थी।

सन् १८६० के बाद पीकिंग मे मुख्य राजनयिक प्रश्न था सम्राट् से साक्षात्कार। जिस अवधि की यहाँ समीक्षा की जा रही है, लगभग उस पूरी अवधि मे विदेशी प्रतिनिधि केवल मात्र त्सुगली यामेन के सदस्यो से ही सपर्क रखने को बाध्य रहे; त्सुंगली यामेन एक मंडल था जिसका परराष्ट्र समस्याओ के निराकरण के लिए सन् १८६१ मे गठन हुआ था। धीरे-धीरे इस मडल ने शाही मत्रिपरिषद् का रूप ग्रहण कर लिया क्योंकि इसके निर्णयो का बड़ा महत्त्व था, केन्द्रीय सरकार को संधियो की शर्तें लागू करने मे ही धीरे-धीरे प्रान्तीय शासनो मे हस्तक्षेप करने को बाध्य होना पडा था और अभी तक की प्रबोधन मात्र की भूमिका छोड कर आदेश देने की भूमिका अदा करनी पड़ी थी। त्सुगली यामेन के सदस्य बहुत समय तक विदेशी मंत्रियों और सम्राट् के बीच व्यवधान बने रहे और उस साक्षात्कार मे भरसक हर

संभव बाधा डालते रहे जिसे विदेशी मंत्री अपना अधिकार मानते थे और जिसके फलस्वरूप संबंधो के अधिक सहिष्णु आधार पर स्थापित होने मे सहायता मिलती।

सम्राट् से भेंट न होने देने का एक अच्छा बहाना यह था कि वह अभी अवयस्क हैं और शासन उनके नाम से एक राज्य-परिषद् चलाती है। सन् १८७३ मे जब सम्राट् वयस्क हुए विदेशी मंत्रियो ने उनसे भेंट करने का सवाल फिर त्सुगली यामेन के सामने रखा। चूंकि भेंट टालने का अब कोई भी बहाना नही था, सम्राट् ने राजनयिक सेवा के इन प्रतिनिधियो से भेंट करना स्वीकार कर लिया। किन्तु यह भेंट उस भवन में हुई जहाँ सामान्यत. करद राज्यो के मिशनो से भेंट की जाती थी और फलतः चीनियो ने समझा कि उन्होने कोई नयी सुविधा नही दी है। विदेशियों का अकेला लाभ यह हुआ था कि उन्हे नौ बार दण्डवत् प्रणाम करने की काउ-टाउ परंपरा से पहली बार छूट मिल गयी थी। पीकिंग में निवास का अधिकार मिलने के तीस वर्ष बाद जाकर कही सन् १८९३ में, विदेशी प्रतिनिधियो से उचित परिस्थितियों में और उपयुक्त ढंग से भेंट करने की अनुग्रहपूर्ण व्यवस्था स्वेच्छा से की गयी। यह सही है कि प्रथम साक्षात्कार और लक्ष्य की अतिम प्राप्ति के बीच सन् १८७५ से सन् १८८९ तक एक और राज्य-परिषद् आ गयी थी; किन्तु तथ्य तो यह है ही कि सम्राट् की अवयस्कता का लाभ उठा कर मचू सरकार ने संतोषजनक आधार पर यूरोप से वह संपर्क बनना टाल दिया जो यूरोपीय राज्य समाज के सदस्यों में सामान्य माना जाता है।

चीन के अपने एकान्त से पूरी तरह निकलने के लिए यह आवश्यक था कि जिस प्रकार विदेशी दूतावास पीकिंग में स्थापित थे, उसी व्यतिहारी आधार पर चीन स्वयं अपने प्रतिनिधियों को विदेश भेजे। यह स्वयं चीन के ही हित में था क्योंकि चीन से संबंधित प्रश्नों पर वह अपनी सम्मति सीधे विदेशी सरकारों के अध्यक्षो को दे सकता था। किन्तु सन् १८७७ तक, चीन ने यह नहीं किया और उस वर्ष पहली बार चीनी राजदूत ने अपना परिचयपत्र इंग्लैण्ड में पेश किया। सन् १८७७ के पहले इस बात का संकेत अवश्य दिया गया था कि चीनी शासन विदेशियों से उन्ही की भूमि पर मिलेगा। चीनी समुद्री सीमाशुल्क विभाग के ब्रिटिश अध्यक्ष, सर रॉबर्ट हार्ट जब अवकाश पर सन् १८६६ में यूरोप लौटे तो वह चीन सरकार द्वारा जाब्ते से नियुक्त एक प्रतिनिधि को अपने साथ लेते गये। किन्तु इस प्रतिनिधि को ''राजदूत का काम नहीं सौंपा गया था, बल्कि जो कुछ भी वह वहाँ देखे और पता लगाये उस पर एक प्रतिवेदन देने भर का काम''[१] उसके सिपुर्द था। इस प्रयास का कोई फल नहीं निकला क्योंकि इस दूत ने चीनी सभ्यता का कोई अनुकूल प्रभाव

यूरोप पर नही डाला और न उसे कोई ऐसी अनुकूल बात दिखाई ही दी जिसे वह अपने प्रतिवेदन मे शामिल करता।

सर रॉबर्ट हार्ट की सिफारिश पर ही, सन् १८६७ मे फिर चीन सरकार ने अवकाश ग्रहण करनेवाले अमरीकी मत्री, एनसन बर्लिंगेम, से कहा कि वह अपने नेतृत्व में एक मिशन पश्चिम के देशो मे ले जायँ। चीन की सार्वभौम सर्वोच्च सत्ता और अखण्डता कायम रखने के सिद्धान्त के आधार पर विदशी शक्तियो के सहयोग के लिए बर्लिंगेम ने बहुत काम किया था। किन्तु यह सहयोग अधिकांशतः व्यक्तिगत था और बर्लिंगेम के पीकिग से रवाना होने के पहले ही आशिक रूप से समाप्त हो चुका था। इस नयी नियुक्ति मे उनकी दिलचस्पी यह थी कि वह अपनी नीति का सचालन व्यक्तिगत स्तर के स्थान पर सरकारी स्तर पर कराना चाहते थे। यह मिशन पहले अमरीका गया, जहाँ जनता ने उत्साह से और सरकार ने सौहार्द से इसका स्वागत किया, सरकार अपनी पुरानी नीति के टीटसीन संधि की पूरक धाराओं के रूप मे अधिकृत रूप से पुन.समर्थन से प्रसन्न थी। फ्रासीसी सरकार का सौहार्द कुछ कम था और बिस्मार्क तो बर्लिंगेम से बातचीत के समय किसी हद तक कोई वचन देने से बचते ही रहे। सेण्ट पीटर्सबर्ग मे मिशन के नेता की मृत्यु पर चीनी सदस्य वापस चीन लौट गये।

विदेशो मे चीन के प्रति अभिरुचि पैदा कराने के लिए बर्लिंगेम बहुत ही उपयुक्त व्यक्ति थे। किन्तु पश्चिम के पदचिह्नों पर चलने के लिए चीन की तत्परता के सबध मे अपनी भाषण-प्रतिभा के फलस्वरूप उन्होने बढा-चढा कर वक्तव्य दे डाले। इससे सभवतः लाभ के साथ हानि ही हुई। जो लोग चीन सरकार और उसके अधिकारियो के रवैये और दृष्टिकोण से परिचित थे वे यह पढ कर आश्चर्यचकित रह गये होंगे कि चीन "आपसे कहता है कि वह अपनी प्राचीन सभ्यता पर आपकी सभ्यता की कलम लगाने को प्रस्तुत है। वह आपसे कहता है कि वह अपने अन्वेषण और उनके विकास को वापस लेने को तैयार है। वह आपसे कहता है कि वह आपके साथ व्यापार करने के लिए, आपका माल खरीदने और अपना आपको बेचने के लिए, व्यापार पर लगी बंदिशे तोडने में आपकी मदद करने के लिए तैयार है। वह आपके व्यापारियो व धर्म-प्रचारको का स्वागत करता है। वह धर्म-प्रचारको से कहता है कि वे आकर हर चोटी और हर घाटी में अपना ज्वलन्त क्रूस (सलीब) गाड़ दे। क्योकि वह उचित तर्कों का स्वागत करता है।"[४]

## (३) चीनी उत्प्रवास

चीन की अखण्डता व सार्वभौम सर्वोच्च सत्ता के सम्मान की नीति के सबंध में जाब्ते के वक्तव्य के अतिरिक्त चीन व अमरीका के बीच हुई बर्लिंगेम संधि का

महत्त्व इसलिए भी था कि उसमें चीनी मजदूरो को यह अधिकार प्राप्त हो गया था कि वे अमरीका में प्रवेश करें और परममित्र राष्ट्र के नागरिको के समान उचित व्यवहार प्राप्त करें। इस व्यवहार का आश्वासन उसी समय प्राप्त हुआ था जब कैलिफोर्निया में चीनी मजदूरो के विरुद्ध आंदोलन शुरू हो रहा था। वहाँ रहने वाले चीनियों की संख्या सन् १८५२ के २५,००० से बढकर सन् १८६७ में ५०,००० और सन् १८८२ में १,३०,००० हो गयी थी। प्रशान्त महासागर के अमरीकी तट पर सस्ते मजदूरो की माँग के फलस्वरूप चीनी मजदूर वहाँ पहुँचे थे। शुरू मे उनका उत्सुकतापूर्वक स्वागत किया गया, किन्तु जैसे-जैसे उनकी सख्या बढती गयी वे अधिकाधिक अलोकप्रिय होते गये। उनके विरुद्ध भेदभाव बरतने वाला कानून बना लिया गया और व्यक्तियो तथा भीड़ों द्वारा उनके साथ खुला दुर्व्यवहार कर शत्रुता प्रकट की जाने लगी। कानून बर्लिंगेम सधि के विरुद्ध था और संधि में दी गयी गारण्टी के खिलाफ चीनी मजदूरो के साथ दुर्व्यवहार किया जा रहा था। यह आंदोलन बढते-बढते अमरीका की सर्वोच्च विधायनी संस्था, कांग्रेस, तक जा पहुँचा और वहाँ कानून बना दिया गया कि किसी भी जहाज मे पन्द्रह से अधिक चीनी प्रवासी अमरीका नहीं आ सकेंगे। अमरीकी राष्ट्रपति ने अपने विशेषाधिकार का प्रयोग कर यह कानून लागू होना तो रोक दिया, किन्तु उन्होंने एक आयोग चीन भेज दिया जिसका उद्देश्य संधि की उत्प्रवास सबंधी धाराओं में संशोधन कराना था ताकि उसके बाद चीनी प्रवासियों के संबंध में प्रतिबन्धात्मक कानून बनाया जा सके। आयोग ने चीन सरकार को इस बात पर राजी कर लिया कि संधि में संशोधन कर चीनियों के अमरीका प्रवेश को "सीमित, नियन्त्रित या रद करने" का अधिकार दे दिया जाय, किन्तु पूरी तरह से रोकने का अधिकार न हो। जो चीनी अमरीका पहुँच चुके थे उनके साथ परममित्र राष्ट्र के नागरिको के अनुरूप ही व्यवहार होना था।

अमरीकी कांग्रेस ने तत्काल (सन् १८८२ में) यह प्रतिबन्धात्मक कानून बना दिया कि दस वर्ष तक चीनी मजदूरो का अमरीका आना रद कर दिया जाय। किन्तु प्रशान्त तट पर चीनियों के साथ होने वाला दुर्व्यवहार जारी रहा और चीनी मंत्री को बार-बार अमरीकी सरकार से इस दुर्व्यवहार के निवारण के लिए माँग पेश करनी पड़ी। इसके अतिरिक्त, यद्यपि चीन की शाही सरकार विदेशों में रहनेवाली अपनी प्रजा के कल्याण के संबंध में विशेष व्यग्र नहीं थी, किन्तु अमरीका के कार्य-कलाप व कैलिफोर्निया में रहनेवाले चीनियों के साथ हो रहे व्यवहार से उसकी न तो विदेशियों के प्रति श्रद्धा बढ़ी और न उनसे हुई संधियों के प्रति ही। यह दुर्भा-

ग्यपूर्ण ही था कि चीनी प्रतिनिधि द्वारा अमरीका मे प्रवेश और सद्व्यवहार सबंधी संधि अधिकार प्राप्त करने के बाद इतनी जल्दी चीनी प्रवासियो के प्रश्न ने ऐसा उग्र रूप धारण कर लिया।

अमरीका और ब्रिटिश उपनिवेशो मे चीनियो के उत्प्रवास से भी अधिक जटिल और गभीर प्रश्न चीनी मजदूरो को क्यूबा, पेरू व अन्य देशो मे भेजने के सबध मे उठ गया। यद्यपि चीन के शाही कानून के अनुसार जनता उत्प्रवास से हतोत्साहित की जाती थी, अपेक्षया प्राचीन काल से ही कुछ चीनी अपना भाग्य परखने विदेश चले गये थे। शुरू मे यह उत्प्रवास व्यक्तिगत स्तर पर स्वतत्र रूप से होता रहा, जैसा कि अमरीका मे भी हुआ था। किन्तु पिछली शताब्दी के मध्य मे, सस्ते मजदूरो की माँग बढ़ जाने पर ठेके की मजदूरी की प्रथा विकसित हो गयी और इसके साथ ही गभीर दुरुपयोग भी शुरू हो गया। अपनी इच्छा के विरुद्ध और झूठी बाते बताकर बहकावे से मजदूर भरती किये जाते थे; कुली ढोनेवाले विदेशी जहाजो मे वे ठूँस दिये जाते थे और गतव्य स्थानो पर पहुँच कर वे अपनी हालत गुलामो से भी बदतर पाते थे। परिस्थितियाँ इतनी बिगड़ गयीं कि चीन सरकार अतत. कुछ करने को बाध्य हो गयी। फ्रास, इंग्लैण्ड और अमरीका चीन की शाही सरकार के साथ इस कुली-व्यापार को रोकने मे सहयोग देने को तैयार थे, किन्तु ठेके के ये मजदूर अधिकाशत मकाओ बन्दरगाह के पुर्तगाली अधिकार-क्षेत्र से रवाना किये जाते थे। सन् १८७५ तक पश्चिमी देशो की "अतरात्मा" पूरी तरह से जाग चुकी थी और चीनी बन्दरगाह से मजदूरो को भेजने वाले ठेकेदारो को नजरअन्दाज करने के लिए पुर्तगाल और गतव्य स्थानों की परिस्थितियो के लिए स्पेन और पेरू की बड़ी निन्दा होने लगी थी। सन् १८७४ मे ब्रिटिश सरकार ने पुर्तगाल की सरकार से इस विषय को लेकर विरोधप्रदर्शन किया और सन् १८७५ मे मकाओ स्थित अधिकारियो को आदेश दे दिये गये कि वहाँ से ठेके पर या स्वतत्र रूप से जाने वाले प्रवासियो को रोक दिया जाय। इससे ठेके पर मजदूरो की भरती तत्काल तो समाप्त नहीं हुई, पर समाप्ति की शुरूआत अवश्य हो गयी। इसी बीच मे स्पेन और पेरू भी अपने-अपने अधिकार-क्षेत्रो में मौजूद मजदूरो की असहनीय परिस्थितियो को सुधारने के लिए राजी कर लिये गये थे।

उत्प्रवास-सबंधी धाराओ से चीन के लिए अधिक लाभदायक बर्लिंगेम सधि की वह व्यवस्था सिद्ध हुई, जिसके अनुसार ब्रिटिश व्यापारियो के निर्देश पर टीटसीन-संधियों का पुनरीक्षण टल गया था; ब्रिटिश व्यापारी समस्त चीन को व्यापार के लिए पूरी तरह से खोल देने के लिए आदोलन कर रहे थे। इससे चीन-सरकार की समस्याएँ अत्यधिक जटिल हो जाती और विदेशियो के राज्यक्षेत्रातीत रुतबे के

कारण उस समय अत्यधिक अविवेकपूर्ण सिद्ध होता। यह असंदिग्ध है कि बर्लिंगेम मिशन को औपचारिक रूप से भेजने में शाही शासन का एक उद्देश्य यह भी था कि पुनरीक्षण टल जाय या हो ही न। वास्तव मे, ऐसा आभास होता है कि सधि की वाशिंगटन धाराओ का समझौता कराने मे बर्लिंगेम ने अपने अधिकारों का अतिक्रमण कर दिया, क्योकि त्सुगलीयामेन ने इन धाराओ का विशेष स्वागत नही किया और इन धाराओ के अनुसमर्थन की सिफारिश करने मे आनाकानी की। बर्लिंगेम मिशन का दूसरा महत्त्वपूर्ण प्रभाव यह पड़ा कि ब्रिटेन और प्रशा की सरकारो ने घोषणा कर दी कि भविष्य मे उनकी यह नीति होगी —"चीन की सुरक्षा और स्वतत्रता के प्रतिकूल कोई भी अमैत्रीपूर्ण दबाव नही डाला जायगा।" अमरीकी सधि में व्यवस्था थी कि चीन के विकास मे किसी प्रकार का हस्तक्षेप नही होगा। इन देशों ने सामान्यतः यही नीति बरती भी, यह नीति पहले की उस नीति के विपरीत थी, जिसके अनुसार चीन में अपने हितो के विकास के लिए आगे आने वाले वर्षों में स्थानीय अधिकारियो पर बेजा दबाव डाला गया था। प्रान्तों पर जो भौतिक दबाव सधि-कार्यान्वय के लिए डाला जाता था, उसके स्थान पर अब पीकिंग पर नैतिक दबाव डालने की नीति अपनायी गयी।

## (४) विदेशियों के प्रति अभिवृत्ति

अधिकारियो के साथ जिस प्रकार के संबंध थे, चीनियो से व्यक्तिगत स्तर पर संबंध सामान्यत. उनसे बेहतर नही थे। जैसे-जैसे विदेशी देश में व्यापक रूप से फैलते गये, विशेषकर, धर्म-प्रचारक सधि-बन्दरगाहो से दूर भीतर तक बढ़ते गये, ईसाई-विरोधी उपद्रवो के रूप मे, जिनमे जान और माल दोनों की क्षति हुई, अविश्वास और वैमनस्य प्रकट होता गया। शत्रुभाव का सबसे खराब प्रदर्शन टींटसीन में हुआ, जहाँ एक कैथोलिक गिरजाघर और अनाथालय को भीड़ ने नष्ट-भ्रष्ट कर दिया। देशो के अन्य भागो में भी इसी प्रकार के उपद्रव हुए। अस्पताल और अनाथालय स्थापित करने के बाद प्रचारिकाओ को अनुभव हुआ कि लोग स्वेच्छा से वहाँ बहुत ही कम बच्चों को लाते है, तब उन्होने वहाँ लाये गये हर बच्चे पर नजराना देना शुरू किया। ऐसा लगता है कि प्रचारिकाएँ मरणासन्न बच्चों को अत समय लाकर **जोड़ लगे काठ के साथ** (in articulo mortis) बपतिस्मा देने के लिए लालच देती थी। इस कारण अनाथालय में गाड़ने के लिए बहुत बच्चे मिलते थे।

ये ऐसे तथ्य थे, जिनकी जाँच की जा सकती थी और इन तथ्यों की नींव पर अन्धविश्वासी चीनियो ने अपनी कल्पना के उद्रेक से अपहरण, बपतिस्मा की रहस्यमय प्रक्रियाओं, आँखें और दिल निकाल लेने तथा ऐसी ही अन्य डरावनी बातों की एक इमारत खडी कर ली थी; और इन सबसे घृणा और भय का उन्माद पैदा होता था।[५]

सन् १८७० के ग्रीष्म के आरम्भ मे एक अनाथालय में छूत की बीमारी महामारी के रूप मे लग गयी, जिससे लगभग तीस-चालीस बच्चे मर गये, इससे सकट खडा हो गया।

हो सकता है नरसहार पूर्वनिश्चित या आसन्न न रहा हो, पर अब वह अनिवार्य हो गया था। जातीय घृणा के पचास वर्ष, राष्ट्रीय विद्वेष के दस वर्ष, ईसाई-विरोधी भावना का तीव्रता से हो रहा विकास, जो अशत अधविश्वास और अशत धार्मिक कठमुल्लापन व सहज विश्वास की भावना पर आधारित था, ये सब मिलकर एक बिन्दु पर केन्द्रीभूत हो गये और बढती हुई अराजकता का फल हुआ तीन घटे तक खुली लूटपाट, आगजनी व हत्याएँ।[६]

इस प्रकार के कारण इस तथा ऐसे अन्य काण्डो मे जनसाधारण में शत्रुता व वैमनस्य का उद्रेक कर देते थे, किन्तु ध्यान देने की बात यह है कि बहुत-से अधिकारी व शिक्षित वर्ग के लोग भी विदेशियो व उनके द्वारा किये जाने वाले हर काम को नापसन्द करते थे। जॉच करने और जनता को नियत्रित करने या जॉच से प्रकट हुए तथ्यो के आधार पर राजदूतों से शिकायत करने की जगह, स्थानीय अधिकारी बहुधा जनता को ऐसे काम करने को उकसाते थे, जिनका तात्कालिक परिस्थितियो में एकमात्र फल होता था उनके देश का और अधिक अपमान। उदाहरणार्थ, टीटसीन के दण्डनायक (मैजिस्ट्रेट) ने जनसाधारण के आवेश और उद्वेग को सयत करने के लिए कुछ नही किया, बल्कि उसे उकसावा ही दिया।

दूसरी ओर, अनेक विदेशियो के (जिनमे वाणिज्यदूत भी शामिल थे) दम्भ और उद्धत व्यवहार को देखे तो चीनियो के दृष्टिकोण को समझा भी जा सकता है और उसका औचित्य भी साबित किया जा सकता है। इस दम्भ का कारण था उन्हे प्राप्त विशेष सुविधाएँ और उनकी यह धारणा कि चीनी अविश्वासी नास्तिक है, आम जनता के साथ कैसा भी व्यवहार क्यो न हो, उनकी समझ मे इस नास्तिकता के कारण सब कुछ उचित था। फिर कुछ धर्म-प्रचारको, विशेषकर रोमन कैथोलिक पादरियो का यह भी प्रयास रहता था कि जनता और अधिकारियो से व्यवहार करते समय वे धर्म-परिवर्तन करने वाले चीनियो को भी अपनी रक्षा की ओट में ले ले। अंतत· चीनी स्वाभाविक रूप से ही (यद्यपि इसका औचित्य नही था) विदेशियो पर अग्निबोट तथा अन्य पश्चिमी यत्र आदि चलाकर बेकारी पैदा करने का लाछन लगाते थे।

फ्रांस द्वारा सन् १८५८–१८६० में टीटसीन में एक क्षेत्र पर कब्जा कर लेने और उसी पर यह मिशन-भवन खड़ा करने तथा चीन मे रोमन कैथोलिक हितों की रक्षा का दावा करने के कारण वहाँ का यह नरसहार एक प्रकार से फ्रास के ऊपर किया

गया प्रहार था। इसलिए टीटसीन-काण्ड के लिए फ्रांस ने ही चीन के समक्ष अपनी कडी माँगे रखी और उन्हे तत्काल पूरा करने पर जोर दिया। प्रशा से युद्ध छिड़ जाने के कारण फ्रांस अपनी ये माँगे पूरी नही करा सका और अततः उसने इसी बात पर संतोष कर लिया कि उस काण्ड के लिए जिम्मेदार व्यक्तियो को दण्ड दिया जाय और क्षमायाचना के लिए मिशन फ्रास भेजा जाय। किन्तु यह काण्ड एक तरह से विदेशी धर्म-प्रचारको के कार्यकलाप के विरुद्ध चीनी वैमनस्य का एक बढा-चढा उग्र प्रदर्शन ही था, सभी विदेशी शक्तियो ने मिलकर सामूहिक माँग की कि ईसाई पादरियो के विरुद्ध होनेवाली घटनाओ के लिए क्षतिपूर्ति और सतोष मिलना चाहिए और भविष्य मे पूर्ण सुरक्षा का आश्वासन मिलना चाहिए। फ्रास और प्रशा के बीच युद्ध छिड जाने के बावजूद चीन मे सामूहिक मोर्चा कायम रहा।

मारगरी-काण्ड मे भी विदेशियो के प्रति विद्वेष की भावना का उदाहरण मिलता है। दक्षिणी-पश्चिमी चीन के लिए व्यापार का एक नया मार्ग खोजने की अभिलाषा से ब्रिटेन ने सन् १८७६ मे उत्तरी बर्मा से एक खोज अभियान-दल युन्नान प्रान्त के लिए रवाना किया। चीन सरकार से इस दल के लोगो के प्रवेशपत्र प्राप्त कर लिये गये। ब्रिटिश वाणिज्य-दूतावास के नवयुवक अधिकारी मारगरी पीकिंग से रवाना किये गये कि वह युन्नान प्रान्त की सीमा पर इस दल से मिले। वहाँ जाते समय मारगरी को किसी बाधा का सामना नही करना पड़ा, किन्तु जब अभियान दल कुछ दूर तक युन्नान की सीमा के भीतर आ गया तभी दल के नेता कर्नल ब्राउन और मारगरी को अफवाहें सुनने को मिलीं कि कुछ उपद्रव होने वाला है। मारगरी कुछ चीनियों को साथ ले कर जाँच के लिए आगे गये और उन्हें व उनके पाँच साथियों को मार डाला गया। इसके बाद पूरे अभियानदल को वापस लौटने पर बाध्य होना पडा।

पीकिंग में स्थित ब्रिटिश मंत्री, सर टॉमस वेड को इस घटना का समाचार कई सप्ताह बाद लन्दनस्थित भारत-कार्यालय द्वारा प्राप्त हुआ। उन्होंने तत्काल चीन सरकार से शिकायत की और माँग की कि इस घटना के लिए पूर्ण पूर्ति व समाधान मिलना चाहिए। अपनी माँगों में वेड ने कुछ असम्बद्ध बातें भी जोड़ दीं, जैसे कि सम्राट् से साक्षात्कार का प्रश्न तथा वस्तुत उन सभी प्रश्नों का संतोषजनक समाधान, जो दोनों सरकारों के बीच विवादग्रस्त थे। हत्या की ऐसी जाँच करने की माँग को, जिसमें एक अंग्रेज अफसर भी शामिल हो, चीनियों ने फौरन स्वीकार कर लिया। किन्तु अन्य माँगों पर चीन सरकार द्वारा विचार से पूर्व वेड को अपने दूतावास के अधिकारियो के साथ पीकिंग छोड़ना आवश्यक था। अंततः चिहली प्रान्त

के राज्यपाल ली हुग-चाग को समझौता वार्त्ता के लिए नियुक्त किया गया। १३ सितम्बर, १८७६ को चेफू मे यह समझौता हुआ। चेफूउपसधि की पहली धारा मे मारगरी की हत्या के लिए सतोषजनक पूर्ति स्वीकार की गयी, दूसरी धारा मे औपचारिक सपर्क-व्यवस्था सुधारने का निर्णय हुआ, और तीसरी मे कई नये बन्दरगाह विदेशी व्यापार के लिए खोलने और व्यापार के विकास का निश्चय किया गया। दस वर्ष बाद ही उत्तरी बर्मा पर चीनी अधिराजत्व समाप्त हो गया।

## (५) विदेशी शक्तियों के हित तथा नीतियाँ

यह सोचा जा सकता है कि यूरोपीय लोगो के प्रति मचू सरकार व चीनी जनता का रवैया देखते हुए ये विदेशी शक्तियाँ अपने हितो की रक्षा के लिए ठोस रूप से एक-दूसरे के साथ जमी रहती रही होगी। जब तक त्सुगलीयामेन के मुकाबले मे विदेशी राजनयिक दूतवर्ग सामूहिक मोर्चा बनाये रहा, चीन-सरकार सधि की धाराओ के लागू न होने की शिकायतो आदि को दूर करने से इनकार नही कर सकी, किन्तु जब इंग्लैण्ड, फ्रास व रूस अपने-अपने विशेष हितों के साधन व विकास को सामूहिक हित से अधिक प्राथमिकता देने लगे, तभी सामूहिक हितो की रक्षा निर्बल हो गयी, क्योकि चीन एक शक्ति को दूसरे के विरुद्ध खडा कर देने मे सक्षम हो गया। इससे यह धारणा बनने का अच्छा आधार भी मिला कि विदेशी राज्य पारस्परिक हित-साधक सबधों को बढाने के लिए चीन को राज्यो के परिवार में नही लाया जा रहा है।

जैसा कि पहले कहा जा चुका है, सन् १८४४ से लगभग सन् १८७५ तक विशेषत सन् १८५० के बाद, इग्लैण्ड, फ्रास व अमरीका उन दीवारो को तोड़ने के लिए चीन के अन्दर बढाव या फलाव मे एक-दूसरे को सहयोग दे रहे थे, जो चीन ने अपने चारो ओर बना रखी थी। अनेक अवसरो पर रूस ने अन्य शक्तियो को सहयोग प्रदान किया, पर जब-जब अन्य राज्यों के हितों के विपरीत स्वयं अपने हित-साधन की सभावना हुई, तब वह ऐसा करने से हिचकिचाया नही। और यदि हागकांग के क्षेत्र के (जो बाद मे निर्बाध बन्दरगाह बना दिया गया) और उसके सामने के काउलून के क्षेत्र के निकल जाने को छोड दें तो यह रूस ही था, जिसने सन् १८६० से ही चीनी साम्राज्य के कोने काट-काट कर उन पर कब्जा करने की प्रथा शुरू कर दी थी। सन् १८६० में आमूर के दाहिने किनारे और उसुरी के पूर्व के क्षेत्रों के अर्पण के बाद कई वर्षों तक क्षेत्रों पर नया कब्जा और बढाव नही हुआ, केवल संधि-बन्दरगाहों पर विदेशियों की बस्तियाँ बनने से चीन की क्षेत्रीय अखण्डता सीमित अवश्य हुई। चीन की अगली क्षति उत्तरी बर्मा पर से अंततः

उसके अधिराजत्व की समाप्ति ही थी, जिसका अभी वर्णन किया गया है। और सन् १८८१ मे चीन ने अतिम रूप से जापान के लूचू द्वीप समूह पर नियत्रण के दावे को स्वीकार कर लिया, यह दावा सन् १८७५ के बाद से लगातार किया जा रहा था। इसी दावे के कारण सन् १८७४ में दोनो देशों के बीच युद्ध की स्थिति आ गयी थी। कुछ लचू-वासी नाव-दुर्घटना के कारण फारमोसा मे आ पड़े थे, जिन्हे वहाँ के आदिवासियो ने मार डाला था। जापान ने माँग की कि अपराधियो को दण्ड दिया जाय और जब चीन ने इस उत्तरदायित्व से इनकार कर दिया, तब जापान ने एक अभियान फारमोसा पर कर दिया। उस समय (सन् १८७४ में) चीन ने जापान को सतोष प्राप्त कर लेने की छूट देकर सबंध-भग रोक दिया था। किन्तु जापान सरकार के लूचूद्वीप-समूह पर अधिराजत्व के दावे को चीन ने सन् १८८१ तक स्वीकार नही किया।

चीन के बाहर फैले हुए कुछ अधीन क्षेत्रो के सबंध मे सन् १८८४–८५ मे संकट उठ खडा हुआ जब फ्रास के साथ हुए युद्ध मे मचुओ का अधिराजत्व या नाममात्र का नियत्रण अन्नम व टोंकिग से हट गया। यद्यपि अन्नम का अपना राजा व शासन था, उसने पन्द्रहवी शताब्दी से लगातार और हान वश के राज्य के बाद बीच-बीच में चीन को कर दिया था। फ्रास की इस राज्य में दिलचस्पी उन्नीसवीं शताब्दी के आरम्भ मे ही प्रकट हुई थी, लेकिन शताब्दी के मध्य तक वहाँ के क्षेत्र में पैर जमाने के लिए फ्रांस ने कोई बढ़ाव नहीं किया था। सन् १८४३ और सन् १८५१ के बीच ईसाई धर्म-प्रचारकों की हत्याओं के फलस्वरूप क्षतिपूर्ति के लिए कई नौ-सैनिक-अभियान हुए और अतत. सन् १८५८ में स्पेन और फ्रास का संयुक्त हस्तक्षेप हुआ। तीन साल से अधिक के युद्ध के बाद सन् १८६२ में शाति स्थापित हुई, इस युद्ध के फलस्वरूप स्पेन को फ्रास द्वारा माँगे गये चालीस लाख डालर के मुआविजे का एक अंश मिला, फ्रास को इस हरजाने के अतिरिक्त कोचीन-चीन के तीन प्रान्त मिले और यह वचन मिला कि अन्नम का राजा अपने राज्य का कोई भाग किसी भी अन्य शक्ति को कभी अर्पित न करेगा।। उसी समय कम्बोडिया से संधि कर फ्रांस ने उसे अपना रक्षित राज्य बना लिया। यह बढ़ाव सन् १८६७ मे फिर जारी हुआ जब अन्नम को कोचीन-चीन के तीन पश्चिमी प्रान्त फ्रांस को अर्पित करने को बाध्य होना पड़ा।

किन्तु फ्रांस की असली दिलचस्पी एक ऐसी जगह पर कब्जा जमाने में थी, जहाँ से चीन के दक्षिण-पश्चिमी प्रान्तों से व्यापार बढ़ाया जा सके। इसका सीधा मार्ग टोंकिग में लाल नदी द्वारा था। सन् १८७४ में उस प्रान्त में हस्तक्षेप करने का बहाना

मिल गया, जब एक फ्रासीसी सौदागर को लाल नदी के रास्ते से युन्नान मे व्यापार करने की अनुमति नही दी गयी। एक "अडगेबाज अभियान" के माध्यम से मिली कुछ सुविधाएँ बाद मे छोड दी गयी, किन्तु अन्नम सरकार पर राजनयिक दबाव डाल कर इन्ही सुविधाओ को दूसरे ढग से प्राप्त कर लिया गया। विदेशी आक्रमण तथा आतरिक अशान्ति से रक्षा तथा हरजाने की राशि मे कुछ छूट के बदले मे कोचीन-चीन पर पूर्ण प्रभुसत्ता, टोंकिग द्वारा युन्नान से व्यापार करने का अधिकार, रोमन कैथोलिक धर्म-प्रचारको को सहिष्णुता व विशेष सुविधाएँ तथा सभी विदेशियो को राज्यक्षेत्रातीतता का अधिकार प्राप्त हो गया।

इस पूरी अवधि मे फ्रास के लगातार बढाव का चीन सरकार विरोध और प्रतिवाद करती रही, पर इस प्रतिवाद से अधिक कुछ करने की स्थिति मे वह नही थी। सन् १८७४ से १८८१ तक, अन्नम अनेक उपायो से चीन से अपना संबध घोषित करने का प्रयास करता रहा और सन् १८८१ मे पेरिस स्थित चीनी मत्री ने स्पष्ट रूप से इस क्षेत्र पर चीनी अधिराजत्व का दावा किया। चीन की अनियमित सेना टोंकिग मे जमा कर ली गयी और उसने न केवल युन्नान की सीमा की रक्षा ही करनी शुरू की, बल्कि लाल नदी का मार्ग भी बन्द कर दिया। सन् १८८३ मे फ्रास के (विधायक) सदन ने अन्नम और टोंकिग पर अभियान के लिए धनराशि स्वीकार की, फलत: पूरे राज्य पर फ्रास का रक्षित राज्य का अधिकार स्थापित हो गया, परराष्ट्र विषय पूर्णरूपेण फ्रासीसी नियत्रण मे आ गये और टोंकिग एक फ्रासीसी रेजिडेण्ट (अधिकारी) के अधीन कर दिया गया। इस काररवाई के कारण, सन् १८८४ में फ्रास व चीन के बीच युद्ध छिड़ गया, जब टोंकिग स्थित फ्रासीसी सेना की चीनी सैनिको से टक्कर हो गयी।

किन्तु युद्ध छिड़ जाने के बाद राजनयिक मार्ग फिर अपनाया गया और ११ मई, १८८४, को ली–फूर्नियर उप-सधि पर हस्ताक्षर हुए। इसके अनुसार फ्रास ने चीन की दक्षिणी सीमाओ को स्वीकार किया और उनकी रक्षा का आश्वासन दिया; चीन के शाही शासन ने विवाद-ग्रस्त क्षेत्र से अपने अधिराजत्व का दावा हटा लिया तथा टोंकिग व दक्षिणी-पश्चिमी प्रान्तो में व्यापार की स्वतत्रता दे दी। टोंकिग से चीनी सेना के हटने के समय के संबध मे गलतफहमी के कारण लड़ाई फिर छिड़ गयी और सन् १८८५ तक छिटफुट रूप मे चलती रही। सग्राम मे दोनो पक्षो में किसी की भी श्रेष्ठता निश्चित नही हुई और युद्ध निष्कर्षहीन ही रहा। अंततः, ली-फूर्नियर-उपसंधि की शर्तों के आधार पर पेरिस में एक अन्य नया समझौता हुआ; इस समझौते के लिए ब्रिटेन के चीनी शाही नौसेना तटकर-व्यवस्था के अध्यक्ष सर

रॉबर्ट हार्ट ने मध्यस्थता की और इस समझौते को चीन व फ्रास दोनो ने स्वीकार कर लिया। इस प्रकार चीनी साम्राज्य की सीमा स्वय चीन देश तक ही सीमित कर देने की दिशा मे एक और कदम सफलतापूर्वक उठा लिया गया।

## (६) आंतरिक राजनीतिक परिस्थितियाँ

ऐसा लग सकता है कि विदेशियो के संपर्क से "ईश्वरीय" साम्राज्य को ऐसी समस्याओ का सामना करना पडा, जो जटिल और भयानक थी। किन्तु १८४२–१८९४ की अवधि का कोई भी चित्र न तो पूरा ही होगा और न आगे आने वाली घटनाओ को पूरी तरह से समझा ही जा सकेगा यदि देश के भीतर की आतरिक परिस्थिति पर दृष्टिपात न किया जाय। विदेश-सपर्क एक सकेत था, पर एकमात्र सकेत नही था कि ईश्वर ने मचू-वश को अपनी कृपा से वचित कर दिया है, क्योकि उन्नीसवी शताब्दी मे चीन की आन्तरिक परिस्थिति बहुत ही खराब हो चुकी थी।

सम्राट् ताओ कुआग सन् १८२० मे सिंहासनारूढ हुए थे और सन् १८५० में उनकी मृत्यु हुई। परपरागत एकान्त की नीति को छोडने के लिए उन्हें ही बाध्य होना पडा था। उनके राज्य की यह सबसे अधिक महत्त्व की घटना अवश्य थी, किन्तु चीनी दृष्टिकोण से यही एकमात्र दुर्भाग्यपूर्ण घटना नही थी। सन् १८३२ में भयानक सूखा पडा था और उसी वर्ष तीन प्रान्तो के आदिवासियो ने विद्रोह कर दिया था। इसके पहले फारमोसा और हैनान में भी विद्रोह हो चुके थे। यद्यपि ये सभी विद्रोह दबा दिये गये थे, किन्तु यह दमन बिना कठिनाइयों के नही हो सका था और इन विद्रोहो से केन्द्रीय शासन के प्रति असंतोष तो प्रकट होता ही था।

ताओ कुआग के बाद उनके सात पुत्रो मे से एक सिंहासन पर बैठा और जिसका शासकीय नाम ह्सिएन फेग पड़ा। यद्यपि पिता बहुत प्रतिभा व योग्यता के व्यक्ति नही थे, फिर भी वह राजकाज मे दत्तचित्त रहे और ईमानदारी के साथ, यद्यपि असफलतापूर्वक, अधिकारि-वर्ग मे बढते हुए भ्रष्टाचार तथा जनकल्याण के प्रति उपेक्षा के भाव को रोकने और समाप्त करने का प्रयत्न करते रहे। फेंग न केवल अयोग्य ही थे, बल्कि राजकाज मे समय और ध्यान लगाने मे उनकी दिलचस्पी भी नही थी। वह शासनतंत्र से अधिक राजधानी के विलासपूर्ण जीवन और महल के आमोद-प्रमोद में अधिक दिलचस्पी रखते थे। फलत. साम्राज्य के इतिहास में सबसे अधिक सकटपूर्ण काल में कार्य सचालन के लिए जिस सशक्त और सुयोग्य निर्देशन की आवश्यकता थी, उसी का वहाँ अभाव रहा।

ह्सीन फेग की मृत्यु सन् १८६० मे जेहोल मे निर्वासन के समय हुई, जब पीकिंग पर विदेशी राज्यो के सामूहिक अभियान ने कब्जा कर रखा था। महल में हुई क्रांति

के फलस्वरूप फेग की माता, महारानी त्जू ह् सी, फेग की पत्नी, महारानी त्जू एन, तथा एक राजकुमार कुग ने जब तक सम्राट् त्' उग चिह् अल्पवयस्क रहे, तब तक के लिए मिल कर राज्यपरिषद् बना ली। त्' उग चिह् सन् १८७३ मे वयस्क हुए और बिना कोई वारिस छोड़े हुए सन् १८७५ में मर गये। त्जू ह् सी महत्वाकाक्षिणी और योग्य स्त्री थी और वह एक अन्य बच्चे को चिह् का उत्तराधिकारी चुनवाने मे सफल हो गयी। इससे फिर राज्यपरिषद् बनानी पडी और नये सम्राट्, कुआग ह् सु (चिह् के उत्तराधिकारी), के सन् १८८७ मे वयस्क होने तक वह कार्यसचालन करती रही। इस प्रकार तीस वर्ष तक चीन के नामधारी सम्राट् नाबालिग रहे और वास्तविक शासक एक स्त्री रही। यद्यपि त्जू ह् सी इतिहास की प्रसिद्ध और स्मरणीय महिला थी, उनकी शिक्षा-दीक्षा और अनुभव ऐसे नही थे, जो उन्हे चीन की असख्य आंतरिक समस्याओं के समाधान और पश्चिमी सपर्क मे देश का सफलतापूर्वक नेतृत्व करने के योग्य बना सकते। यद्यपि उनके कुछ परामर्शदाता सुयोग्य अधिकारी थे; उदाहरणार्थ, त्सुगलीयामेन तथा उनकी राज्यपरिषद् के सदस्य कुमार कुग तथा वेनसियाग तथा टीटसीन के वाइसराय ली हुगचाग, परराष्ट्र-संबंधो और विषयो का नियत्रण धीरे-धीरे पूरी तरह से जिनके हाथो मे पहुँचता गया, मध्य के प्रान्तो मे त्सेग कुओ-फान, त्सो त्सुग-ताग तथा चाग चिह्-तुग, किन्तु त्जू ह् सी महल के क्लीवो (हिजडो) को राज-काज मे, विशेषकर नियुक्तियो में, हस्तक्षेप करने देती थी। इससे पदों के क्रय-विक्रय की प्रथा और ऊपर तक बढ गयी तथा सरकारी कोष का धन जाब्ते के कामो मे खर्च न होकर अन्य मदो पर और भी अधिक खर्च होने लगा। इसका अर्थ यह भी था कि पीकिंग मे जो उत्तरदायी अधिकारियो की जगह पर अनुत्तरदायी और अनधिकारी परामर्शदाता आ गये, उनके शासन मे चीनियों के मुकाबले बहुत-से मचू सरकारी नौकरियो में नियुक्त कर लिए गये थे, जिससे अततः असंतोष फैला किन्तु त्जू ह् सी ने (जो बूढी बुद्ध कहलाने लगी थी) चीनी गुटों व दलो के बीच 'लड़ाओ और शासन करो' की नीति पद या लाभ-वितरण मे सफलतापूर्वक लागू की थी। किन्तु पीकिंग व प्रान्तो मे गुटो के अस्तित्व से तत्कालीन कठिनाइयो के पूर्णरूपेण और सामूहिक रूप से हल करने मे बाधाएँ रही।

जो आतरिक कठिनाइयाँ थी, उनमे सबसे प्रमुख थी ता'इ वेग का विद्रोह। राजनीतिक पहलू से यह आंदोलन धार्मिक भाव से एक बहुत छोटे रूप मे आरम्भ हुआ। आरम्भ में बनी इन संस्थाओं का नाम था 'शांग ति हुई' अथवा 'ईश्वराराधना के संगठन'। चूँकि शाग ति की आराधना एक ऐसा कृत्य था, जो मान्यता के अनुसार केवल सम्राट् ही कर सकता था, शीघ्र ही इस आराधना पर निषेध जारी हो गया, यद्यपि उस समय (आरम्भ मे) आदोलन के नेता ने न तो अपने

राजनीतिक उद्देश्य घोषित ही किये और न शासन अधिकारियो या 'सस्थाओ' के अधिकांश सदस्यो ने उनका महत्त्व ही समझा। आदोलन का प्रवर्त्तक क्वागटुंग प्रान्त का एक निवासी हुग हि्सयु-चु' आन था, जो अभिलापा और पेशे से शिक्षार्थी था। कैण्टन मे होनेवाली प्रान्तीय परीक्षाओ में हुग कम से कम तीन बार शामिल हुआ, किन्तु हर बार असफल रहा, यद्यपि वह शिक्षा-दीक्षा मे बडा प्रतिभाशाली था। अतिम बार परीक्षा मे बैठने के बाद ही वह एक कठिन बीमारी मे फंस गया और बीमारी मे काफी समय तक सन्निपात मे रहा। इस अचेतावस्था मे उसे कुछ विलक्षण आभास हुए, जिनका पूरा अर्थ वह बाद मे कैण्टन के एक चीनी धर्म-प्रचारक द्वारा दी गयी पुस्तिका 'युग के उद्‌बोधन के लिए शुभ शब्द,' पढने के बाद ही समझा। अपने आभासो की इस अध्ययन के उपरान्त हुई व्याख्या ने उसे एक नये धर्म-प्रवर्तन की प्रेरणा दी, इस धर्म में मूर्ति पूजा का विरोध तथा कई अन्य ईसाई धर्म की बातें भी शामिल थी। कैण्टन के एक पादरी, इसाकाट रॉबर्ट्‌स, के सपर्क में आकर हुग ने अपने धर्म मे ईसाई धर्म के इन तत्त्वो को प्रमुखता दे दी। अपने प्रान्त मे कुछ लोगो का धर्मपरिवर्नन कर हुग उनके साथ क्वागसी प्रान्त जा पहुँचा, जहा वह अध्यापन व धर्म-प्रचार करता रहा और ईश्वरीय आभास पाता रहा। उसके अनुयायियो की सख्या तेजी से बढ रही थी, विशेषकर, उसके धर्म पर केन्द्रीय शासन द्वारा पाबन्दी लगने के बाद यह सख्या और भी तीव्रता से बढी। अततः, शासकीय उत्पीड़न और अपने आभासो के कार्यान्वय के रूप मे हुंग ने घोषणा कर दी कि वह "ईश्वरीय सम्राट् है" और ऐलान कर दिया कि वह एक नये शासन, "ता' इ पिं'ग", (पूर्ण शान्ति) की स्थापना करेगा। इसके उपरान्त वह उत्तर की ओर बढ़ने लगा; उसके अनुयायियो की संख्या लगातार बढ रही थी, किन्तु वह जहाँ से गुजरता जाता था, वहाँ रक्तपात और तबाही के चिह्न छोड़ता जाता था। अततः, ता'इ पिं'ग सप्रदाय के जत्थे (जिन्हें चीनी 'लम्बे बालो वाले विद्रोही' कहकर पुकारते थे, क्योंकि ये लोग बाल लम्बे ही रखते थे) नानकिंग जा पहुँचे जहाँ 'ईश्वरीय सम्राट्' रुक गया। उसके अनुयायियों का एक जत्था उत्तर की ओर बढ़ता गया और टीटसीन के आसपास जा पहुँचा, किन्तु उसे खदेडकर याग्त्सी-घाटी में वापस भेज दिया गया। आंदोलन का यह पूर्ण उभार का समय था।

चूँकि यह मान लिया गया था कि ता'इपिं'ग का आधार ईसाई धर्म के तत्त्व हैं, प्रोटेस्टेण्ट धर्म-प्रचारकों व अनेक व्यापारियों में यह प्रबल भावना बनी कि इस नये धर्म को मान्यता दी जाय और इसे विदेशी सहायता मिले। दूसरी ओर, चीन के कैथोलिक इस मान्यता के विरुद्ध थे, क्योकि इस धर्म में प्रोटेस्टेण्ट संप्रदाय के ही

तत्त्व शामिल माने जाते थे। कुछ काल तक ब्रिटिश प्रतिनिधि इस विचार का रहा कि विद्रोहियों को मान्यता दी जाय और इसके लिए मचुओ के विरुद्ध सक्रिय हस्त-क्षेप किया जाय; इस विचार मे यह आशा निहित थी कि विद्रोही विदेशी सपर्क को अधिक सहानुभूति प्रदान करेगे। दूसरी ओर, अमरीका की स्थापित नीति यह थी कि केन्द्रीय शासन की सहायता की जाय। सन् १८५९ तक, सधियो के सफल पुनरीक्षण तथा ता'इ पिं'ग के सही स्वभाव की ठीक समझ हो जाने के फलस्वरूप अंग्रेज भी अमरीकी नीति का समर्थन करने लगे और सभी विदेशियों ने सामूहिक रूप में मंचुओ के समर्थन और उन्हे सशक्त बनाने का प्रयास प्रारम्भ कर दिया, यद्यपि उन्होने जाब्ते से इस सघर्ष मे हस्तक्षेप नही किया।

स्थानाभाव से विद्रोह का विशद वर्णन कठिन है, किन्तु, उसके महत्त्वपूर्ण आशय और अभिप्रेत की ओर ध्यान देना आवश्यक है। इतना व्यापक विद्रोह जो सन् १८५१ से सन् १८६४ तक चला, केवल शासकीय निर्बलता के कारण ही सभव हुआ। आरम्भ में स्थायी सैनिक सत्ता ने नागरिक शासन-सत्ता कायम रखने मे मदद देने में अयोग्यता का परिचय दिया। यदि ता'ई पिं'ग नेता लड़खड़ाते हुए मचुओं का स्थान लेने में अधिक आशा और होनहार होने मे सक्षम होते, मचूवंश का अत हो जाता। किन्तु आंदोलन ने रचनात्मक नेतृत्व का सृजन नही किया, अधिकतम योग्यता के लोगों ने आरम्भ में ही अपने प्राण होम दिये और चूँकि अधिक अयोग्य और कट्टरपथी नेताओं का ढुंग पर प्रभाव रहा, इसलिए ता'इ पिं'ग अपनी ही कमजोरियो के कारण समाप्त हो गया।

ता'इ पिं'ग में नेतृत्व के अभाव के अतिरिक्त दो अन्य कारण थे, जो इस आदो-लन के अंत में सहायक हुए। एक था त्सेंग कुओ-फान नामक योग्य केन्द्रीय अधिकारी द्वारा धीरे-धीरे एक नये अर्धसैनिक संगठन, मिलिशिया का निर्माण, जिसकी युद्ध-शक्ति सेना से भी अधिक प्रबल थी। अपर्याप्त आर्थिक सहायता के बावजूद त्सेंग अपनी फौजें ता'इ पिं'ग की अच्छी सैन्य-शक्ति के समक्ष लगातार मैदान मे जमाये रहा और धीरे-धीरे यांग्त्सी प्रान्तो से विद्रोहियों को खदेड़ कर उसने उनकी राज-धानी, नानकिंग पर घेरा डाल दिया और अत में उसे जीत लिया। इस क्रिया में विद्रोही बराबर समुद्र की ओर दबते गये, जहाँ दूसरा कारण काम आ गया। यह दूसरा कारण था अंततः केन्द्रीय शासन को मिलने वाली विदेशी सहायता।

सबसे पहले शंघाई के व्यापारियों की आर्थिक सहायता से फ्रेडरिक टी० वार्ड नामक एक अमरीकी ने चीनियों की सेवा स्वीकार ली। शुरू मे शंघाई के ब्रिटिश अधिकारियों के विरोध के बावजूद वार्ड ने एक गिरोह तैयार किया, जो विद्रोहियों

के कब्जे से कुछ कस्बे छुड़ाने मे सक्षम हुआ। वार्ड का यह गिरोह एक तरह से लुटेरों का गिरोह था, जो विद्रोहियो के कब्जे से छुडाये गये कस्बो की लूट-पाट और छुड़ाई पर ही गुजर करता था। किन्तु अपने इस स्वभाव के बावजूद वार्ड की सन् १८६२ मे मृत्यु तक यह गिरोह अपरिपक्व सैन्य-शिक्षा और अयोग्य हथियारो वाली ता'इ पिं'ग सेना के मुकाबले मे उल्लेखनीय सफलताएँ प्राप्त करता रहा। और तब तक इस प्रकार के गिरोह की उपयोगिता इतनी स्पष्ट हो चुकी थी कि चीनियो ने इसे जाब्ते से कायम रखने का फैसला कर लिया। शघाई के ब्रिटिश अधिकारियों से कहा गया कि वह वार्ड का उत्तराधिकारी चुने।[९] अग्रेज इस निष्कर्ष पर पहुँच चुके थे कि विदेशी हितो की रक्षा मचू-सत्ता कायम रखने मे ही है और उन्होने अपने रिसाले के कप्तान गौर्डन को इस गिरोह की कमान लेने को मुक्त कर दिया। गौर्डन ने वार्ड के गिरोह में, जो कि उसकी मृत्यु के बाद पस्तहिम्मत हो चुका था, सैनिक नियंत्रण ला दिया और वह फिर "सदा विजेता सेना" बन गयी। इसकी जीत से केन्द्रीय शासन का मनोबल बढा और इससे तथा त्सेंग कुओ फान के नये प्रभावकारी सैनिक सगठन से चीनी अपने ही बल पर काफी तेजी से सफल होने लगे और सन् १८६४ तक विद्रोह समाप्त कर दिया गया। त्सेंग और उसके निर्देशन मे एक अन्य योग्य अधिकारी ली हुग-चांग ने सचमुच काफी सक्षम सैन्य-सगठन बना लिया था।

यद्यपि विद्रोह सफल नही हुआ, किन्तु वह अपनी छाप वर्षों तक के लिए देश पर छोड़ता गया। विनाश और विध्वस उसकी प्रगति के सूचक थे और साम्राज्य के अनेक समृद्ध और सपन्न प्रात बरबाद हो गये थे। वर्षों तक उन प्रान्तों से या तो मालगुजारी बिलकुल ही वसूल नही हो सकी या केवल आशिक रूप से वसूल हुई, जो अधिकतम मालगुजारी अदा किया करते थे; जिस क्षेत्र मे विनाश हुआ था, वहाँ तो साधारण करवसूली भी विद्रोह के नियत्रण के वर्षों बाद तक नही हो सकी। अनेक लोग इसके कारण निर्धन हो गये, जिससे जैसा कि चीन मे सामान्यतः होता था, लूट-मार बढ गयी और सबसे अधिक स्पष्ट रूप से यह प्रकट हो गया कि शाही शासन देश मे शाति-व्यवस्था कायम रखने का अपना बुनियादी उत्तरदायित्व निभाने में अक्षम था। ऐसे विद्रोह असफल होने पर भी, सामान्यत. राज्यवंशो की समाप्ति की अग्रिम सूचना दे देते हैं। और यह कहना तथ्यो से परे न होगा कि मंचू-वंश के विरुद्ध सन् १९११ में हुए सफल विद्रोह का आरम्भ उन्नीसवी सदी के मध्य मे ही हो गया था।

फिर सरकारी आय मे यह कमी उस समय आयी, जब कि उसे विदेशी क्षति-पूर्तियों तथा नये प्रकार के शस्त्रास्त्रों की प्राप्ति के लिए नये बोझ ओढ़ने पड़ रहे थे;

विदेशी संपर्क मे आने के बाद चीन को इन नये शस्त्रो का ज्ञान हुआ था। कुछ समय तक आय के जाने-माने साधन बन्द हो जाने से सरकार अपने नये बोझ ढोने के लिए इस बात पर मजबूर हुई कि या तो आय के नये साधन ढूँढे या इन्ही साधनो से और अधिक धन की वसूली करे। चूँकि आय के साधन पीढियो की प्रथा से रूढि बन गये थे, सरकार नये साधन उपयोग करने पर बाध्य हुई। इससे शिकायते और असतोष पैदा हुए और सन् १८९५ मे विदेशी जिस समय साम्राज्य के विरुद्ध बढ रहे थे, तब यह असंतोष बढ कर चरम सीमा पर पहुँच गया। इसलिए कुछ समय के लिए यह असतोष मचू-शासन से हटकर विदेशियो पर केन्द्रित हो गया।

इस विद्रोह के दो उपजात भावी महत्त्व की दृष्टि से ध्यान देने योग्य है। केन्द्रीय शासन ने अस्त-व्यस्त व प्रभावहीन होने के कारण सीमा-शुल्क की उगाही के लिए शंघाई में कोई सत्ता ही नही रही। कुछ अस्थायी कार्यों के लिए जो परराष्ट्र-सेवा संगठित की गयी थी, उसे चीन-सरकार ने बाद में प्रशासकीय कार्यों के लिए अपना लिया। ले नामक एक अंग्रेज को पहले सीमा-शुल्क-अधिकारी बनाया गया। कुछ समय बाद एक अन्य अंग्रेज, सर रॉबर्ट हार्ट को इस पद पर नियुक्त किया गया। यद्यपि इस सेवा में विदेशी नियुक्त थे, वे केन्द्रीय चीनी सरकार के कारिन्दे थे, अपने-अपने देश की सरकारों के नही। मुख्यतः हार्ट की प्रशासकीय योग्यता तथा मालिको के प्रति उनकी निष्ठा और ईमानदारी के फलस्वरूप ही विदेशियो द्वारा सगठित यह चीनी समुद्री सीमा-शुल्क-संघटन सन् १९२० के बाद तक काम करता रहा; उसके नियंत्रण में अवश्य ही कुछ ऐसे सुधार कर दिये गये, जो यूरोपीय देशों के रवैये के कारण आवश्यक हो गये थे।

विद्रोह का दूसरा उपजात था सरकारी आय बढ़ाने के लिए अस्थायी रूप मे लिकिनकर का लगाया जाना। लिकिन आंतरिक व्यापार पर लगाया गया चालान या परिवहनशुल्क था, जो प्रान्तों के भीतर जगह-जगह पर तथा प्रान्तों की सीमाओं पर लगता था।[८] चूँकि इससे काफी बड़ी आमदनी होती थी और यह बहुत लचीला कर था, अतः सरकार ने सन् १९३१ तक इसे कायम रखा और तब उसे समाप्त किया। विदेशी सीमा-शुल्क के विपरीत, लिकिन आधुनिक चीन के विकास में एक बड़ी बाधा बन गया, क्योकि माल के एक स्थान से दूसरे स्थान पर ले जाने और इस प्रकार व्यापार के विकास में बाधक था।

ता'इ पिं'ग-विद्रोह के दमन से देश में शान्ति और समृद्धि नही आयी। अनेक छोटे उपद्रवो तथा व्यापक लूट-मार के अतिरिक्त, जिन पर अधिकारी काबू पाने में अक्षम सिद्ध हुए, दो और भी बड़े विद्रोह हुए। ये दोनों ही चीनी अधिकारियों

द्वारा किये गये व्यवहार के विरुद्ध मुसलिम असतोष की अभिव्यक्ति थे। ये दोनो विद्रोह एक दूसरे से इतनी दूर, एक युन्नान प्रान्त में और दूसरा उत्तर-पश्चिम में, हुए थे कि उनसे असतोष की व्यापकता का पता लगता था। यद्यपि ये दोनो विद्रोह ही ता'इ पिं'ग की व्यापकता प्राप्त नही कर सके, उन्होने देश के उन क्षेत्रो को बरबाद किया, जो ता'इ पिं'ग-विद्रोह से अछूते बच गये थे और इस प्रकार मचू-साम्राज्य के लिए आर्थिक दृष्टि से नये कष्ट का कारण बने। आंतरिक परिणामो के अतिरिक्त, चीन को उत्तर-पश्चिम के इस विद्रोह के कारण अस्थायी रूप से इली क्षेत्र से भी हाथ धोना पडा; रूस ने यह दिखाकर कि वह उसे चीन के लिए सुरक्षित रख रहा है इली जिले पर कब्जा कर लिया। विद्रोह के दमन के बाद चीन ने यह जिला वापस माँगा और कुछ आना-कानी के बाद एक छोटे से इलाके को छोडकर शेष क्षेत्र रूस ने वापस कर दिया।

देश इन विद्रोहो के प्रभाव से उबर भी नही पाया था कि सन् १८७६ में दक्षिण तथा मध्य-दक्षिण के प्रान्तो मे बाढ आ गयी और याग्त्सी नदी के उत्तर के प्रान्तों मे सूखा पड़ गया, इस सूखे के साथ ही टिड्डी दलो ने आकर विनाश कर दिया। ''बाढ पॉच प्रान्तो मे आयी, टिड्डियो ने तीन प्रान्तों के बड़े हिस्सो को तबाह किया, और सूखे से खेती और प्राणियों की तबाही पूरे या आंशिक रूप से नौ प्रान्तो मे हुई।''[१] सूखा सन् १८७६ से शुरू होकर सन् १८७८ तक कायम रहा, जिसकी लम्बी अवधि से जनता को अपार कष्ट का सामना करना पड़ा। लाखो मनुष्यो के प्राण गये और साम्राज्य की मालगुजारी-पद्धति गंभीर रूप से अस्त-व्यस्त हो गयी; एक तो मालगुजारी वसूल ही नही हुई, दूसरे सरकार को प्रभावित प्रान्तों मे जनता की सहायता के लिए बडी धनराशि खर्च करनी पड़ी। ता'इ पिं'ग-विद्रोह से हुई हानि तथा इस हानि से मचू-शासन के लिए देश के भीतर अपनी सत्ता बनाये रखने तथा बाहर से होनेवाले आक्रमणों से देश की रक्षा करने की क्षमता गभीर रूप से कम हो गयी।

## (७) परिवर्तन का आरम्भ

विदेशी संपर्क की समस्याओ से हैरान-परेशान, और आधुनिक संसार के जीवन की नयी परिस्थितियो को स्वीकार करने में अनिच्छा रखने वाले निर्बल और अयोग्य मचू शासक विद्रोह, बाढ और सूखे से तबाह, देश की समस्याओं के समाधान मे दिलचस्पी न लेकर व्यक्तिगत विलास मे लिप्त रहते थे—चीन के इस चित्र को और अधिक व्याख्या किये बिना छोड़ देना उपयुक्त न होगा। यहाँ, नये विचारो और रीतियों को अपनाने के लिए किये गये कुछ अस्थायी प्रयोगों का हवाला देना और कुछ स्पष्टीकरण करना उपयुक्त होगा।

अभी तक जो वर्णन किया गया है, उससे यह धारणा दृढ़ हो सकती है कि चीनी—जनता और सरकार दोनों विदेशी शक्ति के दबाव मे की गयी सधियो के उत्तरदायित्व निभाने मे अक्षम रहे। इस तथ्य से कि जो भी सुविधाएँ दी गयी वे स्वेच्छा से नही वरन् दबाव मे आकर दी गयी, यह स्पष्ट हो जायेगा कि सधियो की शर्तों को पूरा करने मे चीनी इतनी अनिच्छा क्यो रखते थे और केवल वे ही शर्ते उतनी ही लागू करते थे, जिनके लिए वे बाध्य हो जाते थे। ऐसी परिस्थितियो मे अन्य सभी लोग अधिकाशत बिलकुल इसी प्रकार का व्यवहार करते, और चीन की नीतियो और काररवाइयो का मूल्याकन करते समय यह बात भी ध्यान मे रखनी होगी कि अन्य देशो से श्रेष्ठ होने तथा बाहर की दुनिया से सपर्क की शर्तें आदिष्ट करने की चीन की लम्बी परपरा थी। यह परपरा एक दिन मे तो समाप्त की नही जा सकती थी। इसके अतिरिक्त, विदेशी सैनिक सफलता मात्र से चीन ने अपनी श्रेष्ठता की भावना खोयी नही। विगत काल मे अनेक बार विदेशी शस्त्र चीन के विरुद्ध सफल हुए थे किन्तु, अततः चीनी जाति अजेय ही सिद्ध हुई थी। पश्चिम की भौतिक सभ्यता की श्रेष्ठता स्वीकार करने मे तत्परता का अभाव तथा विदेशी सपर्क से चीन के अपने जीवन और सभ्यता के लिए उत्पन्न सकट के आभास का अभाव का कारण इसी विचार से स्पष्ट हो जाता है।

अपने दायित्वों को पूरा करने मे शाही शासन की अच्छी या बुरी नीयत पर विचार करते समय यह बात भी ध्यान मे रखनी चाहिए कि पीकिंग आदेश भले ही देता रहा हो; इस आदेश को प्रान्तों में विद्यमान तत्कालीन दशाओं व परिस्थितियो के अनुरूप पूरा करने का विवेक प्रान्तीय अधिकारियो का ही था। संघीय शासन-व्यवस्था होने के कारण कुछ इसी प्रकार की परिस्थिति अमरीका में भी है। वाशिंगटन बिलकुल भली नीयत से सधि द्वारा कोई वादा कर ले, किन्तु, तब भी उसे सारे देश में कुछ इकरारनामो को समान रूप से लागू करवाने मे बड़ी कठिनाइयो का सामना करना पड़ सकता है। अमरीका की सीमा के भीतर इटली, जापान या चीन के नागरिकों को पूर्ण सुरक्षा का आश्वासन दिया जा सकता है, किन्तु यह सुरक्षा देनी तो स्थानीय अधिकारियों को होती है। न्यू औलिएस और सैन फ्रासिस्को जैसे एक दूसरे से बहुत दूर के स्थानों में भी अमरीका को उत्तेजित भीड़ो की काररवाइयों से कठिनाइयों का सामना करना पड़ा है। चीन सरकार और अधिक परिमाण में तथा और अधिक औचित्य के साथ यह तर्क उपस्थित कर सकती थी कि उसकी शासन-प्रणाली ऐसी है, जिसमें देश के सभी भागों में विदेशी जान-माल की समान और सम्यक् सुरक्षा कठिन है। सत्य तो यह है कि यदि शाही शासन बिलकुल

ईमानदारी से अपने वादों को लागू करने का प्रयास भी करता तो भी सारे देश मे समान रूप से उन्हे पूरा करने मे उसे बहुत बड़ी कठिनाई का सामना करना पडता। यह चीन का दुर्भाग्य ही था कि यूरोप चीन की शासन-प्रणाली और क्षेत्रीय विकेन्द्रीकरण से सुपरिचित नही था, और, यदि होता भी, पश्चिम के सशक्त राज्य सधि-दायित्वो के पूरे न होने के इस कारण को न्यायसगत मानने से इनकार कर देते, और यह तो वास्तविकता है ही कि केन्द्रीय शासन मे उस भली नीअत का अभाव था, जो सभवत· विदेशी प्रतिनिधियो को नम्रता की प्रेरणा देती। जो अधिकारी विदेशियो की रक्षा मे असफलता का उत्तरदायी होता था, उसे दण्ड देने मे पहल करने की जगह पीकिंग उसे बचाने की ही कोशिश करता था। यदि केन्द्रीय शासन ऐसी कारसवाइयो की निन्दा करता था तो केवल दबाव मे आकर ही।

यूरोप और चीन के बीच जो कठिनाइयाँ पैदा हुई, उनके कारणों के स्पष्टीकरण मे एक बात यह भी महत्त्व की थी कि विदेशी व्यक्तिगत रूप से सधि-अधिकारो की सीमा के भीतर ही रहने की सावधानी नही बरतते थे। ईसाई धर्म-प्रचारक और व्यापारी देश के उन भागो मे पहुँच जाते थे, जहाँ उनकी उपस्थिति निश्चित रूप से रोष का कारण बनती या गलत समझी जाती। जब कभी कुछ उपद्रव होता विदेशी सरकारे स्थानीय परिस्थितियों को ध्यान में रखे बिना अपने-अपने नागरिको का समर्थन करने लगती और चीन सरकार से यह अपेक्षा की जाती कि वह पूर्ण सुरक्षा प्रदान करे, यद्यपि ऐसी सुरक्षा देने की शक्ति ही चीन सरकार की नही होती थी। राज्यक्षेत्रातीतता-प्रणाली भी, जिसके अनुसार विदेशियों पर चीनी नियम-कानून लागू नही होते थे, जटिलताएँ पैदा हो जाती थी, बहुधा इनका कारण होता था विदेशियो का दर्प और ऐसी घटनाओं में तथ्यों की ओर ध्यान दिये बिना ही चीनियो को गलत सिद्ध कर देने की प्रवृत्ति होती थी।

यहाँ यह भी बता देना उपयुक्त होगा कि जहाँ पश्चिमी देशो की सरकारे इस बार पर जोर देती थी कि चीन सधि-उत्तरदायित्वो का अक्षरश. पालन करे, वे स्वय सदैव इस बात का कष्ट नही उठाती थी कि सधि के अर्थ और अक्षर की सीमा के भीतर ही रहे। कैण्टन मे निवास के अधिकार के सबध मे जो विवाद उठा था, उसका विवरण दिया जा चुका है कि किस प्रकार अंग्रेज इस बात पर अड़ गये थे कि शहर की चहारदीवारी के भीतर ही एक क्षेत्र विदेशियो के रहने के लिए अलग कर दिया जाय, यद्यपि सधियो मे इस प्रकार की कोई स्पष्ट शर्त नहीं थी; बर्लिगेम-सधि की उत्प्रवास-सबधी धाराओ के संबंध में अमरीका ने जो दृष्टिकोण अपनाया था, उसका भी संकेत दिया जा चुका है। विदेशियों के रवैये का

एक और उदाहरण शघाई व अन्य व्यापार के लिए खुले बन्दरगाहो मे मिली रिआयतों पर सरकारी अधिकार के दावो मे मिलता है, यद्यपि सधियो मे स्पष्ट रूप से इस अधिकार का निषेध था और विदेशियो के निवास के लिए मिली भूमि पर चीन की सर्वोच्च सत्ता बहुत सावधानी से सुरक्षित रखी गयी थी।

चीन के अनुकूल प्रगति और विदेशियो से सपर्क के उज्ज्वल पहलू पर विचार करते समय सबसे पहले पादरियो द्वारा शिक्षा के क्षेत्र मे किये गये काम ध्यान में आते है। धर्म-परिवर्तन और प्रचार के साथ ही शुरू से ही इन पादरियो ने समझ लिया था कि चीन में बडी सख्या मे लोगों को ईसाई बनाने के पहले व्यावहारिक ईसाइयत अमल मे लाने के लिए वर्तमान व्यापक क्षेत्र के प्रयोग आवश्यक है। धर्म-परिवर्तन का कोई भी प्रभावकारी कदम उठाने के पहले चीन की भाषा सीखनी और शब्दकोश तैयार करने अनिवार्य थे। भाषा का यह ज्ञान जनता और अधिकारियो से सपर्क स्थापित करने मे बडा उपयोगी सिद्ध हुआ। राजनयिक प्रतिनिधियो के काम को आगे बढाने व पूरा करने मे धर्म-प्रचारकों ने बडा योग दिया और व्यापक व्यावसायिक सपर्क बनाने मे सहायता दी। चीनी भाषा का साधारण ज्ञान प्राप्त करते ही पादरियो ने चीनी भाषा मे विदेशी पुस्तको का अनुवाद शुरू कर दिया और इस अनुवाद-कार्य को उन्होने धर्म-ग्रन्थो तक ही सीमित नही रखा। इस प्रकार सधि-बन्दरगाहो में शिक्षित चीनी लोग विश्व का व्यापक ज्ञान प्राप्त करने लगे। इसके उपरान्त मिशन-पाठशालाएँ खोली गयी, जिनके द्वारा चीनियों को पश्चिम के ज्ञान से अनुवादो के मुकाबले में अधिक सीधे ढग से परिचित कराया जा सका। इस सबसे अ-चीनी समाजो मे दिलचस्पी शुरू हुई और बाद मे जिसका अच्छा परिणाम हुआ।

सन् १८७२ मे पहला चीनी शिक्षा-मिशन विदेश गया। येल विश्वविद्यालय में शिक्षित चीनी युग विग की देखभाल मे ३० चीनी छात्रो का एक जत्था अमरीका ले जाया गया। यह सभव हुआ एक प्रबुद्ध वाइसराय, ली हुग-चाग, के प्रयत्नो से जिनका विश्वास हो गया था कि चीन पश्चिम के विचारो और उपायो को समझकर ही सशक्त हो सकता है। यह शिक्षा-मिशन सन् १८८१ मे वापस बुला लिया गया, पर इस बीच १२० चीनी बालक पश्चिम के सीधे संपर्क मे आ चुके थे। चीन के मानसिक एकान्त के प्राचीर ढहने का श्रीगणेश इस शिक्षा-मिशन से हुआ।

इससे भी पहले पीकिंग में कुछ विदेशी शिक्षकों को लेकर दुभाषियो के लिए एक शिक्षालय स्थापित किया जा चुका था। सन् १८६५ मे इस शिक्षालय को तुगवेन उच्चविद्यालय में परिवर्त्तित कर दिया गया और भाषाओ के साथ विज्ञान के विषय पढ़ाने के लिए एक विभाग उसमे खोल दिया गया तथा विदेशी शिक्षकों की संख्या

बढा दी गयी। शाही समुद्री सीमा-शुल्क के महानिरीक्षक और केन्द्रीय शासन के विश्वसनीय परामर्शदाता, सर रॉबर्ट हार्ट, इस महाविद्यालय की स्थापना के प्रेरक थे और उसे चलाने के खर्च के लिए सीमा-शुल्क मे से धनराशि अलग निकाल देते थे; सन् १८६९ मे उन्होने अमरीकी पादरी, डब्लू० ए० पी० मार्टिन, को तुगवेन कालेज का अध्यक्ष बना दिया। इस कालेज की स्थापना निश्चय ही शासन के लिए एक बड़ा कदम था, क्योकि वहाँ केवल शिक्षित चीनी ही भरती होते थे।

ता'इ पिं'ग-आदोलन के विरुद्ध गौर्डन की 'सदाविजयनी सेना' के कार्यकलाप से प्रभावित होकर चीन ने युद्ध के नये विदेशी शस्त्रास्त्रो मे दिलचस्पी लेनी शुरू की और सेना के पुनस्सगठन व नौसेना की स्थापना के लिए कुछ अस्थायी कदम उठाये गये। इग्लैण्ड व अन्य देशो से जहाज खरीदे गये और कुछ समय तक उन्हे विदेशियो के अधीन रखा गया। दुर्भाग्यवश, इस प्रथम प्रयास का कोई विशेष फल नही हुआ और परिस्थितियाँ ऐसी हो गयी कि चीनी विदेशी सहायता व निर्देशन के प्रति सशयालु हो उठे। फलतः, सन् १८९४ मे स्थापित नौसैनिक बेड़े की कार्यक्षमता पूर्णरूपेण चीनी निर्देशन मे होने के कारण कम हो गयी। इसके अतिरिक्त, स्थल व जल-सेनाओ, दोनो मे रिश्वत चल गयी और अधिकारी अपना लालच नही रोक सके। इस प्रकार कागज पर तो चीन ने सशक्त सुसज्जित सेना सगठित कर ली, किन्तु, युद्ध होने पर पता लगा कि सेना का प्रशिक्षण बहुत कम था और रसद या तो कम थी या थी ही नही।

विदेशी सपर्क धीरे-धीरे चीन के आर्थिक व शासकीय जीवन मे भी परिलक्षित होने लगा। सन् १८७६ मे शघाई से वूसुग तक रेलवे लाईन चालू हो गयी। यह योजना छोटी ही थी, किन्तु तब भी असफल रही। अधिकारी व शिक्षित वर्ग द्वारा इसके विरोध के कारण चीन ने सन् १८७७ मे इसे फिर से खरीद लिया और पटरियाँ उखाड़ कर फारमोसा ले जायी गयी, जहाँ अन्य साजसज्जा के साथ पडी वे भी मोर्चा खाती रही। किन्तु, सन् १८८१ मे, चिहली प्रात के वाइसराय, ली हुंग-चांग, के दिलचस्पी लेने के कारण रोग शान-रेलवे लाइन खोल दी गयी। यह एक नये विकास का आरम्भ था, जो सन् १८९४ तक धीरे-धीरे चलता रहा और उसके उपरान्त उसका बढाव लगातार बहुत तीव्र गति से होने लगा। वास्तव में प्रारम्भ ही महत्त्वपूर्ण होता है। सचारसवहन के क्षेत्र मे एक और महत्त्वपूर्ण कदम सन् १८८२ में उठाया गया जब शंघाई से टीटसीन तक तार की लाइन खोल दी गयी। उसी दशक में इस प्रारम्भ के फलस्वरूप औद्योगिक विकास का मार्ग प्रशस्त हो गया। सन् १८७८ मे ली हुग-चांग ने काई पिगखानों मे काम शुरू कर दिया था, जिसके

फलस्वरूप टोगशान-रेलमार्ग खुला। सन् १८७३ मे पहला वाष्प-नौ-संचार सगठन स्थापित हुआ और इसमे ली हुग-चाग ही प्रेरक शक्ति रहे। कुछ समय बाद, सन् १८९० में, चाग चिह्-तुग ने हान याग लोहे का कारखाना खोला, जो कालान्तर मे चीन का अपने ढग का सबसे बडा कारखाना बन गया।

परिवर्तन की इच्छा के इन सकेतो का महत्त्व बहुत बढा-चढा कर नही समझना चाहिए। ये केवल सकेत मात्र थे और इनकी प्रेरणा एक छोटे से अधिकारी व कुलीन शिक्षित-वर्ग से ही आयी थी। अधिकारियो मे, उत्तर मे ली हुग-चाग और याग्त्सी क्षेत्र में चाग चिह्-तुग ही परिवर्तन की प्रेरक शक्ति थे। किन्तु अहलकारी समाज सामान्यत पहले की भाँति ही रूढिवादी तथा विदेशी प्रभाव से अछूता बना रहा। अधिकांशत, शिक्षित-वर्ग ने पश्चिमी ज्ञान के समावेश का विरोध ही किया, और वास्तव मे, सन् १८९४ तक भी "नया विचार" आम जनता तक पहुँचना भी शुरू नहीं हुआ था। यह समझा जाने लगा था कि चीन निर्बल है और इस कारण सकट मे है। किन्तु इस बोध से विदेशी सपर्क के समक्ष देश को सशक्त बनाने के लिए संस्थागत परिवर्तनों की आवश्यकता की समझ नही पैदा हुई। पश्चिमी प्रभाव राज्य के आर्थिक व सामाजिक सगठन मे परिलक्षित नही हुआ और चीन के सास्कृतिक जीवन में परिवर्तन लाने की दिशा मे उसका असर लगभग नगण्य ही रहा। राजनीतिक रीति व संगठन मे राजनयिक सपर्क की आवश्यकता के अनुरूप कुछ छोटे-मोटे परिवर्तन कर लिये गये और सधियो की शर्त को सारे देश में समान रूप से लागू करने की आवश्यकता की दृष्टि से केन्द्रीकरण की दिशा मे कुछ प्रयोगात्मक कदम भी उठाये गये। किन्तु पुनस्सगठन व परिवर्तन की जो तीव्र प्रगति इसी अवधि मे जापान में हुई, वह यहाँ चीन मे नही हो सकी।

इस अध्याय का अंत एक और बात की ओर ध्यान दिलाकर किया जा सकता है। ऊपर यह बताया गया है कि पश्चिम के राष्ट्रो की सैनिक शक्ति के सम्मुख चीन अपनी रक्षा मे असमर्थ था; आतरिक संघर्ष व फूट तथा व्यापक दुर्भिक्ष के कारण वह निर्बल हो चुका था और विदेशी शक्तियो को आक्रामक सैनिक काररवाई करने के उसने अनेक बहाने या अवसर प्रदान किये थे। इन तथ्यो को देखते हुए यह प्रश्न उठता है कि ये विदेशी शक्तियाँ उस प्रकार देश मे क्यो नही घुस गयीं जैसे भारत मे घुसी थी, और फ्रास अन्नम व टोंगकिंग में घुसा था व ब्रिटेन बर्मा में घुसा था। इसका विश्लेषण यह है कि एक तो ये विदेशी शक्तियाँ चीनी साम्राज्य की संभाव्य शक्ति का पूर्ण सम्मान करती थी, दूसरे उन्हे भय था कि यदि सोता हुआ चीनी भुजग कहीं बहुत झकझोर के जगा दिया गया तो वह अपनी शाति-हरनेवालों को नष्ट न

कर दे, और तीसरे सहयोग की नीति की पाबन्दियाँ उन पर लगी थी। यह समझ कर स्वय चीन को अछूता छोड दिया गया था और साम्राज्य को इतना नही उकसाया गया था कि वह अपनी रक्षा म एक होकर कोई कदम उठाये। तथा यह भी समझा जाता था कि आक्रमण का सयुक्त विरोध सफल होगा। इसके अतिरिक्त, चीन को उसके एकान्त से बाहर निकाल लाने के पक्ष मे तो तर्क दिये जा सकते थे; पर उसे विभाजित कर आत्मसात कर लेने की कोई सफाई नही हो सकती थी। फिर इसी के साथ यह डर भी था कि एक देश जितना लाभ उठायेगा दूसरे देश की उतनी ही हानि होगी, इस भय से सभी देश सयमित रहे। यह एक एशियाई देश ही था, जिसने चीनी साम्राज्य की वास्तविक असहाय स्थिति को प्रकट कर दिया और उसकी सभाव्य शक्ति का जो सम्मान था, उसे कम कर दिया।

सक्षेप मे कहा जा सकता है कि सन् १८९४ तक विदेशी सपर्क के लिए चीन के खुलने की प्रक्रिया प्रारम्भ हो गयी थी, और इस प्रक्रिया के विकास मे चीन पर दो महत्त्वपूर्ण संधि प्रतिबन्ध लग गये थे—एक तो रूढ सीमा-शुल्क का लगना और दूसरे सधि की राज्यक्षेत्रातीतता-प्रणाली का स्थापित होना, चीन की समुद्री सीमा-शुल्क-सेवा चीन सरकार की विदेशियो द्वारा सगठित व परिचालित सेवा थी, सुदूर स्थित चीन के आश्रित व अनेक करद क्षेत्र उससे छिन गये थे, जिन पर उसका नियत्रण वास्तविक न होकर नाममात्र का था, किन्तु पीकिंग द्वारा प्रशासित या शाही साम्राज्य द्वारा सीधे नियंत्रित क्षेत्रो पर विदेशी सपर्क से आँच नही आयी थी; अनेक सैनिक पराजयों तथा पश्चिम के देशों से समता के आधार पर सबध स्थापित होने के बावजूद चीनी "विदेशी बर्बरो" के समक्ष अपनी श्रेष्ठता की भावना को नही भूले थे, आतरिक विघटन की प्रक्रिया प्रारम्भ हो गयी थी, किन्तु अस्थायी रूप से उसे रोक लिया गया था, और अततः, पश्चिमी विचारों और रीतियो को अपनाने के लिए छोटे-मोटे प्रयोगात्मक प्रयास अवश्य हुए थे, किन्तु उनमें व्यापक दिलचस्पी पैदा नही हुई थी और संस्थागत सुधार या पुनस्सगठन की वांछनीयता की कोई आम स्वीकृति नही थी।

## चौथा अध्याय

# जापान का खुलना

## (१) सुदूर पूर्व के इतिहास में सन् १८९४ का महत्त्व

सुदूर पूर्व के इतिहास का उलझन भरा दुर्बोध प्रतिरूप सन् १८९४ के बाद ही प्रकट होना शुरू हुआ। चीन और उसके छोटे-से पडोसी, जापान के बीच हुए युद्ध से ही चीन की पूर्ण असहायावस्था स्पप्ट हुई और इसी से यूरोपीय शक्तियो मे यह आशा पनपने लगी कि शीघ्र ही चीन खण्ड-खण्ड होकर टूट जायगा और ये शक्तियाँ उसे आपस में बाँट लेगी। साथ ही, यह भी प्रकट हुआ कि एक पूर्वीय देश पश्चिमी सभ्यता के यांत्रिक व भौतिक तत्त्वो को अपने उपयोग मे लाने मे पूर्णरूपेण समर्थ है। सन् १८९४ तक जापान राष्ट्रों के आधुनिक समाज मे पूरी तरह शामिल होने के लिए परिवीक्षा की अपनी अवधि पूरी कर चुका था। सन् १८५३ से, जब पेरी योकोहामा की खाडी मे पहुँचा था, चीन-जापान युद्ध के अन्त तक की अवधि मे जापान का 'रूपान्तरण' पूरा हो चुका था। इस अवधि मे धीरे-धीरे जापान की राजनीतिक सस्थाओ ने वह रूप प्राप्त कर लिया था, जो थोडे-बहुत सशोधनो के साथ सन् १९३७ तक कायम रहा, और उसकी आर्थिक व सामाजिक सस्थाओ का आधुनिक आकार-प्रकार स्पष्ट होने लगा। साथ ही, इसका भी आभास मिला कि अपने विकास के अवसर पाने पर भविष्य मे जापान की नीतियाँ क्या होगी।

इतने कम वर्षों मे जापान का एक आधुनिक शक्ति के रूप में उदय तथा बाद में रूस के साथ हुए युद्ध में उसकी सैनिक निष्पत्तियाँ, वास्तव मे, उसके आधुनिकीकरण या पश्चिमीकरण का फल नही थी और न देश के जीवन मे किसी क्रांतिकारी रूपान्तरण का ही फल थीं। उसकी ये निष्पत्तियाँ सभव हुई, क्योकि जापान के पश्चिमी सपर्क के लिए खुलने के बाद के वर्षो की घटनाओ व परिवर्तनो से जापान मे धीरे-धीरे पुरानी की जगह नयी व्यवस्था आती गयी। आधुनिक जापान प्रत्यावर्त्तन-पूर्व जापान का तर्कसगत विकसित रूप ही था। इस सत्य से प्रकट है कि प्राचीन जापान की सम्यक् जानकारी से ही आधुनिक जापान समझा जा सकता है।

## (२) देश और लोग

प्रत्यावर्त्तन-पूर्व जापान का क्षेत्र उत्तर मे कामचाटका से लेकर दक्षिण मे फारमोसा तक विस्तृत द्वीप श्रृंखला का सबसे बड़ा समूह था। सखालीन का जापान को

पता तो था, पर न तो उस पर जापान का आधिपत्य ही था और न वह उस पर सक्रिय प्रशासन ही करता था, और यही बात कुराइल द्वीपो पर भी लागू थी, जो सखालीन से पृथक् और येजो (हकाइडो) से कामचाटका पहुंचने की सीढ़ियों की भांति थे। चूँकि लू चू द्वीपवासी बीच-बीच मे जापान को कर भेजते रहे थे, जापान का उन पर अधिराजत्व का ऐतिहासिक दावा अवश्य था, किन्तु इसी आधार पर उन चीन के दावे के कारण जापान का दावा कुछ कमजोर पडता था। लू चू द्वीपसमूह जापान और फारमोसा के बीच सबध स्थापित करते थे और फारमोसा निश्चित रूप से चीन के अधीन था।

मानचित्र देखने भर से एशिया के मुख्य महाद्वीप के सदर्भ मे जापान की स्थिति स्पष्ट हो जाती है। एक सकीर्ण जलडमरूमध्य जापान को मुख्य एशिया भूखण्ड पर स्थित कोरिया अतरीप से पृथक् करता है। यहाँ भी त्सुशीमा द्वीप एक सीढी के रूप मे विद्यमान है। उस भौगोलिक सबध से जापान के महाद्वीप में प्राचीन व अर्वाचीन दिलचस्पी स्पष्ट हो जाती है। कोरिया, और सभवत सखालीन होते हुए वे कुछ जातितत्त्व जापान आये, जो दक्षिण के तत्त्वो से मिलकर आधुनिक जापानी बने। कोरिया से, और सीधे चीन से, जापान को अपनी प्राचीन सस्कृति मिली। धार्मिक विचार, कला, साहित्य, अनेक शिल्प—सभी पर कोरिया के नैकट्य की छाप है। आधुनिक युग से पूर्व जापान की स्वाधीनता के लिए जो सबसे बड़ा सकट आया था, वह तब जब मगोलो ने चीन और कोरिया पर अपना प्रभुत्व जमा लिया था; और, आरम्भिक काल मे जापान ने जो एकमात्र बाह्य प्रसार का व्यापक प्रयास किया वह कोरिया के विरुद्ध और कुछ समय के लिए चीन उसका अतिम लक्ष्य भी रहा।

जापानी रुधिर मे महाद्वीप से आये तत्त्वो के अतिरिक्त मलाया से आये रुधिर का भी एक स्पष्ट असदिग्ध तत्व है, जो उस देश के दक्षिणी व पूर्वी तटों से होकर बहनेवाली दक्षिणी "काली धारा" द्वारा जापानी द्वीपपुंज तक पहुँचा होगा। इन बाहरी लोगो ने जापान के आदिवासी आइनू लोगों को सबसे उत्तर के द्वीप होका-इडो तक खदेड़ दिया।

यह काली धारा जापान के दक्षिणी व पूर्वी भागो की जलवायु को समशीतोष्ण बना कर वरदान बन गयी है, उसी तरह जैसे दक्षिणी-पूर्वी अमरीका के लिए खाडी धारा (गल्फ स्ट्रीम) वरदान है। दुर्भाग्यवश, देश को मुख्यत: ज्वालामुखी-जनित अत्यधिक पहाड़ी स्वरूप होने के कारण यह धारा पूरे देश की जलवायु पर प्रभाव नहीं डाल पाती। अनेक पर्वत-श्रेणियाँ देश को छोटी-छोटी घाटियों मे विभाजित करती है, जब सचार व आवागमन के साधन अविकसित थे, ये घाटियाँ एक दूसरे

से बिल्कुल अलग थी। आधुनिक युग से पूर्व के जापानी इतिहास मे इस तथ्य के महत्त्वपूर्ण राजनीतिक निष्कर्ष हुए।

जापान के विकास मे ऐसी नदियो का अभाव भी बाधक हुआ, जिनमे नौ-सचरण हो सकता है। वहाँ अनेक छोटी, उद्दाम नदियाँ है, किन्तु उनमे से न तो कोई काफी लम्बी ही है और न उद्योग या व्यापार की दृष्टि से महत्त्वपूर्ण ही। किन्तु, विकास के मार्ग की यह बाधा एक अन्य रूप मे प्रभावहीन हो गयी, जापानी द्वीप-पुज के सभी द्वीप लम्बे, सँकरे है और इन द्वीपो की सख्या बहुत बडी है और उनमे अनेक सुन्दर बन्दरगाह है, इससे नावो और जहाजो द्वारा समुद्री व्यापार देश के लगभग हर भाग मे पहुँच जाता है।

भौगोलिक विवरण से हट कर जापान के लोगो पर ध्यान देने से पता चलता है कि सातवी शताब्दी से पहले जापान मे पितृसत्तात्मक आधार पर बने अनेक कुल या कबीले बसे हुए थे। यद्यपि वहाँ एक सम्राट् होता था, जो समस्त द्वीपो पर नाममात्र को शासन करता था, वस्तुत वह केवल सबसे अधिक शक्तिशाली कबीला-सरदार मात्र होता था। उसके कबीले की शक्ति बढने-घटने के साथ सम्राट् का नियंत्रण भी बढता-घटता रहता था। इस परिस्थिति मे सबसे सशक्त प्रवृत्ति विकेन्द्रीकरण की ही होती थी।

विकेन्द्रीकरण की प्रवृत्ति रोक कर स्थिति सुधारने के लिए सन् ६४५ मे शासन-प्रणाली मे सुधार (तैकवा) किये गये। वास्तव मे ये सुधार चीनी प्रशासन-प्रणाली को जापानी परिस्थितियो के अनुरूप ढाल कर उसे चालू कर देने की दिशा मे ही थे। जापानी समाज मुख्यत: दो भागो मे विभाजित था—शासक और शासित। शासकवर्गो मे उच्च नागरिक अधिकारियों का अहलकारी समाज आता था; ये अधिकारी नियुक्त किये जाते थे। इस अहलकारी समाज मे असख्य स्थानीय अधिकारी, जिला तथा प्रान्त स्तर के अधिकारी व प्रान्तीय राज्यपाल आते थे। आठवी व बारहवी शताब्दियो के बीच नागरिक सेवाओ के वे पद, जिन पर नियुक्तियाँ होती थी, धीरे-धीरे, पैतृक या वशानुगत हो गये और इस प्रकार वहाँ का शासन वर्ग-आधार पर होने लगा। इस वंशानुगत नागरिक अहलकारी समाज को भरण-पोषण के लिए चावल उपजाने वाली जमीनें मिलती थी और जब तक व्यक्ति उस पद पर रहता था, जमीन उसी के पास रहती थी। शेष उपजाऊ भूमि दूसरे वर्ग, शासित वर्ग मे बँटती थी और सिद्धान्तत कुछ अवधि के बाद इस भूमि का नये सिरे से बँटवारा होता था। अच्छी भूमि पर कर लगता था, किन्तु, अहलकारों को मिली भूमि करमुक्त होती थी।

केवल चावल उपजाने वाली भूमि का ही इस प्रकार बँटवारा होता था, शेष भूमि पर उनका अधिकार होता था, जो उसे पूर्वक्रय कर सकते थे, उपयोग मे ला सकते थे और उस पर कब्जा रख सकते थे। फलत, धीरे-धीरे अहलकारी वर्ग तथा अन्य लोगो ने बडी-बडी खेतियाँ बना ली। चूँकि कर केवल चावल वाली भूमि पर लगता था, सरकार के खर्च बढने के साथ कर का बोझ भी बढता गया। यह बोझ बढे बिना भी कुछ लोगों को मिली भूमि उन्हे अलाभकर लगती थी और भूमि पर अधिकार कायम रखना घाटे का सोदा लगता था। इन्हे कदाचित् सीमान्त उत्पादक कहना उचित होगा, वे भूमि से इतना उत्पादन नही कर पाते थे कि उस पर निर्वाह भी कर ले और सरकारी देय भी अदा कर दे। ये लोग या तो भूमि खाली कर देते थे, ताकि उसे शासनाधिकारी पूर्वक्रय कर दे या फिर वे अपनी भूमि शासक वर्ग को इस शर्त पर दे देते थे कि उस भूमि पर जाब्ते का अधिकार उनका ही बना रहेगा। जब यह भूमि अहलकारी या शासक वर्ग के हाथों मे पहुँच जाती थी तब वह करमुक्त हो जाती थी। इसका अर्थ यह होता था कि शेष चावल भूमि पर कर-भार बढ जाता था, क्योंकि राज्य का भाग तो पूरा होना ही होता था, इस प्रकार फिर सीमान्त उत्पादको का नया वर्ग उत्पन्न हो जाता था, जो उतना कर नही दे पाता था। जैसे-जैसे यह प्रक्रिया चलती गयी, और साथ ही अविभाजित भूमि से बडी-बड़ी खेतियाँ बनती गयी, प्रचुर साधनो वाले भू-स्वामियों का एक नया वर्ग बनता गया। साथ ही, केन्द्रीय शासन के साधन कम होते गये और फलत, भूस्वामियो का कुलीन वर्ग सम्राट् तथा केन्द्रीय शासन से अधिक सशक्त होते गये।

इस प्रक्रिया का एक फल यह हुआ कि धीरे-धीरे एक सैनिक वर्ग का जन्म हो गया। जो लोग भूमि छोडते थे, वे अपने निर्वाह के लिए अपनी व्यक्तिगत सेवाएँ उन लोगो को अर्पित कर देते थे, जो बडी-बड़ी खेतियाँ बनाते जाते थे। इस भू-स्वामि-वर्ग की जिघृक्षु प्रवृत्ति विकसित हुई तो वे बड़े अमले नौकर रखने लगे, एक तो जो भूमि उनके पास होती थी, उसकी रक्षा के लिए और दूसरे, बलपूर्वक और भूमि पर अधिकार करने के लिए। रक्षा की आवश्यकता भी दो प्रकार की होती थी—एक तो विभिन्न कुलों या कबीलो के भू-स्वामियों मे स्वयं ही सघर्ष उत्पन्न होते रहते थे, दूसरे, केन्द्रीय शासन के हाथों अपने साधन छिन जाने से अपनी रक्षा करनी होती थी।

प्राचीन विशुद्ध पितृसत्तात्मक समाज के आधार पर विदेश से लायी गयी केन्द्रीकरण की शासन-प्रणाली चलाने के प्रयास से पैदा इस सामन्ती सगठन में धीरे-

धीरे दो भिन्न शासकवर्ग पैदा हो गये—एक नागरिक अहलकारी वर्ग और दूसरा सैनिक कुलीन वर्ग। नागरिक अहलकारी वर्ग ने अतत सम्राट् व केन्द्रीय शासन पर नियत्रण प्राप्त कर लिया, दूसरा वर्ग क्षेत्रीय या प्रान्तीय बना रहा। केन्द्रीय शासन के साधन कम हो जाने पर प्रान्तो मे शासन के लिए जो राज्यपाल नियुक्ति पाकर वहाँ जाते थे, उनका प्रभावकारी नियत्रण तभी सभव हो पाता था, जब सैनिक वर्ग की सहायता उन्हे प्राप्त होती थी—कालान्तर मे राजधानी के बाहर सैन्य-शक्ति ही एकमात्र सत्ता बन गयी। बारहवी शताब्दी के अत तक शासन-सत्ता का यह हस्तातरण पूरा हो चुका था और इसके साथ पितृसत्तात्मक की जगह सामन्ती आधार पर सत्ता का विकेन्द्रीकरण भी हो चुका था। तेरहवी शताब्दी से सोलहवी शताब्दी के अंत तक जापान का आतरिक इतिहास सबसे अधिक बलशाली सामन्ती सरदारो के निर्देशन मे देश को एकता के सूत्रो मे बाँधने के प्रयासो का इतिहास है, ये सरदार सम्राट् पर नियत्रण के भी प्रयत्न किया करते थे। सन् ११९२ के बाद सम्राट् एक के बाद दूसरे दाइम्यो या सामन्ती सरदार के हाथो की कठपुतली बने रहने लगे। सम्राट् को अपने पद से कभी हटाया नही गया, किन्तु वह सफल दाइम्यो को शोगुन का पद और उपाधि देने को बाध्य थे, शोगुन का अर्थ था——बर्बरो का दमन करने वाला सेना का सर्वोच्च समादेशक। उसी समय से जापान की सरकार का स्वरूप सैनिक बन गया।

शोगुन-प्रणाली से शासन एक कुल से दूसरे कुल मे पहुँचता रहा, किन्तु अतत एक ऐसा व्यक्ति शोगुन बना जो सेना के अतिरिक्त अन्य साधनो से अपनी शक्ति सगठित कर सका और उसे कायम रख सका। जापान के सामरिक इतिहास मे ख्यातिप्राप्त हिडेयोशी सोलहवी शताब्दी के अंत मे कोरिया व चीनी साम्राज्य के दमन का असफल प्रयास करता हुआ मरा और उसके समर्थको मे से एक, इयीयासु, के हाथ शासन-सत्ता आयी। सन् १६०३ मे सम्राट् ने उसे शोगुन नियुक्त कर दिया। इयीयासू तोकूगावा शोगुनो की उस लम्बी शृखला मे पहला था, जिसने सन् १८६७ मे सम्राट् के प्रत्यावर्त्तन तक जापान पर लगातार शासन किया। ढाई सौ वर्ष से अधिक की इस लम्बी अवधि तक एक ही कुल का शासन सभव हुआ। उस प्रशासन-प्रणाली के विकास के फलस्वरूप, जिसमे इयीयासू व उसके उत्तराधिकारियो से कम क्षमता वाले सम्राट् की निर्बलता तोकूगावा-शासन का नैरन्तर्य निश्चित हो गया। सन् १८५३ मे यूरोपीयो को जापान मे वही शासन-प्रणाली मिली, जो सत्रहवी शताब्दी मे कायम हुई थी; उसमें सिर्फ छोटे-मोटे परिवर्तन ही हुए थे।

## (३) प्रत्यावर्त्तन-पूर्व राजनीतिक प्रणाली

राज्य के शिखर पर सम्राट् होता था। सिद्धान्तत वह भौतिक और आध्यात्मिक दोनो प्रकार का शासक था, किन्तु जैसा कि ऊपर बताया जा चुका है, बारहवी शताब्दी के बाद से वह नाममात्र का शासक होता था, प्रशासन पर नियंत्रणहीन शासक। क्योटो मे वह ख्यातिहीन एकान्त मे, दरबार के कुलीनो (कूगे) से घिरा रहता था। इसी ख्यातिहीनता और उपपत्नियाँ या रखैले रखने और बालको को गोद लेने की प्रथाओ के फलस्वरूप प्राचीन काल से एक ही वश के सम्राट् होते आये थे, गोद लेने की प्रथा के फलस्वरूप सिहासन का उत्तराधिकारी मिलता ही रहता था।

वास्तविक सत्ता शोगुन या शोगुन-सस्था में निहित थी। शोगुन सदैव अपनी नियुक्ति या मानाभिषेक सम्राट् से करवाता था, जिससे सम्राट् के नाम से शासन करने की कल्पना बनी रह। स ् १६०३ मे सत्ता प्राप्त करने पर तोकूगावा-कुल ने अपने विरोधियो की भूमि अपने अनुयायियो व समर्थको मे बाँट दी। जो क्षेत्राधिपति या भू-स्वामी तोकूगावा की श्रेष्ठता स्वीकार करते थे, उन्हे अपने क्षेत्र का स्वामी बना रहने दिया जाता था, किन्तु उनमे जो बलशाली थे, उनके क्षेत्रो के बीच मे तोकूगावा-कुल के लोगो या उनके सामन्ती अनुयायियो द्वारा शासित क्षेत्र बना दिये जाते थे और इस प्रकार ये सशक्त भू-स्वामी एक-दूसरे से अलग रखे जाते थे। इससे शोगुन विद्रोह की आशका से मुक्त हो गये थे। इसके अतिरिक्त, सामन्ती सरदार (दाइम्यो) हर वर्ष के कुछ समय के लिए येडो मे रहने के लिए बाध्य थे, जहाँ शोगुन की राजधानी थी, वर्ष के शेष समय इन सरदारो के अपने परिवार येडो मे ही रहते थे, जिससे सरदारो के सद्व्यवहार व निरतर भक्ति के लिए ये परिवार एक प्रकार से बन्धक रहते थे। व्यवहारत. दाइम्यो दो भागो में विभाजित थे—एक तो वशगत पराधीन (फूदाई), अर्थात् वे लोग जो तोकूगावा के सत्ता प्राप्त करने के सघर्ष मे सदैव उनके समर्थक रहे थे और दूसरे, 'तोआमा' या "बाहरी स्वामी" जिनके आधिपत्य मे लगभग आधा जापान था। इन बाहरी स्वामियो को एक-दूसरे से सश्रय करने की अनुमति नही थी। इसके अतिरिक्त 'फूट डालो और शासन करो' सिद्धात के अनुरूप शोगुन सशक्त कुलो को आपस मे लड़ाते रहते थे, ताकि ये षड्यत्र कर उनसे सत्ता न छीन लें। परम्परागत कुल-शत्रुताएँ—अन्तर-कुल-युद्ध के वर्ष की धरोहरे—समाप्त नही होने दी जाती थी; फलतः वे कुल, जो हृदय से तोकूगावा-शासन जारी रहने के विरुद्ध थे, एक दूसरे से इतनी शत्रुता रखते थे कि तोकूगावा के विरुद्ध उनके संगठित होने की सभावना

नहीं थी, यदि इन बाहरी स्वामियो को आपसी सश्रय की अनुमति भी होती तो भी वे सगठित न हो पाते।

तोकूगावा-कुल के प्रथम तीन शोगुनो—इयीयासू, हिडेटाडा व इयीमित्सू—के उपरान्त इस कुल के शोगुनो ने व्यक्तिगत रूप से स्वय देश पर शासन नही किया। यदि सम्राट् कठपुतली थे तो शोगुन भी अत्यधिक व्यक्तिगत सत्ता रखने की स्थिति मे नही थे। उनकी सत्ता एक प्रकार के आयोग मे निहित थी और बहुधा वह उच्च या निम्न परिषदो के हाथो की कठपुतली होते थे। और पार्षद् नीचे के अधिकारियो के वास्तविक नियंत्रण मे होते थे। वास्तविक स्थिति का वर्णन प्रोफेसर गबिन्स ने इस प्रकार किया है[1]—

जापान के पूरे इतिहास मे लगातार शासन की वह प्रणाली दृष्टिगोचर होती है, जो और अधिक उपयुक्त नाम के अभाव मे 'नाममात्र के प्रधान-प्रणाली' कही जा सकती है, यह प्रणाली जापान के सामाजिक और राजनीतिक विचारो का ही स्वाभाविक निष्कर्ष है। वास्तविक व नाममात्र की सामाजिक या राजनीतिक सत्ता लगभग कभी भी मिलती नही दिखायी देती। समाज की इकाई परिवार है; हमारी प्रणाली मे जिस प्रकार व्यक्ति इकाई होता है, वैसा यहाँ नही है, परिवार का नाममात्र का नियत्रण परिवार का प्रधान एक व्यक्ति करता है। किन्तु व्यवहार मे अधिकाशत यह व्यक्ति नाममात्र को ही प्रधान होता है, वास्तविक सत्ता सबधियो के उस समूह मे निहित होती है जो परिवार-परिषद् मे होते हे।

जैसा कि कहा जा चुका है सत्ता की यह स्थिति शोगुन के कार्यालय और शाही दरबार मे भी थी और छोटे परिवार-समूहो के नियत्रण मे भी।

सैद्धान्तिक रूप से शोगुन के बाद सबसे अधिक महत्त्व क्षेत्रीय कुलीनो, दाइम्यो, का होता था। सामन्ती स्वामियो के रूप मे वे जापान के उप-भागो पर अपने-अपने क्षेत्रो मे शासन करते थे। वास्तव में वे अपने-अपने कुल के मुखिया या प्रधान होते थे। उनकी स्थिति व सत्ता को बल मिलता था सामुराइ से, प्राचीन जापान के योद्धा वर्ग से। किन्तु यहाँ भी नाममात्र के शासन की प्रणाली चलती थी, क्योंकि, "दो-एक अपवादो को छोड़कर दाइम्यो स्वय अपने-आप अपनी जागीरो के प्रशासन का काम नही करते थे। यह प्रशासन कारिन्दो के समूहो पर छोड़ दिया जाता था, जो कारो कहलाते थे और अपने-अपने कुलो से वशानुगत नियुक्तियाँ पाते रहते थे।"[2] इस प्रकार, जब पैरी जापान पहुँचा असली प्रशासन ऐसे व्यक्तियों के हाथों में जा पहुँचा था, जिन्हे विभिन्न कुलो का 'व्यवसाय सामुराइ' कहा जा सकता था।

जैसा कि कहा जा चुका है सामुराइ देश का योद्धा वर्ग था। सैनिको के रूप मे

कभी-कभी उन्हें देश या अपने-अपने स्वामियो के हितो की रक्षा के लिए युद्ध मे जाना होता था, शेष समय जनता उन्हे खाली बैठाकर उनका भरण-पोषण करती थी। सन् १८५३ तक सामुराइ बहुत अधिक विशेष अधिकारो व सुविधाओ वाला वर्ग बन चुका था, क्योंकि अपनी शक्ति और सत्ता सगठित करने के बाद तोकूगावा कुल ने जापान मे भीतरी व बाहरी शाति स्थापित की थी और इस प्रकार सामुराइ की विशिष्ट योग्यताओ तथा प्रशिक्षण पर अनावश्यक रूप से अधिक निर्भरता होने लगी थी।

तोकूगावा काल से पहले जापान की अर्थ-व्यवस्था चावल की अर्थ-व्यवस्था थी। दाइम्यो, सामुराइ व अन्य वर्गों की आय वहाँ प्रचलित सिक्को मे नही, चावल के परिमाण से नापी जाती थी। "धन-सम्पत्ति का माप चावल था, क्योकि भोजन व विनिमय दोनो का सबसे अधिक महत्त्व का साधन चावल ही था।"[३] शासक-वर्ग (और शाति के समय फुरसत का वर्ग) की हैसियत से दाइम्यो व सामुराइ किसानो की मेहनत पर पलते थे। यद्यपि इस प्रकार की कहावते प्रचलित थी कि "एक किसान दो सामुराइ के बराबर है और तीन भिखारी चार नगर-निवासियों के बराबर है", वास्तव मे, "ये कहावते प्राचीन रीति-रिवाज के अवशेष मात्र थी, तथ्य तो यह है कि किसान के साथ ऐसा व्यवहार होता था मानो वह सामुराइ के हडपने के लिए चावल पैदा करने का यत्र हो। राजनीतिज्ञ खेती के संबध में बडे ऊँचे विचार रखते थे, खेतिहर किसानो के सबध मे नही।"[४]

तोकूगावा शोगुनों के शासन मे शाति और स्थायित्व का जो युग आया, उसमें द्रव्य अर्थ-व्यवस्था ने चावल अर्थ-व्यवस्था का स्थान लेना शुरू कर दिया और समृद्धि के माप और विनिमय के साधन के रूप मे चावल का उपयोग कम होने लगा। "जैसे-जैसे धातु द्रव्य जनता के आर्थिक जीवन मे प्रवेश पाने लगा विनिमय के माध्यम के रूप मे चावल का उपयोग कम होने लगा और सत्रहवी शताब्दी के अंत तक पहुँचते-पहुँचते चावल का यह प्रयोग पूर्णत लुप्त हो गया।"[५] इसके साथ ही, तोकूगावा शासन मे नगरो के जीवन का महत्त्व बहुत बढ गया। येडो, सकाइ, क्योटो, ओसाका और नागासाकी जैसे नगरो मे जीवन का जो विलासमय ढंग पनपा, उसे निबाहने के लिए तथा महल, दुर्ग व मंदिर-निर्माण के लिए शोगुनो को अधिक आय की जो भारी आवश्यकताएँ हुई, उन्हें पूरा करने के लिए चावल-आय का द्रव्य-आय मे परिवर्तन आवश्यक हो गया। इस सक्रमण ने नगरो के 'सेवा' वर्गों व व्यापारियों को एक नया महत्त्व प्रदान किया, इन वर्गों की समृद्धि तेजी से बढ़ी और उसके साथ इनकी शक्ति भी बढ़ी, यद्यपि सिद्धान्तत, उनका सामाजिक स्तर अब भी किसानों और सामुराइ से नीचे था। बढती हुई माँगो के कारण उच्चवर्ग अपनी चावल-

आय से अधिक खर्च करने लगे, यह आय प्राकृतिक कारणों व चावल के दलालो की सट्टेबाजी के कारण घटती-बढती रहती थी। फलतः, ये लोग व्यापारियो के कर्जदार हो गये और कुछ तो आगे आने वाले अनेक वर्षो की आय बन्धक रख बैठे। इन ऋणों का लाभ उठाकर व्यापारियों ने सामुराइ-परिवारो मे अपने बेटो को गोद बैठा कर व शादी-विवाह द्वारा अपना सामाजिक स्तर ऊँचा करना शुरू कर दिया। इस प्रकार वर्ग-विभाजन की सीमा-रेखाएँ धुँधली पडने लगी, जो शोगुन नियमो मे परिलक्षित नही हो रही थी। अट्ठारहवी शताब्दी के आरम्भ मे ही व्यापारी "राज्य के सबसे सबल और साहसी तत्त्वो मे से एक बन चुके थे और सैनिक जाति का प्रभाव धीरे-धीरे कम हो रहा था।"[६] किन्तु, एक वर्ग की जगह दूसरे वर्ग का प्रभाव बढने के साथ व्यापारी व सामुराई वर्गो का सम्मिश्रण ही चरम महत्त्व का था, जिसके फलस्वरूप "धीरे-धीरे किन्तु अदम्य गति से क्रान्ति आयी, जिसने सामन्ती शासन को छिन्न-भिन्न कर दिया और दो सौ वर्ष के एकान्त के बाद विदेशों से सपर्क को फिर से चालू कर दिया। जापान का द्वार उन्मुक्त हुआ किसी बाहरी आदेश से नही वरन् भीतरी विस्फोट से।"[७]

## (४) जापानी समाज व संस्कृति

आधुनिक युग से पूर्व के चीन और प्राचीन जापान की सस्कृति व सामाजिक सगठन मे अनेक समान और विपरीत दोनो ही लक्षण मिलते हैं। आधुनिक युग के प्रारम्भ में दोनो ही देशो की अपनी विशिष्ट सस्कृति थी। जापानी सस्कृति पर महाद्वीप का बड़ा प्रबल प्रभाव था, किन्तु वह केवल संस्कृति का आयात मात्र न थी। उदाहरणार्थ, दोनों देशो में बौद्ध धर्म का प्रचार हुआ, जापान मे चीन के माध्यम से। किन्तु दोनो ने इस भारतीय धर्मप्रणाली को अपने-अपने ढंग से ग्रहण किया, फलतः, चीन के ईश्वरीय साम्राज्य मे जो बौद्धधर्म प्रचलित था, वह जापानी धर्म-विश्वासों व रीतियों से बहुत भिन्न था। जापान मे बौद्धधर्म आरम्भ में ही आया, अशतः वह आत्मसात कर लिया गया, अशत उसने स्थानीय धर्म शिन्तो-वाद (देवताओं का मार्ग) की जगह ले ली और अशत शिन्तोवाद अछूता बच गया। दूसरी ओर उच्चवर्गों में बौद्धधर्म की जगह अशत कन्फूशियसवादी दार्शनिको ने ले ली; तोकूगावा शोगुन कन्फूशियस के ग्रथों के अध्ययन को प्रोत्साहित करते थे। किन्तु शासक स्वय बौद्धधर्म के भी सरक्षक थे और उन्होने येडो (टोकियो) के उत्तर के क्षेत्र में अनेक मदिर बनवाये और धर्मादा-सस्थापनाएँ की। सामान्य जनता मे बौद्धधर्म ही चलता रहा, कन्फूशियसवाद का उस पर कोई प्रभाव नही हुआ। इन धार्मिक विश्वासों के आगमन से जापान पर चीनी संस्कृति का प्रभुत्व नहीं हुआ।

जैसा कि बताया जा चुका है, चीन मे शिक्षा और ज्ञान का उच्चतम स्थान था; शिक्षित लोगो का एक अलग स्पष्ट वर्ग था, जो देश में सबसे अधिक सम्मानित व प्रतिष्ठित था और उसी वर्ग से अधिकारियों का चयन होता था। जापान मे भी शिक्षा व ज्ञान का सम्मान था, किन्तु वहाँ युद्ध कौशल का भी उतना ही सम्मान था। तोकूगावा-कुल के दीर्घकालीन शासन से स्थापित शांति व व्यवस्था मे पहले की शताब्दियो मे ज्ञान अधिकाशत बौद्ध पुरोहितो मे ही सीमित था। किन्तु सत्रहवी से उन्नीसवी शताब्दी के मध्य तक आतरिक युद्धो के अभाव मे, सामुराइ-वर्ग ने युद्ध-कौशल के साथ ज्ञान-सचय भी शुरू किया और सामुराइ शिक्षित वर्ग बन गया। कन्फूशियस के शास्त्रीय ग्रथो का ज्ञान भी सामुराइ के लिए वैसा ही उपकरण बन गया जैसा कि तलवार चलाने की कुशलता थी। चीन की स्थिति से, जहाँ शिक्षित वर्ग सैन्य लाघव मे बिलकुल कोरा था, जापान का यह निश्चित विपर्य्यय काफी दिलचस्प है। दोनो समाजो मे, विशेषकर उच्च वर्गो मे, दैनिक जीवन मे, विनय, शिष्टाचार और औपचारिकता पर बहुत जोर दिया जाता था। यहाँ जापान सभवत चीन से बाजी मार ले गया था और उन बातो के लिए भी औपचारिक रीति-रिवाज बना लिये थे, जो पश्चिमी विदेशियों को दैनिक जीवन की सामान्य बाते लगती थी। जापानी जीवन की औपचारिकता के सबध मे जिस बात ने काफी ख्याति पायी है, वह है चाय-सबधी अनकानेक रीति-रिवाज।

दोनो साम्राज्यो मे सिद्धान्तत कृषक-वर्ग का सामाजिक महत्त्व सबसे अधिक नही तो दूसरे स्थान पर अवश्य ही था। जापान मे चावल और रेशम-उत्पादन ग्रामीण जीवन की सबसे अधिक विकसित क्रियाएँ थी, यद्यपि ऊँची भूमि पर गेहूँ व जौ भी उगाये जाते थे, और बहुधा चावल के बाद दूसरी फसल की तरह पैदा किये जाते थे, और अनेक तरह की साग-सब्जियाँ भी पैदा की जाती थी। जापान की अर्थ-व्यवस्था मे चाय के पौधे का भी महत्त्वपूर्ण स्थान था।

जापान मे खेत छोटे-छोटे थे, जैसा कि अधिकाशत. चीन मे भी था, और अति सघन खेती होती थी, सघन खेती करने मे चीनी भी जापानी कृषक का मुकाबला नही कर पाते थे। आवश्यकता ने चीनियो की भाँति जापानियो को भी सभी कूड़ा-करकट को खाद के रूप मे इस्तेमाल करना सिखा दिया था।

जापानी भोजन मे चावल का जो महत्त्व व स्थान था, लगभग वही मछली का भी था। जहाँ दक्षिण से आने वाली गर्म काली धारा उत्तर से आने वाली ठडी कामचाटका-धारा से जापान के तट के पास मिलती थी, वही मछली पकड़ने का भारी उद्योग बन गया था, क्योंकि मछलियो के रहने के लिए वह बहुत उपयुक्त स्थान था। इस प्रकार जापान की श्रमिक जनता के लिए मछली मारना एक बड़ा धन्धा बन गया।

किसानों के बाद शिल्पकारों का वर्ग आता था; इसी मे कलाकार भी शामिल किये जा सकते थे, जो वास्तव में सबसे बढिया और आत्म-सम्मान वाले शिल्पी होते थे। विकास की उस मजिल मे अन्य देशों की भाँति जापान भी उद्योग-श्रेणियो में सगठित था, किन्तु जापानी श्रेणियों मे न तो वह शक्ति ही विकसित हो पायी, जो चीनी श्रेणियो में आ गयी थी और न चीनी श्रेणियों की भाँति उनमे शिल्प-कौशल व व्यापार की ईमानदारी ही पनप पायी। व्यक्ति-स्तर पर जापानी कारीगरो का कौशल ऊँचे दर्जे का था और उन्होंने अधिक कलात्मक दिशा मे अत्युत्तम काम किया, किन्तु वे प्राचीन जापान के कलाकारो की श्रेणी में ही आते थे, साधारण शिल्पियो मे नही और कुशलता का अपना स्तर वे अन्य सामान्य कारीगरो मे नही ला पाये। व्यक्ति के रूप मे उनकी बड़ी प्रतिष्ठा थी, किन्तु जिस वर्ग या समूह के वे भाग थे, उसका अपेक्षया कम सम्मान था। कुछ अन्त्यजों के समूहो को छोड दे, तो व्यापारी सामाजिक रूप से सबसे निम्न स्तर पर थे।[८] सामाजिक स्तर पर शिक्षा व युद्ध कौशल को वरीयता और औद्योगिक व व्यवसायिक-वर्गों को अपेक्षया निचला स्तर मिलने का आधुनिक जापान के विकास के संदर्भ मे बडा महत्त्व है। सामुराइ-वर्ग की अपनी आचार-व्यवहार-संहिता थी और स्वयं वह उसका पालन करता था; व्यावसायिक समुदाय-व्यवहार के ऐसे अपने मानदण्ड स्थापित करने मे असफल रहा। फलतः आधुनिक जापानी व्यवसाय को अपनी आचारनीति निर्माण के प्रयास मे विश्वव्यापी बदनामी के युग से गुजरना पड़ा, जबकि जापान के स्थल व नौ-सैनिको, तथा किसी हद तक अधिकारियों, का व्यवहार-आचार दुनिया के अन्य सैनिको की अपेक्षा अधिक अच्छा रहा।

आधुनिक युग के पूर्व के जापानी समाज का यह संक्षिप्त विवरण वहाँ प्रचलित सौंदर्य-बोध के वर्णन बिना अधूरा रह जायगा। निम्न और उच्च, दोनो वर्ग सौन्दर्य-प्रेमी थे और ये प्रेम उनके पर्यावरण मे उगा और पनपा था। जैसा कि बताया जा चुका है, उच्च वर्ग के दैनिक जीवन में शिष्टाचार परिष्कृत होकर सुन्दरता की सीमा पर पहुँच गया था। सुन्दर परिवेषणो मे सुन्दर और कलापूर्ण देवगृहो व मंदिरो के निर्माण व रख-रखाव में बहुत श्रम और धन लगाये गये थे और निक्को, नारा व क्योटो के मंदिर संभवतः इसके सबसे प्रख्यात उदाहरण थे। सबसे बड़े त्योहार प्रकृति के ऋतु-सौंदर्य के समारोह मनाने के लिए होते थे और लोग काफी दूर फलो-फूलों के वृक्षों को पुष्पित-पल्लवित होते देखने जाते थे। लोग बाग लगाने मे बड़ी दिलचस्पी लेते थे और जमीन के छोटे-छोटे टुकड़ों में भी प्राकृतिक दृश्यों की अनुकृति बनाने की कोशिश करते थे और अक्सर बड़े चमत्कारपूर्ण प्रभाव पैदा कर लेते थे।

इस सौंदर्य-प्रेम ने जापानी जनता के चरित्र व स्वभाव, उद्योग व जीवन-यापन के ढग, सब पर महत्त्वपूर्ण और अमिट छाप डाली थी। उदाहरणार्थ, उद्योग के क्षेत्र में यह सौन्दर्य-प्रेम मीनाकारी, पच्चीकारी, वारनिश और सुन्दर चित्रो से सुसज्जित सामान व बरतनो मे प्रकट होता था।

इस संक्षिप्त विवरण की समाप्ति से पहले तोकूगावा-शासन ने हर वर्ग के लोगो के दैनिक जीवन को नियन्त्रित व निर्देशित करने के जो प्रयास किये, उनका वर्णन आवश्यक है। विभिन्न सामाजिक वर्गो के सदस्यो के लिए भिन्न-भिन्न अधिकारो-उत्तरदायित्वो की स्थापना तथा वर्ग-भेदो को बडी सावधानी से कायम रखने के लिए कानून बनाये गये थे। यहाँ कानून शब्द का प्रयोग शायद ठीक न हो, क्योंकि नागरिकों के आचार-व्यवहार का आधार नैतिक सिद्धान्त माने जाते थे न कि न्याय्य आदर्श। किन्तु इन नैतिक सिद्धान्तो का जनता द्वारा पूर्णरूपेण पालन राज्य के अधिकारियो द्वारा कराया जाता था। इस प्रकार फौजदारी के अपराधों का वर्जन तो कानूनी भाषा मे होता था, पर अपराधो की गुरुता और उनके लिए निश्चित दण्डविधान विभिन्न वर्गो के लिए भिन्न-भिन्न था। इसी प्रकार, आचार-व्यवहार व वेश-भूषा तक के विवरण सामाजिक स्तर के अनुकूल नियन्त्रित करने का काफी हद तक प्रयास किया जाता था। इस नियमन की दिशा थी तत्कालीन प्रणाली व पद्धतियो को स्थिर व अपरिवर्तनशील बनाना।

## (५) प्रारम्भिक विदेशी संपर्क

यद्यपि तोकूगावा शोगुनो के लगभग पूरे काल में जापान बाहर की दुनिया से अलग रहा था, जापानी लोग इस काल के पहले ही विदशियो के सपर्क में रहे थे। सोलहवी शताब्दी में विदेशी व्यापारियो व धर्म-प्रचारको को जापान आने की अनुमति ही नही मिली थी बल्कि उनका आना प्रोत्साहित भी किया जाता था। चीनी, पुर्तगाली, स्पेनी, अंग्रेजी व डच जहाज जापानी बन्दरगाहों मे लगर डालते थे और जापानी जहाज एशिया के देशों के बन्दरगाहों मे पहुँचते थे। ईसाई धर्म के अनेक सप्रदायों, जेसूट, डोमिनिकी, फ्रासिस्की,[१] के धर्मप्रचारक पादरियो ने बडी सख्या मे जापानियो को ईसाई बनाया था और कुछ सामन्ती सरदारो ने भी इस नये मत को स्वीकार किया था। किन्तु तब इस सपर्क को प्रगाढ बनाने का समय नही आया था। इन विदेशियो के व्यवहार और यूरोपीय देशो की स्थिति ऐसी थी कि जापानियों को अपने ये सपर्क बहुत सीमित रखना ही आवश्यक और वाछनीय लगा। यूरोपीय व्यापारी व्यापार-सबंध बनाने के लिए मिलजुल कर काम करने की जगह सारा व्यापार केवल अपने-अपने देश तक ही सीमित रखने का प्रयत्न करते थे। डच-व्यापारियों ने

जापानियो को अग्रेज व स्पेनी व्यापारियो से सपर्क न रखने को सावधान किया और उन लोगो ने डच-हितो के विरुद्ध काम करना शुरू कर दिया । तब यह नही देखा-समझा गया था कि अतत हर देश के हित समान ही है । फलत जापानी शासको मे सभी विदेशियो के प्रति सदेह और अविश्वास पैदा हो गया । फिलिपीन मे स्पेनी, चीनी तट पर पुर्तगाली, भारत मे अग्रेजी व फ्रासीसी और पूर्वी द्वीप समूह मे डच लोगो के कार्यकलाप की कथाएँ जब जापान पहुँची तो यह अविश्वास और भी दृढ हो गया। जिस तरह से ये विदेशी—और जापानियो को वे सब भाई-भाई लगते रहे होगे—आपस मे लडते रहते थे—अक्सर जापानी समुद्र तट पर ही—डच और अग्रेज मिलकर स्पेनवालो के खिलाफ, फिर दोनो आपस मे ही लड़ते रहते थे, उससे यह अविश्वास और बढा ।

इस परिस्थिति मे भी जापान विदेशी सपर्क के लिए बन्द न होता यदि रोमन कैथोलिक धर्मप्रचारको का रवैया व कार्य अहितकर न समझा जाता । जैसे-जैसे धर्म-परिवर्तन से ईसाई-समुदायो की सख्या बढी, वैसे-वैसे वे केन्द्रीय सरकार के प्रभाव-कारी नियत्रण से अलग होने के प्रयत्न करने लगे । दोहरी निष्ठा की संभावना स्पष्ट होने लगी, क्योकि जापान के शासक के विरुद्ध याचिकाएँ पोप के पास पहुँचने लगीं। अपने अधिकार-क्षेत्र मे दूसरे देश की सर्वोच्च सत्ता बनने का डर पैदा हो गया और इस डर व बढते हुए अविश्वास के कारण सत्रहवी शताब्दी मे ईसाई-धर्म निषिद्ध घोषित कर दिया गया और ईसाइयो का उत्पीडन प्रारम्भ हो गया; इसी के साथ आदेश निकल गये, जिनके द्वारा विदेशियो से जापानियो का सामान्य सपर्क रोक दिया गया । जापानियो के विदेश जाने पर पाबन्दी लगा दी गयी और ऐसे जहाज बनाने पर रोक लग गयी, जो विदेशो से व्यापार कर सकते थे । केवल तटीय व्यापार के लिए छोटे जहाज बनाने की अनुमति दी जाती थी ।

जैसा कि चीन में हुआ था, बाहरी दुनिया से सपर्क समाप्त करने का कार्य बिल-कुल पूरा पक्का नही हुआ । कुछ तो इस कारण कि कुछ समय तक यह संशय नही हुआ कि डच लोग अपने मत-प्रचार मे उतने उग्र है, जितने कि अन्य विदेशी और कुछ इसलिए कि डच लोगो मे युद्ध की उतनी प्रवृत्ति नही दिखायी देती थी, उन्हे नागासाकी बन्दरगाह मे सीमित व्यावसायिक सपर्क रखने की अनुमति मिली रही; साथ ही उसी बन्दरगाह के एक द्वीप, देशीमा मे उन्हे एक कारखाना कायम रखने की अनुमति मिल गयी । किन्तु इन विशेष सुविधाओ को कायम रखने मे डचो को अनेक अपमान सहने को बाध्य होना पड़ा । चीनियों से भी व्यापार-संपर्क जारी रहा और वह डचो की तरह बहुत सीमित भी नही रहा ।

## (६) तोकूगावा शोगुनों के काल में आंतरिक परिस्थितियाँ

दो सौ वर्षों से अधिक के एकान्त मे जापान विदेशी युद्धो और विदेशी संपर्क-जनित युद्धो की अफवाहो से अछूता रहा। इसके साथ ही आंतरिक शाति रही। जब काफी समय तक शाति कायम रही, शोगुनो ने क्रमश देश पर अपना नियत्रण कुछ ढीला कर दिया। एक यत्र बना दिया गया था जो अपने ही सवेग से, या यूँ कहा जाय कि पहले व तीसरे शोगुनो द्वारा प्रदत्त सवेग से बराबर चलता जा रहा था; किन्तु धीरे-धीरे इस यंत्र का काम धीमा होता गया। यदि नयी भीतरी या बाहरी समस्याएँ पैदा होती तो इस यत्र के चलने में बाधा पडती। किन्तु अन्य कुल तोकूगावा-कुल की शक्ति को चुनौती नही दे सकते थे, शोगुन के विरुद्ध सगठित होकर सहयोग करने की सभावना बिलकुल नगण्य कर दी जा चुकी थी और अभी वह समय आया नही था, जब यूरोपीय विदेशी जापान के साथ व्यापार करने के अधिकार की माँग करते या जापान सरकार के साथ सधियाँ करने का हक माँगते।

आतरिक सघर्ष के अत के फलस्वरूप शोगुनों का ध्यान महलो के विलास की ओर धीरे-धीरे बढता गया और फलत सैनिक शक्ति कायम रखने और अपने निकट के अनु-यायियो की क्षमता कायम रखने मे उनकी दिलचस्पी कम होती गयी। दूसरी ओर, दाइम्यो के लिए युद्ध-कौशल अब भी वरीय था। तोकूगावा की सैनिक शक्ति कम होने से अन्य बलशाली कुलो की शक्ति बढने लगी। शाति का युग शुरू होने से सामुराइ का युद्ध-प्रेम कम नहीं हुआ; इस प्रेम की पूर्ति संगठित युद्धो के स्थान पर छोटे-मोटे झगड़ों व युद्ध जैसे खेलो से होने लगी। गुप्त रूप से असतुष्ट कुलों की शक्ति अपेक्षया बढ़ने के साथ स्वाभाविक रूप से ही तोकूगावा के आदेशो के पालन मे भी शक्तिवृद्धि की भावना के अनुपात मे ही अनिच्छा भी बढने लगी। काफी लम्बी अवधि तक इस प्रणाली के समक्ष वे अपने को अशक्त पाते थे, किन्तु प्रणाली निर्बल होने के साथ ही प्रान्तो की स्वतत्रता बढने लगी। सन् १८५३ तक केन्द्रीय शासन की ढिलाई इस सीमा तक पहुँच चुकी थी कि यदि शोगुन के विरुद्ध विद्रोह का कोई उपयुक्त कारण मिल जाता और यदि कई कुल मिल जाते तो विद्रोह सफल हो जाने की काफी सभावना थी।

यह कारण स्वयं शोगुनो ने ही प्रदान कर दिया। लडाकू सामुराइ-वर्ग के लिए युद्ध के अभाव में अन्य दिलचस्पियाँ ढूँढनी होती थीं। शोगुनों ने सांस्कृतिक कार्यों व ज्ञानार्जन के विकास को प्रोत्साहन देकर ये दिलचस्पियाँ प्रदान की। शिक्षा की ओर नयी दिलचस्पी पैदा होने से पहले तो छात्रों ने चीनी शास्त्रीय ग्रंथों का अध्ययन शुरू किया, फिर वे जापान के प्राचीन इतिहास की ओर मुड़े; इस अध्ययन

से उस सीमा का पता लगा, जिस तक चीनी प्रभाव मूल जापानी सस्कृति मे प्रवेश कर चुका था। पुराने धर्म, शिन्तोवाद का पुनरुत्थान हुआ। इससे राष्ट्र के आध्यात्मिक नेता के रूप में सम्राट् के प्रति सम्मान मे अभिवृद्धि हुई। शिन्तो-धर्म के पुनरुत्थान के साथ ही इतिहास के अध्ययन भी विकसित हुए और सन् १७१५ में जापान का एक वृहत् व स्मरणीय इतिहास लिख कर तैयार किया गया। इस इतिहास से स्पष्ट रूप से प्रकट हो गया कि जो अधिकार मूलत सम्राट् के थे, उन्हे शोगुनों ने हड़प लिया था। सन् १८२७ मे शोगुनो का इतिहास तैयार हुआ, जिसमे यही दृष्टिकोण और अधिक पुष्ट रूप से प्रतिपादित हुआ। इस प्रकार शोगुनसस्था के प्रति निष्ठा व सम्मान मे कमी आयी, क्योकि यह स्पष्ट था कि यह निष्ठा गलत सस्था को मिल रही थी। विद्वान् लोग खुल कर पूछने लगे कि सम्राट् क्योटो के एकान्त व ख्यातिहीनता मे क्यो रहते है, शोगुन-सस्था क्यों कायम रखी जाय। जापान में ज्ञान व शिक्षा के पुनरुद्धार से स्वाभाविक रूप से दो भावनाओं को प्रोत्साहन मिला—एक राष्ट्रीयता की भावना और दूसरे (सीधे देवताओ के कुल के) सम्राट् के प्रति निष्ठा की भावना।

फलत· विदेशी सपर्क के लिए उन्मुक्त होने के पहले जापान मे जो विचार-प्रणाली प्रचलित हुई, वह मूलतः राष्ट्रीय व साम्राज्यवादी थी। शासन की सामन्ती कुल-प्रणाली, जिसमे शोगुनो के अधीन सत्ता का केन्द्रीकरण होता था, कुछ चीन-विरोधी दार्शनिक पद्धतियो द्वारा गभीरतापूर्वक अस्वीकार की जा रही थी। योशिदा शोइन जैसे लोगो के द्वारा भी उसका प्रत्याख्यान हो रहा था, जो जापान के भीतर ही यात्रा करने के लिए चालू प्रवेश-पत्र-प्रणाली को मानने से इनकार करते थे और जापानी होने के नाते इस अधिकार की माँग करते थे कि देश के भीतर स्वतत्रतापूर्वक यात्रा करने का उन्हे अधिकार है।

बौद्धिक जिज्ञासा जागने से छात्र विदेशो मे संचित ज्ञान के संपर्क में आ रहे थे और साथ ही मध्ययुगीन जापान-सबधी ज्ञान का पुनरुत्थान कर रहे थे। डच लोगों से निश्चित अवधि के उपरान्त जो प्रतिवेदन येडो-सरकार को मिलते थे, उनसे उसे बाहरी दुनिया की घटनाओ की थोड़ी-बहुत जानकारी होती रहती थी। डच-प्रतिनिधि सन् १७९० तक हर वर्ष और उसके बाद हर चार वर्ष बाद येडो आते थे और प्रतिवेदन प्रस्तुत करते थे। किन्तु सन् १७२० के बाद तक विदेशी ग्रंथों के आयात और अधिकारी दुभाषियों के अतिरिक्त किसी अन्य व्यक्ति द्वारा उनके अध्ययन पर रोक लगी रही; इसी प्रकार विदेशियो से अनधिकृत संपर्क निषिद्ध था। इस रोक की कभी-कभी थोड़ी बहुत अवहेलना भी होती थी और देशीमा-

स्थित डचो के द्वारा कुछ विदेशी ज्ञान, विशेषकर औषधि और शरीरविज्ञान के सबंध मे जानकारी होती थी। किन्तु, सन् १७२० के बाद विदेशी ज्ञान और विद्याओ का प्रवेश और प्रसार अधिक व्यापक और तीव्रता के साथ हुआ। देश के भीतर शोगुन-सरकार की अनुमति के बिना आवागमन पर जो प्रतिबन्ध थे, उनके द्वारा डचो तथा नवीन ज्ञान के सपर्क को सीमित रखने के प्रयास होते थे। किन्तु बाहरी स्वामियो के आश्रितो तक औषधि, सैन्य, भौगोलिक व अन्य वैज्ञानिक विषयो की पुस्तके अध्ययनार्थ अनूदित होकर आती रहती थी। फलत, कुछ पश्चिमी कुलों मे और येडो तक मे ऐसे लोग थे, जो उस नीति-परिवर्तन के लिए तैयार थे, जो अमरीकियो और उनके बाद अन्य विदेशियो की जापान के साथ व्यापक सपर्क स्थापित करने की माँग के बाद आवश्यक हो गये।

तो यह स्वीकार करना होगा कि सन् १८५३ मे 'उगते हुए सूर्य का देश" (जापान) उस शान्त स्थिति मे नही था, जैसा कि कभी-कभी बताया जाता है। कमोडोर पेरी के आगमन के समय जो स्थिति थी, उसका सक्षिप्त वर्णन करते हुए प्रोफेसर गर्बिस ने लिखा है—

उन्हे विभिन्न कलाओ, उद्योग व कृषि मे पारगत, शिष्टाचार रीतियो मे बँधा हुआ चीनी विचारो से ओत-प्रोत और आत्मसात् करने की शुभ प्रतिभा द्वारा नियन्त्रित अनुकरण की प्रवृत्ति वाला, स्वभाव की स्वतंत्रता वाला, अपनी तरह की विलक्षण, भारी-भरकम व जटिल शासन-प्रणाली वाला अति सगठित समाज मिला। केन्द्रीय शासन सत्ता येडो में एक अस्पष्ट व्यक्तित्व में निहित थी, जिसका क्योटो मे एक अन्य तथा और अधिक अस्पष्ट व्यक्तित्व से क्या संबंध था यह जानना कठिन था। सामन्ती प्रथा व्याप्त थी, जिसमे दाइम्यो अपने-अपने क्षेत्रों पर या शोगुनों के निरीक्षण में अपने पडोसियो के क्षेत्रों पर शासन करते थे, कुछ स्थान तथा वे क्षेत्र जो शोगुनो के अपने क्षेत्र थे सीधे येडो सरकार द्वारा शासित होते थे; केन्द्रीय सत्ता राज्य-परिषदो तथा न्याय व कार्यकारी अधिकारियों के बड़े भारी समूह द्वारा परिचालित होती थी। केन्द्रीय सत्ता निर्बल थी और बराबर निर्बल होती जा रही थी तथा अशान्ति की भावना व्यापक होती जा रही थी; उन उपद्रवो के प्रथम संकेत मिलने शुरू हो रहे थे, जो अततः शोगुन-सस्था में पतन का कारण बने। कुल ईर्ष्याएँ तथा सामन्ती प्रतिबन्धो से राष्ट्रीय प्रगति अनेक दिशाओ में अवरुद्ध थी; कष्ट और असंतोष व्यापक थे ; देश का मुद्रा-विनिमय बड़ी गड़बड़ हालत मे था। नागासाकी आने वाले चीनी और डच व्यापारियों तक ही विदेशी सपर्क सीमित था और बाहरी दुनिया से सपर्क साधन या चीनी था या डच।[१]

## (७) कमोडोर पेरी का आगमन

विदेशी सपर्क के लिए जापान का उन्मुक्त होना उतना ही अनिवार्य था जितना चीन का एकान्त समाप्त होना था। उस आदोलन मे जिससे अतत. जापान का द्वार उन्मुक्त हुआ, सचार-सवहन के साधनों के विकास व व्यापार की आकाक्षा के साथ ही साथ उन नाविको, विशेषकर उत्तरी प्रशान्त सागर मे ह्वेल मछली के शिकार व सील मछली की बालदार खाल के व्यापार मे लगे नाविको की यह माँग भी शामिल हो गयी कि उन्हे स्थान मिलने चाहिएँ, जहाँ वे जहाज रोक सकें, रसद व भोजन सामग्री जमा कर सके और अपने जहाजो की मरम्मत कर सके। बहुधा आँधियो-तूफानो के थपेडो से जहाज जापान के समुद्रतट पर आ लगते थे, इन जहाजों मे बचे लोग कभी तो मार डाले जाते थे और कभी नागासाकी स्थित डचो के माध्यम से वापस भेजे दिये जाते थे। किन्तु, जापान हर हालत मे इस बात पर दृढ़ था कि विदेशी जहाज उसके तट पर न लगें। जो,जहाज तूफानो के कारण जापानी बन्दरगाहो मे आ लगते थे, उन्हे तत्काल वापस लौटने का आदेश मिल जाता था। कभी-कभी जापानी नाविक अपने छोटे तटीय जहाजो मे तूफानी थपेड़ो से बीच समुद्र में बह जाते थे और जो विदेशी जहाज इन जापानी नाविको को वापस उनके देश पहुँचाने आते थे, उनका भी स्वागत नही होता था।

चीनी तट के सदर्भ मे भी जापानी द्वीपसमूह की स्थिति इस प्रकार की थी कि विदेशी राज्यो से किसी भी प्रकार के सबध रखने से उसका इनकार बहुत असुविधा जनक था। विशेषकर यदि अमरीका अपने प्रशान्त सागर के तट से वाष्प-परिचालित जहाजो मे चीन से सीधा सपर्क कायम करना चाहता था तो उसे रास्ते मे कोयला भरने के लिए बन्दरगाह चाहिए थे। इस काम के लिए पहले फारमोसा के सबंध मे सोचा गया, किन्तु, अमरीका की नीति क्षेत्रीय आधिपत्य जमाने की न होने के कारण, यही वाछनीय समझा गया कि जापानी द्वीपो में ही कोयला भरने के अधिकार प्राप्त किये जायँ। इस प्रकार, सन् १८२५ के बाद जापान का द्वार उन्मुक्त करने मे जो दिलचस्पी दिखाई गयी, उसके बड़े विशिष्ट कारण थे।

जापान की परिस्थितियों मे विदेशी सरकारो की दिलचस्पी प्रकट करने वाला वह अभियान पहला ही नही था जो पेरी के नेतृत्व में आया। अट्ठारहवीं शताब्दी के अतिम दशक और उन्नीसवी शताब्दी के प्रारम्भ मे रूस इसी प्रकार की दिलचस्पी दिखा रहा था। यह दिलचस्पी भौगोलिक समीपता के कारण थी, क्योकि दोनों देशों का सखालीन द्वीप पर सयुक्त आधिपत्य था और रूस कुराइल द्वीपों पर भी अधिकार माँग रहा था। सन् १७९२ मे एक रूसी अभियान होक्काइडो में हुआ,

जिसका दिखावे के लिए तो यह उद्देश्य था कि जिन जापानी नाविकों का जहाज समुद्र में ध्वस्त हो गया था, उन्हे उनके स्वदेश मे वापस पहुँचा दिया जाय, पर असली उद्देश्य यह था कि जापान सरकार से सपर्क स्थापित किया जाय। यह तथा इसके कुछ दिनो बाद, सन् १८०४ मे, हुए अभियान असफल हुए।

अग्रेजो ने भी अपनी ओर से जापान का द्वार खोलने के कई प्रयास किये। उन्होने भी अपने अभियानो के लिए भिन्न-भिन्न बहाने वनाये, जैसे कि रसद की आवश्यकता या उस भूखण्ड का सर्वेक्षण। किन्तु उनका उद्देश्य भी देश का द्वार खोलना था और रूसियो की तरह वे भी असफल हुए। किन्तु सन् १८३३ से सन् १८६० तक चीन का द्वार खोलने के लिए विभिन्न काररवाइयाँ करने में व्यस्त रहने के कारण अग्रेज अपना ध्यान जापान पर केन्द्रित नही कर सके।

ह्वेल मछलियो के शिकार के लिए जापानी समुद्र में फँस जानेवाले अमरीकियों के साथ होने वाले व्यवहार को लेकर अमरीका ने पहले जो कई प्रयास जापान से संपर्क स्थापित करने के लिए किये थे, वे कुछ बेमन से किये थे और इसीलिए वे पूर्णतः असफल रहे। पर अतत वाशिंगटन-सरकार इस उद्देश्य-प्राप्ति के लिए संकल्प-बद्ध हो गयी और अभियान भेजने के पहले उसने तैयारियाँ की। सन् १८४९ मे डच व अन्य यूरोपीय देशों की सरकारो को अमरीकी इरादो के सबध में लिखा गया और डचो से अभियान की सफलता के लिए परामर्श व सहायता माँगी गयी। पश्चिमी सभ्यता के अनेक लक्षणों को प्रकट करने वाली भेटें तैयार की गयी। पेरी को निर्देशित करते हुए अभियान के उद्देश्य बताये गये—(१) हमारे जो नाविक जहाज नष्ट हो जाने से आश्रयविहीन हो जायँ उनकी रक्षा करना, (२) मरम्मत और कोयले के लिए बन्दरगाहो में हमारे जहाजों को प्रवेश मिले, (३) और व्यापार के लिए बन्दरगाह खोले जायँ।

कमोडोर पेरी २४ नवम्बर, १८५२, को नॉरफोक बन्दरगाह से रवाना हुए और ३ जुलाई, १८५३, को योकोहामा खाड़ी में जा पहुँचे; खाड़ी मे स्थित मछवाहों के गाँव उरागा के पास लगर डालने के पहले उन्हें अनेक संकेत दिये गये कि वह रुक जायँ, पर उन सकेतो की उन्होने परवाह नहीं की। भाप से चलने वाले जहाज जापानियों के लिए एक बिलकुल नया दृश्य थे और इससे वे भयभीत व विस्मयान्वित हो उठे। जब यह समाचार उरागा से चल कर शोगुन की राजधानी येडो पहुँचा तो वहाँ भी ऐसी ही घबराहट हुई। एक जापानी लेखक के अनुसार—"विदेशी आक्रमण के समाचार से येडो के नागरिकों में जो खलबली मची, उसका वर्णन कठिन है। पूरे नगर मे हो-हुल्लड़ हो गया। हर दिशा में बच्चो को गोद में लिये स्त्रियाँ और माताओं को पीठ पर लादे पुरुष भाग रहे थे। फौरन हमले की अफवाहें एक

मुँह से दूसरे तक बढती गयी और भयभीत लोगो को और अधिक भयत्रस्त करने लगी। इस दस लाख से अधिक प्राणियों के नगर मे योद्धाओ के घोडो की टापों, सशस्त्र सैनिकों के अस्त्रो की खनखनाहट, गाड़ियो की गडगडाहट, आग बुझाने वाले सैनिकों के प्रस्थान का शोरगुल, लगातार घण्टे-घण्टियो के बजने, औरतो की चीखो और बच्चो के रुदन से सभी सडकें, गलियाँ भर गयी थी और घबराहट मे गड़बडघोटाला हो रहा था।"[१०]

उन्नीसवीं शताब्दी में सुदूर पूर्व मे अमरीका द्वारा की गयी काररवाइयो की भाँति पेरी-अभियान मे भी अमरीकी सरकार व उसके प्रतिनिधियो की नीतियो मे अतर करना होगा। पेरी को जो आदेश मिले थे, उनकी ध्वनि शांतिमय थी। पेरी को शक्ति अवश्य दी गयी थी, पर उसका उपयोग आत्मरक्षा मे अतिम अस्त्र के रूप मे होना था। पेरी को आदेश थे कि जो कुछ प्राप्त करना है, वह शातिपूर्ण उपायो से ही किया जाय और इस बात पर जोर दिया जाय कि एक तो अमरीका जापान का मित्र है, दूसरे अमरीका मे धर्म और राज्य की सत्ताएँ अलग-अलग है, ताकि यदि कोई भ्रम या भय मौजूद हो कि अमरीकी सरकार की शक्ति जापानियों पर ईसाई धर्म लादने के लिए इस्तेमाल होगी तो वह दूर हो जाय, और तीसरे यह कि अमरीका प्रशान्त महासागर में शाति स्थापित होते देखना चाहता है। किन्तु, साथ ही अमरीकी सरकार का यह तर्क था कि "जापान द्वारा अपनी नीति बदले बिना और अमरीका के नागरिकों के प्रति शत्रुवत् व्यवहार के कार्य रोके बिना कोई भी मित्रता अधिक दिनो तक चल नही सकती।" इसके अतिरिक्त, यदि ऐसे तर्कों से जापान की वर्जना की नीति में ढिलाई न आये या नाविको के साथ मानवीय व्यवहार का आश्वासन भी न मिले, तो पेरी को अपना रुख बदल कर बिलकुल स्पष्ट रूप से यह बता देने का आदेश था कि "इस सरकार का यह सकल्प है कि अब से जो भी अमरीकी नागरिक या जहाज जो मौसम की खराबी या तूफान से समुद्र मे ध्वस्त होकर जापान के बन्दरगाहो मे आ लगे, उनके साथ जब तक वहाँ रहने को उन्हें बाध्य होना पड़े, तब तक मानवीय व्यवहार किया जाय, और यदि भविष्य मे उनके साथ कोई भी नृशंसता बरती गयी, चाहे जापानी नागरिकों द्वारा और चाहे जापानी सरकार द्वारा, तो उन्हे कड़ा दण्ड दिया जायगा।"[११]

पेरी ने जहाज पर ही निश्चय कर लिया था कि जापानियों के साथ व्यवहार मे वह कैसा रुख रखेंगे और इस रुख पर अडिग रहे। उन्होंने संकल्प कर लिया था कि वह "एक सभ्य राष्ट्र दूसरे सभ्य राष्ट्र से जिस सौजन्य से व्यवहार करता है, उस सौजन्यता की अधिकार रूप मे माँग करेंगे, सुविधा या अनुग्रह के रूप में उसके

लिए याचना नही करेंगे; यदि अमरीकी झण्डे के सम्मान के प्रतिकूल जापानी अधिकारियो ने कोई धमकी दी या कदम उठाया तो वह उसकी अवज्ञा करेंगे, जापानी राजनयिक परपरा का किसी हद तक अनुसरण करते हुए वह उन अधिकारियों को छोड कर किसी अन्य व्यक्ति को जहाज पर नही आने देंगे, जिनसे कार्यवश बात करनी हो, और उनको भी केवल झण्डा धारण करने वाले मुख्य जहाज पर ही आने देंगे और साम्राज्य के सर्वोच्च पदाधिकारियो को छोड कर वह स्वय किसी अन्य व्यक्ति से विचार-विमर्श नही करेंगे।"[१२]

काफी हद तक इस कार्यक्रम पर अडिग रहने के फलस्वरूप ही पेरी-अभियान सफल हुआ। यदि जापानी समझौता-वार्ता नागासाकी में हटाने मे सफल हो जाते; यदि पेरी उपयुक्त स्तर के अधिकारियो के आने तक अलग न रहते और नीचे के स्तर के अधिकारियो से ही समझौता वार्ता से सतोष कर लेते, यदि वह यह न समझ लेते कि कहाँ और किस हद तक अपनी स्थिति को बदलें तो जापान के द्वार का उन्मुक्त होना टल जाता। उपयुक्त स्वागत के उपरान्त सम्राट् तक अमरीकी राष्ट्रपति का पत्र प्रेषित करने के बाद पेरी ने जापान का यह अनुरोध स्वीकार कर लिया कि अमरीकी सरकार के प्रस्तावो पर विचार करने के लिए कुछ समय दिया जाय। उन्होने कहा कि अगले वसन्त मे वह उत्तर के लिए फिर आ जायँगे और नागासाकी जाकर चीनी या डच प्रतिनिधियो के माध्यम से यह उत्तर लेने से उन्होने इनकार कर दिया। इसके उपरान्त वह चीन के तट चले गये।"[१३]

योकोहामा से उनके हटने के शीघ्र बाद रूसी बेड़े के नागासाकी आने और दूसरे देशो के विशेषकर फ्रांस के, बेडो के जापानी समुद्र मे सेवा के लिए उपस्थित रहने से कमोडोर पेरी ने अपना कार्यक्रम बदल कुछ जल्दी ही जापान लौटने का फैसला कर लिया। उन्हे डर था कि यदि वह सन् १८५४ की फरवरी के बाद जापान लौटे तो कही रूसी व फ्रांसीसी पहले पहुँच कर समझौता न कर लें। योकोहामा पहुँच कर इस बार पेरी पिछली बार से भी आगे खाड़ी मे बढ गये और तब लंगर डाला। इस बार उनका भव्य स्वागत हुआ और कुछ समय तक समझौता वार्ता होने के उपरान्त वह उन्ही शर्तों पर सधि करने मे सफल हो गये, जो उन्हें अमरीकी सरकार से मिले आदेश के अनुकूल थी। कोयला लेने, रसद व भोजन सामग्री प्राप्त करने और जहाजो की मरम्मत करने के लिए नागासाकी के अतिरिक्त दो अन्य बन्दरगाह विदेशी जहाजों के लिए खुलना तय हो गया; शिमोदा में एक वाणिज्य-दूत के निवास का अधिकार स्वीकार कर लिया गया, यह समझौता हो गया कि जिनके जहाज टूट-फूट जायँ, उन नाविकों की रक्षा होगी; और "परममित्र राष्ट्र" का

व्यवहार करने का आश्वासन प्राप्त हो गया । पेरी-संधि पच्चड की पतली नोक थी और इस अभियान की सफलता का लाभ उठा कर अन्य देशों ने भी सधियाँ कर ली; इगलैण्ड ने सन् १८५४ मे ही इसी के समान सधि कर ली, रूस ने सन् १८५५ मे सधि की और हॉलैण्ड ने सन् १८५५–१८५७ के बीच ।

## (८) पश्चिम से संपर्क-स्थापना

कमोडोर पेरी पच्चड ठोकने मे सफल हुए थे, पर सबंधो को अधिक ठोस नीव पर स्थापित करने का काम एक अन्य अमरीकी, टाउनसेंड हैरिस ने किया । पेरी अपनी व्यवहारकुशलता, चतुरता व निपुणता के लिए स्मरणीय है, पर यह न भूलना चाहिए कि उन्हें अपने उद्देश्य की पूर्ति के लिए शक्ति का भी सम्बल था । सन् १८५६ मे नियुक्त वाणिज्य-दूत, हैरिस को इस प्रकार का कोई सम्बल प्राप्त नही था । वह एक नये देश मे आये थे और ऐसे लोगो के बीच रहना शुरू किया था, जो विदेशियो के बिलकुल आदी नही थे और उनसे शत्रुवत् व्यवहार करते थे । उनके बीच हैरिस की हैसियत बिलकुल अलगाव की थी । कुछ वर्ष बाद वहाँ जो यूरोपीय समुदाय आ इकट्ठा हुआ था, उसका उस समय अस्तित्व भी नही था । जिन लोगो के बीच वह रह रहे थे और जिनसे उन्हे व्यावसायिक सबंध रखने थे, वह उनकी भाषा से भी परिचित नही थे; किन्तु अतत उन्होंने इस शत्रु-भावना पर विजय पा ली और वहाँ के अधिकारियो को हैरिस के इरादो की नेकनीयती और उनके विवेक पर विश्वास जम गया । इसके भी आगे, बाहरी दुनिया से सपर्क को और व्यापक बनाने की वाछनीयता का भी विश्वास उन्होंने जापानी अधिकारियों को दिला दिया । और यह सब उन्होने दो वर्ष के भीतर बिना किसी शक्ति-प्रयोग की धमकी दिये ही कर लिया, हां, जापान-सरकार के इस भय का लाभ अवश्य उठाया कि इगलैण्ड या रूस जापानी द्वीप-समूह को जीतने या संधियों पर हस्ताक्षर कराने के लिए बाध्य करने के लिए सबल सैनिक अभियान भेज सकते है । इस तर्क के समर्थन मे उन्होने सन् १८५८ मे टीटसीन भेजे गये अभियान और पूर्वी समुद्र मे विदेशी सैनिका की मौजूदगी का हवाला भी दिया । किसी कठिनाई के बिना ही उन्होंने जापानी अधिकारियो को यह समझा दिया कि स्वेच्छा से उनके साथ समझौते से सधि कर लेना रूसी, फ्रासीसी या अग्रेजी तोपो के साये मे बलात् संधि कर लेने से कही ज्यादा उनके देश के हित में है ।

जापान के द्वार उन्मुक्त होने के लिए दूसरा बड़ा कदम सन् १८५८ मे उठाया गया जब एक नयी सधि पर हस्ताक्षर हुए । पेरी ने व्यापार-सपर्क की प्रारभिक सुविधाएँ प्राप्त की थी । हैरिस ने जापान के बाहरी दुनिया से संपर्क और व्यवसाय

को नियमित-संगठित करवाया। सन् १८५८ की सधि के फलस्वरूप जापान से जाब्ते से राजनयिक व वाणिज्य-दौत्य-सबध स्थापित हुए, उससे चार नये बन्दरगाह विदेशी व्यापार के लिए खुले, इससे नये वन्दरगाह केवल जहाजो की मरम्मत के लिए ही नही खुले, बल्कि व्यापार के लिए भी खुल गये; और इस सधि के द्वारा अमरीका ने विदेशी राज्यो से अनबन या झगडा होने पर अपनी सेवाएँ जापान को प्रदान करने का आश्वासन दिया। ये सभी बाते स्पष्टत नयी सुविधाएँ थी, जिनसे जापान, यूरोप और अमरीका का बहुत भला होता। सधि की तीन शर्तें जापान के लिए इतनी लाभकर नही थी। लगभग इसी समय चीन से हुई सधियो का दृष्टान्त लेकर पेरी ने संधि मे जो शर्तें रखी, उसके अनुसार जापान मे आने और वहाँ से जाने वाले सामान पर शुल्क-दर निश्चित हो गयी, जो कुछ समय तक जापान के हित मे नही रही, क्योकि चीन की भाँति ही जापान अपने कानून के द्वारा व्यापार-सवध नियंत्रित करने के अधिकार से वचित हो गया था और भविष्य मे होने वाली उसकी आय कम हो गयी थी। सधि के अनुसार जो महसूल निश्चित हुआ था, उससे अमरीका को यूरोपीय व्यापार के मुकावले मे अधिक लाभ था। बाद मे इगलैण्ड, फ्रास व हॉलैण्ड ने भी अपने महसूल अमरीकी दरो के बराबर कम करा कर स्थिति सुधार ली। किन्तु यह जापान के लिए हानिकर था, क्योकि विदेश से व्यापार से उसकी आय कम हो गयी थी। दूसरे हैरिस के विवेक के विरुद्ध ही, सधि मे राज्यक्षेत्रातीतता-प्रणाली स्थापित करने की शर्त भी शामिल हो गयी थी। और, तीसरे सधि द्वारा यह व्यवस्था कर दी गयी थी कि विदेशी मुद्रा जापान मे प्रवेश पा सकेगी और उसका खुला विनिमय हो सकेगा और जापानी मुद्रा का निर्यात हो सकेगा। इस शर्त से विनिमय का बडा सट्टा हुआ, जापान का सोना-चाँदी काफी बड़ी मात्रा मे बाहर चला गया और जापान को गंभीर क्लेश और कठिनाई का सामना करना पड़ा। यह सच है कि जापानी अधिकारियो को ये शर्तें सधि मे रख लेने की सलाह देकर हैरिस ने सद्भावना से ही काम लिया था और शुरू में ये प्रतिबन्ध अस्थायी रूप से जापान के हित मे भी सिद्ध हो सकते थे। किन्तु देश के पुनस्सगठन के उपरांत जापान को इन शर्तों से बड़ा अपमान और कष्ट सहना पड़ा और इन शर्तों के कारण ही उसके दृष्टिकोण मे परिवर्तन हुआ।

## (९) एकान्त समाप्ति के आंतरिक प्रभाव

जब पेरी ने जापान का दरवाजा इतने जोर से खटखटाया कि जापान सरकार उसे अनसुना न कर सकी, शोगुन के लिए बहुत बड़ी कठिन समस्या उठ खड़ी हुई। जैसा कि ऊपर कहा जा चुका है उनकी शक्ति लगातार क्षीण हो रही थी, और इस

तथ्य की स्वीकृति से कि सम्राट् ही देश का अधिकारी शासक है, सम्राट् की स्थिति मजबूत हो रही थी। एकान्त की नीति तोकूमावा ने शुरू की थी, किन्तु लगातार जारी रहने के कारण वह राष्ट्रीय नीति बन चुकी थी और पूर्व दृष्टान्तो के विपरीत इसे सम्राट् की भी स्वीकृति मिल गयी थी, यह स्वीकृति सम्राट् कोमेई ने दी थी, जिनका शासन पेरी-अभियान से आठ वर्ष पहले आरम्भ हुआ था। सन् १८४६ में कोमेई सम्राट् बने और उन्होने शीघ्र ही बाद शोगुन को आदेश दिया कि एकान्त की परंपरागत नीति जारी रहनी चाहिए। यद्यपि यह कार्य अभूतपूर्व था, किन्तु यह सम्राट् को पुन: शक्ति देने की नयी प्रवृत्ति के अनुकूल ही था। इस प्रवृत्ति की माँग थी कि येडो-शासन के कार्यों की सावधानी के साथ देख-भाल की जाय। जब विदेशी संपर्क का प्रश्न और अधिक टाला न जा सका, शोगुन ने इसे सामन्ती अधिपतियो के एक सम्मेलन में विचारार्थ पेश किया। कुछ थोड़े से लोगो को छोडकर विशाल बहुमत परपरागत नीति के कायम रहने के पक्ष मे था। यह परामर्श सद्भावनापूर्वक ही दिया गया था, किन्तु इसके पीछे यह समझदारी नही थी कि इस नीति को चालू रखने मे किन शक्तियो का विरोध सहना पड़ेगा और इस विरोध का सफलतापूर्वक सामना करना असभव होगा। आतरिक और बाह्य दोनो वस्तुस्थितियों की अधिक ठीक जानकारी होने के कारण शोगुन और येडो स्थित उनकी परिषद् अल्पमत का साथ देने को बाध्य हुए और विदेशियो की माँगें स्वीकार करने का निर्णय कर लिया गया। एक ओर, सरकार को देश पर सभव और सभाव्य आक्रमण और इस आक्रमण का सफलतापूर्वक सामना करने मे जापान की अक्षमता का भी विचार करना था। दूसरी ओर, शोगुन को यह भी निश्चित लग रहा था कि यदि सधियो पर हस्ताक्षर हुए तो उनके विरोधियो को उनके खिलाफ एक सबल हथियार मिल जायगा। अतत. दो बुराइयो मे जो छोटी बुराई दिखायी दी, वही स्वीकार कर ली गयी।

देश के द्वार उन्मुक्त होते ही द्वैत शासन-प्रणाली की कमजोरियाँ प्रकट हो गयी। पेरी व अन्य विदेशी प्रतिनिधियो ने जब शोगुन-शासन से सधि समझौता वार्ताएँ की थी तब वे समझे थे कि वे सम्राट्—नामधारी व वास्तविक शासक—से बात कर रहे है। बाद मे जब जटिल प्रश्न उठे, तब शोगुन के इस तर्क को स्वीकार करने में झिझकने लगे कि किसी भी निर्णय के पहले मसला क्योटो मे सम्राट् के सामने पेश होना आवश्यक है, वे समझते थे कि इसमे शोगुन की नीयत खराब है और वह धोखा दे रहा है। जब भी कोई मसला निर्णय के लिए क्योटो भेजा जाता, हर बार जापानी जनता को स्पष्ट हो जाता कि शोगुन उन अधिकारो का प्रयोग कर रहे

है, जो वास्तव मे सम्राट् के है। यही बात कि पीढियो बाद पहली बार महत्त्वपूर्ण प्रश्न निर्णयार्थ सम्राट् के पास भेजे जाने लगे शोगुन की निर्बलता की स्वीकृति थी। यदि अपने पूर्वज, इयीयासू की तरह शोगुन सम्राट् के विचार जाने बिना ही स्वय निर्णय ले लेते और निर्णयो की सूचना भर सम्राट् के पास भेज देते तो शायद शोगुन-सस्था का अस्तित्व बना रहता। या यदि वह अपने दृष्टिकोण का औचित्य सम्राट् को समझा पाते ताकि सम्राट् का निर्णय वही होता, जो कि उचित था और जिस पर काररवाई होनी चाहिए थी, सन् १८५८ के बाद के वर्षों की घटनाओ का स्वरूप ही दूसरा होता।

किन्तु देश को मजबूत हाथो से नियत्रित करने की अपनी क्षमता में सन्देह कर शोगुन ने विदेशो से सबधो के प्रश्न पर सम्राट् की अधिकारसत्ता की शरण लेकर अपनी स्थिति मजबूत करने का फैसला किया। शोगुन के दुर्भाग्यवश, क्योटो-दरबार मे पश्चिमी कुलो, विशेषकर सत्सुमा और चोशू कुलो के नेताओं का बोलबाला था। ये कुल बहुत दिनों से तोकूगावा के प्रभुत्व के प्रति ईर्ष्यालु थे और उन्होंने सम्राट् पर अपने प्रभाव का उपयोग शोगुन को नीचा दिखाने में किया। विदेशियो के विरुद्ध पश्चिमी कुल निस्सन्देह थे ही, उनकी दिलचस्पी इस बात में भी थी कि विदेश-सपर्क के प्रश्न को लेकर शोगुन-सस्था को निर्बल बनाया जाय, वे उस काररवाई मे दिलचस्पी नही रखते थे, जो जापान के लिए लाभदायक सिद्ध होती। फलत' सपर्क के शुरू के दिनो में, सम्राट् लगातार एकान्त की नीति कायम रखने के पक्ष मे रहे और सम्राट् के आदेश-परामर्श लेने के बावजूद, शोगुन विदेशी शक्तियो के लगातार कायम रहने वाले दबाव मे सम्राट् के आदेशों का उल्लंघन करने को बाध्य रहे। जब विदेशियो को शोगुन और सम्राट् के बीच के संबधों का ठीक-ठीक पता चला, तब वे इस बात पर जोर देने लगे कि सधियो की स्वीकृति सीधे सम्राट् से मिलनी चाहिए और उनका अनुसमर्थन प्राप्त होना चाहिए। किन्तु माँग पर पहली सधि होने के दस वर्ष तक जोर नही दिया गया।

इसी बीच ऐसी कई घटनाएँ हो गयी, जिनका जापान की आतरिक परिस्थिति और विदेशी सबधो पर प्रभाव पड़ा। पश्चिमी व अन्य वे सभी कुल-कबीले, जिनका हित शोगुन-सस्था के कायम रहने मे निहित नही था, विदेशियों से शत्रुता मानते थे। स्वय तोकूगावा कुल में मतभेद थे, शोगुन-पद रिक्त होने पर पहले तो तोकूगावा-कुल में इस बात पर मतभेद हुआ कि पद का उत्तराधिकारी कौन हो, फिर एकान्त की नीति त्यागने की वांछनीयता के प्रश्न पर मतभेद हुआ। इन सब शक्तियो के दबाव में येडो-शासन कभी गरम कभी नरम वक्तव्य देने लगा। उसने एक ओर सम्राट् को आश्वासन

दिया कि जैसे ही पर्याप्त तैयारियाँ पूरी हो जायँगी विदेशियों को खदेड़ दिया जायगा। और दूसरी ओर सन् १८५९ तक येडो मे आ चुके विदेशी प्रतिनिधियो को उसने आश्वासन दिया कि जनता के शान्त होते ही, वह सधियो का पूर्णरूपेण पालन शुरू कर देगा। विदेशियो से विद्वेष येडो में ही नही देश के अन्य भागो मे भी प्रकट किया जा रहा था।

सन् १८६२ मे एक घटना हो गयी, जिससे सत्सूमा कुल के लिए बात चरम सीमा पर पहुँच गयी। उस कुल के स्वामी अपने अनुचर-आश्रितो के साथ येडो से अपने क्षेत्र वापस लौट रहे थे। जिस रास्ते से वह जा रहे थे उसी पर रिचर्डसन नामक एक अग्रेज अपने तीन साथियो के साथ घोडों पर सवार आ रहा था। जापान की प्रथाओ से अनभिज्ञ रिचर्डसन यह नही जानता था कि सत्सूमा के राजकुमार जैसे महानुभावो के लिए रास्ता छोड़ देना चाहिए और उसने सत्सूमा के अनुचरो के कहने पर भी उस जुलूस के निकल जाने तक रास्ता छोडने से इनकार कर दिया। नतीजा यह हुआ कि रिचर्डसन की जान गयी। ब्रिटिश सरकार ने तत्काल इस मामले पर सतोष माँगा। शोगुन यह संतोष दिलाने में अनिच्छा प्रकट करने लगे या अक्षम सिद्ध हुए, तो ब्रिटिश सैनिकों की एक टुकड़ी ने सत्सूमा की राजधानी, कानोशीमा पर तोप लगा कर गोलाबारी कर दी। इस घटना से सत्सूमा-कुल को जापानी शस्त्रास्त्र की हीनता का पता चल गया और विदेशियो के प्रति उसका दृष्टिकोण बदल गया। इस घटना का दूसरा निष्कर्ष यह भी निकला कि शोगुन की सैनिक निर्बलता प्रकट हो गयी; यह निर्बलता ऐसी थी कि न तो वह अपने अधीन भूस्वामी को दण्ड दे सकते थे और न उसकी विदेशियों से रक्षा कर सकते थे।

इसी ढग से पश्चिम के एक बड़े कबीले, चोशू को समझ आयी। विदेशी विरोधी दल व दरबार के दबाव से शोगुन ने अतत. एक गुप्त आदेश जारी कर दिया था कि विदेशियों को निकाल दिया जाय। इस कारंरवाई के लिए जो तिथि निश्चित की गयी थी, उसके पहले ही, सन् १८६३ में, चोशू के भूस्वामी ने अपने आश्रितो को आदेश दे दिया कि उनके क्षेत्र के समुद्र तट पर विदेशी न आने दिये जायँ और शिमोनोसेकी की खाड़ी से, जो भी विदेशी जहाज आने-जाने की कोशिश करे, उन सब पर गोली चला दी जाय। सबसे पहले एक अमरीकी जहाज पर गोली चली। अमरीकियों ने तत्काल एक युद्धपोत भेजकर नगर पर गोलाबारी कर प्रतिशोध ले लिया। दूसरे व्यापारिक जहाजो पर भी गोली चलायी गयी और विदेशियों ने संयुक्त अभियान का निश्चय किया।[१४] सन् १८६४ में हुए इस अभियान मे ब्रिटिश, फ्रांसीसी, डच व अमरीकी जहाज शामिल हुए। विदेशियो की श्रेष्ठ युद्ध शक्ति का

चोशू-कुल को अब पूर्ण विश्वास हो गया और विदेशियो के दृष्टिकोण से अभियान पूर्णतः सफल रहा।

इस शक्ति-प्रदर्शन से और सम्राट् के मुख्य सहायक पार्षदो मे विदेशी-विरोधी भावना कमजोर पड़ने से स्वय सम्राट् शोगुन से एकान्त की पुरानी नीति लागू करने की माँग करने में हिचकिचाने लगे। इसी बीच विदेशी भी यह बात बहुत अच्छी तरह समझ चुके थे कि जब तक सम्राट् की सहमति न हो, उनकी स्थिति जापान मे अरक्षित ही रहेगी, क्योकि एक के बाद दूसरी, सभी घटनाओ से उन्हें विश्वास हो गया था कि जापानी शासन द्वैध था। फलत, सन् १८६६ में ब्रिटिश प्रतिनिधि सर हैरी पार्क्स ने प्रस्ताव रखा कि यदि सम्राट् सधियो का अनुसमर्थन कर दे तो विदेशी शक्तियो ने सयुक्त रूप से जो जुर्माना चोशू पर लगाया था उसका एक भाग वह छोड देंगे। यह अनुसमर्थन अतत प्राप्त हो गया और जापान का द्वार उन्मुक्त करने का तीसरा कदम उठ गया।

इस बीच जापान की आतरिक परिस्थिति धीरे-धीरे बदल रही थी। देश में अशाति थी और पुरानी व्यवस्था बदलने से आतरिक विघटन की सभावना पैदा हो गयी थी। चोशू सम्राट् पर नियत्रण का षड्यत्र कर रहे थे ताकि अपने नियंत्रण में राजप बना ले और एक तरह की नयी शोगुन-सस्था कायम कर लें। यह षड्यंत्र असफल हुआ। क्योटो से शोगुन को आदेश मिला कि चोशू की इस काररवाई के के लिए उसे दण्ड दिया जाय; बड़ी संख्या मे सैनिक इकट्ठे कर चोशू के विरुद्ध अभियान हुआ, पर उसे पूर्ण सफलता नही मिली। कुछ कुलो के वरिष्ठ नेता शोगुन को गिराने के लिए एकत्र होने के प्रयत्न कर रहे थे। किन्तु जब यह एकता स्थापित हुई, दो नये व्यक्ति सामने आ गये। फरवरी, १८६७, में विदेशी-विरोधी सम्राट् की मृत्यु हो गयी और उनकी जगह जो नये सम्राट् सिंहासन पर बैठे, उन्हे विगत शत्रुता और परंपराओ की बाधाएँ नही थी। मुत्सुहितो ने सिंहासनारूढ होकर नया नाम मीइजी (प्रबुद्ध शासन) पाया और उन्होने बाहरी दुनिया के सन्दर्भ में जापानी जीवन के पुनर्विन्यास की नीति अपनायी। इससे पिछले ही वर्ष शोगुन की मृत्यु हुई थी और उनके उत्तराधिकारी विदेशी संपर्क के लिए देश के द्वार पूर्ण रूप से उन्मुक्त कर राष्ट्र को और अधिक प्रगति के पथ पर ले जाने के लिए प्रस्तुत थे।

नये सम्राट् के सिंहासनारूढ़ होने से पश्चिमी कुलो को शोगुन-सस्था की समाप्ति के अपने लक्ष्य की पूर्ति का एक तर्कसंगत अवसर मिल गया। फलतः सन् १८६७ की शरद् ऋतु मे सत्सूमा, चोशू, रोसा तथा हिजेन-कुलों की ओर से नये शोगुन को एक संयुक्त स्मृतिपत्र दिया गया, जिसमे अनुरोध किया गया था कि वास्तविक शक्ति-

सत्ता फिर से सम्राट् के हाथो मे आ जाय। इन सबल पश्चिमी कुलो ने बाहर के लगातार दबाव के समय द्वैध शासन-पद्धति मे निहित सकट के तर्क पर बहुत बल दिया। नये शोगुन भी उस पद मे चिपटे रहने की प्रवृत्ति वाले नही थे, जिसके साथ इतनी चिन्ताएँ और परेशानियाँ लगी हो। और इस स्मृतिपत्र के उत्तर मे उन्होने शोगुन पद ही छोड दिया।

इससे शोगुन-सस्था तो समाप्त हो गयी, पर उसमे सबद्ध समस्याओ का अत नही हुआ। सम्राट को सभी अधिकार व शक्तियाँ वापस मिलने का नतीजा यह होना चाहिए था कि सिंहासन के समक्ष सभी कुल-कबीले समान होगे, सरकारी पद सभी कुलो मे बराबर बँट जायँगे, शाही अनुकम्पाएँ निष्पक्ष रूप से सभी को प्राप्त होगी। कम-से-कम शोगुन को यही आशा थी, नही तो वह अपने कुल के हितो को भविष्य मे सुरक्षित कराये बिना कभी इस्तीफा न देते। किन्तु पश्चिमी कबीलो के विचार भिन्न थे। उनकी नीअत देशभक्तिपूर्ण व निष्पक्ष भले ही रही हो पर उनके काम से नीअत की इस सफाई का समर्थन नही हुआ। तोकूगावा पीछे धकेल दिये गये और शासकीय पदो पर पश्चिमी कुलो की इजारेदारी हो गयी। स्थिति कुछ वैसी ही थी, जैसी बहुत दिनो तक बहुमत मे रहकर किसी राजनीतिक दल के अमरीका मे शासन से हट जाने में होती है। नवागन्तुक शक्ति के भूखे थे और स्वभावतया इतने दिनों की लम्बी प्रतीक्षा के लिए इनाम चाहते और माँगते थे। तोकूगावा की इजारेदारी शुरू हुए ढाई सौ वर्ष हो चुके थे और अब जो शासन मे आये थे, अपनी बार मे इस अवसर का लाभ उठा कर हर जगह अपना पूरा नियत्रण कर लेना चाहते थे।

जो कुछ भी इंगित सकेत मिलते है, उनसे स्पष्ट है, कि "मीइजी को अधिकार वापस मिले" आंदोलन के प्रणेताओं के मन में शोगुन के स्थान पर सम्राट् का व्यक्तिगत शासन स्थापित करने का कोई इरादा नही था। वे केवल सम्राट् के 'परामर्शदाता' के पद से शोगुन को हटाना चाहते थे। जब पुराने शोगुन के अनुयायियो ने यह स्थिति देखी, तब उन्होने अपने हितो की रक्षा के लिए हथियार उठा लिये। नये शासन ने इस विद्रोह का आसानी से दमन कर दिया और सन् १८६९ तक उनका विरोध हर ओर से समाप्त हो गया। सम्राट् की अधिकार-सत्ता की पुनस्सस्थापना हो चुकी थी और चार पश्चिमी कुल शासन का पूर्ण नियत्रण कर रहे थे।

# पाँचवाँ अध्याय

# जापान, संक्रमण काल में (१८६८–१८९४)

## (१) मीइजी की पुनस्संस्थापना

शोगुन के इस्तीफे के बाद सम्राट् के पूर्ण अधिकार पाने से विगत व्यवस्था का एका-एक अत नही हो गया। सामन्ती व्यवस्था जैसी की तैसी बनी रही। पुनस्सस्थापन-आंदोलन का आदर्श पुरानी नीतियो व परिपाटियो पर लौटने का भी था और साथ ही यूरोप से आये नये विचारो के आधार पर देश के पुनस्सगठन का भी; और सम्राट् को भौतिक शक्ति दिलाने के पीछे जो लोग थे, वे समझते थे कि आदोलन का अर्थ तोकूगावा की जगह उनके अपने शासन से था। पुरानी परंपरा से एक बडा विच्छेद तब हुआ था, जब शोगुन और उनके सलाहकारो ने एकान्त की नीति त्यागी थी, और एक बडा विच्छेद तब हुआ था, जब सम्राट् मीइजी व पश्चिमी कुलो के नेताओं ने विदेशियो को क्योटो आने दिया था और विदेशी-विरोधी नीति समाप्त हुई थी। परराष्ट्र-नीति मे आमूल परिवर्तन हुए थे, किन्तु आतरिक व्यवस्था सुधरनी थी और सक्रमण की धीमी प्रक्रिया के फलस्वरूप एक नयी व्यवस्था का विकास होना था। कई महत्त्वपूर्ण बातो में यह सक्रमण आज भी स्पष्ट है; किन्तु, इसका उल्लेखनीय प्रारंभ मीइजी के पुनस्सस्थापन के पहले बीस वर्षों में हुआ था। इस अध्याय मे उसी प्रारम्भ का वर्णन अभीष्ट है।

शोगुन के इस्तीफे के बाद तोकूगावा की जगह अपना शासन चलाने, या यह कहना अधिक उपयुक्त होगा कि सम्राट् द्वारा शासन सचालन में उनके मुख्य सलाह-कारों के रूप मे तोकूगावा कुल को हटा कर स्वयं बैठ जाने में अब पश्चिमी कुल स्वतंत्र थे। तोकूगावा-कुल ने अन्य कुलो के समान स्तर पर आने के जो प्रयत्न किये, वे तोकूगावा-विद्रोह का दमन करनेवाले नये गुट की शक्ति के समक्ष विफल हो गये। किन्तु शोगुन-सस्था का स्थान लेने के लिए कोई नयी प्रणाली आवश्यक थी, क्योकि यह गुट बहुत समय तक सत्ता मे रहने का इच्छुक था। कई कुलों की अस्थायी मैत्री के कारण ही शोगुन ने इस्तीफा दिया था और यह मैत्री या तो कायम रखनी थी या उसके स्थान पर कोई अन्य स्थायी व्यवस्था होनी थी।

यद्यपि नया शासन विगत की नीव पर ही खड़ा था, इसके निर्माण पर पश्चिम के उन विचारो का स्पष्ट प्रभाव था, जिनकी समझ धीरे-धीरे हुई थी। पश्चिम की

विशिष्ट देन भी शासनतत्र के अग के रूप मे विधायिनी परिषद् का विचार। राजनीतिक प्रयोगो के अनेक वर्षों मे जो अनेक परिवर्तन हुए, उनमे जापानी प्रणाली मे लगातार अभ्यानुकूलनो द्वारा इस विचार के समावेश का प्रयत्न स्पष्ट है। और यह भी सक्रमण-प्रक्रिया का ही एक अग था, जिसकी ओर अब ध्यान देना उपयुक्त होगा।

सन् १८६९ से सन् १८८९ तक नयी शासन-पद्धति के सगठन और पुनस्सगठन के लिए उठाये गये कदमो का विशद वर्णन अनावश्यक है, केवल सक्षेप मे उस ओर सकेत कर देना पर्याप्त होगा। नये सम्राट् ने शुरू से ही सत्सूमा, चोशू, हीजेन व टोसा-कुलो (जिन्हे साचो-हीटो गुट कहते थे) के सलाहकारो के मार्गदर्शन पर चलना आरम्भ कर दिया था।[1] उनके निर्देशन मे एक केन्द्रीय सगठन का जन्म हुआ, जिसमे दरबार व क्षेत्रीय भू-स्वामियो दोनो का उपयोग हो जाता था। सच्ची शासन सत्ता जिनके हाथ मे थी वे नेता सामने नही आते थे और प्रमुख पदो पर दूसरो को आने देते थे।

डाक्टर मैकगवर्न ने लिखा है . सम्राट् व कूगे उत्सुकतापूर्वक फिर से सत्ता पाने की बाट देख रहे थे और बहुत दिनो से छिने सभी विशेषाधिकारो का पूरा उपयोग करने के लिए सकल्पबद्ध थे। सामन्ती भूस्वामी या दाइम्यो, जो इस परिवर्तन के लिए उत्तरदायी थे, समझते थे कि पद फल पाना उनका अधिकार है, और चूँकि दोनो पक्ष शक्तिशाली भी थे और क्षमतावान् भी, दोनो को ही बड़े-बड़े नाम वाले पद और उपाधियो से संतुष्ट करना था, किन्तु साथ ही उन्हे इस स्थिति मे रखना था कि वे राज्य के वास्तविक मालिक, सामुराई अहलकारो की नीतियो मे हस्तक्षेप न कर सके।[2]

यह कठिन काम केन्द्रीय शासन मे तीन पद बनाने से संपन्न हुआ। पहला पद था सर्वोच्च अधिकारी (सोसाइ) का जो सम्राट् के निकट सबधी को मिलता था; दूसरा पद प्रथम श्रेणी के पार्षदो (गी जो) का था, जिनमे आधे दरबारी कुलीन वर्ग (कूगे) के होते थे और शेष आधे प्रमुख कुलो के (दाइम्यो) क्षेत्रीय भूस्वामियो के। इस परिषद् का काम अशत विधायको का था और अशत शासको का। तीसरा पद था दूसरी श्रेणी के पार्षदो (सान्यो) का, जिसमे पाँच कूगे और पन्द्रह सामुराई होते थे। ये दोनो परिषदें सोसाइ के अधीन होती थी। सम्राट् के पुनस्संस्थापन मे जो लोग सबसे प्रमुख थे, वे सोसाइ के कार्यालय मे छोटे पदो पर लग गये थे, किन्तु, शुरू से ही वे ही वास्तविक शक्ति का उपयोग कर रहे थे। यह सगठन जिस वर्ष (सन् १८६८) बना उसी वर्ष बदल भी दिया गया। इन तीनो पदो के अधिकार विधायिनी परिषद् (दाइजोक्वान) को हस्तातरित हो गये, इसके दो सदन थे।

राज्य-परिषद् या उच्च सदन में गीजो व सान्यो थे और विधान सभा या निम्न सदन मे सामन्ती वर्ग के प्रतिनिधि थे। असली शक्ति राज्य-परिषद् मे निहित थी, विधान सभा केवल उन्ही विषयो पर विचार करती थी जो राज्य-परिषद् उसके पास भेज देती थी। इसके अतिरिक्त राज्य के दो मुख्य मत्रियो तथा उनके अधीन अधिकारियो की व्यवस्था की गयी थी, ये मत्री दाइजोक्वान और दरबार से सपर्क का काम करते थे। इस सगठन का एक लाभ यह था कि शक्ति एक ही सगठन मे केन्द्रित थी और दूसरा लाभ यह था कि सन् १८६८ मे सम्राट् ने सार्वजनिक कार्यों के प्रशासन मे परामर्श लेने की जो शपथ ली थी वह भी पूरी हो जाती थी।[३]

## (२) सामन्ती व्यवस्था का अन्त

दाइजोक्वान के माध्यम से कार्य करने वाले इस नये शासन को कई महत्त्वपूर्ण व कठिन समस्याओ का सामना करना पड़ा। सबसे बडी और तात्कालिक आवश्यकता थी सारे देश मे इसकी सत्ता की स्थापना की। इसमे सामन्तवाद की पूरी समस्या बाधा बन कर सामने आ गयी। जब तक सामन्ती सरदार शाही शासन और व्यक्तियो के बीच थे तब तक सत्ता का प्रभावकारी केन्द्रीकरण हो ही नही सकता था।

तोकूगावा के पतन के बाद उनकी सम्पत्ति और भूमि का प्रबन्ध सीधे केन्द्रीय सरकार ने सम्हाल लिया था। इसे छोड दें तो सामन्ती व्यवस्था जैसी-की-तैसी अछूती मौजूद थी। सत्ता के केन्द्रीकरण की दिशा मे पहला कदम सन् १८६८ मे उठाया गया, जब यह आदेश जारी हुआ कि हर सामन्ती सरदार के क्षेत्र मे केन्द्रीय सरकार का एक अधिकारी रहेगा। इससे केन्द्रीय सरकार का प्रभावक्षेत्र हर जगह नही बढा, क्योकि प्रशासन-अधिकार मूल कुल-नेताओ के ही हाथो मे अब भी था। इससे केवल इतना हुआ कि ये कुल-नेता केन्द्रीय शासन की मौजूदगी के आदी होने लगे। दूसरा कदम सन् १८६९ मे उठाया गया, जब पश्चिमी कुलो के कीडो, साइगो व अन्य नेताओ ने, केन्द्रीय सरकार को सशक्त बनाने की आवश्यकता स्वीकार कर, सत्सूमा, चोशू, हिजेन व टोसा कुल नेताओ को इस बात पर राजी कर लिया कि वे अपने-अपने क्षेत्रो की भूमि व आबादी के नक्शे व पंजियाँ सम्राट् के सिपुर्द कर दें; इस प्रकार सम्राट् के अधिकार इन क्षेत्रो पर स्पष्ट रूप से जम गये। इससे ये नेता खुले आम केन्द्रीकरण की नीति के समर्थक साबित हो गये और सरकार कुछ महीने बाद शेष सभी कुलो से ये कागजात ले सकी। इसके साथ ही यह घोषणा कर दी गयी कि कुल नेता अपने-अपने क्षेत्रों के राज्यपाल की हैसियत से कायम रहेगे। सन् १८७१ में सामन्तवाद के अंत की विधिवत् घोषणा शाही सरकार द्वारा कर दी गयी।

विशेष अधिकार व सुविधाएँ प्राप्त किसी भी वर्ग से ये अधिकार व सुविधाएँ वापस ले लेना सामान्यत. आसान काम नही होता और जापानी सामन्ती सरदारो द्वारा इन्हे राष्ट्र के लिए सहर्ष त्याग देने की देशभक्ति की चरमसीमा के रूप मे समझा जाता रहा है। सामन्ती सरदारो का यह त्याग निस्सन्देह प्रशसनीय और देशभक्ति-पूर्ण था, किन्तु इसके पीछे केवल मात्र देशभक्ति की ही भावना रही हो ऐसी बात नही है। केन्द्रीय व प्रान्तीय शासनो के 'मस्तिष्क' सामन्ती कुलीनो का नही सामुराई वर्ग का था। अपने-अपने क्षेत्रो मे दाइम्यो बहुत दिनो से नाममात्र के ही स्वामी थे। सामन्तवाद की समाप्ति मे अपने बुद्धि-वैभव के प्रयोग के लिए व्यापक अवसर देख कर इस सामुराई वर्ग ने चार सबल पश्चिमी कुलो के नेताओ को स्वेच्छा से क्षेत्रीय अधिपतियो के अपने पदो को त्याग देने को राजी कर लिया। विदेशी सपर्क की टक्कर में जापान की स्थिति सुदृढ बनाने के लिए केन्द्रीय शासन मे अधिकाधिक सत्ता निहित करने और सामन्तवाद की समाप्ति की वास्तविक आवश्यकता की स्वीकृति से यह राजीनामा और भी प्रभावकारी हो गया। दूसरे शब्दो मे, स्वार्थ और राष्ट्र-हित, दोनो की दृष्टि से यह कदम उपयुक्त हो गया। चार सशक्त कुलो की सैन्य-शक्ति द्वारा समर्थित सरकारी आदेश मानने के सिवा अन्य कुलो को कोई और चारा भी नही था।

इसके अतिरिक्त, इन विशेषाधिकारो की समाप्ति के समय जो समझौते हुए, उनमे दाइम्यो के हितो की सुरक्षा की पूरी-पूरी व्यवस्था कर दी गयी थी। दाइम्यो और सामुराई के बीच हुए इन समझौतो का रूप भारी-भारी पेशन देने का था। अपनी-अपनी साकेतिक मालगुजारी का दाइम्यो को दशमांश और सामुराई को आधा अश मिलने की व्यवस्था हुई।[४] चूँकि दाइम्यो की साकेतिक मालगुजारी उनकी असली आय से कही ज्यादा होती थी इस व्यवस्था में उन्हे निश्चित रूप से लाभ था। उन्हे अब अपने पास से प्रान्तीय प्रशासन व्यय-भार नही उठाना पड़ता था और सरकार से मिली पूरी धनराशि वे अपने ऊपर खर्च करने को स्वतत्र थे। चावल के उत्पादन व मूल्य पर अब उनकी आय घटती-बढ़ती भी नही थी।

इस समझौते से जहाँ दाइम्यो का आर्थिक लाभ हुआ, वही सामुराई इस सिद्धान्त के लागू होने से घाटे मे रहे। उनकी वास्तविक व साकेतिक आयो मे इतना अतर नहीं था; वे लगभग बराबर ही होती थी, और उनके भरण-पोषण के लिए मुश्किल से पूरी पड़ती थी। इस आय के भी आधे हो जाने से निश्चय ही अनेक सामुराइयों को आर्थिक कठिनाइयो का सामना करना पड़ा। यह सही है कि वे अपनी आय में

वृद्धि करने को स्वतत्र थे, लेकिन जो वर्ग पीढियो से बिना कोई काम किये खाता रहा हो, उसका तत्काल आजीविका के कामो मे लग जाना कठिन था। फिर, सामन्तवाद के अत से केवल उनकी आय ही कम नही हुई थी, उन्हे मिली विशेष सुविधाए व विशेष अधिकार भी उनसे छिन गये थे, जैसे कि दो तलवारे एक साथ धारण करने का अधिकार, जिसमे वे आम जनता से अलग पहचाने जाते थे। इस प्रकार सामुराई-वर्ग मे शुरू से ही असतोष व्याप्त हो गया था, किन्तु वे बडबडाने के सिवा कुछ कर भी न सकते थे। स्वामिभक्ति और निष्ठा ही उनकी जन्मजात परंपरा थी और सम्राट् के अब पवित्र हस्ताक्षरो से जारी और दाइम्यो द्वारा स्वीकृत आदेश के विरुद्ध विद्रोह उनकी कल्पना मे भी नही आता था। इसके अतिरिक्त, सम्राट् के अधिकारो की पुनस्संस्थापना और सामन्तवाद की समाप्ति के बीच के वर्षों मे उनका अपनी विशेष स्थिति का औचित्य भी डिग चुका था। जनता के दृष्टिकोण मे परिवर्तन के फलस्वरूप ही उनकी मानसिक स्थिति घबराहटभरी थी। "जिस सीमा तक भी आम जनता राजनीति मे दिलचस्पी लेती थी, उस समय के सीमित समाचारपत्रो मे प्रकाशित प्रेरित उस लेखमाला से वह प्रभावित हो चुकी थी, जिसमे सामुराई-वर्ग को हराम की कमाई खानेवाला निठल्ला परजीवी वर्ग बताया गया था।"[५] और आम जनता के दृष्टिकोण से सामुराई-वर्ग पर प्रभाव पडता ही।

किन्तु परिस्थिति के विश्लेषण से प्रकट होगा कि सामन्ती प्रथा की समाप्ति की सफलता अतत: आधुनिक शस्त्रास्त्र से सुसज्जित, हर वर्ग से अनिवार्य रूप से भरती की गयी तथा चार सबसे जबरदस्त कबीलो की सहायता प्राप्त करने वाली उस सेना की सरकारी शक्ति पर निर्भर थी, जो इस आदेश के हर विरोध को कुचल देने मे समर्थ थी।

सामन्ती कुलीनो व सामुराई को पेशनें देने की—कुछ को पीढी-दर-पीढी और कुछ को आजीवन पेशने देने की—योजना से सरकार पर ऐसा असाधारण आर्थिक बोझ आ पड़ा, जिसे वहन करने को वह बिलकुल तत्पर नही थी। वास्तव में सरकार के साधारण खर्च ही जिस तेजी से बढ़ रहे थे, उस तेजी से आय नहीं बढ रही थी, और विदेशियों से हुई संधियो के कारण तटकर बढ़ाने से मजबूर सरकार इस बढते हुए खर्च को जनता पर सीधे कर बढा कर ही पूरा कर रही थी। सन् १८७१ मे संधियों के पुनरीक्षण की कोशिश की गयी, पर पुरानी संधियों द्वारा मिले व्यापारिक लाभ की स्थिति को छोड़ने के लिए विदेशी शक्तियाँ तैयार नहीं थीं। फलत: सरकार उसी कर-प्रणाली से अपना काम चलाने के लिए अधिक आय ढूँढ़ने को बाध्य

थी, जो बिलकुल लचीली नही थी। जब बढ़ते हुए साधारण खर्च मे पेशनो का असाधारण बोझ जुड गया, तब समस्या एकदम जटिल हो गयी और ऐसा लगने लगा कि इसका निराकरण असभव है।

अतत सन् १८७३ मे वित्तमत्री काउण्ट ओकूमा ने स्थिति सुधारने के लिए आवश्यक एक इष्टसाधक उपाय यह निकाला कि पेशने कम कर दी जायँ। उनकी सिफारिश पर पहले केवल छोटे सामुराई-वर्ग पर वैकल्पिक रूप मे यह योजना चलायी गयी। यह घोषणा की गयी कि १०० कोकू या इससे कम चावल पानेवाले सामुराइयो की पेशने "सरकार अगली फसल आने पर चावल की बाजार-दर पर एकमुश्त दे देने को तैयार है; यह अदायगी आधी नकद और आधी आठ प्रतिशत व्याज वाले सरकारी ऋण-पत्रो के रूप मे होगी; जिन्हे पैतृक पेशने मिलती है, उन्हे इस एकमुश्त अदायगी में छ वर्ष और आजीवन पेशन पानेवालो को चार वर्ष की आय प्राप्त होगी।"[६] सन् १८७६ में कुछ सशोधनो के साथ यह वैकल्पिक योजना अनिवार्य रूप से लागू कर दी गयी।[७] अनिवार्य रूप मे इस योजना से सामुराई-वर्ग पर सचमुच बडी आर्थिक कठिनाई आयी और उस वर्ग में बड़ा असंतोष फैला। वास्तव मे यह योजना पहले दिये गये वचन और समझौते को अंशत रद कर देने और उससे मुकर जाने के सिवा कुछ भी नहीं थी और इस दृष्टि से वह अनुचित भी थी। पर, इससे सरकार को आर्थिक कठिनाई से छुटकारा तो मिला ही और कुछ व्यक्तियो पर आयी कठिनाइयो के बावजूद देश के हित मे यह आवश्यक इष्ट-साधक था।

## (३) अहलकारी समाज में मतभेद

सरकार के समक्ष जो दूसरी बडी समस्या थी वह स्वभाव से बिल्कुल भिन्न होते हुए भी सामान्य नीति से ही सबधित थी। पुनस्सस्थापना के फौरन बाद इस आदोलन के समर्थको मे फूट पड गयी। एक गुट पहले से ही शाही नेतृत्व मे प्रसारवादी सिद्धात का प्रचार कर रहा था। सामुराई-वर्ग के बड़े समुदाय में इससे "अतिराष्ट्रीय" भावनाएँ उदय हुई थी। पुनस्सस्थापन के पूर्व सारा प्रचार राष्ट्रवादी था और ऐसी स्थिति मे राष्ट्रीय देशभक्ति की अभिव्यक्ति शाही प्रसारवाद की दिशा मे होना कुछ विलक्षण नही था। जो भी हो, सम्राट् के अधिकार प्राप्त करने के बाद जो समुदाय सत्ता नियत्रित कर रहा था उसमे एक गुट "सैनिक अहलकारो" का भी था, जो विदेशो से युद्ध ठान कर देश को एकता के सूत्र मे बाँध कर सशक्त करने की सोचते थे। इस गुट के सबध मे डाक्टर मैकगवर्न ने लिखा है—

........सैनिक अहलकारो को प्रतिक्रियावादी कहा जा सकता है, वे पुनस्सस्थापना को विगत मे लौटने की दिशा मे एक कदम मानते थे, पश्चिम से आये विचारो

को वे सन्देह की दृष्टि से देखते थे; सामन्ती प्रथा के अत से उन्हे दु ख था, सामाजिक सुधारो मे उनकी कोई दिलचस्पी नही थी और वे एशिया महाद्वीप मे जापान के प्रसार की उत्सुकतापूर्वक प्रतीक्षा कर रहे थे, वे कोरिया, मचूरिया व साइबेरिया व चीन के बड़े भाग हडपना चाहते थे। वे देश की अतिशय राष्ट्रीय भावना को उकसाते थे और पश्चिमी विदेशियो से हुई सधियो के प्रति उनका दृष्टिकोण असहिष्णुता का था। दाइम्यो व सामुराई-वर्ग के बड़े भागो की यही प्रचलित मनोवृत्ति और भावना थी, और शासकीय अल्पतत्र मे यह मनोवृत्ति साइगो ताकामोरी, गोटो, सोयेजीमा व ईटो मे परिलक्षित होती थी। दूसरा पक्ष या नागरिक अहलकारी वर्ग पुनर्निर्माण, सुधार, सस्कृति के समावेश, कुशलता और पश्चिमी तरीको के पक्ष मे था। वह साम्राज्यवादी प्रसार और सैन्यवाद का विरोधी था। वह शिक्षा, उद्योग, व्यवसाय के विकास, वैज्ञानिक अन्वेषण-अनुसधान को प्रोत्साहन व कानूनो को सहितकरण के पक्ष मे था।....यह वर्ग नये शासन का मुख्य पोषक था और इस शासन के प्रारम्भिक काल मे सरकार को दिशा देनेवाला दल था, इसके नेता थे कीडो, ओकूबो और बाद मे इटो।[८]

सरकार मे इन दोनो गुटो की सिद्धान्तो के आधार पर पहली टक्कर सन् १८७१ के बाद हुई। उस वर्ष लू चू द्वीप-समूह के कुछ लोग जहाज पर चले और फारमोसा के दक्षिणी तट पर उनका जहाज टकरा कर ध्वस्त हो गया; वहाँ के जंगली लोगो ने इन्हें मार डाला। लू चू को चीन और जापान दोनो अपना-अपना करद राज्य मानते थे। जापान ने फौरन अपने इस दावे को पेश किया और इन हत्याओ के लिए चीन से हरजाना व सतोष माँगा। चीन ने इस दावे को इस आधार पर ठुकरा दिया कि दोनो क्षेत्र—लू चू व फारमोसा—उसी के अधिकार क्षेत्र मे है। जब जापान अपनी माँग पर अड़ा रहा, तब चीन ने अपनी स्थिति बदली और कहा कि दक्षिणी फारमोसा के निवासियो पर उसका कोई प्रभावकारी नियत्रण ही नही है; इस प्रकार चीन ने जापान को स्वय यह आमत्रण दे डाला कि वह आकर स्वय अपनी शिकायत दूर कर ले। जापान में जो सैनिक दल था उसने चीन के विरुद्ध युद्ध छेड़ देने की माँग उठायी, चीन से शह पाकर कोरिया ने जापान के प्रति जो रुख अपनाया था, उससे इस माँग ने जोर पकड़ लिया। सैनिक दल ने तत्काल कोरिया-अभियान की माँग की। उस समय "शान्ति और आतरिक प्रगति" दल के नेता विदेश मे थे और सैनिक दल मजबूत पड़ रहा था। संघर्ष उसी समय छिड़ जाता यदि सम्राट् इस बात पर जोर न देते कि राजकुमार इवाकूरा के नेतृत्व में कीडो व ओकूबो जैसे बड़े नेताओ के प्रतिनिधिमण्डल के विदेश से लौटने के

पहले इस प्रश्न पर कोई फैसला न लिया जाय। प्रतिनिधिमण्डल की वापसी पर अहलकारी समाज मे भीतर-ही-भीतर जमकर सघर्ष हुआ और यद्यपि शाति-दल की जीत हुई पर सयुक्त शासन कायम रखने के फैसले पर ही यह जीत हुई। परामर्शदाताओ मे मतभेद ओर व्यापक सुधारो के श्रीगणेश से उत्पन्न अशाति के फलस्वरूप अनेक उपद्रव व छोटे-मोटे विद्रोह हुए। सरकार ने शाति-स्थापना की दृष्टि से, अतत॰ अतिराष्ट्रवादियो से यह समझौता कर लिया कि चीन के विरुद्ध युद्ध की घोषणा तो नही होगी पर दण्ड देने के लिए एक अभियान फारमोसा के विरुद्ध होगा। यह काररवाई यूरोप व अमरीका द्वारा पेश उस दृष्टान्त के अनुरूप ही थी जो उन्होने लगभग समान परिस्थितियो मे चोशू और सत्सूमा के विरुद्ध कदम उठाकर दिया था। यह काररवाई फारमोसा मे हुई एक ऐसी ही अन्य घटना के सबध मे अमरीकी अभियान की अनुकृति भी थी। इस समझौते से टोकियो में अस्थायी रूप से शासन मे सौहार्द तो बढा, पर, इसका एक दुर्भाग्यपूर्ण फल यह भी हुआ कि कीडो की सेवाओ से सरकार वचित हो गयी, इस नीति को मानने की जगह कीडो ने इस्तीफा दे दिया।

शाति-समर्थको की, दण्ड-अभियान के बाद के निर्णय से सीमित, विजय से सरकार को आतरिक पुनस्सगठन और सुधार के अपने कार्यक्रम को पूरा करने का अवसर मिला। किन्तु इस कार्यक्रम की विवेचना के पहले परराष्ट्र-संबधी एक अन्य घटना का विवरण देना यहाँ उपयुक्त होगा। फारमोसा की घटना के शीघ्र वाद, बाहरी सघर्ष का एक सूत्र उभर आया, इस बार यह कोरिया मे हुआ। मुत्सुहितो के सिहासन पर बैठने के समय कोरिया सरकार को इसकी सूचना दी गयी थी और उससे जापान के प्रति अपनी निष्ठा जारी करने को कहा गया। कोरिया ने पराधीन राज्य की यह स्थिति जारी रखने से इनकार कर दिया और सन् १८७५ मे, कोरिया सागर मे पैमाइश व सर्वेक्षण करते हुए एक जापानी जहाज पर कोरिया के एक किले से गोली चलायी गयी। जापान के सैनिक दल को इससे प्रोत्साहन मिला और युद्ध होते-होते बचा; कोरिया-सरकार ने जापान के साथ व्यापार और शाति की सधि कर ली।

किन्तु जापानी सैनिक-दल को इससे पूर्ण सन्तोष नही हुआ, क्योकि वह तो एक पड़ोसी राज्य के विरुद्ध युद्ध छेडकर उसे जीतने की आशा कर रहा था। फलत, सामुराई-वर्ग की शिकायतो की सूची मे एक और शिकायत जुड़ गयी। पेशनो के अनिवार्य रूप से कम किये जाने की घोषणा ने चिनगारी का काम किया। साइगो टाकामोरी, जिन्होने सन् १८७२ मे शाति-दल की जीत के बाद सरकार से इस्तीफा

दे दिया था, सन् १८७७ मे असतुष्ट सत्सूमा सामुराई-वर्ग का नेतृत्व करते हुए सरकार के विरुद्ध विद्रोह कर बैठे। इन विद्रोही सामुराइयो ने जो रुख अपनाया, उससे सम्राट् की पुनस्सस्थापना के आदोलन का सामती स्वरूप प्रकट हो जाता है। विद्रोह के समर्थन में तर्क यह दिया गया कि सम्राट् को उनके अधिकार दिलाने के लिए फिर हथियार उठाना जरूरी हो गया। सरकार और सम्राट् के बीच बडी सावधानी से भेद किया गया और सामुराइयो ने यह दिखाने की कोशिश की कि जिस तरह शोगुन-काल मे होता था, सरकार ने सम्राट् के अधिकार हड़प लिए है और सम्राट् इन अधिकारो से वचित हो गये है। किन्तु, वास्तव मे सामुराई लड इसलिए रहे थे कि सम्राट् के परामर्शदाताओं को उनकी जगह से हटा कर वह जगह स्वयं ले ले। राष्ट्रीय अनिवार्य भरती वाली सेना सामुराई उपद्रव के दमन के लिए भेजी गयी और सामुराई उसके सामने टिक नहीं सके, विद्रोह की समाप्ति के बाद सम्राट् और सरकार के बीच का सैद्धान्तिक भेद का प्रश्न भी टल गया, यह प्रश्न फिर सन् १९३० में उठाया गया। सरकारी सेना की सफलता से सामन्ती प्रथा भी अतिम रूप से समाप्त हो गयी और इससे शातिमय विकास के समर्थको को अपनी योजनाओं को कार्यान्वित करने का अवसर मिल गया।

विद्रोही सामुराइयो की यह धारणा सही थी कि पुनस्संस्थापना से सम्राट् को व्यक्तिगत अधिकार प्राप्त नही हुए थे; वास्तव मे न तो यह आंदोलन के नेताओं का लक्ष्य ही था और न उनकी योजना में इस प्रकार का इरादा बहुत उपयुक्त ही होता। दूसरी ओर, पुनस्सस्थापना मे आम जनता या उसके किसी बड़े वर्ग को भी राजनीतिक सत्ता नही मिली थी, और इस प्रकार की सत्ता दिलाना भी आंदोलन के नेताओ का उद्देश्य नही था। जैसा कि पहले कहा जा चुका है, चार कुलो के नेताओं के एक छोटे से समूह ने शासन-सत्ता अपने हाथों में कर रखी थी। नीचे के छोटे-मोटे पदों पर भी इन्ही कुलों के व्यक्ति नियुक्त हो रहे थे। शासन पर नियत्रण करनेवाला यह छोटा-सा गुट और भी संकीर्ण होता जा रहा था, क्योकि, सैनिक व नागरिक अहलकारो व इसी प्रकार के नीति-मतभेद उठते रहते थे। जहाँ तक अधिकारो के व्यक्तिगत प्रयोग का संबंध था, सम्राट् की स्थिति मे शोगुन-प्रथा की समाप्ति से विशेष अतर नही आया था।

किन्तु जिस छोटे से वर्ग ने सारी शक्ति अपने हाथो मे केन्द्रित कर रखी थी, और जो देश के पुनस्सगठन और विदेशियो के सामने देश के टिके रहने के लिए शक्ति के केन्द्रित बने रहने को आवश्यक समझता था, उसे अब एक तीसरी शक्ति का सामना करना पड़ा और धीरे-धीरे यह शक्ति बढ़ती गयी; यह शक्ति पश्चिम

से आये इस विचार की थी कि शासन मे आम जनता को भी भागीदार होना चाहिए। स्वय अहलकारी वर्ग मे एक तीसरा गुट वन गया, जो नागरिक व सैनिक अहलकारो से भिन्न था और जिसे आमूल परिवर्तनवादी दल कहा जा सकता था।

अहलकारी वर्ग की गुटबन्दी का विरोधी यह परिवर्तनवादी समुदाय अनेक कारणो से, आम जनता द्वारा निर्वाचित प्रतिनिधि सभा (डायट) के संगठन के पक्ष मे था और माँग करता था कि राज्य के मन्त्रियो को इस डायट के प्रति उत्तरदायी होना चाहिए। यूरोप के परिवर्तनवादी दल सामान्यत शातिवादी होते थे, किन्तु जापान के इन परिवर्तनवादियो ने जनप्रिय होने के लिए प्रसार की नीति का प्रचार किया। इस राजनीतिक विचारधारा का प्रतिनिधित्व इटागाकी, और बाद मे ओकूमा ने किया।[१]

इटागाकी पुनस्सस्थापना-आंदोलन के नेताओ मे थे, किन्तु साइगो के साथ वह भी फारमोसा-काण्ड के समय से सत्तारूढ दल के विरुद्ध हो गये थे। किन्तु, उनके विरोध ने जो रूप लिया, वह अधिकाश सामुराई-वर्ग के दृष्टिकोण से बिलकुल भिन्न था। सन् १८७४ मे उन्होने राजनीति-विज्ञान के अध्ययन के लिए एक सगठन बनाया। उसके तत्काल बाद, उसी वर्ष, उन्होने अपने अनुयायियो के साथ सम्राट् को एक स्मृतिपत्र दिया, जिसमे प्रतिनिधि-सभा की स्थापना की माँग की गयी थी। तभी से यह माँग और इसका महत्त्व बढने लगा, अंशत, इसका कारण उत्तरदायी सरकार की स्थापना की इच्छा भी थी। स्मृतिपत्र देनेवालो ने अपनी प्रार्थना का आधार सन् १८६८ में सम्राट् द्वारा दिये गये इस आश्वासन को बनाया था कि वह राष्ट्र की इच्छाओ के अनुकूल शासन करेंगे।

यह आश्वासन सन् १८६८ के तथाकथित विधान की पहली धारा मे मौजूद था। इस धारा मे, जिसे सामान्यत , शासपत्र शपथ कहते हैं, लिखा था—

विवाद और विचार-विनिमय की पद्धति सर्वत्र अपनायी जायगी और हर निर्णय जनता का तर्क सुनकर किया जायगा। ऊँच और नीच का दृष्टिकोण एक ही होगा और इस प्रकार सामाजिक व्यवस्था पूरी तरह निबाही जायगी। यह आवश्यक है कि नागरिक व सैनिक शक्तियाँ एक ही समुच्चय मे केन्द्रीभूत हों, सभी वर्गो के अधिकारो की रक्षा हो और राष्ट्र-मानस पूर्णरूपेण सतुष्ट हो। पुराने समय की असभ्य रीतियो का अंत किया जायगा और शासकीय काररवाईयो के लिए तटस्थता व न्याय का वह आधार अपनाया जायगा जो प्रकृति में परिलक्षित होता है। साम्राज्य की नीव जमाने के लिए सारे संसार से ज्ञान और बुद्धि का सकलन होगा।

सन् १८६८ के इस विधान मे यह धारा रखते समय सरकार के मन मे जो विचार था, वह सन् १८७४ की इटागाकी की माँग से बिलकुल भिन्न था। उस समय की कल्पना तो निस्सन्देह ही यह थी कि राष्ट्रीय विधायिनी सभा की स्थापना द्वारा सामन्ती कुलीनवर्ग को नयी व्यवस्था मे शामिल रखा जाय। उस समय कोई यह साबित करने की भी कोशिश न करता कि यह सभा राष्ट्र का प्रतिनिधित्व करती है; इसके द्वारा तो सामन्ती शासक-वर्ग को आत्म-अभिव्यक्ति का अवसर दिया जा रहा था। सन् १८७२ मे विदेश से इवाकूरा-मिशन के साथ वापस लौटने पर कीडो ने जो स्मृतिपत्र दिया था, उससे भी प्रकट है कि इस धारा का इससे अधिक और कोई आशय नही था। इस स्मृतिपत्र मे कीडो ने बिलकुल नये प्रस्ताव के रूप मे उत्तरदायी सरकार बनाने का सुझाव रखा था। सन् १८६८ के विधान के लागू होते समय कीडो सरकार के एक प्रमुख सदस्य थे, इसलिए यह मानना होगा कि शासपत्र शपथ का वह कोई अन्य अर्थ ही लगाते थे।

फिर भी, सायो-हीटो गुट के छिन्न-भिन्न हो जाने से सन् १८७४ मे सरकार की स्थिति इतनी निर्बल थी कि इन विरोधी तत्वो को सतुष्ट करने का प्रयास किया गया। यह ओसाका-समझौते के रूप मे हुआ, जिसके अनुसार एक सीनेट (जेनरो-इन) और पृथक् न्यायालय की स्थापना हुई और क्षेत्रीय राज्यपालो की एक परिषद् का निर्माण हुआ, ताकि विभिन्न प्रश्नो पर जनता की राय जानने की व्यवस्था शासन-तंत्र के एक अग के रूप मे की जा सके; यह सब इस शिकायत को दूर करने के लिए किया जा रहा था कि सत्ता का अतिशय केन्द्रीकरण हो गया है। इटागाकी-शासन के पुनस्संगठन और साइगो फारमोसा-अभियान से अशत सतुष्ट होकर शासक अल्प-तत्र मे वापस आ गये। कीडो सरकार से बाहर ही रहे। शीघ्र ही, समझौते के लागू करने के ढग से असतुष्ट होकर साइगो और इटागाकी फिर सरकार से बाहर निकल आये। जैसा कि पहले कहा जा चुका है, साइगो सामुराई-हितो की रक्षा के लिए विद्रोह सगठित करने मे लग गये; इटागाकी प्रतिनिधि-सभा के पक्ष में आदोलन सगठित करने में व्यस्त हो गये और उन्होने तर्क दिया कि केन्द्रीय सरकार द्वारा नियुक्त राज्यपालो की परिषद् वास्तव मे जन-प्रतिनिधि-सस्था नहीं कहला सकती। इस आंदोलन की सफलता यह हुई कि सन् १८७८ मे सरकार ने राज्यपालो व स्थानिक शासनो को उनके कर्त्तव्यो की पूर्ति मे सहायता देने के लिए प्रान्तीय सभाओ के सगठन का निर्णय कर लिया।

यदि इन्हें रियायतो की सज्ञा दी जा सकती है, तो इन रियायतों ने केवल आग मे घी का काम किया। सन् १८८१ में राजनीति-विज्ञान के अध्ययन के लिए स्थापित संस्था ने अपना स्वरूप बदल दिया और वह जापान में वैधानिक और

प्रतिनिधित्वपूर्ण सरकार के लिए प्रयत्नशील सुसगठित राजनीतिक दल बन गया। सन् १८७४ के बाद राजनीतिक प्रश्नो के अध्ययन के लिए इसी प्रकार की अन्य गोष्ठियाँ भी बन गयी थी और उनमे से कुछ इटागाकी की सस्था मे शामिल हो गयी और इस प्रकार जियोटो (उदार दल) का जन्म हुआ। इटागाकी इस दल के नेता बने और इस प्रकार केन्द्रीय सगठन की स्थानीय शाखाएँ भी सगठित होने लगी।

## (४) वैधानिक आंदोलन

एक अन्य अधिकारी काउण्ट ओकूमा ने सन् १८८१ मे वैधानिक आदोलन का समर्थन किया। जब पेशने कम की गयी थी, तब ओकूमा वित्तमत्री थे और सन् १८८१ तक वे इसी पद पर कायम थे, अपने पद से इस्तीफा देने का कारण उन्होने उत्तरी द्वीप, होक्काइडो में उपनिवेशीकरण को प्रोत्साहन देने के लिए सरकार द्वारा किये गये व्यापक विकास कार्य को एक निजी कपनी को मिट्टी के मोल बेच दिये जाने का विरोध बताया। उपनिवेशीकरण-योजना असफल हुई थी और उस द्वीप मे बड़ी धन-राशि फँसा देने के बाद सरकारी अफसरो ने प्रस्ताव किया था कि सरकार की लाभ-कर संपत्ति वहाँ कुछ निजी हितो को दे दी जाय। वित्तमत्री की हैसियत से ओकूमा इस प्रस्तावित सौदे के सबध मे जानते थे और टोकियो के नागरिको की एक विराट आम सभा मे उन्होने इस सौदे का विरोध किया। साथ ही, उन्होने प्रतिनिधि-सभा की माँग का भी समर्थन किया। किन्तु, सरकार के विरुद्ध विरोध की भावना को एक दल या समुदाय मे केन्द्रित करने के लिए इटागाकी का साथ देने की जगह उन्होने सन् १८८२ में एक नये राजनीतिक दल, रिक्केन काइशिण्टो (प्रगतिशील दल) की स्थापना कर दी। इस नये दल की स्थापना से जापान मे राजनीतिक दलो के विकास की एक निरतर प्रवृत्ति का भी पता लगता है, वहाँ लगभग समान सिद्धान्तो का अनुसरण करने वाले लोग भी मिलकर एक दल मे नही आते। हर नेता अपने अनुयायियों के साथ एक पृथक् संगठन कायम कर लेता है। इटागाकी और ओकूमा दोनों समान लक्ष्यो के लिए ही प्रयत्नशील थे, किन्तु कोई एक दल इन दो व्यक्तियो को एक साथ अपने मे नहीं रख सकता था।

ओकूमा के सरकार से निकलने के बाद सन् १८८१ में ही केन्द्रीय सरकार ने घोषणा कर दी कि सन् १८९० में केन्द्रीय सभा का गठन हो जायगा और इसके पहले उसके गठन के सारे आदोलन समाप्त कर दिये जायँ। इस घोषणा की व्याख्या दो प्रकार से की जा सकती है। इसे राजनीतिक दलो के आंदोलन, विशेषकर ओकूमा की कुछ-कुछ चमत्कारिक काररवाई का नतीजा समझा जा सकता है, और इसे पुनस्संगठन-प्रक्रिया का एक

अग भी समझा जा सकता है, और जो राजनीतिक आदोलन का समसामयिक हो गया। पुनस्सस्थापना के बाद के बीस वर्षो मे सरकार एक बार आगे बढ़ने और दूसरी बार रुककर सयम की नीतियो पर अमल करती रही थी। इसलिए यह भी समझा जा सकता है कि सरकार के मन मे, जन-मनोवृत्ति से पृथक् कुछ कदम उठाने का इरादा था, किन्तु ये कदम वह उपयुक्त समय पर ही उठाना चाहती थी। आगे बढनेवाले हर कदम के साथ उसे मजबूती से जमाने का काम भी जरूरी था और यह तभी हो सकता था जब और अधिक परिवर्त्तन की माँग करने वाले आदोलन थमे रहे। सरकार का दो नीतियो के बीच ढुलमुल रहना प्रकट है, किन्तु इसकी एक व्याख्या यह भी की जा सकती है कि सरकार केवल वही रियायते देना चाहती थी, जिनकी माँग तेज हो, और ये रियायते देने के बाद वह आगे की प्रगति बलात् रोक देना चाहती थी। जो भी व्याख्या सही हो, सन् १८८१ की घोषणा के बाद सरकार-विरोधी आदोलन का कडाई से दमन किया गया। आमूल परिवर्त्तनवादियो की काररवाइयो को सीमित रखने के लिए पहले ही कदम उठाये जा चुके थे। सन् १८७५ मे ही सरकार ने समाचारपत्रो के सबध में एक कडा कानून बना दिया था; सरकार ने आम और दलगत सभाओ का कडा निरीक्षण प्रारम्भ किया, और सन् १८८३ मे बढती हुई अशान्ति व अराजकता को रोकने के लिए सरकार ने राजनीतिक दलो को भग करने का आदेश जारी कर दिया क्योकि सरकार ने यह अराजकता फैलाने का अभियोग इन्ही दलो पर लगाया था। जियूटो ने सन् १८८४ मे अपने आपको भग कर इस आदेश का पालन किया और प्रगतिशील दल स्थानीय शाखाएँ कायम न रख सकने के कारण स्वयं ही समाप्त हो गया।

जापान के नेता यह ठीक ही सोचते थे कि सावधानी के साथ स्थिति का अध्ययन व तैयारी किये बिना, हाल ही मे सामन्ती परिस्थितियो से बाहर निकले देश मे वैधानिक सरकार की स्थापना बुद्धिमत्तापूर्ण न होगी। फलत. सन् १८८१ की घोषणा द्वारा वचन-बद्ध हो, सरकार निश्चित समय तक प्रस्तावित सुधार लागू करने के लिए प्रयत्नशील हुई। कीडो के उत्तराधिकारी ओकूबो के बाद सरकार की मुख्य निर्देशन-शक्ति के रूप काउण्ट ईटो आये थे, वह सन् १८८२ मे पश्चिमी वैधानिक पद्धतियो के अध्ययन के लिए विदेश गये। जापान मे वैधानिक शासन के श्रीगणेश से क्या उपलब्धियाँ होनी चाहिए, इसकी स्पष्ट रूप-रेखा उनके पास थी; (१) विधान सम्राट्-प्रदत्त होना चाहिए, जिसमें उनकी गरिमा और अधिकार सुरक्षित हो; (२) विधान मे इसकी व्यवस्था होनी चाहिए कि सामन्तवाद की समाप्ति के बाद के संकटमय समय जिन्होंने जापान को अपने पैरो पर खड़ा रखा, शक्ति उन्हीं के पास केन्द्रीभूत

रहे; और, (३) प्रतिनिधि-सभा की माँग इस विधान से पूरी हो। स्पष्ट है कि उन्हे अमरीका या फ्रास के जनतत्रात्मक विधानो के गहन अध्ययन की आवश्यकता नही थी। और न ब्रिटेन की शासन-प्रणाली ही उनके लिए आदर्श सिद्ध हो सकती थी, क्योकि ब्रिटेन का विधान लम्बी अवधि मे धीरे-धीरे विकसित हुआ था और उसमे सम्राट् की स्थिति को मजबूत करने की जगह जनता के अधिकार व सुविधाएँ सुरक्षित करने पर जोर था। किन्तु, ईटो को प्रशिया मे वह शासन प्रणाली मिल गयी जो जापान के शासक-गुट की आवश्यकताओ और विचारो के अनुकूल थी और यही प्रणाली जापान के लिए आदर्श बनी। इसका यह अर्थ नही है कि ईटो ने प्रशिया की प्रणाली की नकल भर कर ली, तात्पर्य यह है कि उस देश मे जापान की पुनस्सस्थापना के बाद की शासन-प्रणाली को जारी रखते हुए उसमे प्रतिनिधिसभा का समावेश करने की समस्या का हल मिल गया।

सन् १८८३ मे ईटो विदेश से लौट आये और तुरन्त बाद जापान का नया विधान बनाने मे जुट गये। सम्राट् के आदेश से उनका सम्राट् के परिवार विभाग मे तबादला हो गया। उसी विभाग में वैधानिक व प्रशासनिक सुधारो के अध्ययन के लिए एक कार्यालय स्थापित हो गया। ईटो के निर्देशन मे "पूर्णरूपेण गोपनीय" ढंग से विधान-निर्माण का कार्य शुरू हुआ। सन् १८८८ में जब विधान-निर्माण का कार्य काफी आगे बढ़ चुका था, शासनतत्र के अग के रूप मे एक प्रिवी कौंसिल स्थापित हुई। ईटो इस परिषद् के अध्यक्ष बने और विधान के पुनरीक्षण का काम शुरू हुआ। इस परिषद् के अनुसमर्थन के बाद सम्राट् ने वह विधान लागू कर दिया। इससे स्पष्ट है कि विधान बनाने मे राजनीतिक दलों के नेताओ से कोई परामर्श नही लिया गया। निर्माण और शासकीय अल्पतंत्र के अन्य नेताओं के द्वारा पुनरीक्षण दोनों ही ईटो के नेतृत्व में ही हुए।

इस बीच वैधानिक सरकार बनाने का मार्ग प्रशस्त करने की दिशा में और कदम भी उठाये गये। सन् १८८४ मे कुलीन वर्ग की फिर से स्थापना कर दी गयी। कुलीनो के पाँच वर्ग बनाये गये और पाँच सौ व्यक्तियो को उनके एकस्व-अधिकारपत्र प्रदान किये गये। प्रशिया के कुलीन वर्ग की पाँच श्रेणियो—प्रिंस, मार्क्विस, काउण्ट, वाइकाउण्ट व बैरन—के आधार पर ही जापानी कुलीनो का श्रेणी-विभाजन किया गया था। यह कदम उच्च सदन की व्यवस्था के लिए उठाया गया था, क्योकि विधान मे उच्च सदन रखा गया था। फिर सन् १८८५ में पुनस्संस्थापना के बाद से बराबर शासन सम्हालने वाली राज्यपरिषद् समाप्त कर उसकी जगह मन्त्रिमण्डल स्थापित कर दिया गया और कार्यकारी प्रणाली पुनस्संगठित कर दी गयी।

## (५) १८८९ का विधान

विधान सन् १८८९ मे लागू हुआ। जिनके हाथ मे शासन का नियत्रण था और वे यह जानते रहे होगे कि इस विधान को राजनीतिक दलो के नेताओं की सहमति प्राप्त नही होगी, क्योकि, उन्होने (विधान का सावधानी से अध्ययन का अवसर प्रदान करने के बहाने) कुछ समय के लिए सभी समाचारपत्रो पर प्रतिबन्ध लगा दिया कि वे विधान के विरुद्ध आलोचनाएँ न प्रकाशित करे, जो पत्र अधिक उग्र थे, उन्हे बन्द कर दिया गया।

नया विधान[10] दो विचारो के आधार पर बना था, एक विचार था पुनस्सस्थापना का, जिसके अनुसार सभी शक्तियो का स्रोत व सभी उपकार-अनुग्रहो को देनेवाला था; दूसरा विचार सामन्ती था, जिसके अनुसार वास्तविक शक्ति का प्रयोग, सम्राट् की ओर से, अन्य लोग या एजेण्ट (अभिकर्ता) करते थे। पहला अध्याय सम्राट् की "पुनीत और अनतिक्रान्त" स्थिति व अधिकारो से सबधित था। सम्राट् के वर्णन मे कहा गया था कि वह "सर्वोच्च सत्ता के अधिकारो से सपन्न साम्राज्य के अध्यक्ष है और वर्तमान सविधान की धाराओ के अनुसार उन अधिकारो का प्रयोग" करते है। अनेक प्रशासकीय सेवाओ के संगठन, नागरिक व सैनिक सेवाओ मे नियुक्ति व सेवाच्युत करने और उनके वेतन निर्धारित करने का अधिकार उन्ही का था। स्थल व जल सेनाओ के सर्वोच्च सेनापति वह ही थे, वह ही शातिकाल में दोनो सेनाओ की सख्या और संगठन नियत करते थे, वह ही युद्ध और शाति की घोषणा करते थे और सधियो पर हस्ताक्षर करते थे। साम्राज्य की विधायन-सभा (डायट) की सहमति से सम्राट् ही सभी कानून बनाते थे, डायट द्वारा विधेयक बनाने के बाद सम्राट् की स्वीकृति होती थी और सम्राट् ही उसे लागू करते थे, तभी विधेयक प्रभावकारी होता था। यह स्वीकृति देना और लागू करना केवल औपचारिक ही नही था, सम्राट् विधेयको को रोक सकते थे और रोक लेते भी थे। इसके अतिरिक्त, सम्राट् के पास अध्यादेश जारी करने के व्यापक अधिकार थे, यद्यपि, "अध्यादेश चालू कानूनो को सशोधित नहीं कर" सकते थे।

किन्तु, इन अधिकारो के प्रयोग मे सम्राट् दो वैधानिक परामर्शदात्री समितियों के माध्यम से कार्य करते थे, और ये थी प्रिवी कौसिल व मन्त्रि-परिषद् जिन दोनो का गठन विधान के लागू होने के पहले ही हो गया था। विधान का चौथा अध्याय इन्ही से संबंधित था। सम्राट् की स्थिति और अधिकारों का वर्णन सत्रह धाराओं में किया गया था, किन्तु शाही अध्यादेश में इनकी स्थिति का वर्णन किया जा चुका था, इसलिए इन दोनों समितियो का वर्णन विधान की दो धाराओ में समाप्त हो

गया था। दोनो ही मे सम्राट् के मनोनीत व्यक्ति रहते थे और विधान के अतर्गत (ईटो की व्याख्या के अनुसार) मन्त्रि-परिषद् का उत्तरदायित्व केवल मात्र सम्राट् के प्रति था।

अभीतक विधान मे वर्णित शासन के उन्ही लक्षणो का यहाँ वर्णन किया गया है जो पुनस्सस्थापन के उपरान्त प्रचलित राजनीतिक व प्रशासकीय पद्धतियो के प्रक्षेप मात्र थे—अर्थात् अधिकारीतत्र द्वारा अपने अधिकारो का प्रयोग करने वाले सम्राट् का वर्णन। बाद में, सामन्तीयुग की याद दिलानेवाला एक ऐसा विधानेतर लक्षण भी जोड दिया गया, जिसका साम्राज्य के विधान-कानून मे अस्तित्व ही नही था—यह विलक्षण सगठन था वरिष्ठ राजनीतिज्ञो (जेनरो) का। इसमे वह गुट था, जिन्होने संक्रमण काल मे राष्ट्र का नेतृत्व किया था और जिससे उसकी शक्ति बहुत बढ़ गयी थी। यह संगठन युद्ध और शान्ति तथा नीति के बड़े प्रश्नो पर विचार करता था और सम्राट् को मन्त्रि-परिषद् के सदस्यों के छाँटने मे सलाह देता था। और इन प्रश्नो पर इसकी राय अतिम होने लगी।

वैधानिक प्रणाली का नया लक्षण था—प्रतिनिधित्वपूर्ण विधायिनी सभा (डायट)। विधान के तीसरे अध्याय मे डायट के अधिकारों, कर्त्तव्यों तथा शासन के अन्य अगो से उसके सबंधो का वर्णन था। जापानी डायट के दो सदन थे—उच्च सदन, जिसमे सम्राट् द्वारा नामजद व्यक्ति तथा कुलीन सामन्तीवर्ग के प्रतिनिधि—या तो निर्वाचित या वश-अधिकार से—बैठते थे, तथा निम्न सदन, जिसमे अधिकारी मतदाताओं द्वारा निर्वाचित सदस्य बैठते थे। विधान के पूरक रूप मे जारी अध्यादेशों मे दोनों सदनो के संगठन और सदस्यो के चयन के सबंध में व्याख्या की गयी थी। किसी भी कानून के प्रभावकारी होने के लिए उसका डायट के दोनो सदनो से अलग-अलग स्वीकृत होना आवश्यक था। सदनो की बैठको पर सम्राट् का पूरा नियत्रण था। सम्राट् सदनो के निमित्त या विशेष अधिवेशन बुलाते थे, निश्चित समय के भीतर उनका सत्रावसान करते थे और निम्न सदन को भग करते थे, जिससे उच्च सदन का स्वयमेव सत्रावसान हो जाता था। किन्तु, डायट का हर वर्ष तीन महीने का अधिवेशन होता था। इसका मुख्य कर्त्तव्य था, इसको भेजे गये मामलो पर विचार करना और उन पर अपनी सहमति देना या न देना; विधेयक दोनो में से किसी सदन मे भी पहली बार लाये जा सकते थे।

विधान का वित्त-संबंधी छठा अध्याय सबसे अधिक दिलचस्प व उपदेशप्रद था। निम्न या प्रतिनिधित्वपूर्ण सदन को वित्तीय अधिकार या नियंत्रण बिलकुल ही नही दिया गया था, यद्यपि बजट या वार्षिक आय-व्ययक के प्रभावकारी होने के लिए इस

सदन की सहमति आवश्यक थी। यह अधिकार-अपहरण बहुत सावधानी के साथ किया गया था। विधान लागू होने के पहले ही देश मे कर-प्रणाली बन चुकी थी, अतएव विधान मे केवल यह व्यवस्था कर दी गयी थी कि चालू करो मे सशोधन करने या नये कर लगाने के पहले उन पर डायट की सहमति आवश्यक होगी। इसके अतिरिक्त कुछ ऐसी स्वतत्र आय की भी व्यवस्था प्रशासकीय शुल्को व मुआविजो या क्षतिपूर्तियो के रूप में कर दी गयी थी, जो डायट के अधिकार क्षेत्र से बाहर रखी गयी थी। व्यय के सबंध में धारा ६७ मे कहा गया था—"विधान द्वारा प्रदत्त सम्राट् के अधिकारो पर आधारित तथा अभी ही निश्चित व्ययो (जैसे कि वेतन), या कानूनो के लागू करने के फलस्वरूप होने वाले व्ययो, या शासन के वैध उत्तरदायित्वो पर होने-वाले व्ययो को, शासन की सहमति के बिना, डायट न तो अस्वीकार कर सकेगी और न उन्हे कम कर सकेगी।" और ६८ वी धारा के अनुसार—"विशेष आवश्यकताओ की पूर्ति के लिए शासन एक पूर्वनिश्चित अवधि के लिए जारी रहनेवाली व्यय-निधि की मॉग डायट से कर सकेगा।" इससे अगली धारा में आकस्मिक व्ययो के लिए सुरक्षित निधि की व्यवस्था थी, और, ७१ वी धारा मे व्यवस्था थी कि यदि डायट आय-व्ययक को स्वीकृति देने मे असफल रहे तो चालू वर्ष का बजट ही चालू रखा जा सकेगा। इस प्रकार डायट का एकमात्र वित्तीय अधिकार यह रह गया था कि वह खर्च का बढ़ना रोक सकती थी।[११]

विधान में तीन और अध्याय थे। एक था न्याय-संबधी अधिकारो के विषय में और दूसरे में प्रजा के अधिकारो-कर्त्तव्यो का वर्णन था, ये अधिकार, कर्त्तव्य सामान्य थे, किन्तु हर अधिकार के लिए शर्त यह थी कि कानून द्वारा वह सीमित किया जा सकेगा या उसका पूर्ण-रूपेण अपहरण हो सकेगा, और अंतिम अध्याय पूरक नियमो के विषय मे था; इनमे प्रमुख था विधान के सशोधन से संबधित नियम, जिसके अनुसार सम्राट् द्वारा ही इस प्रकार के सशोधन लाये जा सकते थे।

## (६) विधान के अंतर्गत शासन

नया विधान पूरी तरह से सन् १८९० मे लागू हुआ, जब पहली डायट का सगठन हुआ और उसका अधिवेशन शुरू हुआ। फौरन ही भविष्य के मतभेदो की रूपरेखा स्पष्ट हो गयी। निम्न सदन या प्रतिनिधि-सभा पर राजनीतिक दलो का और मत्रि-परिषद् पर वंश या कुल के नेताओ का नियत्रण हो गया। शीघ्र ही यह बात स्पष्ट हो गयी कि डायट के इतने अधिकार तो थे कि वह बाधाएँ डाल सके, किन्तु नियंत्रण के अधिकार उसके पास न थे, शासन के इन दो अगो के बीच मतभेदों को दूर करने की भी व्यवस्था न थी; इसके निराकरण का केवल एक उपाय था सम्राट् के पास

अपील और उनकी निर्णयात्मक घोषणा। इन कुल-नेताओ के पास विकल्प केवल यह था कि या तो वे डायट पर नियंत्रण करे या डायट द्वारा डाली गयी बाधाओ के बावजूद वे शासन चलाते रहे। समस्या का असली समाधान था मन्त्रिपरिषद् का प्रतिनिधि-सभा के प्रति उत्तरदायी होना और उस पर कभी विचार भी नही किया गया था। अधिकारीतंत्र के पास एक ही हथियार था—जिसका उसने बहुधा प्रयोग किया—प्रतिनिधि-सभा को भग कर फिर से चुनाव कराना और मतदाताओ पर दबाव डालना कि वे केवल उन्ही लोगो को चुने, जो शासन के पक्ष में हो। किन्तु नये विधान के लागू होने के चार वर्ष बाद तक लगातार मन्त्रि-परिषद् का सामना ऐसी प्रतिनिधि सभा से होता रहा, जो उसके प्रभावकारी नियत्रण के बाहर थी। इन चार वर्षो में तीन बार मंत्रिपरिषद् का पुनर्गठन हुआ—२४ दिसम्बर, १८८९ को यामागाटा के नेतृत्व मे; ६ मई, १८९१ को मत्सूकाटा के नेतृत्व मे और ८ अगस्त, १८९२ को स्वय विधान के निर्माता, ईटो के नेतृत्व मे। इसी बीच सन् १८९१ व सन् १८९३ में दो बार डायट भंग की गयी। संघर्ष सदैव आय-व्ययक पर होता था। इसी पर मन्त्रिमण्डल बदले और डायटें भग हुई। अस्थायी रूप से व्यवस्था करने के लिए ईटो ने एक बार सम्राट् से शासनादेश प्राप्त कर लिया कि डायट शासन की बात मान ले और एक बार शासन के लिए राजनीतिक दलो का समर्थन प्राप्त करने के लिए विदेशी युद्ध की आड ली।

## (७) परराष्ट्र संबंध

किन्तु, सन् १८९४-१८९५ के चीन और जापान के बीच के युद्ध के वर्णन से पहले, जापान में हुए कुछ गैर-राजनीतिक परिवर्तनों का अध्ययन अधिक उपयुक्त होगा।[१२] और ये परिवर्तन है जापान के यूरोपीय शक्तियो से संबंधों का विकास, इस अवधि में उसका विस्तार तथा उसका आर्थिक, सामाजिक व सामरिक पुनस्सगठन।

यह स्मरणीय है कि सन् १८५८ तथा उसके बाद जापान के यूरोपीय देशो से जो संधि-समझौते हुए, उनसे उसकी न्यायिक व वित्तीय सर्वोच्च सत्ता व स्वतंत्रता पर कड़े प्रतिबन्ध लग चुके थे। सन् १८७० से सन् १८९४ तक जापान के विदेशी सपर्कों और अनेक आंतरिक निर्णयो की पृष्ठभूमि यही थी। सन् १८७१ में सधियो के सुधार व पुनरीक्षण के लिए इवाकूरा-मिशन विदेश भेजा गया था। मिशन ने वापस लौटकर अपने उद्देश्य की असफलता तो स्वीकार की ही, इस बात पर भी जोर दिया कि जापान अपनी स्वतत्रता वापस चाहता है तो उसे काफी लम्बी तैयारी करनी होगी। न्याय के क्षेत्र में यह स्वाधीनता फिर से प्राप्त करने के पहले एक ऐसी न्याय-प्रणाली के अंतर्गत विदेशियो को पर्याप्त सुरक्षा प्रदान करनी होगी, जो जापान की

कुल-पिता व सामन्ती परपराओ की जगह न्याय की यूरोपीय मान्यताओ के अनुरूप हो। तटकर और सीमा-शुल्क निर्धारित करने की स्वतत्रता प्राप्त करने के लिए यूरोपीय देशो को यह आश्वासन देना आवश्यक होगा कि उन्हें व्यापार के लिए देश मे आने-जाने की पूर्ण सुविधा होगी और सीमा-शुल्क इस उद्देश्य से नही लगाया जायगा कि सीमित व्यापार की पुरानी स्थिति पर लौटने का प्रयत्न किया जाय। फलत', सन् १८९४ तक जो बहुत से आतरिक सुधार किये गये—चाहे वे राजनीतिक रहे हो या न्याय सबंधी—उनके पीछे और कुछ नही तो यह इच्छा तो थी ही कि सधियो का पुनरीक्षण हो जाय। अभी देश के जिस राजनीतिक पुनस्सगठन का वर्णन किया गया है, उसके अतिरिक्त जापान ने दीवानी व फौजदारी कानूनो की सहिताएँ बनाने और यूरोपीय पद्धति पर अपनी न्याय-प्रणाली सगठित करने का काम भी शुरू कर दिया था। सन् १८९० तक नयी संहिताओ के लिए सम्राट् की स्वीकृति प्राप्त हो चुकी थी और नयी न्याय-प्रणाली की शुरूआत हो चुकी थी। ये सहिताएँ व नयी न्याय-प्रणाली मुख्यत. प्रशिया व फ्रास की प्रणालियो पर आधृत थी और इन दोनो देशो के सलाहकारो ने उन्हे बनाने मे मदद भी दी थी।

इसी बीच, सुधार-कार्यों के जारी रहते सधि पुनरीक्षण के लिए अनेक प्रयास किये गये। सन् १८७४ और सन् १८७८ के बीच अमरीकी मत्री, बिंघम ने पुनरीक्षण मे दिलचस्पी ली। सन् १८७८ में अमरीकी व्यावसायिक सधि के कुछ अंशो के संशोधन का समझौता भी हो गया, पर वह लागू नही हो सका क्योंकि अन्य देश इस प्रकार के संशोधन करने के लिए राजी नही हुए। दूसरा प्रयास सन् १८८२ में हुआ, जब जापान के परराष्ट्र मत्री ने टोकियो में विदेशी प्रतिनिधियो से बातचीत शुरू की। पश्चिमी देशो को यह दिखाने के लिए कि जापान अपना जीवन उन्ही के अनुरूप ढाल रहा है, यूरोपीय वेशभूषा व खेलकूद जापान में चलाने के लिए सगठित प्रयास भी किये गये। जब सधि पुनरीक्षण पर समझौता होने ही को था, समझौते की बात खत्म हो गयी, क्योंकि समझौते में स्वीकृत 'सयुक्त अदालतो' के विरोध मे जनता ने आन्दोलन कर दिया। अपने-अपने देशवासियो के तथाकथित हितों की रक्षा के लिए विदेशी प्रतिनिधियो ने इस बात पर जोर दिया था कि जब भी किसी मुकदमे मे विदेशी लोग फँसे, अदालतों में जापानी व विदेशी—दोनों, न्यायाधिकारी बैठा करें। यह ऐसी रिआयत थी जिसे जापानी जनता देने के लिए तैयार नही थी। सन् १८८८ में काउण्ट ओकूमा ने फिर एक प्रयास किया। इस बार, सब विदेशी प्रतिनिधियों के साथ सामूहिक बातचीत चलाने की जगह ओकूमा ने अलग-अलग एक-एक देश से सधि-पुनरीक्षण के लिए समझौता करने का निश्चय किया। उन्होंने

मेक्सिको के साथ —जिसके ऐसे विशिष्ट हित ही नही थे, जिनकी रक्षा आवश्यक हो—सधि-पुनरीक्षण का समझौता कर लिया और ऐसा ही समझौता अमरीका के साथ भी हो गया, पर शर्त यह थी कि यह समझौता लागू तभी होगा, जब ऐसे ही समझौते अन्य विदेशी प्रतिनिधियो से भी हो जायँगे। किन्तु अन्य देशो ने पहले की तरह फिर सुविधाएँ व रिआयत माँगी और जन-प्रतिरोध के कारण फिर ये रिआयते न दी जा सकी। अतत, सन् १८९४ मे सफलता मिली, जब जापान से व्यापार करने वाले देशो मे प्रमुख, इंगलैण्ड ने सधि-सशोधन स्वीकार कर लिया, जो कि सन् १८९९ से लागू होना था।[१३] इगलैण्ड ने 'सयुक्त अदालत" के अपमान पर जोर नही दिया, जिससे जापानी जनमत सतुष्ट हो गया, यद्यपि यह समझौता बाद मे ही प्रभाव मे आनेवाला था और इसकी भी शर्त यह थी कि नयी न्याय-प्रणाली का सफल कार्यान्वय हो। इगलैण्ड के नेतृत्व को स्वीकार करते हुए और साथ ही संधि-पुनरीक्षण की अपनी पुरानी नीति का अनुसरण करते हुए अमरीका ने भी समझौता कर लिया। अगले तीन वर्षों में अन्य देशो ने भी अपनी-अपनी सधियो मे आवश्यक सुधार करने के समझौते कर लिये।

सन् १८९४ से पहले ही जापान ने अपनी सीमाएँ ठीक से निश्चित करना शुरू कर दिया था। अभी जिसका वर्णन किया जा चुका है, उस फारमोसा-काण्ड के बाद चीन ने लू चू द्वीपो पर अपने अधिकार का दावा छोड़ दिया था। सन् १८७५ मे रूस से समझौते के फलस्वरूप जापान ने सखालीन द्वीप-दक्षिणार्ध पर अपना दावा छोड दिया और उत्तरी कुराइल द्वीपो पर उसका अधिकार स्वीकार हो गया। यह भी दबाव मे ही हुआ, क्योकि इन दोनो द्वीपो पर जापान का भी उतना ही अधिकार था, जितना कि किसी अन्य देश का। सन् १८७६ मे जापान ने अपने साम्राज्य मे बोनिन द्वीपो को शामिल कर लिया।

## (८) सामाजिक व आर्थिक विकास

पुनस्सस्थापना के बाद के दशको की राजनीतिक विकासो व राजनयिक उपलब्धियो के साथ ही साथ जापान मे महत्त्वपूर्ण सामाजिक, आर्थिक व सामरिक परिवर्तन हुए। वास्तव मे, विशिष्ट रूप से आर्थिक क्षेत्र में जो परिवर्तन हुए वे पुनस्सगठन मात्र न होकर सच्चे रूपान्तर के प्रारम्भ के रूप मे आये। किन्तु इन परिवर्तनो के वर्णन के पहले इस रूपान्तरकारी आंदोलन के कुछ महत्त्वपूर्ण लक्षणो पर ध्यान देना उपयुक्त होगा। सबसे पहले तो यह बात ध्यान मे रखनी होगी कि इस रूपान्तरण का नेतृत्व स्वयं सरकार ने किया, नही तो पूरी प्रक्रिया को ठीक-ठीक समझने में भूल हो जायगी। दूसरे यह बात भी महत्त्वपूर्ण है कि परिवर्तन जान-बूझकर और योजनाबद्ध

रूप मे आये। तीसरे यह बात भी ध्यान देने की है कि शासन ने जो देश की आवश्यकताएँ समझी, उन्हे किस हद तक व्यक्ति व गुटो के हितों पर वरीयता दी गयी।

पुनस्सस्थापना के पहले ही, जब विदेश-यात्रा पर रोक लगी थी, तभी लोग पश्चिमी विचारो, संस्थाओ, तरीको को समझने विदेश जाने लगे थे। पुनस्सस्थापना के बाद विदेश-यात्रा पर लगे प्रतिबन्ध हटा लिये गये और छात्र यूरोप व अमरीका भेजे जाने लगे थे। इसके अतिरिक्त, पुनस्संगठन के सक्रिय रूप से चलने पर यूरोपीय जीवन के विशिष्ट पहलुओ के अध्ययन के लिए आयोग भी विदेश भेजे गये। और जब तक विदेशो मे प्रशिक्षित जापानी सलाहकार नही मिलने लगे, सरकार विदेशी विशेषज्ञो को परामर्शदाताओं के रूप मे बुलाती रही और नौकर रखती रही। खुलकर प्रयोग किये गये और प्रयोगो से जो गलतियाँ प्रकट हुईं, उन्हें खुलकर दूर किया गया।

नये जापान की भावना जितनी शिक्षा के क्षेत्र में स्पष्ट थी, उतनी किसी अन्य क्षेत्र मे नही थी। सन् १८७२ में ही जापानियो ने अनिवार्य प्रारम्भिक शिक्षा का सिद्धान्त अपना लिया था और जन-पाठशालाएँ खोलना शुरू कर दिया था। शिक्षा-प्रणाली के विकास पर तीन प्रभाव स्पष्ट दृष्टिगोचर थे—सामान्य सुधार के बाद अमरीकी प्रारम्भिक व उच्चतर माध्यमिक शिक्षा-पद्धति अपना ली गयी थी; विश्वविद्यालयो का सगठन फ्रांसीसी ढंग पर हुआ था, और धन्धों व पेशो की शिक्षा पर जोर देने का जर्मनी का ढंग अपनाया गया था।

छः वर्ष की उम्र से ही बालक-बालिकाओं को चार वर्ष तक पाठशालाओं में पढ़ना होता था; बाद में यह अवधि बढ़ाकर छः वर्ष कर दी गयी थी। यहाँ उन्हे प्रारम्भिक विषयों की शिक्षा दी जाती थी और मानसिक अनुशासन के साथ चरित्र-गठन पर भी जोर दिया जाता था। सम्राट् के प्रति भक्ति व राज्य के प्रति निष्ठा प्रारम्भिक पाठशालाओं से ही बताना शुरू हो जाता था और आगे की कक्षाओं में भी जारी रहता था। प्रारम्भिक शिक्षा आठ वर्ष तक चलती थी और इसके चार-चार वर्ष के दो भाग होते थे। माध्यमिक स्तर पर उन बच्चों को विशेष प्रशिक्षण मिलते थे, जो आगे नही पढना चाहते थे; साथ ही छात्रों को विश्वविद्यालयो में प्रवेश के लिए तैयार किया जाता था। प्रारंभिक पाठशालाओ के लिए बड़ी संख्या में आवश्यक अध्यापको के प्रशिक्षण के लिए नारमल स्कूलो की स्थापना की गयी थी। फिर आवश्यकता बढ़ने पर, विशेष विषयो के लिए, जैसे कि व्यावसायिक विषयों के लिए, अलग पाठशालाएँ खोली जाने लगी।

प्रारम्भिक पाठशालाओं में बालक और बालिकाओं के पाठ्यक्रम में विशेष अंतर नहीं होता था, केवल लड़कियों के लिए सुगृहिणी बनने के गुणो पर जोर दिया जाता

था। बाद के वर्षो मे इन गुणो पर और भी अधिक जोर दिया जाता था और बौद्धिक विकास व प्रशिक्षण उनके लिए गौण हो जाता था। सन् १९०२ तक राज्य की ओर से लड़कियो को विश्वविद्यालय की शिक्षा प्रदान करने की कोई भी व्यवस्था नही थी। किन्तु, बदलते दृष्टिकोण की दृष्टि से महत्त्वपूर्ण बात यह है कि प्रारम्भिक पाठशालाओ मे बालिकाओ की शिक्षा की व्यवस्था शुरू से ही की गयी थी।

यह भी महत्त्व की बात है कि नये युग के प्रारम्भ से ही जापान मे प्रारम्भिक शिक्षा इतने व्यापक ढग से और बड़े मनोयोग से चालू कर दी गयी थी। इस एक कदम से जापान प्राविधिक और वैज्ञानिक विकास मे लगातार पश्चिमी देशो के समकक्ष बना रहा और उसका आर्थिक विकास भी असाधारण गति से हुआ। स्पष्ट है कि शुरू मे त्रुटियाँ रह गयी और पाठशाला-सबधी नियम अनेक बार बदले गये। प्रशिक्षण का अधिक भाग काफी दिनो तक स्तरीय ही रहा। किन्तु इन त्रुटियो के बावजूद, समस्या की नवीनता, काम की व्यापकता और तत्काल समाधान की आतुर अन्य महत्त्वपूर्ण समस्याओ की मौजूदगी को देखते हुए, शिक्षा-प्रणाली को बहुत अच्छा मानना ही पड़ेगा।

जापान में पत्रकारिता के विकास पर भी यही विचार कर लेना उपयुक्त होगा। शिक्षा पर शासन का नियत्रण था, यद्यपि निजी पाठशालाओ की स्थापना भी होती थी और सरकार उनकी स्थापना को प्रोत्साहित करती थी। किन्तु जो अनेक समाचारपत्र व पत्रिकाएँ प्रकाशित होना शुरू हुई, उनके लिए कोई सरकारी सहायता प्राप्त नही हुई। चूँकि लगभग सभी पत्र जो राजनीति मे दिलचस्पी लेते थे, सरकार के विरुद्ध और उसके कटु आलोचक थे, उनका अस्तित्व सकटापन्न रहता था। समाचारपत्रो का बन्द किया जाना साधारण हो गया था, उन पर भारी जुरमाने होते थे और उनके सपादको को कारावास का दण्ड अति साधारण हो गया था, इन बाधाओ के बावजूद दैनिक समाचारपत्रो की सख्या बढ़ती गयी। और आलोच्य अवधि की समाप्ति के समय उनमे से कुछ की आर्थिक स्थिति भी पुष्ट हो चुकी थी। अराजनीतिक पत्रिकाओ की स्थापना और उनके पैर जमाना अधिक आसान था और उनमे हर विषय की चर्चा रहती थी। एक पत्रिका "महिलाओ का घरेलू पत्र" भी थी।

जापान के नये शासको ने सेना का भी पुनस्सगठन किया। जिस राष्ट्र की सशक्त सैनिक परपरा रही हो, वह सैन्य-सगठन के आधुनिकीकरण के महत्त्व को कम नही कर सकता। जैसा कि पहले कहा जा चुका है[१४] कुछ कुलो ने पुनस्सस्थापना के पहले ही पश्चिमी देशो से नये शस्त्रास्त्र मँगाने शुरू कर दिये थे और सैन्य-व्यवस्था पर डच विद्वानो की पुस्तकों का थोड़ा बहुत अध्ययन भी हुआ था। शुरू में तो शासन

को पश्चिमी कुलों द्वारा दी गयी सेनाओ पर निर्भर रहना पड़ा। किन्तु, शासन ने फौरन ही एक स्वतत्र सैन्य-सगठन का काम शुरू कर दिया। सैन्य-शिक्षा अनिवार्य कर दी गयी और सन् १८७३ मे सेना का राष्ट्रीयकरण हो गया। यह गैर-सामुराई अनुशासित सेना सशक्त थी और सत्सूमा सामुराई के विद्रोह के समय इस सेना ने अपना जौहर दिखा दिया। शासन ने अनिवार्य सैनिक शिक्षा ही शुरू नही की, वरन् सामन्ती और वर्ग-विचारो को खत्म कर, अपनी सेना को आधुनिक हथियारो से सजाया और पहले फ्रासीसी और सन् १८८५ के बाद जर्मनी के विशेषज्ञो के निर्देशन मे उसे प्रशिक्षित किया। देश की वित्तीय स्थिति को देखते हुए जितना सभव हुआ उतने धन से नौसेना की भी स्थापना की गयी। जापान मे पीढी-दर-पीढी से छोटी नावो पर तटीय समुद्रो मे नौकारोहण के प्रतिबन्ध लगे होने के कारण नौसेना की स्थापना के लिए सिवा एक राष्ट्रीय सम्मान के, कोई नीव-बुनियाद नही थी। शासन ने फिर एक बार नौसेना के लिए मिल सकने वाली सर्वोत्तम विदेशी सहायता प्राप्त की और नौसेना के लिए अग्रेज अधिकारियो को सलाहकार बनाया और अपने नये कारखानो मे जो जहाज न बन सकते थे, उन्हे इंगलैण्ड से प्राप्त किया।

राष्ट्रीय परपराओ के सन्दर्भ मे देखे तो आधुनिक जापान के नेताओ का शिक्षा व सैन्य-सगठन मे अभिरुचि रखना, सम्भवतः इतना बड़ा आश्चर्य नही लगता, जितना कि उनका सुनियोजित आर्थिक विकास की आवश्यकता को स्पष्टतः पहचान लेना था। राजनीतिक कार्यक्रम के अतर्गत पुरानी हरकारा-प्रथा की जगह एक नयी डाक-व्यवस्था और सन् १८६८ मे सरकार के लिए तथा बाद में व्यावसायिक उपयोग के लिए तार-व्यवस्था स्थापित करना भी था। यातायात की सुविधाओं के विकास से उद्योग व व्यवसाय को तो लाभ हुआ ही, रेलगाड़ी चलने से राष्ट्रीय एकता को पुष्ट बनाने में भी सहायता मिली। पहली रेल सन् १८७२ में आवागमन के लिए खोली गयी जो १८ मील लम्बी थी। सन् १८८७ तक रेलें चलाने का काम केवल सरकार ही करती रही, किन्तु बाद मे निजी ढंग से रेले चलाने को खूब प्रोत्साहन दिया जाने लगा। सन् १८९४ तक २,११८ मील लम्बी रेलें चलने लगी थी। इससे व्यवसाय को तो निश्चित रूप से लाभ हुआ ही, साथ ही, विभिन्न कुलो और वशो के लोगों का और अधिक प्रगाढ़ संपर्क भी होने लगा।

किन्तु अन्त्यज या सबसे निम्न जाति के लोगो के ऊपर के जो लोग थे, उनके प्रति दृष्टिकोण बदल देना सिवा दूरन्देशी के और कुछ नहीं कहा जा सकता। सामन्तवाद के अंत से सर्वसाधारण का एकीकरण हुआ था और शासन की नीति

थी कि सामुराई व पुराने कुलीन घरानो की प्रतिष्ठा कायम रखकर उन्हे उद्योग-धन्धो व व्यवसाय मे लगाया जाय। जिस काम मे सरकार अगुआ थी, उसमे जनता के सरकार के पीछे-पीछे चलने की अपेक्षा थी। सरकार ने केवल रेलें ही नही बनायी, वह पहले अनेक कम्पनियो मे साझीदार बन कर और बाद मे अनुदान देकर जहाज बनाने के उद्योग मे भी शामिल हुई। उसने अनेक विनिमय-केन्द्र स्थापित करने मे भी अगुआई की; एक केन्द्र विदेशी व्यापार का यूरोपीय नियत्रण समाप्त करने के लिए भी स्थापित किया गया। उसने वस्त्र-उद्योग को विकसित करने के लिए भी अनेक कदम उठाये; जापानी करघो का बना माल अनेक अतर-राष्ट्रीय प्रदर्शनियो मे ले जाया गया, उसने स्वय आधुनिक यत्रो से सुसज्जित आदर्श कारखाने स्थापित किये; देशी माल की देश मे ही खपत के लिए अनेक प्रदर्शनियाँ देश के विभिन्न स्थानो मे की गयी; और. अनेक स्थानो पर स्थायी व्याव-सायिक संग्रहालय खोले गये। कपास और रुई के विभिन्न प्रकारो का अध्ययन किया गया; देशी रुई घटिया मान कर त्याग दी गयी और बडी मात्रा मे विदेशी रुई का आयात किया गया। पुरानी उद्योग-श्रेणियो की जगह नये व्यापारिक संगठनो की स्थापना को प्रोत्साहन दिया गया। हर प्रकार के उद्योगों के विकास के लिए जो कुछ किया गया, उसके ये उदाहरण मात्र है। किन्तु जापान के उद्योग का असली विकास चीन से युद्ध की समाप्ति के बाद ही हुआ। व्यापारिक कीर्तिमान स्थापित करने मे वहुत समय लगा, क्योकि, जैसा कि पहले कहा जा चुका है, प्राचीन जापान मे ऐसे कीर्तिमानो का विकास नही हुआ था और वहाँ धोखाधडी ही नियम थी। जापान को ईमानदारी और अपने माल की अच्छाई दोनो के लिए अपनी साख बनानी थी।

सन् १८६८ के बाद सरकार को जो अन्य महत्त्वपूर्ण कार्य करना था, वह था मुद्रा-विनिमय का सुधार। विनिमय के लिए सोने-चाँदी का प्रयोग होता था और इसके अतिरिक्त शोगुन-शासन तथा अनेक दाइम्यो ने सिक्के भी जारी किये थे। इसके अतिरिक्त सोने-चाँदी के सिक्को का ऐसा सबध था कि विदेशी अपने देश से चाँदी मँगा लेते थे और सन् १८५८ की सधि तथा बाद मे हुए समझौतो के अनुसार उसे जापान की चाँदी से बदल लेते थे, फिर इस जापानी चाँदी को सोने में बदल लेते थे और सोने का निर्यात कर देते थे। फलत, देश से सोना खिचता जा रहा था। इसका एक ही निराकरण था—सधि-पुनरीक्षण व विनिमय-नियंत्रण। फिर, सन् १८६८ में सरकार के पास अपना खर्च चलाने के लिए भी पर्याप्त आय नही थी, जबकि सरकार कर-प्रणाली बदल चुकी थी। सरकार ऐसी कागज की मुद्रा जारी

करने को बाध्य थी, जो सोने-चाँदी से बदली नही जा सकती थी। बैको की पर्याप्त सुविधाओं के अभाव ने समस्या को और भी जटिल बना दिया था।

मुद्रा-विनिमय व बैंक की समस्या को हल करने की दिशा मे सन् १८७२ में पहला कदम उठाया गया, जब ईटो के सुझाव पर, अमरीकी पद्धति पर राष्ट्रीय बैको को विनियमन के लिए आदेश जारी किये गये और इन बैको को अपरिवर्त्य नोट जारी करने के अधिकार दिये गये। पहले राष्ट्रीय बैंक की स्थापना सन् १८७३ मे की गयी; दो परिवारो को आदेश दिये गये कि इस बैंक के लिए आवश्यक धन लगाये। शुरू में बैको का विकास धीमा था, और सन् १८७६ मे केवल चार बैंक थे। उसी वर्ष आदेश मे सशोधन किया गया और नोटो की मुद्रा मे बदली की अनुमति दे दी गयी, इसके उपरान्त बैंको का विकास तेजी से होने लगा। सन् १८७९ तक १५१ राष्ट्रीय बैंकों की स्थापना हो चुकी थी, जिनमें १,२०,००,००० येन जमा थे। इस विकास के साथ ही अपरिवर्त्य नोटो की मात्रा भी बढ गयी, जो सत्सूमा-विद्रोह के कारण बढे हुए खर्च नोटो के प्रसार से कीमते बढ गयी, जिससे जनता के कष्ट काफी बढ गये। अनेक वर्षो तक वित्तमत्रियो के सामने कागज की मुद्रा के प्रतिदान की समस्या रही। अतत, सन् १८८५ मे प्रतिदान का विधान हो गया और परिवर्त्य मुद्रा की स्थापना हुई। किन्तु, सन् १८९६ के बाद तक देश की मुद्रा का आधार चाँदी ही बना रहा, जब चीन से मिली क्षतिपूर्ति के उपरान्त देश स्वर्ण-मान पर आ गया।

इसी बीच राष्ट्रीय बैको की प्रणाली के दोष दूर करने के लिए सन् १८८२ में केन्द्रीय बैंक-सस्था—बैंक आव जापान—स्थापित कर दिया गया जो सरकार की मुख्य वित्तीय एजेंसी थी। ससद की स्थापना के बाद हर अधिवेशन में राष्ट्रीय बैको को निजी बैंको मे परिवर्तित कर राष्ट्रीय बैक प्रणाली समाप्त करने के लिए विधेयक पेश होते रहे। अन्तत सन् १८९६ मे यह व्यवस्था कर दी गयी। बैंक आव जापान की स्थापना के बाद, और सरकार का उद्देश्य राष्ट्रीय बैको से पूरा न होने पर, विशेष उद्देश्यो के लिए अलग-अलग सस्थाएँ कायम हुईं। सन् १८८७ मे पहला योकोहामा सोना-चाँदी बैंक कायम हुआ, इसका उद्देश्य विदेशी मुद्रा के व्यापार को नियत्रित करना व विदेश-व्यापार के लिए पूँजी सुलभ करना था। चीन से युद्ध के बाद ४६ औद्योगिक व कृषि-बैंक तथा एक दृष्टिबंधक बैंक की स्थापना हुई; धीरे-धीरे अन्य सस्थाएँ भी जैसे कि फारमोसा बैंक या होक्कायडो उपनिवेशन बैंक, स्थापित हुईं। इस प्रकार धीरे-धीरे, नये जापान के विकास के

अग के रूप मे एक बैंक-प्रणाली का विकास हुआ, इसमे जो-जो गलतियाँ या त्रुटियाँ सामने आती गयी वे दूर की जाती रही।

जापान की पुनस्संस्थापना व उसके बाद के सक्रमण युग का सक्षिप्त वर्णन सरकारी नीतियो के किसानो पर पड़े प्रभाव के वर्णन के बिना अधूरा ही रह जायगा। पहला प्रभाव तो यह हुआ कि कृषि-भूमि पर व्यक्तिगत स्वत्व स्वीकार हुआ। इस मीइजी युग में बडी सख्या मे किसान भू-स्वामी बने। सन् १८७२ में किसानो को भूमि के प्रमाणपत्र दिये गये। उसी वर्ष भूमि के क्रय-विक्रय पर लगे प्रति-बन्ध हटा लिये गये। चावल की औसत उपज और पाँच वर्ष की अवधि मे चावल की औसत कीमत के आधार पर खेतो की कीमते निर्धारित की गयी, इन कदमो के बाद ही भूमि-कर-प्रणाली लागू की गयी; इसके पहले अनाज के रूप मे लगान वसूल करने की सामन्ती प्रणाली चालू थी। नया भूमि-कर सन् १८७३ मे लागू हुआ जो राज्य की राजस्व-प्रणाली का आधार बना। तब से किसान भू-स्वामी अपनी जोत की कीमत का एक बँधा अश नकद रुपयो मे सरकारी कोष मे जमा करने लगे; इस रकम पर उपज के कम या ज्यादा होने या चावल के भाव ऊँचे-नीचे होने का कोई असर नही पड़ता था। यह कर किसानो की उपज का २५ से ३० प्रतिशत तक होता था। चूँकि यह कर नकद रुपयो मे जमा होता था "फसल कटने के फौरन बाद किसान अपना चावल बेचने को बाध्य हो जाता था और कीमतों के उतार-चढाव की सभी कठिनाइयो का सामना करता था, जब कि बड़े भू-स्वामी अपना चावल रोक लेते थे और उन पर बाजार भाव का उतना असर नही होता था।"[१५] किसानो पर फौरन ही एक और बोझ आ पड़ा, क्योकि सामूहिक भूमि पर किसी व्यक्ति का स्वामित्व न होने से वह राज्य मे निहित हो गयी थी और किसान उसके उपयोग से वंचित हो गये थे। उन्हे अपने लिए ईंधन की व्यवस्था अब स्वयं ही करनी होती थी। उसे रासायनिक खाद खरीदनी पड़ती थी; और विदेशो से आयात की हुई सस्ती रुई और राष्ट्रीय सूती वस्त्र-उद्योग स्थापित हो जाने से हर घर में जो कपड़े बनते रहते थे, उस घरेलू उद्योग के नष्ट होने से अपने कपड़े-लत्ते के लिए भी नकद रुपया चाहिए था।

इस नयी प्रणाली के अतर्गत, जिसमे आत्म-निर्भर ग्रामीण अर्थ-व्यवस्था के स्थान पर उत्पादन विक्रय के लिए होने लगा था, नये खर्च न सँभाल पाने के कारण किसान अपनी थोड़ी या सारी जोते बेचने लगे। इस तरह किसानों की सख्या बढ़ गयी। "सन् १८८३ से सन् १८९० तक ३,६७,७४४ कृषि-उत्पादक भूमि-कर अदा करने मे पिछड़ जाने पर अपनी भूमि बेचने को बाध्य हुए। इनमें ७७ प्रतिशत

गरीबी के कारण ही कर अदा नही कर पाये थे।"[१६] सन् १८९२ तक जापान की कृषि-भूमि का ३९.९९ प्रतिशत शिकमी काश्तकारो द्वारा जोता जाने लगा था। कुछ भूस्वामी अपनी जोत के कुछ भाग के लिए शिकमी काश्तकार भी बन गये थे, क्योकि अपनी जोतो के कुछ हिस्से बेच कर उनके नये मालिको के लिए वे स्वय काश्त करने लगे थे, ताकि उन्हे नकद धन प्राप्त हो सके। काश्तकारो की हैसियत से वे अपना लगान उपज के प्रतिशत के रूप मे अदा करते थे, जैसा कि सामन्ती युग मे होता था। कृषि-भूमि की चकबन्दी न हो सकने का एक कारण यह भी था कि आबादी अत्यधिक बढ़ने के कारण और उसके भूमि से हटकर अन्य उद्योग-धन्धो मे न लग सकने के कारण जमीदार लगान के रूप मे अनेक छोटे-छोटे काश्तकारो से अधिक मुनाफा कमा लेते थे। इस प्रकार संक्रमण-काल मे खेती मे पूँजीवाद सामन्त-वाद को पूरी तरह से हटा नही पाया।

कृषि-उत्पादन बढाने, होक्कायडो के उपनिवेशीकरण, स्थानिक प्रशासन की स्थापना करने तथा ऐसे ही अन्य काम करने के लिए जो प्रयास किये गये, उनका विशद वर्णन यहाँ कठिन है। वस्तुस्थिति के अच्छे व बुरे, दोनो पहलू थे और खराब पहलू का वर्णन भी यहाँ कठिन है। बहुत बड़ी बदनामी करने वाले काण्ड कम ही हुए थे, किन्तु ऊँचे पदो पर बैठने वालो ने अपने लिए बडी-बड़ी धनराशियाँ जमा कर ली थी और इस नियम के अपवाद स्वरूप विरले ही लोग थे। जब नयी ससदीय प्रणाली लागू हुई, मतो का क्रय-विक्रय व्यापक पैमाने पर हुआ। और यह भी स्वीकार करना होगा कि राष्ट्र नेताओ से पिछड गया था। परिवर्तन के लिए कोई राष्ट्रीय प्रेरणा नही थी और नये जापान के निर्माताओ के विरुद्ध गहरा असतोष व्याप्त था। किन्तु सभी त्रुटियो को स्वीकार करते हुए, यह सच्चाई के साथ कहा जा सकता है कि—

सन् १८९४ तक संक्रमण-काल का सकट पार हो चुका था। शासन का पूर्ण पुनस्सगठन हो चुका था और नये विधान का प्रयोग भी वर्षों तक हो चुका था। पश्चिमी-आदर्शो के अनुरूप स्थल और जल-सेनाओ का संगठन हो चुका था। आधुनिक शिक्षा-प्रणाली सफलतापूर्वक चालू थी। सीमा-शुल्क और न्याय-प्रणाली की स्वाधीनता मिलने ही वाली थी। उद्योग और व्यवसाय को सक्रिय जीवन का आश्वासन था। पुनस्सगठन अभी पूरा नही हुआ था और उसके फल अभी प्रकट होने शुरू ही हुए थे, किन्तु देश को आधुनिक ससार के उपयुक्त ढालने के लिए जो आंतरिक धक्का लगा था, उसका प्रभाव समाप्त हो चुका था। सन् १८९४ के बाद से पुनस्सगठित जापान विकसित होकर राष्ट्रो के परिवार का बराबर का सदस्य बनने के रास्ते पर अग्रसर होता रहा और धीरे-धीरे इस परिवार का महत्त्वपूर्ण सदस्य बनता गया।[१७]

छठा अध्याय

# कोरिया के लिए प्रतियोगिता

## (१) आधुनिक युग से पूर्व के कोरिया से चीन व जापान के संबंध

चीन और जापान के ऐतिहासिक सबध कोरिया मे ही केन्द्रित रहे हैं और कोरिया को लेकर ही उन दोनो के बीच आधुनिक युग मे पहली बार गभीर संघर्ष हुआ। और इस सघर्ष के नतीजे न केवल सघर्षरत पक्षो के लिए ही वरन् समस्त ससार के लिए गभीर महत्त्व के हो गये। कोरिया को लेकर पहले जो सघर्ष होते थे, उनमें सघर्ष मे भाग लेने वाले देश ही फँसते थे, किन्तु यूरोपीय देशो के सुदूर पूर्व मे आ जाने के बाद चीन के "स्वर्गीय" साम्राज्य की आपेक्षिक स्थिति में परिवर्तन से ऐसे नतीजे निकलने लगे थे, जिनका यूरोप पर भी प्रभाव पडता था। यह बात रूस के सदर्भ मे विशेष रूप मे लागू होती है, जो धीरे-धीरे चीनी साम्राज्य व कोरिया-राज्य की ओर अपना क्षेत्रीय विस्तार करता चला आ रहा था। रूस के पीछे अन्य देश थे, जो रूसी 'क्षेत्रीय दैत्य' की स्थिति में परिवर्तन होने पर निश्चित रूप से प्रभावित होते थे।

कोरिया का आधुनिक युग से पूर्व का इतिहास सक्षेप मे बताया जा सकता है। उसकी भौगोलिक स्थिति उसके अधिकाश इतिहास को प्रभावित करती रही है। एक ओर यालू नदी कोरिया की मचूरिया से सीमा बनाती है और दूसरी ओर एक सँकरी खाडी कोरिया को जापान से अलग करती है, इस स्थिति के कारण कोरिया का इतिहास अविच्छिन्न रूप से इन दो पडोसियो से जुडा रहा है। जब चगेज खाँ और कुबलाइ खाँ की फौजे मगोलिया से मचूरिया होती हुई चीन पर छा गयी थी, तब चीन और कोरिया का पारस्परिक सपर्क बारह शताब्दी पुराना हो चुका था। यह स्वाभाविक ही था कि मगोल आक्रमण कोरिया द्वारा ही जापान पहुँचे—पहले कोरिया मे तैयारी करे, फिर जापान पर आक्रमण करे। कोरिया पहले भी चीन को कर देता था और उस आक्रमण के बाद भी लगातार कर देता रहा और उसके राजाओ का मानाभिषेक पीकिंग से ही होता रहा, बीच मे, सोलहवी शताब्दी में अधिराट् व करद राज्य का यह सबध अस्थायी रूप से तब टूट गया था, जब एक दूसरी दिशा से आक्रमण कर उसे जीत लिया गया था।

उधर, जापान भी साम्राज्य बनाने के स्वप्न देख रहा था और उसके महान्

सेनापति हिडेयोशी ने एशिया महाद्वीप की मुख्य भूमि पर पैर जमाने के प्रयास भी किये थे। जापान का असली लक्ष्य चीन था, जिस प्रकार चीन के मगोल शासको का मुख्य लक्ष्य जापान था। और चीन पर आक्रमण करने के लिए जापानियो के लिए कोरिया पर कब्जा जमाना अनिवार्य था। कोरियाई प्रतिरोध, तथा बाद की चीनी सहायता के बावजूद जापान ने कोरिया पर कब्जा कर लिया। पर जिस तरह समुद्र के कारण जापान पर पहले आक्रमण रुक गये थे, उसी तरह समुद्र के कारण ही हिडेयोशी कोरिया के आगे नही बढ़ सका। कोरियाई समुद्री बेड़े ने, जो शुरू मे बड़े कुशल नेतृत्व में था, जापान से कुमक, रसद व सेना आने मे इस प्रकार बाधाएँ डाली कि हिडेयोशी की सेनाएँ कोरिया मे जम न सकी। हिडेयोशी की मृत्यु के बाद यह अभियान समाप्त कर दिया गया। कुछ समय के बाद तोकूगावा-कुल का जापान मे प्रभुत्व हो गया और जापान का बाहरी देशो से सपर्क कट गया।[1] कुछ समय के लिए, जापान का कोरिया होते हुए चीन से जो सबध जुडा था, वह भी विच्छिन्न हो गया। इस आक्रमण का एकमात्र स्थायी फल यह निकला कि शिमो-नोसेकी के दूसरी ओर खाड़ी के मुहाने पर फुसान द्वीप मे जापानियो का उपनिवेश बन गया, और कोरिया की ऐसी बरबादी हो गयी कि वह फिर कभी उससे पूरी तरह उबर न सका और कोरियाई जनता मे जापानियो के प्रति घृणा व भय की भावना व्याप्त हो गयी।

जापानी सेना के कोरिया खाली करने के शीघ्र बाद मंचू-साम्राज्य ने कोरिया मे फिर अपना प्रभुत्व जमा लिया। पीकिंग से मचुओ ने कोरिया पर अपने अधि-राजत्व का सफलतापूर्वक दावा किया और यह सबध सन् १८९४–१८९५ के चीन-जापान युद्ध तक कायम रहा।

जहाँ तक गैर-चीनी जगत का सबध था, जापानी आक्रमण के बाद कोरिया सुदूरपूर्व का सबसे अधिक एकान्त देश बन गया। कुछ समय तक कोरियाई सरकार चीन और जापान को करद मिशन भेजती रही, पर जापान के अंतर्मुखी होने के बाद धीरे-धीरे यह समाप्त हो गया। जापान का फुसान उपनिवेश तो कायम रहा, पर उसका मुख्य जापान देश से संबध नही के बराबर था। इसके अतिरिक्त कोरिया का कोई बाहरी संपर्क नही था। एक ओर चीन का कैण्टन स्थित द्वार उन्मुक्त था, दूसरी ओर नागासाकी मे जापान का दरवाजा खुला हुआ था, किन्तु कोरिया पहुँचने के लिए चीन होकर जाने के अतिरिक्त कोई मार्ग न था। कोरिया को दिया गया नाम—'सन्यासी राज्य'—उपयुक्त ही था।

बाहरी प्रभावो से इस प्रकार बन्द रहने के कारण सुदूरपूर्व के देशों में कोरिया

सामान्य विदेशी सपर्क मे सबसे बाद मे आया। इसका एक कारण तो अवश्य ही यह था कि वह अपेक्षतया कम महत्त्व का था और उसकी भौगोलिक स्थिति ऐसी थी कि जब तक विदेशी चीन और जापान के दरवाजे सफलतापूर्वक न खुलवा ले वे कोरिया के सपर्क मे नही आ सकते थे; किन्तु अंशत· इसका यह भी कारण था कि स्वयं कोरिया ने अपने को बाहरी दुनिया से इस तरह काट रखा था कि उसके बारे मे वाहर अधिक जानकारी नही थी। चीन से विदेशियो की सधियाँ होने के तीस वर्ष और जापान मे पेरी-मिशन आने के बीस वर्ष बाद कोरिया सरकार ने पहली सधि की और वह भी किसी पश्चिमी देश से नही, वरन् एक पूर्वी देश से, जो कितने ही रोध-अवरोध पार कर वहाँ पहुँच गया था।

## (२) कोरिया का द्वार उन्मुक्त होना

कोरिया का दरवाजा बलात् खोलने का पहला प्रयास फ्रास ने किया। सन् १८६६ मे, जब कि कुछ फ्रासीसी कैथोलिक धर्म-प्रचारक, जो उस देश मे गुप्त रूप से कार्य कर रहे थे, कुछ देशी पादरियो व उन लोगो के साथ मार डाले गये, जिन्होने ईसाई धर्म स्वीकार कर लिया था, फ्रांस ने एक नौसैनिक-अभियान कोरिया भेजा, जिसका उद्देश्य इन हत्याओं के लिए क्षतिपूर्ति प्राप्त करना था।[२] अभियान कोरिया तट तक पहुँचने मे सफल हो गया, किन्तु कोरियाई सरकार ने उससे समझौते की कोई भी बात करने से इनकार कर दिया। जो सैन्य-शक्ति उसके पास थी उसे देखते हुए फ्रासीसी सेनापति कोरिया की राजधानी तक के थोड़े से फासले को भी पार करने मे हिचकिचा रहा था। कोरिया-निवासियो के प्रतिरोध, सरकार के बात करने से इनकार और अपनी सैनिक शक्ति कम होने के कारण यह सेनापति अपना लक्ष्य प्राप्त किये बिना ही वापस लौट पडा। फ्रासीसियो के इस प्रायद्वीप मे अपने हित-साधन के लिए बाद मे कोई काररवाई न करने का एक कारण यह था कि फ्रांस चीन की दक्षिणी सीमा पर अपने विस्तार के प्रयासो पर ही जोर देना चाहता था। सन् १८६७ में उसने कोचीन-चीन के तीन प्रान्तो पर अधिकार भी कर लिया।

सन् १८६६ मे ही 'सर प्राइज' नामक एक अमरीकी जहाज कोरिया के तट पर ध्वस्त हो गया। किन्तु अमरीकी नाविको के साथ फ्रासीसी पादरियो की अपेक्षा बहुत अच्छा व्यवहार हुआ और उन्हे मचूरिया के रास्ते वापस भेज दिया गया। किन्तु एक अन्य अमरीकी जहाज 'जनरल शर्मन' इतना सौभाग्यशाली साबित नहीं हुआ। जब यह जहाज कोरिया की एक नदी मे फँसा पड़ा था, उसके नाविक किनारे पर एक झगड़े व मारपीट में फँस गये। नाविको को तो बचा लिया गया, पर जहाज को नष्ट कर दिया गया। आठ नाविक तो मार डाले गये और शेष को कैद

कर लिया गया। कई वर्ष बाद, सन् १८७१ मे, इस मामले की जाँच और यदि कोई कैदी जिन्दा बाकी बचा हो तो उसे मुक्त कराने के लिए एक अमरीकी अभियान आया। कियांगह्वा के किलो को ध्वस्त करने के बाद अमरीकी समुद्र तट पर तो उतर आये, किन्तु कोरियाई सरकार ने फ्रांसीसियों की भाँति अमरीकियो से भी बात करने से इनकार कर दिया। यह अभियान भी कोरिया मे संपर्क स्थापित करने के अपने उद्देश्य में असफल होकर वापस लौट गया।

चार वर्ष बाद कोरियाई समुद्र में जाते हुए एक जापानी जहाज पर गोली चलायी गयी। तत्काल, केवल स्थानीय स्तर पर प्रतिशोधात्मक काररवाई की गयी, यद्यपि इस घटना से जापान में बड़ी सनसनी पैदा हो गयी क्योंकि सामुराई-वर्ग पहले से ही उतावला और असतुष्ट होकर आपे से बाहर हो रहा था। यह सैनिक-वर्ग सन् १८७२ में फारमोसा-काण्ड के समय ही युद्ध की माँग कर रहा था और हरजाना-वसूली के लिए फारमोसा भेजे गये अभियान मात्र से पूरी तरह सतुष्ट नही हुआ था। अतएव, जब सन् १८७५ और उसके बाद इस वर्ग को युद्ध का उपयुक्त कारण मिला तो युद्ध की मॉग फिर जोर पकड़ गयी। किन्तु कोई काररवाई करने के पहले जापान-सरकार ने चीन से बातचीत चलायी।

इस घटना के समय तक चीन और जापान स्वयं संधि-सबंधों में बँध चुके थे। सन् १८७१ मे, पिछले वर्ष के जापान के पूर्व रग पर, सधि-समझौता हो चुका था पर दोनों देशो का अनुसमर्थन सन् १८७३ में ही प्राप्त हुआ था। चीन और जापान के बीच पहले हुई संधियों तथा इन दोनो देशो की पश्चिमी राष्ट्रों से हुई सधियो से यह संधि भिन्न थी। एक तो चीन परम मित्र राष्ट्र सिद्धान्त को सधि में शामिल करने को तैयार नही था; दूसरे दोनो देशो ने राज्यक्षेत्रातीतता का सिद्धान्त एक दूसरे पर लागू तो किया, पर सशोधित रूप में, और तीसरे यद्यपि अन्य संधियो की भाँति एक दूसरे देश से व्यापार के पारस्परिक अधिकार इस संधि में भी थे, किन्तु जापान को चीन के भीतर यात्रा करने का अधिकार नहीं मिला था, क्योंकि चीन को डर था कि बहुत से जापानी लोग आकर उसके यहाँ भर जायेंगे।

इस सधि में कोरिया की स्थिति से सबधित केवल एक ही धारा थी। पहली धारा मे एक दूसरे की क्षेत्रीय उपलब्धियों पर पारस्परिक अनाक्रमण का समझौता था। संधि-समझौते की बातचीत के समय ली हुंग-चाग चीनी आधिपत्य के कुछ बाहरी प्रदेशो की स्थिति के संबंध में चिन्तित थे। फारमोसा का प्रश्न और लूचू द्वीप की स्थिति से भी यह चिन्ता उठ खडी हुई थी। किन्तु तब भी, उसके मन कोरिया की स्थिति के संबध में कठिनाइयाँ पैदा होने की संभावनाएँ स्पष्ट थी। सधि में यह धारा

डाल कर उसने समझा कि जहाँ तक जापान का प्रश्न है कोरिया की स्थिति सुरक्षित कर ली गयी है, क्योकि क्षेत्रीय उपलब्धियो के लिए संधि मे "राज्य व भूमि" का प्रयोग किया गया था।" ३१ अगस्त, १८७१ को अपने प्राथमिक प्रतिवेदन मे ली ने दरबार को लिखा कि इस वाक्याश से कोरिया व ऐसे अन्य राज्यो की स्थिति सुरक्षित कर ली गयी है।[३]

१८७५ की घटना के बाद जापान सरकार ने चीन की केन्द्रीय सरकार से बात करने एक शिष्टमडल पीकिंग भेजा और एक फौजी अभियान कोरिया रवाना कर दिया, जो क्षतिपूर्ति और सधि की माँगो पर अडा रहा। पीकिंग मे हुई वार्ता का फल यह निकला कि चीन ने कोरिया से अपनी नीति बदल कर जापान से सधि समझौता करने के लिए कहा। चीन के इस सुझाव का असर रहा हो या जापानी शक्ति-प्रदर्शन का, कोरिया को यह आभास हो गया कि बाहरी सपर्क के विरुद्ध वह चाहे जितने मजबूत व्यवधान खड़ा करे, बाहरी शक्तियाँ लगातार दबाव देकर उन व्यवधानो को ध्वस्त कर देती है, और इसलिए वह संधि करने के लिए तैयार हो गया। फलतः, २६ फरवरी, १८७६ को कोरिया और जापान के बीच सद्‌भावना व व्यवसाय-सबधी सधि पर हस्ताक्षर हो गये। इस संधि मे भी सशोधित रूप मे राज्यक्षेत्रातीतता का सिद्धान्त शामिल था तथा वे अन्य व्यवस्थाएँ भी थी, जो पश्चिमी राष्ट्रो व जापान के बीच हुई सधियो मे थी, और जिनके विरुद्ध जापान उस हद तक तब भी लगातार आपत्तियाँ उठा रहा था, जिस हद तक वे उस पर लागू होती थी। किन्तु सधि की सबसे महत्त्वपूर्ण पहली धारा मे वर्णित यह घोषणा थी कि "स्वतत्र देश होने के नाते कोरिया के सर्वोच्च सत्ता-संबधी वही अधिकार है, जो कि जापान के है।" त्सुगलीयामेन को जब सधि की एक प्रति प्राप्त हुई, तब उसने "जापान द्वारा कोरिया की स्वाधीनता की स्वीकृति की धारा के रहते हुए भी कोई टीका-टिप्पणी नही की। कोरिया द्वारा निष्ठा-भक्ति के आश्वासन पाकर यामेन ने सधि की इस धारा के गूढार्थ स्वीकार नही किये।"[४]

जिस समय इस सधि पर हस्ताक्षर हुए चीन और कोरिया के बीच, नाममात्र के लिए ही सही, पारस्परिक सम्मान के ऐतिहासिक संबंध थे। अधिराट् व करद राज्यों के संबध तब "पश्चिमी न्याय-प्रणाली के लिए अज्ञात थे।"[५] एक अन्य चीनी विद्वान् ने इस सबध में लिखा है· "कानून और प्रथा की दृष्टि से (कोरिया की चीन से) अधीनता और भी दीनतापूर्ण थी। कोरिया के राजाओं का मानाभिषेक पीकिंग से होता था; हर वर्ष कोरिया करद मिशन भेजता था। चीन के सम्राट् की मृत्यु या राज्याभिषेक के समय समारोहो मे भाग लेने कोरिया से प्रतिनिधिमंडल आते थे।

जब चीनी सम्राट् का एजेण्ट कोरिया पहुँचता था तो वहाँ का राजा स्वय उसको साष्टांग दण्डवत् करता था। विदेशी आक्रमण या आतरिक उपद्रव होने पर सम्राट् सहायता भेजता था। इन बातो को छोड़ कर, कोरिया के मामलों मे हस्तक्षेप नही किया जाता था....अपने करद राज्यो से चीन परिवार के सदस्यों जैसा व्यवहार करता था—वह स्वय बडा भाई था और करद राज्य उसके छोटे भाई।"[१] कोरिया के आतरिक मामलो में हस्तक्षेप न करने का जो परपरागत दृष्टिकोण था, उसी के कारण चीन सरकार ने यह उपयुक्त समझा कि आक्रमण की स्थिति को छोड़कर शेष मामलो मे कोरिया स्वय अपना प्रबन्ध करने लगे। किन्तु हस्तक्षेप न करने की यही नीति थी, जिसके कारण जापान व अन्य देशों को चीनी अधिराजत्व की वस्तुस्थिति से इनकार करने का अवसर मिला। कोरिया से राज्यनिष्ठा प्राप्त रहने के कारण, चीन अधिराट् की स्थिति मे निहित, हस्तक्षेप के अपने अधिकारो के उपयोग को तब तक अनावश्यक मानता रहा, जब तक अन्य राष्ट्रो ने कोरिया मे दिलचस्पी लेनी और वहाँ अपने हित बनाने आरम्भ न कर दिये। किन्तु, कोरिया की चीन के प्रति पूरी राज्यनिष्ठा होने के बाद भी, चीन को अपनी स्थिति कायम रखने के लिए यह जरूरी था कि या तो यह परपरागत सबध किसी समझौते मे लिखित रूप से आ जाते या उनमें इस हद तक सशोधन हो जाता कि अन्य राज्यो के हितो से सबधित कोरिया सरकार की काररवाइयों की जिम्मेदारी स्वय चीन ले ले। यह बात सन् १८८५ के बाद ही पूरी तरह समझी गयी।

जापान को उसके जहाज की हुई क्षति के लिए कोरिया से सीधे हरजाने और संधि बात करने की छूट दे देना चीन के दृष्टिकोण से बड़ी घातक गलती हो गयी। अपनी निष्क्रियता के पूरे नतीजे न समझने के कारण चीन ने बार-बार अन्य स्थानों पर भी यही गलती की और उसके अधिराजत्व को कायम रखने के दृष्टिकोण से हर बार इस गलती के दुर्भाग्यजनक परिणाम हुए। जो नीति पहले अपनायी गयी थी, उसका कोरिया मे भी घातक परिणाम हुआ। शुरू की गलती सुधारने के लिए बार-बार कोशिश करने के बावजूद उत्तरी बर्मा और उस क्षेत्र की भाँति जो अब फ्रासीसी हिन्द-चीन के नाम से जाना जाता था कोरिया धीरे-धीरे चीन के हाथ से फिसलता दिखायी दे रहा था और चीन के अधिराजत्व के दावे और अपनी सत्ता बढ़ाने के सभी यत्न विफल हो रहे थे। गलती चीन ने की थी और उसका पूरा-पूरा लाभ जापान को उठाना था। और जापान ने इस बात पर जोर दिया कि कोरिया चीन से अपने पुराने संबधो की समाप्ति की घोषणा कर अपने को सर्वोच्च-सत्तासपन्न स्वतंत्र राष्ट्र घोषित करे। कोरिया और चीन, दोनो ने शीघ्र ही अपनी गलती समझ ली थी

किन्तु उसे सुधारने के उनके प्रयत्न विफल हो गये ।

कोरिया से सपर्क स्थापित करने में जापान की सफलता देखकर अमरीका ने भी कोरिया से सधि करने के प्रयत्न एक बार फिर से शुरू कर दिये । इसी समय चीन ने सोचा कि सिऊल मे जापान के बढ़े हुए प्रभाव को समाप्त करने का एक उपाय कोरिया के वाहरी सपर्क व्यापक बना देना भी हो सकता है । सन् १८७९ मे ही "ली हुंग-चांग ने एक उच्चपदस्थ कोरियाई अधिकारी को अपनी सोची-विचारी यह सम्मति दी थी कि चूँकि 'जहर जहर से ही मारा जाता है' चीनी षड्यत्र का मुकाबला करने का एक ही उपाय यह है कि पश्चिमी राष्ट्रो से भी संधियाँ कर ली जायँ ।"[७] सन् १८८० मे अमरीकी नौसैनिक अधिकारी कमोडोर शूफेल्ट ने जापान की सहायता से कोरियाई सरकार से सपर्क स्थापित करने का प्रयत्न किया, चीन की भी दिलचस्पी बढ़ गयी । वाइसराय ली ने शूफेल्ट को टीटसीन आने की दावत दी । चूँकि उसके प्रति जापान का रवैया बहुत सतोषजनक नही रहा था शूफेल्ट ने टीटसीन जाने और ली हुंग-चांग की सहायता से कोरिया से सपर्क बढाने का निमत्रण स्वीकार कर लिया । अत मे, सन् १८८२ मे, चीनी वाइसराय की मध्यस्थता से टीटसीन मे कोरिया व अमरीका के बीच सधि समझौता हो गया । अगले चार वर्षो मे रूस, फ्रास, इटली, जर्मनी, इगलैण्ड, सभी के कोरिया से सधि-सबध स्थापित हो गये ।

इन सभी सधियो मे जापानी नजीर पर कोरिया को पूर्ण स्वतत्र राज्य स्वीकार किया गया था ।

किन्तु, स्वाधीनता के प्रश्न को हल करना, यूरोपीय राष्ट्रों के प्रतिनिधियो ने टाल ही दिया, और पीकिंग स्थित अपने दूतो को विभिन्न नामो से अपना सिऊल स्थित प्रतिनिधि भी मान लिया । किन्तु, पीकिंग द्वारा अपना उत्तरदायित्व त्याग देने से प्रभावित होकर अमरीका ने जापान की भाँति सिऊल मे अपना एक मत्री रख दिया जो टोकियो और पीकिंग स्थित अमरीकी मत्रियो से स्वतन्त्र था । अमरीका के इस कदम से जापान को बहुत सतोष हुआ ।[८]

आगे जब चीन ने इस तरह छिने हुए अधिकार को सन् १८८७ में फिर से प्राप्त करने की कोशिश की और अमरीका गये कोरियाई प्रतिनिधि पर जोर दिया कि वह अमरीकी सरकार से वाशिंगटन स्थित चीनी दूतावास के द्वारा ही बात करे, तब अमरीकी गृहमत्री ने कोरियाई प्रतिनिधि को स्वतत्र राष्ट्र का प्रतिनिधि स्वीकार कर उससे सीधे बात की और चीनी दूतावास को बीच मे नही आने दिया । अन्य पश्चिमी देशो और कोरिया के बीच जो सधियाँ हुई थी, उनसे अमरीकी सधि इस बात में भी भिन्न थी कि हैरिस सधि की भाँति उसमे एक धारा यह भी थी कि

आवश्यकता पड़ने पर कोरिया को अन्य राष्ट्रों से अपने विवाद तय करने मे अमरीकी मध्यस्थता प्राप्त रहेगी। जब कोरिया पर आधिपत्य जमाने का सघर्ष चरम सीमा पर पहुँचने लगा, कोरिया ने अंततः सधि की इस धारा पर भरोसा किया, किन्तु कोरिया यह नही समझ सका था कि 'मध्यस्थता' के लिए विवाद के दोनो पक्षो को इसके लिए तैयार होना पड़ता है, नही तो मध्यस्थता हस्तक्षेप बन जाती है। यह बात चीन, जापान या कोरिया किसी को भी स्पष्ट नही की गयी थी।

## (३) कोरिया की आंतरिक परिस्थिति

विदेशी सपर्क के लिए जिस कोरिया का द्वार उन्मुक्त हुआ उसकी स्थिति इतनी दयनीय थी कि उसने विदेशी हस्तक्षेप का एक तरह से स्वागत ही किया। राजकुल—थी का घराना--विदेशी सपर्क स्थापित होने से ५०० वर्ष पहले कायम हुआ था। पहले शासक ने अवश्य कुछ व्यापक सुधार किये जिनमें अकुशल, भ्रष्ट, बौद्धधर्म के अनुयायी अधिकारियो को निकालना भी था। ध्वनि पर आधारित एक वर्णमाला का भी विकास किया गया, किन्तु चीनी लेखन के आदी पुरुषो में इस वर्णमाला को चलाना असभव सिद्ध हुआ; केवल स्त्रियाँ ही इस वर्णमाला का प्रयोग करती रही। धातु के अक्षर ढाले गये जो एक जगह से दूसरी जगह ले जाये जा सकते थे। "कला, साहित्य, विज्ञान, अर्थशास्त्र, कृषि, हर मानवीय प्रक्रिया मे एक नयी भावना प्रतिलक्षित होने लगी और थोड़े ही समय में जनता की पतित दशा मे सुधार होने लगा।"[१]

दुर्भाग्यवश, राजकुल की स्थापना करने वाले के उत्तराधिकारी निर्बल शासक हुए और सोलहवी शताब्दी मे गुटबन्दी बढ़ गयी, जो कोरिया के पतन का कारण बनी। शताब्दी के अत मे जापानी हमलावरों के प्रतिरोध की शक्ति इस गुटबन्दी के कारण क्षीण हो गयी थी, किन्तु यदि ये हमलावर चीन की सहायता के बिना खदेड़ दिये जाते तो सभवतः गुटबन्दी की जगह एकता की भावना भी प्रबल हो सकती थी। किन्तु यद्यपि जापानी हमलावर अतत' निकाल दिये गये, कोरिया को जीतने के लिए जब जापान के दूसरी बार के प्रयास चल रहे थे, तभी दलबन्दी ने फिर से सिर उठाया और फिर वह कभी समाप्त न हो सकी।

जापान ने कोरिया की जो बरबादी की थी, उससे वह कभी पूरी तरह उबर न सका। किन्तु पुनर्निर्माण की अक्षमता का कारण आतरिक परिस्थितियाँ थी, जो सपत्ति और जनजीवन का भयंकर सहार हुआ था, वह नही। सोलहवीं शताब्दी से देश दो भागों में अधिकाधिक बँटता गया—एक शोषित जनता का भाग और दूसरा शोषक अहलकारी समाज व दरबार का भाग। अधिकारी व सामन्ती कुलीन भी

दो भागो मे बँटे हुए थे--एक जो सत्तारूढ थे और दूसरे जो राजा की कृपा के पात्र नही थे और सत्तारूढ होने के लिए सघर्षशील थे। इस सघर्ष के रूप थे लगातार षड्यत्र और राजनीतिक हत्याएँ। जो सरकारी पदो से किसी-न-किसी तरह से चिपके हुए थे, उन्हें छोड कर किसी की भी सपत्ति या जान सुरक्षित नही थी, वह चाहे जितना बडा व्यक्ति क्यो न हो और जनता मे उन्नति करने के लिए कोई उमग या प्रेरणा नही थी। यदि कोई व्यक्ति सफल व्यापारी या किसान होता और थोडी-बहुत पूँजी जमा करने लगता तो उसकी सपत्ति अवश्य ही छिन जाती—चाहे कर जमा करने वाले अधिकारी द्वारा, या चाहे किसी अधिकारी या सामती कुलीन द्वारा बलात् ऋण लेने के बहाने। इस प्रकार, जो भी कमाओ उसे पूरा खर्च कर डालने मे ही सुभीता था, या फिर लोग अपनी सपन्नता छिपा कर निर्धनो की तरह ही रहते थे। मितव्ययिता और सुधार को कोई प्रोत्साहन नही था। लोग मिट्टी के गन्दे घरौदो मे रहते थे, जो कुछ वे बचाते थे, उसे खा-पी डालते थे या छिपा कर रखते थे। देश मे दौलत थी जरूर, जो उसके अस्तित्व के स्वीकार करने पर भी सुरक्षा मिलती रहने के युग मे बाहर निकली और कोरियावासियों ने काफी पूँजी चाहने वाले काम भी शुरू कर दिये। किन्तु देश की दशा बहुत गरीब ही दिखायी देती थी।

जनता मे विभिन्न वर्ग व कोटियाँ बड़े यत्न से कायम रखी गयी थी। सामाजिक स्थिति के अनुसार ही व्यक्तियो को कुरसी पर बैठने या गदहे पर सवार होने का अधिकार प्राप्त होता था। शासक वर्ग मे काफी तड़क-भड़क और फिजूलखर्ची का जीवन था। पद और शक्ति का परिचय सदैव जनता के व्यक्तिगत अधिकारो की अवहेलना करके दिया जाता था।

किन्तु अधिकारियो की नाजायज वसूलियो और उनकी काररवाइयों मे जब अति होने लगती थी और वे असह्य हो उठती थी, तब जनता चीन की भाँति उनसे मुक्ति पा लेती थी। शिकायतें दूर करवाने के लिए कोरिया मे भी छोटे-मोटे उपद्रव हो जाना सामान्य नियम था। यदि जनता विद्रोह कर देती और किसी अधिकारी को खदेड़ देती तो राज्यपाल तुरन्त उक्त अधिकारी को वहाँ से हटा देते थे, जनता के सक्रिय विरोध का प्रदर्शन देखकर राज्यपाल कदाचित् ही किसी अधिकारी को उसी स्थान पर कायम रखते थे। किन्तु पुराने अधिकारी की जगह जो नया अधिकारी आता, वह भी जनता की इच्छाओ की केवल उतनी ही परवाह करता था, जितने से विद्रोह न होने पाये। इस प्रकार, अधिकारियो के अत्यधिक बुरे कामो का दण्ड तो विद्रोहो द्वारा मिल जाता था, किन्तु अच्छा शासन लाने के लिए विद्रोह का तरीका कारगर नही था। सामान्यतः जनता इस शासन-प्रणाली

को उदासीनता के साथ स्वीकार करती थी, क्योंकि उसे इस प्रणाली का कोई विकल्प नही प्राप्त था।

सामाजिक संस्थाओ के दृष्टिकोण से कोरिया का सगठन परिवार के आधार पर था और इसका अनिवार्य अग, पूर्वज-पूजा भी थी। पूर्व के अन्य देशो की भॉति यहॉ भी पुत्री से अधिक प्रतिष्ठा पुत्र की होती थी, चीन और जापान के मुकाबले मे यहाँ स्त्रियो का दरजा नीचा था। बौद्धमत एक समय यहॉ काफी प्रचलित था, किन्तु, पन्द्रहवी शताब्दी के बाद बौद्धधर्म का स्थान कनफूशियसवाद ले रहा था, यद्यपि यह मत भी यहाँ अविकसित अवस्थाओ में ही था। जहाँ तक जनता के धर्म का प्रश्न है, वह पिशाचवाद था; कोरिया मे जहॉ इस पिशाचवाद ने बौद्धधर्म को हटा नही पाया था, वहाँ इसने स्वय बौद्धधर्म का ही स्तर नीचे गिरा दिया था।

जनता का बहुत बडा भाग किसानी करता था और मुख्य फसल चावल थी, मछली और चावल कोरिया का मुख्य भोजन था। चावल के अतिरिक्त कुछ मोटे अनाज और तरकारियाँ भी उगा ली जाती थीं। व्यापार अधिकाशत: एक जगह से दूसरी जगह घूमने वाले फेरीवाले दूकानदारों के हाथ मे था। उद्योग सीमित और लगभग आदिम अवस्था मे था। पहले के जमाने का फलता-फूलता मृत्तिका-शिल्प ह्रासोन्मुख था, क्योंकि कोरिया के शिल्पी व कारीगर, सोलहवी शताब्दी के अत में जापानी हमलावरो के खदेड़े जाने पर, जापान पकड़ ले जाये गये थे। कारीगरो को बलात् जापान ले जाये जाने के धक्के से कोरिया का मिट्टी के बरतन आदि बनाने का यह उद्योग फिर कभी पनप नही पाया। किन्तु, इससे जापान को तो लाभ हुआ ही; क्योंकि, इससे जापान के मिट्टी के बरतन आदि बनाने के उद्योग के विकास की नींव पडी और बाद में सत्सूमा-बरतन बहुत विख्यात हुए।

## (४) कोरिया पर आधिपत्य का संघर्ष

और भूखा, गरीब, कुशासित दल और फूट अभिशप्त यह संन्यासी राज्य कोरिया, अपने दो सशक्त पड़ोसी देशों के संघर्ष का कारण बना। इसमे भी कोरिया की गुट-बन्दी की महत्त्वपूर्ण भूमिका थी। सन् १८६३ में जब पश्चिम के देश इस "प्रसन्नमुख प्रभात के देश" मे दिलचस्पी लेना शुरू कर रहे थे, राजा पुत्र-प्राप्ति के ही बिना मर गये। फलत., एक बारह वर्षीय बालक सिंहासन पर बैठा और उसके पिता जो ताइ-वुनकुन नाम से प्रसिद्ध थे, राजप बने। राजप ने अपना प्रभाव संगठित करने और अपनी शक्ति कायम रखने के लिए पहला काम यह किया अपनी पत्नी की, जो मिन कुल की थी, भतीजी से अपने पुत्र का विवाह कर दिया। नये राजा निर्बल चरित्र के थे और अपने आस-पास के लोगो के प्रभाव में आ जाते थे। उनके पिता दृढ संकल्प-

शक्ति वाले थे और राजा पर प्रभाव डालते रहते यदि रानी ने स्वय शासन मे दिलचस्पी लेना शुरू न किया होता। राजा के वयस्क होने पर रानी के नेतृत्व मे मिन गुट और राजा के पिता ताइवुनकुन के नेतृत्व मे यी परिवार, जो राजकुल था, के बीच सत्ता के लिए कटु सघर्ष हुआ। सघर्ष सत्ता का ही था, किन्तु विदेशी सपर्क का प्रश्न उठ खडा होने से वह परराष्ट्रनीति का प्रश्न बन गया। रानी-गुट प्रगतिशील दल बन गया, जो देश के द्वार उन्मुक्त करने के पक्ष मे था। राजा के ऊपर रानी के प्रभाव से राज्य की विदेशी-विरोधी नीति त्याग दी गयी, सन् १८७६ मे जापान से सधि हुई और जापान का दूतावास सिऊल मे स्थापित हो गया।

किन्तु सन् १८८१ मे कोरिया मे भीषण अकाल पड गया, जिससे जनता को अपार कष्ट हुआ। राजप के दूत घूम-घूम कर रानी के प्रभाव को कम करने के लिए जनता को समझाने लगे कि यह कठिन समय देश मे विदेशियो के आगमन के कारण ही आया है और जब तक एकान्त की पुरानी नीति नही अपनायी जाती, यह कठिन समय बना ही रहेगा। राजधानी की जनता ने आवेश मे आकर उपद्रव कर दिया। अत मे भीड़ राजमहल पर चढकर रानी की हत्या करने आ गयी। महल के मैदानो तक पहुँच कर भीड जापानी दूतावास की ओर पलट गयी। जापानी मत्री और उनका अमला-परिवार व वे जापानी नागरिक जो कुशलतापूर्वक दूतावास तक पहुँच गये थे, भीड़ को चीरते हुए नगर के बाहर निकल आये और अंत मे समुद्र तट पर पहुँच गये। लगभग तीन सप्ताह बाद यह जापानी मत्री काफी सैन्यबल के साथ सिऊल लौट आये और उक्त घटना के उपयुक्त क्षतिपूर्ति की माँग की। कोरियाई सरकार ने "हत्यारो को दण्ड, मृत जापानियो के लिए ससम्मान समाधि, चार लाख येन की क्षतिपूर्ति व जापानियो के लिए और अधिक व्यापारिक सुविधाओ"[१०] की माँग स्वीकार कर ली।

इसी समय चीन ने अधिराट् की हैसियत से अपने अधिकारो का दावा किया और इस सारी घटना के लिए उत्तरदायी राजप का लगभग अपहरण कर लिया। राजप चीन ले जाये गये, जहाँ वह कई वर्षों तक कैद मे रहे। इस बीच चीन की नीति बदल चुकी थी और उसने अमरीका के साथ सधि का अनुसमर्थन का सुझाव दिया तथा अपनी कोरिया संबंधी नीति अधिक प्रगतिशील बनायी।

इससे कठिनाई दूर नही हुई, किन्तु चीन और जापान के पुराने सघर्ष का एक नया दौर शुरू हो गया। सन् १८८३ मे टींटसीन के वाइसराय, ली हुग-चांग ने, जिन्हें चीन के सम्राट् ने कोरिया का मामला सौप रखा था, अधिराट् के प्रतिनिधि के रूप में युआन शिह-क' आई को कोरिया भेजा; (युआन शिह-क' आई बाद में

चीनी गणतंत्र के राष्ट्रपति हुए थे)। अब से चीन ने अपने अधिकारो का अधिकाधिक दावा करना और कोरिया से निकटतम संबध कायम करने का प्रयास शुरू किया। निकट संबध स्थापित करने का एक उपाय यह अपनाया गया कि चीन और कोरिया की समुद्री सीमा-शुल्क-व्यवस्था का आशिक एकीकरण कर दिया गया। ली ने एक विदेशी को कोरिया-सरकार का परामर्शदाता नियुक्त किया और उसने कोरिया की सीमा-शुल्क-सेवा सगठित की और स्वयं उसका सर्वोच्च अधिकारी बन गया। बाद मे उसके हटने पर, दोनो देशो की सेवाओ के एकीकरण के प्रयत्न मे चीनी सेवा का एक निरीक्षक कोरियाई सेवा का सर्वोच्च अधिकारी बनाया गया। अपेक्षा यह थी कि वह सर आर. हार्ट से निर्देशित होगा और चीनी हितो की रक्षा करेगा। इसी समय, केन्द्रीय चीनी शासन के प्रतिनिधि, युआन शिह-क' आई ने सिऊल मे इस बात का दावा किया कि जितने भी विदेशी दूत व मत्री है, दरबार मे उन सबसे अधिक वरीयता मुझे मिलनी चाहिए। कोरिया सरकार के हर महत्त्वपूर्ण मामले मे वह बहुत निकट का सपर्क बनाये रहे। अत मे, सन् १८८२ मे जापानी दूतावास पर भीड के आक्रमण का एक परिणाम यह निकला कि दरबार मे चीन का प्रभाव बढ गया, यद्यपि जापानी क्षतिपूर्ति की अपनी माँग राजा से मनवाने मे सफल हो गये थे।

दूसरी ओर यदि चीन का प्रभाव बढ रहा था तो जापान भी इस प्रभाव को समाप्त करने के प्रयत्न लगातार कर रहा था। सन् १८८२ के बाद पहले वाले यी व मिन गुटो के शक्ति के लिए संघर्ष का रूप कुछ बदल गया था और अब ये ऐसे दो गुटों का झगड़ा था, जिनमे से एक जापान में हुए परिवर्तनो के अनुरूप देश का आधुनिकीकरण करना चाहता था और दूसरा प्राचीन व्यवस्था का प्रतिनिधित्व करता था और कम-से-कम परिवर्तन करने के पक्ष में था। रानी के नेतृत्व में, जो अब परिवर्तन की अपनी इच्छा खो बैठी थी, प्राचीन व्यवस्था का समर्थक गुट शासन का नियंत्रण करता था और उसे चीनी प्रतिनिधि का समर्थन प्राप्त था। प्रगतिशील दल सलाह और सक्रिय सहायता के लिए जापानी दूतावास की ओर ताकता था।

सन् १८८४ में इस संघर्ष का अनिवार्य अत आया—जो सत्ता के बाहर थे, उन्होंने अपने विरोधियो की हत्या कर शासन पर नियत्रण करने का प्रयास किया, इस प्रकार की हत्याएँ कोरिया मे सामान्य थी। 'प्रगतिशीलो' ने बड़ी सावधानी के साथ—संभवत. जापान के मंत्री के परामर्श से—अपनी योजना तैयार की। योजना यह थी कि एक नयी डाक सेवा के उद्घाटन के उपलक्ष्य में एक भोज का आयोजन हो। भोज के दौरान में महल में आग लग जाने की खबर दी जाय। जब प्रतिक्रियावादी मंत्री भोजवाले भवन से बाहर भागें तभी उन्हें मार गिराने का अवसर होगा। एक

सीमा तक योजना ठीक चली। आग लगने की सूचना दी गयी और एक मत्री बाहर भागा और उस पर हमला किया गया। किन्तु वह हमले के बाद फिर भोजवाले कमरे मे लौट आने और अन्य मन्त्रियो को सावधान करने मे सफल हो गया। तब षड्यन्त्र-कारी भागकर राजमहल पहुँचे और राजा व रानी को अपने साथ सुरक्षित स्थान चलने को राजी कर लिया। तत्काल ये लोग प्रगतिशीलो के नौकर कोरियावासियों व जापानियो द्वारा घेर लिये गये। दबाव मे आकर राजा ने अपनी सरकार का पुनस्सगठन कर दिया और कोरिया को आधुनिक राज्य बनाने के लिए अनेक शासनादेश, कागज पर, जारी कर दिये। इस समय चीनियो ने इस मामले मे हस्तक्षेप किया—

चीनी प्रतिनिधि, युआन शिह्-क' आई, अपने साथ चीनी सिपाहियो को लेकर, जो सन् १८८२ से वहाँ थे, राजा की रक्षा के लिए महल पहुँचे, लेकिन वहाँ जापानी दूत व जापानी फौज का कब्जा पाया। चीनियो ने जापानियो पर गोली चला दी और होहल्ला हो गया, जिसमे सिऊल के नागरिको ने भी भाग लिया। जापानी लड़ते हुए नगर से बाहर निकले और चेमिलपो तक जा पहुँचे, जहाँ उनको जापानी जहाज पर जगह मिल गयी। चीन उस समय टोगकिंग सकट में फँसा हुआ था और जापान का विरोध नहीं कर सकता था। जापान के एक विशेष राजदूत, काउण्ट इनूयी काओरू, काफी बडा नौसैनिक दस्ता लेकर आ पहुँचे और ९ जनवरी, १८८५ को हुए समझौते के द्वारा पूरी क्षतिपूर्ति प्राप्त की। इस समझौते के अनुसार कोरिया ने क्षमा-याचना की, उपद्रवियो को दण्ड देना स्वीकार किया, ३०,००० डालर हरजाने के भरे और जापानी दूतावास के सैनिको के लिए बारक बनाना स्वीकार लिया।[११]

यह सब कोरिया को तव करना पड़ा, जब कि प्रगतिशीलो के साथ षड्यन्त्र कर जापानियो ने ही सारा उपद्रव खडा किया था; प्रगतिशीलो को जापान के पूर्ण समर्थन व सहायता का आश्वासन था और चीन के हस्तक्षेप के समय तक उन्हे पूरी सहायता मिली भी थी।

सन् १८८५ में ही टोगकिंग-सबधी फ्रास व चीन का विवाद निपट गया और चीन अब कोरिया की ओर ध्यान देने को स्वतत्र था। किन्तु, चीन जापान के विरुद्ध युद्ध छेड़ने की स्थिति मे नही था, यद्यपि दरबार मे एक गुट और शासन मे कुछ अधिकारी चीन की शक्ति को बढ़ा कर और जापान की शक्ति घटाकर बताते थे। जापानी भी इस प्रश्न पर युद्ध नही चाहते थे, क्योकि वहाँ का शासन अब भी शांति-दल के हाथ मे था और राजनीतिक पुनस्सगठन का काम वहाँ तब भी पूरा नही हो पाया था। दोनों देश कोरिया पर नियत्रण के लिए अंतिम सघर्ष के पहले समय चाहते थे। इस प्रकार दोनों के बीच में एक समझौता हो गया; इस समझौते पर

टीटसीन में हस्ताक्षर हुए, जहाँ दोनो देशों के सबसे बड़े राजनीतिज्ञो—चीन की ओर से वाइसराय ली हुग-चाग और जापान की ओर से काउण्ट ईटो—ने इसे तैयार किया था। इस उप-सधि के अनुसार दोनो देशों ने कोरिया से अपनी-अपनी फौजे चार महीने के भीतर हटा लेने का निश्चय किया, कोरिया को स्वतत्र छोड कर अपनी सेना का विदेशी निर्देशन मे पुनस्सगठन करने को प्रोत्साहित करने का निश्चय हुआ—यह विदेशी निर्देशन न चीनियो का होना था और न जापानियो का। यह भी निश्चय हुआ कि यदि भविष्य मे किसी पक्ष को अपनी सेना कोरिया भेजनी ही पड़े तो उसे अपने इस इरादे की पूर्वसूचना लिखित रूप मे दूसरे पक्ष को देनी होगी और इस प्रकार भेजी गयी सेना उस उपद्रव के दमन के फौरन बाद वापस बुला लेनी होगी, जिसके कारण सेना भेजना आवश्यक हो गया हो।

यह उपसधि जापान की राजनयिक जीत थी, क्योकि इससे चीन की उन कार-रवाइयो पर आशिक रोक लगती थी जो उसके अधिराजत्व को मानने पर करना उसके अधिकार क्षेत्र के भीतर की बात होती; फलत, इस उपसधि से जापान के इस दावे को बल मिला कि कोरिया एक स्वतत्र देश है। सन् १८७६ की सधि के बाद से जापान की नीति और लक्ष्य यही था कि कोरिया की स्वतत्रता का जापानी दावा सही सिद्ध हो और प्रगतिशीलों की स्वतंत्रता की नीति के कारण ही उन्हें जापानी सहायता प्राप्त हुई थी। प्रगतिशील चीनी संबंधों को समाप्त कर देना चाहते थे, क्योकि वे उन्हे सुधारो के मार्ग मे बाधक मानते थे, किन्तु वे यह नही समझ रहे थे कि जापान का अतिम लक्ष्य ऐसा स्वाधीन कोरिया नही हो सकता, जो सशक्त और अपनी रक्षा मे समर्थ हो; जापान तो चाहता था कि उसकी सहायता से विदेशी नियंत्रण से कोरिया स्वतंत्र हो, ताकि इस सहायता के बदले जापान निरीक्षण के अधिकारों की माँग कर सके।

यद्यपि, कागज पर टीटसीन उपसधि ने जापान की माँग को पुष्ट बनाया था, सन् १८८४ के 'पूर्वी आम चुनाव' के बाद सिऊल में चीन की स्थिति दो कारणो से इतनी मजबूत हो गयी थी, जितनी कि पहले कभी नही थी। एक तो दरबार से प्रगतिशीलों का सफाया हो गया था—उसके कुछ नेता तो भीड़ द्वारा मार डाले गये थे और कुछ-सबसे बड़े षड्यन्त्रकारी, किम ओक-कुइन, के साथ—भाग कर जापान पहुँच गये थे, जहाँ उन्हे शरण मिल गयी थी। दूसरे, जापानियो का इस घटना मे जो रवैया था उसे देखकर जनता के मन मे जापान के प्रति शत्रुता की भावना थी, वह उभर आयी थी। इस भावना का प्रकट रूप यह था कि वह चीन पर और अधिक भरोसा करने लगी थी।

टीटसीन-उपसधि मे कोरिया की सेना के विदेशी देख-रेख मे प्रशिक्षण व पुनस्सगठन की जो शर्त्त थी, वह वौन मौलेनडोर्फ नामक विदेशी परामर्शदाता के सुझाव पर रूसी सैनिक अधिकारियो के द्वारा पूरी हो रही थी। मौलेनडोर्फ ने सन् १८८४ मे जापान की वढ़ती हुई शक्ति को सतुलित करने के लिए ही रूसी अधिकारी बुलाने का सुझाव दिया था। किन्तु बाद मे अपने अधिकारी उधार देने के बदले मे रूस को लजारेफ बन्दरगाह के उपयोग की अनुमति प्राप्त हो गयी और इस प्रकार रूस को अपनी नौसेना का केन्द्र बनाने के लिए एक ऐसा बन्दरगाह मिल गया, जो बर्फ से जमता नही था।

रूस को इस बन्दरगाह का उपयोग प्राप्त होने मे जापान को अपने समुद्र के बिलकुल सामने खडा खतरा नजर आया, चीन को लगा कि इससे कोरिया की स्वतत्र सत्ता और इस प्रकार चीन के अधिराजत्व पर सकट आ गया है; इगलैण्ड को आभास हुआ कि एशियाई सतुलन बिगड़ गया है और स्थिति एशिया मे उसके सबसे बड़े प्रतिद्वन्द्वी, रूस के पक्ष मे जा रही है; इस बीच फ्रास पेस्काडोर द्वीपो पर कब्जा किये हुए था और चीन व जापान के सबंध बिगड़े हुए थे।[१२]

इस सतुलन को ठीक करने के लिए इग्लैण्ड ने हैमिल्टन बन्दरगाह पर आधिपत्य जमा लिया, यह बन्दरगाह कोरिया के दक्षिणी तट के निकट द्वीपो के बीच लगर डालने की वह जगह थी जहाँ से कोरिया से सबधित रूस, चीन व जापान की गतिविधि पर निगाह रखी जा सकती थी। रूसी सकट को देखकर चीन जापान ने अस्थायी रूप से अपने मतभेद भुला कर एका कर लिया और चीन ने माँग की कि रूस से हुआ समझौता समाप्त किया जाय। रूस के पक्ष में सलाह देने वाले विदेशी परामर्शदाता, मौलेनडोर्फ को बरखास्त कर, उनकी जगह एक अमरीकी परामर्शदाता की नियुक्ति कर दी गयी। इसके बाद परामर्श देने के लिए जिनकी भी नियुक्ति हुई या जो भी कोरियाई सीमा-शुल्क-सेवा के सर्वोच्च अधिकारी बने (यह सेवा धीरे-धीरे स्वतंत्र किन्तु चीनी सीमा-शुल्क-सेवा की अनुषगी सेवा बन रही थी) उन्हे यह बात याद रखने को कहा गया कि "कोरिया के सबध मे जो बात भी हो, मूल बात यह है कि कोरिया चीन का करद राज्य है और चीन अपना अधिराजत्व छोड़ने की जगह उसके लिए युद्ध करने के लिए तो तैयार है ही, यदि कोरिया मे उपद्रवकारी षड्यंत्र होते रहे तो चीन उसे अपने क्षेत्र मे आत्मसात् करने के लिए भी तैयार है।"[१३] सभवत· ली हुग-चांग के आदेश से, चीनी प्रतिनिधि, युआन शिह-क' आई, हर अवसर पर चीन की श्रेष्ठता व वरीयता का दावा करते थे।

फलतः, चीन की काररवाई से कोरिया के परराष्ट्र-मत्रालय मे परामर्शदाता पद पर नियुक्त अमरीकी व युआन के बीच शीघ्र ही खटपट हो गयी। अमरीकी परा-

मर्शदाता, डेनी, कभी चीन की नौकरी मे नही रहे थे और वह कोरिया की स्वतत्रता के आदोलन को बढावा देना अपना कर्त्तव्य मानते थे। यह खटपट इतनी बढी कि उन दोनो मे से एक का हटना अनिवार्य हो गया। डेनी सन् १८८९ मे हटने को तैयार हो गये, पर उनकी शर्त यह थी कि युआन को भी वापस बुला लिया जाय। चीन ने यह शर्त स्वीकार कर ली, किन्तु जापान से बढते हुए सघर्ष के कारण युआन का वापस बुलाना स्थगित हो गया।

एच० बी० मोर्स ने लिखा है–सन् १८८९ से सन् १८९४ तक, पाँच वर्षों मे, रूस की योजना खटाई मे पडी रही, कोरिया की स्वतत्रता के लिए अमरीका की जो सैद्धान्तिक सहायता थी, वह कही दिखायी नही देती थी और सिऊल दरबार मे चीन और जापान आमने-सामने डटे हुए थे। तत्कालीन शासन का समर्थक सतोष-दल, जो चीन से सबध कायम रखने के पक्ष मे था और यथास्थिति का पोषक था, चीनी प्रतिनिधि से सहायता पा रहा था। जो सुधार चाहता था वह दल-असंतोष-दल या 'तरुण कोरिया' दल–जो जापान के बाह्यरूप के आधुनिकीकरण से आकृष्ट हो जापान की ओर झुकता था और चीन की पुरानी पडी प्रणाली के विरुद्ध था, उसे जापानी दूतावास की सहायता प्राप्त थी। पूर्वी देशो के षड्यंत्र का हर रूप—प्रदर्शन, विरोध, दरबारी साजिश, मंत्रियो की हत्या, प्रान्तो मे विद्रोह—वहाँ प्रयुक्त होता था, किन्तु उनमे से किसी मे भी उस दल के हाथ का कोई प्रमाण नही मिलता था, जिसे उस घटना से लाभ होनेवाला होता था। षड्यंत्र के बदले षड्यंत्र, आरोप के उत्तर में प्रत्यारोप, परामर्श की टक्कर में विरोधी परामर्श–परेशान 'कठ-पुतली' राजा के कानो मे लगातार ये बाते ठूँसी जाती रही, जब तक कि अंतिम फैसले के लिए युद्ध के सिवा और कुछ न बचा।[१४]

## (५) सन् १८९४–१८९५ के चीन-जापान युद्ध के कारण

सन् १८९४ मे जो युद्ध फूट पड़ा उसका तात्कालिक कारण कोरिया में विद्रोह का बढ़ना और कोरियाई सरकार की विद्रोह का दमन करने में अक्षमता थी। सन् १८५९ मे कोरिया में एक नये मत ने जन्म लिया था, 'टोग हाक' मत में पूर्व के तीन धर्मों बौद्ध, ताओवाद व कनफूशियसवाद के तत्व मिले हुए थे; इस मत के अनुयायियों ने सन् १८८३ मे प्रार्थना की कि वह आदेश वापस ले लिया जाय, जिसमें उनके नेता को जादूगर व अविश्वासी बताया गया था और इस धर्म के प्रति सहिष्णुता बरती जाय।

टोग-हाको में विदेशी-विरोधी भावना प्रबल थी, यह भावना उनके नेताओं के वक्तव्यो व अमरीकी मिशनो की इमारतो पर लिखे गये विदेशी विचारों के विरुद्ध

नारो मे प्रकट थी। सरकार ने यह प्रार्थना अशत इसलिए अस्वीकार कर दी कि उसकी भावना विदेशी-विरोधी थी। इसके बाद कुछ प्रान्तो से अशाति की खबरें लगातार आने लगी, और अतत खुला विद्रोह हो गया। सरकार इस विद्रोह के दमन में समर्थ नही लग रही थी और उसने अत मे अधिराट् चीन से प्रार्थना की कि वह इस विद्रोह का दमन कर दे। चीनी प्रतिनिधि ने इस प्रकार की सहायता देने की बात पहले ही की थी, बल्कि जोर भी दिया था कि सहायता स्वीकार कर ली जाय। "वाइसराय ली हुग-चाग ने बहुत झिझकने के बाद ही सेना भेजने का निर्णय किया, सिऊल स्थित चीनी प्रतिनिधि ने महीने भर पहले ही सेना भेजने का अनुरोध किया था पर ली ने इस बात पर जोर दिया था कि कोरिया के राजा स्वयं सेना भेजने का अनुरोध करे, ताकि सेना के कोरिया मे पहुँचने का उत्तर-दायित्व राजा पर ही रहे।"[१५] लगभग १५०० सैनिक वी हाई वी से असान भेज दिये गये, और जब सैनिक भेजे जा चुके थे,[१६] उसके बाद जापान को सूचना दी गयी और कहा गया कि जैसे ही इन सैनिको की कोरिया मे आवश्यकता न रहेगी, वैसे ही उन्हे वापस बुला लिया जायगा।

जापान ने इसके जवाब में काफी बड़ी संख्या मे अपने सैनिक चेमुलपो होते हुए सिऊल भेज दिये। जब तक चीनी सेना पहुँची तब तक कोरियाई फौजो ने विद्रोह दबा दिया था और चीनी सेना की आवश्यकता समाप्त हो चुकी थी। किन्तु चीन ने तब तक अपनी फौज हटाने से इनकार कर दिया जब तक जापानी सेना वापस स्वदेश न लौट जाये। कोरिया सरकार ने अपने राज्य से फौजे हटा लेने के लिए दोनों देशों से बातचीत शुरू की, पर बातचीत के दौरान दोनो देशो ने अपनी-अपनी फौजें कोरिया से हटाने की जगह उनकी सख्या बढा दी। जापान ने प्रस्ताव रखा कि वह और चीन दोनो मिलकर कोरिया सरकार पर आवश्यक सुधार करने के लिए दबाव डाले। चीन ने इससे इनकार कर दिया और कहा कि दोनो देशो की सेनाएँ कोरिया खाली कर दे और कोरिया सरकार को अपने मनोनुकूल सुधार करने की स्वतत्रता दें। सुधार के पहले अपनी-अपनी फौजे हटाने के चीनी प्रस्ताव को जापान ने अमान्य कर दिया यद्यपि चीनी प्रस्ताव को सिऊल स्थित राजनयिक प्रतिनिधियो व राजदूतो का समर्थन प्राप्त था। जापानी जनमत इस बात से उद्विग्न था कि चीन ने कोरिया को अपना करद राज्य मान कर अपनी सेना वहाँ भेजी; चीनी घोषणा मे 'करद राज्य' शब्द का ही प्रयोग हुआ था। यह जनमत कोरिया के विद्रोही नेता, किम ओक-कुईन की शंघाई मे हुई हत्या तथा उसका शरीर कोरिया भेजने से पहले से ही क्षुब्ध था, क्योंकि कोरिया में शरीर का सिर और धड़ अलग

किया गया था और धड़ के टुकड़े-टुकड़े करके सारे देश मे घुमाये गये थे, ताकि जनता को पता लगे कि देशद्रोहियो की क्या हालत होती है। जापान युद्ध के लिए संकल्पबद्ध लगता था और दोनो देशो की सेनाएँ कोरिया में एक साथ रहने से युद्ध अवश्यंभावी था ही। किन्तु दोनो देश युद्ध शुरू करने का उत्तरदायित्व नही लेना चाहते थे। आखिर, युद्ध शुरू करने का वह खुला कृत्य तब हुआ जब चेमिलपो में चीनी सैनिको को पहुँचाने वाले चीनी जहाज, काउशिंग पर[१७] जापानी युद्धपोतो ने गोलाबारी कर दी। समझौते का समय समाप्त हो गया।

युद्ध और उसके फल के वर्णन व विवेचना के पहले यह समझ लेना उचित होगा कि जापान युद्ध चाहता क्यो था और चाहता भी था या नही, क्योंकि जापान की भविष्य में पूर्वी एशिया की नीति पर कुछ प्रकाश पड़ेगा। कभी-कभी कहा जाता है कि आधुनिक युग के अपने इतिहास मे जापान ने सभी युद्ध अपनी रक्षा में ही लड़े, लेकिन चीन से हुए युद्ध को रक्षात्मक समझना कठिन है। यह सही है कि यह युद्ध कोरिया को लेकर हुआ जिसे 'जापान के हृदय पर लक्ष्य करती हुई तलवार' की संज्ञा दी गयी है। कोई विदेशी शक्ति, जिसका कोरिया पर नियंत्रण हो, यदि आक्रामक हो, तो जापान की शाति व सुरक्षा के लिए गभीर सकट बन सकती है। पर चीन का कोरिया पर कोई सक्रिय नियंत्रण नही था; उसके अधिराजत्व का अधिकार वास्तविक न होकर काफी लम्बे समय से नाममात्र का था, और कोरिया की आंतरिक स्थिति में मनचाहे परिवर्तन करवाने के लिए इस अधिकार का उपयोग भी नही हुआ था। कोरिया के मामले में उसने सक्रिय हस्तक्षेप तभी शुरू किया था, जब जापानी नीति ने इस नाममात्र के सबंध को भी सकट में डाल दिया था। चीन के दृष्टिकोण से जापान की नीति शुरू से ही यह रही थी कि कोरिया को चीन के सबंधों से निकाल कर जापान के संबधो में बाँध लिया जाय, जिससे चीन के हितों को आघात पहुँचे।

किन्तु यद्यपि चीन द्वारा कोरिया के नाममात्र के नियत्रण से जापान को कोई तात्कालिक सकट पैदा नही हुआ था, जापान के इस तर्क में तथ्य अवश्य था कि कोरिया की आंतरिक परिस्थिति ऐसी थी, जो कण्टक बन रही थी और इसीलिए सीमावर्त्ती राज्यो के लिए एक खतरा थी। प्रान्तो में अशांति की लगभग स्थायी स्थिति और दरबार में लगातार उथल-पुथल से एक पड़ोसी को नाराज होना स्वाभाविक था, जो अपना घर ठीक करने में लगा हो। फिर, कोरिया की अशांति चीन और जापान से अधिक सशक्त बाहरी लोगो के हस्तक्षेप को एक तरह से लगातार आमन्त्रित कर रही थी।

रूस के प्रशान्त सागर तक प्रसार से वह जापान के ऐसे संपर्क मे आ गया था कि जापान रूस को अपने कोरिया जैसे पड़ोसी के यहाँ जम कर बैठ जाने के खतरे

के प्रति जागरूक हो गया था। सन् १८८४ मे रूस ने कोरिया की सेना का पुनस्सं-गठन कर उस देश मे अपनी दिलचस्पी दिखायी थी। लजारेफ बन्दरगाह के उपयोग की रूसी प्रार्थना से उसका लक्ष्य प्रकट होता था। अत. रूस के इरादो को नाकाम करने का एक उपाय कोरिया प्रायद्वीप मे खुद जमकर बैठ जाना था। किन्तु जापान से युद्ध के पहले चीन भी रूस के प्रति सशयालु था। कोरिया के लिए उत्तर से आने वाले किसी सकट का मुकाबला करने का तरीका उसके व चीन के सबधो को दृढतर बनाना होता न कि उन सबधो को समाप्त कर देना।[१८] यदि जापान की कोरिया सो स्वतंत्र करने की नीति सफल होती तो रूस व जापान कोरिया के नियत्रण के लिए सिऊल मे आमने-सामने बराबरी की टक्कर पर होते, जबकि चीन की स्थिति तो काफी समय से पहले ही स्वीकार कर ली गयी थी। यह सही है कि चीन मे बाद मे कभी आक्रामक प्रवृत्तियाँ जाग सकती थी, जैसी कि कभी दूर विगत काल मे जमी थी, और इस प्रकार जापान के लिए उतना ही बड़ा खतरा चीन बन सकता था, जितना कि रूस होता। यह हो सकता है कि भविष्य के इस भय को दूर करने के लिए ही जापान ने अपनी स्थिति मजबूत करने के लिए यह कदम उठाया हो। यह करने के दो तरीके हो सकते थे, एक तो जापान-सरकार कोरिया को स्वतत्र कर देती और देश के ऐसे पुनस्सगठन और राजनीतिक प्रणाली के ऐसे आधुनिकी-करण पर जोर देती, जिससे कोरिया स्वयं अपनी रक्षा मे समर्थ होता और बुरी आतरिक दशा के बहाने बाहरी हस्तक्षेप का खतरा मिट जाता; या दूसरे चीन से संबंध तोडकर जापान स्वयं कोरिया प्रायद्वीप का नियत्रण करने लगता। जापान ने शुरू से ही सुधारो की आवश्यकता पर जोर दिया था और सुधारवादी दल को अपनी सक्रिय सहायता प्रदान की थी; किन्तु रूस व चीन दोनो को कोरिया से हटाने के बाद, जापान वास्तव मे दूसरी वाली नीति लागू करने लगा था। यह कहना असभव है कि जापान के मन में शुरू से ही इसी नीति का अनुसरण करने का निश्चय था; किन्तु इस तथ्य की स्थापना तो की ही जा सकती है कि सन् १८७६ के बाद के वर्षों मे कोरिया मे जो अव्यवस्था फैली वह अधिकाशतः चीन और जापान के षड्यत्रो के कारण ही हुई। और इसी अव्यवस्था को बहाना बना कर जापान ने कोरिया के मामले मे दिलचस्पी लेना शुरू किया था।

कोरिया में जापान की दिलचस्पी का दूसरा सभव कारण आर्थिक हो सकता है। कोरिया में काफी चावल पैदा होता था, किन्तु जनता का मुख्य भोजन होने के कारण उसका निर्यात बन्द था। कोरिया पर नियत्रण कर जापान उसे जापानी जनता के भोजन के लिए चावल निर्यात करने पर बाध्य कर सकता था। वास्तव

में, सन् १८९४ में जापान ने कोरिया-सरकार को इस बात के लिए राजी किया था, कि चावल के निर्यात पर लगी रोक हटा ली जाय और जापानी व्यापारियो ने जितना भी चावल मिल सका वह खरीद कर जापान भेज दिया था, जिससे कोरियाई जनता मे, जिसे चावल के अधिक दाम देने पड़े थे, असंतोष भी फैला था। इसके अतिरिक्त, जापान ने कोरिया मे बडी तेजी से जहाजरानी और व्यापार के हित विकसित कर लिये थे; सन् १८९४ मे कोरिया का ४० प्रतिशत आयात जापान के हाथ मे था और जहाजरानी तो इससे भी अधिक प्रतिशत मे जापानी नियत्रण मे थी। इस प्रकार जापान के लिए कोरिया एक बढिया और अब तक अविकसित बाजार था और वह उस पर नियत्रण रखना चाहता था। और जापान ने यह सिद्धान्त यूरोप से सीख लिया था कि किसी देश मे सुरक्षित आर्थिक स्थिति बनाने के लिए राजनीतिक सत्तारोह आवश्यक है। हो सकता है कि यह तर्क जापानी नीति का अग पहले से रहा हो और यह भी हो सकता है कि यह सन् १८९४ के बाद का तर्क हो, किन्तु किसी भी दशा में कोरिया के लिए युद्धरत होने के जापानी कारणो की विवेचना मे यह तर्क महत्त्वपूर्ण था।

कोरिया का द्वार उन्मुक्त होने के बाद की जापानी नीति के मूल्याकन मे यह बात ध्यान मे रखनी होगी कि एशिया महाद्वीप की मुख्य भूमि पर प्रसार का सिद्धान्त पुनस्संस्थापना के पूर्व के जापान मे ही प्रचारित था। शोगुन-संस्था के पतन के लिए चलाये गये आंदोलन के सबसे अधिक सक्रिय नेताओ मे थे योशिदा-शोइन जो अव्वल नम्बर के प्रसारवादी थे। उनके अनुयायी सोलहवी शताब्दी और कोरिया व चीन के विरुद्ध हिडेयोशी के अभियान का वर्णन करते और कोरिया पर अधिकार कर महाद्वीप मे ही जापान की शक्ति-स्थापन के लिए पहले कदम के रूप में शोगुन को उखाड़ फेकने और सम्राट् में सारी शक्ति निहित कर देने की माँग करते थे। उनके चरणो मे बैठते थे युवराज यामागाटा तथा काउण्ट ईटो—यामागाटा जापान की आधुनिक सेना का पुनस्सगठन करने वालों में थे और ईटो जापान की वैधानिक प्रणाली के जनक थे। यह सही है कि संक्रमण-काल में ईटो शांति दल के नेताओ मे से एक थे, पर इसका यह अर्थ नही लगाना चाहिए कि वह योशिदा के उपदेश भूल गये थे। इसका अर्थ यह था कि वह समझते थे कि महाद्वीप की ओर प्रयाण के पहले जापान को अपना घर मजबूत बनाना होगा। इसका अर्थ लगाना सभवतः उचित न होगा कि वह समझते थे कि सन् १८९४ तक जापान घर पर इतना सशक्त हो गया था कि महाद्वीप के सबंध मे वह कोई सशक्त उग्रनीति अपना सकता था। जब तक शांति दल की जापान मे सत्ता थी ईटो शक्तिसंपन्न थे ही

और इसीलिए सभवत वह युद्ध टालना भी चाहते, यदि सविधान के लागू होने के बाद जापानी राजनीति मे कुछ नयी शक्तियो का उदय न हुआ होता।

किन्तु, सन् १८९०–१८९४ की घटनाओ ने साबित कर दिया था कि डायट के राजनीतिक दलो के विरोध के सामने अल्पतत्र जापान के प्रभावकारी नियत्रण मे सफल नही हो सकता। युद्ध-दल के नेता युवराज यामागाटा ने प्रयत्न किया और असफल रहे और मत्सूकाटा मत्रिमडल के इस्तीफे के बाद ईटो ने स्वय शासनतत्र सचालन का भार अपने हाथ मे ले लिया था। शासन चलाने के लिए वह सम्राट् से नयी आज्ञा निकलवाने को बाध्य हुए थे और तब भी उनकी सरकार के डायट द्वारा विरोध का केवल अस्थायी रूप से अत हुआ था। उनके लिए यह स्वीकार करना अनिवार्य हो रहा था कि जो शासन-प्रणाली उन्होने राष्ट्र को दी थी, वह राजनीतिक दलो के उद्भव के कारण चल नही पा रही थी, उन्हे यह भी स्वीकार करना पड रहा था कि अल्पतत्र को पीछे हट कर शासन-शक्ति राजनीतिक दलो को देनी चाहिए, और समस्या का यह हल कुल नेताओ को स्वीकार नही होता। या फिर, ईटो सविधान के सशोधन का सुझाव देते ताकि सरकार डायट के सहयोग के बिना भी काम चलाती रहे। या अतत, वह कोई ऐसा रास्ता ढूँढते, जिससे डायट के राजनीतिक दलो द्वारा उनकी सरकार का विरोध समाप्त हो जाता। इस परिस्थिति मे राष्ट्र को सरकार के समर्थन मे इकट्ठा कर लेने का सबसे उपयुक्त उपाय विदेश मे युद्ध छेड देना था।

कोरियाई सरकार के सुधार के लिए जापान ने सुझाव दिया था, चीन द्वारा उसके अस्वीकार किये जाने से जापान को वह अवसर मिल गया, जिसकी वह तलाश में था। लोग पहले से ही युद्ध की माँग कर रहे थे। केवल एक ही हिचक बाकी थी—युद्ध से, अस्थायी रूप से ही सही, नागरिक अहलकारी वर्ग गौण होकर पीछे पड जाता और सैनिक अहलकारो की शक्ति बढ जाती। पहले वर्ग को अपनी इस योग्यता के भरोसे जुआ खेलना था कि युद्ध के सकुशल समाप्त हो जाने पर, वे फिर से शक्ति-सचय कर लेंगे। ईटो ने राजनीतिक दलो के आक्रमण से सवैधानिक ढाँचे के ध्वस्त होने से इस जुए को बेहतर समझा। चीन व जापान के बीच युद्ध के कई कारण थे—जापानी राजनीतिक परिस्थिति, महाद्वीप में प्रसार के लिए कोरिया के द्वार से घुसने की सदियों पुरानी जापान की इच्छा, किसी सशक्त विदेशी राष्ट्र द्वारा कोरिया पर कब्जा जमाने का जापान का राष्ट्रीय भय, कोरिया प्रायद्वीप के साधनो के नियंत्रण में नयी-नयी पैदा हुई दिलचस्पी तथा कोरिया को बाजार के रूप मे प्रयोग करने की संभावना।

दूसरी ओर चीन ने युद्ध की सभावना को स्वीकार किया और अपने कार्यकलाप से उस संभावना को अनिवार्यता मे बदल दिया। चीन के रवैये के कई कारण थे। मूलतः, सन् १८७६ के बाद चीन की नीति अपनी वह गलती सुधारने की ही थी, जो उसने जापान को कोरिया से अपनी शिकायतें दूर करने और स्वतन्त्रता के आधार पर सधि करने की छूट देकर की थी। पश्चिमी देशो को कोरिया मे जापान के स्तर पर ही प्रवेश कराके भी यह गलती सुधर नही सकी थी। अपनी बाद की काररवाइयो द्वारा इंगलैण्ड ने चीन के अधिराजत्व का समर्थन किया, किन्तु अमरीकी नीति से जापान का समर्थन होता था। फलत, चीन ने कोरिया के मामलो मे लगातार हस्तक्षेप कर अपने अधिकारो के भुलावे को फिर से कायम करने की कोशिश की; और कोरिया के रूढिवादी दल ने इस हस्तक्षेप का स्वागत किया। यदि जापान अपना कार्यक्रम पूरा करने का प्रयास करता तो चीन से संघर्ष अवश्यम्भावी ही था। जिस हद तक चीन ने अपने अधिराजत्व के दावे को कायम रखने के लिए जापानी नीतियो का विरोध किया, उस हद तक सन् १८९४–१८९५ के युद्ध का उत्तरदायित्व उस पर भी था।

कोरिया-सबधी नीति के अतिरिक्त चीन का रवैया देश की आंतरिक राजनीति से भी समझाया जा सकता है। पीकिंग मे एक ली-विरोधी गुट था, जो उनकी कोरिया-सबंधी नीति को लचर बता कर उनके प्रभाव को कम करना चाहता था। यह गुट सन् १८८४–१८८५ मे ही ली के प्रभाव को कम करने के लिए युद्ध के लिए तैयार था। इस गुट के अनेक सदस्य घोर रूढ़िवादी और इसलिए विदेशियों के भी विरोधी थे। उनका विश्वास था कि चीन सशक्त है और जापान के विरुद्ध सफल युद्ध छेड़ कर मचू-प्रतिष्ठा को फिर से कायम किया जा सकता है; वे जापान को कमजोर मानते थे। ली हुग-चाग ने स्वयं चीनी सेना की शक्ति बढ़ायी थी और शक्तिवर्धन का उत्तरदायित्व उन्ही का माना जाता था; इसलिए यदि वह मानते भी रहे हो तो भी, वह इस स्थिति मे नहीं थे कि खुल कर कह सके कि चीन निर्बल है और विदेश से, विशेष कर ऐसे देश से युद्ध नही ठान सकता, जो हर तरह से निर्बल माना जाता था। इसलिए दरबार में उनकी प्रतिष्ठा जापान से हिम्मत से लोहा लेने की बात कह कर ही कायम रह सकती थी। चीन के युद्ध-समर्थक दल ने जब सन् १८८४–१८८५ मे युद्ध की माँग की, तब उन्होने धैर्य से काम लेने की सलाह देकर बात टाल दी और कहा कि सेना का पुनस्संगठन पूरा हो जाने दिया जाय और टोगकिंग का विवाद समाप्त हो लेने दिया जाय। दस वर्ष बाद युद्ध टालने के ये बहाने खत्म हो चुके थे। इस प्रकार एक ओर जापान युद्ध पर

उतारू था और दूसरी ओर चीन शातिपूर्ण समझौते का रास्ता निकालने के लिए पूरे प्रयास करने की स्थिति मे नही था।

## (६) युद्ध-क्रम

क्षेत्र के आकार, आबादी, साधनो की प्रचुरता को ध्यान मे रखे तो लगता है जापान का 'स्वर्गिक' साम्राज्य को युद्ध के लिए ललकारना ऐसा ही था, जैसे कोई बौना किसी दैत्य को ललकारे। ऊपर से देखने मे ऐसा ही लगता था कि इस युद्ध का एक ही नतीजा होगा—जापान की करारी हार। पीकिंग स्थित अमरीकी मत्री ने परराष्ट्र विभाग को अपने प्रतिवेदन मे जो यह लिखा था उससे सामान्य प्रतिक्रिया प्रकट होती थी—"जापान की युद्ध के लिए उपलब्ध सेना कुल १,२०,००० सैनिको की है, जब कि अकेले वाइसराय ली के ही पास विदेशियो द्वारा प्रशिक्षित अनुशासित व दक्ष, और आधुनिक हथियारो से लैस ५०,००० सिपाही हे। इनके अतिरिक्त साम्राज्य के अन्य भागो में कई सहस्र विदेशियो द्वारा प्रशिक्षित सिपाही मौजूद है और पुराने ढंग के देशी सिपाहियो की सख्या तो अपार है।"[११]

यदि यह कहा जाय कि युद्ध की प्रगति से थोड़े से जानकार लोगों को छोड़ कर शेष सभी को आश्चर्य हुआ तो बात का पूरा वजन नही मालूम होगा। चीन के पास आदमियो का कभी खत्म न होने वाला भण्डार अवश्य था, पर उसके पास प्रशिक्षित, आधुनिक सेना नाम भर के लिए भी नही थी, और कागज पर तो उसकी नौसेना जापान से बहुत अधिक बलशाली थी, जापानी नौसेना का सामना करने मे वह बिलकुल अक्षम साबित हुई। जापान ने अपनी जल-थल सेनाओ का प्रशिक्षण व साधन सपन्नता दोनो दृष्टियो से पूरा पक्का पुनस्सगठन और आधुनिकीकरण कर रखा था। सर्वोत्तम से ही उसे सतोष हो पाया था। दूसरी ओर चीन ने अपनी सेना के एक भाग को ही पुनस्सगठित किया था और उसने सस्ते प्रशिक्षण व सैन्य-उपकरणों से ही सतोष कर लिया था, नये, बढिया शस्त्रास्त्रो व पुराने, परित्यक्त शस्त्रास्त्रों के व्यय का अतर ली से लेकर नीचे तक के अधिकारियो व उनके मित्रों की जेबे भरने में चला गया था। फलतः चीन के अपार साधन जापान के बेहतर प्रशिक्षण व शस्त्रास्त्रो के सामने कमजोर पड़ गये। प्रशिक्षण का अतर जापान की जल व थल दोनों सेनाओ के नेतृत्व में प्रकट था। जापानी सैनिक नेता आधुनिक युद्ध-कौशल और रणनीति में दक्ष थे। चीन के सामने एक और बाधा थी, याग्त्सी नदी के दक्षिण मे सामान्य भावना यह थी कि यह युद्ध तो ली हुग-चाग का निजी मामला है, या अधिक-से-अधिक केवल उत्तर वालो का मामला है। दक्षिण चीन की नौसेना ने युद्ध मे भाग लेने से इनकार कर दिया और वे राज्यपाल जिनके क्षेत्र इस

युद्ध से अछूते थे, केन्द्रीय शासन की पूरी सहायता करने मे असफल रहे। उनके इस दृष्टिकोण के कारण पहले ही बताये जा चुके है। इस समय इसका नतीजा यही निकला कि युद्ध मे एक ओर जापानी राष्ट्र था और दूसरी ओर ली हुग-चाग के अनुयायी।

कोरिया और चीन से जापान के जो सघर्ष पहले हुए थे, उनके सबक वह भूला नही था। कोरिया मे बडी सख्या मे फौजे उतारने के पहले, नौसेना ने कुमक व रसद पहुँचाने की व्यवस्था कर ली थी ताकि 'घर' से सेना का सबध विच्छिन्न न हो जाय। चीनी नौसैनिक बेड़े की पहली हार यालू नदी के मुहाने पर हुई और दूसरी युद्ध की लगभग समाप्ति के समय वीहाईवी मे जहाँ वह शरण लेने के लिए पहुँचा था।

समुद्रों पर नियंत्रण करने के उपरान्त बडी संख्या मे जापानी सैनिक कोरिया मे उतरने लगे, जहाँ वे शीघ्र ही स्वामी बन बैठे। राजा को पूरी शासन-व्यवस्था और, कागज पर, कोरिया के आर्थिक व सामाजिक जीवन को 'रातो रात' आधुनिक बनाने के आदेश देने को बाध्य किया गया। कोरिया से जापानी सेना मचूरिया में बढी और सामने खड़ी चीनी सेना को खदेड दिया। जब वह चीन की मुख्य भूमि पर आक्रमण करने वाली थी, मचू शासन ने शाति के लिए समझौते की बात की इच्छा प्रकट की। पहले यह इच्छा अमरीका से प्रकट की गयी, जिसके सिपुर्द यह काम था कि एक पक्ष के हितो की परवाह दूसरे के देश मे करे। जापान बात करने के लिए तैयार हो, इसके पहले चीन को अमरीकी मत्री के पास सीधे शाति का प्रस्ताव लेकर जाना पडा; उसके पिछले प्रस्ताव को अमरीका की मध्यस्थता स्वीकार करने की इच्छा मात्र माना गया। जापान समझौते की बात जितनी टल सकें, उतनी टालता गया ताकि वह वीहाईवी स्थित चीनी बेड़े पर करारी चोट कर सके और इस प्रकार फारमोसा पर कब्जा करने के लिए जो सेना भेजी गयी थी, वह निर्बाध रूप से वहाँ पहुँच कर विजय लाभ कर सके। इसलिए जापान सरकार ने पहले चीनी प्रतिनिधि-मडल से इस कारण बात करने से इनकार कर दिया कि मंडल मे समझौते की बात-चीत करने आये अधिकारी पूर्ण अधिकारप्राप्त नहीं है, जापान ने यह शर्त लगायी कि किसी ऐसे उच्चपदस्थ अधिकारी को बातचीत के लिए नियुक्त किया जाये जिसके द्वारा तय की गयी समझौते की शर्तें मचू-शासन को स्वीकार हो और जिसे बार-बार हर बात के लिए पीकिंग से सलाह न लेनी पड़े।

## (७) शिमोनोसेकी की संधि

युद्ध की हार और बरबादी से काफी नीचा देखने के बाद चीनी सम्राट् ने ली हुग-चांग को ही शाति-समझौते की बातचीत चलाने के लिए नियुक्त किया[१०] (युद्ध में पहली

हार के बाद ली से उनके पद के सूचक पीला कोट और मोरपख छीन लिये गये थे और उन्हे वाइसराय पद से हटा दिया गया था, किन्तु बाद मे उन्हे फिर उनकी पदवी व प्रतिष्ठा मिल गयी थी)। शिमोनोसेकी मे बातचीत शुरू होने के कुछ समय बाद ही एक जापानी उन्मादी व्यक्ति ने ली को मार डालने का प्रयत्न किया। इससे समझौते की बातचीत में विलम्ब हुआ लेकिन चीन का कुछ लाभ ही हुआ क्योंकि जापान ने चीन के सबसे प्रमुख राजमर्मज्ञ के घायल होने पर अपना खेद प्रकट करने के लिए अपनी शाति-सबधी माँगे कुछ कम कर दी। जो शाति-सधि अतत हुई, उसकी शर्ते थी—चीन ने निश्चित रूप से कोरिया की पूर्ण स्वतत्रता और सर्वोच्च सत्ता स्वीकार की; चीन ने सदा के लिए निम्नलिखित क्षेत्रो को सार्वभौम सत्ता के साथ जापान को सौप दिया—(अ) यालू और आनपिंग नदियों के सगम से फेगवांग-चेग व हाइचेग होते हुए यिंगकाउ की रेखा के दक्षिण व लिआओतुग नदी के पूर्व का मचूरिया का क्षेत्र, (ब) फारमोसा, व (स) पेस्काडोर द्वीप-समूह, इसके अतिरिक्त चीन ने २० करोड ताएल क्षतिपूर्ति के रूप मे देने स्वीकार किये और जब तक यह धनराशि अदा न हो जाय और व्यवसाय-सबधी सतोषजनक सधि पर हस्ताक्षर न हो जायँ, तब तक के लिए जापान को वीहाईवी बन्दरगाह पर कब्जा कर रखने का अधिकार मिल गया,[२१] इस सबके अतिरिक्त चीन चार नये बन्दरगाह—याग्त्सी नदी पर शासी व चुगकिंग व बडी नहर पर सूचाउ व हैगचाउ—विदेशी व्यापार के लिए खोलने को बाध्य हुआ और वे जलमार्ग, जो इन बन्दरगाहो तक आते थे, वे भी विदेशी आवागमन के लिए खोल दिये गये।

इन शर्तों मे से फारमोसा व पेस्काडोर का छिनना और कोरिया की स्वतंत्रता की स्वीकृति केवल साम्राज्य के कोने काटने की प्रक्रिया मे एक अगला कदम भर थे। और चीन दबाव में आकर विदेशी आवागमन के लिए नये बन्दरगाह खोलने, क्षतिपूर्ति अदा करने का आदी हो चुका था। किन्तु मचूरिया की लिआउतुग प्रायद्वीप का, जो सम्राट् के परिवार का स्वदेश था, छिनना मचूरिया के लिए ही सकट बन गया था और इससे एक विदेशी शक्ति पीकिंग के बिलकुल पास आ बैठी थी। अत. इस माँग से चीन सरकार सशक हो उठी होगी और यदि उसे किसी प्रकार की मदद का आश्वासन न मिला होता जिससे इस प्रदेश के छिनने का निराकरण हो जाता तो वह संभवत युद्ध जारी रखने के पक्ष में ही निर्णय कर लेती।

युद्ध के आरम्भ से ही यह प्रकट था कि यदि युद्ध की स्थिति ऐसी हुई तो यूरोपीय हस्तक्षेप सभव है। जापान की सफलता और मुख्य महाद्वीप पर उसकी उपस्थिति से चीन के संदर्भ मे शक्ति-सतुलन बिगड़ जाता। जापान इस वास्तविक

प्रसार से रूस के प्रसार-मार्ग मे आ पडा था। इसके अतिरिक्त इगलैण्ड ने चीन की क्षेत्रीय अविच्छिन्नता को कायम रखने के आधार पर अपनी नीति बना रखी थी। वास्तव मे जापान को शुरू से ही यह आशका थी कि इगलैण्ड चीन के पक्ष मे हस्त-क्षेप करेगा। अमरीकी सरकार ने हस्तक्षेप की इस आशका की ओर जापान सरकार का ध्यान दिलाते हुए लिखा था · "यदि जापान की जल व थल पर सैनिक कारर-वाइयो पर बिना रोक लगे सघर्ष चलता रहा तो यह असभव नही कि जिन शक्तियों के इस क्षेत्र मे हित निहित हो वे ऐसे समझौते की माँग करे जो जापान की भविष्य मे सुरक्षा व भलाई के अनुकूल न हो।[२२]

दूसरे देशो के हितो मे चीन के लिए यह आश्वासन नियत था कि साम्राज्य पर शांति के लिए बहुत कड़ी शर्तें नही लगायी जायँगी। ली हुग-चाग को विदेशी सहायता के लिए व हस्तक्षेप के लिए कोई निश्चित वचन भले ही न मिला हो, किन्तु उनके यह विश्वास करने का निश्चय ही पुष्ट कारण रहा होगा कि कम-से-कम रूस इस बात पर राजी नही होगा कि जापान मुख्य महाद्वीप पर आकर इस तरह जम जाय कि उससे रूसी प्रसार रुके या सीमित हो जाय। शिमोनोसेकी की सधि की, जिस शर्त से यह स्थिति पैदा होती थी, वह थी जापान को लिआओतुग प्रायद्वीप की प्राप्ति, और इस शर्त पर सधि के अनुसमर्थन से पहले ही आपत्ति आ गयी। अपने यूरोपीय मित्र, फ्रास के साथ रूस और जर्मनी ने भी जापान से माँग की कि लिआओतुंग क्षेत्र चीन को वापस लौटा दिया जाय। इस माँग के लिए यह तर्क प्रस्तुत किया गया कि यह क्षेत्र पीकिंग के बिलकुल निकट है और चीन के अतिरिक्त किसी भी अन्य शक्ति के इस पर अधिकार से चीनी राजधानी के लिए शाश्वत सकट उपस्थित रहेगा। अत्यधिक सबल शक्ति के समक्ष जापान दब गया और इस क्षेत्र के बदले में उसे तीन करोड़ ताएल देना चीन ने स्वीकार कर लिया।

रूस की इस काररवाई या उसके यूरोपीय मित्र, फ्रांस द्वारा रूस के समर्थन से जापानी राजमर्मज्ञो को आश्चर्य नही हुआ, किन्तु वे इस समय जर्मनी द्वारा रूस का समर्थन न तो समझ सके और न कुछ समय तक उसे भूल सके। यह स्पष्ट था कि पीकिंग के इतने निकट जापान के पैर जमाने से रूस की हानि होती थी, क्योकि रूस और जापान न तो मित्र ही थे और न उस समय सुदूरपूर्व मे उन दोनो के हितो व नीतियों को देखते हुए उनमें मित्रता की अपेक्षा ही की जाती थी। किन्तु जर्मनी का पूर्वी एशिया में कोई क्षेत्रीय हित नही था और जापान को उसकी विजय के फल पाने से रोकने में जर्मनी का मदद देना अकारण अपमान ही

लगता था। उस समय जर्मनी की इस कारवाई का एक ही स्पष्टीकरण यह उचित लगता था कि वह सुदूरपूर्व मे रूस की मदद कर उसकी मित्रता हासिल करना चाहता था, ताकि यूरोप मे जर्मनी के हितो को बढावा मिल सके।

दूसरी ओर युद्ध व हस्तक्षेप के समय ब्रिटेन के रवैये से जापान को जो आश्चर्य हुआ, वह प्रसन्नतापूर्ण था। युद्ध जैसे-जैसे बढता गया ब्रिटेन जापान से लगभग सहानुभूति रखने लगा और यद्यपि ब्रिटेन की सरकार ने जापान को यही सुझाव दिया कि वह हस्तक्षेप करनेवाले तीन देशो की माँग मान ले, उसने स्वय सधि की शर्तो पर कोई आपत्ति नही की। उस समय के ब्रिटेन के रवैये से और बाद मे, सन् १८९४ मे, जापानी सधि मे जापान को अत्यधिक सद्भावना दिखाने से लगता था कि ब्रिटिश साम्राज्य अपनी सुदूरपूर्व की नीति बदल रहा है।

किन्तु, इस हस्तक्षेप के बावजूद, युद्ध का अतिम प्रभाव यह तो पड़ा ही कि चीन की कमजोरी निर्विवाद रूप से प्रदर्शित हो गयी। इस विजय से ससार की निगाहों मे जापान का मान बहुत बढ गया। चीन की निर्बलता और जापान की शक्ति के परिचय से सुदूरपूर्व के विकास की दिशा बदल गयी। युद्ध से जापान को जो उप-लब्धियाँ हुई, उनकी उसे शुरू मे आशा भी नही थी—कोरिया की पूर्ण स्वतत्रता की चीन द्वारा स्वीकृति के अतिरिक्त फारमोसा और पेस्काडोर। जापान के युद्ध समर्थक दल को इस बात से निराशा हुई कि जापानी साम्राज्य मुख्य महाद्वीप के किसी क्षेत्र तक नही पहुँच सका, किन्तु तीन देशो के हस्तक्षेप से अस्थायी रूप से जो असफलता हुई थी, उससे महाद्वीप पर पैर जमाने का स्वप्न नही छोड़ दिया गया।

## सातवाँ अध्याय

# "चीनी साम्राज्य की लूट-खसोट"

## (१) युद्ध के परिणाम

सुदूरपूर्व में चीन और जापान की जो स्थिति थी, युद्ध से वह बदल गयी। युद्ध के पहले पश्चिमी राष्ट्र चीन की शक्ति न सही उस शक्ति-सभावनाओ का सम्मान करते थे और जापान के प्रति एक तरह से अनुकम्पा या अभिरक्षा का भाव रखते थे। सन् १८९५ के बाद चीनी साम्राज्य को मिलनेवाला मान बिलकुल क्षीण हो गया, क्योंकि चीन न केवल सैनिक रूप से निर्बल सिद्ध हुआ था, वरन् उसमे उस राष्ट्रीय चेतना का भी अभाव पाया गया था, जो विदेशी शत्रु के सम्मुख जनता को सरकार के पीछे ला खडा करता है। स्थानीयता की भावना का जो एक दुष्प्रभाव युद्ध-काल मे एकदम स्पष्ट सामने आ गया था, वह था जापान के विरुद्ध पूरे राष्ट्र की शक्ति को केन्द्रित करने की क्षमता तथा इच्छा का पूर्ण अभाव। इसके अतिरिक्त, अनेक उच्चपदस्थ अधिकारियो में ईमानदारी का अभाव तथा आधुनिक परिस्थितियो के समक्ष उनकी अक्षमता भी बिलकुल स्पष्ट हो गयी थी। दूसरी ओर जापान की साख एकाएक बढ़ गयी। जापान की जल-थल सेनाओं के लिए विदेशी आलोचकों के पास केवल अति प्रशसात्मक शब्द ही थे और यह स्वीकार कर लिया गया था कि इन सेनाओ ने जापान को उस स्थिति मे पहुँचा दिया है, जहाँ सुदूरपूर्व की भविष्य की राजनीति मे उसकी अवहेलना न की जा सकेगी। युद्ध के परिणामस्वरूप जापान का राष्ट्र-समाज के वयस्क सदस्य की हैसियत से स्वागत हुआ। अब पश्चिम उससे सपर्क की शर्तें उस पर लाद न सकेगा। यदि युद्ध के पूर्व जापान से हुई सधियो का पुनरीक्षण नही हुआ था, तो भी शिमोनोसेकी-सधि के उपरान्त जापान के पक्ष मे उनका पुनरीक्षण आवश्यक हो गया था।

किन्तु इस सबके बावजूद, जापानी दृष्टिकोण से युद्ध सफल होते हुए भी सुदूरपूर्व में जापान को प्रथम शक्ति का दरजा नही दिलवा पाया। बड़े राष्ट्रो ने उसका सम्मान अवश्य शुरू कर दिया, किन्तु महाद्वीप की राजनीति में वे जापान को निर्णायक स्थिति देने को तैयार नही थे। चीन के पक्ष मे तीन विदेशी शक्तियों द्वारा हस्तक्षेप ने जापान को कुछ समय के लिए तो उसकी जगह बता ही दी थी और यह भी बता दिया था कि उसकी हैसियत क्या है।

## (२) रूस का दक्षिण-प्रयाण

सन् १८९५ से सन् १९०२ तक का समय रूस के प्रभाव की अवधि थी। उत्तर व पश्चिम से लगातार दबाव डालते आ रहे रूस के प्रति चीन का आदर व भय का भाव था। किन्तु चीनी अधिकारियो मे रूस का जो भी भय था, वह जापान से युद्ध के बाद कुछ वर्षो के लिए समाप्त हो गया। पीकिंग के निकट मचूरिया मे जापान के आजाने से जो सकट और अपमान था, उसे रूस ने टाल दिया था ओर यह आश्वासन भी दिया था कि वह जापान के भविष्य के प्रसार से चीन की रक्षा करेगा। अतएव पीकिंग मे रूस का प्रभाव बहुत बढ गया। फ्रासीसी मत्री द्वारा रूसी नीति के समर्थन से यह प्रभाव ओर भी बढा था, और साथ ही रूस से मैत्री करने से फ्रास का भी बहुत लाभ हुआ था, क्योकि फ्रासीसी राजनयिक अधिकारियो को त्सुगली यागेन में जो दरजा मिल गया था, वह उसे अन्यथा कभी न मिलता। हस्तक्षेप करने वाले तीसरे देश, जर्मनी का भी चीन की कृतज्ञता पर अधिकार हो गया था और उसने अशत रूस के साथ और अशत' अग्रेज सेठो के साथ मिलकर जो कदम उठाये, उनसे उसे कालान्तर मे काफी लाभ हुआ।

किन्तु, पीकिंग मे रूसी प्रभाव बढने से इगलैण्ड का प्रभाव क्षीण हो गया था। लगभग बिलकुल अकेले ही इगलैण्ड ने विदेशी सपर्क के लिए चीन का दरवाजा खोला था। सन् १८६० से सन् १८९५ तक पश्चिम के देशो के लिए इस सपर्क को अधिकाधिक लाभदायक व सतोषजनक बनाने के हर आदोलन मे इगलैण्ड के मत्री ने पहले की थी।[१] सन् १८९५ तक व उसके बाद कुछ वर्षो तक भी इगलैण्ड ही सबसे बड़ी व्यापारिक शक्ति रहा था और इसके बावजूद सन् १८९५ से सन् १९०१ तक की चिन्ताजनक अवधि मे उसका राजनीतिक प्रभाव इतना कम हो गया था, जितना कम वह पहले कभी नहीं हुआ था। इसका एक कारण तो यह था कि इंगलैण्ड उस समय ससार के अन्य भागों में अधिक व्यस्त था, लेकिन साथ ही इसका यह भी कारण था कि वह किसी अन्य दूतावास का सहयोग नही ले पा रहा था और उसकी नीति नकारात्मक व प्रभावहीन थी। फ्रास और रूस मिलकर अपना हितसाधन कर रहे थे और चीन का सबसे प्रमुख राजमर्मज्ञ रूस का समर्थन कर रहा था। जर्मनी भी अपनी स्थिति मजबूत करने मे लगा था और कभी रूस और कभी इगलैण्ड की सहायता ले रहा था, किन्तु स्थायी रूप से वह भी इगलैण्ड के साथ नही था। और अमरीका सन् १८९५ मे क्यूबा के मामलो मे फँसा हुआ था, वह सुदूरपूर्व मे इतनी दिलचस्पी नही ले रहा था कि कोई निश्चयात्मक स्पष्ट नीति व कार्य-योजना बनाये।

शिमोनोसेकी संधि पर हस्ताक्षर होने के शीघ्र बाद रूस ने चीन के रक्षक होने

की अपनी नयी स्थिति मजबूत करने के लिए कदम उठाये। कुछ आंतरिक राजनीति के कारण और कुछ रूस के साथ मैत्रीपूर्ण सबध होने के कारण मचू-शासन ने सन् १८९६ की मई मे जार के सिंहासनारूढ होने के उत्सव मे भाग लेने के लिए ली हुग-चाग को ही सेण्ट पीटर्सबर्ग भेजा। जब चीनी प्रतिनिधि रूसी राजधानी मे थे, तब रूस के प्रमुख राजमर्मज्ञ, काउण्ट वीटे ने उन्हे समझाया कि चीन को रूस से सश्रय या मैत्री सधि कर लेनी चाहिए।[2] उन्होने कहा कि चीन पर आया सकट अस्थायी रूप से ही टला है, यदि उस पर फिर कोई सकट आये तो रूस उसे प्रभावकारी सहायता देने का इच्छुक है और चीन के लिए यह उपयुक्त ही होगा कि वह समय पर प्रभावकारी सहायता पाने के लिए रूस को वे साधन और अधिकार उपलब्ध करा दे जिनसे यह सहायता वह दे सके। ली इस तर्क से इतने प्रभावित हुए कि सेण्ट पीटर्सबर्ग से रवाना होने के पहले वह सश्रय-सधि पर हस्ताक्षर कर आये।[3] यह सधि विशिष्ट रूप से जापान के विरुद्ध थी और दोनों पक्ष एक दूसरे की सहायता के लिए वचनबद्ध हुए थे कि पूर्वी एशिया मे जापान के आक्रमण की स्थिति मे—चाहे वह रूसी क्षेत्र पर हो या चीनी क्षेत्र पर—दोनों साथ ही युद्ध छेड़ेगे और साथ ही शाति स्थापित करेगे। चीन ने यह स्वीकार कर लिया कि युद्ध के समय रूस उसके बन्दरगाहों का स्वतन्त्रतापूर्वक उपयोग कर सकेगा तथा अन्य सुविधाएँ भी प्राप्त करेगा। चीन की रक्षा का यह वचन रूस ने उत्तरी मचूरिया होते हुए सीधे ब्लाडीवोस्टक तक ट्रास-साइबेरियन रेलवे लाइन ले जा सकने के अधिकार के बदले मे दिया था।

एक पूरक उपसंधि की धाराओ के अनुरूप, रूस ने रूसी-चीनी बैंक नामक एक निजी निगम स्थापित किया, जिसे चीन ने इस रेलवे लाइन का मचूरिया स्थित भाग (जिसे चीनी पूर्वी रेलवे का नाम दिया गया था) बनाने के लिए धन लगाने का काम सौप दिया। मचूरिया मे रूस के प्रवेश के लिए यह बैंक मुख्य हथियार बना। जैसा कि बैंक के चार्टर या शासपत्र मे लिखा था, यह बैंक "चीनी साम्राज्य मे शुल्क वसूल करने, स्थान-स्थान पर राज्य-कोष से लेन-देन करने, चीनी सरकार की अनुमति से वहाँ की मुद्रा व सिक्को का लेन-देन करने, चीन सरकार द्वारा लिये गये ऋणों पर ब्याज वसूल करने, चीन की सीमाओ के भीतर रेलवे लाइन का निर्माण करने के लिए सुविधाएँ व रिआयते प्राप्त करने और टेलीग्राफ के तार लगाने"[4] के लिए एक माध्यम था। इस प्रकार, रूसी कानून के अतर्गत संगठित व नियंत्रित यह बैंक मचूरिया मे रेलवे लाइन बिछाने व अन्य योजनाओं मे धन लगाने के अतिरिक्त चीन सरकार का राज-वित्तीय एजेण्ट बन रहा था। बैंक को पहला काम पूर्वी चीनी रेलवे लाइन के निर्माण का मिला। इसके लिए बैंक ने एक कम्पनी खड़ी की,

जिसे रेल बनाने व चलाने व उसकी ऐसी सपत्ति के नियत्रण का भी अधिकार मिला जैसे कि निर्माण के लिए आवश्यक खदाने। इसके अतिरिक्त इस कपनी को रेलवे क्षेत्र मे प्रशासकीय अधिकार भी थे। जब रेल का निर्माण पूरा हो जाय उसके ८० वर्ष बाद तक ये रिआयते चालू रहने वाली थी, जिसके उपरान्त यह चीन को मुफ्त मे मिलने वाली थी। किन्तु चीन ने यह अपना अधिकार सुरक्षित रखा था कि ३६ वर्ष के बाद वह यह लाइन स्वय ले सकेगा, किन्तु इस प्रकार लाइन लेने की शर्ते ऐसी बोझीली थी और प्रतिदान या मोचन-भार इतना अधिक था कि इस बात की सभावना बहुत कम थी कि चीन कभी इसके मोचन का प्रयास भी करेगा। हिसाब लगाया गया था कि यदि चीन ३७ वे वर्ष के आरम्भ मे रेलवे लाइन को स्वय लेना चाहे तो वह, रिआयत की शर्तो के अनुसार, निगम को ७० करोड रुबल से कम नही देगा।[५]

इस रिआयत की शर्ते रूस के लिए बहुत अधिक सुविधाजनक थी, किन्तु, उत्तरी मंचूरिया होकर ब्लाडीवोस्टक तक साइबेरियन रेलवे लाइन ले जाने के लिए कोई भी शर्त रूस के लिए सुविधाजनक होती। इससे लाइन की लम्बाई मे तो भारी बचत हो ही गयी—यदि पूरी लाइन रूसी क्षेत्र मे ही होकर निकाली जाती तो वह बहुत अधिक लम्बी होती—साथ ही, उत्तरी मचूरिया मे रूस के आर्थिक प्रभाव की भी शुरुआत हो गयी।[६] रेलवे लाइन की सारी योजना की शुरुआत ही आर्थिक दृष्टि से की गयी लगती थी और यह काउण्ट वीटे के रूस के औद्योगिक विकास की व्यापक योजना का एक अग थी। रेलवे लाइन के सबध मे काउन्ट की जो आशा-अपेक्षा थी वह शुरू से ही पूरी होने लगी। जैसे-जैसे लाइन पडती जाती थी, किसान उसकी दोनो ओर आ-आकर बसते जाते थे, इस क्षेत्र मे बस्तियाँ बनने से व्यापार का विकास हो रहा था। यह असभाव्य नही था कि रूसी निर्देशन व उसके आर्थिक हित में सारा का सारा मचूरिया इसी प्रकार विकसित हो जाय। और इस विकास से रूस का वैसे ही लाभ था, जैसे कि स्वय रूसी क्षेत्र का विकास हो रहा हो। यह तो सही है ही कि इस रेलवे का उद्देश्य आर्थिक के अलावा सामरिक नीति का था ही। रेलवे लाइन के द्वारा रूसी क्षेत्र का जैसा एकीकरण सभव था, वह किसी अन्य साधन से नहीं हो सकता था। किन्तु जहाँ तक मचूरिया का सबंध है, योजना के प्रणेता, एलेक्जैण्डर तृतीय और काउण्ट वीटे के मन मे रूसी क्षेत्र के विस्तार की नही, आर्थिक प्रवेश की ही भावना थी।

## (३) जर्मनी का बढ़ाव

'रिआयतो की लडाई' फ्रास ने सन् १८९५ मे शुरू की, किन्तु रूस व जर्मनी ने इसे उत्साहपूर्वक आगे बढ़ाया था। जर्मनी इस बात पर तुला बैठा था कि

लिआओतुग प्रायद्वीप जापान से मुक्त होने मे जर्मनी की जो सहायता चीन को प्राप्त हुई थी, उसकी पूरी-पूरी स्वीकृति चीन से प्राप्त हो। सन् १८९७ के वसन्त मे जर्मनी ने अन्य देशो को सूचना दी कि वह चीन के तट पर एक कोयला भरने और जहाज ठहराने के केन्द्र की स्थापना का इच्छुक है और उपयुक्त बन्दरगाह के लिए उसने सर्वेक्षण शुरू कर दी। किन्तु कोई काररवाई करने के पूर्व कोई उपयुक्त बहाना ढूढना आवश्यक था। तभी शानतुग प्रान्त मे जर्मनी के दो पादरियो की हत्या कर दी गयी। हत्या के दो सप्ताह को भीतर जर्मनी ने त्सुगली यामेन के समक्ष मॉग पेशकर दी कि (१) किआओचाओ खाडी व त्सिगताओ बन्दरगाह का ९९ वर्ष का पट्टा कर दिया जाय, (२) शानतुग प्रान्त मे कोयले की खानो के उपयोग व वहॉ रेलवे लाइन डालने के इजारेदारी अधिकार दे दिये जायं; और (३) मॉगे पेश करने के पूर्व त्सिगताओ बन्दरगाह पर अधिकार कर लेने वाले नौसैनिक-अभियान का व्यय व क्षतिपूर्ति दी जाय।

६ मार्च, १८९८ को हुए समझौते मे चीन ने ये मॉगें काफी हद तक मान ली। किआओचाओ खाडी के आसपास का क्षेत्र, अस्थायी रूप से, ९९ वर्ष के पट्टे पर दे दिया गया। चीन के सम्राट् ने इस क्षेत्र पर अपना अधिकार कायम रखते हुए भी पट्टे की अवधि मे वहाँ सर्वोच्च सत्ता के अधिकार का उपयोग न करने का आश्वासन दिया। अपनी ओर से जर्मनी ने यह कहा कि पट्टे की अवधि मे भी वह इस क्षेत्र को छोडकर इसके बदले समुद्र तट पर कही अन्यत्र अपना केन्द्र बना सकेगा। यह क्षेत्र किसी अन्य शक्ति को जर्मनी पट्टे पर नहीं उठा सकेगा। शानतुग प्रान्त मे कोयला निकालने और रेले बनाने के इजारेदारी अधिकारो की जगह जर्मनी को विशिष्ट खानों के उपयोग व विशिष्ट लाइने बिछाने की अनुमति मिल गयी।[७]

## (४) 'रिआयतो की लड़ाई'

इन माँगो के स्वीकार का अर्थ हुआ सुदूर पूर्व मे एक राज्य के पक्ष मे शक्ति-सतुलन का झुकाव। फलतः सभी देश अपने-अपने हितो को सुरक्षित करने के लिए तत्काल व्यस्त हो गये। रूस ने पोर्ट आर्थर (बन्दरगाह) पर कब्जा कर लिया और माँग पेश कर दी कि पोर्ट आर्थर व तैलीनवान के साथ क्वागटुग क्षेत्रवाला लिआओतुग प्रायद्वीप का अग्रभाग २५ वर्ष के लिए पट्टे पर दे दिया जाय, रूसी-चीनी बैंक को मिली रिआयतो मे पूर्वी चीनी रेलवे की एक शाखा दक्षिण मे पोर्ट आर्थर तक लाने की रिआयत भी शामिल कर दी जाय और दक्षिण मचूरिया मे खनिज पदार्थों को निकालने का अधिकार दिया जाय।

इस पर ब्रिटेन ने २५ वर्ष के लिए वीहाईवी बन्दरगाह के पट्टे की माँग कर दी। उसने यह भी माँग की कि (१) चीन याग्त्सी नदी से लगे प्रान्तो को किसी अन्य देश को न देने की घोषणा करे, (२) यह वचन दे कि जब तक चीन से व्यापार में अंग्रेज सबसे आगे रहे, तब तक चीनी समुद्री सीमा-शुल्क-सेवा का महानिरीक्षक कोई अंग्रेज ही रहे, और (३) हागकाग के सामने के मुख्य महाद्वीप के भूभाग का जो पट्टा था वह बढाया जाय।

फ्रांस सन् १८९५ मे ही चीन से यह वक्तव्य प्राप्त कर चुका था कि वह हैनान द्वीप किसी अन्य देश को नही देगा। फ्रास दक्षिण के अपने उपनिवेशो से चीन आने वाले माल पर सीमा-शुल्क मे रिआयत भी ले चुका था।[८] इसके अतिरिक्त युन्नान, क्वाग्सी व क्वागतुग प्रान्तो मे खनिज पदार्थो के उपयोग मे प्राथमिकता और चीनी क्षेत्र तक अन्नम रेलवे लाइन ले आने की अनुमति भी फ्रास पा चुका था।[८] सन् १८९७-१८९८ मे फ्राग ने अपने हितो का प्रसार कुछ अन्य सुविधाएँ प्राप्त कर लिया, उसे आश्वासन मिल गया कि टोगकिंग से लगे प्रान्तो का भूमि-सक्रामण नही होगा, उसे युन्नान प्रान्त मे रेले बनाने की रिआयत मिल गयी, क्वागचाउ खाडी का ९९ वर्ष का पट्टा उसे मिल गया और उसे चीन का यह वचन मिल गया कि वह जब भी अलग से अपनी डाक सेवा स्थापित करेगा, तब कर्मचारियो की नियुक्तियो के संबध मे फ्रासीसी सरकार की सिफारिशो पर विचार करने के लिए तत्पर रहेगा। उधर जापान ने माँग की कि फारमोसा के सामने पडने वाले फूकिन प्रान्त का किसी अन्य देश के पक्ष में भूमि-संक्रामण न किया जाय। ये सभी माँगे चीन सरकार ने मान ली, किन्तु जब इटली ने अनुरोध किया कि सनमेन खाडी उसे पट्टे पर दे दी जाय तब सरकार ने हिम्मत करके इनकार कर दिया। इससे रिआयतें प्राप्त करने की आपा-धापी कुछ समय के लिए समाप्त हो गयी।

## (५) दिलचस्पी के क्षेत्र

ये सब घटनाएँ इतनी तेजी से हुई और केन्द्रीय इतना कम प्रतिरोध कर सका कि ऐसा लगने लगा कि चीनी साम्राज्य का अत कभी भी हो सकता है। चीन जैसे राज्य के विभाजन की दिशा मे पहला कदम विभिन्न शक्तियो के विशेष दिलचस्पी के क्षेत्र बनना होता तथा चीन व अन्य देशो के बीच जो ये अनेक समझौते हुए थे वे साम्राज्य के विभिन्न भागों मे "दिलचस्पी के क्षेत्र" ही बना रहे थे। जैसे, मचूरिया रूसी दिलचस्पी का क्षेत्र था, शानतुग जर्मनी की दिलचस्पी का क्षेत्र था, आदि। 'दिलचस्पी के क्षेत्र' का चीनी संदर्भ मे मुख्य आशय आर्थिक महत्त्व का था।

चोवरलाफ ने लिखा है—शब्द का मूल तत्व नकारात्मक है, क्योकि इससे यह

सिद्धान्त प्रकट होता है कि जिस देश के पक्ष मे दिलचस्पी का क्षेत्र बना है उसको छोड़ कर कोई अन्य देश उस क्षेत्र मे कोई रिआयत, कोई भी नियन्त्रण आदि प्राप्त नही कर सकेगा—सैनिक आधिपत्य की बात ही दूर है—और साथ ही उसी समय उस विशेष अधिकारप्राप्त देश को रिआयते पाने की इजारेदारी प्राप्त रहेगी। किन्तु यह विशेषाधिकार उस देश को ऐसा प्रभाव प्रयोग करने का कोई अधिकार नही देता, जिससे वह दिलचस्पी के क्षेत्र की जगह प्रभाव का क्षेत्र बन जाय। 'प्रभाव-क्षेत्र' का प्रयोग चीन के सदर्भ मे औपचारिक रूप से कभी नही हुआ; इस शब्द का तात्पर्य किसी सीमा तक अधिकार या नियन्त्रण से है, चाहे वह आर्थिक हो या राजनीतिक,[१] और इस अधिकार का प्रयोग किसी क्षेत्र मे किसी विदेशी द्वारा होना चाहिए।[१]

चीन जैसे देश के लिए बड़ा खतरा इस सभावना मे होता है कि किसी देश द्वारा किसी क्षेत्र मे दिलचस्पी का एकाधिकार स्थापित होते ही कुछ नियन्त्रण के अधिकार भी प्राप्त करने का बहाना ढूँढा जाता है, चाहे वह आर्थिक हो या राजनीतिक—और शीघ्र ही दिलचस्पी का क्षेत्र प्रभाव के क्षेत्र मे बदल जाता है। प्रभाव-क्षेत्र की स्थापना के बाद 'सरक्षित क्षेत्र' का दावा धीरे-धीरे नियन्त्रण के आधिकारो के विकास द्वारा होने लगता है। दिलचस्पी के क्षेत्र के सिद्धान्त का तर्कसम्मत अर्थ उस क्षेत्र के अततः उस देश के अग बन जाने से ही होता है, जो पहले आर्थिक हितो की प्राथमिकता की माँग करता है। इसमे संशय नही है कि हित-क्षेत्रो के विकास को शुरू में ही न रोका गया होता तो चीन का भी यही हाल हुआ होता।

चीन मे विदेशो को जो रिआयते मिली थी, उनके आधार पर दिलचस्पी के क्षेत्रो की घोषणा कठिन थी। पहले तो समुद्रतट पर पट्टे दिये गये, जिससे पट्टेदारों का यह प्रकल्पित दावा बना कि चीन का यदि बटवारा हुआ तो पट्टे के क्षेत्र से मिला पृष्ठ प्रदेश उनका हो जायगा। किन्तु जब कभी किसी देश को पट्टा मिलता था, नियमत. उसे उस क्षेत्र मे कुछ आर्थिक रिआयते भी मिल जाती थी—या तो पट्टे की भूमि के पृष्ठ प्रदेश मे ही या ऐसे क्षेत्र में जहाँ के लिए पट्टा नही भी माँगा गया था। जैसा कि कहा जा चुका है, ये रिआयते अपने-अपने देश से माल ढोकर और धन लगाकर रेलवे लाइने डालने और कभी-कभी रेले चलाने, किसी क्षेत्र की खनिज सम्पत्ति के उपयोग या किसी क्षेत्र के भूमि-सक्रामण पर रोक के रूप मे थीं। इन रिआयतों के साथ सामान्यत. संक्रामण पर लगी रोक वाले प्रदेशो में कुछ आर्थिक रिआयतें भी मिल जाती थी।

ये रिआयतें चीन व अन्य देशो के बीच हुए समझौतों से मिली थी। इन देशों को यह साबित करना अब भी शेष था कि अन्य देशों को हटा कर केवल उनकी दिलचस्पी कायम रखने वाले उनके 'दिलचस्पी के क्षेत्र' बन गये है। इसके लिए चौथे

प्रकार के समझौते और वास्तविक 'क्षेत्र' बनने की दरकार थी। पहले तीन प्रकार के समझौतो के अनुसार चीन को यह स्वतत्रता रहती थी कि यदि वह चाहे तो किसी अन्य देश को भी उसी क्षेत्र मे कुछ खास रिआयतें दे दे। वास्तव मे ऐसा करना चीन के ही हित मे था, क्योकि इससे वह उस क्षेत्र पर अपना अधिकार व सत्ता साबित कर सकता था। फलत', हर देश शोषण के लिए चुने गये अपने क्षेत्र मे अन्य देशो से यह स्वीकार कराने के लिए प्रयत्न करने लगा कि वहाँ और किसी की दिलचस्पी नही है और केवल उसी देश की दिलचस्पी का वह क्षेत्र है।

सन् १८९० की स्याम-उपसधि की शर्तो के अनुसार फ्रास व ब्रिटेन मे यह समझौता हो गया था कि यदि उनमे से किसी को भी युन्नान व जेचुआन प्रान्तो मे कोई विशेष सुविधा मिल गयी तो वे मिल कर उसका उपभोग करगे। किन्तु, सन् १८९८ मे, टोगकिंग से लगे प्रान्तो के सबंध मे—जिनमे युन्नान भी शामिल था—चीन से असक्रामण-समझौता हो जाने के बाद, फ्रास ने उस पूरे क्षेत्र मे अपनी विशेष दिलचस्पी का दावा शुरू कर दिया। उसने युन्नान प्रान्तो मे रेलें बनाने का अधिकार भी प्राप्त कर लिया था। ब्रिटेन ने स्थिति के इस परिवर्तन को चुपचाप स्वीकार कर लिया और वह याग्त्सी घाटी मे क्षति-पूर्ति पाने का प्रयास करता रहा। इस प्रकार फ्रास के युन्नान, क्वांग्सी व क्वीचाओ प्रान्तो में "दिलचस्पी के क्षेत्र" के दावे को मौन स्वीकृति तो मिल ही गयी। प्रान्तो के इस समूह मे क्वागटुग भी शामिल था, जिसके संबंध में चीन ने फ्रास को आश्वासन दिया था कि वह किसी विदेशी शक्ति को उसका भूमि-सक्रामण नहीं करेगा, किन्तु, हागकाग के, जो इस प्रान्त के सामने पडता था, ब्रिटेन के स्वामित्व और पूर्वी क्वाटुग के काउलून क्षेत्र का पट्टा अग्रेजो के नाम से होने के कारण इस प्रान्त मे दिलचस्पी का क्षेत्र विभाजित था और फ्रांसीसी दिलचस्पी केवल प्रान्त के पश्चिमी भाग तक सीमित मानी जा सकती थी। जेचुआन प्रान्त भी दोनो देशो का सयुक्त शोषण क्षेत्र ही माना जाना चाहिए था। चूँकि ब्रिटेन ही दूसरी विदेशी शक्ति था जिसकी दक्षिणी-पश्चिमी चीन मे दिलचस्पी थी और ब्रिटेन ने उस क्षेत्र मे फ्रासीसी दावे की प्राथमिकता स्वीकार कर ली थी, यह समझा जा सकता था कि फ्रास ने अपने दिलचस्पी के क्षेत्र को अन्य दावो व अतिक्रमण से सुरक्षित कर लिया था।

याग्त्सी घाटी, शानतुग व मचूरिया के सबध मे एक ओर ब्रिटेन और दूसरी ओर रूस व जर्मनी ने जो समझौते कर लिये थे, उन्ही मे मुख्य अतरराष्ट्रीय दिलचस्पी निहित थी। शानतुग प्रान्त के उत्तरी तट पर स्थित बन्दरगाह, वीहाईवी का पट्टा माँगते समय ब्रिटेन ने जर्मनी सरकार को यह आश्वासन दे दिया था कि

इस प्रान्त मे आर्थिक रिआयते प्राप्त करने का जो जर्मनी का सुरक्षित क्षेत्र है, उसमे हस्तक्षेप करने का उसका कोई भी इरादा नही है। सन् १८९८ मे अग्रेज व जर्मनी के पूंजीपतियो ने रेलवे लाइन बिछाने का एक और समझौता सीधे आपस मे कर लिया। इस समझौते मे शानटुग रेलवे लाइन के याग्त्सी घाटी की लाइनो से जोड़े जाने के अधिकार को छोडकर, यांग्त्सी व उसकी सहायक नदियो द्वारा सिचित लगभग सभी प्रान्तो को अग्रेजो के दिलचस्पी के क्षेत्र मे शामिल मान लिया गया था। इसी तरह रेलवे लाइनो के जोड मिलाने के अधिकार को छोड़कर शासी प्रान्त भी ब्रिटेन के क्षेत्र मे मान लिया गया था। जर्मनी की दिलचस्पी का क्षेत्र पीत नद घाटी और शानटुग प्रान्त मान लिया गया था, केवल रेल लाइन-सबधी अधिकार का अपवाद कर दिया गया था। हर एक देश ने यह स्वीकार कर लिया था कि वह दूसरे के क्षेत्र मे रिआयतें माँगने की होड नही लगायेगा।

सन् १८९९ के स्कॉट-यूरावीफ-समझौते के द्वारा ब्रिटेन व रूस के मतभेद भी मिट गये थे, इस समझौते के अनुसार ब्रिटेन ने यह स्वीकार कर लिया था कि वह रेलवे लाइन सबंधी रिआयते माँगने चीन की बडी दीवार के उत्तर मे नही जायगा और रूस ने यह मान लिया था कि वह याग्त्सी घाटी मे ब्रिटेन के क्षेत्र मे हस्तक्षेप नही करेगा।

## (६) अमरीका की दिलचस्पी व दृष्टिकोण

यदि सभी विदेशी शक्तियाँ इन समझौतों का ईमानदारी से पालन करती और यदि सभी एक दूसरे के दिलचस्पी के क्षेत्रों का सम्मान करने को बचनबद्ध होती तो ये समझौते चीन को बिलकुल असहाय बना देते। पर सन् १८९७–१८९८ की इस आपाधापी मे अमरीका ने कोई भाग नही लिया था, यद्यपि विदेशी राजनीति के प्रश्नो के महत्त्व के सबध मे जागरूक होना उसने तभी शुरू किया था। बीच-बीच मे अमरीका सुदूरपूर्व की घटनाओ मे गहरी दिलचस्पी लेता रहा था। जब चीन का द्वार खुला था, तब अमरीका कैण्टन बन्दरगाह का दूसरा सबसे बडा व्यापारी देश था। जापान के द्वार उन्मुक्त करवाने मे अमरीका का जो हाथ था, उसका वर्णन किया ही जा चुका है।[१०] किन्तु गृहयुद्ध के बाद अमरीका की सक्रिय दिलचस्पी बाहरी दुनिया से कम हो गयी थी, क्योंकि उसका ध्यान घर के विकास व सुधार मे ही लगा था; दिलचस्पी की यह कमी सुदूरपूर्व के देशो के लिए भी लागू थी। किन्तु सन् १८६५–१८९८ के बीच की अवधि मे अमरीकी राष्ट्र में एक परिवर्तन आया और वह खेतिहर देश की जगह औद्योगिक देश बन गया। उन्नीसवी शताब्दी के अतिम दशक तक अमरीका की औद्योगिक प्रगति इस सीमा तक हो गयी थी कि

अनेक अमरीकी घरेलू आवश्यकता से अधिक उत्पन्न औद्योगिक सामान की खपत के लिए विदेशी बाजारो की आवश्यकता समझने लगे थे, बहुत से अमरीकी यह भी समझ रहे थे कि इतनी पूँजी एकत्र हो गयी है कि घर के क्षेत्र मे वह पूरी की पूरी लग नही सकती थी। बाहरी दुनिया से यह विशुद्ध आर्थिक दिलचस्पी तो पैदा हो ही रही थी कि स्पेन से युद्ध के कारण अतरराष्ट्रीय सबधो मे और अधिक दिलचस्पी पैदा हो गयी। इस युद्ध के फलस्वरूप अमरीका को सुदूरपूर्व मे फिलीपीन मे क्षेत्रीय आधिपत्य मिल गया और इस प्रकार अमरीका एक एशियाई शक्ति बन बैठा। इस सबसे अमरीका की चीन मे दिलचस्पी बढ गयी। और इस दिलचस्पी के कारण नयी परिस्थिति मे एक स्पष्ट निश्चयात्मक प्रतिक्रिया की आवश्यकता प्रतीत हुई।

जब 'रिआयतो की लडाई' शुरू हुई और जब तक वह चलती रही, अमरीका स्पेन से युद्ध मे व्यस्त रहने के कारण वहाँ कोई सीधी काररवाई नही कर सका। सन् १८९९ मे जो स्थिति थी उसका अमरीकी दृष्टिकोण से मूल्याकन करने से लगेगा कि उस समय अमरीकी सरकार के समक्ष तीन स्पष्ट विकल्प थे—चीन मे अन्य विदेशो ने जो बढाव कर लिए थे, उन्हे मान्यता देकर वह चुपचाप निष्क्रिय होकर बैठ सकती थी और विदेशी दिलचस्पी के क्षेत्रो को स्वाभाविक रूप से सरक्षित क्षेत्रो मे विकसित होने दे सकती थी, जिससे अतत चीन से व्यापार करने का अमरीका का मार्ग बिलकुल अवरुद्ध हो जाता; वह भी रिआयतो की लडाई मे भाग लेकर चीन के शोषण के लिए कुल क्षेत्रो का एकाधिकार पाने का प्रयत्न कर सकती थी, या फिर वह विभिन्न देशो के दिलचस्पी के क्षेत्रो मे ही अमरीकी व्यापारिक हितो की सुरक्षा के लिए प्रयत्नशील हो सकती थी। अमरीका मे अपनी पूँजी व उद्योग को बाहर ले जाने के पक्ष मे प्रबल जनमत होने के कारण पहला विकल्प स्वीकार करना अमरीका के लिए असभव था, क्योकि चीन दुनिया मे सबसे अच्छा पूजी लगाने व सबसे बडा बाजार बनाने की सभावना वाला देश समझा जाता था। दूसरा विकल्प भी अस्वीकार्य था। सुदूर पूर्व मे अमरीकी नीति परपरागत रूप से एकाधिकार-विरोधी रही थी। सुदूरपूर्व के देशो से अमरीका का जो भी व्यवहार हुआ था, उसमे कही भी उसने अपने या अपने देशवासियो के लिए इजारेदारी या एकाधिकार की माँग नही की थी। उसने हमेशा अपने लिए "परममित्र राष्ट्र" का व्यवहार माँगा था और वह हमेशा इस बात के लिए तैयार रहा था कि इस प्रकार मिली सुविधाएँ अन्य व्यापारिक शक्तियो को भी प्राप्त रहे। वह प्रतियोगिता के लिए तत्पर था, किन्तु प्रतियोगिता की शर्ते सभी के लिए समान और भेदभावहीन होनी चाहिए थी। उसकी यह नीति सुदूरपूर्व की भाँति दक्षिणी अमरीका मे भी लागू

थी। फलत , अमरीका के लिए चीनी 'तरबूज' का एक टुकड़ा अपने लिए अलग लेने की कोशिश पुरानी नीतियो को एकदम उलट-पुलट देने के समान होती। यह उलट-पुलट अन्य स्थानो के मुकाबले मे चीन मे और भी अधिक स्पष्ट होती क्योकि सन् १८४२ के बाद अमरीकी सरकार ने लगभग लगातार चीन की क्षेत्रीय सार्वभौम सत्ता की अक्षुण्णता की रक्षा की आवश्यकता पर जोर दिया था। काफी समय तक अमरीका को यह आशका थी कि ब्रिटेन 'स्वर्गिक' साम्राज्य के किसी भाग को अपना औपनिवेशिक क्षेत्र बना लेगा और सुदूरपूर्व मे ब्रिटेन के हर कदम और हर काररवाई को उसने बहुत सावधानी से जाँचा-परखा था। बाद मे, जब बर्लिंगेम मत्री बने, उन्होने और उनके द्वारा अमरीका ने, चीन की राज्यसत्ता अक्षुण्ण रखने की आवश्यकता की सामूहिक स्वीकृति के आधार पर सहयोग-नीति स्थापित करने का नेतृत्व किया था।

इस प्रकार अमरीका के लिए केवल तीसरा विकल्प शेष था, किन्तु इसकी कोई ठोस अभिव्यक्ति आवश्यक थी, जिस दिशा मे कार्य होना था, वह सामान्यत स्पष्ट थी। मोटे तौर पर अमरीका की यह दिलचस्पी अब भी शेष थी कि चीन को क्षेत्रीय विघटन से बचाया जाय, किन्तु इसकी विपरीत दिशा मे अनेक सक्रिय कदम पहले ही उठाये जा चुके थे और पट्टो के समझौतो द्वारा चीनी साम्राज्य अपने ही क्षेत्रो पर जो नियत्रण खो बैठा था, उसे चीन को वापस दिलाने और साथ ही यूरोपीय देशो ने जो विशेष आर्थिक सुविधाएँ प्राप्त कर रखी थी, उन्हे त्यागने के लिए इन देशो को राजी करने के लिए केवल शाब्दिक प्रतिवादों से काम नही चलने वाला था। यदि इस दिशा मे बढने की इच्छा होती तो व्यापारिक देश—इगलैण्ड, जर्मनी, अमरीका व संभवतः जापान भी—एक शक्ति समुच्चय बनाकर सफल हो सकते थे। किन्तु रिआयतो की भगदड़ व आपाधापी मे जर्मनी ने बड़ी प्रमुख भूमिका अदा की थी और जब तक अमरीका इस दिशा मे कदम उठाने की आवश्यकता के प्रति जागरूक हो, इगलैण्ड ने भी इस आपाधापी मे भाग ले लिया था। इंगलैण्ड ने अर्ध-औपचारिक रूप से सहयोग की इच्छा प्रकट भी की, किन्तु उसने इस सहयोग के लिए आधार बनाया था चीनी सेना व अर्थ-व्यवस्था के इन देशो द्वारा सयुक्त नियत्रण को। ऐसा सहयोग अमरीका को मान्य नही हो सकता था, इसलिए अमरीकी परराष्टमत्री हे को अपनी स्वतत्र नीति निर्धारित करने को बाध्य होना पडा। इस नीति की रूपरेखा प्रसिद्ध 'उन्मुक्त द्वार' सबधी गश्ती पत्र मे दी गयी थी।

## (७) 'उन्मुक्त द्वार' नीति

६ सितम्बर, १८९९ को इगलैण्ड, फ्रास, इटली, जर्मनी, रूस व जापान की

सरकारो को पत्र भेजे गये जिनमे कहा गया था कि सभी देश "विधिवत् आश्वासन दे तथा अन्य सबधित देशो से इस प्रकार के आश्वासन दिलाने मे सहयोग प्रदान करें कि (१) कोई भी देश अपने प्रभाव के क्षेत्र मे चीन मे पट्टे से पायी हुई भूमि या तथाकथित दिलचस्पी के क्षेत्र मे किसी भी निहित स्वार्थ या सधि-बन्दरगाह मे किसी प्रकार का हस्तक्षेप नही करेगा। (२) 'स्वतत्र बन्दरगाहो' को छोड़कर दिलचस्पी के क्षेत्र मे स्थित सभी बन्दरगाहो मे आयात या निर्यात हुए व्यापार के सभी सामान पर--वह किसी भी देश का क्यो न हो--उस समय चीनी सधि द्वारा निर्धारित शुल्क-दर समान रूप से लगेगी और इस प्रकार लगे शुल्क को चीन सरकार वसूल करेगी, और (३) दिलचस्पी के इन क्षेत्रो मे स्थित बन्दरगाहो मे आने वाले अन्य विदेशी जहाजो से अपने जहाजो के मुकाबले ज्यादा कोई भी देश बन्दरगाह भाडा न वसूल करेगा और न अपने क्षेत्र की अपनी रेलों पर अन्य देशो से आये माल-सामान पर उससे अधिक किराया-भाडा लेगा, जो वह अपने देश के नागरिको से वसूल करता है।[११] इस प्रकार, अमरीका ने यह नीति अपनायी कि दिलचस्पी के क्षेत्रो के अनेक देशो के दावे व पट्टो की स्थापना की यथास्थिति स्वीकार कर अमरीकी नागरिको के लिए व्यावसायिक सुविधाओ व अवसरो की पूर्ण समानता प्राप्त करने के लिए इन क्षेत्रो मे दिलचस्पी रखने वाले देशो के अपने दृष्टिकोणो की स्पष्ट व्याख्या कराये। यह 'उन्मुक्त द्वार' नीति व्यावसायिक स्वार्थ की नीति थी और जिस प्रकार वह बनी और जिस प्रकार उसका प्रकाशन हुआ उसमे चीन की स्वतत्रता और क्षेत्रीय अविच्छिन्नता कायम रखने की इच्छा कही भी प्रकट नही होती थी। इस नीति में 'दिलचस्पी के क्षेत्र' सिद्धान्त की स्वीकृति निहित थी और यह भी अर्थ लगाया जा सकता है कि इस सिद्धान्त के तर्कसगत निष्कर्ष अर्थात् चीनी क्षेत्र पर दूसरे देशो के आधिपत्य को भी इस नीति में स्वीकृति प्राप्त थी, केवल शर्त यह थी कि इस प्रकार विदेशी कब्जे मे गये चीनी क्षेत्र मे अमरीका का व्यापार-सबंधी अधिकार सुरक्षित रहे।

किन्तु 'दिलचस्पी के क्षेत्र' और 'उन्मुक्त द्वार' या व्यावसायिक सुविधाओ की समानता दो अवधारणाएँ मूलत. एक दूसरे से भिन्न, असगत और बेमेल थी। दिलचस्पी के क्षेत्र बनाने का मुख्य उद्देश्य ही रेले बनाने, खनिज पदार्थो के उपयोग और क्षेत्र के आर्थिक शोषण के एकाधिकार प्राप्त करना होता था।[१२] इसके अतिरिक्त, दिलचस्पी का क्षेत्र जैसे-जैसे प्रभाव का क्षेत्र बनता जाता था या कि सरक्षित क्षेत्र बनता जाता था, इस प्रकार प्राप्त राजनीतिक नियत्रण को ये देश लगभग हमेशा ही उस क्षेत्र के आर्थिक विकास की इजारेदारी उस सीमा तक कायम करने मे उपयोग

करते, जिस सीमा तक ऐसे विकास मे उन्हे लाभ होता। दूसरे शब्दो में, 'उन्मुक्त नीति द्वार' 'क्षेत्र' की अवधारणा पर सीमाएँ व मशोधन लागू करता है और अतत' चीन जैसे देश की क्षेत्रीय व प्रशासकीय अविच्छिन्नता और स्वतत्रता की माँग करता है, क्योकि इसीसे व्यावसायिक अवसरो की समानता कायम रह सकती है।

अपने सामान के बाजार व अपनी पूंजी लगाने के क्षेत्र के रूप मे पूरे चीन देश को सुरक्षित रखने में मूलत दो देशो को दिलचस्पी थी। चूंकि सन् १८९९ मे अमरीका के चीन मे व्यापार-सबधी हित इतने अधिक नहीं थे कि उन्हे कायम रखने के लिए किसी कडी काररवाई की आवश्यकता हो, इसलिए अमरीका की दिलचस्पी भविष्य मे थी। दूसरी ओर ब्रिटेन के व्यापारिक हित वास्तविक थे सभाव्य नहीं, भविष्य नही वर्तमान मे थे। ये हित साम्राज्य के किसी एक भाग मे केन्द्रित नहीं थे, वरन् देश के उत्तरी, दक्षिणी मध्य सभी भागो मे विकसित हुए थे। अत ब्रिटेन को दिलचस्पी के अपने बड़े व्यापक क्षेत्र मे प्राथमिकता पाने मे जितना लाभ था, उससे कही अधिक हानि उसे चीनी साम्राज्य के केवल एक भाग मे सीमित रहने मे थी। चीन स्थित अग्रेज व्यापारी इस स्थिति को स्पष्टत समझ रहे थे। किन्तु, ब्रिटेन की सरकार ने दिलचस्पी के क्षेत्र बनने के समय सक्रिय प्रतिवाद करने का अवसर खो दिया था और बाद केवल क्षतिपूर्ति की माँग कर अपने हितो की रक्षा का प्रयत्न किया था। दक्षिणी अफ्रीका के मामले का सक्टापन्न स्थिति मे पहुँचना, मिस्र के मामले को लेकर फ्रांस से जो विवाद हुआ और जिसका फाशोदा मे अत हुआ और जर्मनी की सरकार को सतुष्ट रखने की जो इच्छा—इन सभी ने मिल कर उस समय अनेक यूरोपीय देशो द्वारा अपनायी गयी चीन-सबधी नीति के ब्रिटेन के प्रतिरोध को कमजोर कर दिया था।

किन्तु जब अमरीकी सरकार ने जमकर एक प्रस्ताव रखा[१३] अग्रेजो को उस प्रस्ताव मे (हेके प्रस्ताव) सन् १८६०–१८८५ की अपनी नीति का समर्थन दिखायी दिया और उन्होने सहर्ष वे आश्वासन दे दिये, जो अमरीका ने माँगे थे, सिर्फ शर्त यह लगा दी कि उसके आश्वासन तभी पक्के माने जायँ, जब अन्य देश भी ऐसे आश्वासन दे दें।[१४] जर्मनी की सरकार पहले से ही पट्टे के अपने क्षेत्र मे चीनी शुल्क-दर पर सामान के आयात के पक्ष मे थी और चीनी समुद्री सीमा-शुल्क-सेवा के महानिरीक्षक से इस सबध मे बातचीत चला रही थी। उसने सहर्ष अन्य आश्वासन भी दे दिये। फ्रास, इटली व जापान भी हे-प्रस्ताव के पूर्ण समर्थक थे।

किन्तु रूस ने अन्य सरकारो की भाँति स्पष्ट उत्तर नही दिया, यद्यपि उसने जिस भाषा का प्रयोग किया उसे हे ने रूस की सहमति व स्वीकृति मान लिया।

तेलीनवान को रूसी सीमा-शुल्क-व्यवस्था के अतर्गत ले आने के लिए प्रारम्भिक काररवाई हो चुकी थी और पोर्ट आर्थर मे चीनी व रूसी जहाजो के अतिरिक्त अन्य देशो के जहाजो के आने पर रोक लग गयी थी, पोर्ट आर्थर तेजी से सशक्त और किलावन्दी वाला नौसैनिक गढ बन रहा था। इस प्रकार, रूस ने जहाँ तक उसे व्यापार के लिए खोलने का प्रश्न था, तेलीनवान को स्वतत्र बन्दरगाह बनाने की दिशा मे तो कदम उठाया, किन्तु, उसने आश्वासन केवल यही दिया कि यदि "कभी भविष्य मे वह वन्दरगाह स्वतत्र रहते हुए भी शुल्क-सीमाओ के फलस्वरूप उस क्षेत्र से अलग हो जाय, मडल मे कर-दर के अनुसार, सीमा-शुल्क सभी विदेशी माल पर राष्ट्रीयता का भेदभाव किये विना लागू होगा।"[२५] "विदेशी" का अर्थ अरूसी था, अतएव यह वक्तव्य अनेक अर्थक ही माना जायगा। इसके अतिरिक्त रूसी उत्तर मे हे के गश्ती पत्र मे उठायी गयी अन्य बातो के सबध मे, जैसे कि रेल के भाड़े की दर, रूसी दृष्टिकोण या नीति की, कुछ भी नही कहा गया था।

हे-सिद्धातो की स्वीकृति के फलस्वरूप चीन के विभाजन की दिशा मे जो आदोलन चल पडा था, वह अस्थायी रूप से विकास की पहली मजिल पर ही रुक गया। किन्तु, इस विदेशी आक्रमण के प्रति चीनी जनता व सरकार की प्रतिक्रिया से चीनी राष्ट्रीय जीवन के समाप्तप्राय होने का प्रश्न फिर सामने आ गया था। चीन-जापान युद्ध और उसके बाद के वर्षों का मूल पाठ यही था कि चीन अपना पुनस्सगठन इस प्रकार करे कि वह विदेशी आक्रमणो से स्वय अपनी रक्षा मे समर्थ हो। विगत मे चीन सरकार की नीति यह रही थी कि यूरोपीय देशो की हित-विषमता पर देश की रक्षा के लिए भरोसा किया जाय। उदाहरणार्थ, यह समझा जाता था कि रूस की आक्रामक प्रवृत्तियो पर ब्रिटेन रोक लगायेगा। एक देश को दूसरे देश से इस प्रकार लडा दिया जायगा कि चीन सुरक्षित बना रहेगा। किन्तु, यह शक्ति-सतुलन का सिद्धान्त चीन की निर्बलता प्रकट होने और 'प्रभाव-क्षेत्र' का सिद्धान्त लागू होने पर ध्वस्त हो गया। यह सही है कि जापान से रक्षा के लिए रूस से मैत्री स्वीकार की गयी थी। किन्तु पट्टे के लिए जर्मनी की माँग और उसके बढाव के आगे अन्य देशो के दब जाने से स्थिति बिलकुल बदल गयी थी। रूसी मैत्री से यूरोपीय आक्रमण का बचाव नही होता था और जर्मनी की धमकी के समय चीन को कोई भी देश नहीं मिला, जो उसे सक्रिय सहायता देता। निश्चय ही, शक्ति-सतुलन के सिद्धान्त को लागू करने का प्रयास किया गया, किन्तु यह सिद्धान्त चीनी हितो के बिलकुल विपरीत पड़ा, क्योकि प्रत्येक देश दूसरे देशो का मिले लाभो के लिए मुआविजा माँगने लगा, ताकि यह सतुलन बना रहे। अतत. एक विदेशी शक्ति, अमरीका से चीन को

अवश्य कुछ बाहरी सहायता मिली, किन्तु यह सहायता तभी मिली जब सक्रिय स्पर्धी ठहर कर स्थिति का मूल्याकन करने लगे थे ।

## (८) सुधार के "१०० दिन"

इन एक के बाद एक धक्को और इनके साथ नये विचारो के आगमन ने सुधार-दल को जन्म दिया और कुछ दिनो तक राजधानी का सारा ध्यान इसी ओर केन्द्रित रहा । सुधारो के लगभग सभी समर्थक याग्त्सी व दक्षिणी प्रान्तो के निवासी थे । चीन के बाहर जो अकेले सुधारक सबसे अधिक प्रख्यात हुए वह डाक्टर सुन यात-सेन थे, जो एक क्रांतिकारी कैण्टनवासी थे, जिनके पिता धर्म-परिवर्तन कर ईसाई बन गये बताये जाते थे और जो स्वय ईसाई थे, उनकी शिक्षा पश्चिमी पद्धति पर हवाई और हागकाग की विदेशी शिक्षा सस्थाओ में हुई थी । सन् १८९५ मे डाक्टर सुन ने कैण्टन शासन के विरुद्ध एक असफल क्रातिकारी आदोलन किया, जिसके फलस्वरूप उन्हे देश छोड कर भागना पडा और सरकार ने उनके पकड़े जाने के लिए इनाम की घोषणा की । किन्तु, पहले के सुधार-आदोलन के अधिक महत्त्वशाली नेता थे काग यू-वी, जो उस समय 'आधुनिक सत' के नाम से प्रख्यात थे । वह भी क्वागतुग प्रान्त के निवासी थे; उनमे व डाक्टर सुन मे अतर यह था कि वह क्रातिकारी नही थे वरन् धीरे-धीरे सवैधानिक राजतन्त्र की स्थापना और शासनतन्त्र मे तुरन्त सुधार के पक्षपाती थे । अधिकारियां मे से दो ने सुधारो का समर्थन किया और ये थे याग्त्सी क्षेत्र के वाइसराय चाग चिह्-तुग व ल्यू कुन-यी । चाग ने अपनी पुस्तक, 'सीखो',[१६] द्वारा पुनस्सगठन की आवश्यकता पर ध्यान केन्द्रित किया था, जिस कारण, उस समय वह निश्चित रूप से सुधारो के समर्थक माने गये । अनेक तरुण अधिकारी—मंचू भी व चीनी भी—परिवर्तनवादियो से सहानुभूति रखते थे—कम-से-कम उस समय तक तो सहानुभूति रखते ही थे, जबतक उन्हें यह विदित न हो गया कि सुधार होगे तो अधिकारी व शिक्षित वर्गो के विशेष अधिकार छिन जायँगे ।

कैण्टन से मुख्य सहायता व नेतृत्व पाने वाला यह सुधारवादी दल इतने शीघ्र अपना कार्यक्रम शुरू न कर पाता यदि दरबार की हालत ऐसी न होती । सम्राट् कुआग ह्सू कुछ वर्ष पहले ही वयस्क हुए थे और राजमाता "प्राचीन बुद्ध" ग्रीष्म भवन में अवकाश लेकर चली गयी थीं । किन्तु नियंत्रण का यह परिवर्तन वास्तविक न होकर केवल नाममात्र का ही था क्योंकि महत्त्वपूर्ण अधिकारियो की बड़ी सख्या अब भी अवकाशप्राप्त राजमाता की ओर निर्देशन के लिए देखती थी और राजमाता भी जब चाहती शासकीय मामलो में हस्तक्षेप करने में हिचकती नहीं थी । दरबार का सबसे महत्त्वपूर्ण गुट अर्थात् तथाकथित "उत्तरी दल" अपने इस विश्वास की

खुल कर घोषणा करता था कि राजमाता फिर राज्य पद सम्हाल लेगी। दूसरा अर्थात् दक्षिणी दल, सम्राट् के मुख्य शिक्षक के नेतृत्व मे था और सन् १८९८ मे कुछ निर्बल होता जा रहा था। कुछ वर्षों से यह गुट राजमाता सम्राज्ञी से दूर हट रहा था और सम्राट् के निकट आ रहा था। इसके पीकिंग स्थित नेता सुधारक नहीं थे किन्तु दरबार मे अपनी शक्ति बनाये रखने के सघर्ष मे अपने को कायम रखने के प्रयास मे वे धीरे-धीरे सुधार-आदोलन का समर्थन करने को बाध्य हो गये थे।

जापान से युद्ध के बाद स्वय सम्राट् ने सुधारो की दिशा मे अपना रुझान दिखाया। इसके उपरान्त उन्होंने पश्चिमी विचारो, सस्थाओ व रीति-रिवाजो मे दिलचस्पी प्रकट की, जिससे यह सकेत मिला कि परिवर्तन के समर्थक दल के सीधे सपर्क मे एक बार आ जाने पर उनके विचारो को बदलना कठिन न होगा। यह जून, १८९८ मे ही हो पाया जब सम्राट् के शिक्षक ने क' आग यू-वी को उनसे मिलाया। शिक्षक वेग तुग-हो सभवत इस कदम को उठाने के लिए इसलिए बाध्य हुए थे कि राजमाता के दरबार मे उनके सबसे बड़े समर्थक युवराज कुग की मृत्यु हो गयी थी। कुग नरम विचारो के प्रमुख मंचू राजमर्मज्ञ थे, जो अनेक वर्ष तक पीकिंग मे 'सतुलन-चक्र' की भाँति सम्राट् और राजमाता सम्राज्ञी को अति उग्र परामर्श स्वीकार करने से रोकते रहे थे।

सम्राट् तुरन्त क' आंग यू-वी के प्रभाव मे आ गये और उनके निर्देशन मे तुरन्त सुधार का कार्यक्रम चालू करने मे लग गये। सन् १८९८ के ग्रीष्म मे शिक्षा व परीक्षा-प्रणालियो मे परिवर्तन, एक अनुवाद सस्था की स्थापना, अनेक कार्यहीन पद समाप्त करने, सेना के पुनस्सगठन को बढावा देने व अन्य अनेक सुधार करने के लिए शासनादेश जारी हुए।[१७]

शुरू से ही सम्राट् की कारररवाइयो का गभीर विरोध शुरू हो गया था। जैसे-जैसे समय कटता गया, यह विरोध उग्र होता गया और अत में राजमाता से हस्त-क्षेप करने को कहा गया। सुधारको को इस संभावना का डर था और अब उन्होने सम्राट् से अपनी सुरक्षा और 'प्राचीन बुद्ध' के विरुद्ध काररवाई करने का अनुरोध किया। अंत मे वह राजी हो गये। चीन के पुराने सिऊल स्थित प्रतिनिधि युआन शिह-क' आई जो बाद मे चीनी प्रजातत्र के राष्ट्रपति हुए, सुधारो के पक्षपाती समझे जाते थे। सुधारको ने उन्हें अपनी मंत्रणा मे आमत्रित किया, उन्हे चिहली प्रान्त का राज्यपाल नियुक्त किया और आदेश दिया कि वह टीटसीन जाकर वहाँ स्थित सेना का नेतृत्व सम्हालें, फौज लेकर ग्रीष्म भवन पर हमला बोले और राजमाता को पकड़ ले। यह सब करने की जगह उन्होने मचू वाइसराय जुग लू का साथ

लिया, जुग लू त्जू ह्सी का सबधी और निष्ठावान् समर्थक था। उनके आदेश से उसने सम्राट् को पकड लिया और कैद मे डाल दिया जहाँ दस वर्ष बाद उनकी मृत्यु हो गयी। इस प्रकार सुधार के पहले प्रयास का अत हो गया। क'आग यू-वी पीकिंग से भाग पर जापान पहुँच गये और वहाँ से चीन मे सवैधानिक राजतत्र की स्थापना के लिए आदोलन करते रहे। उनके अनेक अनुयायी भी भाग निकले, लेकिन कुछ पकड़े भी गये और मार डाले गये। सुधारो की पूरी अवधि एक सौ दिन की थी। सुधार-आंदोलन की असफलता से शासन-सत्ता रूढिवादियों के हाथ मे चली गयी और इस प्रकार परिस्थिति की बिल्कुल भिन्न प्रतिक्रिया आरम्भ हुई।

विदेशों द्वारा आक्रमण और जीवन की परिवर्तित परिस्थितियो के समक्ष मचू-शासन को अक्षमता की प्रतिक्रिया से ही सुधार-आदोलन चला था। असतोष तो शताब्दी के आरम्भ मे ही प्रकट होने लगा था और उसके उत्तरार्ध मे यह विशेष रूप से व्यापक होने लगा था, जब त'आई प'इग नेताओ की अक्षमता तथा केन्द्रीय शासन को मिली विदेशी सहायता से ही राजवश का सिहासन उलटने से बच गया था। उपद्रव, लूटमार, डाके, राहजनी—सभी इस उत्तरार्ध मे व्यापक रूप से मौजूद थे। सरकार विदेशियो से सन् १८४२, सन् १८५८–१८६० व सन् १८८४–१८८५ मे हार चुकी थी। अत मे वह जापानी आक्रमण से स्वय अपने क्षेत्र की रक्षा करने मे असमर्थ सिद्ध हुई थी। उसके अधिकारियो मे अधिकाश भ्रष्ट, अक्षम या दोनो ही थे; जो धनराशि राष्ट्रीय सुरक्षा पर खर्च होनी चाहिए थी वह दरबार के विलास और निजी मदो मे उड़ गयी थी; सरकारी पदो की खरीद-बिक्री होती थी और यह सिलसिला विधवा सम्राज्ञी (राजमाता) के मुख्य कचुकी तक और उसके द्वारा स्वय राजमाता तक चला गया था। मचू शासकों व अधिकारियों के विरुद्ध गभीर और सही अभियोग थे और असतोष की बढती हुई लहर उन्ही की दिशा मे चलती। किन्तु, सन् १८६९ से सन् १८९९ तक विदेशियो के कृत्यों के कारण जनता की शेष भावना उन्ही के विरुद्ध हो गयी। 'चीनी तरबूज के कटने' की प्रथम आंतरिक प्रतिक्रिया यही थी कि चीन की शक्ति बढाने के प्रयास किये जायँ ताकि विदेशी नोच-खसोट बन्द हो सके और यह काम पश्चिमी ढग पर सुधार व पुनस्सगठन द्वारा किया जाय। जैसा कि पीछे बताया गया है, यह आदोलन उन आतरिक परिस्थितियो के कारण विफल हुआ, जिन्होंने इस आदोलन को सभव बनाया था। जब शासन रूढ़िवादियो के नियत्रण में आया उनके पास समस्या का केवल एक समाधान था एकान्त की पूर्वस्थिति में वापस लौट जाना। उनका नारा था—'विदेशियो से छुटकारा पा लो तो सारी कठिनाइयाँ हल हो जायँगी।' सन् १८४० से सन् १८९९

तक की घटनाओं के पुनरावलोकन से यह बात समझना आसान होगा कि वे शासको की कमजोरियो से जनता का ध्यान हटा कर विदेशी-विरोध पर केन्द्रित करने मे क्यो सफल हो गये ।

## (९) मुक्का-आदोलन

वास्तव मे उन्हे केवल प्रवल जनभावना का लाभ भर उठाना था । सन् १८९९ मे देश भर मे विदेशी-विरोधी उपद्रव हुए । विदेशी शक्तियो के पहले के कारनामो से ये उपद्रव बखूवी समझ मे आ जाते है, किन्तु, सघर्ष के कारणो की सूक्ष्म विवेचना से यह समझ मे आ सकेगा कि उपद्रव विदेशी-विरोधी के साथ ही ईसाई-विरोधी भी क्यो थे । एक स्पष्ट कारण तो यही था कि विदेशी अपने को ईसाई कहते थे और देश के भीतर काम करने वाले पादरियो के कार्यकलाप से यह सबध स्पष्ट हो जाता था । किन्तु शुरू मे जो उपद्रव हुए वे विदेशियो से अधिक देशी ईसाईयो के विरुद्ध थे । इस प्रकार शत्रुता के बढाव का एक कारण अपना मत बदलने वाले चीनी ईसाई के पद व व्यवहार और इस देशी ईसाई व शेष जनता के प्रति विदेशी धर्म-प्रचारको के दृष्टिकोण मे मिलता है । इन देशी ईसाइयो को धर्मभ्रष्ट भगोडा समझा जाता था, जो ईसाई धर्म स्वीकार कर विदेशी सहायता और विशिष्ट स्थिति चाहते थे । वे विलक्षण रीति-रिवाजो का पालन करते थे जिस कारण कभी-कभी मनमुटाव पैदा होता था, और, इसमे भी अधिक महत्त्व की बात यह थी कि ये लोग पुरानी परिपाटी छोडकर प्राचीन सतो के उपदेशो का पूर्ण सम्मान नही करते थे । यह विदेशी धर्म स्वीकार करने का सीधा निष्कर्ष माना जाता था । इससे भी अधिक वास्तविक महत्त्व की बात यह थी कि ये लोग बहुधा गाँवो के उत्सवो व मनोरजन समारोहो का व्यय भार बटाने से यह कह कर इनकार कर देते थे कि ये उत्सव व्रात्य या अनीश्वरीय है और उनके नये धर्म के विरुद्ध है । ये उत्सव सामूहिक रूप से मनाये जाते थे और ग्रामीण-जीवन की नीरसता तोड़ने के थोड़े साधनो मे से थे, इसलिए उनका विरोध करने से गाँववालों की शत्रुता होती थी । इसके अतिरिक्त इन लोगो द्वारा उत्सवो के खर्च मे हाथ न बटाने से शेष लोगो पर व्यय भार बढ जाता था । इन सब बातो के अलावा यह भी सदेह होता है कि ये धर्म बदलने वाले नये मत के फलस्वरूप अपने को अन्य जनता से श्रेष्ठ नैतिकता वाला मानने लगते थे । और जो लोग प्राचीन और परखे हुए विश्वासो मे पले थे और अब तक उन्हीं से सम्बद्ध थे, वे अपने को हीन नही मानते थे, और इस प्रकार धर्म बदलने वालों का व्यवहार बुरा लगता था ।

सघर्षण के इन कारणो मे यह जनविश्वास भी जुड़ जाता था कि ईसाई बच्चो

की आँखे निकाल लेने जैसी अमानवीय अनोखी रीति-रिवाज किया करते है, देश के भीतरी भागो मे यह विश्वास सन् १९०० तक बहुत मजबूती से लोगो के दिलो मे बना हुआ था, यद्यपि जहाँ भी ऐसे आरोपो की जाँच हुई थी, वही वे गलत पाये गये थे, किन्तु तब भी ये विश्वास ईसाइयो के विरुद्ध शत्रुभावना पैदा तो करते ही थे।

इन सब कारणो से भी गभीर कारण यह बात थी कि रोमन कैथोलिक पादरी बहुधा और प्रोटेस्टेण्ट धर्म प्रचारक कभी-कभी मुकदमो मे देशी ईसाइयो की ओर से हस्तक्षेप करते थे और उन्हे विदेशी के विशेष अधिकार-सपन्न व विशेष स्थिति वाला साबित करना चाहते थे। पादरी जब अधिकारियो से बात करने जाते तब अपने लिए दण्डनायक के रुतबे की माँग करते। इससे अनेक अधिकारियो के मन मे इनके विरुद्ध शत्रुता के भाव बढते थे और अनेको के मन मे ये शत्रुभाव अकुरित होते थे और इस प्रकार ये अधिकारी देशी ईसाइयो पर होने वाले उत्पीडन व पादरियो पर होने वाले हमलो से आँखें मूँद कर उन्हे मौन अनुमति प्रदान कर देते थे।

इस प्रकार सन् १८९९-१९०० मे जो उपद्रव हुए, उन्हे देशी व विदेशी ईसाइयो के चीनियो से निजी व सार्वजनिक सबधो के आधार पर आसानी से समझा जा सकता है। इस स्थिति मे विदेशी आक्रमणो और उनसे उत्पन्न चीन के विभाजन की आशका की भावना और जुड जाय तो विदेशी-विरोध की भावना का विकास सरलतापूर्वक समझा जा सकता है। यह सही है कि चीनी क्षेत्र पर विदेशियो का बढाव सन् १८९९ मे थम गया था, पर चूकि सन् १८९७-१८९८ मे मिली रिआयतो को सन् १९०० तक प्राप्त करने के प्रयास जारी रहे, जनता की समझ मे उन घटनाओ का पूरा महत्व बाद मे ही आया।

शुरू मे यह अशाति प्रान्तो मे प्रकट हुई यद्यपि सन् १८९९ में पीकिंग मे भी परिस्थिति इतनी गभीर हो गयी थी कि कुछ समय तक दूतावासो पर सैनिको का पहरा बढाना पड़ा था। विदेशियो को उनके चीनी मित्र खुले आम बताते थे कि विदेशियो व उनके प्रभाव को देश भर से निकाल देने का योजनाबद्ध प्रयास हो रहा है। किन्तु विदेशियो ने इन चेतावनियो पर ध्यान नही दिया और ऐसे प्रयास को कल्पनातीत बताया। देश के विभिन्न भागो मे हो रही घटनाओ के विरुद्ध त्सुगली यामेन को विरोधपत्र अवश्य भेजे गये। पर, जिस आँधी के बादल उमड-घुमड़ रहे थे और जो मई, १९०० तक इतने गहरे हो गये थे कि पीकिंग मे दूतावासों की रक्षा के लिए पहले से अधिक सैनिक लगाने पड़े थे, उनकी ओर गभीरतापूर्वक किसी ने ध्यान नहीं दिया था।

विदेशी-विरोधी आदोलन का सबसे अधिक उग्र रूप शानतुग प्रान्त मे हुआ। पीकिंग के दूतावासों मे एक के बाद एक सगठित गिरोहो द्वारा किये गये उत्पातो के समाचार आने लगे, इन गिरोहो मे सबसे अधिक सशक्त और प्रख्यात गिरोह "समरस मुक्को का सगठन" या बॉक्सर गिरोह था। यह मुक्कावाद शानतुग से बढ़कर चिहली प्रान्त पहुँचा और सन् १९०० मे इस सगठन के सदस्य पीकिंग में भी अपने अनोखे रीति-रिवाज या सस्कार करने लगे। शुरू से ही उन्हे दरबार मे सशक्त समर्थन प्राप्त था, प्रान्तो मे उन्हे अधिकारियो से भी समर्थन मिला हुआ था, किन्तु दरबार ने खुलकर औपचारिक रूप से मुक्कावाद का समर्थन दूतावासो पर घेरे पड़ने के बाद ही किया। इस आदोलन के जन्म से सरकार का क्या सबध था, यह कभी पूरी तरह से साबित नही हो सका, पर यह स्पष्ट है कि मुक्कावाद की अतिम मजिल मे सरकार उसका समर्थन कर रही थी।

मुक्केबाजो के पीकिग मे प्रभाव व नियत्रण बढने पर दूतावासो की स्थिति अर्ध-घेराबन्दी की हो गयी और बाहरी ससार से उनका सपर्क बहुत हद तक कट-सा गया। इसके फलस्वरूप विदेशियो की रक्षा के लिए बाहर से और अधिक सेना लाने का प्रयास किया गया। जब एडमिरल सीमूर की सेना टीटसीन से आगे बढ रही थी, उत्तरी चीन भेजे गये विदेशी सैनिक जत्थो के सेनापतियो ने निर्णय किया कि टीटसीन का मार्ग बलात् खोल लिया जाय, इस निर्णय का केवल अमरीकियो ने विरोध किया था। अतएव, ताकू स्थिति दुर्गो पर गोलाबारी की गयी। इससे, वास्तव में चीन व विदेशी सरकारो के बीच युद्ध की स्थिति उत्पन्न हो गयी और इसी के फलस्वरूप चीन दरबार व चीनी सैनिको ने मुक्केबाजो को खुला सहयोग देना शुरू कर दिया। अधिकाशत' इसी कारण, सीमूर-अभियान पीकिंग तक पहुँचने मे असफल रहा। दूसरी ओर इसकी प्रतिक्रिया दूतावासो के विरुद्ध भी हुई, क्योकि अर्ध-घेरे की स्थिति दूतावासो पर खुले आक्रमणो मे परिवर्तित हो गयी।

दूतावासो की घेरेबन्दी सन् १९०० मे जून से अगस्त तक कायम रही जब मित्र-राष्ट्रो के सैनिक अभियान ने घिरे हुए विदेशियो को मुक्त किया। इससे सारे देश मे मुक्केबाजो का आदोलन ध्वस्त हो गया। याग्त्सी क्षेत्र व दक्षिणी प्रान्तो के अधिकारियो ने इस आन्दोलन मे भाग लेने से इनकार कर दिया था और दरबार के "विदेशियों को समुद्र में खदेड़ दो" के आदेश के बावजूद विदेशी-विरोध के प्रभाव को कम करने का प्रयास किया था। अतएव मित्रराष्ट्र अभियान को केवल उत्तर में नियत्रण स्थापित करना था। अतएव, सन् १९०० के विद्रोह को सही अर्थ में राष्ट्रीय आदोलन नही कहा जा सकता।

## (१०) मुक्केबाजी का परिणाम

जब विदेशी फौजे पीकिंग के निकट पहुँची, दरबार वहाँ से भाग निकला, जैसा कि उसने ऐसी ही परिस्थिति मे स॰ १८६० मे किया था, और नगर विदेशियो के नियत्रण मे आ गया। चीन के भविष्य का प्रश्न फिर एक बार सबके सामने आ गया। विदेशियो के समक्ष तीन सभव वैकल्पित नीतियाँ थी—वे जापान से युद्ध के बाद के वर्षो मे चीन के विभाजन की जो रूप-रेखा उभरी थी, उसी के अनुरूप चीन का विभाजन पूरा कर दे सकते थे, वे अतरराष्ट्रीय सहायता व समर्थन से चीन मे एक नये राजवश की स्थापना कर सकते थे, और वे मचू राजकुल को वापस पीकिंग लाकर उसे शासन को मजबूत, पुनस्सगठित और आधुनिक बनाने मे सहायता दे सकते थे।

विदेशी शक्तियो को तीसरे विकल्प के लिए राजी करने मे अमरीका ने पहल की। और इस प्रकार मचू-राजवश को ११ वर्ष का नया जीवन प्रदान कर दिया, जो उसने अर्जित नही किया था। जब दूतावासो पर घेराबन्दी चल रही थी तभी अमरीकी परराष्ट्र सचिव जॉन हे ने विदेश स्थित अमरीकी प्रतिनिधियो को एक गश्ती पत्र मे लिखा था—"अमरीका की नीति समस्या का ऐसा समाधान ढूँढने की है, जिससे चीन मे स्थायी शाति व सुरक्षा हो, चीन की क्षेत्रीय व प्रशासकीय अविच्छिन्नता कायम रहे, मित्र राष्ट्रो को अतरराष्ट्रीय कानून व सधियो द्वारा प्राप्त अधिकारो की सुरक्षा हो तथा चीनी साम्राज्य से निष्पक्ष व समान व्यापारिक सुविधाओ का सिद्धान्त ससार के लिए सुरक्षित हो।"[१८] उन्होने चीन-सरकार से समझौते के लिए सभी विदेशो से सहयोगात्मक कदम उठाने की भी घोषणा की। यह नीति-घोषणा उस नीति की ओर वापस लौटने की घोषणा थी, जो सन् १८५७ मे बनी थी और एनसन बर्लिंगेम की सहयोग-नीति मे जिसकी औपचारिक अभिव्यक्ति हुई थी। अन्य देशों ने अतत अमरीकी सिद्धान्त स्वीकार कर लिए और दूतावासो के स्वतत्र होने के उपरान्त उन्होने चीनी सरकार के सामने सामूहिक रूप से अपनी माँगे पेश की, यद्यपि इन माँगो मे पूरी समरसता नही थी। यह चीन सरकार की समझौते की इच्छा का अभाव नही, यही समरसता का अभाव था, जिससे समझौते की बात सन् १९०१ की ग्रीष्म ऋतु तक चलती रही, अततः बॉक्सर-सधि के पूर्वलेख पर हस्ताक्षर हुए और उत्पात-काण्ड औपचारिक रूप से समाप्त हुआ।

विदेशियो से छुटकारा पाने के चीन के प्रयास का परिणाम यह हुआ कि (१) चीन को ४५ करोड़ ताएल की क्षतिपूर्ति स्वीकार करनी पड़ी और समुद्री सीमा-शुल्क व नमक-कर से इसकी वसूली बँध गयी, जिसके फलस्वरूप उसकी आर्थिक

समस्याएँ और भी बुरी तरह जटिल हो गयी, (२) सीमा-शुल्क की दर बढाकर प्रभावकारी पाँच प्रतिशत कर दी गयी, ताकि चीन क्षतिपूर्ति की राशि अदा कर सके और शुल्क-दर अशत' यथामूल्य आधार की जगह पूर्णत विशिष्ट सामानो के आधार पर कर दी गयी , (३) चीन के कुछ अधिकारियो को मृत्यु व अन्य दण्ड दिये गये ; (४) पीकिंग मे दूतावासो की रक्षा के लिए विदेशी फौजे स्थायी रूप मे रहने लगी और पीकिंग से समुद्रतट तक के क्षेत्र पर विदेशी फौजे का पहरा हो गया, (५) त्सुगली यामेन की जगह परराष्ट्र कार्यालय स्थापित हो गया और विदेशियो के हित मे उस शिष्टाचार का पुनरीक्षण हो गया, जो सम्राट् से भेट करने के समय बरता जाता था, (६) जिन-जिन नगरो मे विदेशी-विरोधी उपद्रव हुए थे, उन सभी स्थानो पर पाँच वर्ष के लिए परीक्षाएँ स्थगित कर दी गयी, और (७) विदेशो से शस्त्रास्त्र के आयात पर दो वर्ष के लिए रोक लगा दी गयी और जब तक विदेशी चाहते यह रोक दो-दो वर्ष की अवधि के लिए बढायी जा सकती थी। समझौते की औपचारिक शर्तों मे ये बाते शामिल थीं।

भविष्य के विकास की दृष्टि से, चीन में विदेशी शक्तियो के बढाव के विरुद्ध रूढिवादियो के प्रतिरोध की समाप्ति का अन्य महत्त्वपूर्ण परिणाम उस युग का श्रीगणेश भी था, जिसमें चीन को सशक्त बनाने व राजवश को कायम रखने के लिए रूढिवादी सुधार शुरू हुए और 'स्वर्गिक' साम्राज्य पर यूरोपीय सघटन का दूसरी ओर बदलाव हुआ।

# आठवाँ अध्याय

## रूस-जापान युद्ध

### (१) रूस और जापान—स्वाभाविक शत्रु

चीन और जापान के युद्ध के दस वर्ष बाद ही जापान ने अपने को एक ऐसे शत्रु से युद्ध मे व्यस्त पाया जो चीन के मुकाबले मे कही अधिक सशक्त था । चीन से युद्ध में सफलता के बाद कोरिया मे पूर्ण नियत्रण प्राप्त करने की जगह जापान ने पाया कि सिऊल के नियत्रण के सघर्ष मे उसके प्रतिस्पर्धी के रूप मे क्षयग्रस्त चीनी साम्राज्य की जगह एक और अधिक खतरनाक विरोधी ने ले ली है । शिमोनोसेकी की सधि के फौरन बाद कोरिया के मामलो मे रूसी प्रभाव फिर से आ गया था और जापान कोरिया-सरकार के नियत्रणकर्त्ता के स्थान के लिए विस्तारवादी रूस को अपना भागीदार बनाने को बाध्य था । इसके अतिरिक्त, युद्ध के बाद, रिआयतो की होड़ मे रूस ने मचूरिया मे अपनी दिलचस्पी का क्षेत्र बना लिया था, एक बन्दरगाह का पट्टा ले लिया था, और लिआओतुग प्रायद्वीप मे एक ऐसा सशक्त नौ सैनिक अड्डा बना लिया था, जिससे रूस पीकिंग और सिऊल दोनो के लिए खतरा बन सकता था । रूस का यह प्रसार इस प्रकार का था कि जापान के लिए चिन्ता का विषय बन गया और सुदूरपूर्व मे रूस का मुख्य विरोधी अनिवार्यतः जापान हो गया ।

अब हितो के इस टकराव की ओर ध्यान देना उपयुक्त होगा । जैसा कि अभी ही कहा गया, यहाँ दो भिन्न क्षेत्रो—मचूरिया व कोरिया—का प्रश्न था और इन दोनो क्षेत्रो की समस्याओ को अलग-अलग समझना ही उपयुक्त होगा । कोरिया व मचूरिया मे रूस व जापान के हितो को समझने के बाद मचूरिया मे रूस के हितों के विकास व नीति और विदेशी शक्तियो द्वारा रूस के साइबेरिया से दक्षिण मे प्रसार रोकने के लिए उठाये गये कदमो और अत मे कोरिया मे अपने को कायम रखने के जापानी प्रयासो की ओर ध्यान देने से समस्या समझने मे आसानी होगी ।

### (२) सन् १९०० में मंचूरिया की स्थिति

किन्तु, मचूरिया के अतरराष्ट्रीय दिलचस्पी के केन्द्र बनने के पूर्व चीनी साम्राज्य में उसकी स्थिति समझ लेना आवश्यक है । चीन के उत्तरी भाग मे स्थित, चीन के असली अट्ठारह प्रान्तो से बडी दीवार द्वारा पृथक्, ३,६५,००० वर्गमील का यह

क्षेत्र ३९ व ५३ ३० उत्तरी अक्षाशो के बीच स्थित होने के कारण जाडो मे बहुत ठण्डा व गर्मियो मे गर्म रहता है, किन्तु उत्पादन की दृष्टि से तब भी बहुत महत्त्व-पूर्ण है। सन् १८९५ मे मचूरिया की मुख्य पैदावार सोयाबीन थी, जो बहुत बड़ी मात्रा मे चीन जाती थी। जापान ने सन् १८९० के बाद ही मचूरिया से सोयाबीन का आयात शुरू किया था और तभी से जापान इसके लिए सबसे अधिक महत्त्वपूर्ण बाजार बन गया था। सोयाबीन खाद्य पदार्थ है। वह तेल, चटनी, अचार बनाने के काम आता था और उसकी खली खाद के काम आती थी। इसके अतिरिक्त, मचूरिया मे गेहूँ, मोटे अनाज, काओलिआग व अन्य अन्न भी खूब पैदा होते थे और सन् १९०० तक यह स्पष्ट हो गया था कि मचूरिया भविष्य के लिए एक बड़ा भोज-नागार बन सकता है। कृषि उपज के अलावा वहाँ लकडी का विशाल भण्डार था और कोयला, लोहा, सोना जैसे खनिज पदार्थो का भी बाहुल्य था। ऐसे क्षेत्र पर आधिपत्य जमाने के लिए युद्ध भी किया जा सकता था।

राजनीति व शासन की दृष्टि से कोरिया व मचूरिया मे अतर यह था कि मचूरिया चीनी साम्राज्य का अविच्छिन्न अंग था और उसका शासन सीधे पीकिंग से होता था। इसके अतिरिक्त, चीन का राजवश यही का था और इसलिए उसकी इस क्षेत्र मे विशेष दिलचस्पी थी। इसी दिलचस्पी के कारण मचुओ ने नीति बना ली थी कि चीनी प्रजा को बडी दीवार के उत्तर मे न आने दिया जाय। किन्तु, सन् १९०० तक यह नीति चलाना खत्म हो चुका था और शानतुगव चिहली प्रान्तो से इतनी भारी सख्या मे चीनी यहाँ आकर बसने लगे थे कि मचुओ की आबादी उनके मुकाबले मे कम हो गयी थी। इस देश के आर्थिक विकास का वास्त-विक श्रेय इन चीनी प्रवासियो को ही मिलना चाहिए।

क्षेत्र पर कानूनी आधिपत्य, आबादी मे बाहुल्यता, आर्थिक विकास के श्रेय— सभी दृष्टियो से मचूरिया चीन का एक वैसा ही भाग था, जसा कि अट्ठारह में से कोई अन्य प्रान्त। दूसरे शब्दो मे, सन् १८९५ के बाद रूस चीनी साम्राज्य का एक अग ही हडपने का प्रयास कर रहा था और जहाँ तक रूसी बढ़ाव रोकने का सबध है, जापान चीन का ही हित-साधन कर रहा था।

यह क्षेत्र—जिसमें सन् १९०० के बाद इतनी दिलचस्पी पैदा हो गयी थी— शासकीय दृष्टि से तीन भागो मे बँटा था। दक्षिण में फेगतीन प्रान्त था, जिसमे सन् १८९८ के पहले क्वांतुग या लिआओतुग प्रायद्वीप शामिल था आर जो मंचू-रिया का सबसे ज्यादा घना बसा हुआ व सबसे अधिक विकसित भाग था, इसके उत्तर मे किरिन प्रान्त था, जहाँ आबादी कम थी और जो मचू सैनिक शासन में

था; और सबसे उत्तर मे और लगभग अविकसित प्रान्त आ हीलिंगकिआग। आबादी का बढाव दक्षिण से हुआ था और इसलिए जैसे-जैसे उत्तर की ओर बढते जाते थे, आबादी कम घनी होती जाती थी। किन्तु आबादी का यह बढाव पूरी तरह चीनी ही था, क्योकि उत्तर से रूसी प्रवासी यहाँ नही आये थे—रेल बनाने व सैनिको के रूप मे आये रूसियो को छोडकर यहाँ कोई रूसी आबादी नही थी। यही स्थिति जापान से युद्ध होने के समय तक थी।

## (३) मचूरिया में रूस

मचूरिया व कोरिया मे रूस की दिलचस्पी राजनीतिक व सामरिक अधिक थी, आर्थिक कम। पोर्ट आर्थर व डालनी (तेलीनवान) पर कब्जे के पूर्व रूस के बढाव का कारण अवश्य ही आर्थिक था। सन् १८९६ से १८९९ तक रूस की नीति यही थी कि उत्तरी मचूरिया मे साइबेरिया रेलवे लाइन डालने की छूट लेकर चीन मे शातिमय ढग से आर्थिक क्षेत्र मे प्रवेश किया जाय। किन्तु इस आर्थिक प्रवेश के पीछे एक राजनीतिक हित भी था। रूस के चीन मे ऐसे आर्थिक या व्यापारिक हित निहित नही थे कि वह सरकार से विशेष सुविधाओ व अधिकारो की माँग कर सकता। किन्तु रूसी सरकार को इसमे अवश्य दिलचस्पी थी कि रेलवे लाइनें डाली जायँ और चीन व मचूरिया मे रूसी हितो का विकास हो, ताकि चीनी साम्राज्य के विघटन, या पूर्ण विघटन के पूर्व ही उसके बड़े क्षेत्र रूसी राज्य मे शामिल कर लिये जायँ, और इसके लिए पहले ऐसे क्षेत्रो पर आर्थिक आधिपत्य करने की आवश्यकता थी।

किन्तु, रिआयतो के लिए भगदड के बाद शांतिमय आर्थिक प्रवेश का विचार बदल गया, क्योकि चीन के तत्काल विदेशी क्षेत्रो मे विभाजित हो जाने की सभावना पैदा हो गयी। चीन की रक्षा के घोषित इरादे के बावजूद[1] रूसी सरकार ने चीनी क्षेत्र पर कब्जा कर लिया—यह सही है कि यह कब्जा पट्टे पर ही लिया गया था—और इस क्षेत्र के व्यावसायिक विकास की जगह उसने पोर्ट आर्थर को पूर्व का सबसे सशक्त नौसैनिक अड्डा बना दिया और वहाँ व्यवसाय पर रोक लगा दी (डालनी व्यावसायिक बदरगाह के रूप मे खुला था)। अब रूस की मचूरिया-सबधी नीति अधिकाधिक आक्रामक और सरकारी अधिकार हस्तगत करने की हो गयी। यह नीति-परिवर्तन, जैसा कि काउण्ट वीटे ने अपने सस्मरण मे कहा है, अनेक रूसी राजमर्मज्ञो को भी पसन्द नही था। किन्तु, वीटे ने यह भी कहा है कि मचूरिया की शतरज पर अनेक रूसी चालो का उद्देश्य राजनीतिक प्रसार था। रूस लिआओतुग प्रायद्वीप चाहता था, क्योकि उसे अपने जहाजी बेड़े के लिए ऐसा बन्दरगाह चाहिए था, जो बारहों महीने खुला रहे और बर्फ से न जमे; उसने रेलें बनायी, ताकि मंचू-

रिया पर नियत्रण रह सके । और सन् १९०० के बाद उसने मचूरिया को पीकिंग के नियत्रण से निकालने की हर सभव कोशिश की । सक्षेप मे, रूस की नीति उस राज्य पर जानबूझ कर हमले की थी, जिससे उसके पारस्परिक अनाक्रमण-सधि व एक दूसरे की रक्षा का समझौता था ।

यदि मचूरिया मे रूस की दिलचस्पी शुरू-शुरू मे अशत आर्थिक थी तो कोरिया मे यह दिलचस्पी विशुद्ध रूप से राजनीतिक थी । कोरिया मे रूस का व्यापार उल्लेखनीय नही था, दक्षिणी छोर को छोडकर उससे कोई क्षेत्रीय सपर्क भी नही था, इसके अतिरिक्त, न तो रूस के पास ऐसा औद्योगिक क्षेत्र था, जिसकी खपत के लिए विदेशी बाजार जरूरी हो और न ऐसी फालतू पूँजी थी, जिसका राष्ट्रीय सरक्षण मे निर्यात आवश्यक हो । कोरिया मे अपने पैर जमाने के लिए रूस ने जो भी कदम उठाये, वे उसकी आक्रामक नीति के ही परिचायक थे और यह नीति रूसी साम्राज्य की आर्थिक आवश्यकताओ के आधार पर नही बनी थी ।

## (४) जापान के हित

रूस की खास दिलचस्पी मंचूरिया मे थी, और जापान की कोरिया मे । वहाँ जापान ने काफी व्यावसायिक व वित्तीय हित बना रखे थे । और जैसा कि कहा जा चुका है,[२] जापान अपने सुरक्षात्मक हित मे कोरिया को किसी विदेशी शक्ति, विशेषकर रूस जैसी सशक्त व स्वभावतया प्रसारवादी शक्ति, के हाथ मे पड़ने से बचाना चाहता था । कोरिया की जापान के हृदय पर लक्षित तलवार से तुलना की गयी है और यदि वह तलवार रूस के हाथ मे पडने का डर हो तो इस तुलना का महत्त्व बढ़ ही जाता था ।

सन् १९०५ के पहले मचूरिया मे जापान के आर्थिक हित सभाव्य ही थे, वास्तविक कम थे । जापान ने मचूरिया की मुख्य उपज सोयाबीन का आयात शुरू किया ही था और दूरदर्शी जापानी राजमर्मज्ञ मचूरिया से भोजन व कच्चे माल के आयात की सभावनाएँ समझ रहे थे । किन्तु, बीसवी शताब्दी के शुरू मे जापान की खाद्य-समस्या इतनी गंभीर नही थी और वहाँ उद्योग अभी पनप ही रहे थे । चीन से युद्ध के कारण जापान में औद्योगिक विकास को प्रोत्साहन मिला था और चीन से मिली क्षतिपूर्ति की राशि से इसे खूब बढ़ावा मिला । सन् १९०० के बाद के चार वर्षों में जापान मे अर्थव्यवस्था का आधार कृषि की जगह उद्योग होने के लक्षण निश्चित रूप से प्रकट होने लगे थे, किन्तु रूस के साथ हुए युद्ध के बाद यह लक्षण और स्पष्ट हुए। इस प्रकार मंचूरिया वह क्षेत्र नही था, जहाँ जापान के महत्त्वपूर्ण आर्थिक हितो का कोई अस्तित्व हो । किन्तु रूस की एकाधिकार की नीति के संबध मे जापान

ने जो दृष्टिकोण अपनाया उसे समझने के लिए उसके सभाव्य हितो पर ध्यान देना होगा।

जापान की अतिरिक्त आबादी को मचूरिया में बसाने के लिए उसे अपना उपनिवेश बनाने मे जापान ने बाद मे जो दिलचस्पी ली, उसे सन् १९०४ मे ही अधिक महत्त्व देना उचित न होगा, १९०५ के बाद की नीति के कारण ढूँढते समय आर्थिक दिलचस्पी व अतिरिक्त आबादी बसाने के हितो को आशिक कारण भले ही मान लिया जाय, पर रूस से जब सघर्ष बढ रहा था, तब इन बातो का नीति-निर्धारण मे बहुत महत्त्व नही था।

सन् १९०५ तक जापान ने जो कदम उठाये, उसके अन्य दो महत्त्वपूर्ण मौलिक कारण थे। सन् १८९५ मे ही जापान ने एशिया महाद्वीप की मुख्य भूमि पर अपने क्षेत्रीय प्रसार की अभिलाषा प्रकट की थी, जब उसने लिआओतुग प्रायद्वीप के लिए अपनी माँग पेश की थी। इससे उसकी आक्रामक व प्रसारवादी नीति प्रकट होती है जिसे तीन देशो के हस्तक्षेप ने अस्थायी रूप से सीमित कर दिया था। जापान मचूरिया मे पैर जमाने को उतना ही उत्सुक था, जितना रूस—और दोनो का उद्देश्य भी एक था—साम्राज्य-निर्माण। किन्तु पैर जमाने की जगह न पा सकने पर वह यथास्थिति से सतुष्ट था, किन्तु रूस के वहाँ घुस जाने से यथास्थिति तो रही ही नही, जापान की सुरक्षा को खतरा अलग पैदा हो गया। रूस अपने प्रसार के लिए जो भी कदम उठाता था; वे उसे कोरिया से—और कोरिया के द्वारा जापान से—अधिकाधिक सपर्क में ला देते थे। पोर्ट आर्थर और कोरिया की सीमा पर खड़ा आक्रमणकारी रूस जापान की कोरिया मे जो स्थिति थी, उसे अप्रत्यक्ष रूप से और नैकट्य के कारण स्वय जापान की सुरक्षा के लिए प्रत्यक्ष रूप से खतरा था। फलत, जहाँ जापान मचूरिया पर अपना आधिपत्य चाहते हुए भी उसके नियंत्रण के लिए व्ययसाध्य युद्ध करने की जगह चुप बैठना पसन्द करता, वहीं वह कोरिया में अपनी स्थिति मजबूत हुए बिना एक सशक्त यूरोपीय देश को वहाँ जमने से युद्ध ठान लेना ही अधिक उपयुक्त समझता। इस नीति का अनुसरण करते हुए जापान ने युद्ध टालने के लिए रूस से समझौता कर लेने की इच्छा प्रकट की; इस समझौते का आधार—जापान के दृष्टिकोण से—यह हो सकता था कि रूस कोरिया में जापान की सर्वोपरिता स्वीकार कर ले; रूस ने समझौते की बात करने से इनकार कर दिया। इसलिए यह मानना होगा कि रूस की भाँति जापान की भी दिलचस्पी मंचूरिया मे होने के बावजूद, रूस के दक्षिण की ओर बढाव ने ही जापान के साथ उसके युद्ध को अनिवार्य बना दिया।

## (५) सन् १९०० व उसके बाद की रूसी नीति

मुक्केबाजो के विद्रोह के समय, सन् १९०० मे, रूस के मचूरिया मे जो हित थे, उनका सक्षिप्त वर्णन अभीष्ट है। उस हस्तक्षेप का नेतृत्व करने के बदले मे, जिससे चीन को लिआओतुग प्रायद्वीप मिल गया था, रूस को चीनी गाँव, मचूली वापस से ब्लाडीवोस्टक तक, उत्तरी मचूरिया मे अपनी ट्रास-साइबेरियन रेलवे लाइन डालने की अनुमति मिल गयी थी और बाद की एक उपसधि से उसने हारबिन से पोर्ट आर्थर तक इस लाइन की एक दक्षिण शाखा बनाने का भी अधिकार प्राप्त कर लिया था। इन रेलो के निर्माण या संचालन मे चीन का केवल इतना योग था कि उसने उस रूसी-चीनी बैंक मे ५० लाख ताएल लगाये थे, जो सन् १८९६ मे एक रूसी चार्टर द्वारा बना था, चीन को बैंक द्वारा स्थापित रेलवे लाइन बनाने वाली कम्पनी का अध्यक्ष नियुक्त करने का भी अधिकार था। इस अध्यक्ष का कार्य यह था कि वह देखे कि बैंक व कम्पनी उन अधिकारो का अतिक्रमण तो नही कर रही है, जो रिआयतो-संबंधी समझौतो द्वारा उन्हे प्राप्त हुए थे।

रूसी-चीनी निगमन व नियंत्रण मे बिलकुल रूसी ही था। चीन-सरकार ने जो योजनाएँ इसे सौपी थी, उनमें धन लगाने के अतिरिक्त, इस बैंक को रेलो के निर्माण के लिए तथा निर्मित होने के बाद, उन्हे चलाने के लिए एक निगम की स्थापना का भी अधिकार था। जो कम्पनी उत्तरी मचूरिया मे रेलवे लाइन डाल रही थी, वह चीनी पूर्वी रेलवे कम्पनी कहलाती थी, जो दक्षिण रेलवे लाइन बना रही थी वह मचूरिया रेलवे कम्पनी कहलाती थी, किन्तु, इन दोनो कम्पनियो को रूसी सरकार रूसी संगठनों की भाँति नियत्रित व निर्देशित करती थी। रेले बनाने में जो धन लगा था, वह रूस से नही आया था, क्योकि वह तो स्वयं अपनी आवश्यकताओं की पूर्ति के लिए विदेश से भारी कर्ज ले रहा था; बैंक ने यह धनराशि फ्रास से प्राप्त की थी। रुपया लगानेवाले को रूसी सरकार ने गारण्टी दी थी, रेलवे की सम्पत्ति बंधक नहीं रखी गयी थी। बैंक के अन्य कार्यों व अधिकारो का वर्णन ऊपर किया जा चुका है।[३] अनेक समझौतों द्वारा चीन पर रेलवे की रक्षा का उत्तरदायित्व डाल दिया गया था, किन्तु कपनी को रेलवे लाइनो के निर्माण के लिए व उन्हे ढंग से चलाने के लिए आवश्यक भूमि हस्तगत करने और उस भूमि के "प्रशासन का पूर्ण एकाधिकार" प्राप्त था।

मचूरिया में रेलवे लाइन डालने के अतिरिक्त रूस ने लिआओतुग प्रायद्वीप का पट्टा भी ले रखा था। यह पट्टा उसने अपने पहले के इस वक्तव्य के बाद भी (जापान द्वारा इस प्रायद्वीप पर आधिपत्य की माँग के समय) कि इस क्षेत्र पर विदेशी

नियत्रण से पीकिंग के लिए सीधा खतरा पैदा होगा और इसे बरदाश्त नही किया जा सकेगा, प्राप्त किया था। चीन को यह क्षेत्र वापस सौप देने से जापान को बुरा लगा था, पर इसके फौरन बाद ही रूस के वहाँ घुस आने से जापान के लिए सकट उत्पन्न हो गया था। यह सकट वास्तविक लगने लगा, जब रूस ने पोर्ट आर्थर की इतनी मजबूत किलेबन्दी शुरू कर दी, जिससे लगा कि रूस उस पट्टे पर २५ वर्ष की अवधि के बाद भी बहुत समय तक डटे रहने के इरादे मे है। लिआओतुग प्राय-द्वीप मे रूसी नियत्रण मे व्यावसायिक बन्दरगाह होना ही बुरा था, नौसैनिक अड्डा तो बहुत खतरनाक था।

किन्तु रूस ने मचूरिया मे अपने असली इरादे सन् १९०० के बाद ही प्रकट करने शुरू किये। जब चीन मे मुक्केबाजो का उपद्रव हुआ, उसी समय मचूरिया में अशाति हुई थी। लुटेरे साधारण से अधिक सक्रिय हो गये थे। दक्षिण की भाँति विदेशी-विरोधी भावना बढ गयी और मुक्केबाज भी वहाँ दिखायी देने लगे। फलत, रूस ने मचूरिया मे रेलवे लाइन की रक्षा के लिए अपने सैनिक तैनात कर दिये। जब विभिन्न विदेशो ने पीकिंग के दूतावासो की घेरेबन्दी समाप्त करने के लिए सयुक्त-अभियान किया तो उसमे रूस ने भी भाग लिया, पर साथ ही रूसी सैनिक रेलवे क्षेत्र को केन्द्र बनाकर मचूरिया मे फैलने लगे थे। कुछ समय के लिए चीनी सरकार की सत्ता का स्थान रूसी फौजी कमान ने ले लिया था। अन्य देशो से कह दिया गया था कि रूस ने जो कब्जा किया था, वह अस्थायी था, लुटेरो व मुक्केबाजो पर नियंत्रण करने मे चीन सरकार की क्षमता न होने के कारण ही यह कदम उठाना पड़ा था; व विदेशी अर्थात् रूसी हितो की रक्षा मे चीन सरकार के समर्थ होते ही रूसी फौजे हटा ली जायँगी और नियत्रण चीन के हाथ मे दे दिया जायगा।

नवम्बर १९०० मे[४] रूसी सेनापति और चीनी वाइसराय के बीच एक समझौता (त्सेग-एलेक्सीफ उपसधि) हुआ जिसके अनुसार दक्षिणी (फेगटीन) प्रान्त चीनी नाग-रिक प्रशासन मे वापस लौट जाना था, किन्तु शर्त यह थी कि चीनी सिपाहियो से हथियार ले लिये जायँ और उनकी टुकड़ियो का विघटन कर दिया जाय, युद्ध का सारा गोला-बारूद रूस के सिपुर्द कर दिया जाय व जो किलेबदियाँ रूस के कब्जे मे न हों वे ध्वस्त कर दी जायँ। किन्तु रूसी फौजे प्रान्त से तभी हटने को थीं, जब रूसी सरकार की राय मे प्रान्त भर मे पूर्णत शाति स्थापित हो गयी हो। शाति व व्यवस्था का काम स्थानीय पुलिस द्वारा; व आवश्यकता पड़ने पर रूसी सहायता से, होना था। स्पष्ट था कि जब पुलिस और फौज दोनो मिलकर भी शाति स्थापित नही कर सकी थी, तब स्थानीय पुलिस किसी भी हालत में व्यवस्था नही कर सकती

थी, चीनी सिपाहियो के बलात् निरस्त्रीकरण का अर्थ था लगातार अशाति रखना। इससे रूस को अपनी फौजे वही रखने के लिए आवश्यक बहाना मिल जाता था। यह उपसधि केन्द्रीय सरकार से नही एक स्थानीय अधिकारी से की गयी थी और इसका कभी अनुसमर्थन सरकार द्वारा नही किया गया था। किन्तु इसके प्रकाशन से विदेशो मे खलबली हो गयी। इस पर रूस ने दूसरी बार घोषणा की कि मचूरिया मे आधिपत्य जमाने का उसका कोई भी इरादा नही है। किन्तु घोषणा मे रूसी सरकार ने इस बात पर जोर दिया कि जिस अव्यवस्था के कारण हस्तक्षेप करना पडा था, उसके फिर से प्रारम्भ न होने की गारण्टी चीन सरकार दे तभी वह मचूरिया से अपनी फोजे हटा सकता है।

मचूरिया से रूसी फौजे हटाने के लिए सन् १९०१ व सन् १९०२ मे समझौता-वार्ता चलती रही और रूस हमेशा फौजे हटाने के लिए चीन सरकार के समक्ष ऐसी शर्तें पेश करता रहा, जिनसे मचूरिया मे रूसी राजनीतिक प्रभाव बढता, दूसरी बार फिर हस्तक्षेप होता और रूस की फौजे वहाँ स्थायी रूप से टिक जाती।

इस बीच रूसी नीति के अन्य सकेत भी मिले। मुक्का-आदोलन जून १९०० में पीकिंग पहुँचा था, अगस्त तक दूतावासो के विरुद्ध की गयी घेरेबन्दी समाप्त हो गयी थी और मित्रराष्ट्र-अभियान का पूरे उत्तरी चीन पर पूरा नियत्रण हो गया था, क्योकि चीनी दरबार भाग कर सिआनफू चला जा चुका था। यह बहुत अच्छा अवसर था, जब सन् १८९८ में बने दिलचस्पी के क्षेत्रों के अनुरूप चीनी साम्राज्य का बटवारा कर उसे समाप्त किया जा सकता था। किन्तु, अमरीका ने तत्काल 'उन्मुक्त द्वार' नीति पर डटे रहने की घोषणा कर दी थी। उसने यह भी कहा था कि चीनी साम्राज्य की क्षेत्रीय व प्रशासकीय अविच्छिन्नता व स्वतन्त्रता को कायम रखने के आधार पर ही विदेशी शक्तियाँ चीन सरकार से समझौते की बातचीत चलाये। मुक्का-आदोलन के दमन के बाद समझौते की बातचीत के दौरान मे अमरीका ने लगातार यही दृष्टिकोण अपनाया और रूस के मचूरिया मे कब्जा जमाये रहने व त्सेग-एलेक्सीफ उपसधि मे वर्णित रूस द्वारा मंचूरिया से अपनी फौजे हटाने की शर्तों की चीन द्वारा स्वीकृति का लगातार विरोध किया। मुक्का-पूर्वसधि पर हस्ताक्षर होने के बाद भी समय-समय पर अमरीका ने अपना यह विरोध तब प्रकट किया, जब रूसी मांगों के कारण यह विरोध आवश्यक हो गया।

मंचूरिया में रूस ने जो नीति अपनायी थी, उससे उत्तर मे बढ रहे खतरे से सशकित होकर ब्रिटेन व जर्मनी एक दूसरे के निकट आ गये। सन् १९०० में उन दोनों के बीच एक समझौता हुआ, जिसके पालन का अनुरोध उन्होने अन्य विदेशी

शक्तियो से भी किया। इस समझौते के अनुसार साम्राज्य की अव्यवस्था का अपने व्यक्तिगत हित मे लाभ उठाये बिना चीन की क्षेत्रीय यथास्थिति इन शक्तियो द्वारा स्वीकार की जानी थी, पूरे साम्राज्य को सभी देशो के व्यापार के लिए खोलने के लिए कार्य करना था, और यदि कोई शक्ति इस यथास्थिति को अपने व्यक्तिगत हित मे बदलने की कोशिश करे तो सभी देशो के हितों की रक्षा के लिए सयुक्त प्रयास होने थे। किन्तु, मंचूरिया मे रूसी प्रभाव रोकने मे इस समझौते की उपादेयता जर्मनी द्वारा यह शर्त लगाने से निश्चित रूप से कम हो गयी थी कि समझौता चीन के अट्ठारह प्रान्तो के क्षेत्र के सबध मे ही माना जायगा। किन्तु, तब भी चीन के लिए इस समझौते का महत्त्व था। यह समझौता केवल चीन के हितों को ही ध्यान मे रखकर किया गया हो, ऐसी बात नही थी, इस समझौते मे इन देशों ने यह स्वीकार किया था कि विदेशी शक्तियो के व्यापारिक हितो की रक्षा के लिए चीन का कायम रहना आवश्यक है; इस समझौते से यह भी प्रकट था कि चीन के विभाजन के प्रयास से गभीर अतरराष्ट्रीय संकट उत्पन्न होने का डर था।

मुक्का-आदोलन की समाप्ति के बाद की परिस्थिति मे रूस को अव्यवस्था से लाभ उठाने का अच्छा अवसर मिल गया था। जिस प्रकार पहले चीन का मित्र बन कर उसने अपने हितो का प्रसार किया था, उसी प्रकार उसने फिर से अपने हित बढाने की कोशिश की। उसने ब्रिटेन व अमरीका के विरोध के बावजूद टीटसीन से शानहैकवान तक की रेलवे लाइन पर कब्जा कर लिया और उसके बाद कहना शुरू किया कि मित्र राष्ट्रो की सेनाएँ उत्तरी चीन से हट जायँ तभी चीन व अन्य विदेशी शक्तियो के बीच शांति समझौते पर हस्ताक्षर होने चाहिए। उसने अपना दूतावास टीटसीन हटा लिया और इस बात पर जोर देना शुरू किया कि चीनी दरबार पीकिंग लौट आये और कोई विदेशी शक्ति चीन के आंतरिक मामलो मे बिलकुल हस्तक्षेप न करे। स्वभावतः, जहाँ तक इस नीति का प्रश्न था, रूस चीन व मंचूरिया में अंतर मान रहा था और इस बात पर अड़ा हुआ था कि मंचूरिया-संबंधी समझौता चीन व रूस के बीच की निजी बात है।[५] रूस का यह इरादा स्पष्ट था कि वह मंचूरिया में अपने पैर मजबूती से जमा लेना चाहता था और दूसरी ओर चीनी दरबार मे अन्य विदेशी शक्तियों से चीन की रक्षा करने की अपनी भूमिका दिखाकर चीन का मित्र भी बनना चाहता था। किन्तु, सन् १८६० में रूस को इस सबध में जितनी सफलता मिल गयी थी जब उसने पीकिंग पर कब्जा करने वाले ब्रिटेन व फ्रांस और चीन के बीच मध्यस्थ बनकर प्रिमोर्स्क प्राप्त कर लिया था, उतनी इस बार नही मिल रही थी। चीन धीरे-धीरे यह समझने लगा था कि रूस की दोस्ती

प्रोत्साहित करना खतरनाक बात है। और जब अंतत शाति स्थापित हो गयी, तब यह प्रकट हो गया कि चीन के हितो की चिन्ता रूस के ४५ करोड़ ताएल की क्षति-पूर्ति मे से बडा भाग हड़प लेने में बाधक नही हुई थी।

उत्तरी चीन मे मुक्का-उपद्रव शान्त होने के बाद, शीघ्र ही यह स्पष्ट हो गया कि रूस का मचूरिया से हटने का कोई इरादा नही है और वह हटेगा तो अपनी ही शर्तो पर। ब्रिटेन, अमरीका, जापान आदि समुद्री शक्तियो से, जो बडी दीवार के उत्तर मे रूस की फौजे जमी रहने का लगातार विरोध कर रही थी, एक नीति स्वीकार कर रहा था और साथ ही लगातार पीकिग से अपनी शर्तें मनवाने की भी कोशिश कर रहा था। उसका इरादा यह था कि चीन के केन्द्रीय शासन से अलग से मचूरिया के सबध मे समझौता करके प्रतिवाद करनेवाली विदेशी शक्तियो के समक्ष इसे 'सम्पन्न कार्य' के रूप मे पेश कर दे। रूस समझता था कि ऐसा करने के लिए वह इस बात पर अड़ा रहेगा कि मचूरिया ऐसा विषय है, जिसके सबध मे समझौते की बात केवल सबधित देशो—चीन व रूस—के बीच ही चल सकती है; और चीन से अपनी माँगें मनवाने के बाद वह इस बात पर जोर देगा कि चीन एक स्वतत्र देश है और वह जैसा भी चाहे वैसा समझौता करने की उसे स्वतत्रता है। रूस समझता था कि किसी भी विदेश को इस मामले मे लडने-झगडने मे न तो काफी दिलचस्पी ही होगी और न झगडने की शक्ति ही होगी। मचूरिया में केवल रूस के लिए विशेष सुविधाओ की माँग पर अमरीकी सचिव 'हे' ने जो विरोधपत्र भेजा था, उसके काउण्ट लैम्सडौर्फ के उत्तर से रूसी नीति की यह व्याख्या सही साबित होती है। लैम्सडौर्फ ने कहा है—"दो पूर्ण स्वतत्र देशो के बीच समझौते अन्य देशों की स्वीकृति के आश्रित नही होते।" किन्तु, इगलैण्ड, अमरीका व जापान के सहा-यता के आश्वासन व दबाव के कारण चीन ने मचूरिया से फौजे हटाने की सन् १९०१ मे बार-बार पेश की गयी रूसी शर्तों को मानने से इनकार कर दिया।

## (६) सन् १९०२ का आंग्ल-जापानी समझौता

तब तक सन् १९०२ मे एक ऐसी घटना हो गयी, जिसका रूसी नीति पर तत्काल प्रभाव हुआ और जिसके अतिम परिणाम बहुत महत्त्व के हुए। यह घटना थी जापान व ब्रिटेन के बीच समझौता। सुदूरपूर्व मे एक दूसरे के हितो व नीतियों के सरक्षण के लिए इस प्रकार के समझौते की बातचीत सन् १९०१ में लन्दन में शुरू हुई थी। इस तरह की बातचीत और समझौते का पहला सुझाव ब्रिटेन या जापान की ओर से नही जर्मनी की ओर से आया था और जर्मनी ने ही तीन देशों की मैत्री-सधि के लिए बात चलाने का सुझाव रखा था। जर्मनी द्वारा यह प्रस्ताव

पेश करने का असली कारण स्पष्ट नही है, किन्तु सन् १८९५ के बाद से वह ब्रिटेन के साथ वित्तीय मामलो मे तो सहयोग कर ही रहा था और सन् १९०० मे उसने चीन मे यथास्थिति कायम रखने के लिए ब्रिटेन से समझौता भी कर लिया था। फलत., प्रतीत होता था कि जर्मनी सुदूरपूर्व मे अपने व ब्रिटेन के हितो की समानता समझ रहा था। इसके अतिरिक्त, सन् १९०० के बाद बर्लिन मे एक ऐसा सशक्त गुट भी बन गया था, जो ब्रिटेन से मैत्री कर लेने के पक्ष मे था। किन्तु इस समय जर्मनी की नीति मे बराबर बदलाव हो रहा था, जो इस बात से भी प्रकट था कि जर्मनी सन् १९०० के समझौते को मचूरिया पर लागू न करने पर अड रहा था। जर्मनी ब्रिटेन से सहयोग तो करना चाहता था, पर इस सीमा तक नही कि उससे रूस क्रुद्ध हो जाय। और ब्रिटेन व जापान के हितो की सुरक्षा रूस की मचूरिया-संबंधी नीति के विरुद्ध कडा रुख अपनाने मे ही थी। अतएव जर्मनी ने चाहे जिस उद्देश्य से भी यह बातचीत चलाने का सुझाव रखा हो, बातचीत चली और जर्मनी को उसमे शामिल किये बिना जापान व ब्रिटेन के बीच समझौता हो गया।

सन् १८९४–१८९५ के चीन से हुए युद्ध के बाद जापान मे नीति संबधी दो धारणाएँ थी। एक गुट यह समझता था कि जापान के हितो को रूस से जो खतरा पैदा हो रहा है, उसे दूर करने का सबसे अच्छा उपाय रूस से ही मैत्री कर लेना होगा, इस मैत्री से सुदूरपूर्व मे दोनों देशो के हितो की स्पष्ट व्याख्या हो जायगी। दूसरा गुट सबसे अच्छा रास्ता ब्रिटेन से मैत्री कर लेना समझता था। जो लोग ब्रिटेन से मैत्री के पक्षपाती थे उनमे सेण्ट जेम्स के दरबार मे जापान के मंत्री काउण्ट हयाशी भी थे। जर्मन राजदूत के इस सुझाव के बाद कि जहाँ तक ब्रिटेन का प्रश्न है उससे समझौता कर लेना श्रेयस्कर होगा, हयाशी ने अपनी सरकार से अनुमति प्राप्त कर ली कि ब्रिटेन के परराष्ट्र सचिवालय से इस संबंध मे बातचीत चलायी जाय। धीरे-धीरे अनौपचारिक बात औपचारिक बन गयी और जनवरी, १९०२ मे सफलतापूर्वक समझौता हो गया।

जापान के एक एशियाई शक्ति के रूप मे विकास की एक बड़ी मजिल थी पश्चिमी देशो मे सबसे सबल शक्तियो मे से एक से यह मैत्री। आधुनिक युग की यह पहली सधि थी जिसमे पूर्व व पश्चिम के दो देश समता के आधार पर मैत्री कर रहे थे। इस सधि की सभवत सबसे बड़ी उपलब्धि यह थी कि एशिया की मंत्रणा-परिषद् में शामिल होने के लिए जापान की सदस्यता की स्वीकृति। किन्तु जापान को इससे तात्कालिक लाभ यह हुआ कि जापान अब रूस से अपनी सुरक्षा के लिए आवश्यक काररवाई कर सकता था। सन् १८९५ में जार के मंत्रियो की आज्ञा पर जापान को

मुख्य एशिया महाद्वीप से वापस लौटना पडा था। सन् १९०४ मे अंग्रेजो की सहायता का बचाव न होना तो इस काण्ड की पुनरावृत्ति हो सकती थी और जापान को फिर वापस लौटना पड सकता था।

यह बात तो स्पष्ट है कि जापान को इस प्रकार की मैत्री-सधि की आवश्यकता थी, किन्तु यह बात जल्दी समझ मे नही आती कि ब्रिटेन ने पूर्वी देशो से स्थायी सधियाँ न करने की अपनी नीति क्यो बदल दी। और एक पूर्वी देश से मैत्री क्यो कर ली।[६] रूस के बढाव से ब्रिटेन के हितो के लिए खतरा बढ रहा था और अतत इसका एक ही परिणाम यह होता कि मचूरिया मे ब्रिटेन के लिए व्यापार के अवसर समाप्त हो जाते। किन्तु याग्त्सी प्रान्तो मे उसके हितो को रूस द्वारा दी गयी मान्यता के बदले मे ब्रिटेन सन् १८९९ की स्काट-मुरावीफ उपसधि द्वारा मचूरिया मे रूसी हितों की प्राथमिकता स्वीकार कर चुका था। रिआयतो की दौड में ब्रिटेन का भाग लेना स्पष्टत. उसकी पहले की चीन सबधी नीति के विपरीत था। उत्तरी व दक्षिणी अफ्रीका मे व्यस्त रहने के कारण ब्रिटेन अन्य शक्तियो के विरोध मे सुदूर पूर्व मे अपनी नीति चलाने पर बल देने मे बिलकुल असमर्थ रहा था। सन् १९०२ तक ब्रिटेन की अफ्रीका सबधी कठिनाइयाँ लगभग समाप्त हो चुकी थी और अब वह चीन की ओर पूरा ध्यान देने को स्वतत्र था। और सन् १८९९ व सन् १९०२ के बीच मुक्केबाजो का विद्रोह हो चुका था और रूस का दक्षिण की ओर बढाव जारी था जो, यदि जारी रहने दिया जाता तो, पीकिंग मे रूस की स्थिति को बहुत मजबूत कर देता। इसके अतिरिक्त, रूस ने सन् १८९९ के समझौते की मूल भावना का आदर नही किया था। याग्त्सी क्षेत्र के हृदय के बीच से, पीकिंग से हैनकाउ तक मार्ग बनाने की रिआयत बेल्जियम को प्राप्त हो चुकी थी और यह सर्वविदित था कि बेल्जियम रूस व फ्रास का प्रतिनिधित्व कर रहा था और उसे रूसी व फ्रासीसी राजनयिक सहायता प्राप्त थी। इस मार्ग के फलस्वरूप रूसी प्रभाव इतनी दूर दक्षिण मे प्रवेश कर रहा था कि ब्रिटेन के राजनयिक क्षेत्रो में भारत को लेकर चिन्ता व्याप्त हो रही थी। इससे फ्रास व रूस के दिलचस्पी के क्षेत्र भी मिल रहे थे। फ्रास व रूस के इस प्रकार के सघ या हित-एकीकरण का अर्थ होता चीनी साम्राज्य का अत, क्योंकि इन दोनो देशो की दिलचस्पियाँ आर्थिक नही राजनीतिक थी। इन घटनाओ ने ही ब्रिटेन को अपनी मूल चीनी नीति पर वापस लौटने को बाध्य कर दिया था।

किन्तु इस नीति को प्रभावकारी बनाने के लिए शक्तियों का संयोग आवश्यक था। ब्रिटेन ने पहले जर्मनी को मिलाने की कोशिश की, पर देखा कि वह रूस को

नाराज करने के लिए तैयार नही है।[७] फ्रांस रूस का मित्र था और स्वय दिलचस्पी के क्षेत्र सबधी सिद्धान्त के विकास मे दिलचस्पी रख रहा था। इग्लैण्ड व अमरीका के हित समान थे, किन्तु अमरीकी हित सभाव्य ही थे और उसके रवैये से यह भरोसा नही होता था कि यथास्थिति मे परिवर्तन के विरुद्ध वह प्रतिवाद से अधिक कोई कडी काररवाई करेगा। इसके अतिरिक्त,अमरीका अपने को किसी भी देश से पूरी तरह सबद्ध करने को तैयार नही होता, चाहे इससे उसका हितसाधन ही क्यो न हो। इस दृष्टिकोण के अनुरूप ही उसने रूसी नीति के प्रतिवाद मे सयुक्त रूप से कोई पत्र भेजने से मना कर दिया था यद्यपि उसने कई बार अलग से वैसे ही विरोधपत्र स्वय भी भेजे थे। केवल जापान बच गया था और रूस के बढ़ाव को रोकने मे जापान को ब्रिटेन से भी अधिक दिलचस्पी थी। फलत, काफी झिझक के बाद ब्रिटेन ने अपना एकान्त समाप्त कर एक ऐसा समझौता कर लिया जिससे यदि रूसी साम्राज्य से जापान का युद्ध हो जाय तो वह जापान के समर्थन में खडा होता।

इस आग्ल- जापानी समझौते मे प्रस्तावना के रूप मे इन दोनो देशो की सामान्य नीति बतायी गयी थी—कोरिया व चीन की क्षेत्रीय अविच्छिन्नता व स्वतत्रता कायम रखकर सुदूरपूर्व मे शाति व यथास्थिति को कायम रखना। पहली धारा मे इस तथ्य की स्वीकृति थी कि ब्रिटेन की दिलचस्पी मुख्यत. चीन मे थी, जब कि जापान की दिलचस्पी चीन के अतिरिक्त कोरिया मे भी थी, यद्यपि इन दोनो देशो में उसकी दिलचस्पी अनाक्रामक ढग की थी। दोनो देशों ने एक-दूसरे के द्वारा अपने हितों की रक्षा के लिए आवश्यक कदम उठाने के अधिकार को स्वीकार किया था। यदि इन हितो की रक्षा मे दोनो देशो मे से कोई किसी अन्य देश से युद्ध मे फँस जाय तो समझौते के अनुसार दूसरा देश बिलकुल तटस्थ रहता और पूरी कोशिश यह करता कि दूसरे पक्ष को किसी अन्य देश की सहायता प्राप्त न हो। यदि इन दोनों देशो मे से किसी एक से युद्ध करनेवाले देश को किसी अन्य शक्ति की सहायता मिलती तो तत्काल ही दूसरा देश अपने मित्र देश की सहायता में युद्ध मे उतर पड़ता और युद्ध व शाति दोनो देश साथ-साथ ही करते। यह मैत्री पाँच वर्ष के लिए चलनेवाली थी और यदि इस अवधि के अत मे कोई पक्ष इसे समाप्त न करना चाहता तो उस अवधि तक चलनेवाली थी जो एक पक्ष के उसे समाप्त करने की इच्छा व्यक्त करने के एक वर्ष बाद पूर्ण होती। इस समझौते का अर्थ यह हुआ कि जापान व ब्रिटेन के राजनयिक प्रतिनिधि पीकिंग में रूस को सीमित रखने के लिए एक होकर काम करते, और यदि इस प्रयास में वे विफल होते तो जापान रूस से युद्ध छेड़ देता और ब्रिटेन प्रयास करता कि रूस को विदेशी सहायता न मिले।

ब्रिटेन और जापान की इस चुनौती के उत्तर मे रूस व फ्रांस ने घोषणा की कि वे इस समझौते के उद्देश्य, अर्थात् चीन व कोरिया की स्वतत्रता व क्षेत्रीय अविच्छिन्नता, से सहमत है, फिर भी, उन्होने अपना क्षेत्र बढाकर उसमे पूरे सुदूरपूर्व को शामिल कर लिया है। किन्तु प्रतीत होता है कि फ्रास ने रूस से कह दिया था कि वह युद्ध की स्थिति मे रूस की सक्रिय सहायता केवल उसी दशा मे करेगा जब यूरोप मे भी शाति भग होगी।

किन्तु इस चुनौती की मौन स्वीकृति के बावजूद रूस ने मचूरिया से अपनी फौज हटाने के चीनी प्रस्ताव को स्वीकार कर तत्काल अपनी नीति मे सशोधन कर लिया। सन् १९०२ की मचूरिया उपसधि मे स्वीकृत इन प्रस्तावो के अनुसार पूरा मचूरिया १८ महीने मे रूसी सेनाओ द्वारा खाली किया जाना था—दक्षिणी मचूरिया छ महीने में, मध्य मचूरिया एक वर्ष मे और पूरे मचूरिया पर चीनी नियत्रण का आरम्भ डेढ वर्ष मे। रूसी सेनाओ के हटने के ढग और रूसी हितो की चीन द्वारा रक्षा के सबध में समझौते मे कुछ शर्तें थी, पर असली शर्त उसमे यह भी मौजूद थी कि रूसी फौजे तभी हटेंगी "यदि कोई अशाति नही हुई और अन्य विदेशी शक्तियो ने कोई बाधा नही डाली।" जब तक रूसी फौजे मौजूद थी, अशाति या अव्यवस्था रोकना कठिन था और रूस बहुत सरलतापूर्वक अन्य विदेशो की काररवाई का अर्थ यह लगा सकता था कि वे बाधाएँ है और इस बहाने वह समझौते के पालन से निकल सकता था।

वास्तव मे रूस ने कुछ इस ढग से आगे काररवाई की कि अपने वचन का पालन करने में ईमानदारी से काम न लेने का आरोप उस पर सिद्ध होने लगा। दक्षिणी-पश्चिमी मचूरिया से फौजे हटी अवश्य, लेकिन वे मचूरिया से बाहर न जाकर प्रात के दूसरे भागो मे एकत्र होने लगी। जहाँ से रेलवे लाइन गुजर रही थी उसके किनारे-किनारे इन फौजो के लिए बैरकें बनने लगी और रूसी ढंग से प्रकट हो गया कि इन फौजो से रेलवे रक्षको का कार्य लिया जायगा। दूसरे शब्दो मे, रूस ने यह बता दिया कि वह अपने वचन का उसी हद तक पालन करेगा जिस हद तक उस पर इतना दबाव पड़ता रहे कि वह उसकी अवहेलना न कर पाये। और यह दबाव चीन के अलावा अन्य शक्तियो को डालना था क्योकि चीन मे यह शक्ति नही थी कि वह अपने उत्तरी पडोसी से समझौता मनवा सके।

## (७) कोरिया का प्रश्न

मचूरिया मे वचन पूरा करने में इस आनाकानी के अतिरिक्त कोरिया मे, विशेषकर उसकी सीमा पर भी, रूसी कार्यकलाप आपद्जनक होता जा रहा था।

इसे समझने के लिए रूस व जापान के हित-सघर्ष के दूसरे क्षेत्र की ओर ध्यान देना होगा।

चीन से युद्ध और उसके कुछ समय बाद तक जापान के हित सिऊल मे बढ रहे थे। इस अवधि मे जापान का व्यवहार ऐसा था मानो वह कोरिया का स्वामी हो; इस स्वामित्व का उपयोग जापान ने कोरिया को, कागज पर एक ही दिन मे, कुशासित, अव्यवस्थित, पूर्वी राजतत्र की जगह आधुनिक राज्य बना देने मे किया। रानी व उसके अनुयायियो द्वारा इस नीति का विरोध होने पर जापान ने राजमहल पर आधी रात को हमला करवा कर रानी को मरवा डाला, जापानी नीति के विरोध की केन्द्र-बिन्दु रानी की हत्या मे जापान ने सक्रिय भाग लिया था।

इस घटना से कोरियावासियो मे आक्रोश की लहर दौड गयी, किन्तु वे तत्काल प्रतिशोध लेने की स्थिति मे नही थे। किन्तु सन् १८९६ में उत्तरी सीमा पर अशाति हुई जिसके दमन के लिए राजधानी से सेना गयी। इसी समय चेमुलपो से रूसी नौसैनिको की एक टुकडी सिऊल आ पहुँची। रूसियो के सिऊल पहुँचने के अगले दिन राजा वेश बदल कर महल से भाग निकले और रूसी दूतावास, मे शरण ली। कुछ समय तक शासन-सचालन रूसी दूतावास से ही हुआ। युद्ध मे सफलता के बावजूद सिऊल मे आरोहण जापान नही रूस का हुआ। यह सही है कि इसके लिए स्वय जापानी नीति ही उत्तरदायी थी, किन्तु रूसी नियंत्रण इसीलिए तो ग्राह्य हो नही सकता था। सन् १८९६ के ग्रीष्म मे जापान ने कोरिया में अपनी श्रेष्ठता का दावा छोड़ कर रूस से समझौता (यामागाटा-लोबानोफ, पूर्व संधि) कर लिया जिसके परिणामस्वरूप कोरिया मे दोनों का स्तर समान हो गया। दोनो पक्षो ने स्वीकार किया कि (१) दोनो अपनी-अपनी सेनाएँ प्रायद्वीप से हटा ले ताकि जहाँ तक संभव हो सके कोरिया स्वयं ही अपने क्षेत्र मे शाति-व्यवस्था कायम रखने का प्रयास कर सके, और (२) दोनो मिलकर कोरिया सरकार पर वित्तीय सुधार के लिए दबाव डाले और यदि इन अनिवार्य सुधारो के लिए विदेशी मुद्रा आवश्यक हो तो दोनो देश समझौते द्वारा यह सहायता कोरिया को दे। किन्तु अपने आरोहण के समय रूस कोरिया सरकार से दो रिआयते प्राप्त कर चुका था—एक तो यालू नदी पर लकड़ी की प्राप्ति के सबध मे, जो बाद मे बहुत महत्त्वपूर्ण साबित हुआ, और दूसरा तुमेन नदी पर खनिज उपयोग संबधी।

यामागाटा-लोबानोफ समझौते की स्याही सूखी भी नहीं थी कि रूस ने उसकी शर्तें भग करनी शुरू कर दी। कोरिया को अपनी सेना के पुनस्सगठन की स्वतत्रता

देने की बजाय रूस ने वहाँ अपने सलाहकार लगा दिये जो कोरियाई सेना का सगठन रूसी ढग से करने लगे। रूस ने कोरिया की वित्तीय व्यवस्था पर भी नियत्रण करने का प्रयास किया।

रूसी नीति के प्रतिक्रिया-स्वरूप कोरिया मे रूस-विरोधी भावना आयी और इसी के साथ आयी जापानी स्थिति मे मजबूती। इस गैर-ईमानदारी के रवैये के बावजूद जापान ने फिर रूस से समझौते की बात चलायी। चीन से लिआओतुंग प्रायद्वीप मे पट्टा पाकर (जो कि निश्चय ही जापान की आपत्ति का कारण था) और मचूरिया की नीति के फलस्वरूप रूस सुलह के लिए अधिक तत्पर था और सन् १८९८ मे रूसी सरकार कोरिया मे अपनी स्थिति की पुनर्व्याख्या के लिए तैयार हो गयी। कोरिया की स्वतत्रता और सर्वोच्च सत्ता स्वीकार करते हुए दोनो देश एक दूसरे से पूर्व समझौते के बिना कोरिया के सैन्य व वित्तीय पुनस्सगठन मे हस्त-क्षेप न करने को राजी हो गये, रूसी सरकार इस बात पर भी राजी हो गयी कि वह कोरिया में जापान के व्यावसायिक व औद्योगिक हितो के विकास मे बाधा नहीं देगी। यह नीशी-रोजेन उपसधि सन् १८९८ से युद्ध शुरू होने तक कोरिया मे रूस व जापान की नीतियो का औपचारिक आधार रही।

किन्तु इस समझौते के बावजूद कोरिया का प्रश्न हल नही हुआ। रूस बीच-बीच मे वहाँ सक्रिय हो उठता और कुछ रिआयतो की माँग पेश कर देता और अपने उपयोग के लिए कोई बन्दरगाह माँगने लगता था। जापान अपनी स्थिति मजबूत करने मे और रूस की लगातार माँगो को रोकने मे तत्परता से लगा हुआ था और इन दोनो कामो मे उसे काफी सफलता मिल रही थी। जापान की आबादी तेजी से बढ़ रही थी, व्यापार भी खूब विकसित हो रहा था और कोरिया की रेलवे व अन्य योजना मे जापान की पूँजी काफी बड़ी मात्रा मे लग रही थी। जापान का अकेला बड़ा प्रतिद्वन्द्वी अमरीका था और यह प्रतियोगिता भी सन् १९०४ तक जापान की आर्थिक दृष्टि से कोरिया मे प्रभावी स्थिति पा लेने से रोक नही पायी। नीशी-रोजेन उपसधि पर हस्ताक्षर होने के पाँच वर्ष के भीतर जापानी परराष्ट्र-मत्री सच्चाई के साथ यह कहने की स्थिति मे हो गये थे कि "जापान के कोरिया मे सबसे प्रबल व प्रभावी राजनीतिक व व्यावसायिक हित व दिलचस्पियाँ है, और अपनी सुरक्षा को दृष्टि में रखते हुए, वह न तो अपने इन हितो को छोड़ ही सकता है और न किसी अन्य शक्ति को इसमें भागीदार ही बना सकता है।[८]

## (८) कोरिया व मंचूरिया के प्रश्नों का एकरूपीकरण

सन् १९०२–१९०३ में जब कोरिया व मचूरिया के प्रश्न एक दूसरे से जुड़ गये

तब तक जापान कोरिया में अपनी प्रभावकारी स्थिति प्राप्त कर चुका था। मचूरिया मे स्थित अपनी सेनाओ को वहाँ से हटाये बिना उनका हटाना प्रकट करने के लिए रूस ने जो कारवाइयाँ की थी, उनमे से एक यह भी थी कि सन् १८९६ मे लकडी के उपयोग के लिए प्राप्त रिआयत के सिलसिले मे ये सैनिक यालू नदी के क्षेत्र मे लकडहारो के रूप मे भेज दिये गये थे। इस रिआयत के लिए शर्त यह थी कि रूस पाँच वर्ष के भीतर इस धन्धे का विकास कर लेगा और चूँकि रूस यह नही कर पाया था इसलिए कायदे से यह समझौता अपने-आप समाप्त हो गया था। किन्तु रूस इस समझौते के जारी रहने पर जोर देने लगा, विशेषकर इसलिए भी कि स्वयं जार को इसमे दिलचस्पी पैदा हो गयी थी और जार को बताया यह गया था कि जापान इस माँग का कोई प्रभावकारी विरोध नहीं कर पायेगा।

अभी तक जापान की कोरिया व चीन सबंधी नीतियाँ स्पष्टत. भिन्न थी। उसकी नीति यह थी कि कोरिया मे तो वह अपने हितो की रक्षा स्वय स्वतत्र रूप से करता रहेगा और चीनी मामलों मे वह अन्य देशो के साथ सहयोग करेगा। अब जापान समझ रहा था कि रूस से कोई ऐसा समझौता होना चाहिए जिसमें दोनो क्षेत्रो के प्रश्नो का सयुक्त हल आ जाय। सन् १९०३ मे सेण्ट पीटर्सबर्ग स्थित जापानी राजदूत को आदेश दिया गया कि वह रूसी सरकार से दोनो देशो के पूर्व मे स्थित हितो की पूर्ण व्याख्या के लिए बातचीत शुरू करे। रूस के इसके लिए तैयार होने पर जापानी राजदूत ने विचार-विमर्श के लिए कई प्रस्ताव पेश किये, जो संक्षेप मे इस प्रकार थे—(१) दोनो देश कोरिया व चीन की क्षेत्रीय अविच्छिन्नता व स्वतत्रता का आदर करते है और इन देशो में 'उन्मुक्त द्वार' सिद्धान्त लागू रखने को सहमत हैं; (२) रूस कोरिया में जापान की विशेष दिलचस्पी व हितो को स्वीकार करता है और जापान को अधिकार देता है कि वह (अ) अपने इन हितो का आगे भी विकास करता रहे, और (ब) सुधारो के सबंध में कोरियाई सरकार को परामर्श देता रहे। इसके बदले मे जापान रूस के रेलवे लाइन संबधी विशेष हितो को मंचूरिया में स्वीकार कर लेगा और पहली शर्त के मातहत उन हितो के विकास के रूसी अधिकार को स्वीकार कर लेगा। रूस ने जो जवाबी प्रस्ताव अपनी ओर से पेश किये, वे संक्षेप मे इस प्रकार थे—(१) दोनो देश कोरिया की क्षेत्रीय अविच्छिन्नता व स्वतत्रता का आदर करते हैं (इस संबंध मे जापान ने चीन को भी शामिल किया था, पर रूस ने उसे उड़ा दिया था); (२) रूस कोरिया मे जापान के विशेष हितो व कोरिया के नागरिक प्रशासन के सुधार में कोरियाई सरकार को सहायता देने के अधिकार को स्वीकार करता है, (३) कोरिया में जापान के व्याव-

सायिक व औद्योगिक हितो के विकास व उनकी सुरक्षा मे रूस हस्तक्षेप नही करेगा; (४) दोनो देश स्वीकार करते है कि कोरिया के तटो पर किलेबन्दी नही की जायगी ताकि कोरिया की खाडी मे जहाजो के आने-जाने की स्वतत्रता पर आँच न आये, और कोरिया की भूमि सामरिक कार्यो के लिए प्रयोग नही की जायगी, (५) ३९वें उत्तरी अक्षांश के उत्तर मे कोरिया का जो क्षेत्र है उसे तटस्थ क्षेत्र बना दिया जायगा; और (६) जापान स्वीकार करता है कि मचूरिया व उसके तटवर्ती क्षेत्र मे उसके कोई हित नही है और यह इलाका उसके दिलचस्पी के क्षेत्र के बिलकुल बाहर है। दूसरे शब्दो मे, रूस चाहता था कि जापान उसे चीन व मचूरिया मे खुली छूट दे दे और रूस जापान के व्यावसायिक व औद्योगिक हित कोरिया मे विकसित होने देगा—इस विकास को रोकने मे रूस पहले से ही पूरी तरह सक्षम सिद्ध नही हुआ था।

जापान ने अतिम रूप से जो प्रस्ताव रखे उनमे उसने रूस की स्थिति को एक सीमा तक स्वीकार किया और रूस की मचूरिया मे काररवाइयो पर वे ही सीमाएँ लगाने को कहा जो स्वय उसकी कोरिया मे काररवाइयो पर नियत थी, जापान ने यह भी स्वीकार किया कि मचूरिया मे रूस की दिलचस्पी केवल रेलवे लाइन में ही नहीं है वरन् वह क्षेत्र जापान की दिलचस्पी के बाहर भी है। किन्तु रूस अपने मूल प्रस्तावो पर ही अडा रहा और अत मे बात आगे बढ गयी। जापान ने रूस से राजनयिक सबध तोड़ लिये और फरवरी, १९०४ मे युद्ध शुरू हो गया।

## (९) रूस-जापान युद्ध

इस युद्ध के कई बड़े मनोरजक पहलू थे जिनका स्थानाभाव के कारण यहाँ वर्णन कठिन है। यह युद्ध ऐसे देशो की भूमि पर हो रहा था जो युद्ध में शामिल ही नहीं थे। अतएव चीन व कोरिया का सही स्थिति के संबध में समझौता आवश्यक हो गया। जहाँ तक कोरिया का प्रश्न था स्थिति स्पष्ट थी। युद्ध की घोषणा के साथ ही जापान ने तत्काल कोरिया प्रायद्वीप पर अधिकार कर लिया और कोरिया के राजा से मैत्री सधि कर ली। किन्तु चीन के सबध मे अमरीका ने यह प्रयास किया कि युद्ध मे दोनो पक्ष अपनी शत्रुतापूर्ण काररवाइयो को मचूरिया तक ही सीमित रखे और इस प्रकार चीन का शेष भाग सुरक्षित रह सके। यदि सन् १८९६ से सन् १९०४ के बीच की अवधि मे रूस की नीति भिन्न हुई होती तो वह मैत्री सधि की शर्तों के अनुसार आसानी से चीन को इस सघर्ष मे शामिल कर लेता और चीन के बन्दरगाहो व अन्य सुविधाओ का उपयोग कर नौसैनिक विनाश से बच जाता जो युद्ध में जापान ने किया। किन्तु यह स्वीकार करना चाहिए कि एक 'मित्र' द्वारा दूसरे पर लगातार आक्रमण व बढ़ाव के फलस्वरूप यह मैत्री-सधि स्वयमेव समाप्त हो

चुकी थी । फलत., विदेशी प्रभाव के कारण युद्ध के दोनो पक्षो ने मचूरिया के बाहर चीन की तटस्थता स्वीकार कर ली । दोनो एक दूसरे पर वचन भग करने के आरोप-प्रत्यारोप करते रहे । किन्तु सामान्यत चीन के क्षेत्र की रक्षा होती रही ।

समझौते की बातचीत के दौरान मे आखिरी वक्त तक रूस के निरकुश जार सभवत यही समझते रहे कि युद्ध या शांति का निर्णय केवल उनके हाथ मे है, और यह कि जापान युद्ध करने की जगह जो भी रिआयते वह (जार) दे देंगे उनसे सतुष्ट हो जायगा । यह भावना और इसके साथ जापान की सैनिक व नौसैनिक शक्ति के सबध में गलत परामर्श ही उन रूसी काररवाइयो के लिए उत्तरदायी थे जिनसे एक ओर तो युद्ध अनिवार्य हो गया और दूसरी ओर इस युद्ध के लिए काफी सैनिक तैयारियाँ नही की गयी ।

किन्तु इसके आगे भी रूसी नीति की सतोषजनक व्याख्या के लिए सेण्ट पीटर्स-वर्ग में जो आंतरिक सघर्ष चल रहा था वह समझना आवश्यक है। जार की स्वीकृति के लिए तीन कार्यक्रमो मे स्पर्धा थी । वित्तमत्री का एक कार्यक्रम था—पूँजी व रेलवे द्वारा शांतिमय उपायो से चीन व मचूरिया मे प्रवेश—और यही कार्यक्रम सन् १८९५ के बाद लागू भी हुआ था । सन् १८९८ मे एक अन्य गुटका उदय हुआ, जिसका प्रवक्ता था हृष्ट साहसी बेजोब्राजेव, और जो शक्तिसमर्थित आर्थिक कार्यक्रम मे विश्वास करता था । और तीसरा गुट था फौजी-नौसैनिक अधिकारियो का जो मचूरिया पर सैनिक आधिपत्य और कोरिया के एक बन्दरगाह पर कब्जा कर लेने के पक्ष मे था । सन् १९०० मे मचूरिया मे जो बड़ी सख्या मे फौजे उतार दी गयी, और टीटसीन के उत्तर मे पीकिंग-मुकडेन रेलवे लाइन पर जो कब्जा कर लिया गया उसके लिए मुख्यत. तीसरा गुट ही उत्तरदायी था । यह सही है कि काउण्ट वीटे के कार्यक्रम के अनुसार जो हित विकसित किये गये थे वे सैनिक हस्तक्षेप के लिए बहाने के काम कर गये थे। सन् १९००-१९०२ के बीच राजनयिक वचनो व वक्तव्यो तथा राजनीतिक व सैनिक काररवाइयों के बीच जो स्पष्ट विरोधाभास था वह भी इस तीसरे गुट के कारण ही हुआ, क्योकि सुदूरपूर्व मे सैनिक नेता जो काररवाइयाँ कर बैठते थे उनकी सूचना बहुधा सबंधित मत्रियो को भी नही होती थी, इससे वचन-उल्लघन तो होता ही था, मत्री इन सेनापतियो पर नियत्रण भी नही कर पाते थे ।

सन् १९०२ के बाद बेजोब्राजोव का गुट फिर जार के दरबार मे प्रमुख स्थान पा गया ; सन् १८९८ से ही यह गुट बीच-बीच में सक्रिय हो उठता था और सन् १९०२ मे काउण्ट वीटे के मंत्रिमंडल से हटना इस गुट के प्रभावशाली होने का ही लक्षण था । इस गुट के कार्यक्रम के अनुसार सैनिक दबाव के साथ ही व्यापक आर्थिक

योजनाएँ चलाने का था, तथा यालू नदी की लकडी से सबधित रिआयत का उपयोग। मचूरिया व कोरिया, दोनो स्थानो पर व्यापक आर्थिक कारवाई, सन् १९०२ की मचूरिया उपसधि की शर्तें लागू करने मे वचन भंग करने के लक्षण और कोरिया व मंचूरिया मे हितो की स्पष्ट व्याख्या के जापानी प्रस्ताव पर विचार-विमर्श में ढील-ढाल—इन सबने मिलकर जापान को ऐसा डरा दिया कि उसने युद्ध और शाति का निर्णय जार के हाथो मे न रहने दिया।

युद्ध के इन दोनो पक्षो के प्रति पश्चिमी देशो के दृष्टिकोणो का सक्षिप्त वर्णन करना यहाँ रुचिकर होगा। ब्रिटेन जापान की आर्थिक सहायता करने, युद्ध में किसी अन्य देश को न पडने देने के प्रयास करने व सामान्यत उदार 'तटस्थ' देश की भूमिका अदा करने के लिए वचनबद्ध था। आग्ल-जापानी सधि और अमरीकी राष्ट्रपति रूजवेल्ट की शुरू मे की गयी घोषणा कि 'अमरीका हस्तक्षेप सहन न करेगा', जापान की सहायक सिद्ध हुई नही तो उसे निश्चित रूप से यूरोपीय महाद्वीप के देशो के रूस के पक्ष में हस्तक्षेप का सामना करना पड़ता। अब, जर्मनी व फ्रांस तटस्थ रहते हुए रूस की जितनी सहायता करने की हिम्मत कर सकते थे, उतनी करते रहे—फ्रांस अपनी मैत्री के कारण, यद्यपि उसे यह बात पसन्द नही थी कि रूस सुदूरपूर्व मे अपनी शक्ति बरबाद कर यूरोप मे अपनी स्थिति कमजोर कर ले, जर्मनी इसलिए कि वह लगातार रूस के पूर्व की ओर हो रहे बढाव को प्रोत्साहित करता रहा था। अमरीकी पूँजीपतियो ने जापान के विदेशी कर्ज की साख कायम रखी। राष्ट्रपति रूजवेल्ट की भाँति अमरीकी जनता की सहानुभूति भी जापान के साथ थी, यद्यपि तटस्थता पर आँच नही आने दी गयी थी।

ऊपर से देखने मे लगता था कि युद्ध दो बिलकुल असमान शक्ति वालो मे—बौने और दैत्य मे—हो रहा है। किन्तु, एक बार फिर, बौने की तैयारी पूरी थी और दैत्य की नही। शिमोनोसेकी संधि के फौरन बाद, क्षतिपूर्ति मे मिली धनराशि के एक बड़े भाग से, जापान अपनी नौसेना के विकास में जुट गया था और साथ ही उसने अपनी सेना के सगठन की भी उपेक्षा नही की थी। फलतः, जापान की सेना सुशिक्षित और नौसेना सक्षम थी, उसे सामना करना था रूसी सेना का जो कागज पर तो अधिक भयानक थी, किन्तु जिसका अनुशासन ढीला और नेतृत्व निम्नकोटि का था। एक बार फिर जापान ने सचार प्रणाली सुगठित रखने के लिए नौसेना का बढ़ाव शुरू किया। फिर उसने रूसी फौजो को पीछे धकेलना शुरू किया, एक स्थान से दूसरे स्थान तक, यहाँ तक कि लम्बी घेरेबन्दी और दोनों पक्षो के शौर्य-पराक्रम के बाद पोर्ट आर्थर के पतन के बाद रूस यालू तक खदेड़ दिया गया और

उसके बाद वह मुकडेन के युद्ध मे भी पराजित हुआ और अत मे मुकडेन तक उत्तर मे मंचूरिया से रूसी सेना खदेड दी गयी ।

## (१०) पोर्ट्समाउथ की संधि

युद्ध जापान के लिए सफलताओ की एक अटूट शृखला के रूप मे आया, किन्तु इसमें उसके धन-जन की अपार क्षति हुई थी । इसके अतिरिक्त, अपना राष्ट्रीय कोष उँडेल देने के बावजूद जापान रूस को छू भी नही पाया था, वह न तो रूस को वापस उसके क्षेत्र मे खदेड़ने मे सफल हुआ था और न वह रूस की सेनाओं को ही व्यापक क्षति पहुँचा पाया था । जब जापान की प्रार्थना पर अमरीकी राष्ट्रपति रूजवेल्ट ने सन् १९०५ के वसन्त मे दोनो पक्षो को अपने मध्यस्थ बनने की स्वीकृति दी, जापान और आगे लडने की स्थिति मे नही रहा था और उसने तत्काल यह मध्यस्थता स्वीकार कर ली, किन्तु विपक्ष को उसने यह नही जानने दिया कि वह इतना निर्बल हो चुका है । जापान के शाति सधि के लिए बातचीत शुरू करने के लिए तैयार होने के बावजूद रूसी सरकार तब तक युद्ध जारी रखने के पक्ष मे थी जब तक वह अपना खोया हुआ क्षेत्र वापस न ले ले । किन्तु आतरिक विग्रह तथा आर्थिक कठिनाइयो के कारण वह जापान से बातचीत करने से इनकार कर देने की स्थिति मे भी नही थी । अतएव, सन् १९०५ की गर्मियो मे काउण्ट वीटे व वाइकाउण्ट कोमूरा की भेंट हुई । रूस को यह आशा थी कि जापान अपनी विजय के नशे मे ऐसी माँगें पेश करेगा जिन्हें अस्वीकार करने मे भी संसार का जनमत रूस के साथ होगा और रूसी जनता युद्ध जारी रखने के अपनी सरकार के निर्णय का उत्साहपूर्वक साथ देने लगेगी ।

और ऊपर से देखने मे लगता है कि जापान ने यही किया भी । उसने माँग की कि (१) कोरिया मे जापान की सत्ता श्रेष्ठ स्वीकार की जाय, युद्ध की लगभग समाप्ति के समय मैत्री संधि के पुनरीक्षण द्वारा जापान इस स्थिति की स्वीकृति ब्रिटेन से प्राप्त भी कर चुका था, (२) दक्षिणी मचूरिया मे जो रूसी हित है जिनमे रेलवे लाइन का पट्टा भी शामिल है, जापान को हस्तातरित कर दिये जायँ, (३) युद्ध के समय रूस के जो नौसैनिक जहाज तटस्थ बन्दरगाहो मे पड़े रहे, वे सभी जापान को दे दिये जायँ और रूस के सुदूरपूर्व स्थित नौसैनिक बेड़े की शक्ति पर सीमा लगायी जाय; (४) युद्ध में हुए व्यय के लिए रूस क्षतिपूर्ति के रूप मे धनराशि दे, (५) साइबेरिया के तट पर जापानी नागरिको को मछली मारने के अधिकार मिलें, और (६) सखालीन जापान को दे दिया जाय । अपने जवाबी प्रस्तावो मे रूस ने इनमें से कुछ शर्तों को मान लिया, किन्तु अपनी नौसेना के सगठन व शक्ति पर वह किसी भी

प्रकार की सीमा लगाने को तैयार नही था और न क्षतिपूर्ति या सखालीन देने को तैयार था। राष्ट्रपति रूजवेल्ट के लगातार दबाव डालने पर भी दोनो पक्ष समझौते के लिए तैयार नही हो रहे थे और बातचीत लगातार असफल हो रही थी। अंतत बातचीत के लिए उस बैठक मे, जिसे रूसी प्रतिनिधि अतिम बैठक मान रहे थे, रूस ने प्रस्ताव किया कि वह क्षतिपूर्ति के बदले मे आधा सखालीन जापान को दे देगा, रूसी प्रतिनिधि समझ रहे थे कि जापानी प्रतिनिधि इसे अस्वीकार कर देगे क्योकि जापानी जनमत क्षतिपूर्ति के प्रबल समर्थन मे था। इसलिए काउण्ट वीटे को आश्चर्य हुआ जब जापानी प्रतिनिधि ने घोषणा कर दी कि उसे क्षतिपूर्ति की माँग त्याग देने के आदेश प्राप्त हो चुके है और वह रूसी प्रस्ताव को स्वीकार कर लेगा। अब काउण्ट वीटे के समक्ष सधि पर हस्ताक्षर करने के सिवा कोई चारा न था, यद्यपि वह स्वय सधि की शर्तों से सतुष्ट थे, किन्तु रूसी सरकार उनसे स्पष्टत असतुष्ट थी।

५ सितम्बर, १९०५ को पोर्ट्समाउथ सधि पर हस्ताक्षर हुए; इसके अनुसार—(१) जापान के कोरिया मे सर्वोपरि "राजनीतिक, सैनिक व आर्थिक हित" स्वीकार कर लिये गये, (२) लिआओतुग प्रायद्वीप मे रूस के जो अधिकार थे वे जापान को हस्तातरित कर दिये गये, (३) मचूरिया रेलवे लाइन की दक्षिणी शाखा जापान को दे दी गयी, (४) ५० वे उत्तरी अक्षांश के दक्षिण मे स्थित सखालीन का भाग जापान को प्राप्त हो गया, (५) यह स्वीकार कर लिया गया कि रूस व जापान मचूरिया से अपने सैनिक हटा लेंगे, किन्तु रेलवे लाइन के रक्षक वहाँ रह सकेंगे, (६) "मचूरिया मे उद्योग व व्यवसाय के विकास के लिए चीन ऐसे जो भी कदम उठाये जो सभी देशो के लिए समान हों," उनमे रूस या जापान बाधा नही डालेंगे, और (७) लिआओतुग प्रायद्वीप को छोड़ कर, मचूरिया मे रेलवे लाइनो का उपयोग केवल औद्योगिक व व्यावसायिक होगा, सामरिक नहीं।[१]

इस प्रकार युद्ध जापान के लिए दूसरी बडी सफलता के रूप मे समाप्त हुआ और सुदूरपूर्व मे उसकी स्थिति और मजबूत हुई। जापान सोलहवी शताब्दी से एशियाई महाद्वीप पर जो अपने पैर जमाना चाहता था और एक दफा पैर जमाने के बाद भी पीछे खदेड दिया गया था, उसमे वह इस युद्ध के बाद सफल हो गया। और उसकी नीति का यह लक्ष्य पूरा हुआ। युद्ध आरम्भ होने के समय जापान के उत्तरदायी राजमर्मज्ञ जितने की आशा कर रहे थे उससे कही अधिक उसे युद्ध मे प्राप्त हो गया था। एक सशक्त, आक्रामक शक्ति से अपने हितो के बचाव मे जापान ने शस्त्र उठाये थे और उस शक्ति को खदेड़ कर बाहर कर दिया था; रूस को अब उत्तरी मंचूरिया मे केवल पैर रखने भर की ठौर बची थी। युद्ध के पहले समझौते की बात-

चीत मे और युद्ध के दौरान मे एक सशक्त आधुनिक पश्चिमी देश की मैत्री से उसे जो बल मिला उससे उसने इस मैत्री-सधि का लाभदायक पुनरीक्षण प्राप्त कर लिया था। वह कोरिया मे रूस के आधिपत्य को रोकने के लिए सघर्षरत हुआ था और दूसरे प्रतिस्पर्धी को उसने इतनी सफलता के साथ हटा दिया था कि कोरिया की सुरक्षा की जिम्मेदारी उसके आत्मसात् कर लेने की दिशा मे केवल पहला कदम थी। जापान ने अपने उद्देश्य की प्राप्ति कर ली थी और इस दृष्टि से जापान को इस युद्ध मे आशातीत सफलता मिली थी। प्रश्न केवल यह शेष था कि जापान अपनी इस नयी स्थिति का उपयोग किस प्रकार करेगा।

# नवाँ अध्याय

# चीन में पूँजीगत साम्राज्यवाद

## (१) चीन की विजय के ढंग

अन्य देशो व लोगो से पहले जब चीन सपर्क मे आया तो अनेकानेक बार उसकी सैनिक हार हुई, किन्तु हर बार चीन अपने विजेता को अपने मे आत्मसात् कर उसे जीत लेने मे सफल हो जाता था। विजेता चीन की आर्थिक, सामाजिक व राजनीतिक क्षेत्रों मे प्रकट श्रेष्ठ सस्कृति को स्वीकार कर लेते थे; हारे हुए चीन की संस्कृति विजेता द्वारा स्वीकार होने के दो मुख्य कारण होते थे—एक तो हमलावर युद्ध-कौशल को छोड़ कर शेष अन्य सभी क्षेत्रों मे चीन की तुलना मे कम विकसित होते थे, और दूसरे, हमलावर स्वय आकर चीनी साम्राज्य मे बसते थे, जनता से जनता मिलती थी और अधिक विकसित लोगो की छाप कम सभ्य लोगो पर पड़ती थी।

आधुनिक युग मे जिन्होंने चीन को जीता, उनके साधन बिलकुल भिन्न थे। यह सच है कि यूरोप जब पूर्व में बढा तो या तो सेना उसके साथ ही थी या निकट पृष्ठभूमि मे थी; किन्तु यूरोपीय लोग बड़ी सख्या मे चीन नही आये और न उनकी सरकारो ने चीन की भूमि पर नियत्रण करने या आधिपत्य जमाने का ही प्रयास किया। किन्तु, सन् १९०० के बाद चीन पर वास्तविक विजय की गयी। नियंत्रण के उपकरण सेना की तुलना में कम मूर्त्त या गोचर थे और इसलिए अधिक कपटपूर्ण थे और अंतत, अधिक भयावह थे। चीनियो के लिए यह प्रक्रिया यूरोपीय पूँजी के अदृष्ट पजो मे धीरे-धीरे फँसते जाने के समान थी। मुक्का आंदोलन के बाद क्षतिपूर्ति व अन्य हरजानो की राशियो के लिए विदेशी तटकर शुल्क जमानत के रूप मे बँध गया था; प्रान्तीय राजस्व दृष्टि-बन्धक हो चुका था; विदेशी पूँजी से चीनी सरकार ने जो ऋण लिये थे उनकी अदायगी के लिए नमक कर का पुनस्सगठन कर उसे विदेशी प्रशासन में लिया जा चुका था; यातायात की धमनियाँ—रेलवे लाइनें विदेशी धन से बनी थी और उस धन की अदायगी की अवधि के लिए इन लाइनों पर न्यूनाधिक विदेशी नियत्रण थे। चीन पर विदेशी पूँजी के बढ़ते हुए नियंत्रण के ये कुछ ऐसे ठोस और स्पष्ट दृष्टिगोचर उद्धरण थे जिनसे अतत: चीनी राज्य की प्रभुता समाप्त हो सकती थी।

इस अध्याय मे पूँजी द्वारा नियत्रण, अर्थात् पूँजीगत साम्राज्यवाद का सक्षिप्त वर्णन करना उपयुक्त होगा। अमरीका व यूरोपीय शक्तियो के चीन मे आर्थिक हितो की जाँच के मुकाबले मे इस विवेचना का क्षेत्र अधिक सीमित व निश्चित है। पूँजी-साम्राज्यवाद आर्थिक साम्राज्यवाद की प्रक्रिया का एक अगमात्र है, किन्तु चीन मे सन् १९१४ के पहले तक यह अग राजनीतिक दृष्टि से सबसे अधिक महत्त्वपूर्ण था।

## (२) चीन मे प्रारम्भिक पश्चिमी दिलचस्पी

पहले ही कहा जा चुका है कि चीनी साम्राज्य के द्वार उन्मुक्त करने मे पश्चिमी राष्ट्रो की प्रारम्भिक दिलचस्पी व्यावसायिक थी। मुख्य व्यापारिक शक्ति के रूप में ब्रिटेन ने व्यावसायिक सपर्क के मार्ग की बाधाओ को ध्वस्त करने का नेतृत्व किया था। विदेशियो के लिए जो भी अधिकार व विशेष सुविधाओ की माँग की जाती थी वह नियमत· अधिक लाभदायक व्यापार की आवश्यकताओ को ध्यान मे रख कर की जाती थी; ईसाई धर्म-प्रचारको व उनके काम के लिए सुविधाओ की माँग सामान्यत गौण होती थी। किसी विशिष्ट विदेशी शक्ति की दिलचस्पी कितनी व्यावसायिक व आर्थिक और कितनी राजनीतिक व क्षेत्रीय थी, इस पर उसकी माँगो का स्वरूप निर्धारित होता था। उन्नीसवी शताब्दी के अत के आसपास, चीनी साम्राज्य के विभिन्न भागो मे विदेशी शक्तियो ने हितो व दिलचस्पियो के एकाधिकार माँगने व स्थापित करने शुरू किये, इन हितो को स्वरूप तो आर्थिक ही दिया गया, किन्तु मूलत वे राजनीतिक ही थे। किन्तु सपर्क के आधुनिक युग में पूर्वीय देशो के सबध मे इन पश्चिमी शक्तियो की नीतियो के पीछे आर्थिक लाभ ही मुख्य उद्देश्य था। जैसा कि ओवरलाक ने लिखा है—"तो फिर, सबसे अधिक महत्त्व की बात यही है कि, सपर्क, सीमा-शुल्क, राज्यक्षेत्रातीतता, दिलचस्पी के क्षेत्र, रेलवे लाइनें बिछाने के लिए रिआयते व नियत्रण—इन सबके लिए समझौतो व सधियो की शर्तो का मूल उद्देश्य चीनी जनता की भलाई नहीं, पश्चिमी देशो की व्यापारिक सुविधाएँ व आर्थिक लाभ ही था।"[१]

यह कहना बहुत कठिन है कि सपर्क की इन निर्धारित शर्तों के कारण ही या मुख्यत. उन्ही के कारण यूरोप द्वारा माँगे गये व्यापार का विकास हुआ; हाँ, सधियो द्वारा नये बन्दरगाहो द्वारा चीन देश में प्रवेश करने और स्थानीय जनता के विरोध के बावजूद व्यापार की सुविधा व सुरक्षा प्राप्त करने से इस व्यवसाय की सभावनाएँ अवश्य बढी। किन्तु, कुछ भी हो, टीटसीन संधियो के बाद, चीन के विदेशी नियंत्रण की आशंका बढ़ाये बिना, विदेशी व्यापार बहुत अधिक बढ़ा। सन् १८६७ मे कुल आयात ६,९३,२९,७४१ ताएल के हुए थे, वही आयात सन् १९०५ मे बढकर, ४४,७१,००,७९१ ताएल के हो

गये थे। निर्यात की प्रगति धीमी अवश्य थी, किन्तु तब भी इसकी मात्रा मे भी पर्याप्त वृद्धि हुई थी, सन् १८६७ में चीन से कुल निर्यात ५, ७८, ९५, ७१३ तायल के थे जो सन् १९०५ मे बढकर २२,७८,८८,१९७ ताएल के हो गये थे।[7] आयात मे विदेशी मिलो मे बने सामान की खपत अधिक बढी थी। जब चीन से व्यापार के लिए प्रारम्भिक सधियाँ हुई थी तो अफीम के आयात के कारण ही व्यापार-सतुलन चीन के विरुद्ध हुआ था। सन् १८६७ मे अफीम का आयात कुल आयात का ४६ प्रतिशत था, सन् १९०५ मे यह प्रतिशत गिर कर साढे सात रह गया था। कुल जितनी अफीम चीन में विदेशों से आती थी उसकी मात्रा में बहुत थोडी ही कमी हुई थी और यह कमी भी देश के भीतर ही अफीम की उपज काफी बढ जाने के कारण हुई थी, विदेशी व्यापारियो मे नैतिकता के विकास के कारण नही। किन्तु देखा यह गया था कि अफीम की रफ्तनी से चीनी जनता की क्रयशक्ति काफी हद तक चुक जाती थी और अन्य सामान के आयात की मात्रा नही बढ पाती थी। सन् १८६७ से सन् १९०५ के बीच आयात का जो विकास हुआ था उसमे सूती कपडा व सूत का आयात २१ से बढकर ४० प्रतिशत हो गया था, धातुओं का २ से बढकर १० प्रतिशत हो गया था, विविध वस्तुओ का २० से बढकर ४० प्रतिशत हो गया था, किन्तु, ऊनी वस्त्रों का आयात १० से गिरकर केवल एक प्रतिशत रह गया था। निर्यात मे भी इसी प्रकार परिवर्तन हुए थे, यद्यपि वे इतने बड़े नही थे। इसी अवधि मे चाय का निर्यात ५९ प्रतिशत से गिरकर ११ प्रतिशत हो गया था, रेशम व उसके सामान का प्रतिशत ३४ से गिरकर ३१ हो गया था तथा विविध सामान का प्रतिशत ७ से बढकर ५८ हो गया था। सन् १९०५ मे चीन ने निर्यात की तुलना मे २१ करोड ९० लाख ताएल से अधिक राशि का अधिक आयात किया था, इसका कारण यह था कि पश्चिम मे बने माल की चीन में खपत बढ़ गयी थी, किन्तु चीन में बने सामान की खपत पश्चिम मे इतनी नही बढ़ी थी। भारत, जापान व श्रीलका भी चाय के बाजार मे प्रतियोगी बन चुके थे जिससे चीनी चाय की खपत कम हो गयी थी; जापान व यूरोप में रेशम के विकास से चीनी रेशम की बिक्री पर बुरा असर पडा था, विविध वस्तुओ मे निर्यात के लिए कुछ नयी चीजे शामिल अवश्य हो गयी थी, किन्तु उनकी माँग बहुत अधिक नही थी और आयात-निर्यात सतुलन लगातार चीन के विरुद्ध ही था।

इस अवधि मे विदेशी शक्तियों का मुख्य उद्देश्य व्यापार रहने के कारण नीति-निर्धारण मे व्यापारियो का काफी हाथ रहता था। उदाहरणार्थ, ब्रिटेन व अमरीका के चीन स्थित व्यापारी लगातार अपनी-अपनी सरकारो पर और अधिक तेजी से

बढने के लिए दवाव डालते रहते थे। किन्तु नीतिनिर्धारण पर प्रभाव होते हुए भी व्यापारी उसका नियत्रण नही करते थे और न व्यापार केवल राजनीतिक उद्देश्यो से ही बढाया व विकसित किया जाता था। किन्तु अन्य क्षेत्रो की भाँति चीन मे भी, राजनयिक प्रतिनिधि कानूनी व राजनीतिक उद्देश्यो की तुलना मे धीरे-धीरे आर्थिक महत्त्व के दावे करने मे अधिक व्यस्त होते गये थे। और जैसे-जैसे, विशेषकर सन् १८९५ के बाद, आर्थिक व पूँजी लगाने के हितो का विकास होता गया, पूँजी व राजनय का गठबन्धन होता गया जिसमे कभी पूँजी वरीयता पा जाती थी और कभी राजनय। चीन मे विदेशी पूँजी हितो के विकास के अध्ययन से पूर्व इस तथ्य की विवेचना आवश्यक है कि राजनय और पूँजी के सबंधो का मूल स्वभाव क्या था और तर्कसंगति कितनी थी।

## (३) पूँजी व राजनय के संबंध

दो राज्यो के बीच मैत्री व आपसी समझ के सबध कायम रखने और एक देश के वैध हितो को दूसरे देश मे बढाने की कला को ही सच्ची राजनयिकता कहते हे। यदि मैत्री कायम रखनी है और आपसी समझ को बढाना है तो इन हितो के विकास मे उचित व अवैधानिक हितो मे अतर करना बडा आवश्यक होता है। उचित हित वही समझा जाता है जिससे दोनो देशो का लाभ हो।

आपसी लेन-देन के अन्योन्य आधार पर विकसित व्यापार वैध और आवश्यक होता है और राजनयिक प्रतिनिधियो के लिए सबधो के इस विकास के लाभ प्रदर्शित कर क्रय-विक्रय के अधिकार प्राप्त करना आवश्यक कर्त्तव्य होता है। इन प्रतिनिधियो को दूसरो के पक्ष में बरते जा रहे भेदभाव से अपने व्यापार-हितो की रक्षा सावधानी के साथ करनी होती है। फिर, चीन-जैसे देश को अपने विकास के लिए विदेशी पूँजी की आवश्यकता होती है और विदेशी प्रतिनिधियो का यह कर्त्तव्य होता है कि वे पूँजी लागत मे समता के आधार पर अपने-अपने देशो की पूँजी लगवाये और जहाँ तक संभव हो, अपने देश के पूँजी लगाने वालो के हितो की पूर्ण सुरक्षा प्राप्त करे।

किन्तु, जब राजनयिक प्रतिनिधि चीन-जैसे राजनीतिक दृष्टि से पिछड़े हुए देश की सरकार पर किसी एक देश के नागरिको के लिए पूँजी लगाने या व्यापार की इजारेदारी प्राप्त करने के लिए दबाव डालने लगते हैं, या व्यापार की ऐसी शर्तें स्वीकार करवाने के लिए दबाव डालते है जो उस पिछड़े हुए देश के हित मे बिलकुल न हो, या, पिछड़े हुए देश को उन शर्तों पर ऋण लेने को बाध्य करते है जो अन्य देशो से मिल सकने वाले ऋणो की शर्तो की तुलना में उस देश के लिए कम हितकर हो, तब, यह स्वीकार करना पड़ेगा कि वे राजनीतिक प्रतिनिधि अपनी सही

स्थिति से आगे बढ रहे है। ऐसी काररवाईयो से अतत. किसी भी देश का हित साधन नही होता।

इसके अतिरिक्त, जब राजनयिक प्रतिनिधि ऐसी विशेष सुविधाओ के प्राप्त करने मे अनुयायी हो जिनके लिए व्यापारियो या विशेष कर पूंजी लगानेवालो ने अनुरोध नही किया हो तब यही समझना तर्कसगत होगा कि इस काररवाई के पीछे विशुद्ध आर्थिक नही, राजनीतिक उद्देश्य है।[3] दूसरे शब्दो मे, जब व्यवमाय व राजनय मे उचित सबध स्थापित होते है तब राजनय को व्यवसाय के वैध हितो का ही विकास करना चाहिए, अपने लक्ष्य साधन के लिए नये व्यावसायिक हितो को पैदा नही करना चाहिए।

यदि यह दृष्टिकोण सही है तो पीकिंग मे प्रतिनिधित्व प्राप्त अनेक शक्तियो की राजनयिक कार्यवाहियो में, तथा चीन मे उनके व्यापारिक व पूंजी हितो मे, या उनके देशो के व्यापारियो व पूंजी लगाने वालो के अपनी-अपनी सरकारो पर व्यावसायिक व पूंजी योजनाओ में सहायता देने के दबाव मे, सतुलन होना चाहिए था। इस सतुलन के अभाव मे यह मानना ही उचित होगा कि राजनयिक काररवाइयो का असली उद्देश्य राजनीतिक था।

सन् १९०५ के पहले चीनी साम्राज्य के साथ होनेवाले रूस को छोड कर शेष यूरोपीय देशों के व्यापार का अलग-अलग हिसाब नही रखा जाता था। सीमा-शुल्क विभाग के प्रतिवेदनो में उन्हें सामूहिक रूप से व्यापारिक इकाई मान लिया जाता था। सन् १९०० में सबसे अधिक व्यापार करनेवाला देश था ब्रिटेन। आयात व निर्यात, दोनो दृष्टियो से जापान का नम्बर दूसरा था और अमरीका का तीसरा। रूस के व्यापार का आयतन अमरीकी व्यापार का आधा था और फ्रांस व जर्मनी व यूरोप के अन्य देशो का व्यापार सामूहिक रूप से अमरीका के कुल व्यापार से कुछ ही अधिक था। सन् १८९६ मे इन राज्यो का व्यापार और भी कम था, सन् १८९६ से सन् १९०० के बीच के चार वर्षों में हुई काररवाइयो के फलस्वरूप इस व्यापार मे कुछ वृद्धि हुई थी।

किन्तु जब राजनयिक कार्यवाहियो पर दृष्टि जाती है, वहाँ बिलकुल भिन्न स्थिति प्रकट होती है। पीकिंग मे सबसे अधिक सक्रिय सहायता रूस और फ्रांस से प्राप्त होती थी। चीन सरकार से दावे करने मे सबसे कम सक्रिय था अमरीका। इन वर्षों में सन् १९०० के फौरन बाद की अवधि में चीन पर जो दबाव पड़े उनका मुख्य लक्षण व्यापार-संबंधो के विकास की इच्छा नही था। संभवतः इसका कारण यह था कि व्यापार के विकास से राजनीतिक उद्देश्यो की पूर्ति इतनी तेजी से नही

हो सकती थी। अतएव, विभिन्न देशों की स्थिति व नीतियाँ समझने के लिए पूँजी की ओर दृष्टिपात करना होगा।

इसके अतिरिक्त, अतरराष्ट्रीय परिस्थिति की सही समझ के लिए पूँजी व राजनय के पारस्परिक सबधो के अध्ययन के समय यह भी देखना होगा कि पूँजी राजनय का उपयोग करती थी या राजनय पूँजी का। चीन-जैसे देशो मे बहुधा पूँजी लगाने के लिए राजनयिक दबाव का उपयोग हुआ है। इस पूँजी लागत को बाद मे इसकी रक्षा के लिए कदम उठाने का बहाना बनाया गया है। इस हस्तक्षेप के फलस्वरूप कुछ नयी विशेष सुविधाएँ व अधिकार प्राप्त किये गये है, और यह देखे बिना कि इन सुविधाओ का उपयोग भी हो पाया है या नही, नये हस्तक्षेप की बुनियादे डाल दी गयी है। कभी-कभी इस हस्तक्षेप के फलस्वरूप पूँजी व सरक्षणात्मक सेवाओ के राजनीतिक निरीक्षण के अधिकार भी थोडी-बहुत मात्रा मे प्राप्त हो गये है। दूसरे शब्दो मे, किसी पिछड़े देश मे प्रत्यक्षत शातिमय प्रतीत होनेवाले आर्थिक प्रवेश के असली उद्देश्य आर्थिक न होकर हमेशा ही राजनीतिक रहे है। और जहाँ ऐसी कारखाइयो की प्रेरणा पूँजी से न आकर सरकार से आयी है, वहाँ राजनीतिक उद्देश्य की सभावना और भी अधिक रही है।

## (४) चीन की वित्तीय समस्याओं की विशेषताएँ

चीन की वित्तीय समस्या की कुछ विशेषताएँ थी। एक तो काफी समय से चीन अपने विकास और क्षतिपूर्ति की अदायगियो के कारण बढते हुए खर्च को पूरा करने के लिए लगभग पूर्णतः विदेशी पूँजी पर निर्भर था। विकास के लिए देश मे धन मिलना कठिन था, इसलिए नही कि देश में पूँजी नही थी, बल्कि इसलिए कि लोगों को रेलवे लाइनें बनाने व खानो के उपयोग करने मे सरकार की क्षमता मे विश्वास नही था, और इन्ही दो क्षेत्रो मे काफी धन लगता था। मिश्रित पूँजी कपनियो के ऐसे सगठनो के सबंध मे ज्ञान और विश्वास भी कम था जो काफी बड़ी पूँजी लोगो के हाथ मे केन्द्रित कर सकती थी। सरकार के बढते हुए खर्च को पूरा करने के लिए बस सरकार की बँधी हुई राजस्व व्यवस्था की बँधी हुई आय थी और इस राजस्व के अतीत की परपरा और परिपाटी पर आधारित होने के कारण उसके आसानी से बदले जाने की भी सभावना नही थी। भूमि-कर या नमक उत्पादन पर लगने वाले शुल्क से आय तभी बढ सकती थी जब उनकी दरें बढा दी जाती और दर बढाते ही जनता के गभीर प्रतिरोध का सामना करना पड़ता। इसके अतिरिक्त, जहाँ अन्य देशो के लिए विदेशी माल पर लगने वाला सीमा-शुल्क आय का मुख्य लचीला साधन होता है, चीन, इस शुल्क की दरें सधियों द्वारा निश्चित होने के कारण

अपनी नयी आवश्यकताओ की पूर्ति के लिए ये दरे बढाने मे असमर्थ था और ये दरे बढाने मे वह सन् १९३० के बाद ही समर्थ हुआ । तात्कालिक करो की वसूली व्यवस्था के पुनस्सगठन से भी आय बढाना असभव था क्योंकि रिश्वत के अवसर देखते हुए अधिकारी इसमे सहयोग नही करते थे । फलत , प्रति व्यक्ति कर-भार अपेक्षया कम होते हुए भी चीनी साम्राज्य को अपनी सरकार की तात्कालिक आवश्यकताओ की पूर्ति के लिए विदेशी पूँजी का सहारा लेना पडता था और रेलवे निर्माण-जसी बड़ी-बड़ी विकास योजनाओ मे विदेशी वित्तीय सहायता की अपेक्षा रहती थी।

दूसरे, चीन के देयो को सावधानी से जाँचने पर यह बात आसानी से समझ मे आती थी कि विदेशी पूँजी और राजनय के घनिष्ठ सबधो के कारण विश्वयुद्ध से पहले चीन के निर्जीव सरकारी देयो मे अतर करना लगभग असभव था ।[६]

तीसरे, विशेष राष्ट्रीय वित्तीय सस्थाएँ चीन की आर्थिक सहायता करने व उससे रिआयत्तें प्राप्त करने के लिए अपनी-अपनी सरकारो की सहायता लेती थी ।

इस प्रकार, जापान ने जो भी ऋण दिये वे लगभग सभी योकोहामा सोना-चाँदी बैक....और ताइवान बैक, चोजन बैक व जापान के औद्योगिक बैक के अभिषद द्वारा दिये गये थे........हागकाग व शंघाई बैंकिंग निगम और जारडीन मैथेसन कम्पनी के व्यापारिक फर्म द्वारा ब्रिटेन के पूँजी हित लागू हुए थे । जर्मनी के वित्तीय हितो की देखभाल ड्यूट्श-एशियाटिश बैक करता था । रूसी पूँजी हितो ने बैक रशो-एशियाटिक को, जो पहले बैक रशो-चिनोइज कहलाता था, अपना काम सौप रखा था । बैंक द इण्डो-चीन व उसके साथ क्रेडिट लिओनेज कौम्पटौयर नेशनल ड' एस कोम्पटे द पेरिस व अन्य बैको के द्वारा फ्रांस अपना लेन-देन करता था । बेल्जियम सोसायटी बेल्ज द' एट्रूड्स द चेमिंस फर एन चीन के द्वारा काम करता था । अमरीकी हित अधिकांशत. एक बैक समूह का उपयोग करते थे जिसे जे० पी मॉर्गन एण्ड कम्पनी, कुह्न, लोएब एण्ड कपनी, फर्स्ट नेशनल बैक आव न्यूयार्क व न्यूयार्क के नेशनल सिटी बैक ने स्थापित किया था । अमरीकी धनपति इण्टरनेशनल बैंकिंग कार्पोरेशन व ली हिगिनसन एण्ड कम्पनी का भी उपयोग करते थे ।[५]

इस प्रकार, उत्तरदायी पूँजी सस्थाएँ बहुधा चीन में पूँजी लगाने में असमर्थ रही है[६] क्योकि उन्हें अपनी-अपनी सरकारो की सहायता व समर्थन प्राप्त नही था और इस सरकारी सहायता का एकाधिकार अन्य सस्थाओं या सस्था समूहो को प्राप्त रहा हैं । इसका प्रभाव यह हुआ कि चीन संसार के पूँजी बाजार से सुविधाजनक शर्तों पर पूँजी व ऋण भी नही प्राप्त कर सका ।

## (५) विदेशों की पूँजी लगाने की कारवाइयाँ (१८९५-१९०८)

सन् १८९५ के बाद चीन मे पूँजी लगाने और चीन सरकार को ऋण देने के लिए विदेशी शक्तियो ने जो कदम उठाये, उन्हे दो भागो मे बाँटा जा सकता है। सन् १८९५ से सन् १९०८ तक विभिन्न देश पूँजी लगाने मे एक-दूसरे से होड़ लगाये रहे; सन् १९०८ के बाद इन देशो ने अबाध प्रतियोगिता के खतरो को धीरे-धीरे समझना शुरू किया और चीन के आर्थिक व पूँजीगत शोषण व उसके विकास मे धन लगाने मे एक-दूसरे से सहयोग करने का मार्ग अपनाना शुरू किया।

जापान से युद्ध के पहले चीन पर विदेशी ऋणो की मात्रा नगण्य थी। किन्तु इस युद्ध के फलस्वरूप चीन को २३ करोड ताएल की क्षतिपूर्ति की राशि देनी पडी। जिस तरह लिआओतुग प्रायद्वीप के सबध मे हुआ था, रूस ने तत्काल आगे बढ़कर चीन सरकार को क्षतिपूर्ति की पहली किस्त अदा करने के लिए ऋण देने का प्रस्ताव किया। यद्यपि ४० करोड फ्राक का यह ऋण रूस व फ्रास ने मिल कर दिया था, लगभग पूरी-की-पूरी राशि फ्रास मे ही इकट्ठा की गयी थी। इस राशि के लिए रूस सरकार ने गारण्टी दी थी और चीन के समुद्री सीमा-शुल्क की आय इसके लिए बंधक रखी गयी थी। रूस के पास कर्ज देने के लिए धन नही था, किन्तु पीकिंग मे अपनी स्थिति मजबूत करने के लिए उसने इसके लिए गारण्टी ले ली थी।

क्षतिपूर्ति की दूसरी किस्त की अदायगी के समय ब्रिटेन ने तत्काल चीन पर दबाव डाला कि इस बार १ करोड ६० लाख पौड का ऋण ब्रिटेन से लिया जाय।[७] यह ऋण ब्रिटेन व जर्मनी ने मिल कर दिया और जर्मनी व ब्रिटेन के चीनी आर्थिक मसलो में सहयोग का यहाँ प्रारम्भ हुआ। सन् १८९८ मे जब क्षतिपूर्ति की किस्त देने का समय आया अग्रेज व जर्मनी के धनपतियो को रूसी व फ्रासीसी महाजनो से प्रतियोगिता करनी पड़ी; दोनो गुट चीन सरकार पर अपना-अपना कर्ज स्वीकार कराने के लिए दावे करते रहे। ब्रिटिश दूतावास के कड़े दबाब मे आकर चीन ने अतत जर्मनी व ब्रिटेन का कर्ज स्वीकार कर लिया, यद्यपि रूस की कर्ज की शर्तें चीन के अधिक अनुकूल थीं। किन्तु इस कर्ज के लिए किसी सरकारी गारण्टी की आवश्यकता नही पड़ी थी और इस दृष्टि से यह कर्ज रूसी कर्ज के मुकाबले मे अधिक 'वित्तीय' दृष्टिकोण से प्रभावित था। तब भी, जापान से युद्ध के फलस्वरूप उत्पन्न आर्थिक कठिनाइयो से चीन के मुक्त होने में अग्रेज धनपतियो की सहायता के अधिकार का दावा करने के पीछे ब्रिटेन का उद्देश्य यह तो था ही कि रूस के बढ़ते हुए प्रभाव को रोका जाय। यह पहले ही कहा जा चुका है कि सन् १८९८ व उसके बाद आर्थिक विशेषाधिकारो के लिए आपाधापी के समय इन दोनो गुटों ने अपनी

उदारता के लिए खूब इनाम पाये थे।

मुक्केबाजो के उपद्रव की असफलता के बाद चीन पर दूसरा बडा कर्ज लादा गया था, ४५ करोड ताएल का। इस देय की सुरक्षा के लिए समुद्री सीमा-शुल्क के शेष भाग को, जो तटकर दरो को बढाकर प्रभावी पाँच प्रतिशत किया जा चुका था, बन्धक रखा गया, मुक्त बन्दरगाहो पर चीनी सीमा-शुल्क-सेवा जो देशी तटकर वसूल करती थी उसकी आय बधक हुई तथा नमक-कर की आय बन्धक हुई। समुद्री सीमा-शुल्क को कर्ज लेने की प्रारम्भिक स्थिति मे ही बन्धक रख लेने का कारण यह था कि इसकी वसूली की व्यवस्था विदेशी निरीक्षण मे थी और इस सेवा की क्षमता काफी थी।

इसके उपरान्त चीन सन् १९११ तक सरकारी खर्च के लिए उधार लेने के लिए बाध्य नही हुआ। किन्तु उस वर्ष के अपूर्ण मुद्रा विनिमय ऋण तथा सन् १९१३ के पुनस्सगठन ऋण के उपरान्त (पुनस्सगठन सन् १९११ की क्राति के बाद शुरू हुआ था) सरकार प्रशासकीय व्यय के लिए विदेशी सहायता पर अधिकाधिक निर्भर करने लगी। किन्तु इन ऋणो पर आगे विचार किया जायगा क्योकि ये अंतरराष्ट्रीय सहयोग के दूसरे युग मे लिये गये थे।

यद्यपि सरकार द्वारा लिये गये ऋणो का महत्त्व था, विदेशी पूँजी लगाने का मुख्य माध्यम रेलवे लाइनें डालने के लिए रिआयतें प्राप्त कर उनका उपयोग करने में निहित था। विदेशी शक्तियाँ रेलवे लाइनो के निर्माण द्वारा ही देश के भीतर प्रभावकारी ढंग से प्रवेश कर वहाँ अपने-अपने दिलचस्पी के क्षेत्र विकसित करने की आशा करती थी; और विभिन्न ऋण-सबंधी समझौतों में नियत्रण की जो धाराएँ थी उन्ही से अनेक यूरोपीय राष्ट्रो की नीति और उद्देश्य स्पष्ट रूप से प्रकट होते थे। जहाँ किसी देश के हित विशुद्ध आर्थिक या वित्तीय थे, रेलवे संबंधी समझौतो मे नियंत्रण की धाराएँ इसी प्रकार रखी गयी थी कि लेनदारो के हितो की सुरक्षा हो सके। किन्तु जहाँ उद्देश्य अशत या पूर्णत राजनीतिक थे, वहाँ इन धाराओं के द्वारा व्यापक नियत्रणो की माँग की जाती थी। इन दोनो वर्गो की नियत्रण धाराएँ पाँच थी—मार्ग निर्माण का निरीक्षण, सामान की खरीद मे किसी राष्ट्र की प्राथमिकता, खर्च की लेखा-परीक्षा व अन्य निरीक्षण, ऋण की अदायगी की अवधि में रेलें चलाने के अधिकार तथा रेलवे क्षेत्र का प्रशासन और वहाँ के पुलिस अधिकार। कही-कही पर इन शर्तो के अतिरिक्त ऋण की अदायगी के लिए स्वयं रेलवे लाइनें ही बन्धक रख दी गयी थी। दूसरी जगहो पर ऋण की सुरक्षा के लिए चीन सरकार गारण्टी दे देती थी और राजस्व के किसी अग को ऋण व उसके ब्याज की

अदायगी के लिए सुरक्षित कर देती थी ।

राजनीतिक या सामरिक उद्देश्यो से रेलवे लाइनो के नियत्रण की जहाँ व्यवस्था थी, उनके उदाहरण थे मचूरिया मे रूसी व जापानी लाइने, शानतुग प्रान्त मे जर्मनी की तिसंगताओ—त्सिनानफू लाइन तथा क्वांगसी व युन्नान प्रान्तो मे फ्रासीसी लाइन। इन लाइनों के समझौतो मे ऊपर लिखी पाँचो शर्ते थी । इन लाइनो का निर्माण विदेशी सरकारो द्वारा हुआ था और बनने के बाद कई वर्षो तक उन्हे विदेशी सरकारों के नियत्रण मे चलाया भी गया । चीन सरकार के नियत्रण मे नही । इन समझौतो से यही निष्कर्ष निकलता है कि विदेशी सरकारे अपनी राष्ट्रीय पूँजी के हित में नही, स्वय अपने हित मे ऋण देती थी । दूसरे शब्दो मे, ये ऋण न तो इसलिए दिये गये थे कि वे पूँजी लगाने के लाभकर साधन थे, न इन रेलवे लाइनो का निर्माण इसलिए हुआ था कि इनमे लगनेवाले सामान की बिक्री से लाभ था और न इस दृष्टि से ही उन्हे बिछाया गया था कि उन्हे चलाने से लाभ होगा । कुछ लाइनो के सबध मे तो स्पष्ट था कि आगे आने वाले अनेक वर्षो तक भी वे आर्थिक रूप से लाभदायक न होगी; रेलो के किराये-भाड़े भी लाभ की दृष्टि से निश्चित नही किये गये थे, किन्तु राजनीतिक कारणो से निश्चित किये गये थे।[८] इसके अतिरिक्त, ये सरकारे, इन विशिष्ट सुविधाओ के अतिरिक्त, लगातार अपने-अपने क्षेत्रो में सामान्य-निर्माण की इजारेदारी लेने की भी कोशिश करती रहती थी, ताकि वहाँ के विकास की दिशा का नियत्रण कर सके । फलत., चीन अनेक वर्षों तक यातायात के अपने साधनो के राष्ट्रीय विकास मे बड़ी बाधाओ का सामना करता रहा ।

जिन रेलवे लाइनो की नियंत्रण शर्तें मुख्यत पूँजी लगाने वालो के हितो की सुरक्षा की दृष्टि से तय की गयी थी—फिर वे चाहे जितनी भी व्यापक क्यो न रही हों—उनके उदाहरण-स्वरूप पीकिंग-मुकडेन, शघाई-नानकिंग व पीकिंग-हैनकाउ रेलवे लाइनो के नाम लिये जा सकते है । इनमें से हर एक लाइन के कर्ज की सुरक्षा के लिए रेलवे की सपत्ति ही स्वीकार कर ली गयी थी ताकि ऋण की अदायगी न होने पर रेले लेकर उन्हें हिस्सेदारो के हित में चलाया जा सके । रूसी, जापानी व जर्मनी की लाइनो व इन लाइनो मे अतर यह था कि इन लाइनो के निर्माण व निरीक्षण का काम स्वतंत्र निगमो के हाथो में था जो सीधे विदेशी सरकारी नियत्रण मे नही थे और समझौतो के अधीन जिन्हे यह अधिकार नही मिला था कि रेलें चलाने की नीति बदल कर उन्हे अव्यावसायिक ढंग से चलाने लगे । और ये रेलें चीन सरकार की संपत्ति थीं, विदेशी सरकारो की नही ।

रेलवे लाइनो के निर्माण का बुनियादी काम सन् १८९८ व सन् १९०० के बीच ही हुआ था और उस समय जो रिआयते प्राप्त की गयी थी वे विभिन्न राष्ट्रो ने सामान्यत अपने-अपने दिलचस्पी के क्षेत्रो मे ही की थी। फलत, उनसे चीन के क्षेत्रो मे विभाजित होने को ही बल मिला था। हर देश अपने-अपने क्षेत्र मे अपने पैर मजबूती से जमाने की कोशिश कर रहा था, या तो चीन सरकार पर यह दबाव डाल कर कि किसी अन्य देश को उस क्षेत्र मे रिआयते व सुविधाएँ न दी जायँ, या अन्य देशो से ही इस सबंध मे समझौते करके। एक ओर ब्रिटेन व दूसरी ओर रूस, फ्रांस व जर्मनी ने विभिन्न क्षेत्रो मे एक दूसरे के अधिकारो की वरीयता स्वीकार करने का समझौता किया था,[१] किन्तु सामान्यत, ब्रिटेन व जर्मनी ने तो इस समझौते का पालन किया, रूस ने बेल्जियम की पूँजी लेकर ब्रिटेन के हित-क्षेत्र मे घुसने की कोशिश की और फ्रास ने दक्षिण से याग्त्सी प्रान्तो में अपना प्रभाव बढाने का प्रयास किया।

इस अवधि मे अमरीका ने चीन मे एक रेलवे प्रणाली के निर्माण की रिआयत प्राप्त की थी, किन्तु वहाँ के धनपति इस रिआयत का उपयोग करने मे असफल रहे। अमरीकी सीनेट सदस्य ब्राइस के नेतृत्व मे एक आग्ल-अमरीकी अभिषद द्वारा पीकिंग से हैनकाउ तक मार्ग बनाने के लिए बेल्जियम से होड की गयी। जब चीन ने यह रिआयत बेल्जियम को दे दी तभी उसने अमरीका को भी हैनकाउ से दक्षिण में कैण्टन तक मार्ग बनाने की छूट दे दी। समझा गया था कि इससे चीन का मुख्य उत्तर-दक्षिण मार्ग बिना किसी एक देश का हित बढे तैयार हो जायगा। इस समझौते में स्पष्ट व्यवस्था थी कि इस मार्ग का नियंत्रण अमरीका के हाथो मे ही रहेगा और किसी अन्य देश को उसमें प्रवेश निषेध होगा, किन्तु, बेल्जियम के लोगो ने इस योजना के हिस्से खुले बाजार मे खरीद लिये। सन् १९०३ मे यह रिआयत खत्म कर दी गयी, यद्यपि तब तक जे० पी० मॉर्गन कम्पनी ने योजना का पूर्ण नियंत्रण फिर प्राप्त कर लिया था।

अपनी इस असफलता के बाद अमरीका ने मचूरिया मे दिलचस्पी लेनी शुरू की, जो रूसी-जापानी युद्ध के बाद भी अतरराष्ट्रीय दिलचस्पी व हलचलो का केन्द्र बना हुआ था।

रूस से युद्ध समाप्त होने के बाद जापान के राजमर्मज्ञ मचूरिया के सबंध मे अपनी भविष्य की नीति के बारे मे अनिश्चित थे। अमरीकी रेलवे लाइन निर्माता हैरिमैन ने जापान सरकार से यह समझौता कर लिया कि दक्षिणी मंचूरिया की रेलवे उन्हें पट्टे पर दे दी जायगी और उसे संसार के चारो ओर चलने वाली रेलवे-

प्रणाली के रूप मे चलाया जायगा। यह ईटो-हैरिमैन समझौता बाद मे खत्म कर दिया गया, जापान के मुख्य प्रतिनिधि कोमूरा जब पोर्ट्समाउथ से वापस लौटे तो उन्होने जापान के मचूरिया से तनिक भी पीछे हटने का सख्त विरोध किया, इस बढते हुए विरोध के फलस्वरूप समझौता यह कह कर खत्म कर दिया गया कि रूस द्वारा हस्तातरण की चीन द्वारा स्वीकृति हुए विना रेलवे लाइन जापान की संपत्ति ही नही बन सकेगी।

अब जापान ने अपने अधिकार मे आये क्षेत्रो का योजना-बद्ध विकास शुरू किया। सबसे पहले उसने चीन सरकार से बात चलायी कि रूसी हितो व अधिकारो के जापान को हस्तांतरण को वह स्वीकार कर ले। २२ दिसम्बर, १९०५ की पीकिंग मे हुई कोमूरा संधि मे यह बात स्वीकार कर ली गयी। किन्तु, इस पीकिंग सम्मेलन की अप्रकाशित काररवाई मे यह लिखा था कि दक्षिणी मचूरिया रेलवे की प्रतियोगिता मे या उसके समानान्तर दूसरी लाइन बनाने की कोई सुविधा या अधिकार चीन सरकार किसी अन्य देश को नही देगी। इस गुप्त सधि की बाद में हुई व्याख्या के अनुसार दक्षिणी कोरिया मे रेलवे निर्माण के लिए कोई भी गैर-जापानी विदेशी पूँजी आ ही नही सकती थी और इस प्रकार इस क्षेत्र मे जापान की इजारेदारी थी। इसके अतिरिक्त, रेलवे यातायात के इस नियत्रण की सहायता से जापान ने मचूरिया मे अपने व्यापारिक हित इस प्रकार बढाने शुरू किये कि उनसे अन्य विदेशियो के हितो पर आघात होने लगा। कुछ समय के लिए, डैरन के व्यापारिक बन्दरगाह को जापान के जहाजो व सामानो के अतिरिक्त शेष सभी के लिए बन्द कर दिया गया। जापानी नियंत्रण के रेलगाड़ियों से जापानी माल डैरन से देश के भीतरी भागो मे ले जाया जाता था, यद्यपि उस समय रेलगाड़ियो का एकमात्र उपयोग सेनाओ को हटाने व अन्य फौजी कामो के लिए ही बताया गया था। इस प्रकार जापान चाहता था कि विदेशी प्रतियोगियो के आने के पहले जापान वहाँ अपना बाजार जमा ले। इसके अतिरिक्त, रेलवे लाइन पर जापानी माल को भाड़े में रिआयत मिलती थी, जापान ने यह भी माँग की कि चीन अपने उपभोक्ता-कर जापानी माल पर न लगाये; सामान्यतः, जापान ने वे ही अनेक काम करने शुरू कर दिये जिनका उसने पहले इस आधार पर विरोध किया था कि ये 'उन्मुक्त द्वार' सिद्धान्त के विरुद्ध हैं, जापान ने युद्ध से पहले मचूरिया में रूस और शानतुंग में जर्मनी की काररवाइयो का इसी आधार पर विरोध किया था। प्रशासकीय क्षेत्र मे जापान ने रेलवे क्षेत्र के बाहर चीनी स्थिति पर लगातार नोच-खसोट को सक्षम प्रशासन से संतुलित रखा और रेलवे क्षेत्र में चीन के संदर्भ में तो वह सर्वोच्च बन

ही बैठा था ।

मंचूरिया में अपनी स्थिति व अधिकारो का जापान ने जिस ढग से उपयोग किया उससे कुछ चीनी अधिकारियो ने यह सोचा कि चीन की सर्वोच्च सत्ता प्रमाणित करने के लिए बडी दीवार के उत्तर मे कुछ गैरजापानी पूंजी लगवा दी जाय। अतएव, सन् १९०७ मे मचूरिया के वाइसराय और मुकडेन स्थित अमरीकी वाणिज्य-दूत विलर्ड स्ट्रेट के बीच अमरीकी पूंजी से मचूरिया बैंक स्थापित करने का समझौता हुआ । इस बैंक को मचूरिया सरकार के वित्तीय एजेण्ट के रूप मे काम करना था और रेलवे लाइनो के निर्माण के लिए पूंजी मे साझेदारी करनी थी । किन्तु उसी वर्ष अमरीका मे घबराहट फैलने के कारण सरकार ने इस समझौते पर विचार भी नही किया । उसी वर्ष, कुछ अग्रेज पूंजीपतियो ने हि्सन मिनटुन से फाकूमेन तक रेलवे लाइन डालने के लिए चीन सरकार की अनुमति प्राप्त कर ली । जापान ने तत्काल इसका विरोध किया और कहा कि यह कोमूरा सधि की शर्तो के विपरीत है । जापान के सक्रिय विरोध के समक्ष ब्रिटेन का दूतावास अपने नागरिको के बड़ी दीवार के उत्तर मे हित-निर्माण की रक्षा करने को तैयार नही था और यह योजना भी नही चली । किन्तु, सन् १९०८ मे फिर चिनचाओ से आइगुन तक रेलवे लाइन डालने के लिए चीन सरकार व आंग्ल-अमरीकी पूंजीपतियो के बीच बातचीत चली । टैफ्ट के अमरीकी राष्ट्रपति बनने के बाद वहाँ की सरकार ने इस योजना की ओर ध्यान दिया और हुकुआंग रेलवे योजना में अमरीकी पूंजीपतियो के प्रवेश के बाद इस योजना पर भी समझौता हो गया । चिनचाओ-आइगुन रेलवे लाइन से संबंधित समझौते को २० जनवरी, १९१० को गुप्त रूप से चीन सरकार का अनुसमर्थन प्रदान कर दिया गया ।

## (६) नौक्स के तटस्थीकरण प्रस्ताव

इस रिआयत से संबंधित समझौते के चीन सरकार के अनुसमर्थन से पहले अमरीकी परराष्ट्र विभाग ने मचूरिया की स्थिति के पूर्ण स्पष्टीकरण के लिए प्रयास किया और परराष्ट्र सचिव नौक्स ने मंचूरिया की सभी रेलवे लाइनो के तटस्थीकरण का प्रसिद्ध प्रस्ताव पेश किया । इस प्रस्ताव के उपयुक्त होने के पक्ष मे दो तर्क दिये गये । एक तो ४ अक्तूबर, १९०९ को स्वीकृत चिनचाओ-आइगुन रेलवे रिआयत से अमरीकी हितो का मचूरिया मे एक ठोस आधार बन गया था और अमरीका वहाँ केवल निष्पक्ष 'बाहरी' शक्ति के रूप मे नही था । यदि वहाँ दिलचस्पी रखने वाले अन्य राज्यो से वह अपनी-अपनी रिआयते छोड़ने को कह रहा था तो साथ ही

वह स्वय अपने को मिली एक रिआयत भी छोडने को तैयार था। वास्तव मे चिन-चाओ-आइगुन समझौते मे जल्दी करने का असली उद्देश्य यही था। दूसरे, सन् १९०९ मे हैरिमैन ने अपनी मृत्यु से ठीक पहले, रूस से यह सकेत पाकर कि जार की सरकार चीनी पूर्वी रेलवे की बिक्री या पट्टे के प्रस्ताव पर विचार करने के लिए तैयार हो सकती है, अपनी ससार के चारो ओर ले जाने की योजना को फिर से चालू कर दिया था। फिर, यह भी ज्ञात था कि आर्थिक कठिनाईयो के कारण जापान सरकार दक्षिणी मचूरिया की अपनी सपत्ति बेच सकती है यदि उसके अन्य हितो पर उससे आँच न आये।

प्रस्ताव के समर्थन में जो भी तर्क रहे हो, उस पर विभिन्न राज्यो को राजी करने का जो ढग अपनाया गया उसकी काफी आलोचना हुई। पहले तो, रूस से मिले सकेत को परिपक्व कर उससे पूर्वी चीनी रेलवे की बिक्री का आश्वासन ले लेना चाहिए था। इससे जापान पर इस बात के लिए ठीक से दबाव पड़ सकता कि वह दक्षिणी मंचूरिया रेलवे के नियत्रण का अतरराष्ट्रीयकरण कर दे। इससे रूस के इस आधार पर योजना के विरोध का भी अत हो सकता था कि किसी आग्ल-अमरीकी सहायता से चलने वाली नीति के लिए रूस का समर्थन शुरू से ही मिल ही जायगा, ऐसा क्यो मान लिया गया। क्योकि रूस और जापान से समझौते की बात शुरू होने के बाद ही ब्रिटेन से बात चलाना अधिक उपयुक्त होता। जब ब्रिटेन ने अमरीकी प्रस्ताव का स्वागत नही किया तब उसके समर्थन के लिए अन्य प्रयास करने के पूर्व ही आगे की काररवाई करना ठीक नहीं हुआ, इससे यह भी पता लग सकता है कि अमरीका की दिलचस्पी इस प्रस्ताव को स्वीकार कराने में उतनी नही थी जितनी कि विभिन्न देशो के मंचूरिया सबंधी उद्देश्य और इरादो पर लोगो का ध्यान केन्द्रित करने मे।

सक्षेप में, प्रस्ताव यह था कि एक अंतरराष्ट्रीय अभिषद् बना कर चीन को काफी बड़ा ऋण दिया जाय जिससे वह रूसी व जापानी हितो को खरीद सके, मचूरिया की रेलवे लाइनों का तटस्थीकरण कर दिया जाय और उनका प्रशासन अतरराष्ट्रीय नियत्रण में तब तक रहे जब तक यह कर्ज अदा न हो जाय। ब्रिटेन से इस सबंध मे जब बातचीत चल रही थी तभी नौक्स ने सुझाव दिया कि यदि ब्रिटेन पूरे मचूरिया के संबंध में इस योजना का समर्थन न कर सके तो वह कम-से-कम चिनचाओ-आइगुन योजना को अपना राजनयिक सहयोग दे और इस योजना में अन्य देशो को भी हिस्सा दिया जा सकता है।

ब्रिटेन का उत्तर निराशाजनक था क्योंकि वहाँ की सरकार ने लिख दिया कि

इतने व्यापक और भविष्य पर प्रभाव डालने वाले प्रस्तावो के लिए अभी उपयुक्त समय नही आया है।[10] ब्रिटेन ने यह भी सुझाव दिया कि जापान की मंचूरिया मे विशिष्ट स्थिति होने के कारण इस चिनचाओ-आइगुन रेल योजना मे उसे शामिल कर लिया जाय। इस प्रकार अमरीकी स्थिति के समर्थन की जगह ब्रिटेन ने जापानी स्थिति को ही स्वीकार कर लिया, अमरीकी तर्क यह था कि मचूरिया में गैर-जापानी पूँजी लगनी चाहिए और ब्रिटेन ने जापान का यह तर्क स्वीकार कर लिया कि दक्षिणी मचूरिया मे जहाँ तक रेले बनाने और पूँजी लगाने का सबंध है, वह जापानी एकाधिकार में है।

जापान व रूस की सरकारो ने अत मे अमरीकी प्रस्ताव पर विचार करने से इनकार कर दिया और उनके उत्तरो की शब्दावली इतनी समान थी कि लगता था कि उन्होने इस सबंध मे पहले समझौता कर रखा था। यह बात ध्यान देने की है कि दोनो देशो ने अपने इनकार मे अन्य कारणों के साथ ही राजनीतिक व सामरिक हितो की बात भी की थी जिसका अर्थ था कि वे मचूरिया मे अपने हित पूँजी व व्यवसाय तक सीमित नही मानते थे, बल्कि उन्हे राजनीतिक भी समझते थे। चिन-चाओ-आइगुन योजना के विरोध मे रूस व जापान दोनो ने चीन सरकार से हुए गुप्त समझौतो को पेश कर दिया जिनके अनुसार चीन इस बात पर राजी हो चुका था कि रूस से परामर्श किये बिना वह उत्तरी मचूरिया मे और जापान से बात किये बिना दक्षिणी मचूरिया मे चागचुन के दक्षिण मे वह रेलवे लाइनो का विकास नही करेगा। रूस की खुली अस्वीकृति और जापान की ऐसी शर्तों पर स्वीकृति, जो सर्वथा अमान्य थी, के कारण चिनचाओ-आइगुन रिआयतो का उपयोग नही हुआ।

मिलार्ड ने नौक्स प्रस्ताव के कुल निष्कर्ष का वर्णन निम्नलिखित शब्दो मे किया है —[11] (१) अपने क्षेत्र मे रेल विकास की दिशा व ढंग क्या हो यह तय करने का अधिकार विदेशी राज्यो ने चीन से छीन लिया था; (२) चीनी क्षेत्र में रेले कैसे व कहाँ बनें इसके निर्णय में कुछ विदेशी शक्तियों के राजनीतिक व सामरिक हित सर्वोपरि माने जायँ—ऐसी कुछ विदेशी राज्यो ने घोषणा कर दी थी; (३) कुछ विदेशी राष्ट्रों ने अपने इस अधिकार की घोषणा कर दी थी कि चीन के क्षेत्र मे कौन रेलें बनायेगा, कौन पूँजी लगायेगा और कौन इन रेलो को चलायेगा इसका निर्णय वे करेंगे और इस सबध मे चीन यदि कोई व्यवस्था करना चाहे तो वे इसका निषेध कर देंगे। यही पर नौक्स प्रस्ताव के दो अन्य प्रभावो का वर्णन किया जा सकता है; वे थे—(१) ब्रिटेन ने अपनी नीति बदल दी थी और "दिलचस्पी के क्षेत्र" सिद्धान्त की ओर वह वापस लौट गया था तथा सभी को समान अवसर के "उन्मुक्त द्वार" सिद्धान्त के व्यापक अर्थों मे उसे तिलांजलि दे दी थी; (२) मंचूरिया के प्रान्तो में अपने-अपने

एकाधिकारो व हित-प्राथमिकताओ की रक्षा के लिए रूस व जापान एक हो गये थे। सन् १९०७ मे उन दोनो के बीच एक राजनीतिक उपसधि हुई थी जिसमे एक दूसरे के मंचूरिया से सबधित अधिकारो का आदर करने का उस हदतक समझौता हुआ था जिस हद तक वे समान अवसर के सिद्धान्त के प्रतिकूल नही पड़ते थे, उन्होने चीन की स्वतत्रता व क्षेत्रीय अविच्छिन्नता और उन्मुक्त द्वार नीति भी सामान्यत स्वीकार की थी और उन्हे कायम रखने व उनकी रक्षा करने का भी फैसला किया था। किन्तु, सन् १९१० मे रूस व जापान ने फिर गुप्त व प्रकट दोनो प्रकार की उपसंधियाँ करके मचूरिया मे अपने-अपने क्षेत्रो की पुनर्व्याख्या की थी और समझौता किया था कि अपने-अपने क्षेत्रो मे स्थिति मजबूत करने और हित आगे बढाने मे वे हस्तक्षेप न करेंगे और यदि उनके मंचूरिया स्थित हितो पर सकट आया तो दोनो मिल कर उसका सामना करेंगे। सन् १९१० की इन उपसधियो मे न तो चीनी क्षेत्रीय अविच्छिन्नता का कोई जिक्र था और न समान अवसर सिद्धान्त की स्वीकृति का।

## (७) पूँजी में अंतरराष्ट्रीय सहयोग

मचूरिया की रेलो के तटस्थीकरण का नौक्स का प्रस्ताव एक तरह से चीन मे पूँजी सहयोग की दिशा मे चल रही प्रवृत्ति का ही एक अग था। मचूरिया की रेलो के अतरराष्ट्रीयकरण के प्रस्ताव पर विचार करने से ब्रिटेन के इनकार का एक कारण यह भी था कि उस समय दक्षिणी व पश्चिमी चीन मे रेलवे लाइनें बनाने मे अनेक राज्य सहयोग की शर्तें तैयार कर रहे थे। रिआयतो के लिए होड लगाने में जो कठिनाइयाँ थी पूँजीपति उन्हें धीरे-धीरे समझने लगे थे। और सरकारे भी यह बात समझने लगी थी कि चीन मे देश के एक छोर से दूसरे छोर तक रेलवे लाइने डालने मे जितनी पूँजी लगती उसमे सभी राज्यो के लिए काफी गुजाइश थी। वे यह भी देखने लगी थी कि प्रतियोगिता से चीन का ही लाभ था क्योकि उसे इस होड़ के फलस्वरूप अधिक लाभदायक शर्तें मिल जाती थी।

उदाहरणार्थ, जब टीटसीन से यांग्त्सी नदी तक मार्ग डालने का प्रश्न आया तो जर्मनी व ब्रिटेन दोनो ने उसमें पूँजी लगाने में प्रतियोगिता की। दोनों देशो के हक इस लाइन में थे क्योकि वह दोनो के दिलचस्पी के क्षेत्रो से होकर गुजरती थी। जर्मनी ब्रिटेन के मुकाबले मे चीन को अधिक सुविधाजनक शर्तें देने को तैयार हो गया, क्योकि ब्रिटेन पूँजी नियंत्रण की सामान्य शर्तों पर ही अडा हुआ था, किन्तु दूसरी ओर पीकिंग में जर्मनी की तुलना मे ब्रिटेन की राजनयिक शक्ति अधिक प्रबल थी। इसके अतिरिक्त, एक-दूसरे के हित-क्षेत्रो का आदर करने के समझौते से दोनों के हाथ बँधे हुए थे। अत में, ऐसी रेलवे लाइन बिछाने की उपयोगिता को

समझते हुए दोनो देशो ने उसमे भागीदार बनने का निश्चय किया और १३ जनवरी, १९०८ को इस सबध मे चीन से समझौता हो गया। जर्मनी को अधिकार मिला कि वह टीटसीन से शानतुग प्रान्त की दक्षिणी सीमा तक रेलवे लाइन डाले और ब्रिटेन को यह अधिकार मिल गया कि वह शंघाई-नानकिंग (ब्रिटेन की) लाइन से इस मार्ग के पुकोव पर होने वाले मिलान तक रेलवे लाइन का निर्माण करे। किन्तु होड के फलस्वरूप चीन उन अनेक शर्तों के लागू होने से बच गया जो नियत्रण के सबध मे सामान्यत लागू होती थी। ऋण की सुरक्षा के लिए स्वय रेल बन्धक नही हुई, बल्कि उसकी जगह कुछ प्रान्तीय राजस्व के मद सुरक्षा मे बॉध दिये गये। फलत', रेलवे भागीदारो के हितो मे प्रशासित होने की बात नही हुई। वास्तव मे, मार्ग के निर्माण व रेल चलाने का काम चीन के हाथो मे ही रहा, यद्यपि उसने जर्मनी व ब्रिटेन के क्षेत्रो मे उन्ही देशो के अभियन्ताओ को नियुक्त करने का निश्चय किया। इसके अतिरिक्त, ऋण के खर्च की देखभाल की शर्त भी समझौते मे नही आयी।

रेलवे ऋणो मे चीन के अनुकूल शर्ते व टीटसीन-पुकोव लाइन की शर्ते समानार्थी मानी जाने लगी। अनेक विदेशियो ने ऋण के नियत्रण सबधी शर्त मे ढिलाई बरतने की वाछनीयता पर शका प्रकट की और खर्च के निरीक्षण के अधिकार को छोड़ देने की आलोचना की। और यह भी स्वीकार किया कि बाद की घटनाओ ने इस शका को उचित साबित किया। इस मार्ग को पूरा करने के लिए एक पूरक ऋण लेना आवश्यक हुआ, क्योकि चीनी नियत्रण मे रेल निर्माण का खर्च बहुत बढ गया था और धन की काफी बरबादी हुई थी।

सन् १९०८ से कई वर्ष पहले बीच-बीच में हैनकाउ से कैण्टन तक और पश्चिम मे हैनकाउ से जेचुआन प्रान्त तक रेलमार्ग बनाने की बात उठी थी। सन् १९०८–१९०९ मे इस प्रश्न पर फिर बातचीत शुरू हुई, इस बात का मुख्य उद्देश्य नियत्रण की मात्रा के सबध मे समझौता करना था, ताकि टीटसीन-पुकोव लाइन के अनभव के बाद भविष्य मे दिये जाने वाले ऋणों के संबंध मे कुछ नीति निर्धारित हो सके। फ्रास और ब्रिटेन, और उससे पहले अमरीका और ब्रिटेन दो मार्गों मे दिलचस्पी रख रहे थे। सन् १९०८ मे जर्मनी ने भी उस दिशा मे दिलचस्पी दिखायी और उसी की काररवाई के फलस्वरूप फ्रांस, जर्मनी व ब्रिटेन के पूँजीपति तथा सरकारी अधिकारियो ने विभिन्न देशो के दावो में समन्वय स्थापित करके सहयोग का आधार ढूँढने के लिए बातचीत चलायी। जब इन देशो के बीच तथा उस क्षेत्र मे बननेवाली रेलो के मसलो के लिए नियुक्त वाइसराय चाग चिह्-तुग के बीच बात तय हो गयी, तभी अमरीकी पूँजी के हितो में अमरीकी सरकार ने हस्तक्षेप किया। जब पीकिंग मे राजनयिक काररवाई से सफलता नही मिली राष्ट्रपति टैफ्ट ने रीजेण्ट को यह तार

देकर अनुरोध करने का असाधारण कदम उठाया कि अमरीकियो को इसमे भाग लेने दिया जाय। सन् १८९८–१९०३ की पुरानी रिआयत इस अनुरोध का आधार थी। टैफ्ट के हस्तक्षेप के बाद अमरीकियों को भाग लेने की अनुमति मिल गयी और चार देशो का एक बैंक समूह बन गया। सहयोग के सिद्धान्त को लागू करने की अपनी वास्तविक इच्छा प्रकट करने के लिए अमरीकी सरकार ने सुझाव रखा कि चीन मे मुद्रा विनिमय के सुधार के लिए जो ऋण दिया जा रहा था उसमे शेष तीनो देश भी शामिल हो जायँ, इस ऋण मे अमरीका को ही एकाधिकार मिला हुआ था। किन्तु, रेलवे-योजना व मुद्रा-सुधार दोनो का काम सन् १९११ व उसके बाद की क्रांतिकारी परिस्थितियो के कारण धीमा पड गया।

## (८) यूरोपीय युद्ध व क्रांति के प्रभाव

क्राति के फलस्वरूप चीनी सरकार के लिए नयी वित्तीय समस्याएँ उठ खडी हुई और सामान्य प्रशासकीय कारखाई के लिए भी वह विदेशी सूत्रों की ओर आर्थिक सहायता के लिए ताकने लगी। तात्कालिक व अत्यावश्यक कारणो से तथा अतत बडी धनराशियो की आवश्यकता के कारण चीन सरकार ने अतरराष्ट्रीय अभिषद् से सहायता की अपेक्षा की। तात्कालिक आवश्यकताओ के लिए अभिषद् जो ऋण दे रहा था उसके बदले में, चीन सरकार ने पुनस्सगठन और पुनर्निर्माण के लिए आवश्यक बड़े ऋण के लिए भी अभिषद् से बातचीत कर दी और इस बड़े ऋण के लिए उसे प्राथमिकता देने का निश्चय किया। जब नयी गणतांत्रिक सरकार ने इस कर्ज के लिए अभिषद् से बात चलायी (कर्ज के राजनीतिक स्वरूप के कारण अभिषद् मे रूस व जापान भी शामिल कर लिये गये थे) उसने ऋण की सुरक्षा के लिए राजस्व पर नियंत्रण की व्यवस्था की माँग की। सरकार ने इन छ' देशो के गुट के बाहर से आवश्यक धन प्राप्ति का प्रयास किया, पर अनेक राष्ट्रीय गुटों द्वारा अपनी-अपनी सरकारों की सहायता पर एकाधिकार होने के कारण वह इस प्रयास मे सफल न हुई। अतत', सन् १९१३ मे नमक-कर को ऋण के लिए बन्धक रखने और विदेशी निरीक्षण मे इस कर-व्यवस्था के पुनस्सगठन की व्यवस्था का समझौता हो गया।

सन् १९१४ मे यूरोप में युद्ध छिड़ जाने के कारण इस पहले सहयोगात्मक राष्ट्र-समूह की वित्तीय कारखाइयों का प्रसार न हो सका। पुनस्सगठन सबंधी ऋण देने मे अमरीका शामिल नही हुआ क्योकि राष्ट्रपति विलसन के निर्देश से परराष्ट्र विभाग ने कह दिया कि "ऋण की शर्तें हमे चीन की प्रशासकीय स्वतत्रता को छूती लगती हैं और यह सरकार ऐसी शर्त मे अप्रत्यक्ष रूप से भी शामिल नही होना चाहती।"[१२] युद्ध शुरू होने पर जर्मनी के पूंजीपति भी इस दिशा में निष्क्रिय हो गये। और अंततः इस समूह के द्वारा मिलने वाले लगभग सभी ऋण जापान से प्राप्त हुए।

आवश्यकतानुसार जब चीन सरकार की ऋण की माँग बढी जापान व अमरीका के पूँजीपतियो ने, स्वतंत्र रूप से, छोटे परिणामो मे, ये ऋण प्रदान किये। इस प्रकार समूह कारवाई की जगह पृथक् कारवाई ने ले ली, और, इस बार अमरीकी प्रेरणा से पेरिस मे समूह को पुनरुज्जीवित करने के समय तक यही सिलसिला जारी रहा।"[१३]

रेलवे लाइनो के निर्माण के क्षेत्र मे भी यही हालत हुई। सन् १९१२ के बाद हुए समझौतो मे विदेशी पूँजी से ६,००० मील से अधिक लम्बी रेले डालने की बात तय हुई थी। इसमे से एक तिहाई से कुछ ही कम लम्बी रेले बनाने का काम ब्रिटेन को मिला था और ब्रिटेन की इन पूँजी सस्थाओ ने जो शर्तें तय की थी उनके अनुसार मुख्य अभियन्ता, मुख्य लेखा निरीक्षक तथा यातायात प्रबन्धक सभी अंग्रेज होने थे और ऋण की अदायगी के लिए रेलवे लाइन ही बन्धक रखी जानी थी। सामान्य शर्तो पर ही रूस व जापान ने मंचूरिया मे अपने रेल हितो का विकास कर लिया था।[१४] शानतुग प्रान्त मे काओमी-यिहसीन व त्सिनान–शुतेफू रेलों के निर्माण के जर्मनी को मिले ठेके सन् १९१३ मे जापान को हस्तातरित कर दिये गये और बाद मे जापान ने उन्हे दूसरे सहयोगात्मक राष्ट्रगुट को सौप दिया। शासी, जेचुआन व शेसी प्रान्तो से उत्तर की ओर दो हजार मील लम्बी रेलवे लाइनें बनाने का काम फ्रास को मिला था; ये रेले अत मे पीकिंग-कालगान मार्ग से मिलनेवाली थी। उत्तर-पश्चिम मे फ्रासीसी हित क्षेत्र के प्रसार के सिवा शेष मार्ग विभिन्न देशो के हित क्षेत्रों से गुजरने वाले थे। जब सन् १९१६ मे सीम्स–केरी नामक एक अमरीकी कम्पनी ने १५०० मील लम्बे रेलमार्ग बनाने का ठेका लिया तो कम्पनी को पुराने दिलचस्पी के क्षेत्र के सिद्धान्त पूर्णतः पुनरुज्जीवित हो गये। इस क्षेत्र में दिलचस्पी रखने वाले विभिन्न देशो की आपत्तियो के निराकरण के लिए चीन सरकार को अमरीकी निर्माण की दिशा व रूपरेखा बनाने का उत्तरदायित्व ओढ़ना पड़ा।

युद्ध व युद्धोत्तरकालीन आर्थिक परिस्थितियो के कारण इन मार्गो के बनाने की दिशा में सन् १९३० के बाद तक लगभग कोई भी काम नहीं किया गया। जो ठेके लिये गये थे उनसे रिआयत पानेवालो के काम शुरू करने मे सुविधा की जगह अन्य देशों के मार्ग मे बाधाएँ ही अधिक पड़ती थी और इससे चीन मे उपयुक्त रेलवे यातायात के विकास में सुविधा की जगह बाधाएँ पड़ी। सन् १९२५ तक ७००० मील से अधिक लम्बी रेलवे लाइनें देश में चल रही थी। निर्माण में बाधाएँ देखते हुए यह अच्छी प्रगति ही मानी जायगी; और यह भी स्वीकार किया जायगा कि

विदेशी प्रभाव के प्रवेश और तज्जनित अनेक समस्याओ व खतरो के बावजूद सचार संवहन के साधनो के विकास व विस्तार व सुधार के फलस्वरूप चीन का भौतिक लाभ ही हुआ था। इन खतरो का वर्णन किया जा चुका है, कुछ मुख्य समस्याएँ इस प्रकार थी—जिन शर्तो पर ऋण मिले और निर्माण के निरीक्षण की शर्ते इतनी भिन्न थी कि सारे देश मे एक ही चौडाई (गेज) के रेल मार्ग नही बने। कुछ मार्ग सामान्य चौड़ाई के थे, रूस ने पाँच फुट चौड़े मार्ग बनाये थे और फ्रास ने मीटर भर (३९ इंच) चौड़ाई की लाइने डाल दी थी। इससे डिब्बो के सतोषजनक उपयोग मे बाधा पडती थी और रेलो को एक इकाई मान कर उनका प्रशासन-प्रबन्ध करना कठिन था। फिर, भिन्न मार्गो पर भिन्न प्रशासन होने और चीनी यातायात मंत्रालय द्वारा उनके प्रभावकारी नियत्रण मे असहाय होने की गभीर समस्या थी। इन तथा अन्य प्रशासकीय कठिनाइयो को हल करने के लिए, जो चीनी रेल प्रणाली के लिए पूँजी व निर्माण की भिन्न-भिन्न शर्तो के कारण उत्पन्न हुई थी, 'सम्मेलनो' के द्वारा प्रयास किये गये और आशिक सफलता भी मिली, रेले चलाने के लिए एक समान प्रणाली बनाने मे सबका सहयोग प्राप्त करना इन सम्मेलनो का उद्देश्य था। इन सम्मेलनो में सरकारी व गैर-सरकारी रेलवे मार्गो के प्रतिनिधि आते थे। सन् १९१६-१९२६ के बीच की अवधि की राजनीतिक अव्यवस्था से उत्पन्न बाधाओ व फौजो द्वारा रेलवे के सामान्य ढग से चलाने मे हस्तक्षेप करने के बावजूद; रेलो के अधिकाधिक उपयोग के साथ इनकी आय व आर्थिक स्थिति लगातार मजबूत होती गयी।

किन्तु फौजी हस्तक्षेप व आंतरिक अशाति के कारण रेलो व अन्य उपकरणो के रख-रखाव मे अक्षमता रही जिससे विदेशी पूँजी पर प्रभाव पडा। और इसी कारण, इसी अवधि मे अनेक रेल-मार्गो के लिए लिये गये ऋणो की किस्तो व ब्याज की अदायगी भी रुकी रही।

## (९) रेलवे-निर्माण चीन का दृष्टिकोण व दिलचस्पी

पूँजी साम्राज्यवाद के चीन में विस्तार से सबंधित इस अध्याय की समाप्ति के पूर्व विभिन्न देशो की काररवाइयो के चीनी जनमत पर हुए प्रभाव पर विचार करना उपयुक्त होगा। पहले तो यह याद रखना होगा कि शुरू मे चीन रेलो या खदानो मे अपनी पूँजी लगाने की स्थिति में बिलकुल ही नही था तथा देश के औद्योगिक व राजनीतिक पुनस्सगठन के लिए आवश्यक पूँजी उसके पास नही थी। जैसे-जैसे शिक्षित वर्ग की समझ में यह तथ्य आता गया चीनी दृष्टिकोण भी समय-समय पर बदलता गया। किन्तु इस विचार-परिवर्तन के बाद भी यह कहा जा सकता है कि

चीनी जनता का दृष्टिकोण इस आशका से प्रभावित था कि उनके देश का आर्थिक नियत्रण विदेशियो के हाथो मे चला जायगा।

जापान से हुए युद्ध के तत्काल बाद के वर्षो मे सन् १८९६ से सन् १९०० बीच हुए समझौतो से जो विदेशी आर्थिक प्रवेश देश मे हो रहा था उस प्रक्रिया का महत्त्व चीनियो की समझ मे ही नही आया। किन्तु रूस ने मचूरिया में रेलवे लाइन का जो उपयोग किया उसने अनेक चीनी अधिकारियो को विदेश नियत्रित रेल मार्ग से राज्य के लिए उत्पन्न सकट के प्रति जागरूक बना दिया। फलत, एक ऐसा समय आया जब चीनी विदेशी ऋण लेने मे हिचकने लगे। कोरिया व मचूरिया के प्रश्न पर रूस और जापान के बीच बढते हुए सघर्ष पर ध्यान केन्द्रित होने के कारण भी ऋणो का लेन-देन बन्द रहा।

रूस-जापान के युद्ध के बाद तो चीनी परिस्थिति की गभीरता के प्रति और भी अधिक सजग हो गये। युद्ध के कारण आतरिक सुधार के आदोलन को बल मिला और उसका एक अग यातायात व सवहन, सचार के राष्ट्रीय साधन विकसित करने का प्रयास भी था। मचूरिया मे हुए सघर्ष के पहले और बाद स्थानीय रूप से इकट्ठी की गयी पूंजी से प्रान्तीय रेल मार्ग के निर्माण के प्रयत्न किये गये। इससे अंतत देश की एकता मे रुकावट आती और केन्द्रीय कुशल अधिकारियों ने यह खतरा फौरन देख लिया। रेल मार्गो के निर्माण के द्वारा देश की एकता स्थापित करने की संभावना व आवश्यकता समझ कर पीकिंग के निर्देशन व नियत्रण मे रेलवे यातायात के राष्ट्रीयकरण का एक कार्यक्रम बनाया गया। विदेशो की सहयोगात्मक राष्ट्र-समूह (कौंसौर्टियम) योजना इस नीति के अनुकूल बैठती थी, क्योंकि इससे पीकिंग को बड़ी देशव्यापी रेलवे लाइने बिछाने के लिए आवश्यक पूँजी मिल जाती; बाद में अवसर व सुविधानुसार इन मार्गों की शाखाएँ बनायी जा सकती थी।

किन्तु प्रान्तो मे जैसा जनमत बन रहा था उसका विचार भी आवश्यक था और प्रान्तों में प्रबुद्ध लोग संवहन की एक केन्द्रीय प्रणाली द्वारा चीन के धीरे-धीरे अंतरराष्ट्रीय नियत्रण मे चले जाने की आशका से पीड़ित थे। इसके अतिरिक्त, प्रान्तो जहाँ स्थानीय रलवे योजनाओं मे पूँजी लग रही थी उसका भी विचार आवश्यक था। उनकी स्वाभाविक प्रवृत्ति भी यही थी कि उनका लाभ न हो तो केन्द्रीकरण का विरोध किया जाय। जेचुआन प्रान्त में विद्रोह के समान सन् १९११ के क्रातिकारी आदोलन से सम्बद्ध विरोध इस दिशा से भी आ रहा था।

विदेशी आर्थिक नियंत्रण, देश मे स्वाभाविक रूप से विद्यमान अपकेन्द्र प्रवृत्ति तथा प्रान्तीय रेलो में लगी पूँजी केन्द्र को सौपने में अपने लिए लाभदायक शर्तें तय करा लेने में प्रान्तीय धनिको की दिलचस्पी—इन सभी बातो के कारण सन् १९०७ से सन् १९०९ के बीच निर्धारित केन्द्रीकरण की नीति के लागू होने मे कठिनाइयाँ उत्पन्न हुईं।

## दसवाँ अध्याय

# चीन में क्रांति व सुधार

### (१) परिस्थितियाँ जिनके अंतर्गत सुधार हुए

मुक्केबाजो के विद्रोह के बाद हुई पूर्व-सधि के दस वर्ष बाद तक चीन के आतरिक इतिहास मे दो स्पष्ट किन्तु आपस मे सम्बद्ध प्रवृत्तियो के प्रतिरूप प्रकट हुए—एक क्राति का और दूसरा सुधार का, और दोनो मे ही अतरराष्ट्रीय सबंधो का सूत्र लगातार मौजूद था। इन दोनो प्रवृत्तियो का वर्णन पृथक् रखने से ही चित्र स्पष्ट हो सकेगा, अतएव पहले अक्तूबर, १९११ मे क्राति की शुरुआत तक मचू-शासन के सुधार-प्रयास पर दृष्टिपात करना और उसके बाद क्राति की व्यापक पृष्ठभूमि का चित्राकन उपयुक्त होगा। इस प्रकार मचू-सम्राट् के शासन छोड़ने के बाद के घटनापूर्ण वर्षों के इतिहास व क्रांति दोनो का चित्र स्पष्ट हो सकेगा।

घटनाओ का क्रमिक विकास समझने के लिए अभीतक की घटनाओ का सक्षिप्त पुनरावलोकन अभीष्ट होगा। चीन के राजनीतिक सगठन के वर्णन मे उसके दो मूल लक्षणो का वर्णन आया था—एक था अतिविकसित प्रान्तीय व स्थानीय सत्ताओ की स्वाधीनता के फलस्वरूप विकेन्द्रित क्षेत्रीय शासन-प्रणाली, तथा दूसरा था रूढ़ राजस्व-व्यवस्था, जिसे नये प्रशासकीय बोझ बरदाश्त करने के लिए—जैसे कि असफल युद्धो के खर्च या वाष्प-इजिनो जैसे पश्चिमी अन्वेषणो के उपयोग के खर्च—तत्काल संशोधित नही किया जा सकता था। बाद मे इसका भी वर्णन आया कि पश्चिम से हुए संपर्क की चीन मे क्या प्रतिक्रिया हुई, विशेषकर उसका राजनीतिक संगठन, सैन्य-सगठन व आर्थिक जीवन मे ऐसे सुधार करने में असफलता, जिनसे वह अपनी रक्षा करने मे समर्थ होता, जो उसकी निर्बलता और आर्थिक पिछड़ेपन के कारण ही उसके लुटेरे बन बैठे थे। जो सीमित पुनस्सगठन करने का प्रयास किया गया, वह स्वाभाविक रूढ़िवादिता, अधिकारियो व कुलीनों की श्रेष्ठता की भावना तथा जल-थल सेनाओ मे व्याप्त रिश्वत-प्रणाली के कारण अंशतः ही सफल हुआ था। परिवर्तित परिस्थितियो को स्वीकार करने मे अधिकारियो की अनिच्छा तथा अपनी निर्बलता के फलस्वरूप ही चीन बार-बार पराजित हुआ, उसके लगभग सभी करद राज्य उससे छिन गये और अत में सन् १८९७-१८९८ में उसके बटवारे का भी खतरा पैदा हो गया; उसकी सैनिक व राजनयिक पराजयों में सबसे अधिक अपमान-

जनक थी, जो जापान के हाथो हुई। इससे राजवंश के विरुद्ध असतोष पैदा होना स्वाभाविक था। इसके अतिरिक्त, इस बात का भी वर्णन हुआ है कि विदेशी सपर्क उस समय आया, जब अकाल, लूट-मार तथा व्यापक अशाति व उपद्रवो के कारण आतरिक दशा खराब थी। आतरिक परिस्थितियो व बाहरी आक्रमण दोनो के लिए राजवश ही दोषी ठहराया गया। फलत:, सन् १९०० मे राजवश के समक्ष दो ही विकल्प थे—देश के प्रति अपने उत्तरदायित्व निभाने मे अपनी अक्षमता के फलस्वरूप वह गद्दी छोड दे या सुधार करे। सन् १८९८ मे सुधार के जो प्रयास किये गये, सुधारको की जो पराजय हुई, और असतोष को विदेशी-विरोध की दिशा मे केन्द्रित करने के जो सफल प्रयास हुए, उनका भी सक्षिप्त वर्णन हो चुका है। मुक्का-आंदोलन की विफलता के उपरान्त राजवश को कायम रखने के लिए शासन-प्रणाली के सुधार के प्रयत्न अनिवार्य हो गये, यद्यपि ये सुधार अधिक रूढिवादी पद्धति के थे।

विदेशी सैनिक-अभियान द्वारा सन् १९०१ मे पीकिंग पर कब्जा कर लेने के बाद सिआन फू भागे हुए दरबार से राजमाता (विधवा सम्राज्ञी) ने जो शासनादेश जारी किया, उनसे सुधार के प्रयासो की स्पष्ट झलक मिलती थी। अगले कुछ वर्षो मे घटनाओ का जो क्रम रहा, उसे समझने के लिए इस आदेश का आशिक उद्धरण उपयुक्त होगा।[१] "समस्या को व्यापक दृष्टि से देखते हुए हम यह कह सकते हैं कि जो भी प्रणाली बहुत दिनो तक चालू रहती है, उसके रूढिगत हो जाने की आशका रहती है और जिसकी उपादेयता लुप्त हो जाय उसका सुधार होना चाहिए। आज हमारे समक्ष जो सबसे बड़ी आवश्यकता है वह है हर हालत मे हमारे साम्राज्य को सशक्त बनाने की, प्रजा की दशा सुधारने की.....सम्राज्ञी ने निश्चय किया है कि विदेशों में प्रचलित सर्वोत्तम प्रणालियो व उपायों का उपयोग कर हम अपनी त्रुटियों से छुटकारा पायें और पुरानी गलतियो को बुद्धिमानी से स्वीकार कर अपना भविष्य का मार्ग निश्चित करें।" जिन्होंने क' आग य-वी के सुधारो का विरोध किया था, उन्हे खुश करने के लिए आदेश मे कहा गया था कि सम्राज्ञी के उद्देश्य सन् १८९८ के सुधारको से मूलतः भिन्न है। "उनका मूल लक्ष्य सुधार नही मचू राजवंश के खिलाफ विद्रोह करना है," जब कि 'प्राचीन बुद्ध' (राजमाता) का लक्ष्य राजवंश को कायम रखना था। इसके अतिरिक्त, सम्राज्ञी ने बताया कि वह उग्र सुधारो के पक्ष मे नही है, केवल प्राचीन प्रणाली मे उत्पन्न दोष ही वह वास्तव में दूर करना चाहती है। "हमारे पुनीत पूर्वजो के जो उपदेश हम तक पहुँचे हैं वे वास्तव मे वही हैं, जिन पर यूरोपीय देशो की शक्ति व समृद्धि निर्भर है, किन्तु, चीन अभी तक यह नही समझ सका है और यूरोपीय भाषाओं व विज्ञानो का प्रारम्भिक ज्ञान भर

लेकर सतुष्ट हो गया है और अक्षमता की पुरानी आदतो व गहरी जडो वाले भ्रष्टाचार को हटाने के लिए कुछ नही किया है।" शासनादेश का मुख्य उद्देश्य रूढिवादी अधिकारियो को यह समझाना था कि सम्राज्ञी के नेतृत्व—निरीक्षण मे परिवर्तन का कार्यक्रम चलाने मे कोई खतरा नही है जब कि सम्राट् द्वारा चलाये गये एक ऐसे ही कार्यक्रम को क्रातिकारी बताकर ठुकराया गया था।

दरबार के पीकिंग लौटने पर सुधार-युग शुरू हुआ और इस दिशा मे सम्राज्ञी की नेकनीअती परखने का अवसर मिला। स्पष्ट था कि परिवर्तन प्रान्तीय व राजधानी के अधिकारियो के सहयोग से ही सभव हो सकते थे और इन अधिकारियो मे दो वास्तव मे प्रगति के इच्छुक व समर्थक थे। सन् १८८५ से सन् १८९५ तक सिऊल मे चीन के प्रतिनिधि, युआन शिह्-क' आई के, जो बाद मे राजधानी के प्रान्त मे न्याय आयुक्त, निर्माणमडल के अवर उपाध्यक्ष, मुक्का-विद्रोह के समय शानतुग प्रान्त के राज्यपाल तथा सन् १९०१ मे चिह्ली प्रान्त के वाइसराय और युवराज के अवर सरक्षक हुए, निर्देशन मे केन्द्रीय प्रशासन मे अनेक परिवर्तन किये गये। उन्होने सेना के पुनस्सगठन मे भी दिलचस्पी ली। सुधारो के दूसरे बड़े समर्थक थे चाग चिह्-तुग, जिन्होने हुकुआग के वाइसराय के रूप मे प्रान्तो मे हुए सुधारो का सन् १९०९ तक नेतृत्व किया, जब उनकी मृत्यु हो गयी। युआन की मुख्य दिलचस्पी राजनीतिक व सैनिक पुनस्सगठन मे थी, चाग-राज्य की आर्थिक नीव मजबूत करने मे ही मुख्यतः व्यस्त थे।

## (२) सुधार का प्रथम दौर

पहली ठोस दिलचस्पी सेना के सुधार मे प्रकट हुई। सन् १८९५ के बाद भी चीन के पास वास्तविक अर्थ मे कोई आधुनिक राष्ट्रीय सेना नही थी, उसकी सैन्य-शक्ति पताका सैनिको, हरे झण्डे वाले सैनिको व प्रान्तीय सैनिको तक ही सीमित थी।[२] प्रान्तीय वास्तव मे प्रान्तीय अधिकारियो द्वारा नियंत्रित और सगठित प्रान्तीय सशस्त्र पुलिस ही थी। सन् १८९५ के बाद सेना के पुनस्सगठन का एक प्रयास अवश्य हुआ, पर उसका कोई स्थायी प्रभाव नही पडा। सन् १९०१ मे एक शासनादेश फिर पुनस्सगठन के संबध में जारी हुआ और युआन शिह्-क' आई की दिलचस्पी के कारण यह काम चिह्ली प्रान्त मे शुरू हुआ। सन् १९०३ व सन् १९०६ के बीच युआन ने छः चमू या प्रभागो का एक आदर्श सैन्य-दल तैयार किया। सन् १९०६ में इनमे से चार चमू-युद्ध-मत्रालय को हस्तातरित कर दिये गये, जो उसी वर्ष स्थापित हुआ था। छत्तीस चमू की राष्ट्रीय सेना बनाने की एक योजना भी तैयार की गयी। सन् १९०७ में आदेश हुआ कि यह काम सन् १९१८ तक पूरा कर डाला जाय।

रूस व जापान के बीच हुए युद्ध के कारण सैन्य-पुनस्सगठन मे पैदा हुई दिलचस्पी के बाद ही इस कार्यक्रम को पूरा करने का असली काम हुआ। सन् १९११ तक सुधार-कार्यक्रम के इस अग मे प्रगति हुई और बाद की घटनाओ से प्रकट हुआ कि मचू वश के भविष्य पर आधुनिक सेना के आशिक गठन का भी काफी प्रभाव पड़ा।

सन् १९०५ मे एक दूसरे तथा अधिक बुनियादी सुधार का सैद्धान्तिक उद्घाटन हुआ और प्राचीनकाल से चली आ रही परीक्षा-प्रणाली शासनादेश द्वारा समाप्त कर दी गयी। यह परिवर्तन पुरातन व्यवस्था के हृदय पर आघात था, क्योकि इसका अर्थ था कि पुरातन शास्त्रीय परम्परा को वरीयता मिलना समाप्त हो गया और पश्चिमी विषयो के ज्ञान को वरीयता प्राप्त हो गयी। यह परिवर्तन शुरू मे तो व्यावहारिक होने के जगह कागज पर ही रहा, पर तब भी इसका महत्त्व बहुत अधिक था। पहले केवल शासक वश के कुलीनो के पुत्र ही विदेशी शिक्षा प्राप्त कर पाते थे। इस प्रकार के आदेशो की पुनरावृत्ति, मुक्का आन्दोलन के फलस्वरूप मिलने वाली क्षतिपूर्ति की शिक्षा प्रसार के लिए अमरीका द्वारा आशिक वापसी तथा जापान की रूस पर विजय से विदेशी शिक्षा मे लोगो की दिलचस्पी एकदम बहुत अधिक बढ गयी और अनेक लोग शिक्षा के लिए विदेश जाने लगे। क्राति की पृष्ठभूमि के वर्णन के समय शिक्षा के क्षेत्र मे हुए इस परिवर्तन के महत्त्व का वर्णन होगा।

जो अन्य सुधार हुए या जिनके भविष्य में लागू होने की घोषणाएँ हुई वे थे मचुओं व चीनियो के अतरजातीय विवाह पर लगे प्रतिबधो की समाप्ति, केन्द्रीय शासन प्रणाली मे परिवर्तन, बिना कुछ काम-धाम किये लोगो को जो सरकारी कोष से पेंशनस्वरूप वेतन मिलते थे उन्हें समाप्त करने का प्रयास, अनेक सरकारी पदो का नामपरिवर्तन, सरकारी एजेसियो का सगठन व पदो के कार्यक्षेत्रो का फिर से बटवारा तथा रेल-निर्माण को सक्रिय प्रोत्साहन, चीनी पूँजी से खनिज पदार्थो का उपयोग तथा शस्त्रागारो का निर्माण।[३]

लगभग पूरी तरह चीनी भूमि पर लड़े जाने वाले रूस-जापान युद्ध के शुरू होने के बाद सुधार आदोलन मे गति आयी और उसका स्वरूप सस्थागत परिवर्तनो का हो गया। एक पुनस्सगठित पूर्वीय देश द्वारा एक पश्चिमी प्रतिस्पर्धी पर विजय ने सुधारो मे जैसी सक्रिय और व्यापक दिलचस्पी पैदा कर दी वह चीन की अनेक पराजयो के फलस्वरूप भी पैदा नही हुई थी। सन् १८९८ के[४] सुधार सबधी शासनादेशो पर दृष्टि डालने से ही प्रकट हो जायगा कि सन् १९०१–१९०५ में जिन परिवर्तनों की घोषणा की गयी, वे पहले के कार्यक्रम के समान ही थे, जिससे प्रकट

होगा कि राजनीतिक प्रणाली के मूलभूत परिवर्तनो की आवश्यकता समझने की दिशा मे कोई विशेष प्रगति नही हुई थी। सन् १९०५ के बाद सुधार-आदोलन मे इसकी चेतना आने लगी कि अंतत· चीन मे वैधानिक शासन आना ही होगा। और इस दिशा मे सचेतन प्रयास हुए कि शासन सत्ता का केन्द्रीकरण आवश्यक है, राष्ट्रीय यातायात या सवहन-प्रणाली की स्थापना के लिए प्रान्तो की सर्वोच्च सत्ता समाप्त करने और अतत प्रान्तो पर अधिक प्रभावकारी निरीक्षण करने की सफल व्यवस्था के लिए कोशिश की गयी। किन्तु, रेलवे यातायात के केन्द्रीकरण की नीति अनेक वर्षो तक स्थानीय पूँजी से प्रान्तो मे प्रान्तो के द्वारा ही रेलवे मार्ग निर्माण करने की कोशिश हो चुकने के बाद ही अपनायी गयी। क्रातिकारी आंदोलन बढने के साथ रेलवे नीति का महत्त्व भी बहुत बढ गया।[५]

## (३) वैधानिक आन्दोलन

सभी रोगो की अमोघ औषधि के रूप मे वैधानिकता का विचार मुख्यत. जापान से आया। सन् १८९० के पहले जापान को निर्बल और जापानियों की तुलना मे चीनियो को श्रेष्ठ लोग माना जाता था। किन्तु अपने पडोसी के सबध मे चीन को अपने विचार एकाएक बदलने के लिए वाध्य होना पडा। पहले तो जापान ने साबित कर दिया कि वह चीन से सबल है और फिर उसने एक महान् यूरोपीय शक्ति को सफलतापूर्वक चुनौती दे डाली। जापान की इस नयी शक्ति का रहस्य उसके शासन की पश्चिमी पद्धति अपनाने को समझा गया। और यह धारणा स्वाभाविक भी थी, क्योंकि जापान की शक्ति का परिचय वहाँ सविधान लागू होने के बाद ही मिला था। इसके अतिरिक्त, रूस को छोड़ कर शेष सभी बड़े यूरोपीय देशो में संविधान थे, जैसा कि सन् १९०५ मे पश्चिमी शासन-प्रणाली के अध्ययन के लिए विदेश भेजे गये आयोग के प्रतिवेदन को स्वीकार करते हुए शासनादेश मे कहा गया था। और रूस की अभी एक ही ऐसी प्रथम एशियाई शक्ति के हाथो पराजय हुई थी, जिसने सविधान-प्रणाली अपने यहाँ लागू की थी। निष्कर्ष बिलकुल स्वाभाविक लगता था।

इस आयोग के प्रतिवेदन से सम्राज्ञी (राजमाता) को यह भी सकेत मिला था कि जापान ने वैधानिक परिपाटी अपना कर भी शासन की प्राचीन निरपेक्षतावादी प्रणाली कायम रख ली थी। ऐसा ही चीन मे भी क्यो नही हो सकता, ऐसा कोई कारण सम्राज्ञी को नही मालूम हुआ। इसलिए उन्होंने कहा : "जहाँ तक हमारा संबंध है, समस्या की पूरी जाँच तथा संविधान द्वारा ऐसी सरकार का अनुगमन करने के लिए तैयार होने की आवश्यकता है, जहाँ सर्वोच्च नियंत्रण सिंहासन में

निहित हो और जनता के द्वारा चुने गये लोगो के हाथो मे जनता के हितो की रक्षा का भार हो।"[६]

इसमें सशय है कि यदि निरकुश त्जू ह्सी (सम्राज्ञी) को संदेह भी हो जाता कि वैधानिक प्रणाली लागू होने से उनके अपने अधिकारो पर कोई सीमा निर्धारित हो जायगी या मंचूवंश की सर्वोच्च सत्ता पर आँच आ गयी तो वह वैधानिक प्रणाली लागू करने पर गभीरतापूर्वक विचार भी करती। किन्तु, इस तथ्य की स्वीकृति का अर्थ अधिकारियो मे जो सुधार-समर्थक थे, उनकी या दरबार की नीयत पर सन्देह करना नही है। वे सच्चाई के साथ समझते थे कि जैसा जापान मे हुआ, वैसे ही सविधान से चीन सशक्त होगा, यद्यपि नये स्वरूप मे प्राचीन प्रणाली ही लागू रहेगी। पश्चिमी शासन-प्रणालियो के सबध मे उनका ज्ञान सीमित था और शासन में जनता के भागीदार बनने के सिद्धान्त की स्वीकृति के उपरान्त राजनीतिक विकास मे जो प्रवृत्तियाँ उभरती है, उनकी समझ कम थी। इसलिए चीन मे निरंकुश राजवश की सत्ता कायम रखते हुए शासन का वैधानिक स्वरूप अपनाने के प्रयास मे ये लोग सच्चाई के साथ विश्वास करते रहे होगे। सन् १९१० के बाद जब सुधार-आंदोलन के अतिम लक्ष्य और मूल उद्देश्य प्रकट होने लगे, तभी मचुओ ने गैरईमानदारी व छल-कपट से काम लेना शुरू किया।

यदि सन् १९११ की क्रांति न हुई होती तो आधुनिक चीन के इतिहास में सन् १९०८ का वर्ष स्मरणीय होता, क्योकि तभी सरकार ने वैधानिक शासन लागू करने के लिए पहला कदम उठाया था। सिंहासन की ओर से संविधान के 'सिद्धान्तों' का निरूपण हुआ, क्रमिक प्रगति के निश्चित कार्यक्रम की घोषणा हुई, जिनके अनुसार नौ वर्ष मे राष्ट्रीय ससद् का गठन होना था, तथा उन नियमो की स्वीकृति हुई जिनके अंतर्गत एक वर्ष के भीतर प्रान्तीय विधान-सभाओ का गठन होना था।

"सविधान के सिद्धान्तो" में जो दृष्टिकोण परिलक्षित था, उसका संक्षिप्त वर्णन अभीष्ट है। सम्राज्ञी ने शुरू में जिस सिद्धान्त का प्रतिपादन किया था, उसी की यहाँ पुनरावृति हुई थी। "सिद्धान्तो" की स्वीकृति-संबधी शासनादेश के एक उद्धरण से बात स्पष्ट हो जायगी। जिन विदेशी राष्ट्रो ने "ऊपर की प्रेरणा से सविधानो को लागू किया है, उन्होने पहले दरबार की सर्वोच्च सत्ता निरूपित की है और उसके बाद जनता को शासन के मामलो में जाँच-जानकारी करने की सुविधा प्रदान की है....लगभग उन सभी देशो मे, जहाँ संविधान की स्वीकृति ऊपर से आयी है, सभी अधिकारो व शक्तियो का स्रोत दरबार ही है। संसद् सविधान से बनेगी, सविधान संसद् से नही। सम्राट् के आदेश से ही चीन की वैधानिक सरकार

वनेगी।"[७] फलत, मुख्य बल इस बात पर दिया गया कि सिंहासन के अधिकार अक्षुण्ण रहे, ताकि "ता त्सिग साम्राज्य पर ता त्सिग वश का शासन युग-युग तक रहे, उसका सम्मान शाश्वत हो।" यह स्वीकार करना होगा कि मचू-वचन पर देश का विश्वास जमाने के लिए यह कोई अच्छी शुरुआत नही थी, किन्तु तब भी प्रगति की ओर यह एक कदम तो था ही।

क्रमिक विकास का कार्यक्रम नौ वर्ष का बनाना विवेक का परिचायक था, उसके निर्माताओ मे ईमानदारी की कमी का नही। इस लम्बे समय से यह समझ झलकती थी कि चीन तब तक शासन की प्रतिनिधित्वपूर्ण प्रणाली के लिए तैयार नही हुआ था और सुधारो का भवन बनाने के पहले उसकी नीव मजबूत करना आवश्यक था। इस लम्बी अवधि का दूसरा अर्थ यह लगाया जा सकता था कि इससे मचू-वश को साँस लेने का अवसर मिल रहा था और इस बीच मे वह अपने शासन मे फिर से प्राण फूँक सकता था। इस अवधि के हर वर्ष कुछ न कुछ परिवर्तन होने थे, जैसे स्थानिक शासन सस्थाओ की स्थापना, विधि-सुधार, जनगणना, पुलिस-पुनस्सगठन, अशिक्षा को दूर करने के लिए शिक्षा को अधिक व्यापक बनाना, आय-व्ययक व लेखा-परीक्षा-प्रणालियो को लागू करना तथा सवैधानिक, राजवश व ससदीय कानूनो को लागू करना। कार्यक्रम की परिणति नवे वर्ष मे ससद्, प्रिवी कौसिल तथा मन्त्रिमडल की स्थापना मे होती थी। ये सभी सुधार आवश्यक थे और ईमानदारी से लागू किये जाते तो नये शासन की आधारभित्ति बनते। किन्तु, सन् १९०८ के बाद के वर्षो की अव्यवस्था तथा, संभवत, सुधारो मे दिलचस्पी की कमी के कारण, कार्यक्रम के अतर्गत उठाये गये अनेक कदम केवल कागज तक ही सीमित रह गये।

एक तीसरा महत्त्वपूर्ण कदम, जिसका आश्वासन सन् १९०७ मे दिया गया और जो सन् १९०८ के सुधार कार्यक्रम में शामिल किया गया, वह था राष्ट्रीय संसद् की स्थापना के प्रारम्भिक कदम के रूप मे प्रान्तीय विधान-सभाओ की स्थापना। यह आश्वासन पूरा भी किया गया और अक्तूबर, १९०९ मे विधान-सभाएँ बनी। विधान-सभाओं के सदस्य ऐसे निर्वाचक-मडलो द्वारा छाँटे गये थे, जो बहुत सावधानी के साथ सीमित की गयी मतदाता-सूचियो के आधार पर चुने गये थे; इन सभाओ के कार्य-अधिकार भी बहुत सावधानी के साथ सीमित रखे गये थे। इन सभाओ के विनियमन के लिए निर्मित नियमो मे कहा गया था—"यह न भूलना चाहिए कि सभी विचारक सभाओ का कार्य वाद-विवाद तक सीमित है; उनके कार्यकारी अधिकार बिल्कुल नहीं होते।"[८] और मुख्यतः ये विधानसभाएँ केवल उन्ही विषयो पर विचार

कर सकती थी, जो राज्यपाल या वाइसराय इनके विचारार्थ भेज देते थे। स्पष्टत इरादा यह था कि इन सस्थाओ द्वारा जनमत जान लिया जाय, इन्हे शासक सस्थाएँ न बनाया जाय। इन सस्थाओ से शासको का सद्भाव तो प्रकट होता, किन्तु वे उनके कार्य मे हस्तक्षेप नही कर सकती थी। किन्तु मचुओ के दुर्भाग्य से विधानसभाओ ने शुरू से ही प्रान्तीय शिकायतो को प्रकट करना शुरू कर दिया और वे अशाति और असतोष व्यक्त करने के केन्द्र बन गयी। उन्होने मिलकर माँग की कि राष्ट्रीय ससद की स्थापना की तैयारी की अवधि घटायी जाय, उन्होने केन्द्रीय शासन की रेलवे-नीति पर असतोष प्रकट किया; उन्होने प्रान्तीय नीतियो के वास्तविक विकास के सबध मे स्पष्ट मत व्यक्त किये, जो बहुधा राज्यपाल व वाइसराय की नीतियो के विरुद्ध होते थे। कानून द्वारा जो कार्य उनके लिए नियत थे, उस क्षेत्र से बाहर जाकर उन्होने इतने कार्य किये कि कुछ प्रान्तो मे लगता था कि वे अपने लिए नियत्रण कर सकने का पद प्राप्त करना चाहती थी। क्राति शुरू होने पर वे उसके निर्देशन का माध्यम बन गयी। पूरे तौर पर, उन्होने क्राति के विकास को रोकने की जगह उसके आगमन मे सहायता ही पहुँचायी।

एक अन्य दिशा मे भी सन् १९०८ का वर्ष महत्वपूर्ण था, क्योकि थोड़े ही समय के आसपास सम्राट् व राजमाता सम्राज्ञी की मृत्यु हो गयी। कुआग हसू की मृत्यु का इतना महत्व नही था, किन्तु लगभग उसी समय विधवा सम्राज्ञी की मृत्यु के कारण शासन के शीर्ष स्थान से एक ऐसा सशक्त व्यक्तित्व हट गया, जिसने सन् १८६० से चीन पर शासन किया था। सम्राट् की मृत्यु के समय, अपनी मृत्यु इतने निकट न जानकर, 'प्राचीन बुद्ध' (राजमाता) ने एक अवयस्क बालक को सिंहासन का उत्तराधिकारी नियुक्त कर दिया था और युवराज चुन को नाममात्र के लिए राजप बना दिया था। किन्तु, राजमाता की मृत्यु से चुन नाममात्र के नही वास्तविक शासक हो गये।[१] वह सद्भावनापूर्ण व्यक्ति थे, पर बढती हुई जटिलता व कठिनाइयो की परिस्थितियो का सामना करने के लिए न तो उनमें काफी सूझ-बूझ थी और न काफी शक्ति ही थी। और न पीकिंग मे ही कोई ऐसा व्यक्ति था, जो अपनी योग्यता व विवेक से स्थिति का सामना कर सकता। प्रगतिशील प्रवृत्तियो का जो एक योग्य व्यक्ति था और जो तब भी मचू-वश को बचा सकता था, वह सम्राट् की अतिम इच्छा की पूर्ति के लिए सन् १९०८ में नौकरी से अवकाश प्राप्त कर चुका था। कुआग ह्सू सन् १८९८ के राज्यविप्लव मे भाग लेने के कारण युआन शिह-क' आई के जन्म भर के लिए शत्रु बन चुके थे। इसलिए अपनी मृत्यु-शय्या पर, सम्राट् ने युआन को फॉसी देने की माँग की। इसके अतिरिक्त, जैसा कि सशक्त

व्यक्तियो के साथ होता है, दरबार मे भी युआन के शत्रु थे ही, त्जू हि् सी की मृत्यु से उनके मुख्य समर्थक का अत हो गया। युवराज चु'न युआन को मृत्युदण्ड देने मे अपने को स्वतंत्र नही मान रहे थे, अतएव उन्होने युआन को नौकरी से अवकाश दे दिया। "किन्तु, उनके पैरो मे रोग लग गया है, जिस कारण चलने-फिरने मे उन्हे कठिनाई होती है और इस प्रकार अपने काम का उत्तरदायित्व निबाहने मे वह असमर्थ हैं। अतएव उनके प्रति सहानुभूति के रूप मे हम आदेश देते है कि वह अपने पद त्याग कर अपने जन्मस्थान जाकर अपना इलाज करवा सकते है।"[१०] युआन के साथ उनके अनुयायियो के रूप में, अनेक योग्य व कुशल अधिकारी भी सार्वजनिक जीवन से सन्यास लेकर चले गये।

इस प्रकार पीकिंग से दो सशक्त प्रमुख व्यक्तित्व एक साथ ही हट गये और शासन से उनके हटने से स्वाभाविक रूप से ही सुधार-कार्य के भविष्य का प्रश्न उठ खड़ा हुआ। २५ नवम्बर, १९०९ के शासनादेश मे इस प्रश्न का उत्तर दिया गया। "गत वर्ष आठवे चन्द्रमा के प्रथमदिवस जो शासनादेश जारी हुआ था, उसका हम श्रद्धापूर्वक पालन करेगे।" सुधार जारी रहने थे, किन्तु कुशल केन्द्रीय निर्देशन के अभाव मे, और उसके फलस्वरूप, वे इसी प्रकार जारी रहने थे कि लोगो का विश्वास बन जाय कि लगातार दबाव डालते रहने पर ही सन् १९०८ के कार्यक्रम का पालन हो सकेगा।

नया शासन अधिकांशतः कागज पर ही रह जाने वाले आदेशो की घोषणाओ द्वारा स्थानीय शासन में परिवर्तन तथा शिक्षा के अवसरो के प्रसार के लिए प्रयास करता रहा। किन्तु, तब तथा बाद मे भी स्पष्ट प्रवृति यही थी कि शासनादेश के प्रकाशन मात्र से सुधार पूरा हो जाना मान लिया जाता था। और जहाँ तक केन्द्रीय सरकार ने अपना कर्त्तव्य केवल उत्साहवर्धन ही माना, उस पर ईमानदारी की कमी का आरोप भी लगा। दूसरी ओर, चूँकि अनेक सुधार प्रान्तीय अधिकारियों के सहयोग के बिना चल ही नही सकते थे, पीकिंग सरकार का दोष केवल आशिक ही माना जायगा।

सुधारो में जो कागजी घोषणाओं से आगे बढ गये थे, उनमे प्रान्तीय विधानसभाओ की स्थापना का वर्णन किया जा चुका है। दूसरा ऐसा ही सुधार था अक्तूबर, १९१०, में राष्ट्रीय विधान सभा की स्थापना। इस संस्था का गठन इस प्रकार का था कि धारणा यही बनती थी कि यह मूलतः एक रूढ़िवादी सस्था होगी और हर बात में सरकार का समर्थन करेगी। इसके आधे सदस्य केन्द्रीय सरकार द्वारा छाँटे जाते थे और आधे प्रान्तीय विधानसभाओ द्वारा चुने जाते थे। निर्वाचन सावधानी के साथ

सीमित किये गये मतो पर निर्भर होने के कारण समझा यह जाता था कि प्रान्तीय प्रतिनिधि सरकार द्वारा नामाकित सदस्यो से कुछ ही कम रूढिवादी होंगे। किन्तु, राष्ट्रीय विधान-सभा का इतिहास भी प्रान्तीय विधान-सभाओ जैसा ही रहा। शुरू से ही वह सरकार के विरोध मे आत्मविश्वास के साथ आगे बढ़ी। नौ वर्षीय कार्य-क्रम के अनुसार संविधान जब लागू होना था, उस अवधि को कम कराने के लिए इस सस्था ने प्रयत्न किया और सरकार से यह आश्वासन प्राप्त कर लिया कि यह अवधि घटा कर पाँच वर्ष कर दी जायगी और इसी मे सारी तैयारी करके सन् १९१३ में राष्ट्रीय ससद् की स्थापना हो जायगी। इसने सरकार की वित्तीय व प्रशासकीय नीतियो की कड़ी आलोचना की और राज्य परिषद् के अधिक्षेप (महा अभियोग लगाने) में वह केवल इसलिए रुक गयी कि जिस बात पर विवाद था, उसमे इसी का दृष्टिकोण स्वीकार कर लिया गया। सन् १९११ के वसन्त में इसने माँग की कि मंत्रिपरिषद् उत्तरदायी होनी चाहिए और इसके अधिवेशन की समाप्ति के पहले यह सिद्धान्त स्वीकार कर लिया गया। इसके सारे कार्य-कलाप से प्रकट था कि यह सर-कार को सुधार के मार्ग पर कायम ही नही रखना चाहती, बल्कि सुधार कार्यक्रम को और विस्तृत व सशोधित बनाना चाहती है। यह इरादा यांग्त्सी प्रान्तों मे विद्रोह होने के पूर्व ही प्रकट हो चुका था और इसलिए यह धारणा बनती है कि यदि क्राति न होती तो चीन का निरंकुश एकतत्र धीरे-धीरे सवैधानिक राजतत्र मे बदल जाता। सन् १९११ की शरद् ऋतु में हुई घटनाओ पर क्रांति की इतनी स्पष्ट छाप थी कि उन पर उसी संदर्भ मे विचार उपयुक्त होगा। अतएव घटनाओं की विवेचना के पूर्व क्राति के कारणो पर विचार आवश्यक है।

## (४) क्रांति के कारण

चीन मे इस प्रकार के हर आंदोलन के पीछे आबादी व जीवननिर्वाह के साधनों पर अत्यधिक दबाव की समस्या रही है। "जिस देश मे यह अडिग विश्वास हो कि जीवन मे हर व्यक्ति का यह प्रथम कर्त्तव्य है कि अपने व अपने पूर्वजो के आराम के लिए जितने अधिक संभव हो उतने पुत्र उत्पन्न करे और जहाँ हर व्यक्ति इस विश्वास पर आचरण करे, वहाँ अनिवार्यत असख्य जनता गरीबी के गहरे गर्त मे गिरती जायगी और राजनीतिक व्यवस्था मे खलबली व भीषण परिवर्तन होगे।[११] चक्र शुरू होता है तब आबादी व उपलब्ध खाद्यान्न में संतुलन होता है। खाद्य-उत्पादन कुछ दिनो मे कम पड़ जाता है, क्योकि आबादी तेजी से बढ़ती है। संतुलन बिगड़ने से कुछ लोग भुखमरी या लूट-मार के लिए बाध्य होते है। आबादी बढ़ने के साथ डाकुओ व लुटेरो की संख्या बढ़ने के कारण जीवन-संघर्ष से सार्वजनिक शांति अधि-

काधिक भग होती है। यदि सरकार सशक्त और सक्षम हुई, अनेक डाकू पकड़े व मारे जाते है और अतिम बड़ा उपद्रव कुछ दिनो के लिए टल जाता है। किन्तु, सूखा, अनावृष्टि या बाढ से सामान्य परिस्थिति असामान्य हो जाती है। बडी सख्या मे लोग मरते है और डाकू बन जाते है। यदि शासन शाति-भग का कडाई से दमन करता है और बहुत से लोग मर जाते है तो सतुलन अतत. सुधर जाता है और विद्रोह टल जाता है। यदि शासन निर्बल हुआ तो अशाति व विद्रोह व्यापक हो जाते है और सघर्ष के बाद फिर सतुलन स्थापित हो सकता है। हर हालत मे समस्या के ये समाधान अस्थायी है।

यह बताया जा चुका है कि उन्नीसवी शताब्दी मे मचू-शासन दिनोदिन कमजोर होता रहा था। त'आई पिंग विद्रोह के दमन के लिए अशत. विदेशी सहायता प्राप्त हुई थी। किन्तु इस विद्रोह मे जो नर-सहार हुआ व बाद के दो मुसलिम-विद्रोहो व अनेक छिटपुट उपद्रवो मे भारी सख्या मे जो लोग मारे गये, उससे अस्थायी रूप से आबादी का बढाव रुक गया। किन्तु, जनसख्यावृद्धि मे यह तथा कुछ अकाल एक अवरोध मात्र थे; सन् १८७८ के दुर्भिक्ष मे ९० लाख से अधिक व्यक्तियो के मरने का अनुमान था। इन सकटो से उबरना इसलिए सभव हुआ कि वे अधिकाशत स्थानीय ही रहे। आबादी इन सबके बाद भी बढ़ती रही और उसके साथ अशाति व असतोष भी बढते रहे। सन् १९१०–१९११ मे सामान्य उत्पादन मे बाढ आने से फिर व्याघात हुआ, मध्य के प्रान्तो मे बाढ़ आयी जो "चालीस वर्षो मे सबसे अधिक विकराल थी........लाखो लोग बेघरबार हो गये, अनहुई व कियागसू के दो पुराने प्रान्तो में पाँच वर्ष के भीतर तीसरी बार फसले नष्ट हो गयी और महाकाल व महामारी की भीषण छाया पड़ गयी। शानतुग, चेकियाग, किआगसी व हूपेह प्रान्तो मे भी तबाही आयी, कही बाढ से और कही सूखे से, इस प्रकार सात प्रान्तो के छ. लाख परिवारो के ३० लाख व्यक्ति सचमुच भूखो मरने लगे........ऐसी परिस्थितियो मे असतोष बढ कर विद्रोह की धधकती ज्वाला बन जाता है।"[१२] यह भी ध्यान देने योग्य है कि मानव-जीवन की पुनीतता के पश्चिम से आये विचार के कारण दुर्भिक्ष सहायता-कार्य जिस तत्परता से हुआ, वह आधुनिक युग से पूर्व के चीन मे नही आ सकती थी। फलस्वरूप बहुत से लोग अकाल मृत्यु से तो बच गये, किन्तु सामान्य जीवन उनके लिए संभव नही हुआ। इस प्रकार विद्रोह की ज्वाला सुलगाने के लिए ऐसे लोग भी बच गये, जो सामान्यत. न बचते।

आबादी का दबाव भुखमरी या विद्रोह की हिंसा के अलावा अन्य उपायो से भी कम किया जा सकता था। उदाहरणार्थ, अट्ठारह प्रान्तो की अतिरिक्त आबादी

विदेश या साम्राज्य के कम घने बसे क्षेत्रो मे जाकर बस सकती थी। इस प्रकार के प्रवास मे सबसे बडी बाधा पूर्वजो की समाधियो की पूजा के कारण थी, क्योंकि, "हर व्यक्ति का यह कर्त्तव्य है कि वह निश्चित अवधियो के बाद पूर्वजो की कब्रो पर बलि दे और समय आने पर अपने पिता-पितामह की कब्र के बगल मे ही दफन हो। इस प्रकार आबादी का बहुत बडा भाग शताब्दियो से एक ही स्थान पर बँधा रह गया है।"[१३] आबादी के एक ही स्थान पर बँधे रहने का एक अन्य कारण जो सन् १९०० के बाद भी कायम था, वह था आवागमन के साधनो का अभाव। इन कठिनाइयो के बाद भी आबादी चिहली, विशेषकर शानतुग प्रान्त से मचूरिया की ओर बढने लगी थी। बहुत से लोग वसन्त मे उत्तर जाते थे और फसल कटने के बाद घर वापस लौट आते थे, लेकिन जो लोग मचूरिया मे ही परिवार सहित बसते जाते थे, उनकी सख्या तेजी से बढ रही थी। आबादी के इस उत्तर की ओर बढाव का मुख्य कारण पीकिग-मुकडेन व मचूरिया के अन्य रेल-मार्गो का बनना था। क्राति के समय, यातायात के साधनो का यह विकास उत्तर-पश्चिम की दिशा मे वहाँ काफी नही बढ पाया था, जहाँ उपनिवेशीकरण का दूसरा बडा क्षेत्र था और इसीलिए चीनी आबादी उधर बढी भी नही थी, यद्यपि आसपास के प्रान्तो से थोड़ी-बहुत आबादी वहाँ पहुँच अवश्य गयी थी।

इसी प्रकार दक्षिणी प्रान्तो, विशेषकर क्वागतुग से बढती हुई जनसख्या का कुछ भाग विदेशों मे जीविका के साधन ढूँढने लगा था। यांग्त्सी के उत्तर के निवासियो की अपेक्षा कैण्टनवासी इस सबध मे अधिक साहसी थे और बाहरी दुनिया से उनका सपर्क भी अधिक लम्बा था और इसी सपर्क ने उन्हे धीरे-धीरे अपनी जन्मभूमि से बाहर आकर्षित किया। अमरीका के प्रशान्त सागर तट और मकाओ मे चीनी मजदूरो के प्रवेश का ऊपर वर्णन किया जा चुका है। अमरीका मे सन् १८८० व सन् १८९० के आसपास उनके प्रवेश-निषेध-सबधी कानून बन गये थे और मकाओ मे भी उनका प्रवेश वर्जित हो गया था, अमरीका में सन् १८३० से सन् १९११ के बीच तीन लाख से अधिक चीनी गये थे और सन् १९११ मे उन चीनियो की सख्या कुल एक हजार से कुछ ही अधिक थी, जो अमरीका पहुँचे थे। अमरीका का द्वार बन्द होने पर चीनियो ने हवाई द्वीप, फिलीपीन द्वीप समूह, मलयद्वीप समूह, सिंगापुर, कनाडा व मलय-राज्य-सघ की ओर बढाव शुरू किया। हवाई मे शीघ्र ही उनका प्रवेश वर्जित हो गया और अमरीकी निषेधाज्ञा सन् १९०२ मे फिलीपीन में भी लागू हो गयी। सन् १९०३ मे कनाडा ने कानून बना दिया कि वहाँ पहुँचने वाले हर चीनी नागरिक पर ५०० डालर का प्रवेश-कर लगेगा जिससे चीनी प्रवासियो के

वहाँ पहुँचने पर रोक लग गयी । मलय-राज्य-सघ व सिंगापुर मे सन् १९११ तक लगभग १३ लाख चीनी पहुँच चुके थे, किन्तु तब तक विदेशो मे चीनियो की संख्या लगभग २५ लाख तक पहुँच चुकी होगी । यह प्रवास क्वाग-तुग प्रान्त की आबादी के लिए भी एक बूंद के समान ही था किन्तु, इससे एक अन्य प्रकार से सहायता मिल गयी । चीनी प्रवासी विदेशो से काफी धन घर भेजने लगे थे, जिससे उनके परिवारो के साधनो मे वृद्धि हो गयी थी । विदेश-स्थित चीनियो की सपन्नता ने क्रांति को काफी मदद पहुँचायी, क्योकि उन्होने मुक्तहस्त से इनके लिए दान दिये ।

इन सबसे यह प्रकट है कि जिस तरह अकाल और विद्रोह चीन की आबादी की समस्या हल करने मे असफल सिद्ध हुए थे, उसी प्रकार उपनिवेशीकरण और विदेश-प्रवास भी असफल रहे, क्योकि सन् १८८५ से सन् १९११ तक चीन की जन-सख्या ३७ करोड़ ७० लाख से बढकर ४३ करोड हो चुकी थी । सन् १९१०–१९११ के अकाल और इस बढी हुई आबादी के कारण सन् १९११ तक खाद्य-समस्या बड़ी विकट हो चुकी थी और उससे व्यापक विद्रोह को उकसावा मिला ।

दूसरी आर्थिक समस्या वित्तीय थी । सन् १९०० के बाद के सुधार-कार्यक्रमो के लिए धन की आवश्यकता बढ गयी थी । आधुनिक साज-सज्जायुक्त सेना, रेल-मार्गों का निर्माण, नयी शिक्षा सस्थाओ की स्थापना आदि का खर्च बहुत था । जापान से हुए युद्ध तथा मुक्का-आदोलन के सबध मे भरनी पड़ रही क्षतिपूर्तियो के भी बोझ भारी थे । इनमें सीमा-शुल्क व अन्य कुछ करो की सारी आय निकल जाती थी और सामान्य सरकारी व्यय के लिए यह राशि उपलब्ध नही हो पाती थी । फलत कर-भार बढ़ने लगा और धीरे-धीरे नये कर लगने लगे । इससे भी मचू-राजवश के विरुद्ध असतोष-अशाति की भावनाएँ बढ़ी ।

## (५) क्रांतिकारी गुटों का प्रभाव

इस आर्थिक असतोष से आम जनता के मन पर असतुष्ट प्रजा की जगह सच्चे क्रातिकारियो के सदेश का प्रभाव पड़ने लगा । सन् १८९८ के सुधारको के निकाले जाने के पहले से ही चीन मे एक क्रांतिकारी दल था । क्रातिकारी व सुधारक तत्त्व मुख्यत. टोकियो मे केन्द्रित थे और उनके स्पष्ट कार्यक्रम थे । क'आंग यू–वी व उनके शिष्य यि'–च'आओ के नेतृत्व में सुधार व संवैधानिक राजतंत्र के लिए प्रचार करते थे और सन् १९०५ के बाद मंचू-शासन के अधीन जो सैद्धांतिक सुधार कार्यक्रम चला, उसके लिए वे अग्रिम प्रवर्त्तक मात्र सिद्ध हुए । किन्तु, उनकी काररवाइयो के फलस्वरूप संवैधानिक सुधारो के लिए जनमानस पर अनुकूल प्रभाव पड़ा और यह प्रभाव प्रान्तीय विधानसभाओ व राष्ट्रीय विधान सभा की स्थापना तथा मंचू-

शासन पर एँड़ लगाने मे प्रकट हुआ । क्रातिकारियो के नेता थे डाक्टर सुनयात-सेन और वे राजवश के विरुद्ध थे। सन् १९०५ तक उनका संगठन बन चुका था और उसे तुग मेग हुई (सश्रय-समाज-सगठन) का नाम मिल चुका था, सन् १९०५, १९०६, १९०७ व १९१० मे इस सगठन ने छिटफुट विद्रोह करवाये थे और सन् १९११ के उपद्रवो को विद्रोह की दिशा प्रदान की थी।

कुछ समय तक क्रातिकारियो की भरती मुख्यत उन विदेशी प्रवासी चीनियो मे ही होती रही, जिनमे डाक्टर सुन काफी व्यापक दौरे करके अपने संगठन का प्रचार करते थे। सन् १९०५ के बाद यह प्रचार मुख्य चीन-भूमि पर होने लगा। याग्त्सी के दक्षिण मे जो अनेक गुप्त सस्थाएँ लगभग हमेशा से मौजूद थी, उनके सदस्यो मे से क्रातिकारी-आदोलन के लिए भरती होने लगी। जो नयी आदर्श सेना वन रही थी, उसमे क्रातिकारी-आदोलन के लिए भरती पर बड़ा जोर दिया गया और हैनकाउ व नानकिंग मे स्थित सेना प्रभागो में मचू-विरोधी या सुधार समर्थक रगरूटों की सहानुभूति काफी बड़ी मात्रा मे प्राप्त हुई। उत्तर के प्रान्तो मे स्थित सेना मे क्रांतिकारी-आंदोलन को अधिक सफलता नही मिली।

क्रातिकारी-प्रचार का तीसरा केन्द्र नये छात्र वर्ग मे था। सन् १९००, विशेषकर सन् १९०५ के बाद चीनी छात्र बड़ी सख्या मे अध्ययनार्थ विदेश जाने लगे थे। उनमे से कुछ अमरीका व यूरोप के देशो मे अनेक वर्षों तक ज्ञान-अर्जन के लिए जाते थे किन्तु जापान जानेवालो की सख्या बहुत अधिक थी, इनमें से अनेक उन लोगो के चगुल में फँस जाते थे, जो कुछ ही सप्ताहो में पश्चिमी ज्ञान व विषयो मे पारगत कराने के वादे करते थे। चूँकि चीनी छात्रो का मुख्य उद्देश्य जल्दी-से-जल्दी सरकारी नौकरियाँ प्राप्त करने की क्षमता हासिल करना होता था, वे "केवल चीनियो के लिए" स्थापित हुए इन बरसाती स्कूलो मे जाना अधिक पसन्द करते थे और लगातार वर्षों तक पढ़ाई कराने वाले जापानी स्कूलो मे प्रवेश करना नही चाहते थे; जापान की नियमित शिक्षा-सस्थाओ मे इन सब चीनी छात्रों को भरती करने की गुजाइश भी नहीं थी। चूँकि इन बरसाती स्कूलो में शुल्क अदा करने मात्र से डिगरियाँ व उपाधियाँ मिल जाती थी, इन छात्रो के पास समय काफी बचा रहता था, जिसका उपयोग बहुधा वहाँ निष्कासित चीनी क्रातिकारियो से सपर्क बढ़ाने में होता था। स्वदेश वापस लौटने पर बहुधा वे पाते थे कि उनके लिए सरकारी नौकरियाँ नही हैं, चाहे विदेशी डिप्लोमा व सनदे उनके पास भले ही हो। ऐसे लोगों को सरकार से शिकायत शुरू हो जाती और लगातार होनेवाले क्रांतिकारी प्रचार का उन पर प्रभाव पड़ने लगता। यद्यपि उनका ज्ञान सतही होता था, उनके विदेशी

अनुभव के कारण उनकी स्थिति अवश्य ऐसी हो जाती थी कि वे क्रातिकारी विचारो व सिद्धान्तो के प्रचार के प्रभावशाली केन्द्र हो जाते थे। इस प्रकार, क्रातिकारी-आदोलन के निष्कासित नेताओ के अतिरिक्त एक देशी व स्थानीय नेतृत्व भी इस आदोलन को मिलने लगा। कुछ छात्रो को तो वास्तव मे नये ज्ञान का पूर्ण ज्ञान होता था, पर अनेको को जननत्र आदि के उन नारो भर का ज्ञान रहता था जो शीघ्र ही बहुत महत्त्वपूर्ण होनेवाले थे। नये चीन का महत्त्व उसके ज्ञान मे नही राजनीतिक यथास्थिति से असतोष मे था।

ईसाई धर्म-प्रचारको द्वारा स्थापित शिक्षण-सस्थाओ के प्रभाव का वर्णन किये बिना क्राति मे छात्रो के योग की पूरी भूमिका स्पष्ट नही हो सकती। ये मिशन स्कूल हर वर्ष अपने स्नातको को विदेश भेजते थे और इस प्रकार नये चीन के निर्माण मे योगदान कर रहे थे। यह कहना कि इन सस्थाओ के अनेक स्नातक अपने भविष्य से असतुष्ट और क्राति के तत्पर समर्थक हो जाते थे, यद्यपि शासन की उत्तरदायित्वपूर्ण प्रणाली की सफल प्रक्रियाओ व समस्याओ के सबध मे उनका ज्ञान सतही या पुस्तको तक ही सीमित रहनेवाला होता था, सस्थाओ के शिक्षा स्तर पर लाछन नही माना जाना चाहिए। किन्तु, यह तथ्य महत्वपूर्ण है कि चीन मे अपनी अनोखी स्थिति के कारण छात्र-वर्ग मे सन् १९११ तक नये विचारो का इतना समावेश हो चुका था कि लगभग पूरा वर्ग क्रातिकारी-आदोलन की ओर झुक गया। यह बात भी महत्वपूर्ण है कि क्राति व उसके बाद स्थापित पहली विधानसभाओ मे जो उग्र तत्व थे, उनमे से अनेक या तो मिशन स्कूलो के स्नातक थे या वहाँ पढ़े थे। इसी प्रकार यह तथ्य भी महत्त्वपूर्ण है कि सन् १९०५ के बाद चीन सरकार ने जब नया शिक्षा-कार्यक्रम चलाने का प्रयास किया तो अध्यापको की खोज में उसे इन्ही मिशन स्कूलो व विदेश से लौटे स्नातको को भरती करना पड़ा। इस प्रकार मचू-शासन के सुधार-कार्यक्रम का प्रत्यक्ष फल इन लोगो के प्रभाव-क्षेत्र को व्यापक बनाने मे सहायक सिद्ध हुआ।

## (६) विद्रोह के तात्कालिक कारण

क्रातिकारी विचारो के प्रचार व क्रातिकारी योजनाओ के निर्माण मे सचार-सवहन के नये साधन—तार, डाक व रेल व्यवस्थाएँ–भी सहायक सिद्ध हुए। चीनी भाषा के पत्र-पत्रिकाओ के तेजी से हुए विकास से भी इसमें सहायता मिली, इन पत्रो मे मुख्यत सुधारो की ही विवेचना होती थी और खुले रूप से, यद्यपि बड़ी सावधानी के साथ, टोकियो में प्रकाशित और चोरी-छिपे चीन लाये गये क्रांतिकारी व सुधारवादी साहित्य से नेतृत्व व प्रेरणा प्राप्त की जाती थी। जो पत्र सबसे

अधिक उग्र थे वे शघाई जैसे विदेशी अधिकार के क्षेत्रो से वितरित होते थे और इसलिए उस पर चीन सरकार का कोई नियत्रण नही था ।

ये वे कुछ मूल कारण थे, जिनके फलस्वरूप असफल सीमित उपद्रवो की जगह क्राति हो गयी । एक अन्य प्रत्यक्ष व तात्कालिक कारण तथा विद्रोह का अवसर था सन् १९०९ से १९११ के बीच पीकिंग के केन्द्रीय शासन द्वारा अपनायी गयी रेल-नीति तथा उसके निष्कर्ष । शुरू मे विदेशी शक्तियो ने रेलमार्गो के निर्माण के लिए जो रिआयतो की लूट मचायी थी, उसके बाद कुछ दिनो तक इस दिशा मे शाति रही, फिर यह प्रवृत्ति परिलक्षित हुई कि रेलमार्ग का निर्माण विदेशी नही देशी धन से हो और राष्ट्रीय नही प्रान्तीय आधार पर हो । मूल प्रश्न केन्द्रीकरण बनाम विकेन्द्रीकरण का था । किन्तु विकेन्द्रीकरण के समर्थको को अपने पक्ष मे तर्क देने की आवश्यकता नही थी, क्योकि राष्ट्रीय रेल-प्रणाली पर पूँजी द्वारा विदेशी प्रभुत्व हो जाने के डर से समस्या अधिक जटिल हो गयी थी । सन् १९०५ के वाद जो "अधिकार वापस लो" आदोलन चला, प्रान्तीय नियत्रण की माँग उसका मुख्य लक्षण थी । हुकुआग के वाइसराय, चाग चिह-तुग, रेलमार्ग प्रणाली के विस्तार के प्रमुख समर्थको मे थे किन्तु उन्होने रिआयतो की नीति के खतरे समझ कर रेलमार्गो पर प्रान्तीय नियत्रण कर देने का परामर्श दिया । उन्ही के समझाने-बुझाने पर हैन-काउ-कैण्टन का मुख्य मार्ग का निर्माण सबधित प्रान्तो के नियत्रण मे दे दिया गया था और यही नीति हैनकाउ-जेचुआन मार्ग के सबध मे भी बरती गयी थी । सन् १८९८ मे दिये गये आश्वासन के फलस्वरूप चीन-सरकार शघाई-हैगचाउ-निगपो रेलमार्ग के लिए ब्रिटेन से ऋण लेने को बाध्य हुई थी, किन्तु तब भी चेकियाग रेल-मार्ग कार्यालय इसे राष्ट्रीय रेलमार्ग बनने से रोकने मे सफल हो गया था ।

सन् १९०९ तक न केवल केन्द्रीय शासन ही बल्कि वाइसराय चाग चिह-तुग भी इस नीति के अविवेकपूर्ण होने के कायल हो चुके थे । पहले तो रेलमार्ग के निर्माण के लिए आवश्यक पूँजी प्रान्तो मे प्राप्त नही होती थी । दूसरे जो भी पूँजी इकट्ठी होती थी, वह रेलवे-निर्माण-कार्यक्रम के पूरे हुए बिना ही गायब हो जाती थी, क्योकि यह पूँजी दूसरे कामो मे लग जाती थी और खूब घूस चलती थी । फलत., यह समझा गया था कि आवश्यक ट्रक-मार्ग बनाने का काम केन्द्र को फिर से अपने ही हाथ मे ले लेना चाहिए । तीसरे, सत्तारूढ़ व्यक्तियो की समझ मे पीकिंग की सत्ता को सुदृढ़ करने के लिए यातायात के साधनो का महत्त्व आ चुका था । किन्तु, सन् १९०९ मे नयी नीति कार्यान्वित होने के पहले ही चांग चिह-तुग की मृत्यु हो गयी; यह दुर्भाग्यजनक था, क्योकि वाइसराय को प्रान्तो का समर्थन प्राप्त

था, जो कि यातायात मडल के अध्यक्ष को प्राप्त नही था। किन्तु, उनकी मृत्यु के पहले ही हुकुआग रेल-मार्ग के निर्माण व उसमे पूँजी लगाने मे विदेशियो के साझे के संबध मे प्रारम्भिक समझौता हो चुका था।

सन् १९११ के आरम्भ मे यातायात-मडल के अध्यक्ष शेग ह्सुआन-हुआई बनाये गये और रेलमार्गो के केन्द्रीकरण की नीति सक्रिय रूप से चलायी गयी। पहले तो हैनकाउ-कैण्टन व हैनकाउ-जेचुआन रेलमार्गो के निर्माण के लिए चार राज्यो के बैक-समूह से बडी धनराशि ऋण के रूप मे लेने का समझौता किया गया। साथ ही मुद्रा-व्यवस्था के सुधार व मचूरिया के उद्योगीकरण के लिए एक करोड़ डालर का ऋण लेने का समझौता हुआ। रेल-मार्ग-ऋण के उद्देश्य को पूरा करने के लिए सबंधित प्रान्तीय हितो से भी समझौता होना आवश्यक था। इस ऋण के लिए विदेशो से हुए समझौते के तत्काल बाद सबंधित प्रान्तो से, जिनमे होकर ये मार्ग जाने वाले थे, विरोध हुआ था और कुछ स्थानो पर उपद्रव भी हुए थे, जिसके फलस्वरूप पीकिंग प्रान्तीय मध्यम वर्ग को यथासभव संतुष्ट करने के लिए बाध्य हुआ था। इस समस्या का हल हुनान व हूपेह प्रान्तो मे यह निकला कि रेलमार्गों मे जो हिस्से (शेयर) थे, उनके मूल्य के ब्याज सहित सरकारी ऋणपत्र (बाण्ड) दे दिये गये; क्वांगतुग मे इन हिस्सो पर ५० प्रतिशत बट्टा देकर बाण्ड दिये गये। वहाँ व्यवस्था यह की गयी कि हिस्सो के ६० प्रतिशत के लिए ब्याज सहित व ४० प्रतिशत के लिए ब्याजहीन बाण्ड दिये जाने थे, क्योकि, "स्थिति जटिल थी, हर रेल कपनी दिवालिया थी और सरकारी प्रस्ताव तर्कसगत ही नही उदार भी था।"[१४] जेचुआन के लिए सरकार ने प्रस्ताव रखा कि केवल उसी राशि के बाण्डो का भुगतान होगा, जो रेलवे-निर्माण-कार्य पर खर्च हुई, उसका नही, जो विशेष कर लगा कर या हिस्से बेच कर इकट्ठा की गयी थी। कुल एक करोड़ ४० लाख ताएल के हिस्से बिके थे; इसमें से आधी राशि ही सरकारी बाण्डो की खरीद, प्रान्त की औद्योगिक आवश्यकताओ की पूर्ति या हिस्सेदारो को वापस लौटाने के लिए उपलब्ध थी। शेष राशि का लगभग आधा प्रबन्धको मे से एक के शंघाई की रबड़ की तेजी के सट्टे मे उड चुका था।[१५] अतएव सरकार ने जेचुआन रेलमार्ग के हिस्सेदारो को लगभग ४० लाख ताएल के बाण्ड देने का प्रस्ताव किया। वाइसराय के द्वारा सम्राट् के पास स्मृतिपत्र भेज कर इस समझौते का तत्काल विरोध किया गया। इस विरोध के बाद शांतिपूर्ण प्रतिरोध शुरू हुआ। "दूकाने बन्द कर दी गयी, कर्मचारियो ने हड़ताल कर दी, छात्रों ने स्कूल-कालेज जाने से इनकार कर दिया, करो की अदायगी रुक गयी।"[१६] इस विरोध-आंदोलन के कुछ नेताओ की गिरफ्तारी पर वाइसराय के

कार्यालय पर हमला हुआ प्रतिरोध शातिपूर्ण की जगह उग्र हो उठा । यह सितम्बर, १९११ मे हुआ । विद्रोह का पूरी ताकत से दमन करने की जगह केन्द्रीय शासन ने तुष्टीकरण की नीति अपनायी, जो चाहे अतत सफल ही होती, उस समय के लिए बहुत ही धीमी सिद्ध हुई । इस नीति के पीछे अपनी कमजोरी की स्वीकृति की भावना भी हो सकती थी और यह धारणा भी कि केन्द्रीकरण की नीति का विरोध जेचुआन तक ही सीमित नही है । इसके अतिरिक्त, शासन पर शेंग ह्सुआन हुआई की धन-सबंधी कुख्याति का भी प्रभाव पड़ा होगा, शेग योग्य व्यक्ति थे, किन्तु चीनी व्यापारियो की स्टीम नेवीगेशन (वाष्प सचालित नौ सचार) कंपनी के प्रवन्ध और कुशल शासक ली हुंग-चाग के नीचे कई पदो पर काम करते समय उनकी रुपये-पैसे के सम्बन्ध में बदनामी हो गयी थी । उन्होने जो यह सुझाव रखा कि कपनी के प्रबन्धको द्वारा उसकी पूँजी के दुरुपयोग व उससे सट्टा खेलने के लिए जेचुआन के मध्यमवर्ग को दडित किया जाये, उसे उनकी स्वय की ख्याति के संदर्भ मे असगत माना गया ।

## (७) सन् १९११ की क्रांति

जेचुआन मे जो विद्रोह हुआ वह राजवश के विरुद्ध नही था, इसलिए क्राति की शुरुआत उससे नही मानी जाती, बल्कि १० अक्तूबर, १९११ को हैनकाउ मे अकस्मात् एक बम फटने की घटना से मानी जाती है, यह दुर्घटना जब हुई इस बड़े पश्चिमी प्रान्त मे तुष्टीकरण के प्रयास हो ही रहे थे । जहाँ बम फटा था, उस जगह की तलाशी लेने पर पुलिस को पता लगा कि वह क्रातिकारियो का अड्डा था और वहाँ बम बनाये जा रहे थे, पुलिस को वहाँ के स्थानीय क्रातिकारियो के नामो की सूची भी मिल गयी । इसके फलस्वरूप, तथा इस डर से कि पुलिस आगे भी कारर-वाई करेगी, वुचाग-स्थित सैनिकों ने विद्रोह कर दिया और अपने सेनापति, कर्नल ली युआन-हुंग को विद्रोह का नेतृत्व करने को बाध्य कर दिया । कर्नल को क्रांति मे भाग लेने के लिए पहले राजी नही किया गया था, किन्तु एक विद्रोहियो का नेतृत्व सम्भालने के बाद वह लोकतात्रिक नेताओ मे सबसे अधिक विश्वसनीय सिद्ध हुए । थोड़ी बहुत लड़ाई के बाद वुचाग सैनिको ने वुचाग, हैनयाग व हैनकाउ पर कब्जा करके मध्य चीन के सबसे बड़े केन्द्र पर आधिपत्य जमा लिया ।

क्राति की ज्वाला तेजी से यांग्त्सी तट पर ऊपर, नीचे व दक्षिण की ओर फैलने लगी । दक्षिण मे कुछ समय के लिए शानतुग प्रान्त ने अपनी स्वतंत्र सत्ता घोषित कर दी, यद्यपि शीघ्र ही वह फिर केन्द्रीय शासन के अधीन आ गया; चिहली में भी विशेषकर सैनिको में विद्रोह की भावना फैली, किन्तु यांग्त्सी के उत्तर में शेंसी प्रान्त

को छोड कर, सैनिक केन्द्रीय शासन के प्रति निष्ठावान् रहे और वहाँ शासन सुदृढ रहा। पूरा आदोलन एकाएक व स्वतत्र रूप से हुए विद्रोहो की शृखला लगता था, सुनियोजित क्राति नही। अशत, इसका कारण यह था कि क्रातिकारियो की युद्ध-नीति ही यह थी कि विभिन्न केन्द्रो मे क्रातिकारी भावनाओ को उभारा जाय और यह भरोसा कर लिया जाय कि अतत यह ज्वाला स्वयमेव ही व्यापक हो जायगी। अत सबसे पहले विद्रोह की चिनगारी कैण्टन मे फटी और वह बढने भी नही पायी थी कि बुझा दी गयी थी। इन छिटपुट विद्रोहो का एक कारण यह भी था कि क्राति के समर्थको के गुट अनिवार्यत स्थानीय स्तर पर बनाये गये थे, राष्ट्रीय स्तर पर नही और उनकी योजनाएँ भी स्थानीय स्तरो पर बनी थी। यह भी दावा किया गया कि बाद मे किसी तिथि को एक साथ सभी क्रातिकारी गुटो के विद्रोह कर देने की भी योजना बनी थी, किन्तु हैनकाउ मे बम फटने और उसके बाद की पुलिस काररवाई के कारण विद्रोह कर देना अनिवार्य हो गया यद्यपि अन्य स्थानीय गुटो की इस तिथि के लिए तैयारी नही थी। जो भी हो, तथ्य यही सामने आया कि क्राति का कोई केन्द्रीय निर्देशन एक बहुत बाद की तिथि तक नही ही रहा था। मूल नेतृत्व वूचाग मे केन्द्रित था यद्यपि इसका अन्य स्थानीय गुटो की काररवाइयो पर कोई प्रभावकारी नियत्रण नही था। अतत आदोलन को सुनियोजित करने के लिए सभी "स्वतत्र" प्रान्तो से अपने-अपने प्रतिनिधि वूचाग भेजने का अनुरोध किया गया, ताकि एक क्राति-परिषद् की स्थापना हो सके; एक वचन-पत्र भी तैयार किया गया जो बाद मे गणतत्र के काम-चलाऊ सविधान के आधार रूप मे नानकिंग मे स्वीकृत हुआ।

इसी बीच विद्रोह शघाई तक पहुँच चुका था जहाँ "फौजी सरकार" स्थापित की गयी थी। इस सरकार ने तत्काल सारे क्रातिकारियो की प्रतिनिधि होने की घोषणा कर दी। पू तिंग-फेग ने, जो पहले अमरीका मे चीनी राजदूत रह चुके थे, परराष्ट्र-मत्री का पद सम्भाल लिया और क्राति के उद्देश्यो के सबध मे एक घोषणा-पत्र निकाल कर विदेशो से सहानुभूति की अपील की। इस सरकार ने विदेशो से तटस्थ रहने को कहा और धमकी दी कि यदि उसकी पराजय हुई तो केन्द्रीय शासन को दिये गये ऋणो को वैध नही माना जायगा। शघाई सरकार ने अपने प्रतिनिधि रूप के जो दावे किये, उनके कारण शीघ्र ही वूचांग से उसके मतभेद हो गये; जब केन्द्रीय शासन से समझौते की बात चली तब शांति समझौता वार्ता के नियत्रण के सबध में वे मतभेद और प्रखर हो गये, यह ली युआन-हुग की विनय थी कि उन्होने यह निर्देशन शघाई-गुट के हाथो मे जाने दिया और इस प्रकार क्रातिकारियो मे फूट पड़ना बच गया। संघाई के नेतृत्व के इस कट्टर दावे का एक कारण निस्सदेह ही

यह था कि वे नये शासन का नेतृत्व कैण्टनवासियो के हाथो मे ही रखना चाहते थे, शघाई के नेता कैण्टन के थे, वूत्राग के नेता मध्य प्रान्तो के थे।

उधर, पीकिंग मे सन् १९११ के वसन्त मे राष्ट्रीय विधानसभा के स्थगित होने के बाद सुधारो की कहानी अधूरी रह गयी थी। वूचाग-विद्रोह के दस दिन बाद, २२ अक्तूबर को, विधानसभा की बैठक बुलायी गयी। विधानसभा ने पहला काम यह किया कि शेग ह् सु आन-हुआई को पदच्युत करा दिया और इस प्रकार रेलमार्गो के केन्द्रीकरण के प्रश्न पर उसने प्रान्तो का साथ दिया। फिर उसने केन्द्रीय सरकार पर हमला शुरू किया कि अपने वादे के अनुसार वह ग्रीष्म ऋतु के पहले एक वास्तविक मन्त्रिपरिषद् बनाने मे असफल रही थी। सरकार ने आश्वासन की पूर्ति केवल महापरिषद् का नाम बदल कर मन्त्रिपरिषद् करके ही की थी। विधानसभा ने सरकार की स्वीकृति के लिए तीन मूल माँगे, तैयार की। ये माँगे थी—एक योग्य और ईमानदार व्यक्ति तत्काल नियुक्त किया जाय, जो उत्तरदायी मन्त्रिपरिषद् का गठन करे, जिसमे राजवश के सदस्य बिलकुल न हो, सन् १८९८ के निष्कासित सुधारक व अन्य सभी राजनीतिक दण्ड भोगने वालो को क्षमा प्रदान की जाय और जो नया सविधान बनाया जाय, वह विधानसभा के परामर्श से। विद्रोह के प्रसार और लैनचाउ-स्थित सैनिकों के पीकिंग–मुकडेन रेल पर जब तक ये माँगे स्वीकार न हो जायँ तब तक सवार होने से इनकार कर देने के कारण इन माँगो को बल मिला। ३० अक्तूबर को जारी किये गये शासनादेशो के द्वारा ये माँगें स्वीकार कर ली गयी। "सविधान के सिद्धान्त" के रूप मे विधानसभा ने नये सिद्धान्त प्रतिपादित किये, उन्हे ३ नवम्बर को सम्राट् की स्वीकृति मिल गयी। संक्षेप मे, इन सिद्धान्तो द्वारा सम्राट् के अधिकार अत्यधिक सीमित करके सवैधानिक राजतत्र स्थापित करने की बात की गयी; सम्राट् के अधिकार ब्रिटेन के बादशाह के अधिकारो से मिलते-जुलते रखे गये। इस प्रकार, नवम्बर के शुरू होते-होते, एक ओर स्वयं उन्ही के द्वारा बनायी गयी विधानसभा और दूसरी ओर राजवश विरोधी क्राति के दोहरे दबाव मे आकर मंचू राजवंश ने सम्राट् की उपाधि ही कायम रखने के प्रयत्न मे अपने अधिकाश अधिकारो व सत्ता का त्याग कर दिया।

ये रिआयते देने के साथ ही राज्य ने विद्रोह के दमन के अन्य उपाय भी किये। पहला कदम था युआन शिह कोई को फिर से नियुक्त करना। यह कदम तभी उठाया गया था जब यह समझ लिया गया था कि क्राति का सामना करने की क्षमता अन्य किसी व्यक्ति मे नही थी। १४ अक्तूबर को उन्हे काम पर वापस बुलाया गया पर जिस रोग के इलाज के लिए उन्हें अनिवार्य अवकाश पर घर भेज दिया गया था व

अन्य रोगो के बहाने उन्होने काम पर वापस लौटने से इनकार कर दिया। इस बीच काम पर आने की शर्तें उन्होने रखी और उन पर समझौते की बातचीत चली। २७ अक्तूबर को जब वह काम पर आये तो उन्हे लगभग तानाशाही अधिकार प्राप्त हो चुके थे। हुकुआग के वाइसराय होने के अतिरिक्त वह जल-थल सेनाओ के सर्वोच्च सेनापति भी बने और ८ नवम्बर को राष्ट्रीय विधानसभा द्वारा उन्हे प्रधान मंत्री निर्वाचित कर लिया गया।

उनका मुख्य उद्देश्य था सम्राट् को कायम रखते हुए भी सम्राट् को अधिकार व सत्ताहीन कर देने के लिए समझौता करना। उनकी मचू-राजवश को कायम रखने की नीअत के संबंध मे संदेह किया जाता है, किन्तु प्राप्त प्रमाणो से प्रतीत होता है कि जिस सीमा तक सम्राट् ईमानदारी से संवैधानिक शासक का पद स्वीकार करने को तैयार थे, उस सीमा तक वह सम्राट् के प्रति वफादार थे। तब या बाद में भी उन्होने चीन में गणतत्र की स्थापना की उपयोगिता मे विश्वास नही किया। जो स्थिति वह सम्राट् को देना चाहते थे, उसे सम्राट् स्वीकार कर ले इसके लिए आवश्यक था कि क्राति जारी रहे और कुछ बढ़े भी। साथ ही, क्रातिकारियो द्वारा सम्राट् की यह स्थिति स्वीकार कराने के लिए यह भी आवश्यक था कि सरकार की शक्ति का भी प्रदर्शन हो। इस प्रकार की तथ्य-विवेचना से ही यह बात समझ में आ सकती है कि सरकार के निष्ठावान् सैनिको ने हैनकाउ के आसपास युद्ध मे जो सफलताएँ प्राप्त की, उनका लाभ उठा कर वे आगे क्यो नही बढ़े।

सैनिक दृष्टि से इतना कह देना ही पर्याप्त है कि अनेक अवसरों पर सरकारी सैनिको ने ली युआन-हुंग के सेनापतित्व वाली क्राति सेना के मुकाबले मे साधन, नेतृत्व व प्रशिक्षण की अपनी श्रेष्ठता साबित कर दी थी। ली का साथ एक पुराने क्रांतिकारी हुआंग-ह्सिग भी दे रहे थे। जब भी युआन ने लड़ने का निर्णय किया, उनकी सेना एक के बाद एक विजय प्राप्त कर लेती थी, किन्तु उस सेना को निर्णायक विजय प्राप्त करने के लिए आगे नही बढने दिया जाता था। उधर नानकिंग मे भी जमकर सगठित मोर्चा लिया गया। वहाँ एक पुराने सेनापति, ह्सुन ने नेतृत्व सम्हाला और उनकी बढी-चढ़ी माँगो के क्रातिकारियों द्वारा अस्वीकार किये जाने के बाद वह बराबर मंचू-वंश के वफादार बने रहे। कुछ समय तक नानकिंग की रक्षा की गयी, किन्तु अंत में, गणतत्र की सेना ने उस पर कब्जा कर लिया और कुछ समय तक वह दक्षिण में उनकी राजधानी बना रहा।

## (८) शांति के लिए समझौता

युआन शिह्-का' ई हैनकाउ मे युद्ध के निर्देशन के साथ ही साथ ली युआन-हुंग

से समझौते की बात चलाने के लिए भी प्रयत्न कर रहे थे। सरकारी फौजो की सफलता के फलस्वरूप ली ने नवम्बर के अत में समझौते की शर्तो पर विचार-विमर्श करने की स्वीकृति दे दी। किन्तु, शघाई सरकार चाहती थी कि शाति की शर्ते उससे तय की जायँ। युआन ने पहले तो उससे बात करने से इनकार कर दिया, किन्तु बाद में, ली के यह स्वीकार करने पर कि वही सरकार गणतत्र-सेना का प्रतिनिधि करती है, वह बातचीत चलाने के लिए तैयार हो गये। अमरीका मे शिक्षा प्राप्त करने वाले कैण्टनवासी, ताग शाओ-यी, जो सन् १९०८ के पहले युआन शिह-का' ई के सबसे योग्य अनुयायी थे, सरकार की ओर से बातचीत चलाने के लिए भेजे गये; शंघाई-सरकार के परराष्ट्रमत्री, डाक्टर वू तिंग-फाग (जो स्वयं कैण्टनवासी थे) दूसरी ओर से बात करने आये।

शाति-समझौते की बातचीत चल ही रही थी जब विद्रोही प्रान्तो के प्रतिनिधियो ने—जिनमे कुछ ने अपने आपको नियुक्त कर लिया था, कुछ को प्रान्तीय विधानसभाओ ने चुना था और कुछ को फौजी राज्यपालो ने नियुक्त किया था——नानकिंग मे एकत्र होकर क्रांति का पूरा नियंत्रण अपने हाथो मे ले लिया था। इस इस प्रकार की परिषद् की स्थापना के सर्वप्रथम प्रयास ली युआन-हुंग ने किये थे और इसके सदस्य पूरे हो जाने पर, शघाई-सरकार के दबाव पर, इसका केन्द्र नानकिंग बनाया गया था। परिषद् की बैठक मे, तभी ही चीन लौटे, डाक्टर सुन यात-सेन को अस्थायी रूप से अध्यक्ष चुना गया। इस परिषद् की सरकार से शाति का समझौता हुआ।

समझौता-वार्ता का विशद वर्णन स्थानाभाव के कारण कठिन है। किन्तु यह कहा जा सकता है कि गणतत्र-समर्थको की बुनियादी माँग थी राजतत्र का अत और गणतत्र की मान्यता। उन्होने शासन-प्रणाली का स्वरूप निश्चित करने के लिए राष्ट्रीय सम्मेलन बुलाने का सुझाव अवश्य रखा, किन्तु केन्द्रीय सरकार द्वारा यह सुझाव स्वीकार कर लिये जाने पर, इस बात पर मतभेद पैदा हो गये कि यह सम्मेलन किस आधार और प्रकार पर बुलाया जाय और यह योजना चल नही सकी। इस पर गणतत्रवादी अपनी बुनियादी माँग पर फिर जोर देने लगे। प्रतीत होता है कि सरकार के प्रतिनिधि ने शुरू से ही मचू-वश का शासन समाप्त करने का दक्षिण वालो का सुझाव स्वीकार कर लिया था और इस प्रकार वह उत्तर वालो के हितों का प्रतिनिधित्व करने का अधिकार खो बैठा था। बाद मे यह भी दक्षिण वालो के दल का नेता हो गया।

बातचीत के दौरान में दोनों पक्षो को समझौते की आवश्यकता प्रकट होने लगी।

दोनो ही पक्ष पूँजी मे कमजोर थे। पीकिग का राज्यकोष खाली था और युआन ने राज्य को राजवश के कोष से सिपाहियो के वेतन चुकाने को बाध्य किया था। नानकिंग में न कोष था न कोषाध्यक्ष। दोनो पक्ष विदेशो से आर्थिक सहायता पाने मे असमर्थ थे, क्योकि विदेशी शक्तियो ने आर्थिक तटस्थता वरतने का निश्चय कर लिया था। किन्तु यदि शाति-समझौता न हो जाता तो सभवत विदेशी शक्तियाँ यह तटस्थता की नीति छोड़कर युआन को सहायता देने का फैसला कर लेती, क्योकि विदेशी प्रतिनिधि समझते थे कि युआन सक्षम व्यक्ति है, जो देश को अव्यवस्था और अराजकता से बचा सकते हैं। गणतत्रवादियो को शुरू मे विदेश-स्थिति प्रवासी चीनियो के उदार चन्दो व जहाँ-जहाँ उनका नियत्रण हो गया था, उन प्रान्तो के करो की आय से धन प्राप्त हुआ। उन्हे कुछ धनराशि जापानी सूत्रो से गैरसरकारी रूप मे भी प्राप्त हुई। उन्होने कुछ अर्ध-सरकारी कपनियो की, जैसे कि हेन यीह पिंग इस्पात व कोयला-निगम की, जमानत देकर कुछ ऋण भी प्राप्त कर लिये थे, किन्तु आय के ये लगभग सभी साधन वर्ष के अत तक समाप्त हो चुके थे। फलत, किसी भी पक्ष की शक्ति की अपेक्षा दोनो पक्षो की आर्थिक मजबूरियो के कारण समझौता हो गया।

समझौता-वार्ता के अतिम दौर मे युआन शिह्-का'ई स्वय शामिल हुए ताकि वह मचुओ के लिए कुछ अच्छी शर्ते स्वीकार करा सके और स्वयं अपनी स्थिति मजबूत कर सके, मचू धीरे-धीरे सत्ता-त्याग करने की आवश्यकता को स्वीकार करने लगे थे। जनवरी के मध्य मे, डाक्टर सुन यात-सेन ने, सभवत स्वत. प्रेरणा से, प्रधान मंत्री युआन को तार भेज दिया कि यदि वह गणतत्र स्वीकार कर ले और राजतत्र को समाप्त करने की आवश्यकता समझ लें तो उन्हे राष्ट्रपति बना दिया जायगा। इसके उत्तर मे मचुओ ने युआन को मार्किस की उपाधि दे दी। युआन ने पहला प्रस्ताव खुले रूप से स्वीकार नही किया, पर दूसरे प्रस्ताव को चार बार अस्वीकार कर दिया।

## (९) समझौता

१२ फरवरी, १९१२, को समझौते की शर्तें स्वीकार हो गयी और सम्राट् के पदत्याग का शासनादेश जारी हो गया।[१७] राजवंश के सत्ता-त्याग (१) ठोस आर्थिक लाभ की व्यवस्था, (२) राजवंश के सदस्यो और जाति के लोगो की सुरक्षा के आश्वासन, और (३) सम्राटो की समाधियो की सुरक्षा व रख-रखाव की व्यवस्था के आधार पर किया। शासनादेश के अनुसार उन्होने सत्ता दक्षिण की सरकार को नहीं युआन शिह्-का'ई को सौंपी थी, जिससे जनता के समक्ष युआन की स्थिति

बहुत मजबूत हो गयी थी। आदेश के शब्द थे—"युआन शिह्-का'ई समस्त अधिकार प्राप्त अस्थायी गणतान्त्रिक सरकार बनायें और गणतंत्र-सेना से एकता की बात चलाये ताकि जनता मे शाति स्थापित हो, साम्राज्य मे शाति स्थापित हो, और पाँचो जातियो—मचू, चीनी, मगोल, मुसलमान व तिब्बती—के मिलन से एक महान् चीनी गणतत्र बने, जिसमे इन सभी अविच्छिन्न क्षेत्र सम्मिलित हो।" नानकिंग सरकार की ओर से डाक्टर सुन ने तर्क रखा कि "चिं'ग सम्राट के द्वारा दिये गये अधिकार से गणतत्रीय सरकार की स्थापना नही हो सकती; इस प्रकार के महत्त्वाकाक्षी अधिकारो के प्रयोग से निश्चय ही गभीर सकट आयगा।" किन्तु युआन ने डाक्टर सुन को आश्वासन दिया कि वह शासनादेश की शब्दावली का अनुचित लाभ नही उठायेगे और गणतत्रवादियो ने उनका आश्वासन स्वीकार कर लिया। शब्दावली नही बदली गयी और जिस गभीर सकट की भविष्यवाणी डाक्टर सुन ने की थी, वह बाद मे सही साबित हुई।

गणतंत्र सेना से समझौते की बात पूरी हुई, डाक्टर सुन यात-सेन ने अस्थायी अध्यक्षपद से इस्तीफा दे दिया और उन्ही के परामर्श से नानकिंग परिषद् ने पुनस्संयुक्त चीनी गणतत्र के प्रथम अस्थायी राष्ट्रपति के पद के लिए युआन शिह्-का'ई को चुन लिया। यह बिलकुल स्पष्ट समझौता ही था, क्योकि दक्षिण वाले नये राष्ट्रपति का विश्वास नही करते थे और गणतंत्र स्वीकार करने मे उनकी ईमानदारी पर उचित सन्देह करते थे। किन्तु युआन को हटाने के लिए वे युद्ध ठान लेने की स्थिति मे नही थे, वे समझौते के लिए बाध्य थे। इस समझौते के जो परिणाम हुए वे अगले अध्याय के मुख्य विषय है।

मचू शासको के पद त्याग व ता चिं'ग वश की समाप्ति के साथ चीन के इतिहास का एक लम्बा अध्याय समाप्त हुआ। सन् १६४४ से ही वे सत्तारूढ़ थे और चीनी इतिहास के अनेक उज्ज्वल व कालिमापूर्ण पृष्ठ उनके कार्यकलाप से रचे गये थे। यद्यपि गणतत्रवादियो द्वारा रचित मचू-कुशासन का चित्र वास्तविकता से कुछ परे था, यह स्वीकार करना ही होगा कि राजवश को "स्वर्ग से प्राप्त शासन का आदेश" समाप्त हो चुका था और किसी उपयुक्त व स्वीकार्य विकल्प के अभाव मे ही वह लगभग ५० वर्ष से सत्तारूढ़ था। गणतत्र संतोषजनक विकल्प था या नही यह समय ही बता सकता था और इसमें घोषणाएँ नही कार्यकलाप ही निर्णयात्मक हो सकता था।

## ग्यारहवाँ अध्याय

# छाया गणतंत्र (१९१२–१९२६)

### (१) सन् १९१२ की आंतरिक परिस्थितियों की समीक्षा

गणतंत्रीय शासन-प्रणाली के आरम्भ के समय चीन की आतरिक परिस्थितियो के अध्ययन से यह स्पष्ट हो जायगा कि यह युग वास्तव मे सैनिक प्रभुत्व का ही था। सिद्धान्त नही व्यवहार रूप में सन् १९१२ से सन् १९१६ तक की अवधि, जब युआन शिह्-का'ई ने अपनी स्थिति मजबूत की, इसी युग मे आती है। और सन् १९१६ से सन् १९२६ तक का दशक, जिसे बहुधा सैनिक शासन का दशक कहा जाता है, भी इसी युग मे शामिल है। इस दशक मे केन्द्रीय शासन की सत्ता नाम-मात्र की ही रह गयी थी और प्रान्तो मे सैनिक नेता शासन करते थे। सैनिको का नियत्रण सत्ता चलाने का अधिकार तय करता था। अतएव, इस फौजी शासन की उत्पत्ति और विकास के अध्ययन के बाद उन परिस्थितियो को समझा जा सकता है जिनसे इस शासन मे रुकावटे आयी या जिनसे इस शासन को बल मिला या इसका परिष्कार हुआ। इस शासन के परिणामो पर बाद में विचार किया जायगा।

मचुओ के समय प्रान्तीय शासन-व्यवस्था का वर्णन हो चुका है कि वहाँ एक वाइसराय या राज्यपाल होता था, एक कोषाध्यक्ष, एक-एक न्यायाधीश, नमक-नियंत्रक, खाद्यान्न-अधीक्षक होते थे और उनके सहकारी व सहायक अधिकारी होते थे।[१] इस अधिकारी तत्र पर केन्द्रीय शासन का नियत्रण रहता था, (१) अधिकारियो के चयन व पदोन्नति की प्रणाली, (२) उच्चाधिकारियों को उनके अपने प्रान्तो से बाहर रखने के नियम, तथा, (३) नियुक्तियो की निश्चित अवधियो के कारण। सत्ता का विभाजन भी इस प्रकार का था कि उससे केन्द्रीय शासन के प्रति निष्ठा कायम रहती थी। छोटे कर्मचारी उच्चाधिकारियो के अधीन होते थे और अधिकारियो के गुण-दोष-निरीक्षण के लिए भी एक सस्था थी, जिसके सदस्य उनके कार्यों पर निगाह रखते थे। मंचू-सत्ता की सुरक्षा के लिए एक और व्यवस्था थी झण्डा व हरी पताका वाले सैनिको का नेतृत्व करने वाले सैनिक राज्यपालों की। मचू शासको के हित में देश के विभिन्न भागो में रहने वाले ये सैनिक आधुनिक चीन की राष्ट्रीय सेना के पूर्ववर्ती रूप कहे जा सकते थे। उन्नीसवीं शताब्दी में अनुभव ने बताया कि इन सैनिको का युद्ध मे नगण्य उपयोग ही था, तथापि, नागरिक व

सैनिक प्रशासनो के बीच सतुलन बनाये रखने के मचू-उद्देश्य की पूर्ति तो वे करते ही थे। इस प्रकार वे प्रान्तो मे नागरिक प्रशासन की सहायता ही नही करते थे, उसे पीकिंग के प्रति निष्ठावान् भी बनाये रहते थे।

विद्रोह या डाकुओ के दमन के लिए और अधिक सैनिको की आवश्यकता पडने पर, पृथक् मचू-सैनिक अधिकारि-वर्ग के निर्देशन मे काम करने वाले, इन सैनिको के अतिरिक्त, समय-समय पर अन्य सैनिको की भरती करके सैनिक टुकडियाँ बनायी जाती थी। ये टुकडियाँ मूल रूप से प्रान्तीय पुलिस ही होती थीं, प्रान्तीय वाइसराय या राज्यपाल उन्हे भरती करते थे और उन्ही के निर्देशन मे वे रहती थी। जब नयी राष्ट्रीय सेना संगठित हुई, तब क्राति के समय तक, इन टुकडियो मे जो केन्द्रीय युद्ध मंडल के अधीन नही कर दी गयी थी, वे प्रान्तीय अधिकारियो के निर्देशन मे ही थी। इनका वेतन प्रान्तीय कोप से ही दिया जाता था। अतएव, सैनिको की निष्ठा राज्य के प्रति न होकर उन राज्यपालो के प्रति व्यक्तिगत रूप मे होती थी, जो उन्हे नियुक्त करते थे तथा वेतन देते थे।

नयी राष्ट्रीय सेना का संगठन वर्षो तक चला, पहले ली हुंग चाग के निर्देशन मे, फिर युआन शिह-का'ई के निर्देशा मे। किन्तु, सन् १९११ तक इसने सही अर्थ मे राष्ट्रीय रूप ग्रहण नही कर पाया था और यह मुख्यत उत्तरी व मध्य प्रान्तो मे केन्द्रित थी, इसे पीयाग (उत्तरी समुद्री तट का क्षेत्र) सेना कहते भी थे। चूँकि इस सेना का संगठन युआन शिह का'ई ने किया था इसके अधिकारियो की निष्ठा भी राज्य के प्रति न होकर युआन के प्रति ही रही थी।

मचू-काल में सवैधानिक सरकार के लिए जो आदोलन चला था, उसके फल-स्वरूप शासन के अंग के रूप मे प्रान्तीय विधानसभाओ की स्थापना हुई थी और अधिकतर प्रान्तो मे वे सन् १९०९ तक बन चुकी थी। उस अवधि को छोड़कर जब युआन शिह का'ई व्यक्तिगत रूप से शासन कर रहे थे, ये विधानसभाएँ क्रांति के बाद भी प्रान्तीय व्यवस्था के अतर्गत कायम रही थी। बीच मे इन विधान-सभाओ को भग कर दिया गया था, बाद मे ससदीय शासन के फिर से शुरू होने पर कुछ समय के लिए इन विधानसभाओ को पुनरुज्जीवित किया गया था।

सन् १९११ में क्रांति होने पर कुछ प्रान्तीय अधिकारियो ने तो गणतंत्र मे निष्ठा प्रकट कर प्रान्तों पर अपना नियत्रण कायम रखा। कुछ स्थानो पर प्रान्तीय विधान-सभाओं ने केन्द्रीय शासन द्वारा नियुक्त अधिकारियो को हटाकर मध्यम वर्ग में से या उन केन्द्रीय अधिकारियों में से जो क्रांति के समर्थक थे नये अधिकारी नियुक्त कर दिये थे। प्रशासन का यह पुनस्सगठन क्राति के दौरान मे ही हुआ था और

यांग्त्सी के दक्षिण के प्रान्तो मे ही सीमित रहा था। दक्षिण के प्रान्तो मे जिन अधिकारियो ने सफलतापूर्वक अपना नियत्रण कायम रखा था, वे मुख्यत वे ही अधिकारी थे, जिनके व्यक्तिगत नेतृत्व को सैनिको का समर्थन प्राप्त था। यह अवश्य सही है कि शुरू-शुरू मे इन अधिकारियो को उन्ही सीमाओ के भीतर रह कर काम करना पडा, जो क्रांतिकारी नेतृवर्ग ने नाममात्र के लिए या वास्तविक रूप से निश्चित कर दी थी।

जो प्रान्त राजवंश के प्रति निष्ठावान् रहे थे वहाँ क्रांति का केवल इतना ही प्रभाव पडा था राज्यपालो की निष्ठा राजवंश की जगह अब युआन शिह्-का'ई को प्राप्त हो गयी थी। युआन को यह निष्ठा दोनो रूपो मे प्राप्त हुई थी, मंचुओ के उत्तराधिकारी के रूप मे व व्यक्तिगत रूप मे। किन्तु क्राति के दौरान मे व उसके बाद इन प्रान्तो व दक्षिण के प्रान्तो में भी सत्ता का एकमात्र आधार सैन्य-शक्ति बन चुकी थी। गणतंत्र की स्थापना के बाद युआन ने शासन किया और केन्द्रीय शासन की सत्ता कायम रही, क्योकि वह प्रान्तो मे नागरिक व फौजी अधिकारियो के बीच समन्वय कर सकते थे।

जैसा कि पहले कहा जा चुका है, सन् १९११ के पहले भी राज्यपाल सैनिको का नियंत्रण करते थे। क्राति के समय देश मे हर जगह सैनिको की सख्या बढ गयी थी। क्रांति व शासन दोनो के सैनिक उसी वर्ग से आते थे, जो भूखा व निर्धन था, जिसमें से डाकू पैदा होते थे; वे लोग फौजो मे भरती होते थे, जो भोजन, वस्त्र व वेतन के लिए अन्य काम नही पाते थे। वेतन हमेशा नही भी मिलता था, पर जब तक सेनापति का उस क्षेत्र मे नियत्रण रहता था, भोजन तो मिल ही जाता था। जिस व्यक्ति के पास जितने ज्यादा सैनिक होते थे, वह उतने ही बड़े क्षेत्र का सफल नियंत्रणकर्ता था और इस प्रकार उतना ही अधिक उसका राजनीतिक महत्त्व होता था। ऐसे अनेक फौजी जत्थे विभिन्न प्रान्तों मे हो गये थे, जो प्रान्तो के वैधानिक या स्वयं बन बैठे अधिकारियो को नाममात्र की निष्ठा प्रदान कर जिलो या क्षेत्रों का नियंत्रण किया करते थे। ये जत्थे या तो अपने बल पर छोटे क्षेत्रों से कर वसूल कर या जनता से अपनी आवश्यकता की वस्तुएँ वसूल कर अपना काम चलाते थे। जो कर ये वसूल करते थे, उसे स्थानीय व्यवस्था पर खर्च कर उसका कुछ भाग प्रान्त को दे देते थे; पर प्रान्त से ऊपर कभी ही कोई राशि पहुँचती रही होगी।

## (२) क्रांति का अर्थ

राष्ट्रपति बनने पर युआन शिह् का'ई ने देश मे शांति व व्यवस्था स्थापित करने का प्रयत्न किया। किन्तु इन लगभग स्वतंत्र सैनिक टुकड़ियो के नेताओं के

विरोध के समक्ष उन्हे भंग करने के साधन उन (युआन) के पास नही थे। और न उनके पास इतना धन ही था कि इन सैनिको को उनके वेतन का बकाया अदा करके या उन्हे 'खरीद' कर उनसे छुट्टी पा सकते, और बकाये की अदायगी के बिना उनके लिए नागरिक जीवन को फिर से स्वीकार कर लेना असभव था। इसके अतिरिक्त, इन सिपाहियो की जीविका की व्यवस्था किये बिना उनकी टुकड़ियो को भग कर देना खतरनाक भी होता। इसका अर्थ होता कि वे डाकू बन जाते और इस प्रकार सिपाही होने के मुकाबले मे देश के लिए और अधिक खतरनाक सिद्ध होते। परिणाम यह हुआ कि इन टुकड़ियों के नेताओ की स्थिति को वैधानिकता प्रदान करने के लिए राष्ट्रपति ने उनमे से अनेक को फौजी राज्यपाल नियुक्त कर दिया और उनसे यह अपेक्षा की कि परिस्थितियो मे सुधार होने के साथ-साथ वे इन सैनिक टुकडियो को धीरे-धीरे भग करते जायँगे। इस प्रकार, सैनिक राज्यपालो की शक्ति पर केवल दो सीमाएँ थी—एक तो जनमत जो कही सीधे ही और जहाँ विधान सभाएँ थीं, वहाँ विधान सभाओ के द्वारा ही प्रकट हो सकता था, और दूसरे केन्द्रीय शासन का यह आदेश कि प्रान्तो मे शाति व सुरक्षा स्थापित होनी चाहिए। फौजी राज्यपालो के अतिरिक्त चाग ह्सुन जैसे अधिकारियो के लिए भी कोई-न-कोई व्यवस्था आवश्यक थी; चाग नानकिंग मे सरकारी फौजो के नेता थे, जब क्रातिकारियो ने उस नगर पर कब्जा किया था। चाग नानकिंग से हट कर, दक्षिणी शानतुग प्रान्त के ह्सूचाउ नगर मे, जो टीटसीन-पुकाउ रेलवे मार्ग पर स्थित था, जाकर बस गये। चूँकि, चाग इतने सशक्त थे कि उनका विरोध नही किया जा सकता था और चूँकि वह संसद्-समर्थको के स्थायी शत्रु की हैसियत से युआन को सहायता प्रदान कर रहे थे, इसलिए उनकी निष्ठा प्राप्त करने के लिए उन्हे भी एक पद दे दिया गया। इस प्रणाली मे जटिलता आने का एक कारण राष्ट्रपति की यह इच्छा भी थी कि जिन फौजी राज्यपालो की निष्ठा पूरी पक्की तौर पर युआन को नही थी, उन प्रान्तो मे सामरिक महत्त्व के स्थानो पर किसी-न-किसी तरह नियत्रण रखा जाय। इसीलिए किआंगसू प्रान्त से शंघाई को पृथक् कर उसे केन्द्र द्वारा नियत्रित एक फौजी आयुक्त के अधीन कर दिया गया था।

सन् १९१३ के वसन्त मे नागरिक-शासन स्थापित करने की दृष्टि से युआन शिह का'ई ने कुछ प्रान्तो में फौजी राज्यपालो को हटा कर उनकी जगह नागरिक प्रशासको की नियुक्ति कर दी। पाँच विदेशी शक्तियो के सामूहिक बैंक से सन् १९१३ मे जो पुनस्संगठन ऋण लिया गया था, उसका घोषित उद्देश्य सैनिको के बकाया वेतनों की अदायगी था। इस ऋण का एक अंश इस मद पर खर्च भी हुआ और कुछ

सेनापतियो को प्रतिसैनिक ५० पौंड के हिसाब से भुगतान किया गया। किन्तु शीघ्र ही युआन को इस धन और इस सैनिको का एक अधिक अच्छा उपयोग समझ मे आया। तानाशाही अधिकार प्राप्त करने के बाद राष्ट्रपति ने प्रान्तीय शासन के नेता के रूप मे फौजी राज्यपालो को तो कायम रखा, किन्तु उनके पदो का नाम तूतुह से बदल कर च्याग-चुन कर दिया, च्याग चुन मचू शासनकाल मे शाही सेना के जनरलो के पदो का नाम था। और क्रांति के कुछ ही पहले स्थापित प्रान्तीय विधानसभाओ को भंग कर युआन ने लगभग पूरी तरह से वही प्रान्तीय शासन-व्यवस्था लागू कर दी जो ऐतिहासिक रूप से मचू-प्रणाली थी। इसी समय, स्वय अपनी स्थिति मजबूत करने के लिए उन अधिकारियो को पीकिंग बुलाना शुरू कर दिया, जिनकी निष्ठा पर उन्हे सशय था। अपनी सेना व अपने प्रान्तो से हटा कर राष्ट्रपति ने उनका राजनीतिक प्रभाव समाप्त कर दिया। यह उपराष्ट्रपति ली युआन-हुग व कुछ अन्य प्रमुख व्यक्तियो के साथ हुआ। युआन के राज्यकाल मे सत्ता का सैनिक आधार इस काररवाई व इसके परिणामो से बिलकुल स्पष्ट हो गया था।

इन परिस्थितियो मे सैनिक सत्ता का आधिपत्य और गणतत्रवाद का अत रोकने का केवल एक ही उपाय था—या तो मध्यमवर्ग इतना सशक्त होता, जो इसे रोक देता, पर वह था नही, या फिर गणतत्रवाद जनता के मन मे इतना जम गया होता या व्यापक रूप से फैल गया होता कि सन् १९११ की क्राति के नेता जो व्यवस्था चाहते थे, वह एक दूसरी क्रांति किये बिना ही स्थापित हो सकती। किन्तु स्थिति ऐसी भी नही थी और नयी व्यवस्था के ससदीय नेताओ को प्रतिनिधि सस्थाओ द्वारा स्वशासन के सिद्धान्तो में या व्यक्तिगत रूप से अपने मे जनता के अटूट विश्वास तथा सशक्त मध्यम वर्ग के अभाव मे अकेले व असहाय होकर युआन शिह-का'ई का सामना करना पड रहा था।

जहाँ तक जनता का सबध था, जिस सीमा तक उसने क्राति का समर्थन किया और उसमें भाग लिया, यह क्रांति मचू-विरोधी व राजवश-विरोधी थी। दक्षिण की गुप्त संस्थाओं का नारा ही था—"मंचुओ का नाश हो, मिंगो की जय हो।" विदेशी राजवश (मंचू) का पतन हो चुका था किन्तु मिंग (चीनी) राजवश की जगह गणतत्र के विदेशी सिद्धान्त ने ले रखी थी। अनुभव से प्रकट हुआ कि गणतत्रवाद के आदर्श व विचारो ने अभी जनता के मन में घर नही किया था। गणतंत्रवाद अभी देशी नहीं हुआ था और उसे चीनी जनमानस मे अपनी जगह बनानी थी। इस प्रकार, जहाँ तक क्राति के प्रभाव का प्रश्न था जनता उसके सही अर्थ के सबध मे अनिश्चित ही थी। जहाँ तक क्राति का आर्थिक कारणो से सबध था, यह बात शीघ्र ही स्पष्ट

हो गयी थी कि शासन का स्वरूप बदलने से ही आर्थिक परिस्थितियाँ तथा तज्जनित अशाति व असतोष नही बदल सकते थे। इसके लिए तो अच्छी फसले ही आवश्यक थी। गणतत्रवाद की विजय से तेजी से बढने वाली आबादी की समस्या भी हल नही हुई थी। फिर भी, गणतत्र की स्थापना से जनता पर कुछ तो प्रभाव पड़ा ही था। श्रद्धा और भक्ति के परपरागत विचार हिल गये थे, क्योकि जनता से एक अमूर्त्त शासन-व्यवस्था के प्रति निष्ठावान् होने को कहा जाता था, राज्य के मूर्त्तसार किसी एक व्यक्ति के प्रति नही, हाँ, व्यक्ति के रूप में राष्ट्रपति के प्रति निष्ठा आवश्यक थी, जिनके पक्ष मे मचू-शासक ने वास्तव मे सिंहासन छोडा था। देखने की बात यह थी कि नये अधिकारियो के आज्ञापालन की जनता की इच्छा, या अधिक अमूर्त्त रूप मे, ससदीय सत्ता के मुकाबले मे राष्ट्रपति की सत्ता स्वीकार करने की उसकी इच्छा पर इसका क्या प्रभाव पड रहा था।

इसके अतिरिक्त, क्राति का ढाँचा व अभिज्ञान जनता तक पहुँचते-पहुँचते इस धारणा मे बदल गया था कि गणतत्रवाद का अर्थ है कर-व्यवस्था तथा व्यक्ति के हर प्रकार के दमन का अत। क्राति के फलस्वरूप प्रशासकीय नियंत्रण मे जो ढिलाई आयी थी और शघाई सरकार ने करो मे छूट देने की जो घोषणा की थी, उनसे इस धारणा को बल मिला था। नये शासन के लिए धन जुटाने और व्यवस्था स्थापित करने मे इस दृष्टिकोण के कारण बडी जटिलता और कठिनाई आयी। फिर सक्रिय क्राति के दौरान मे राजवश को हटाने का अर्थ प्रान्तीय स्वतंत्रता या सार्वभौम सत्ता के सिद्धान्त की विजय माना जाने लगा था, किन्तु जिस पर शासन का केन्द्रीकरण मचुओ के लिए अनिवार्य हो गया था उसी प्रकार वह गणतंत्र के लिए भी अनिवार्य था। इसका निष्कर्ष यह था कि मंचुओ की भाँति नये शासको को भी उसी शत्रुता व विरोध का सामना करना था।

किन्तु, ससद् समर्थको व युआन के बीच गणतत्र पर नियत्रण करने के संघर्ष में युआन की स्थिति ही अधिक मजबूत थी। उत्तर मे सेना उनके साथ थी, विदेशो से आर्थिक सहायता उन्हें मिल रही थी, और प्रान्तीय स्वतंत्रता का सिद्धान्त सवैधानिक शासन के समर्थको के पक्ष मे नही युआन के पक्ष में ही पड़ रहा था। दक्षिण मे गणतत्रवादी अपने अनुयायियो व समर्थको से तेजी से बिछुड़ने लगे और शब्द-शक्ति व बेसमझा-बूझा एक विचार ही उनके पक्ष में रह गया। जनता की समझदारी के आधार पर आगे बढा नही जा सकता था क्योकि सरकार चलाना या शासन करना जनता का काम नही समझा जाता था। अधिकारी ही सदा शासन करते आये थे और इस सबंध में परिवर्तन की आवश्यकता पर जनता को कुछ समझाया नहीं गया

था। इसलिए शीघ्र ही यह परपरागत दृष्टिकोण अपनाया जाने लगा कि साधारण नागरिक जीवन और शासन से कोई सबध नही है और उनका पृथक् अस्तित्व है। जनता अपने काम मे लगी और राजनीतिक विवाद उन लोगो के लिए छोड दिया गया, जिनका धन्धा ही राजनीतिक विवाद था। जनता के समर्थन के अभाव मे नये राजनीतिज्ञ पर, राष्ट्रपति के प्रतीक रूप मे काम करने वाले और देश मे सैनिक शक्ति के आधार पर नियत्रण करने वाले अहलकारी समाज पर नियत्रण करने का दायित्व आ पडा।

## (३) नयी सरकार

शासन की नयी योजना का ढाँचा नानकिंग के अंत कालीन सविधान मे दिया गया था। शासन की विभिन्न संस्थाओं के अधिकार व उनके पारस्परिक सबधो की व्याख्या करने तथा शासन के अधिकारो को सीमित करने के गणतत्रवादियों के अनेक प्रयत्नो मे यह पहला प्रयत्न था। सन् १९१२ मे नानकिंग मे क्रातिकारी-दल की परिषद् द्वारा तैयार किये गये इस प्रथम अंत.कालीन सविधान मे ससद् राष्ट्रपति से भी ऊपर मानी गयी थी। इसके लिए कुछ सशोधनों के साथ फ्रासीसी शासन-प्रणाली अपनायी गयी थी। इसलिए यह व्यवस्था की गयी थी कि मन्त्रि-मण्डल दो सदनोवाली विधानसभा के प्रति उत्तरदायी हो[२] न कि राष्ट्रपति के प्रति, इस मन्त्रिमण्डल को सारे कार्यकारी अधिकार प्राप्त हो व राष्ट्रपति के हर आदेश के अनुसमर्थन की व्यवस्था द्वारा उन पर नियत्रण हो। इसके अतिरिक्त यह भी व्यवस्था की गयी थी कि आर्थिक समझौतो, सधियो, प्रशासकीय विनियमो आदि के वैध होने के लिए उन पर विधानसभा की स्वीकृति आवश्यक होगी।

यह अवश्य सभव है कि शासन का यह ढाँचा उस समझौते को ध्यान मे रखकर नही बनाया गया था, जो युआन शिह्-का'ई के पक्ष में राष्ट्रपति के पद के लिए अपना नाम वापस लेकर डाक्टर सुन यात-सेन ने किया था। किन्तु वास्तविकता तो यह थी ही कि क्रातिकारी नेता तथा सामान्यतः पूरा दक्षिण युआन पर सदेह करता था और केवल (१) उत्तरी सेना पर उनके आधिपत्य, (२) उनकी सर्वमान्य प्रशासकीय क्षमता तथा (३) पश्चिमी देशो में उनकी साख के कारण ही उन्हे राष्ट्र-पति स्वीकार किया था। इस अविश्वास को तत्काल ठोस आधार भी मिल गया, जब राजधानी को पीकिंग से हटाकर नानकिंग लाने पर सहमत हो जाने के बाद भी नये राष्ट्रपति एक अत्यन्त सामयिक सिपाही-विद्रोह के बहाने पीकिंग मे ही टिके रहे और १० मार्च, १९१२ को वह पीकिंग में ही राष्ट्रपति-पद पर आरूढ़ हो गये। युआन के पीकिंग में ही रुक जाने के कारण नानकिंग-परिषद् को अपने शक्ति-क्षेत्र

को छोड़कर राष्ट्रपति के शक्ति-केन्द्र पीकिंग जाना पडा। इस प्रकार शक्ति-सघर्ष मे पहली जीत युआन शिह्-का'ई की हुई और इसी प्रक्रिया मे यह स्पष्ट हो गया कि कागजी समझौतो के द्वारा राष्ट्रपति पर नियत्रण रखना कठिन होगा। नये राष्ट्रपति के प्रति इस अविश्वास के कारण ही नानकिंग-परिषद् ने सवैधानिक रूप से राष्ट्रपति के अधिकारो को सीमित करने का प्रयत्न किया, किन्तु इसमे अनेक बड़ी अड़चने पड़ गयी। एक तो कार्यकारिणी के अध्यक्ष के नाते उन पर जो सीमाएँ लगायी जाती थी, उन्हे वह टाल जाते थे, दूसरे जहाँ वे उन्हे टाल नही पाते थे, वहाँ वह उनकी वैधानिकता स्वीकार करने मे असफल रहते थे और वैधानिकता अस्वीकार करने मे विदेशी राजदूत उन्ही का साथ देते थे और तीसरे, नानकिंग-परिषद् तथा उसके बाद विधानसभा अनुभवहीन और इसीलिए अक्षम व अकुशल थी।

## (४) सरकार की समस्याएँ

नये गणतत्र को स्थापित होते ही दो बड़ी समस्याओ का सामना करना पड़ा, एक थी पीकिंग व प्रान्तो के पुराने शासकीय व सरकारी यत्रो को इस प्रकार सुधारना कि वे फौजी नियत्रण हटाकर नागरिक नियत्रण कायम कर सकें, और दूसरी थी अपना खर्च चलाने के लिए धन की व्यवस्था करने की।

प्रान्तीय शासनो के सबध मे युआन शिह्-का'ई ने अपना मत अत कालीन राष्ट्रपति बनने के पूर्व ही प्रकट कर दिया था। १३ फरवरी, १९१२ को उन्होने घोषणा कर दी थी कि जो भी वास्तविक रूप से सत्तारूढ हो वे अपने पदो पर बने रहे; सत्ता ग्रहण करने मे फिर चाहे उन्हे शाही शासन का समर्थन मिला हो, चाहे क्रातिकारियो का। युआन ने उन्हे बदस्तूर काम जारी रखने को कहा। इसके उपरान्त उन्होने आदेश निकालकर बहुत निश्चित रूप से कहा कि नया शासन अपना प्रथम कर्त्तव्य मानता है, शाति व सुरक्षा की स्थापना। जो सत्तारूढ़ थे उनसे शासन चलाते रहने को कहकर उनसे शासन को वैध बना दिया गया था और उन पर पीकिंग का सैद्धान्तिक नियत्रण स्वीकार कर लिया गया था। दूसरे दृष्टिकोण से, इसका आशय मोटे तौर पर यह था कि उत्तरी प्रान्तो मे राष्ट्रपति के अनुयायी उच्च पदो पर आसीन थे और उनकी निष्ठा गणतत्र को नही राष्ट्रपति को प्राप्त थी, जब कि दक्षिणी प्रान्तो मे अनेक अधिकारी गणतत्र के सिद्धान्त को मानते थे और उस उग्रदल के समर्थक थे जो पीकिंग में युआन की सत्ता को स्वीकार नही करते थे। नियत्रण के लिए जो सघर्ष चला, वह प्रान्तो मे नही पीकिंग मे हुआ।

युआन के अंत कालीन राष्ट्रपति बनने के बाद नयी केन्द्रीय सरकार की स्थापना के लिए पहला कदम था मन्त्रिमण्डल का गठन, क्योंकि यह स्वीकार कर लिया गया था कि निर्वाचन-सबधी विधि-नियमो के बनने और चुनाव होने तक नानकिंग-परिषद् ही विधानसभा का कार्य करेगी। मन्त्रिमडल के सदस्यो के सबध मे पीकिंग व नानकिंग के बीच खीचातानी शुरू हुई। ता'ग शाओ-यी को प्रधान मत्री बनाया गया, क्योंकि शाही शासन के समय वह युआन के अनुयायी थे और बाद मे उन्होने डाक्टर सुन यात-सेन के दल, तुग मेग हुई, का साथ दिया था और इस प्रकार दोनो को उनपर भरोसा था। समझौते की यही नीति और पदो पर नियुक्ति के सबध मे भी लागू थी और अतत: शक्ति-लाभ का पलडा राष्ट्रपति की ओर ही झुका। युद्ध-मत्री के अति महत्त्वपूर्ण पद पर युआन का अपना आदमी, तुआन ची-जुई नियुक्त हुआ; वित्त-मत्री पद पर आसीन होने वाला व्यक्ति भी परिषद् की "पहली पसन्द" न होने के कारण राष्ट्रपति के पक्ष मे ही गिना जाता था। तात्कालिक परिस्थितियो मे यही पद महत्त्वपूर्ण थे। प्रान्तीय अधिकारियो की नियुक्ति को वैधानिक स्वीकृति देने, अत कालीन सविधान स्वीकार करने, मन्त्रि-मण्डल की स्थापना करने और विधानसभा को नानकिग से उठाकर पीकिंग ले जाने के बाद अत कालीन गणतान्त्रिक सरकार की स्थापना लगभग पूरी मानी जाने लगी।

गणतत्र-सरकार के समक्ष जो दूसरी बड़ी समस्या अर्थ-सबधी थी, उसका हल अधिक कठिन था। जैसा कि पहले ही कहा जा चुका है,[१] राष्ट्रीय कोष खाली था और प्रान्तो से कर-वसूली की राशि प्राप्त करने के पहले वहाँ शान्ति व व्यवस्था आवश्यक थी और उसमे समय लगना ही था। फलत, तात्कालिक प्रशासकीय आवश्यकताओ की पूर्ति, बढी हुई फौजो को भग करने और प्रशासकीय संगठन मे सुधार करने के लिए राष्ट्रपति ऋण लेने को बाध्य थे। इसके लिए तब रास्ता खुल गया, जब सम्राट् के हटने पर विदेशी प्रतिनिधियो ने सूचना दी कि ऋण देने पर लगायी गयी रोक अब हटा ली गयी है। छ. शक्तियो के बैंक के साथ ऋण के लिए फौरन बातचीत शुरू कर दी गयी। बैंक मे अब रूस व चीन भी शामिल कर लिये गये थे, यद्यपि वे ऋण देने की स्थिति मे नही लेने की ही स्थिति में थे, ब्रिटेन व फ्रांस ने उनके हिस्से के ऋण की राशियाँ इकट्ठी करने का दायित्व ले लिया। इन दोनो देशो को अतरराष्ट्रीय बैंक संगठन मे शामिल करने के कारण राजनीतिक थे, उन्हें इसलिए शामिल किया गया था कि इस गुट की आर्थिक इजारेदारी चीन में और भी मजबूत हो, ऋण की अदायगी के लिए गणतंत्र के राजस्व का कोई अग बंधक रखा जाय और ऋण को सरकार की सामान्य आवश्यकताओं की पूर्ति के लिए व्यय किया जाय।

तात्कालिक आवश्यकताओ की पूर्ति के लिए इस सगठन ने फरवरी व मार्च के महीनो मे कुछ अग्रिम ऋण दिये, जिनके बदले मे ७ मार्च को राष्ट्रपति ने पुनस्स-गठन के लिए १२ ५ करोड डालर के बड़े ऋण के लिए इस सगठन को इस शर्त पर प्राथमिकता देना स्वीकार किया कि ऋण की शर्तें चीन के लिए उतनी ही सुविधाजनक होगी, जितनी किसी भी अन्य राष्ट्र की हो।

इस वचन के बाद भी, और समझौते के छ. दिन बाद ही चीन सरकार ने एक करोड़ पौड का ऋण एक अग्रेज-बेल्जियन अभिषद् से लेने का समझौता कर लिया। अतरराष्ट्रीय सगठन ने बदनीयती का आरोप लगाकर प्रधान मंत्री से बातचीत बन्द कर दी, पर प्रधान मत्री ने इस ऋण के लिए नानकिंग-परिषद् से तभी स्वीकृति प्राप्त कर ली थी, जब वह अपने मत्रिमण्डल मे राष्ट्रपति द्वारा नामाकित व्यक्तियो को शामिल करन के लिए बातचीत कर रहे थे। किन्तु पीकिंग वापस लौटने पर प्रधान मत्री को पता चला कि जितना बडा ऋण सरकार को चाहिए, वह अन्यत्र न मिल सकने के कारण उन्हे इस अतरराष्ट्रीय सगठन से बातचीत करनी ही पड़ेगी। अत. वह यह शर्त मानने को बाध्य हुए कि जो धन अग्रिम मिल चुका है, उसे छोड-कर अभिषद् से हुआ समझौता रद कर दिया जायगा। बाद मे भी इस सगठन के बाहर से ऋण प्राप्त करने की एक चेष्टा तब विफल हो गयी, जब लन्दन के धनपति, सी बर्च क्रिस्प पर इस सगठन के सदस्यो ने दबाव डालकर ऋण समझौता रद करवा दिया, क्रिस्प ने इस सगठन के बावजूद चीन सरकार से एक ऋण-सबंधी समझौता कर लिया था। अपनी आर्थिक आवश्यकताओ और उनकी पूर्ति के लिए अन्यत्र ऋण न मिलने के कारण चीन सरकार आतरिक विरोध के बावजूद इस सगठन की शर्तें मानने को बाध्य हुई, ब्रिटेन, फ्रास, जर्मनी, अमरीका, जापान व रूस ने उन वित्तीय सस्थाओ की इजारेदारी का पूरा समर्थन किया, जो इस सगठन में शामिल थी।

इस समझौते की शर्तों का आतरिक विरोध विधानसभा में केन्द्रित था, नमक कर के, जो इस ऋण की अदायगी का मुख्य साधन था, विदेशी निर्देशन मे पुनस्सं-गठन और ऋण की राशि का विदेशी निर्देशन मे व्यय की शर्तो का विरोध हो रहा था। आर्थिक मामलो मे चीनी अधिकारी वर्ग का जो अनुभव पहले हो चुका था, उन्हे देखते हुए इन शर्तो मे आपत्तिजनक कुछ भी नही था, किन्तु विरोध इस आधार पर उग्र हुआ कि देश मे विदेशी वित्तीय नियंत्रण की पच्चड और गहरी ठुकती जा रही है। तर्क यह दिया गया कि शर्ते उतनी ही आपत्तिजनक थी, जितनी कि शाही शासन के समय दिये गये ऋणों की थी, किन्तु नये, प्रबुद्ध, गणतंत्रात्मक शासन के साथ वैसा ही व्यवहार नही होना चाहिए, जैसा भ्रष्ट व पिछड़े हुए मंचुओ के साथ

होता था। यही तर्क अमरीकी राष्ट्रपति विलसन ने भी दिया और सन् १९१३ में राष्ट्रपति पद ग्रहण करने के तत्काल बाद उन्होने अमरीकी धनपतियो को मिले सरकारी एकाधिकारी समर्थन को वापस ले लिया, इस समर्थन के विरुद्ध एक तो इजारेदारी होने का तर्क था और दूसरा तर्क यह था कि ऋण की शर्तो से चीन की प्रशासकीय ईमानदारी व क्षमता पर अनावश्यक आँच आती है। इस प्रकार राष्ट्रपति टैफ्ट ने जिस कारण चीन की क्षेत्रीय अखण्डता और उन्मुक्त द्वार-नीति के सफल कार्यान्वय के लिए अतरराष्ट्रीय वित्तीय व्यवस्था पर जोर दिया था, लगभग उसी कारण राष्ट्रपति विलसन ने इस व्यवस्था मे शामिल रहने से इनकार कर दिया। अततः ऋण का समझौता पाँच राष्ट्रो के गुट से ही हुआ।

इस गुट व चीन के बीच सन् १९१२ के अत तक यह समझौता हो गया था और इसे नानकिंग-परिषद् की स्वीकृति मिल चुकी थी। उस समय डाक्टर सुन यात-सेन के क्रातिकारी दल—तुग मेग हुई—के अधिकाश सदस्य नयी ससद् के चुनाव के संबंध मे दौरे पर निकले हुए थे और परिषद् के पीछे बैठने वाले शेष सदस्यो की स्वीकृति अधिकाशतः रिश्वत के जोर पर प्राप्त की गयी थी, बाद मे इस प्रश्न को लेकर बहुत वाद-विवाद हुआ था। इसके अतिरिक्त ऋण समझौते के बाद सगठन के विदेशी प्रतिनिधियो के बीच आपस में इस बात पर विवाद उठ खड़ा हुआ कि किस देश को सलाहकार का कौन सा पद मिले। इस प्रकार सन् १९१३ के वसन्त तक समझौते पर दस्तखत नही हो पाये और उसे अतिम रूप नही दिया जा सका, और उसी समय नयी ससद् की बैठक बुलायी जाने वाली थी।

## (५) संसद् बनाम युआन शिह-का'ई

सन् १९१२ मे पीकिंग मे स्थापित परिषद् की तुलना मे नयी निर्वाचित विधान-सभा राष्ट्रपति के लिए बहुत बड़ा सिर दर्द बन गयी। परिषद् के सदस्य अनेक गुटो मे विभाजित थे; उनमें से तीन महत्त्वपूर्ण थे, किन्तु कोई भी इतना बड़ा न था, जिसे परिषद् में पूर्ण बहुमत प्राप्त होता। एक गुट रूढिवादियो का था, जिसका समर्थन सामान्यतः राष्ट्रपति को प्राप्त रहता था। दूसरे गुट में दक्षिण के उग्र तत्त्व थे। तीसरा गुट किसी विशेष संसदीय सिद्धान्त या रीति-नीति मे विश्वास नही करता था, किन्तु कभी एक व कभी दूसरे गुट का समर्थन कर वह शक्ति-संतुलन का आधार बन जाता था। यह स्थिति राष्ट्रपति के पक्ष मे थी, क्योकि एक दूसरे गुटों को लड़ाकर और कभी-कभी तीसरे गुट के सदस्यों में रुपया बाँटकर अपनी नीति

के समर्थन में काफी मत प्राप्त कर लेते थे। ऋण-सबंधी समझौते पर परिषद् की स्वीकृति उन्होने इसी प्रकार प्राप्त की थी।

इसका यह अर्थ कदापि नही है कि परिषद् के जीवनकाल मे पीकिंग मे स्थिति शान्त व सतोषजनक थी; वस्तुस्थिति इसके बिलकुल विपरीत थी। उदाहरणार्थ, राष्ट्रपति व परिषद् के बीच तो मतभेद और विवाद चल रहे थे, बीच मे राष्ट्रपति और प्रधान मंत्री के बीच भी मतभेद हो गये थे, क्योकि प्रधान मत्री सारी कार्यकारी सत्ता, मंत्रिमण्डल मे निहित करना चाहते थे और राष्ट्रपति यह सत्ता अपने हाथो मे रखना चाहते थे। इस था राजधानी बनाने या ऋण समझौते के मतभेदो मे जीत हमेशा राष्ट्रपति की ही हुई और अंतत उन्होने तुंग मेग हुई को सरकार से बहिष्कृत कर एक निर्दलीय सरकार बना ली।

तुग मेग हुई व राष्ट्रपति के बीच जो मनमुटाव चला आ रहा था, वह जुलाई व अगस्त, १९१२ मे और तीव्र हो गया, जब दो प्रमुख क्रातिकारियो को पकड कर गोली मार दी गयी, इन दोनों के विरुद्ध उपराष्ट्रपति ली युआन-हुंग ने अभियोग लगाये थे।[४] इन अभियोगो के सबूत परिषद् को नही दिये गये थे और उनके अभाव मे परिषद् ने शासन की निन्दा करने की धमकी दी। यह धमकी कभी पूरी नही हुई, क्योकि रूढिवादी दल परिषद् की बैठक मे नही आया, जिससे बैठक की आवश्यक उपस्थिति नही रही, बाद मे सरकार पर महाभियोग लगाने के प्रयत्न भी इसी प्रकार विफल हो गये, इस सबसे यह तो स्पष्ट था ही कि पीकिंग में सद्भावना व शांति नही थी; हर विवाद का निष्कर्ष यही बताता था कि राष्ट्रपति की शक्ति काफी थी।

जो ससद् सन् १९१३ मे स्थापित हुई वह राष्ट्रपति के लिए और भी अधिक टेढ़ी खीर थी, क्योकि इसके दोनो सदनो मे उग्र दल का नियंत्रण था। अगस्त, १९१२ मे तुंग मेंग हुई का पुनस्सगठन हुआ था, जिसमें कई छोटे बड़े दल शामिल कर लिए गये थे और उसे कुओमिनतांग (राष्ट्रीय जनतान्त्रिक दल) का नाम दिया गया था; इससे राष्ट्रपति से मोर्चा लेने में काफी बल मिला था। फलतः, युआन शिह-का'ई को पहले के मुकाबले में अत्यधिक संगठित और सशक्त विरोध का सामना करना पडा। ससद् सदस्यो की शासन प्रणाली परिषद् ने अगस्त, १९१२ में चुनाव कानून स्वीकार कर निश्चित कर दी थी। सीनेट के सदस्य अप्रत्यक्ष मतदान से निर्वाचित होते थे और प्रान्तीय विधानसभाएँ या निर्वाचन-मण्डलों के द्वारा वे चुने जाते थे, छः सदस्य विदेश स्थित चीनियो के निर्वाचन-मण्डल द्वारा चुने जाते थे; प्रतिनिधि-सभा मे सिद्धान्त रूप से तो मतदान प्रत्यक्ष था, किन्तु व्यवहार में

यह चुनाव भी अप्रत्यक्ष था, हर ८० लाख व्यक्तियो को एक प्रतिनिधि चुनने का अधिकार था किन्तु हर प्रान्त से, उसकी आबादी कितनी ही कम क्यो न हो, कम से कम दस सदस्य आने थे।[५]

पुनस्संगठन और चुनाव मे सफलता के बावजूद राष्ट्रपति की नीतियो के पहले विरोध में कुओमिनतांग की पराजय हुई। इस दल ने इस बात का घोर विरोध किया कि ससद् मे पेश होने और ससद् की स्वीकृति ले लेने के पूर्व ही पुनस्सगठन ऋण समझौते पर हस्ताक्षर कर दिये गये थे। युआन शिह-का'ई ने तर्क दिया कि संविधान द्वारा निश्चित व्यवस्था का ही पालन किया गया है, क्योकि इस ऋण के लिए परिषद् की स्वीकृति ली जा चुकी थी; विदेशी प्रतिनिधियो से जब इस संबंध में बात की गयी तो उन्होने कह दिया कि उन्हे चीन से राष्ट्रपति के द्वारा ही बात करने का अधिकार है। फलत:, पूँजी-गुटो के साथ समझौता हो गया।

इस घटना से राष्ट्रपति की शक्ति दो रूपो मे बढी। एक तो उन्हे विदेशो का नैतिक समर्थन प्राप्त हो गया, इससे प्रकट हो गया कि वे ससदीय शासन के सिद्धात के प्रतिपादन मे उतनी दिलचस्पी नही रखते जितनी कि अपनी पूँजी की सुरक्षा के लिए 'सक्षम व्यक्ति' से ही व्यवहार कायम रखने मे रखते है; सवैधानिक व्यवस्था यही थी कि सभी ऋण समझौते तभी प्रभावकारी होगे, जब उन्हें ससद् की स्वीकृति प्राप्त हो जाय। दूसरे, अपनी शक्ति के सगठन के लिए आवश्यक पूँजी राष्ट्रपति को प्राप्त हो गयी थी। यह सही है कि ऋण का बड़ा भाग पहले लिये गये विदेशी कर्जो के भुगतान में ही लग गया; पहले लिये गये अग्रिम ऋण चुकाये गये व मुक्का-आंदोलन-संबधी क्षतिपूर्ति की किस्ते व व्याज की राशियाँ अदा की गयी, किन्तु इन सब भुगतानो के बाद जो रकम शेष बची वह युआन शिह-का'ई द्वारा ही खर्च होनी थी।

ऋण की शक्ति प्राप्त कर राष्ट्रपति ने अपनी स्थिति मजबूत करनी शुरू की। राष्ट्रपति के इस प्रयास के विरुद्ध ससद् लगातार मोर्चा लगाये रही और राष्ट्रपति के कार्यालय से आये हर अच्छे बुरे सुझाव का विरोध करती रही। इससे अपना कोई रचनात्मक कार्यक्रम निर्धारित करने की जगह संसद् का नाम ही अवरोध-संस्था पड़ गया, जिसका काम ही देश में शान्ति व सुरक्षा स्थापित करने मे व्यस्त राष्ट्रपति की काररवाईयो मे हस्तक्षेप करना था। पीकिंग मे इस विरोध के बावजूद, युआन शिह-का'ई धीरे-धीरे प्रान्तो मे सबल होते गये। अपनी सत्ता को मजबूत बनाने और उसका प्रदर्शन करने के लिए उन्होने हर साधन का उपयोग किया; उन्होंने दक्षिण व मध्य प्रान्तों की सेनाओ व सेनापतियों को धीरे-धीरे

हटाकर अपने विश्वासपात्र आदमी वहाँ नियुक्त किये, देश भर मे हर जगह जनता की भावना और हालत की सूचना प्राप्त करने के लिए उन्होंने अपने दूत लगा दिये; और प्रतिपक्ष के अनुसार अपने राजनीतिक उद्देश्य की प्राप्ति के लिए हत्याएँ तक करवायी। मार्च, १९१३ मे शघाई मे कुओमिनताग के प्रमुख नेता, सुग च्याओ-जेन की हत्या, उन हिंसात्मक कामो की शृखला की पहली कड़ी थी, जिनकी जिम्मेदारी राष्ट्रपति पर डाली गयी।

पीकिंग मे राष्ट्रपति के विरुद्ध सफल न होने पर विरोध दल फिर क्रांतिकारी व हिंसात्मक बन गया। किन्तु, सन् १९१३ के ग्रीष्म मे याग्त्सीघाटी की क्राति से केवल विरोधियो की निर्बलता और राष्ट्रपति की सबलता मात्र ही प्रकट हुई। युआन की फौजो ने बड़ी सरलता से विद्रोहियो का दमन कर दिया। इस विजय का लाभ उठाकर राष्ट्रपति ने सामरिक महत्त्व के केन्द्रो पर अपनी फौजे जमा दी, विरोधी दल के कुछ नेताओ को देश के बाहर निकाल दिया और फिर स्वय कुओ-मिनताग को भग करने के आदेश इस आधार पर जारी कर दिये कि इस सगठन के कुछ नेताओ के विद्रोह मे भाग लेने से साबित होता है कि यह देशद्रोही सगठन है।

कुओमिनताग और इसके फलस्वरूप व्यावहारिक रूप मे ससद् के भंग होने के पहले ससद् बनने के समय से ही चालू स्थायी सविधान के एक भाग को पूरा करने का काम समाप्त हो चुका था। अस्थायी नानकिंग सविधान की जगह शासन चलाने के लिए एक स्थायी विधान बनाने का प्रयास एक ऐसा रचनात्मक कार्य था, जिसके लिए ससद् की प्रशसा की जानी चाहिए। यदि ससद् कुछ महीने जुटकर इसी काम को लगन के साथ पूरा कर डालती तो देश की निगाहो मे संसद् बनने का एक उपयोग समझ मे आ जाता। वास्तव मे हुआ यह कि ससद विद्रोह के बाद तक केवल बीच-बीच में ही इस ओर ध्यान देती थी। फिर, समय की पुकार सुनकर वह यह सविधान बनाने मे जुट गयी। दोनो सदनो के सदस्यो से बनी एक बड़ी समिति को यह काम सिपुर्द किया गया था। गणतंत्र के ढाँचे की स्थायी बुनियाद डालने के लिए यह समिति स्वर्गमदिर नामक भवन मे अपना काम करती थी। यहाँ भी विधायिनी व कार्यकारिणी का विवाद उठ खड़ा हुआ और समिति ने राष्ट्रपति को अपने काम मे हस्तक्षेप करने देने से—शासनतंत्र की आवश्यकताओ के सबध मे उनका मत सुनने से भी—इनकार कर दिया।

किन्तु युआन की दिलचस्पी तो अपनी स्थिति मजबूत करने मे थी और वह निर्वाचन द्वारा स्थायी राष्ट्रपति बनना चाहते थे। इसलिए उन्होने खुशामद,

रिश्वत, अपील, सब तरह से ससद् को राजी कर लिया कि पूरा सविधान बनने के पहले ही उस भाग का मसौदा पहले ही तैयार कर लिया जाय जो राष्ट्रपति के निर्वाचन से सबधित था। इसके उपरान्त, क्राति की वर्षगाँठ और विदेशो[६] द्वारा गणतत्र की मान्यता के दोहरे उपलक्ष्य मे उत्सव मनाकर उन्होने स्थायी राष्ट्रपति के पद पर अपना चुनाव करा लिया। १० अक्तूबर, १९१३ को वह विधिवत् स्थायी राष्ट्रपति बने और इससे जनता की दृष्टि मे उनकी स्थिति और भी मजबूत हो गयी।

सविधान-मसौदा-समिति ने २६ अक्तूबर, १९१३ को स्थायी सविधान का पूरा मसौदा तैयार कर लिया था, पर उसके संसद् द्वारा विधिवत् स्वीकार करने के पूर्व ही ससद् का अस्तित्व ही समाप्त हो गया। मसौदे की धाराओ पर संभवत , राष्ट्रपति के इशारे पर अधिकारियो ने आपत्तियाँ की, उधर कुछ कुओमिनताग नेताओ के 'ग्रीष्म विद्रोह' मे शामिल होने का अभियोग था ही, इन दोनो बातो को लेकर युआन शिह-का'ई ने अपनी आगे की चालो के पक्ष मे तर्क बना लिये। ४ नवम्बर, १९१३ को अपने मत्रिमण्डल के समर्थन मे उन्होने कुओमिनताग को राजद्रोहात्मक संस्था घोषित कर उसे भंग करने के आदेश दे दिये। इससे आवश्यक उपस्थिति के अभाव मे ससद् भी व्यावहारिक रूप मे समाप्त हो गयी, यद्यपि औपचारिक रूप से संसद् भंग नही की गयी, किन्तु १० जनवरी, १९१४ के राष्ट्रपति के आदेश से वह अनिश्चित्त काल तक स्थगित या निरस्त रही। इस आदेश से चीन मे संसदीय शासन वास्तविक रूप मे लगभग समाप्त हो गया, यद्यपि नाममात्र के लिए इसे राष्ट्रपति ने एक साल तक और कायम रखा। स्थगित ससद् युआन शिह-का'ई की मृत्यु के बाद कुछ समय के लिए पीकिंग में बैठी भी थी।

संसद् भंग होने का विरोध न करके जनता ने सरकार-परिवर्तन के प्रति अपनी उदासीनता प्रकट की। यह विचार कि उत्तरदायी शासन वाला गणतत्र जनता की इच्छा व हित पर आधारित था, क्राति के उद्देश्य से प्रतिपादित एक सिद्धान्त मात्र साबित हुआ। जनता की उदासीनता के बचाव मे कुछ तर्क अवश्य थे, पर वे तर्क संसद् के लिए श्लाघनीय नही थे। अपने द्वारा बनाये गये विधान के अनुसार एक मजबूत स्थिति मे आयी संसद् अड़ंगेबाज साबित हुई थी, रचनात्मक कार्यो मे दिलचस्पी रखनेवाली नही, और इस बात का भी सन्देह तो था ही कि संसद् मे भी भ्रष्टाचार है। राष्ट्रपति की पुनस्संगठन-संबंधी योजना का ससद् ने विरोध किया था, पर स्वयं उसने पुनस्संगठन की कोई रूप-रेखा तैयार नही की थी। दूसरी ओर युआन शांति व व्यवस्था कायम करने के लिए कार्यक्रम बनाने में व्यस्त व सक्रिय थे। इसके अतिरिक्त,

अनेक लोगो का तर्क यह था कि मचुओ ने युआन के सिपुर्द यह काम किया था कि वह देश मे गणतात्रिक प्रणाली की शासन-व्यवस्था स्थापित कर दे और जब तक चीन का शासन गणतात्रिक रहे, राष्ट्रपति को शासन मे मनचाहे परिवर्तन करने का अधिकार है।

संसद् के पक्ष मे यह कह देना आवश्यक है कि उसका नियत्रण अनुभवहीन नवयुवको के हाथो मे था, जो पुराने अधिकारियो व पुरानी शासनव्यवस्था के प्रति असहिष्णु थे, क्योकि उनकी शिक्षा-दीक्षा ही ऐसी थी। अपने विचारो को परिपक्व बनाने के लिए और ससदीय प्रणाली के उचित रूप से काम करने के लिए सतोषजनक उपाय ढूँढने के लिए उन्हे समय चाहिए था। न युआन शिह्-का'ई ने उनकी अनुभवहीनता व जोशीलेपन के प्रति सहिष्णुता दिखायी और न इन नवयुवको ने युआन के पुराने प्रशासकीय यत्र को चलाते रहने के प्रयासो के प्रति कोई सहानुभूति प्रकट की। अनुभवहीन सुधारकों की असहिष्णुता की टक्कर हुई उनकी कभी प्रयोग मे न लायी गयी योजनाओ के प्रति एक अनुभवी प्रशासक की असहिष्णुता से। इसके अतिरिक्त, जनतात्रिक कहलाने वाले देशो का रवैया शुरू से ही ऐसा था, जिससे संतोषजनक ससदीय शासन स्थापित होने मे बाधाएँ पडती थी। यह बात विलक्षण लगती है, पर है सच कि पश्चिम की जनतांत्रिक सरकारो ने उन क्षेत्रो मे हुए जनतात्रिक प्रयोगो को हमेशा सदेह की दृष्टि से देखा है, जहाँ उनके नागरिको ने साम्पत्तिक हित पैदा कर लिये हैं, और इन सरकारो ने हमेशा इन क्षेत्रो मे एक ऐसे सशक्त व्यक्ति की खोज की है, जिससे वह इन हितो की सुरक्षा के सबध मे बात कर सके। सन् १९१३ के आरम्भ में ससद्-समर्थको के मुँह पर जो तमाचा मारा गया था, वह संसद् के कायम न रह सकने का एक बड़ा कारण बन गया था।

## (६) राष्ट्रपति की तानाशाही

विधानसभा के भग होने के बाद युआन शिह्-का'ई एक ऐसा गणतात्रिक शासन स्थापित करने मे दत्तचित्त हुए, जो उनकी कल्पना के अनुरूप था और जिसे वह व्यक्तिगत शासन के आदी देश और लगभग अशिक्षित जनता की आवश्यकताओं के अनुकूल मानते थे।

संसद्-स्थगन के फौरन बाद, जनवरी में नये शासन की स्थापना के लिए पहला कदम उठाया गया, जब युआन ने छाँट-छाँटकर कुछ व्यक्तियो की एक राजनीतिक परिषद् कायम की। इस परिषद् के परामर्श से एक विधान-परिषद् कायम की गयी, जिसकी पहली बैठक १८ मार्च, १९१४ को हुई। इस परिषद् का काम था नानकिंग-सविधान को संशोधित कर नये शासन को वैधानिकता प्रदान करना। इसके लिए परि-

षद् ने एक संवैधानिक सविदा तैयार किया, जो चीन का दूसरा अस्थायी सविधान बना। इस सविदा के अनुसार सारी शक्ति व सत्ता राष्ट्रपति के हाथो मे केन्द्रित थी, राष्ट्रपति दस वर्ष के लिए चुने जाते थे और आवश्यकता पड़ने पर वे स्वयं अपना कार्यकाल बढा सकते थे या अपना उत्तराधिकारी नियुक्त कर सकते थे।[७] मंत्रिमण्डल का स्थान राष्ट्रसचिव ने लिया जिन्हे राष्ट्रपति नियुक्त करते थे और जो केवल राष्ट्रपति के प्रति उत्तरदायी थे; यही स्थिति सभी विभागाध्यक्षो व मण्डलाध्यक्षो की थी। विधानसभाओ की स्थिति परामर्शदायिनी कर दी गयी थी[८] और, ली फा युआन (विधानसभा) की स्थापना तक एक राष्ट्रपरिषद् यह परामर्श देने का काम करती। ली फा युआन की स्थापना के बाद वही सवैधानिक संशोधनो की सलाह दे सकती थी। विधवा सम्राज्ञी (राजमाता) ने जो 'सवैधानिक सिद्धान्त' प्रतिपादित किये थे उनके अध्ययन से स्पष्ट हो जायगा कि सुधारसबधी उनके विचारो और बाद के राष्ट्रपति के विचारो मे कितना अधिक साम्य था। इस प्रणाली को वैचारिक आधार राष्ट्रपति के विदेशी परामर्शदाताओ मे से एक, अमरीकी फ्रैंक गुडनाउ ने भी प्रदान किया था, जिनका कहना था कि चीन अभी केवल तानाशाही के लिए ही तैयार है; इस तानाशाही पर एक परामर्शदात्री समिति का पानी चढाया जा सकता है, जो व्यक्ति नही, समूह हितो को ध्यान मे रखकर अधिकाशतः नामाकन द्वारा गठित होनी चाहिए। यह सलाह राष्ट्रपति के विचारो व हितो के अनुकूल ही थी। अतएव, सन् १९१४ के आरम्भ मे ही यह स्पष्ट हो गया कि जहाँ तक राजनीतिक जीवन का सम्बध है चीन सन् १९०९ के आसपास के काल मे वापस लौट गया है और यदि कोई विकास होना है तो फिर वही से वह शुरू होना है। स्थिति मे अतर केवल इतना था कि एक निर्बल सम्राट् की जगह एक तानाशाही राष्ट्रपति ने ले ली थी और इसलिए राजनीतिक विकास की गति मंचू-शासन के अधीन हो सकने वाले विकास की तुलना मे बहुत धीमी होनेवाली थी।

राष्ट्रपति ने सवैधानिक संविदे के अधीन चीन पर तानाशाही 'सबल व्यक्ति' की भाँति शासन चलाना शुरू किया; वह समझते थे कि चीन को इसी की आवश्यकता है। जहाँ भी वह पहुँच पाये और जिस राजनीतिक विरोधी को वह पकड़ पाये, उसका उन्होने निर्दयतापूर्वक दमन किया। वे विरोधी, जो ऊपर से मित्रवत् थे, किन्तु स्थिति बिगड़ने पर जिनसे विरोध सभव था, बुलाकर पीकिंग मे बैठा लिये गये, जहाँ उनकी गतिविधियो पर कड़ी निगरानी रखी जा सकती थी। संशोधित वैधानिक शासन की कागजी खानापूरी के बावजूद सन् १९१४ के पूरे वर्ष चीन पर आतकवादी शासन चला; हर जगह गुप्तचर नियुक्त थे और कोई भी व्यक्ति खुलकर अपने विचार व्यक्त

नही कर सकता था, समाचारपत्रो का मुँह बलात् बन्द कर दिया गया था राजनीतिक हत्याएँ सामान्य घटनाएँ हो गयी थी। किन्तु, इन सबके बाद भी यह स्वीकार करना होगा कि जनता सामान्यतः बहुत असतुष्ट नहीं थी। सैनिक-शक्ति के बल पर ही सही, सामान्य जीवन व व्यवस्था धीरे-धीरे स्थापित हो रही थी; शिक्षित विद्वानो द्वारा नागरिक शासन चलाने की पुरानी प्रणाली असफल हुई थी। जिस तरह का व्यक्तिगत शासन अब चल रहा था, जनता उसकी आदी थी। युआन ने कनफूशियस की नैतिकता व ईश्वर की आराधना पर फिर से जो जोर देना शुरू किया था, वह पुराने अनुभव और नयी व्यवस्था के बीच की कडी थी। कपोलकल्पित प्रतिनिधित्व-पूर्ण शासन मे गणतत्र कायम रखा जा रहा था। जो सिद्धान्ततः क्रांतिकारी थे या जिन्हे इस व्यवस्था मे स्थान नही मिला था, केवल वे ही असतुष्ट थे। सामान्य जनता को शासन के स्वरूप या राजनीतिक कार्रवाई के ढंग मे तब तक कोई दिलचस्पी नही थी, जब तक उन्हे फसल बोने और काटने व पूर्वजो की और शीघ्र पूर्वज बनने वाले स्वय अपनी आवश्यकताओ की पूर्ति की सुविधा थी। स्वाधीनता, कर-मुक्ति, पैर छोटे रखने की प्रथा की समाप्ति तथा देश के आधुनिकीकरण आदि के नये विचारो से, जो क्राति के कारण आये थे, कुछ दिनो तक कुछ लोग उद्वेलित रहे; किन्तु, तब भी गाँववालो तक यह उद्वेलन नही पहुँच पाया था। नये विचारो का प्रभाव मुख्यतः सधि-बन्दरगाहो के आसपास ही पड़ा था। जो चीन गाँवो मे रह रहा था उसने गणतत्र की स्थापना का सम्राट् से आदेश पाने वाले और विधिवत् निर्वाचित् राष्ट्रपति, युआन शिह-का'ई द्वारा स्थापित नयी व्यवस्था को तत्काल स्वीकार कर लिया। इस प्रकार सन् १९१४ के समाप्त होते-होते देश का पूरा नियत्रण राष्ट्रपति के हाथो मे आ गया और यदि वह इस समय प्राप्त शक्ति व सत्ता के निचोड़ तक से सतुष्ट रह लेते तो सवैधानिक सुधारो के ढाँचे के भीतर रहकर कुछ समय के लिए वह तानाशाह बने रह सकते थे।

## (७) परराष्ट्र संबंध

किन्तु राष्ट्रपति को देशी व विदेशी, दोनो प्रकार के विरोधियो का सामना करना पड़ रहा था। गणतंत्र की स्थापना के शीघ्र बाद मंगोलिया में अशांति शुरू हुई और वहाँ स्वतत्र मंगोलिया-सरकार स्थापित होने की घोषणा हो गयी। वहाँ कुछ समय से चीनी शासन के विरुद्ध असतोष बढ रहा था जिसके मुख्य कारण दो थे, एक तो वहाँ जाकर बसने वाले चीनियो ने जमीन व सामान हड़पना शुरू किया था और दूसरे मुख्य चीन मे प्रचलित शासन-व्यवस्था मगोलिया के कुछ भागो में लागू करने के प्रयत्न किये जा रहे थे, जिससे मंगोल-कुलीनो के शासनाधिकारों पर आँच

आ रही थी। मगोलिया मे राष्ट्रीय आदोलन भी तभी विकसित हो रहा था, जिसके कारण पृथकत्व की प्रवृत्तियाँ बढ रही थी। इसके साथ ही साथ, चीनी शासको के विरुद्ध वहाँ रूसी षड्यन्त्र भी पनप रहे थे, रूस नही चाहता था कि चीन उत्तर की ओर बढे। यहाँ इन परिस्थितियो के परिणाम मात्र ही दिये जा सकते है। १ दिसम्बर, १९११, को चीनी अधिकारी मगोलिया से हटने को बाध्य हुए और उरगा मे स्वतत्र मगोलिया सरकार की स्थापना हो गयी। सन् १९१२ मे चीन ने फिर से अपनी सत्ता मगोलिया मे जमाने की कोशिश की, भीतरी मगोलिया मे उसे आशिक सफलता भी मिली। किन्तु, नवम्बर मे रूस ने उरगा-शासन को मान्यता प्रदान कर दी और उससे संधि कर ली। फिर रूस व चीन तथा चीन व मगोलिया के बीच स्थिति की स्पष्ट व्याख्या करने के लिए समझौता-वार्ताएँ चली। १५ नवम्बर, १९१३ को बाहरी मंगोलिया के प्रतिनिधियो की अनुपस्थिति में रूस व चीन के बीच एक उपसन्धि हो गयी, जिसके अनुसार बाहरी मगोलिया पर चीन का अधिराजत्व स्वीकार कर लिया गया, पर उस क्षेत्र की आतरिक सर्वोच्च सत्ता स्वीकार कर ली गयी। ७ जून, १९१५ को तीनो देशो के बीच समझौता हो गया, जिसके अनुसार बाहरी मगोलिया ने रूस-चीन-उपसधि की शर्तें मान ली। तात्कालिक परिस्थितियों मे यह युआन शिह्-का’ई की विजय थी, किन्तु केवल आशिक ही, क्योकि इस तथा सन् १९१३ के समझौते के अनुसार मगोलिया मे रूसी हितो को औपचारिक मान्यता प्राप्त हो गयी थी।

इसी समय तिब्बत मे भी चीनी सत्ता के विरुद्ध विद्रोह हो गया। क्राति के समय ल्हासा स्थित चीनी फौज ने विद्रोह कर दिया और इतनी अति कर दी कि तिब्बतियो ने सभी चीनियो को अपने देश से खदेड़ दिया। ११ जनवरी, १९१३,को विजय का पर्व मनाते हुए, उन्होने स्वतत्र देश की हैसियत से बाहरी मंगोलिया से समझौता किया। पींकिंग मे गणतात्रिक शासन स्थापित होने पर तिब्बत मे अपना अधिकार फिर से कायम करने के लिए प्रयत्न किये गये, किन्तु, ब्रिटेन ने इस बात का विरोध किया कि सैनिक शक्ति के प्रयोग से चीन अपना नियत्रण वहाँ फिर से स्थापित करे। सन् १९१३ भर इस संबंध में समझौते की बात चलती रही, फिर सन् १९१४ मे तीनो पक्षो के प्रतिनिधियो का एक सम्मेलन हुआ, जिसमे समझौता हुआ कि (१) तिब्बत की सर्वोच्च सत्ता अक्षुण्ण रहेगी, (२) चीन अपना रेजिडेण्ट (प्रतिनिधि) ल्हासा मे रखेगा और उसकी रक्षा के लिए काफी सैनिक वहाँ रहेगे और (३) पूर्वी तिब्बत मे एक क्षेत्र अर्ध-स्वतन्त्र रहेगा, जहाँ चीन की स्थिति अधिक मजबूत रहेगी।[१] किन्तु इस समझौते का कभी अनुसमर्थन नहीं हुआ और समस्या का कोई हल निकलने के पूर्व ही युआन शासन का अत हो गया। इस प्रकार चीन

के लिए, तिब्बत-सबधी ब्रिटेन की कारवाई उतनी ही व्याकुलता का कारण बनी, जितनी कि मगोलिया के सबध मे रूसी साजिशे सिद्ध हुई थी।

किन्तु सबसे अधिक गभीर स्थिति जापान के प्रथम महायुद्ध मे भाग लेने से उत्पन्न हुई।[१०] पहले तो जापान के त्सिंगताओ पर बढ आने से निष्पक्ष राष्ट्र की हैसियत मे चीन के लिए स्थिति बहुत असगत हो गयी। अशत संतोषजनक हल यह निकला कि एक युद्ध-क्षेत्र अलग घोषित कर दिया जाय और जापान की सैनिक कारवाइयो को वही सीमित रखने का प्रयास किया जाय। सन् १९१५ के आरम्भ मे युद्ध के कारण मिटने पर यह क्षेत्र भी मिटा दिया गया। चीन के इस कदम का बहाना लेकर जापान ने राष्ट्रपति के समक्ष २१ माँगें पेश कर दी। यहाँ उनकी विवेचना आवश्यक नही है;[११] किन्तु जापान की इस कारवाई की चीन मे क्या प्रतिक्रिया हुई, यह बताना युआन-काल की कथा पूरी करने के लिए जरूरी है। जब माँगे प्रकट हुई, चीन मे जापान के विरुद्ध व्यापक आक्रोश उत्पन्न हो गया और जापानी दबाव का प्रतिरोध करने के लिए राष्ट्रपति के समर्थन मे भारी जनमत तैयार हो गया। राष्ट्रपति का समर्थन अनेक रूपो मे प्रकट हुआ; राष्ट्रीय सस्थाओ का सगठन हुआ, देश की रक्षा के लिए सामान्य जनता में उदारतापूर्वक धन-सग्रह हुआ और जो नेता युआन शिह-का'ई का विरोध कर रहे थे, उन्होंने उनके प्रति निष्ठा प्रकट की। राष्ट्रपति ने इसे देश मे अपनी व्यक्तिगत शक्ति का प्रतीक माना, जब कि वास्तव मे यह बढती हुई राष्ट्रीयता की भावना की ही अभिव्यक्ति थी, जो देश की स्वतत्रता व क्षेत्रीय अविच्छिन्नता पर अभी तक हुए आक्रमणो में सबसे भयकर आक्रमण के प्रतिरोध मे जागृत हुई थी।

## (८) राजतंत्र-आन्दोलन

ऐसा आभास होता है कि समझौते की बातचीत के दौरान मे जापान ने युआन को सूचित किया कि चीन मे फिर से राजतत्र की स्थापना के प्रति उसका रुख बहुत सहानुभूतिपूर्ण रहेगा, यदि सिंहासन का नया दावेदार उसकी (जापान की) माँगो के प्रति सहानुभूति रखता हो। अपनी इस सहानुभूति की अभिव्यक्ति इस दावेदार को चीन मे जापान की स्थिति मजबूत करने की इन माँगो में निहित जापानी प्रार्थना को स्वीकार करके करनी होगी। यह सर्वविदित है कि जापानी राजनयिक नेता गणतंत्र के विरुद्ध थे और उसके जल्दी नष्ट होने की कामना करते थे। यह सही है कि सन् १९११ व सन् १९१३ के विद्रोहियों को गैरसरकारी जापानी सूत्रो से अनौपचारिक रूप से सहायता प्राप्त हुई थी किन्तु यह उग्र राजनीति मे दिलचस्पी की परिचायक नही थी, केवल चीन में अराजकता को बढ़ावा देने के लिए ही थी। किन्तु राजतंत्र के पक्ष में होते हुए भी जापान युआन का

विश्वास नही करता था और किसी हद तक उनमे डरता भी था, क्योंकि वह ही चीन को उसकी स्वाभाविक सशक्त और सबल स्थिति मे लाने में समर्थ थे; और फिर युआन कोरिया के दिनो से ही जापान के मुख्य एशिया महाद्वीप की भूमि पर पैर जमाने के कार्यक्रम के विरोधी रहे थे। इसलिए यह समझा गया कि जब तक युआन जापान के प्रति सहानुभूति न रखने लगे, उनका चीन का स्थायी शासक बनना जापान के हित मे न होगा। राजतंत्र का सुझाव वास्तव मे युआन द्वारा जापानी माँगो का समर्थन प्राप्त करने की एक चाल थी। युआन ने बदले मे सम्राट् पद मिलने की आशा के बावजूद जापान की बात नही मानी। किन्तु देश के रक्षक के रूप मे चीन की जनता ने जो भावना उनके समर्थन में प्रकट की, उसे युआन ने इस सीमा तक अपने व्यक्तित्व मे निष्ठा समझा कि वह एक नये राजवश की नीव डाल कर स्वय सम्राट् बनने के लिए इसे बहुत उपयुक्त अवसर मानने लगे।

अतएव राष्ट्रपति के निकट के लोगो ने सन् १९१५ के वसन्त व ग्रीष्म मे राजवंश व राजतत्र की पुनस्सस्थापना के लिए बडा सक्रिय प्रचार किया। राष्ट्रपति के एक पुराने विधि सलाहकार, अमरीकी फ्रैंक गुडनाउ के एक स्मृतिपत्र के आधार पर यह प्रचार चला। गुडनाउ फिर से पीकिंग आये हुए थे और उन्होने चीन के लिए उपयुक्त शासन-प्रणाली के सबध सिद्धात रूप मे अपना मत प्रकट करते हुए कहा था कि "चीन के लिए गणतत्र से अधिक उपयुक्त राजतत्र है। चीन की स्वाधीनता कायम रखने के लिए वैधानिक शासन आवश्यक है, और इस समय चीन की आतरिक परिस्थितियो व विदेशो से उसके सबधो को देखते हुए, यह कहा जा सकता है कि वैधानिक शासन की स्थापना राजतत्र द्वारा गणतत्र के मुकावले जल्दी की जा सकती है।"[१२] किन्तु इस परिवर्तन के पूर्व तीन शर्तें पूरी होने का सुझाव गुडनाउ ने रखा था; पहली शर्त यह थी कि उत्तराधिकार का समुचित प्रबन्ध कर दिया जाय, दूसरी यह थी कि जनता इस परिवर्तन को स्वीकार कर ले और विदेशी शक्तियाँ इसका विरोध न करे और तीसरी शर्त यह थी कि चीन मे वैधानिकता के उत्तरोत्तर विकास की समुचित व्यवस्था की जाय।

जब इस सुझाव का विरोध शुरू हुआ तो विरोधियो ने प्रसिद्ध चीनी विद्वान् लियांग ची'-चा' ओ के तर्क को अपने समर्थन मे सिद्धान्त रूप मे प्रस्तुत किया।[१३] लियांग सन् १८९८ के सुधारको मे से थे और गणतंत्र की स्थापना तक वैधानिक राजतत्र का समर्थन करते रहे थे, ससद् भंग करने और तानाशाह बन जाने मे भी उन्होंने राष्ट्रपति युआन का समर्थन किया था। इसलिए उन पर उग्र विचारक होने का अभियोग नही लगाया जा सकता था। उनका तर्क था कि शासनतत्र में परिव-

र्तन कर देश मे फिर से अव्यवस्था करने का समय गुजर गया, गणतत्र अब वास्तविक तथ्य है और इस तथ्य को स्वीकार किया जाना चाहिए; अब पूरी शक्ति शासन के ऐसे पुनस्सगठन मे लगनी चाहिए, जिससे देश मे शाति व व्यवस्था स्थापित हो और जनता को प्रभावकारी प्रशासन प्राप्त हो। इसके अतिरिक्त उन्होने यह भी कहा था कि यह काम पूरा करने के लिए युआन शिह्-का’ई को काफी समय दिया गया है और यदि दस वर्ष का समय उनके लिए काफी न हो तो यह अवधि दस वर्ष के लिए फिर बढ़ायी जा सकती है।

किन्तु राष्ट्रपति तो राजतंत्र स्थापित करने का फैसला कर चुके थे, यद्यपि उनका यह निश्चय गुप्त था, ताकि दिखावे मे ऐसा लगे कि जनमत के दबाव मे आकर ही उन्होने ऐसा किया है। इसलिए राज्यपरिषद् ने तीन बार राष्ट्रपति को स्मृतिपत्र दिये, ताकि सम्राट् बनने का उनका प्रकट विरोध समाप्त हो सके और गणतत्र समाप्त करने के लिए वह कदम उठायें, तीन स्मृतिपत्रो के बाद राष्ट्रपति सहमत हो गये, पर इस सहमति में भी यह शर्त लगी थी कि ‘नागरिको के प्रतिनिधियो के सम्मेलन’ मे यदि गणतत्र समाप्त कर राजतत्र स्थापित करने की बात स्वीकार हो जाय, तभी वह राजी होगे। इस उद्देश्य से बनायी गयी समितियो ने लगभग सर्वसम्मति से इस प्रस्ताव का समर्थन कर दिया; इन समितियो को इस प्रकार के समर्थन की आवश्यकता पूरी तरह समझा दी गयी थी।

वास्तव मे इस प्रकार राष्ट्रमत जानने की आवश्यकता केवल मात्र औपचारिक ही नही थी। २८ अक्तूबर, १९१५ को ब्रिटेन, रूस व जापान ने मिल कर (जापान के प्रस्ताव पर) इस परिवर्तन के विरुद्ध चीन सरकार को सलाह दी थी। अमरीका इस आधार पर इस सलाह मे शामिल नही हुआ कि चीन में शासन-प्रणाली क्या हो, यह चीन को ही तय करना चाहिए। विदेशियो ने इस परिवर्तन का विरोध इस आधार पर किया कि जब अतरराष्ट्रीय परिस्थिति इतनी डाँवाडोल हो, उस समय स्थापित सतुलन बिगाड कर अशांति पैदा करना अविवेकपूर्ण होगा। नवम्बर में फिर इस परिवर्तन का विरोध किया गया और इस बार पहले के तीन राष्ट्रो के साथ इटली व फ्रांस भी विरोध मे शामिल हो गये।

दूसरी बार हुए विरोध के समय युआन ने परिवर्तन के समर्थन में सम्मेलन के लगभग सर्वसम्मत प्रस्ताव का हवाला देकर कहा कि चीनी जनमत राजतत्र के पक्ष में है। इसके अतिरिक्त, हर सभव विरोध को नियंत्रित कर लेने की अपनी क्षमता में युआन को इतना अधिक विश्वास था कि उन्होंने विदेशी प्रतिनिधियो को आश्वासन दे दिया कि कोई भी गंभीर उथल-पुथल न होने पायेगी। इसके उपरान्त विदेशी

शक्तियों ने कोई कार्रवाई नहीं की, यद्यपि जापान ने यह इशारा अवश्य किया कि जो सूचना उसके पास है उसके अनुसार दक्षिण के प्रान्त राजतत्र की पुनर्स्थापना के लिए कभी तैयार न होगे। अगले कुछ महीनो की घटनाओ ने प्रकट कर दिया कि विरोध की संभावना के संबध मे जापान की जानकारी होने वाले सम्राट् से अधिक थी।

जब राज्याभिषेक की तैयारियाँ हो ही रही थी, सुदूर दक्षिण-पश्चिम मे विद्रोह हो गया। २३ दिसम्बर को युन्नान प्रान्त से एक स्मृतिपत्र राष्ट्रपति के पास भेजा गया, जिसमें राजतत्र की स्थापना का विरोध किया गया था। जब इस माँग पर ध्यान नही दिया गया, विद्रोह का झण्डा खुले रूप से फहराने लगा। सरकार के हर प्रयत्न के बावजूद—यद्यपि सैनिक दृष्टि से सरकार लगातार सफल रही थी—विद्रोह फैलता ही गया और एक के बाद एक प्रान्त अपने पीकिंग से स्वतत्र हो जाने की घोषणा करते गये। शुरू में क्रान्तिकारियो ने माँग की कि राजतत्र समाप्त हो, नानकिंग-सविधान आधारभूत कानून के रूप मे लागू हो और सन् १९१३ की ससद् फिर से गठित हो।

इस विरोध और उत्तरी प्रान्तो मे स्वय अपने अनुयायियो के फूटते जाने से युआन शिह-का'ई इतने कमजोर हो गये कि उन्होने घोषणा कर दी कि राजतत्र की पुन. स्थापना का विचार त्याग दिया जायगा। अपने सम्मान की रक्षा के लिए उन्होने कहा कि मुझे गलत सूचना दी गयी थी कि जनता मेरे सिहासनारूढ़ होने के पक्ष मे है। राष्ट्रपति की इस कमजोरी के प्रकट होते ही गणतत्रवादियो ने अपनी माँग बढ़ाकर यह माँगना शुरू कर दिया कि युआन चीनी राजनीति से बिलकुल हट जायँ। कुछ समय तक युआन ने इस माँग पर विचार भी करने से इनकार कर दिया, यद्यपि उन्होने कुछ और झुक कर फिर से मत्रिमडल की स्थापना कर दी और कार्यकारी अधिकार उसे सौंपने का निश्चय प्रकट करने के लिए सभी सैनिक-केन्द्रो का नियत्रण युद्ध मत्री को सौंप दिया। किन्तु अतत, उन्हे और भी झुकना पड़ा और वह राष्ट्रपति के पद से अवकाश लेने के लिए राजी हो गये। जब समझौता होने ही वाला था, ६ जून, १९१६, को राष्ट्रपति की मृत्यु से सारा विवाद अकस्मात् समाप्त हो गया। इस प्रकार सच्चे गणतत्रवाद के विरोध की पहली अवधि उस 'सशक्त व्यक्तित्व' के साथ समाप्त हुई, जिसे अनेक लोग वह अकेला व्यक्ति मानते थे, जो चीन मे स्थायित्व ला सकता था। फिर भी यद्यपि गणतंत्र रह गया, शासन के स्वरूप मे गणतंत्रवाद के चीन मे स्थापित होने में अभी देर थी।

## (९) गणतंत्र का पुनरुज्जीवन

सन् १९१३ के आरम्भ में जो स्थिति थी, वह युआन की मृत्यु के बाद फिर से

लायी गयी, किन्तु वह जैसे-तैसे मुश्किल से एक वर्ष से भी कम चल पायी। प्रान्तो के फौजी नेता केन्द्रीय सरकार के नियत्रण मे केवल इसीलिए थे कि उन पर युआन शिह्-का'ई का व्यक्तिगत प्रभाव था। उनकी मृत्यु के शीघ्र बाद वे अपना यह सकल्प प्रकट करने लगे कि वे पीकिंग का निदेशन उसी हद तक मानेगे, जिस हद तक केन्द्रीय सरकार उनके मतानुसार चलेगी और तभी तक मानेंगे जब तक केन्द्रीय सरकार प्रान्तो मे उनके विशेष परमाधिकारो मे हस्तक्षेप नही करेगी। कुछ समय तक सैनिको में प्रधान मत्री, तुआन ची-जुई, को युआन शिह्-का'ई के उत्तराधिकारी के रूप मे मान्यता मिली। किन्तु इन सैनिक नेताओ ने यह स्पष्ट कर दिया था कि जिस हद तक प्रधान मत्री उनके हितो का आदर व रक्षा करेगे, उसी हद तक उन्हे सैनिको की निष्ठा प्राप्त होगी। उधर प्रधान मत्री को केन्द्रीय सरकार मे युआन से यह पद मिला था और पीकिंग मे फिर से स्थापित होने पर ससद् ने उन्हे उस पद पर स्वीकार सिर्फ उसी कारण किया था, जिस कारण युआन को राष्ट्रपति स्वीकार किया था, अर्थात्, इसलिए कि उन्हे सेना का समर्थन प्राप्त था। युआन की मृत्यु पर उपराष्ट्रपति, ली युआन-हुग को राष्ट्रपति का पद मिला, वह यद्यपि सेना के नेता थे, किन्तु उन्हे सन् १९११ की क्राति मे भाग लेने के कारण ही प्रधानता मिली थी। उन्होने नानकिंग-सविधान के ससद् की सर्वोच्च सत्ता के सिद्धान्त को स्वीकार किया। किन्तु इस सविधान मे कार्यकारी सत्ता मत्रिमडल मे केन्द्रित थी, राष्ट्रपति मे नही। फलत', घटनाचक्र मे चीन को कार्यकारिणी के सर्वोच्च अधिकार प्राप्त करने वाला वह प्रधान मत्री मिला, जो युआन शिह्–का'ई की परंपरा मानने वाला था और शीघ्र ही जिसका ससद् से मतभेद हो गया।

मतभेद के कारण लगभग वही थे, जो युआन के राष्ट्रपति होने के समय थे। वित्तीय समस्या सुलझाने के लिए क्या उपाय किये जायँ, इसी प्रश्न को लेकर विवाद उठ खड़ा हुआ। इसमें राजस्व-प्रणाली के पुनर्गठन व ऋण लेने के प्रश्न उलझे हुए थे। युआन शिह्-का'ई की भाँति, तुआन ने ससद् की राय लिये बिना ही प्रबन्ध कर लिये और बाद में ससद् से उन्हे स्वीकार करने को कहा। पदो पर नियुक्तियों के सबध मे भी विवाद हुआ। बहुधा ससद्-शासन को व्याकुल करने के लिए ही मत्रिमडल के प्रतिनिधियो पर प्रश्नो की बौछार कर देती और उन्हे आड़े हाथो लेती। इस तथा अन्य कारखाइयों मे सन् १९१२–१९१३ की अड़ंगेबाजी की प्रवृत्तियाँ फिर से प्रकट होने लगी और अंशतः इन प्रवृत्तियों के उभरने के कारण भी वही थे, सरकारी कार्यकलाप पर ससद्-सदस्यो की प्रभावकारी नियंत्रण करने मे असफलता ही यह कारण थी। ऐसी परिस्थितियो मे जिस बात की अपेक्षा होती,

अतत. वही हुआ और अपने काम मे सदस्यो की दिलचस्पी इतनी कम हो गयी कि आवश्यक उपस्थिति के अभाव मे ससद् की बैठको का स्थगित होना एक सामान्य बात हो गयी। इसके अतिरिक्त, अनेक बैठको मे अत्यधिक अव्यवस्था रहती थी और कई बार बैठको मे ही मार-पीट और ऊधम हो गया।

जैसा कि युआन के समय मे हुआ था, ससद् का बडा रचनात्मक प्रयास था स्थायी सविधान को पूरा करने का काम। पहले वाले मसौदे को आधार मान कर दोनो सदनो का सयुक्त अधिवेशन स्वर्गमदिर मे विधाननिर्मात्री-परिषद् के रूप मे विचार-विमर्श करता और धीरे-धीरे शासन का वह तत्र बनाता जाता था, जिसके अनुसार ससद् की सत्ता सर्वोच्च होती; इस दिशा मे ससद् उस मसौदे से भी आगे बढ गयी, जिस पर युआन को आपत्ति थी। पहले की भाँति ही, सविधान का काम पूरा होने के पहले ही ससद् पीकिंग से खदेड़ बाहर की गयी। इससे ससदीय सवैधानिक शासन का अत हो गया, यद्यपि ससदीय सरकार का बहाना कुछ दिनो तक कायम रखा गया और बीच-बीच मे पीकिंग के नियत्रण के सघर्ष मे यह बहाना बार-बार उठाया जाता रहा, जब प्रान्तीय सैनिक नेता उभर कर ऊपर आने लगे। सन् १९२३ मे 'स्थायी' सविधान के पूरे होने और लागू हो जाने के बाद भी ससदीय शासन की स्थापना न हो सकी, और यह इरादा भी नही था कि इससे ससदीय शासन-प्रणाली स्थापित हो।

संसदीय गणतत्र समाप्त होने का तात्कालिक कारण सविधान-संबधी मतभेद या तज्जनित विवाद-वैमनस्य नही था, यद्यपि उसमें अनेक वैधानिक प्रश्न उलझ गये थे। प्रथम विश्वयुद्ध में चीन के भाग लेने के प्रश्न का आंतरिक परिस्थितियो पर प्रभाव ही इसका कारण था।[१४] ९ फरवरी, १९१७ को जर्मनी को उसकी अबाध पनडुब्बी-युद्ध ठानने की घोषित नीति के विरुद्ध एक पत्र भेजा गया। जब इस पत्र का कोई सतोषजनक उत्तर न मिलने पर एक महीने के बाद जर्मनी से राजनयिक संबध समाप्त कर दिये गये इस बीच प्रधानमत्री, तुआन ची-जुई मित्र राष्ट्रो के पीकिंग-स्थित प्रतिनिधियो से चीन के युद्ध में शामिल होने की शर्तों के सबंध में वातचीत करते रहे, ताकि वह बता सकें कि जर्मनी के विरुद्ध युद्ध में शामिल होने से चीन को क्या-क्या लाभ होगे। विदेशी प्रतिनिधि उनकी शर्तें स्वीकार करे, इसके पहले ही प्रधान मत्री ने संसद् को आश्वासन दे दिया कि मुक्का-आंदोलन की क्षतिपूर्ति तथा दूसरे मामलों मे चीन को रिआयतो का आश्वासन मिल गया, यदि वह जापान के विरुद्ध युद्ध के मैदान मे उतर आये। उधर राजनयिक प्रतिनिधियों को उन्होने आश्वासन दे दिया कि चीन युद्ध में शामिल हो जायगा, यद्यपि अपनी युद्ध-नीति

की स्वीकृति उन्होने ससद् से नही ली थी और उसके विरोध पर उन्होने कोई विजय प्राप्त नही की थी। इस प्रकार युद्ध-घोषणा के बाद ही मिल सकने वाली रिआयतें जाब्ते से न पाने पर घर पर उनकी प्रतिष्ठा घटती और जाब्ते से शर्तो पर समझौता होने के पूर्व युद्ध न घोषित करने पर विदेशी प्रतिनिधियो के समक्ष उनकी प्रतिष्ठा कम होती। विदेशी राजनयिक प्रतिनिधियो से चल रही वातचीत से ध्यान हटाने और अपनी युद्ध-नीति के पक्ष मे जन-भावना वनाने के लिए प्रधान मत्री ने अतत कुछ प्रान्तीय सैनिक नेताओ का एक सम्मेलन पीकिंग मे बुलाया। इस सम्मेलन के बुलाने के समय से ही युद्ध वैदेशिक नीति का प्रश्न न रहकर आतरिक राजनीति का प्रश्न वन गया। अप्रैल के अत मे फौजी राज्यपाल पीकिंग मे एकत्र हुए और देश का ध्यान उनकी काररवाइयों पर केन्द्रित हो गया।[१५] और तभी से पीकिंग राजनीति में उत्तरी सैनिक-दल का सत्तारोह और उसी के साथ प्रान्तो मे युद्ध नेताओ का प्रभाव वढना शुरू हुआ।

तुआन ची-जुई ने युद्ध छेड़ने के लिए अपना विधेयक स्वीकार कराने के लिए संसद् पर जो यह व अन्य दबाव[१६] डाले, उसका तात्कालिक परिणाम यह हुआ कि ससद् की माँग पर राष्ट्रपति ने उन्हे प्रधान मंत्री के पद से बरखास्त कर दिया। उन्होने वरखास्तगी नही मानी और इसमे फौजी राज्यपालो ने उनका साथ दिया; इन राज्यपालो ने उलटे ससद् भग करने की माँग कर दी। राष्ट्रपति द्वारा यह स्वीकार न किये जाने पर, उन्होने पीकिंग के विरुद्ध 'दण्ड अभियान' शुरू कर दिया और उनका दावा यह रहा कि वे सविधान की प्रतिष्ठा के लिए यह कर रहे है। कुछ दिनो तक गत्यवरोध रहा, क्योकि राष्ट्रपति ली ने फौजी राज्यपालो की यह माँग स्वीकार करने से इनकार कर दिया कि प्रधान मत्री को फिर से उनके पद पर रखा जाय और संसद् को भग कर दिया जाय। प्रान्तीय फौजी नेताओ के गुट मे सबसे अधिक बदनाम, चागह्सुन को समझौते की बात करने के लिए बुलाया गया और पीकिंग आते ही उन्होने अपने फौजी साथियो की माँगे दोहरा दीं और फिर १ जुलाई, १९१६ को मचुओ को फिर से सिंहासन पर बैठाने का प्रयत्न किया। किन्तु, उन्हे पता लगा कि अन्य फौजी राज्यपाल ससदीय गणतत्रवाद के साथ ही साथ राजतत्र के भी विरोधी है। इस प्रकार मंचुओ की पुनस्सस्थापना केवल तीन सप्ताह चली और जो लोग ससद् समाप्त करने के लिए पीकिंग आ रहे थे, उन्होने राजतत्र को एकदम समाप्त कर दिया।

## (१०) सैनिक-सत्तारोह

तव से लगभग दस वर्ष बाद तक, जब राष्ट्रीय अवस्था से क्रांति फिर शुरू हुई,

चीन का राजनीतिक दल लगातार अव्यवस्थित रहा। अनेक व्यक्ति अपने-अपने स्वार्थ से शक्ति-सत्ता पर काबू पाने के लिए एक-दूसरे से लड़ते-टकराते रहे और अराजकता-अव्यवस्था बढती रही। प्रान्तो की स्थिति लगभग वही थी, जिसका वर्णन इस अध्याय के आरम्भ में किया गया है। प्रान्तीय फौजी नेताओ मे जो अधिक सशक्त थे, वे अपने-अपने अधिकार क्षेत्र बढाने मे तो लगे ही थे, साथ ही उस केन्द्रीय सरकार मे भी प्रमुख स्थिति पाने का प्रयत्न करते रहते थे, जो जैसे-तैसे लगातार पीकिंग मे कायम रही। इन उद्देश्यो की पूर्ति के लिए फौजी नेताओ के सश्रय बनते और उनकी काट के लिए विरोधी संश्रय होते और विरोधियो के सशक्त साथियो को तोडने के लिए साजिशे होती थी।

यद्यपि केन्द्रीय शासन का देश मे प्रभाव नगण्य था, फिर भी लोग लगातार पीकिंग पर नियत्रण करने के लिए प्रयत्नशील रहते थे, इसके दो मुख्य कारण थे। एक तो राजधानी पर जिस किसी का भी नियत्रण होता वही जैसा कुछ भी राष्ट्रीय प्रशासकीय ढाँचा शेष था, उसका नियत्रण करता और इस नाते देश से निष्ठा माँगने का अधिकार उसे होता। दूसरे, और यही अधिक महत्त्वपूर्ण कारण भी था। अतरराष्ट्रीय जगत् मे विदेशी सरकारे पीकिंग सरकार को ही चीन की वास्तविक सरकार माने जा रही थी। पीकिंग पर नियंत्रण रखनेवाला क्षतिपूर्ति व ऋण की किश्ते काटने के बाद शेष बची सीमा-शुल्क की आय का दावा कर सकता था। यही स्थिति अतरराष्ट्रीय नियत्रण के नमक-कर के सबध मे थी। विदेशो से ऋण लेने के लिए भी चीन 'सरकार' का माध्यम ही लाभकर था।

सामान्यत. यह निष्कर्ष सही था कि चीन के सैनिक-शासक, जिन्हे तूचुन व महा-तूचुन कहा जाता था, शासन-शक्ति पर केवल इसीलिए नियंत्रण करना चाहते थे कि वे स्वयं व्यक्तिगत रूप से धन बटोर सके। एक-आध अपवाद को छोड़ कर ये लोग अपने-अपने अधिकार के क्षेत्रो का घोर शोषण करते थे और बहुत कई-कई वर्षों के लिए अग्रिम कर वसूल कर लेते थे। बहुधा वह किसानो को खाद्यान्न की जगह अफीम बोने को बाध्य करते थे, ताकि अफीम के नाजायज उत्पादन की आमदनी वह हड़प सकें। थोड़े ही समय के लिए पद प्राप्त कर जिस प्रकार हर सभव उपाय से अपना लाभ किया जाता है, वही वह करते थे। जो बात इन लोगो पर प्रान्तो में लागू थी, वही पीकिंग मे भी लागू थी, यद्यपि वहाँ बाहरी दुनिया के दिखावे के लिए कुछ कायदे-कानूनो का पालन आवश्यक था जो कि चीनी जनता के सबंध में लागू नही होते थे।

शुरू में उत्तरी फौजी नेताओ मे मोटे तौर पर दो गुट थे। यह गुटबन्दी पुराने राजतंत्र के समय से चली आ रही थी और किसी हद तक शासन करने के लिए

फूट डालने के सिद्धान्त का परिणाम थी। एकता स्थापित करने के सूत्र, युआन शिह्-का'ई की मृत्यु के बाद एक गुट हुकुयाग के वाइसराय फेग कुओ-चाग के साथ हो गया, सन् १९१६ मे ली युआन-हुंग के राष्ट्रपति बनने पर फेग उपराष्ट्रपति बन गये थे। दूसरे गुट का नेतृत्व प्रधान मत्री तुआन ची-जुई करते थे। मचू-राजवश के पुनस्सस्थापन के असफल प्रयास से लेकर सन् १९१८ के शरद तक का समय फेग और तुआन के सत्ता हथियाने के सघर्ष मे गुजर गया, फेग ली के बाद राष्ट्रपति हो गये थे और तुआन फिर से प्रधान मत्री वन गये थे। इस संघर्ष में तुआन का गुट ही विजयी हुआ और अक्तूबर, १९१८ मे फेग के राष्ट्रपति के पद से अवकाश ग्रहण करने पर तुआन गुट के ह्सू शिह्-चाग राष्ट्रपति बन गये।

चुनाव मे अपनी सफलता निश्चित बनाने के लिए तुआन गुट ने अपने-आपको आनफू-क्लब या एक सस्था के रूप मे सगठित कर लिया था; इस सस्था का मुख्य उद्देश्य नव-निर्वाचित ससद् सदस्यो के बीच ह्सू शिह्-चाग के राष्ट्रपति बनाये जाने के पक्ष मे प्रचार करना था। इस लक्ष्य की पूर्ति के बाद भी क्लब कायम रहा और अपने सदस्यो के व्यक्तिगत हितो की साधना के लिए सामूहिक रूप से काम करता रहा। ये हित थे सरकारी पदो पर इजारेदारी कायम कर आनफू सदस्यो की जेबें भरना। इसके लिए देश के बाहर से आमद के सूत्रो तक पहुँच जरूरी थी। यह सूत्र उन्हे जापान मे मिल गया, जहाँ कि पूँजीपति पीकिंग सरकार को एक ऋण देते जा रहे थे, या तो अनेक बहुमूल्य रिआयते पाने के वदले में विभिन्न सार्वजनिक सेवाओ की जमानत पर या बिना जमानत के ही। ये ऋण निशीहारा ऋण कहलाते थे और बाद मे वे चीन व जापान के बीच विवाद के कारण बने। इन ऋणो के कारण ही चीनी जनता आनफू-सरकार को जापान-समर्थक व देश को जापान के हाथ बेच देने वाली सरकार समझने लगी।

उत्तर में आनकू-नियत्रण सन् १९२० तक जारी रहा; अन्त मे मचूरिया के सैनिक-नेता चाग त्सो-लिन और पीयाग सैनिक गुट के फेग चाग कुओ के उत्तराधिकारी त्साओ कुन के सैनिको ने मिलकर आनफू-गुट को पीकिंग से खदेड़ दिया। यद्यपि त्साओ कुन की फौज के एक सेनापति जनरल वू पी-फू ने आनफू-गुट को पीकिंग से हटाया था, नये शासन का नियत्रण वह नही कर सके, क्योकि वह तो अपने नेता का आदेश भर पालन कर रहे थे। शीघ्र ही प्रकट हो गया कि पीकिंग में असली शक्ति चाग-त्सो-लिन में केन्द्रित है, त्साओ कुन मे नहीं। अतएव सन् १९२० से सन् १९२२ तक का समय चांग को सत्ता से हटाने के संघर्ष मे लग गया। अंत में मध्य यांग्त्सी प्रान्तो की शक्ति वाले जनरल वू पी-फू ने अपने सहयोगी जनरल फेंग यू-

हिसयाग की सहायता से चाग को वापस मचूरिया मे ढकेल दिया। किन्तु मचूरिया मे जापान के सदर्भ मे चाग की विशेष स्थिति होने के कारण तथा उसकी शक्ति के कारण वे चांग को हटाने के सिवा उसका और कुछ नही बिगाड सके। मचूरिया लौटते ही चाग ने मचूरिया को 'स्वाधीन' घोषित कर दिया। उस समय की चीनी राजनीति के सदर्भ मे इस स्वाधीनता का अर्थ यह नही था कि चाग एक नया राज्य स्थापित कर रहे थे; इसका केवल यह अर्थ था कि वह अपने ऊपर पीकिंग-सरकार की सत्ता तब तक स्वीकार करने से इनकार कर रहे थे, जब तक वह स्वय पीकिंग में थोडा बहुत नियत्रण न प्राप्त कर ले।

सन् १९२२ व सन् १९२४ के बीच, जब वू पी-फू के अनुयायी पीकिंग पर नियत्रण कर रहे थे, पीकिंग की वास्तविक शासन-सत्ता उस नगर की चहारदीवारी के बाहर नही के बराबर थी। मचूरिया मे चाग का शासन था और हर सैनिक नेता अपने-अपने जिले या प्रान्त पर शासन कर रहा था और बीच-बीच मे अपने पड़ोसी से लडता-भिडता भी रहता था, ताकि उसके क्षेत्र पर अपना प्रभुत्व जमा सके और ऊपरी सतह के भीतर लगातार चीन पर अधिकार जमाने के लिए 'अतिम' सघर्ष की तैयारियाँ चल रही थी। लगता था कि चीन एक अन्य "सशक्त व्यक्तित्व" की प्रतीक्षा मे था, जो सभी सैनिक नेताओ को केन्द्रीय शासन के अधीन ला सके। इन सब साजिशों व षड्यन्त्रो का फल यह हुआ कि 'ईसाई जनरल' फेग यू-ह्सियांग के फूट जाने से सन् १९२४ मे वू पी-फू को पीकिंग से निकाल दिया गया। उत्तर मे मंचूरिया से चाग के आक्रमण का सामना करने वू पीकिंग फेग के सिपुर्द करके सैन्य-सचालन के लिए गया हुआ था और तभी फेंग ने पीकिंग पर अपना अधिकार घोषित कर दिया, दूसरी ओर दक्षिण-पूर्व से बचे-खुचे आनफू-गुट ने हमला कर दिया था, जो कुछ भी शक्ति उनके पास थी, उससे डटकर सुन यात-सेन उनकी सहायता कर रहे थे। वू अपने मध्य याग्त्सी प्रान्तो को वापस लौट गया और चाग ने पीकिंग मे अपनी सरकार बना ली, तब तक सुन यात-सेन टीटसीन भी नही पहुँच पाये थे, जहाँ एक सम्मेलन करके वह अपनी इच्छा के अनुसार सरकार का गठन करने की सोच रहे थे। शीघ्र ही पीकिंग मे सुन की मृत्यु हो गयी। चाग जैसे-तैसे सन् १९२८ तक उत्तरी चीन मे अपना अधिकार जमाये रहे, जब राष्ट्रीय फौजो ने आकर उसे परास्त कर दिया। चांग का अधिकार पीकिंग में डाँवाडोल हो रहा था, क्योकि एक ओर उसे जनरल फेंग के हमले का सामना करना पड़ रहा था, जो जिस तरह जनरल वू से फूट गया था, उसी तरह चांग से भी फूट गया था और दूसरी ओर स्वयं जनरल वू हमला कर रहा था। इस प्रकार उसे लगातार उत्तर-पश्चिम और

मध्य याग्त्सी-क्षेत्रों से हमलों की आशका थी। सन् १९२५ मे फेंग ने एक बार तो चाग के मचूरिया-स्थित एक जनरल को फोड कर उसे पीकिंग से हटा भी दिया था, किन्तु चाग ने मचूरिया मे जापान की सहायता से फिर से अपना अधिकार जमा लिया, विद्रोह का दमन कर दिया और वू पी-फू की सहायता से फिर उत्तरी चीन मे घुस आया। किन्तु जब वू फेंग के विरुद्ध अतिम बड़े युद्ध की तैयारी कर ही रहा था, उसे सन् १९२६ मे दक्षिण की ओर मुड़ जाना पडा, जिधर राष्ट्रीय फौजे सैनिक नेताओ का राज खत्म करने के लिए उत्तर की ओर बढती हुई यांग्त्सी तक पहुँच गयी थी।

अभी तक उत्तरी चीन के फौजी नेताओ के सघर्ष का ही वर्णन किया गया है। दक्षिण के प्रान्तो मे भी इसी प्रकार की स्थिति चल रही थी। सन् १९१७ के बाद कुओमिनताग-प्रभुत्व मे ससद् अपने पैर शघाई व कैण्टन में जमा कर दक्षिणी प्रातो मे संसदीय शासन चलाते हुए उत्तर पर फिर अधिकार कर लेने का प्रयत्न कर रही थी। किन्तु दक्षिण की संसदीय सरकार की स्थिति पीकिंग-सरकार से अधिक अच्छी नही थी। उसकी अपनी शक्ति केवल वही थी, जो दक्षिण के फौजी नेता उसे दे रहे थे और इस प्रकार वह उन्ही की दया पर आश्रित थी। आनफू-क्लब की पराजय के बाद डाक्टर सुन यातसेन ने उसके कुछ सदस्यो से समझौता अवश्य कर लिया था, पर वह स्वतत्र रूप से न तो दक्षिण मे ही और न उत्तर मे स्थिति को सुधार पाये। बीच-बीच मे कैण्टन मे उनका नाममात्र का अधिकार हो जाता था, लेकिन तभी तक जब तक कि उनकी उपस्थिति से, उस समय सशक्त क्वागतुग या क्वागसी के सैनिक नेताओ को लाभ रहता था। इस प्रकार तुचून-काल मे दक्षिण के प्रातो मे भी केन्द्रीय सत्ता व नागरिक-शासन का वैसा ही ह्रास हो गया था, जैसा कि उत्तर मे। सन् १९१७ से १९२६ के बीच सगठित राजनीतिक इकाई के रूप में चीन का अस्तित्व समाप्त हो चुका था और प्रान्तीयता या क्षेत्रीयता ही भविष्य की शक्ति लग रही थी, जब डाक्टर सुन यात-सेन की मृत्यु के एक वर्ष बाद, सन् १९२६ मे पुनरुज्जीवित कुओमिनताग ने स्वय अपनी क्रातिकारी सेना बनाकर क्राति फिर शुरू की और राष्ट्रीय एकता का विचार फिर मजबूत होने लगा।

## बारहवाँ अध्याय

# चीन की प्रगति-आर्थिक और सामाजिक (१९००–१९३१)

## (१) राजनीतिक स्थिरता प्रगति के लिए पूर्ण पूर्व-आवश्यकता नहीं

पश्चिमी लोगो के लिए राजनीतिक स्थिरता भौतिक प्रगति की पूर्ण पूर्व-आवश्यकता है। वहाँ राज्य के आर्थिक जीवन से शासन निकटता से सबधित है। परिणाम स्वरूप उसे यह समझ पाना कठिन होता है कि चीन में राजनीतिक श्रम की परिस्थिति जो क्राति मे लगी थी, उसी प्रकार आर्थिक श्रम की स्थिति पैदा क्यो नही कर सकी। इसका जवाब जो बिलकुल सरल है, उसका सकेत दिया जा चुका है। यह इस तथ्य मे निहित है कि राज्य का आर्थिक जीवन शासकीय हस्तक्षेप या निदेशन अलग रहकर चलता आया है, साथ ही चीनी अर्थ-व्यवस्था के स्थानीय-करण का स्वरूप था। इन बातो मे परिवर्तन हाल का विकास है और १९३१ तक यह इतनी कम दूर तक गया है कि राजनीतिक अस्थिरता आर्थिक प्रगति होने से रोक नही सकती। लूट और समुद्री डकैतियों के साथ सत्ता द्वारा अपना हाथ ढीला करना और गृहयुद्ध के कारण सतत् श्रम की स्थिति ने निस्सन्देह देश के सामान्य आर्थिक विकास को मन्द कर दिया। यह विशेषकर इससे था, क्योकि गृहयुद्ध ने आवश्यक कार्य जानने के बाद ज्वलन्त आवश्यक विकासकारी कार्यो को सरकार द्वारा ले लेना कठिन कर दिया। परन्तु देश के आर्थिक जीवन मे परिवर्तन राजनीतिक अव्यवस्था के बावजूद हुए, जो कि एक सीमा तक आर्थिक सत्ता मे जैसा कि पश्चिमी राज्य बन गया है, असम्भव था। इस अवधि मे केवल गैर-राजनीतिक क्षेत्रो मे ही अर्थपूर्ण परिवर्तन हुए, जिनकी प्रशंसा की जानी चाहिए, यदि समकालीन चीन को समझना हो। जहाँ तक सभव है, उनका विचार स्थगित हो गया है, जिससे कि आधुनिक चीन के उत्कर्ष के सर्वेक्षण में उनको इस प्रश्न पर एकीकृत बर्ताव मिल सके। ये परिवर्तन इतने धीरे-धीरे हुए कि केवल महायुद्ध के बाद ही वे बहुत अधिक महत्त्व के होने लगे। परन्तु उनके अभिप्राय का अनुमान करने में हमे लगातार यह तथ्य ध्यान मे रखना चाहिए कि कई मामलो मे, १९३१ तक भी वे पूर्ण आदोलन के स्थान पर वास्तव मे केवल शुरूआत अथवा प्रवृत्ति बन पाए थे। यह दोनों उनकी रुचि को बढ़ा देती है और उनका उपयुक्त बर्ताव कठिन बना देती है।

## (२) विदेशी व्यापार

१९०० तक चीन की आर्थिक प्रगति के महत्त्व का संकेत, उसके आयात-निर्यात, व्यापार के प्रसार तथा आयात-निर्यात के स्वरूप मे परिवर्तन मे मिलता है।

यद्यपि व्यापार और वाणिज्य की संधियाँ चीन और पश्चिमी देशो के बीच १८४२ व १८४३ के वर्षो मे पूर्ण रीति से थी और इसके परिणामस्वरूप कुछ नियुक्त पोर्ट विदेशी व्यापार हेतु औपचारिक रूप से खोल दिये गये। परन्तु १९वी शताब्दी की अतिम दशाब्दी तक भी चीनियो ने स्वयं बाहर की दुनिया से आदान-प्रदान मे रुचि नही प्रदर्शित की। चीन की भौगोलिक पृथकता, इसका विशाल महाद्वीपीय आनुपातिक प्रसार, विश्व से स्वय को अलग रखने की प्रवृत्ति, समाज का आत्म-निर्भर का स्वभाव, जातीय एकरसता, उसकी सभ्यता की विशिष्टता और उसके आतरिक सवहनिक साधनो का अभाव सभी उसके विश्व से सम्पर्क के शीघ्रकारी विकास मे सब मिलकर विरोध मे थे।

इस प्रकार वास्तविक व्यापारिक रुचि स्पष्ट करने मे चीन को ५० वर्ष लग गए यद्यपि १९वी शताब्दी मे वहाँ व्यापार का क्रमिक प्रसार हुआ था। चूंकि सम्पर्क के स्थान बढ गए थे, अतः यह विकास लगभग अवश्यम्भावी था। १८४२ मे व्यापार हेतु ५ बदरगाह खोले गए। प्रत्येक विदेशी शक्ति द्वारा लगातार प्रभाव डालने से नये पोर्ट जो कि सधि के अतर्गत थे, विदेशियो व विदेशी व्यापार के लिए खोल दिये गये। कुछ समय बाद चीनी सरकार ने स्वयं अपनी इच्छा से कुछ बन्दरगाह खोले। १९३१ तक सधियो के अतर्गत खोले जाने वाले बन्दरगाहो की सख्या ६९ थी और ११ स्थान ऐसे थे, जो व्यापार व विदेशियो के रहने के लिए खुले थे। विदेशी रुचि के प्रोत्साहन के अतर्गत सम्पर्क के स्थानो के प्रसार से व्यापार भी स्वाभाविक रूप से बढा।[1]

१९०० के पश्चात्, चूंकि चीन ने अपने आपको आर्थिक पूर्णता से एवं स्वतंत्रता से विदेशी मेल-मिलाप से बाँध लिया था, विदेशी व्यापार अधिक तेजी से बढ़ा। १९०० से १९१० के बीच आयात का मूल्य २१ करोड़ दस लाख हाईकवान टेल से बढकर लगभग ४६ करोड़ ३० लाख हो गया। इसी अवधि मे निर्यात १५ करोड़ ९० लाख टेल से बढकर ३८ करोड़ १० लाख से कुछ अधिक पहुँच गया। क्रांति के प्रभाव और विशेषकर यूरोपियन महायुद्ध से आयात-व्यापार पर कुछ रोक लगी और १९१४ के बाद निर्यात-व्यापार बढने पर असर हुआ। परन्तु दोनो मामलो मे युद्ध के बाद के वर्षो मे जो कि चीन मे महान् राजनीतिक अव्यवस्था के वर्ष थे, व्यापार का तेजी से प्रसार हुआ। १९३० में तो कुल आयात १,३०९,७५५,

७४२ हाइकवान टेल के मूल्य का व निर्यात ४९८,८४३,५९४ टेल का हुआ।[२] इस प्रकार ३० वर्षो मे विदेशी व्यापार के मूल्य में ३५० प्रतिशत से अधिक की वृद्धि हुई। जहाँ इन मूल्यो में छूट दी जानी चाहिए, क्योंकि मूल्य स्तरो मे परिवर्तन हो गया था और वे पहले के है, जो कि उल्लिखित से कुछ कम होते है, जब विश्व-परिस्थिति को ध्यान मे रखकर हिसाब लगाया जाता है।

तथापि उनके मूल्य मे वृद्धि से कही अधिक अर्थपूर्ण है, आयात व निर्यात के स्वरूप में परिवर्तन। आयात पर यदि विचार किया जाय तो इसका विश्लेषण यह स्वीकार करने को बाध्य करता है, कि "पुरानी व्यवस्था—चीन द्वारा अफीम, कपास व अन्य फुटकर वस्तुओ का आयात—पूर्णतया साफ हो गया था, और यद्यपि चीन को पश्चिमी देशों को व्यापक खाद्यान्न-पूर्ति करनेवाला समझा जाता है, यह बड़े पैमाने पर आयात करनेवाला भी है।"[३]

अफीम ही ऐसी वस्तु थी, जिसने सर्वप्रथम व्यापार का सतुलन चीन के विरुद्ध कर दिया, यद्यपि इसका आयात १८५८ तक वैध नहीं था। १८८२ मे ३४ प्रतिशत आयात इसी वस्तु का था। १९०२ मे अन्य वस्तुओ का आयात इतना बढ गया कि कुल आयात का केवल ११ प्रतिशत अफीम था। १९०६ मे सुधार कार्यक्रम के अग के रूप मे चीन दवाओ के प्रति अपने पुराने रुख पर लौटा और शासन ने आदेश दे दिया कि १९१७ तक अफीम के धूम्रपान का अत कर दिया जाय। उसी समय इगलैण्ड के साथ इसका भारत से आयात कम करने के लिए समझौते का प्रयास किया गया। इसका परिणाम भारत सरकार से एक समझौते मे हुआ जिसके द्वारा तीन वर्षों के लिए भारत से चीन को होने वाला निर्यात प्रतिवर्ष १० प्रतिशत घटाना था (१९०८–१९११)।[४] ८ मई, १९११ को नया समझौता हुआ, जिसमे "१९१७ तक भारत से चीन को अफीम निर्यात और चीन मे अफीम के उत्पादन का पूर्ण अत करने का प्रविधान था।" इसमे यह भी प्रविधान था कि इस बीच भारतीय अफीम को "चीन के किसी प्रदेश मे आने से रोक दिया जाय" जिससे चीन प्रमाण द्वारा स्पष्ट रूप से यह स्थापित कर सके कि उसने अफीम की खेती व स्वदेश मे उत्पन्न अफीम के निर्यात को प्रभावपूर्वक रोक दिया है।"[५]

दुर्भाग्य से १९१५ के बाद की कहानी भिन्न है। जैसे एक के बाद दूसरे प्रदेश मे सैनिक सत्ता स्थापित हुई और पीकिंग की सत्ता गिरने लगी पुनः इसकी खेती आरम्भ हो गयी। १९२३ तक केवल वही प्रदेश इस खेती से अलग थे, जो इस प्रकार बसे थे कि उनके लिए स्वयं पूर्ति करने के बजाय पड़ोसी प्रदेशों के आयात पर निर्भर रहना अधिक लाभदायक था। इसके लिए सेना को जिम्मेदार ठहराना चाहिए, क्योंकि

तुचून के एक सैनिक राज्यपाल ने खेती के लिए बाध्य किया और अन्य में आय के साधन बढाने के लिए उसे प्रोत्साहित किया। इसमे उल्लेखनीय अपवाद था शंशी, जहाँ राज्यपाल येन सि-शान के अतर्गत अफीम की खेती और उसके धूम्रपान को दबाने के लिए एक सफल सक्रिय अभियान चलाया गया सिर्फ पड़ोसी प्रातो की स्थिति ने पूर्ण नियत्रण मे रुकावट डाली। अन्यत्र अफीम का धूम्रपान खुले रूप मे चलता रहा, अधिकारी इससे तथा खेती से खूब लाभ कमा रहे थे। १९२४–२५ मे पहले के अत्यधिक उत्पादन से खेती मे कुछ गिरावट आयी न कि अधिकारियों का रुख बदलने से। इस प्रकार चीन काफी मात्रा मे विश्व मे अफीम का सबसे बड़ा उत्पादक बन गया। जहाँ भारत मे १९२४ मे २० लाख पौड का उत्पादन हुआ चीन ने २५० लाख पौड पैदा किया। इसका अर्थ था कि खपत रोकने को उत्पादन घटाने के लिए इग्लैण्ड की अपेक्षा स्वयं चीन पर ही दबाव रखना चाहिए था।

इस सम्बन्ध मे चीनियो द्वारा अन्य निद्राकारक औषधियाँ, जैसे अफीम का सत्व (मारफिया) का बढता हुआ उपयोग भी उल्लेखनीय है। यहाँ पूर्ति विदेश से होती थी और चूँकि इसका तस्कर-व्यापार होता था, इसका प्रमाण और स्रोत का अनुमान लगाना कठिन है। कस्टम-अधिकारियो द्वारा जो ऐसी जब्तियाँ होती थी, उससे सकेत मिलता था कि तस्कर-व्यापार अधिकतर जापानी और जर्मन करते थे। यह मुख्यतः बन्दरगाहो के जरिए और शघाई से होकर उपयोग के लिए मुक्त भूभाग पर आता था। इसके सस्ते होने और उपयोग की सरलता से निर्धन-वर्ग मे अफीम के पाइप का स्थान लेने मे मारफिन गोलियो ने अच्छी सफलता पायी।

विदेशी व्यापार के सामान्य प्रश्न पर पुन. आकर हम देखते है, कि १९०२ मे कपास का माल व अन्य फुटकर वस्तुओं का आयात ७२ प्रतिशत था और खाद्यान्न वस्तुओ, केरोसिन और धातुओ का १७ प्रतिशत। १९१० मे कुल आयात का २६ प्रतिशत कपास का सूत व कपास का माल, चावल ७ प्रतिशत, धातुएँ व मशीनरी आठ प्रतिशत, केरोसिन ५ प्रतिशत, शक्कर साढ़े चार प्रतिशत, रेलवे सामग्री ३ प्रतिशत, नौसेना सामग्री २ प्रतिशत, सिगरेट व तम्बाकू २ प्रतिशत, कोयला २ प्रतिशत, रंग डेढ प्रतिशत, माचिस १ प्रतिशत, ऊनी माल १ प्रतिशत तथा विभिन्न प्रकार का अन्य माल तीस प्रतिशत। कच्चा कपास जिसका आयात १९१० मे कुल डेढ़ प्रतिशत था वह १९३० में बढकर १० प्रतिशत हो गया। इसका मतलब था मूल्य मे ४५ लाख हाइकवान टेल से बढकर १३ करोड २२ लाख ६६ हजार टेल। सूती माल का आयात १९३० मे मूल्य मे बढ़ गया परन्तु १९१० के १३ प्रतिशत की तुलना मे यह कुल आयात व्यापार का केवल १०.७ प्रतिशत ही था। और सूत का व्यापार मूल्य और अनुपात दोनो मे काफी गिर गया था।[१]

आयात-व्यापार का अधिक विस्तृत विश्लेषण किए बिना हम यह ठीक तरह कह सकते है कि यह विदेशी माल की लगातार बढ रही माँग को प्रकट करता था तथा यह माँग के स्वरूप में बहुत रोचक परिवर्तन दिखाता था। आयात होनेवाली मशीनरी ९० लाख से बढकर ७८० लाख के मूल्य की हो गयी थी और कुल आयात २ से बढ़कर ६ प्रतिशत हो गया था। इसने आतरिक उत्पादन हाथ से वदल कर मशीन से करने की ओर सकेत किया। दूसरे शब्दो मे इसका अर्थ था कि चीन मे औद्योगिक क्राति पहुँच गयी थी। कच्चे कपास के आयात मे वृद्धि और मूल्य और अनुपात की दृष्टि से सूत के आयात मे गिरावट ने भी इसी परिवर्तन को प्रकट किया। चीन ने अपनी स्वय की सूती माल की आवश्यकताओ की पूर्ति के लिए उत्पादन आरम्भ कर दिया था। यह निष्कर्ष देश में लायी जाने वाली सूती माल की बढ़ती कीमत से गलत नही ठहराया जाता, क्योकि चीनी अपनी बढती आवश्यकता की पूर्ति करने मे अभी समर्थ नही थे, और न ही सूतकताई की तरह बुनाई इतने व्यापक रूप से आधुनिक तरीको से हाथ मे ली गयी थी। चूँकि इस प्रश्न पर हमे दूसरे सम्बन्ध से फिर लौटना है, अत अभी अतिम निष्कर्ष निकालना हम यही स्थगित करे।

आयात होने वाली दूसरी वस्तु केरोसिन का जिक्र करते हुए यह उल्लेखनीय है, कि इसने लोगों के लिए, जहाँ बिजली आरम्भ नही हुई थी वहाँ रात्रि मे अच्छे प्रकाश का प्रबन्ध करके लोगो के जीवन में असर डालने वाले महत्त्वपूर्ण परिवर्तन का प्रतिनिधित्व किया। प्रथम महायुद्ध के दौरान, चीन के वनस्पति-तेल के नये बाजार का विस्तार केरोसिन की बढती माँग के आशिक रूप से जिम्मेदार था, जैसा कि महायुद्धीय व्यापार के कारण वृद्धिगत धन भी था, जिसने प्रकाश के काम के लिए वनस्पति तेलो का स्थान केरासिन द्वारा व्यापक रूप से लिया जाना सम्भव कर दिया। किंतु परिवर्तन के जो भी कारण हो घरो मे प्रकाश करने के तरीको में सुधार का नये चीन के विकास में बहुत महत्त्व है। माचिस के आयात करने मे भी उसी प्रकार जीवन का आधुनिकीकरण प्रकट हुआ है। १९२३ तक माचिस के आयात का मूल्य घट गया, परन्तु इसका कारण माँग की कमी होने के बजाय चीन द्वारा बढ़ती माँगो की तुलना में स्वयं अपनी आवश्यकता की पूर्ति करना ही है। लोगो के जीवन में अन्य परिवर्तन कागज के आयात मे चार गुना वृद्धि में जो कि अधिकतर समाचार पत्रों की संख्या मे वृद्धि के कारण था, मोटरकारो के आरम्भ मे, और फोटोग्राफी की छपाई की व लिथो की सामग्रियो, टेलीफोन और तार तथा वैज्ञानिक उपकरणों के आयात मे दिखायी दिये। ये तथा अन्य आयातकरण का अर्थ था कि चीनी भौतिक दृष्टिकोण से अपने रहन-सहन का तरीका धीरे-धीरे बदलना आरम्भ कर रहे थे।

इसी तरीके से व्यापार का विश्लेषण व्यापक रूप से सामग्रियो के निर्यात को भी प्रकट करता है। शायद सबसे अधिक उल्लेखनीय परिवर्तन था चाय के निर्यात मे अपेक्षाकृत गिरावट, जिसका निर्यात व्यापार १८८२ मे ४८ प्रतिशत, १९०२ मे दस प्रतिशत और १९३० मे तीन प्रतिशत से भी कम था। इसका कारण यह बताया जा सकता है, कि विदेश मे चीन के बाजार पर जापानी तथा भारतीय चाय का प्रवेश, चीनियों की अपने उत्पादन मे सुधार करने मे असफलता तथा १९१७ के बाद एक समय रूस की परिस्थितियो के कारण रूस की माँग मे अस्थायी गिरावट आयी। सिल्क ने, जो निर्यात की दूसरी बड़ी सामग्री थी, भी सपूर्ण व्यापार की तुलना मे अपेक्षाकृत गिरावट दिखायी, यद्यपि यह चाय के निर्यात मे गिरावट की तुलना मे भी कुछ नही था। दूसरी रोचक प्रगति थी सोयाबीन, बीन केक व बीन-तेल का निर्यात जो कि १९०० मे नगण्य था, १९१० में कुल निर्यात का ८ प्रतिशत था और १९३० मे बढकर कुल निर्यात २०.७ प्रतिशत होकर बहुत बड़ा निर्यातक हो गया। मूल्य मे यह १८ करोड़ ५० लाख टेल होता था। सोयाबीन का व्यापार में अपनी वर्तमान स्थिति तक उठना, जापानी दक्षिणी मचूरियन रेलवे की प्रेरणा के अतर्गत मचूरिया के विकास और बन्दोबस्त के समानान्तर हो गया।

चीन की विशिष्ट उत्पादित वस्तुओं, जैसे रेशमी सामग्रियो, गलीचे, कसीदाकारी व गोटा-किनारी या फीते, बालो की जालियाँ तथा कुछ अन्य वस्तुओं को छोड़कर निर्यात अधिकाशत: पूर्णतया कच्चे माल और खाद्यान्न का था और तिस पर भी हमें निर्यात की सूची मे अडे से बनी वस्तुएँ जो कि नई व बढ़ती हुई औद्योगिक सामग्री थी, नानकिन और सूत भी दिखता है। ये निश्चित रूप से छोटे सकेत थे कि चीन संभवत: शीघ्र ही पश्चिमी राज्यो और जापान से उनके स्वय के बाजारो में होड़ करता मिलेगा। चीन के निर्यात की विभिन्नता में वृद्धि इस तथ्य से प्रकट हो गयी थी कि १९१० मे चीन से निर्यात की सूची मे ३३ उत्पादित वस्तुएँ ही शामिल करना पर्याप्त था जब कि १९३० में ५० से अधिक पृथक् प्रकार की वस्तुएँ थी जो कि प्रत्येक १० लाख टेल से अधिक मूल्य की निर्यात होती थी।

यह सचमुच में स्वीकार किया जाना चाहिए कि केवल विदेश-व्यापार ने चीनी अर्थव्यवस्था मे अपेक्षाकृत छोटा योगदान दिया। परन्तु वर्तमान शताब्दी की प्रथम दशाब्दियो के दौरान चीन मे उसके लिए और हो रहे परिवर्तनो के वह जो सकेत देता है, उस कारण यह बहुत विचारणीय है।

## (३) कृषि-जीवन में परिवर्तन

ये परिवर्तन आतरिक उत्पादनकारी विधियों और आंतरिक व्यापार के परीक्षण द्वारा और भी अधिक अच्छी तरह नापे जा सकते है। जहाँ तक व्यापार का प्रश्न है,

आलोच्य अवधि मे उसका विस्तार दर्शानेवाले विश्वसनीय और विस्तृत आँकड़े प्रस्तुत करना असम्भव है। परन्तु जहाँ जलमार्ग से चीनी जलपोत और फैली तलीवाली नाव से, जो मनुष्य-शक्ति से खीची और ढकेली जाती है, माल का ले जाना होता है और जमीन पर ऊँट, गधा, गाडी या हाथीगाडी से ले जाया जाना है, यह स्पष्ट है, कि स्थानीय आधार से अधिक व्यापार बहुत सीमित होगा। समुद्री किनारो के पास तथा जहाज चलने योग्य बड़ी नदियो मे भाप से चलनेवाले जलपोतो के उपयोग के साथ ही सडको के व रेलवे के निर्माण ने निश्चित रूप से आतरिक व्यापार बहुत विस्तृत किया, वास्तव मे विस्तार सीमित था, जिस सीमा तक कि ये नवीनीकरण किये गये थे। परन्तु जो छोटी शुरूआत हुई, वह आर्थिक प्रान्तीयतावाद व स्थानीय-वाद को समाप्त करने और राष्ट्रीय बाजार का निर्माण करने के लिए उद्यत थी। इस प्रकार यह निष्कर्ष निकालना सही है, कि १९०० के बाद आतरिक व्यापार विदेशी व्यापार की अपेक्षा अधिक व्यापक रूप से बढा था।

१८४२ की तरह १९३१ मे चीन मे कृषि-जनसख्या सबसे बड़ा व्यावसायिक समूह था। ऊपरी तौर पर खेती मे सलग्न ग्रामीण जनता पश्चिम के सम्पर्क द्वारा अपने जीवन और आर्थिक गतिविधियो मे बहुत कम प्रभावित हुई थी। यह स्वभावत. इस कारण से ही कि चूँकि वे ऐसे स्थानो मे रहते थे, जहाँ विदेशियो से उनका बहुत कम सम्पर्क आता था और वे नयी धाराओ से आम तौर पर बिलकुल अलग थे। भीतरी ग्रामो में खेत उसी प्रकार तैयार किये जाते थे, जैसे कि पीढ़ियो पूर्व किए जाते थे। प्रारम्भिक हल जो शायद गधे और बैलो द्वारा सयुक्त रूप से खीचा जाता था, का उपयोग होता था और फसल काटने व साफ करने की पुरानी प्रारम्भिक विधियाँ ही उपयोग में लायी जाती थी। पश्चिम की खेती के उपकरण और मशी-नरी या तो अस्वीकृत कर दिये गये थे या उनके विषय में उन्होंने सुना तक नही था। श्रम की बचत के उद्देश्य के लिए मशीनो का प्रयोग बहुत कम आरम्भ हुआ था।

जब यह मामला था कुछ समय के लिए रहा होगा परिवर्तन के लिए अज्ञानता अथवा अनिच्छा के अलावा इसके अन्य भी कुछ कारण है। पहले स्थान पर, तो खेती की मशीनरी जो अमेरिका में बहुत अधिक विकसित थी, चीनी कृषि की आवश्यकता के अनुकूल नही होती। यह सब विस्तृत खेती के लिए मानवीय श्रम के कम-से-कम उपयोग की दृष्टि से तैयार किया गया है। जहाँ व्यक्तिगत भूमि के पट्टे छोटे और बिखरे हुए हैं, जैसे कि चीन में है, ट्रैक्टर सामूहिक हल वहाँ तुरन्त काम में नहीं आ सकते और वे व्यक्तिगत किसान के लिए अलाभकर है। वे तभी सफल-तापूर्वक आरम्भ किये जा सकते हैं, जब एक समझौते द्वारा खेती की सीमा-रेखा को

जोतने के समय न ही माने। चीनी किसान, जो कि व्यक्तिवादी था, केवल तभी धीरे-धीरे इसलिए राजी हो सकता है, जबकि उसे शुद्ध लाभ दिखाया जा सके जो कि इससे प्राप्त होगा। दूसरे स्थान पर पश्चिमी उपकरण और मशीनें इतनी खर्चीली थी कि किसान यह सोचकर भी कि अतत. ये मशीनें उसके लिए लाभकारी होगी, उन्हे खरीदने का साहस नही कर सकता था। जिस प्रधान लाभ के लिए उनका आग्रह किया जाता था, वह था कि वे श्रम का स्थान लेती हे और एक आदमी को कई काम करने की योग्यता देती है। परन्तु चीन मे यह कोई लाभ नही था, क्योंकि वहाँ श्रमिक प्रचुर मात्रा मे मिलते थे। जब तक कृषि के लिए प्राप्त जनशक्ति घटती नही श्रम की बचत वाले कृषि-उपाय बहुत कम जँचते थे। इसके विपरीत वे विरोध खड़ा करते थे, क्योकि उनका अर्थ था विस्थापित लोगो का भूखो मरना। यदि उद्योग खेती से काफी लोगो को खीच ले, या विदेशो को अथवा मचूरिया व मगोलिया को भारी तादाद मे लोग चले जाये या दोनो सम्मिलित रूप से कार्य करे, तभी पश्चिमी कृषि-उपकरण स्वीकार हो सकते है। यदि यह दिखाया जा सके कि चीनी परिस्थितियों मे वे किस प्रकार प्रभावकारी ढग से उपयोग किये जा सकते है और यदि किसान उनकी खरीद के हेतु राशि लगा सके।

परन्तु जहाँ उपकरणो के प्रयोग मे बहुत कम परिवर्तन हुआ, कृषि-अर्थ-व्यवस्था मे अत्यत सारगर्भित परिवर्तन हुए। पहले स्थान पर तो सचार मे सुधार का किसानो की आबादी पर असर हुआ। पहली बार उत्पादन शुद्धत उपयोग हेतु स्थानीय विनिमय की अपेक्षा मुख्यत. बिक्री के लिए उत्पादन करना, सभव होने लगा। यह परिवर्तन पूरी तरह अनुभव हो सकता था और इसके परिणाम प्रकट रूप मे दिख सकते थे, यदि केवल आधुनिक यातायात-व्यवस्था पूर्ण हो जाती। परन्तु १९३१ तक यह जहाँ तक पहुँचा, इसका परिणाम कृषि-विशेषीकरण की शुरुआत मे हुआ। किसान द्वारा सीधे अपनी व परिवार की बड़ी आवश्यकताओ की पूर्ति का प्रयास करने के स्थान पर, जो कि अलाभकारी होना ही था, वह क्षेत्र की मिट्टी और जलवायु के अनुकूल सबसे अच्छी फसल पैदा कर सकता था और उसे बढ़ते हुए बाजार मे बेच सकता था और अपनी फसल की बिक्री से प्राप्त आय से अपनी आवश्यकता की वस्तुएँ खरीद कर उनकी पूर्ति कर सकता था। इस प्रकार हाल के विकास और अन्य देशो के अनुभवो के आधार पर भी कोई भी चीन के अलाभ-कारी या अपेक्षाकृत स्वावलबी परिवार या ग्राम का अत देख सकता था। बाद मे यह सकेत मिला कि कारखाना कपड़े और जूते गृह-श्रम से अधिक सस्ता पैदा कर सकता है।

तथापि इसका अर्थ यह नही लगाना चाहिए कि १९ वी शताब्दी में चीन मे वस्तुओ का विनियम नही था अथवा परिवार और ग्राम स्वावलम्वी थे। उदाहरणार्थ, किसान अपने सब उपकरण नही बनाता था और न ही वह अपनी भलाई के लिए आवश्यक प्रत्येक वस्तु का निर्माण करता था। बाजारी शहरो का अस्तित्व और शहर मे कारीगर-वर्ग विकास तथा हस्तकला उद्योगो के विशिष्ट उत्पादन का माप इस बात को इगित करता है, कि वहाँ वस्तुओ का परस्पर विनियम होता था। इसमें अधिकाश स्थानीय स्तर पर होता था, परन्तु कुछ विनियम अपेक्षाकृत क्षेत्र मे होता था। ऊपर उल्लिखित फेर-बदल इसको बढाने की दिशा की ओर तथा उसके विशेषीकरण की ओर इगित करता है, इस हद तक कि किसान अपनी आवश्यकताओ की संतुष्टि के लिए अतत' शहरों पर निर्भर हो जाये। यह उसे बाजार के लिए उत्पादन को दूसरा स्थान देने की अपेक्षा इसका परिणाम उसे प्राथमिक स्थान देने को बाध्य करने मे होगा, जबकि पहले उत्पादन प्रमुखत उपयोग के लिए होता था।

फसल की बढती खेती ने जो कि अपेक्षाकृत विस्तृत बाजार मे खोली जानी चाहिए, कृषि प्रधान चीन मे इस परिवर्तन का दूसरा सकेत प्रदान किया। उदाहरणार्थ, मंचूरिया की प्रधान फसल सोयाबीन हो गयी थी। दो सबसे विस्तृत क्षेत्र चिहली और कियागसू प्रदेशों मे और शासी व अन्यत्र छोटे पैमाने पर कपास इस परिमाण में पैदा किया जाता था, कि चीन विश्व में तीसरा सबसे बडा उत्पादक बन गया था। फिर तम्बाकू प्रायः सभी प्रान्तो मे बाजार के योग्य प्रमाण मे पैदा की जाती थी इसमे से कुछ निस्सदेह स्थानीय और घरू खपत के लिए पैदा होती थी परन्तु अधिकाधिक आम घरेलू बाजार के लिए होती थी, जबसे सिगार और सिगरेट महत्त्वपूर्ण गृहोद्योग बन गया था। सैनिक शासन के काल मे अफीम की अधिक खेती का पहले उल्लेख हो चुका है, यह मान्य किया जाना चाहिए कि अफीम किसान के उपयोग की अपेक्षा बाजार के लिए उत्पादित किया जाता था। और भी उदाहरण दिये जा सकते है, परन्तु प्रवृत्ति का सकेत करने के लिए काफी कहा जा चुका है। यह स्पष्ट है कि किसान, जो स्वयं प्रधान फसल, जैसे तम्बाकू अथवा कपास के उत्पादन में लग जाता है, अपने खाद्यान्नो के लिए दूसरो पर निर्भर होता है और परिणामस्वरूप अन्य लोगो को उनकी फसल के लिए व्यापक बाजार मिलता है। इस प्रकार विशेषीकरण का आन्दोलन एक कदम आगे ले जाया गया। आम आन्दोलन खाद्यसामग्री के आयात की ओर भी ले जा सकता है यदि खाद्यान्न उत्पादन करने वाले क्षेत्रो को सीमित करने के लिए प्रधान फसल की खेती पर्याप्त व्यापक रूप से की जाती

है। इस प्रकार कपास, कच्चा माल या उससे उत्पादन की हुई वस्तुएँ निर्यात होने वाली वस्तुओ की सूची मे आने लगी और चावल व खाद्यान्न बढते हुए आयात की सूची मे। जैसा कि बाद मे उल्लेख किया जायेगा,[७] खेती के इस परिवर्तन को पैदा करने में घरेलू उद्योग बहुत ठोस आधार था।

इन तीन शताब्दियो मे कच्चे माल के सुधार का सजग आन्दोलन भी दिखायी दिया। प्रत्यक्ष व अप्रत्यक्ष रूप से सुधार के सरकारी स्कूलों के जरिये प्रयत्नो के लिए सरकार आशिक रूप से जिम्मेदार थी। इसके अलावे गैरसरकारी प्रयास, दोनो-व्यक्तिगत और सामूहिक--उसी दिशा मे किये गये।

यह प्रदर्शित हो चुका है, कि चीन अच्छे प्रकार का व लम्बे रेशेवाला अमेरिकी कपास पैदा कर सकता है। यह भी प्रदर्शित किया जा चुका है, कि स्वदेशी कपास जो कि छोटे रेशे का है....चयन की विधि से भी बहुत अधिक सुधारा जा सकता है। कपास-उद्योग मे रुचि लेनेवाले चीनी कच्चे माल की मात्रा तथा प्रकार मे सुधार करने के लिए कदम उठा रहे है और इस रुचि को कायम रखने के लिए नानकिंग-विश्वविद्यालय के कृषि-विभाग से मिलकर काम करने के लिए एक अमेरिकी कपास-विशेषज्ञ का प्रबध किया गया है।[८]

रेशम के कीड़ो को निकालने तथा उनकी अधिक वैज्ञानिक चिन्ता रखने तथा विदेशी तीव्रगामी करघो की आवश्यकता के अनुरूप अच्छे प्रकार का उपयुक्त कच्चा रेशम तैयार करने के कदम उठाये गये। यदि रेशम के व्यापार मे चीन को अपने प्रभुत्व को पुनः प्राप्त करना है, तो ये प्रयास जारी रहना चाहिए। यही बात चाय पैदा करनेवालो के लिए भी सही है। चीनी लोग विदेशी बाजार की आवश्यकताओ के अध्ययन की शुरुआत कर रहे थे और परिणामस्वरूप खेती का सुधार करने व चयन व क्रमबधन का सतर्कता से करने का प्रयास कर रहे थे।

उन उत्पादन-क्षेत्रो मे ही, जो कि उद्योग अथवा विदेशी व्यापार से सम्बन्धित थे, चीनी उनके सुधार की ओर जम कर प्रयास कर रहे थे। परन्तु अन्य क्षेत्रो मे परिवर्तन के सकेत थे, जो जैसे समय बीतता है अधिक दिखायी देगे। कुछ स्कूलो और कालेजो के कृषि-विभागो ने उन उत्पादनो की खोज करने के लिए प्रयोग किया, जो लाभदायक रूप से आरम्भ की जा सकें। यह भी खोजा गया कि चीनी किसान अपनी फसल का सबसे खराब हिस्सा बीज के लिए बचाता था और उसे इस विचार से परिचित कराया गया कि इसके स्थान पर उसे भविष्य में बोने के लिए फसल के उत्तम हिस्से को सरक्षित रखना चाहिए। इससे बीजो के उत्पादन में विशेषीकरण की ओर यह छोटा कदम होगा। जहाँ भी यह किया गया है, निस्सन्देह यह उत्पादन

बढ़ायेगा और अन्तत. किसान की स्थिति को सुधारेगा। फसल का वैज्ञानिक तरीके से बदल-बदल कर बोने का अनुरोध भी किया जा रहा था, जिससे लागत और खाद देने के श्रम को कम करने मे सहायता होगी। यह बात अर्थरहित नही है, कि १९१० मे बाहर से आयात होने वाले कृत्रिम खाद की मात्रा नगण्य थी, जब कि १९२३ मे यह आयात ४० लाख हाइकवान टेल मूल्य का हो गया, जिसका स्थान आयात की सूची मे चौबीसवॉ था।

गभीरता से यह तर्क नही दिया जा सकता कि चीनी किसान का जीवन-स्तर उल्लेखनीय उन्नत हो गया था। कुछ हिस्सो मे सूखा पडने व बाढ के और उसके फलस्वरूप अकाल की स्थिति के कारण, जो कि १९२१ के भीषण अकाल मे बहुत उच्चतम सीमा पर पहुँच गयी थी, जीवन की परिस्थितियॉ स्पष्टत' हमेशा से बदतर हो गयी। परन्तु सामान्य स्थिति आ जाने पर ऐसे सकेत थे, कि जीवन-स्तर कुछ ऊँचा हो गया था। यह सकेत मिला तम्बाकू की खपत मे बहुत वृद्धि और आराम-देह वस्तुओ के आयात मे, कृत्रिम खाद के उपयोग मे, रेलवे मे तीसरी श्रेणी मे सफर के प्रमाण मे और अन्य कई तरीको मे वृद्धि मे। तथापि जहॉ आम जनता का सम्बध था, यह इतना कम था, कि उल्लेख करने के अलावे और कुछ बात नही है। बहुत से हिस्सो मे विशेषकर वे जो सूखा व बाढ से प्रभावित हुए—उदाहरणार्थ, चिहली प्रात—बहुमत किसान न केवल गरीब ही रहा वरन् निर्धनता-रेखा से भी वह नीचे की स्थिति मे रहता था।[९]

ग्रामीण जीवन का दूसरा पहलू जो विचार करने योग्य है, वह है ग्रामीण उद्योग। विशेषकर कताई और बुनाई लम्बे समय से ग्रामीण अर्थव्यवस्था का अंग रहे थे। जीवन के लिए यह आवश्यक था कि गृहस्थी के सभी सदस्य उसके निर्वहन के लिए कुछ योगदान देते। और अपर्याप्त सचार साधनो के कारण ग्रामीणो को हर संभव चीज अपने लिए पैदा करनी पड़ती थी। चूँकि ग्राम के प्राय. सभी व्यक्ति किसान थे, प्रत्येक गृहस्थी एक औद्योगिक सस्थान भी था, ठीक उसी प्रकार जैसे कि अमेरिकन सीमान्त समाज मे था। पहनने के लिए कपड़े या तो उसी क्षेत्र मे कृषि-कार्यो के हिस्से के रूप में पैदा किये जाते थे या विनिमय से प्राप्त किये जाते थे। परन्तु दोनो मामलो में वे हमेशा घर के श्रम द्वारा ही बदले जाते थे, विशेषकर महिलाओ व बच्चो के। इसके अलावे जहाँ सम्भव था विनिमय अथवा बिक्री के लिए उत्पादन द्वारा परिवार की आय बढ़ाने का प्रयत्न किया जाता था। व्यापारिक केन्द्रो के बाहर उद्योग, केवल सीमित विशेषीकृत उत्पादन को छोड़कर देश के असख्य ग्रामो में व्यापक रूप से फैल गया था।

कारखाना-पद्धति के साथ मशीन-अर्थव्यवस्था की प्रस्थापना के प्रति बढने के बावजूद यह बात सही रही। परन्तु यहाँ भी परिवर्तन अनुभव किया जा सकता था। उदाहरण के लिए चिहली और कियागसू के कपास-उत्पादक क्षेत्रो मे गृह-उद्योग चलते रहे परन्तु काम देनेवाला या छोटा पूँजीपति स्वय अधिकाधिक प्रभुत्व का व्यक्ति बना रहा था। किसान को कच्चा कपास या सूत की पूर्ति करने के अलावे कभी-कभी वह यत्रो जैसे तकुओ और करघो की व्यवस्था भी करता था। फिर वह सूत या कपडा एकत्र करके उसे बाजार भेजता था। ग्रामीण परिवार केवल काम करने की एवज मे राशि पाता था। अन्य मामलो मे तकुए व करघे प्राय. बहुत प्रारम्भ के वन घरेलू प्रकार के होते थे, वे परिवार के ही होते थे और व्यापारी माल की पूर्ति करता था और उत्पादन को बाजार मे भेजता था। नये प्रकार की मशीनें जो पुरानी से अधिक जटिल थी, पर प्रतिश्रम-ईकाई से अधिक पैदा करनेवाली होती थी, कुछ क्षेत्रो मे आरम्भ की जा रही थी, परन्तु केवल क्रमश जहाँ वे घरो मे उपयोग मे आती थी। विकसित मशीनें बहुधा व्यापारी के निरीक्षण में अर्ध-कारखाना-पद्धति मे चलायी जाती थी। यहाँ सूती वस्त्रोद्योग में पुरानी से नयी व्यवस्था के बीच सक्रमण की स्थिति दिखायी थी। यही परिवर्तन रेशम की कताई व बुनाई मे, कागज तैयार करने मे और घरेलू उद्योगो मे चल रहा था।

यह दर्शाते हुए कि सूती वस्त्रोद्योग के बाहर ग्रामीण उद्योग को क्या हो रहा है, हम चिएनान के कागज-उद्योग का उल्लेख कर सकते है। शहर के पास नाले के पानी की अनुकूलता व चूने की पूर्ति की व्यवस्था के कारण आसपास के ग्रामो मे लम्बे समय से कागज बनाया जाता था। पुराने समय का कागज का कारखाना ७ व्यक्तियो का होता था। इनमे से ५ व्यक्ति कच्चा माल तैयार करते (कागज शहतूत से बनाया जाता है) व कागज सुखाते है, एक कागज तैयार करता है और प्रमुख व्यक्ति अतिम रूप देता या चिकना बनाता है। कारखाने के मालिक के बहुधा एक से अधिक ऐसे कारखाने होते है। वह किताबें रखता है और उसके बाजार को देखता है, इसके अलावे पूँजी की पूर्ति करता है........।

इन छोटे पूँजीपतियो मे एक साहसी व्यक्ति सिद्ध हुआ। १९१४ मे वह कोरिया व जापान में कागज बनाने के तरीके का अध्ययन करने हेतु गया और १९१६ में "कोरियन पेपर मिल" शुरू कर दी। यह इतना सफल हुआ कि दूसरे वर्ष उसने दूसरा कारखाना आरम्भ कर दिया और १९१९ में काफी विस्तृत मशीनें खरीद ली। इस समय तक दूसरे भी रुचि लेने लगे थे और कई मिले आरम्भ हो गयी थी। ये दो प्रकार की हैं, छोटी जिसमें प्रत्येक मे ३० व्यक्ति काम करते है तथा उससे बड़ी जिसमें

५० से अधिक कर्मचारी होते है। बड़े कारखाने जल-विद्युत् का प्रयोग करते हे और उनका उत्पादन छोटे से दस गुना अधिक होता है। १९२० मे ये कोरियन मिले ४ थी। वे बहुधा हिस्सेदारो के एक गुट की होती है। १९२० वर्ष बहुत सफल वर्ष था और उन्होने २०० प्रतिशत लाभ अर्जित किया। इससे अधिक प्रसार हुआ, १९२१ मे ३१ मिले काम कर रही थी। अधिक उत्पादन से कीमते बहुत नीचे गिर गयी (३२ स्टर्लिंग से ९.५० स्टर्लिंग) और उसके बाद वाले वर्ष मे केवल २० मिले काम करती रही।[१०]

यहाँ हमे एक उद्योग को, जो गृहस्थी से सम्बद्ध रहा है, कारखाने के आधार पर रखने मे पहले कदम का उदाहरण मिलता है। किसी भी प्रकार के घरेलू उद्योग के मामले मे इसमे किसान तथा उसके परिवार का समय लग जाता था, विशेषकर शीतकाल व वसन्त के प्रारम्भ में और इसने कृषि कार्य के सहायक का काम किया। जैसे मशीनरी आरम्भ होती है और उसके साथ कारखाना-पद्धति आती है, उद्योग को कृषि का आनुषगिक नही माना जा सकता, परन्तु उसे अपनी स्वयं की श्रम-पूर्ति के लिए भरती करनी पडती है। चीन मे अन्यत्र की तरह श्रमिक खेत छोडने की ओर प्रवृत्त होता है, इस प्रकार जमीन पर दबाव हल्का होता है अथवा महिलाओ और बच्चो का उपयोग होता है और नया उद्योग निश्चित भिन्न तरीके से ग्रामीण गृहस्थी को परिपूरक आय देना जारी रखता है, जैसा कि पुराने तरीके मे करता था। प्रत्येक में ऐसे परिवर्तन, जिनका वर्णन किया गया है, लगभग अदृश्य रूप से ग्रामीण अर्थव्यवस्था मे क्राति का कार्य कर रहे थे।

## (४) औद्योगिक विकास

१९ वी शताब्दी के चीन के शहरो और कस्बो मे भी उद्योग हाथ-करघे या कुटीर स्टेज पर था। कुछ अपवादो के साथ उत्पादन कडाई के साथ स्थानीय बाजार के लिए था। दूकान और कारखाना वही थे। उत्पादन के उपकरण विस्तृत और महँगी मशीनो की अपेक्षा सरल औजार थे। सभी या अधिक औद्योगिक विधियाँ एक ही छत के नीचे, उन्ही व्यक्तियो द्वारा चलाती जाती थी, वहाँ श्रम के विभाजन और औद्योगिक विशेषीकरण नगण्य होता था। वहाँ पूँजी व श्रम की कोई समस्या नही थी, क्योकि मालिक व मजदूरी पानेवाले कर्मचारी के स्थान पर हम पाते हैं कि कारीगर सचालक बन जाता है, मजदूर और काम सीखनेवाले सहायक होते हैं। एक ही उद्योग में संलग्न सभी शिल्पी-समाज में सगठित हो जाते थे जो कि मूल्यो, गुण, मजदूरी और काम सीखने की शर्तों का नियत्रण करता था और मजदूरो की तुलना में काम सीखनेवालो की संख्या नियत करता था।

पुरानी परिस्थितियाँ इस हद तक रही आयी कि १९३१ तक चीन के औद्योगिक उत्पादन का अधिकाश घरो या छोटे कारखानो मे और उसी सगठन के साथ ही पैदा होता रहा। परन्तु इसी समय यह मान्य करना चाहिए कि सामान्य आन्दोलन-उद्योग को आधुनिक आधार पर लाने की दिशा मे था। इस प्रकार जहाँ सूती व रेशमी उद्योगो में हथकरघा कायम रहा, आधुनिक मशीन करघा, विद्युत्-चालित बिजली के साथ आरम्भ हो गया। १९३० मे ४५० आधुनिक रेशमी कोये व बुनाई मिले, १२७ सूती मिले और १६ ऊनी मिले थी। कार्यरत सूती तकुए ३० लाख से अधिक संख्या मे थे। इसके अलावे वहाँ ४० से अधिक बीज-सवर्धक कारखाने, ४० से अधिक खाद्य-पदार्थ डिब्बो मे भरने के कारखाने, ३४ लोहा व इस्पात कारखाने, ५३ जलपोत सुधारने, जहाज-निर्माण व इजीनियरिंग कार्यो के कारखाने, १२९ आटा मिले, १०० से अधिक तेल मिले ओर बीन-केक कारखाने, २७४ बिजली-प्रकाश और बिजली कारखाने, २० कागज मिले तथा कारखाने थे, जिनकी सख्या बहुत अधिक थी, कि सूची बनाना कठिन है। इस पर पुन· जोर देना चाहिए कि उक्त संस्थान आधुनिक मशीनरी का प्रयोग करते थे और इसके अलावे वहाँ छोटे पूँजीपतियो के माध्यम से सक्रमण आन्दोलन चला था, जिसका उल्लेख हो चुका है। अन्तत· इसका परिणाम कारखाना व मशीन अर्थ-व्यवस्था मे व्यापक योगदान मे होगा।[११]

यह स्वीकार करना चाहिए कि अमेरिका और यहाँ तक कि जापान की तुलना मे नयी अर्थव्यवस्था १९३१ तक भी चीन मे अपनी गर्भावस्था में थी या अधिक-से अधिक निश्चित रूप से शैशवावस्था मे थी। तथापि जब यह स्मरण किया जाता है कि १९०० के पहले उत्पादन की विधियो मे स्पष्टतया कोई परिवर्तन नही आया था और जव कोई यातायात व सचार की कठिनाइयो को याद करता है, साथ ही देश के आकार व उसकी सगठित जीवन-व्यवस्था की कठोरता को याद करता है, तो ये आरम्भ अपेक्षाकृत अधिक महत्त्वपूर्ण जान पड़ते है। उपर्युक्त के अलावा औद्योगीकरण मे आनेवाली अन्य रुकावटे, जिनपर विजय पानी पड़ीं, वे थी चीनियो की ऐसी प्रवृत्ति, जो उन्हें परिवर्तन के प्रति विरोधी बना देती थी, चीनी अर्थ व्यवस्था का स्वावलंबन, व्यापारिक व औद्योगिक वर्गो अपेक्षाकृत कम आयु, भ्रमात्मक मुद्रापद्धति और चाँदी के मूल्यो मे उतार-चढाव के कारण उसकी अस्थिरता, आयात-निर्यात कर पर विदेशी नियन्त्रण, जो कि नवजात उद्योग को सरक्षण देना असंभव बना देती थी, और राजनीतिक परिस्थितियाँ, बड़ी रकम की किसी लागत जैसे कि मशीनें लगाने मे पड़ती है, मे हानि का भय आदि बाते थी।[१२]

नये उद्योग के विकास मे दो तत्वो ने योगदान दिया। प्रथम जो स्वभावतः ध्यान में आता है, वह है पश्चिम का प्रभाव, उसके बाद जब चीन नये विकास को

मुक्त रूप से स्वीकार करने लगा। दूसरा पाया जाता है रेलवे मार्ग के निर्माण और वाष्प-जहाजो की लाइन स्थापित करने मे। सिवाय यह कहने के कि मशीन कारखाना-पद्धति का व्यापक पैमाने पर उत्पादन स्थानीय बाजार की अपेक्षा राष्ट्रीय बाजार पर आधारित है, सचार के विकास पर आगे भी कुछ कहना आवश्यक है और जैसे यातायात की सुविधाएँ बढ़ती है, विस्तृत बाजार का निर्माण होता है। इस प्रकार रेलवे मार्ग के निर्माण से कृषि की अपेक्षा उद्योग को अधिक प्रोत्साहन मिला। वास्तव मे चीन को राष्ट्रीय अर्थव्यवस्था की शाखाओ के लिए कही अधिक लम्बे रेलवे मार्ग और राष्ट्रीय मार्गों की आवश्यकता थी, अपेक्षाकृत उसके जो १९३१ तक बने थे।

आधुनिक प्रकार के चीनी-उद्योग मे अधिकांश जो कि सफल थे, व्यक्तिगत रूप से धन लगाया गया था, परिवारिक मामले थे, अथवा दो या कई सदस्यो द्वारा हिस्सेदार के बतौर चलाये जाते थे। सगठन का जॉइन्ट-स्टॉक रूप यदाकदा पूर्ण सफलता के साथ उपयोग होता था। यह अशत इसलिए होता था, क्योकि कानूनी नियमन और नियत्रण प्रभावकारी ढग से प्रस्थापित नही हुआ था। परन्तु और भी यह सामाजिक ईमानदारी की विकसित भावना की कमी के कारण था। यह वही दोष था, जो लम्बे समय से शासन मे स्वय प्रकट हो गया था। स्टॉक चन्दे के लिए जो राशि एकत्र की जाती थी, अक्सर व्यक्तिगत कार्य मे खर्च कर ली जाती थी, जैसे कि सट्टेबाजी जिसका निगम के व्यापार से कोई संबध नही था और इस प्रकार अक्सर रुपये उड जाते थे। परिणामत. सभावित रुपया लगाने वालो में यह अविश्वास पैदा होने से व्यापक उद्योगो के विकास को धीमा कर दिया, उनको छोड़कर जो कि तीन-चार धनी व्यक्तियो के बराबर साधनो वाले थे। निस्सदेह चीनियो की लौकिक ईमानदारी जॉइन्ट-स्टॉक उद्योगो के लिए पूर्ण विस्तृत होने में समय लगेगा। लम्बी अवधि मे तथापि यह अच्छी चीज सिद्ध हो सकती है यदि यह आधुनिक प्रकार के छोटे औद्योगिक प्रयासो की बहुसख्या की ओर अग्रसर होते हैं। इसका नियत्रण ठीक प्रकार से हो सकता है और पुराने सगठनो को नयी आवश्यकताओ को अच्छी प्रकार से ग्रहण करना मान लेगा, जो कि अन्य किसी तरह संभव नही है।

जहाँ जॉइन्ट स्टॉक का प्रयास केवल धीरे-धीरे १९३१ तक अपना मार्ग बना रहा था पर इसका संदेशवाहक या कम-से-कम जो इससे व कारखाना उत्पादन से संबंधित है—आधुनिक बैंकिग पद्धति—तेजी से अस्तित्व मे आ रही थी। यहाँ भी नये और पुराने साथ-साथ मिलते थे। शांसी बेंकर मध्य चीन में सीमित व्यापार अभी भी करते थे। और पुराने तरीके की विनिमय-दूकान कायम रही। परन्तु

क्रांति के पश्चात् पश्चिमी प्रकार के बडी सख्या मे आधुनिक बैक स्थापित हो गये। इनमे से कई राष्ट्रीय बैकर्स-सघ मे सगठित हो गये जिसमे शामिल थे :—बैक ऑफ चाइना जो कि केन्द्रीय सरकार के लिए वित्तीय एजेसी थी, बैक ऑफ कम्युनिकेशन्स, जो कि उसी प्रकार सचार-मत्रालय से सम्बद्ध था; अनेक प्रांतीय बैक; और इस प्रकार की सस्थाएँ, जैसे चेकियाग औद्योगिक बैक, बैक ऑफ साल्ट इंडस्ट्री, निंगपो कामरशियल बैक और अन्य कई। आधुनिक बैक ने चीन का औद्योगिक उत्पादन बढाने के लिए महत्त्वपूर्ण रोल अदा किया और उसे अदा करते रहना चाहिए। इसके भी मार्ग सरकार ने अपने आतरिक ऋण जारी करने के लिए और पीकिंग व बाद मे नानकिंग मे वित्तीय सकट पर काबू पाने के लिए वर्तमान बैको पर निर्भरता दिखाई थी। सरकारी बैको ने वित्तीय व्यवस्था की अस्वस्थ प्रवृत्ति विरलता से भी नही दिखाई, विशेषकर उनके प्रचलित मुद्रा के प्रश्न पर, परन्तु यह व्यापक रूप से उनके सरकार से सबंध और घरेलू राजनीति के संकट के समय के कारण था, न कि स्वस्थ वित्तीय व्यवस्था के सिद्धान्तो का आदर करने मे बैक मैनेजरों की असफलता के कारण। संगठित चीनी वित्त-व्यवस्था की शक्ति कम-से-कम एक अवसर पर प्रदर्शित हुई, जब नेशनल बैकर्स एसोसिएशन सरकार को ऋण की शर्तें मनवाने मे सफल हुआ था।

## (५) औद्योगिक विकास का व्यापारिक संघ-पद्धति पर प्रभाव

यहाँ १९ वी शताब्दी के व्यापारिक संघो मे व उनके जरिये औद्योगिक सगठन वर्णन की मुख्य-मुख्य बातो को पुन बताना अनावश्यक है, जो कि प्रथम परिच्छेद मे दी गयी थी। तथापि मशीन के तरीको व कारखाने द्वारा उत्पादन के आरम्भ का व्यापारिक संघ-पद्धति पर असर का सक्षेप मे परीक्षण आवश्यक है।

पहले स्थान मे यह मान्य करना चाहिए कि व्यापार-सघ की अधिकाश शक्ति जैसे मूल्य-निर्धारण और प्रकार-स्थापना-एजेसी इस तथ्य के कारण थी कि उत्पादन स्थानीय था और वह स्थानीय अथवा प्रांतीय बाजारो से बाहर निकल जाता था, जिसको व्यापारिक संघ के सदस्य एकाधिकार मे कर लेते थे। स्थानीय संगठन, जो कि उन सभी को पूरी तरह से समझता था, जो एक सीमित क्षेत्र में एक विशेष प्रकार के उत्पादन मे संलग्न थे, इन दो मामलो मे अपने सदस्यो को नियत्रित कर सकता था। यह नियंत्रण आगे और सख्त हो गया, क्योकि उद्योग की सभी विधियाँ एक सस्थान मे चलायी जाती थी, विशेषकर नियम होने की अपेक्षा अपवाद था। दूसरे शब्दो मे व्यवस्था सरल थी और वह दूकान मे ही सम्मिलित थी। विशेष वस्तु के उत्पादन में सभी स्तर को नियत्रित करनेवाले मालिक स्तर कायम करने और

समझौते द्वारा मूल्य निर्धारित करने में सक्षम थे। अंतर-सगठनीय समझौते अपवाद-स्वरूप ही किसी मामले में आवश्यक होते थे।

परन्तु बाजार के विस्तार के साथ जैसे रेल और वाष्पीय सचार-साधन विकसित हुए, व्यापार-संघो ने उसे नियंत्रण की क्षमता खो दी। उदाहरणार्थ, जहाँ मध्य चीन में शंघाई और तिएनत्शिन माल-प्रतियोगिता करने लगा, न तो शघाई और न ही तिएनत्शिन माल प्रतियोगिता को नियत्रित कर सका। इसके अलावे औद्योगिक उत्पादन का अधिकाधिक पृथक् विधियो के रूप में विभाजन से प्रत्येक स्वतत्र सस्थान में चलाया जाता था, व्यापारसघ की सत्ता को कमजोर कर दिया, जो कि उत्पादन के उद्योग के केवल एक हिस्से पर अपना नियंत्रण रखने मे सक्षम था। औद्योगिक व्यवस्था विशेषीकृत उत्पादन की वर्तमान परिस्थितियो के अतर्गत इतना जटिल हो जाती है कि निश्चित रूप से सरल व्यापारिक संगठन अपनी उपयोगिता खो देता है। इसलिए यह निष्कर्ष अपरिहार्य है, कि वर्तमान उद्योग ने जैसी कि चीन मे उसकी स्थापना हुई है, व्यापारिक सघीय सगठन को कमजोर कर दिया और उसका अन्त कर देगा जव तक कि वह नयी व्यवस्था ग्रहण करने का आधार नही प्राप्त कर लेता।

दूसरी दृष्टि से नये उद्योग ने व्यापारिक संघ की स्थिति कमजोर कर दी है। उत्पादन की पुरानी परिस्थितियो के अतर्गत किसी उद्योग मे मजदूरो की सख्या का नियमन करना संभव था, चूँकि प्रशिक्षित कारीगर को तैयार करने के लिए लम्बा सीखने के समय की जरूरत होती थी। एक कारखाने मे काम सीखने वालो की सख्या सीमित करके संघ मजदूरो की सख्या सीमित कर सकता था और वह सस्थानो की संख्या भी नियंत्रित कर सकता था और उत्पादन के अनुचित प्रसार को रोक सकता था। इसके अतिरिक्त चूँकि श्रम-पूर्ति सीमित थी, व्यक्ति जो अपने मजदूरो को सघ द्वारा निर्धारित न्यूनतम स्तर से कम भुगतान करता था, शीघ्रता से उनको हटा नही सकता था।

नये उद्योग मे लम्बे समय तक काम सीखने की आवश्यकता समाप्त हो गयी चूँकि एक विधि पर अधिकार और मशीन का काम करना जल्दी से अर्जित हो सकता था। इस प्रकार श्रम-पूर्ति भारी प्रमाण मे बढ गयी और व्यापारिक-संघ पर निर्भरता तदनुसार घट गयी।

पुनः पुरानी व्यवस्था के अतर्गत, मालिक बनने के पूर्व मास्टर स्वय मजदूर रहा था और वह मजदूरो के साथ निकट संपर्क के साथ मास्टर रहा था, मजदूर अक्सर संख्या में कम होते थे। परिणामस्वरूप सम्बन्धो में बहुत आत्मीयता थी, जिससे

मालिक और मजदूर मे अंतर करना कठिन था। इससे मास्टर और लोगो को एक सगठन मे सगठित रहना सभव हो गया, क्योकि वे एक व्यापारिक संघ में होते थे। चूँकि कारखाने के मामले सभी कर्मचारियो की जानकारी मे होते थे, जितने कि मालिक की जानकारी मे, मजदूरी निश्चित करने की समस्या बहुत सरल थी। आधुनिक पश्चिमी दृष्टि से पूरे सम्बन्ध सामान्यतया मालिक और कर्मचारी के नही थे, किन्तु सह-कर्मचारी के थे।

यहाँ फिर नयी व्यवस्था ने एक परिवर्तन पैदा किया या कम-से-कम उसका शुभारम्भ किया, जो औद्योगिक कारखाने के व्यापक होने के कारण अधिकाधिक महत्त्वपूर्ण हो गया। चीन मे, अन्यत्र की तरह, कारखाना-पद्धति ने उद्योग को अवैयक्तिककरण कर दिया। इसने औद्योगिक मजदूरी वाला कर्मचारी पैदा किया, जो कारीगर मालिक के साथ निकट सम्पर्क मे नही था और जो स्वयं शिल्पी नही था। इसका परिणाम यह था कि मालिक जो कि पूर्व के कारीगर की अपेक्षा औद्योगिक पूँजीपति था, मजदूरी पानेवाले कर्मचारी जहाँ काम करते थे, उस स्थान में निकटता महसूस नही करता था और न ही मजदूर यह महसूस करता था कि पुराना सगठन उसके उद्देश्य में सहायक था।

१९३१ तक उन स्थानो में जहाँ आधुनिक उद्योग विकसित हुआ था, व्यापारिक संघ ने मालिक-संघ का स्वरूप ले लिया और कर्मचारी श्रमिक संगठन के रूप में अपना संगठन तैयार कर रहे थे। श्रम-संगठन तो गर्भावस्था में ही रह आया, सिर्फ शंघाई, कैंटन, हांगकांग को छोड़कर। १९२५ की हड़तालो ने जो तीनो स्थानों पर हुईं सगठित चीनी श्रमिक के कदम की प्रभावशीलता को प्रदर्शित किया। राष्ट्रीय कार्यों की अपेक्षा अन्य कार्यो के लिए संगठन स्थानीय आधार की अपेक्षा राष्ट्रीय आधार पर बनाना पड़ता था, क्योकि यह सिर्फ औद्योगिक विवादो मे प्रभावकारी होता था।

मालिक अथवा व्यापारिक-सघ के रूप में व्यापारिक-संगठन उपयोगी कार्य कर सकता है अथवा अन्य संगठन के लिए रास्ता छोड़ सकता है। १९३१ तक चीनी चेम्बर ऑफ कामर्स का उदय हो गया, जो कि शंघाई तिएनत्सिन की तरह विदेशी चेम्बर के आधार पर बने थे, जिन्होंने अपना मूल रूप अंग्रेजी व अमेरिकन शहरों मे अनुभव किया। चीनी चेम्बर ऑफ कामर्स प्रधान रूप से अतर-व्यापारिक-संघ संगठन था यद्यपि इसके सदस्य व्यक्तिगत उद्योग और व्यापारिक सघ भी थे। बढ़ते हुए जटिल व्यापारिक समाज को एकीकृत करने में इसने स्पष्टतः बहुत उपयोगी कार्य का योगदान दिया। यहाँ उसने आधुनिक उद्योग की बहुत सेवा की, क्योंकि

व्यापारिक सघ ने स्वयं पूर्व-आधुनिक समय मे कला-कौशल की सेवा की। यह तो मालिको के संघ के रूप मे गिल्ड की स्थिरता और गिल्ड के आधार पर चेम्बर ऑफ कामर्स की स्थापना से ही था कि १९३१ तक उपयोगिता स्थान ले रही थी।

चेम्बर ऑफ कामर्स के एक समारोह मे एक मौलिक विकास, न कि शुद्ध नकल, देखा गया, जैसा कि सगठन का प्रविधान करने वाले नियम मे निर्धारित किया गया है। औद्योगिक विवाद के निपटारे के लिए वे कोर्ट की तरह अपनी एक समिति के जरिये काम करके कानूनी योगदान दे सकते है, जहाँ कि विवाद में पड़े दोनो पक्ष उसी गिल्ड के सदस्य नही होते थे, और मजदूरी के प्रश्न पर मालिक और कर्मचारी के मध्य मतभेद समाप्त करने के लिए कार्य कर सकते थे। तथापि बाद की कारवाई का स्वरूप जब तक मजदूरो को सक्रिय प्रतिनिधित्व नही दिया जाता, सकट पैदा हो सकता है। यदि स्थानीय यूनियन को कर्मचारियो के गिल्ड की तरह प्रतिनिधित्व दिया गया है, इस दोष का हल निकाला गया है और चेम्बर ऑफ कामर्स कोर्ट की उपयोगिता का क्षेत्र विस्तृत कर दिया गया है।

इस सम्बन्ध मे यह उल्लेखनीय है, कि चेम्बर ऑफ कामर्स कोर्ट उखड़ा नही, बल्कि वह एक मध्यस्थ एजेंसी के रूप मे गिल्ड का परिपूरक बन गया। गिल्ड के सदस्यो के बीच विवाद अब तक अदालती फैसले के विषय थे, जब कि उनके बीच के विवाद, जो कि विभिन्न गिल्ड के सदस्य थे उनका फैसला अधिक समाविष्ट सग-ठन के जरिये होता था। शिल्पी गिल्ड अतत. सबधित शिल्प के संगठन में विस्तार द्वारा नयी परिस्थितियो से समन्वय कर सकता है। इस विकास की शुरुआत निर्माण-कारी व्यापार से सबधित सभी मालिको को एक इकाई मे खीचने के इरादे से पीकिंग के लु-पान इडस्ट्रियल यूनियन जैसे संगठन की स्थापना करने के प्रयास मे देखी जा सकती है। चेम्बर ऑफ कामर्स के विचार के प्रसार के साथ यह बिलकुल हस्तक्षेप नही करेगा क्योंकि व्यापारी-समाज के लिए एकीकृत एजेंसी के बतौर चेम्बर अस्तित्व के लिए कारण खोजता रहेगा।

चीनी जीवन का प्रधान राग रहा है, समन्वय और सहकारिता की उपयोगिता न कि प्रतियोगिता, यह बात पूरी तरह से स्वीकार की जा चुकी है। गिल्ड-पद्धति का नयी परिस्थितियो मे ग्रहण करने से समन्वय का नया औजार सफलतापूर्वक निकाला जा सकता था, जो कि आधुनिक चीन को उस औद्योगिक पद्धति के जन्मसंगत दोषो से छुटकारा पाने में सक्षमता देता, जो कि पश्चिमी विश्व से आयात की जा रही थी। सबसे बड़ी बाधा, जिस पर विजय पानी थी, वह बाजार के लिए प्रतियोगिता के क्षेत्र में निहित नही थी, किन्तु श्रमिक-सबंधो के क्षेत्र में थी, चूँकि मालिक और

कर्मचारी को ठीक सबंधो मे रखने की समस्या अब तक हल नही की गयी थी। तथापि ग्रहण करने की पद्धति पर घरेलू व विदेशी सबधो के विकास दोनो के प्रभाव से १९३१ के बाद बाधाएँ आयी।

## (६) श्रम संगठन और समस्याएँ

भूतकाल मे श्रमिको का सगठन अनजानी बात थी, किंतु यह स्वरूप मे अस्थायी था और अक्सर सामूहिक काररवाई से शीघ्र किसी लक्ष्य के लिए असर डालने के लिए बनाया जाता था। इस पर भी अनेक अवसरो पर यह अत्यधिक प्रभावकारी सिद्ध हुआ, यदि निश्चित लक्ष्य जल्दी प्राप्त हो गया। सामान्य परिस्थितियो में स्थायी सगठन आवश्यक था, क्योकि कर्मचारी गिल्ड की बैठको मे भाग लेने के हकदार थे, और भाग लेते थे। परिणामस्वरूप १९१८ के बाद ही पश्चिमी प्रकार के स्थायी श्रमिक सगठन बनाये गये। ऐसा एक सगठन १९१९ में बनाया गया, जिसका नाम था, "दी यूनियन फार दी इम्प्रूवमेट ऑफ चाइनीज लेबर"। तथापि मुख्य उद्देश्य घोषित किया गया कि यह होगा मालिक के विरुद्ध लड़ने के बजाय परस्पर लाभ और संरक्षण। इस यूनियन की रचना राष्ट्रीय स्तर पर की गयी, जिसका इरादा था सभी स्थानो पर इसकी शाखाएँ खोलना। शंघाई, कैन्टन, तिएनत्सिन तथा अन्य औद्योगिक नगरो में इसी प्रकार के कई सगठन खोले गये। जिनका मूल राजनीतिक था, उनमे और उन उद्देश्यों वाले जिनका उद्देश्य पश्चिमी देशो के श्रमिक सगठनो द्वारा प्रचारित उद्देश्यो के समान था दोनो मे अतर करना कठिन है, परन्तु यह आपत्ति से परे है, कि पश्चिमी आधार के सगठन का देश में ठोस आधार मिलना आरम्भ हो गया। और यद्यपि आरम्भ मे प्रधानत· परस्पर लाभ और सुधार कार्य के लिए स्थापित हुए, वे क्रमशः बढती मजदूरी व काम के घटे घटाने के उद्देश्य की ओर निर्देशित किये गये। १९२१ से १९३१ के बीच की दशाब्दी मे इस हेतु कई हडतालें हुई, यद्यपि फिर भी राजनीतिक और अराजनीतिक हडतालो मे स्पष्ट अंतर करना कठिन था। पीकिंग के एक भाषायी समाचार पत्र ने सूची दी है, कि सितम्बर १९२२ से दिसम्बर १९२२ तक कुल ४१ हडतालें हुईं। इसका कहना है ७०.९ प्रतिशत हड़ताले बढ़ी मजदूरी के लिए, १२.२ प्रतिशत फोरमैन के विरोध मे, १२ २ प्रतिशत सहानुभति की हड़ताले और ४ ७ प्रतिशत यूनियन संगठित करने के अधिकार के लिए।[13] यह उल्लेखनीय है, कि चीन मे राष्ट्रवादी सरकार की स्थापना होने तक यूनियन बनाना न तो निषेध था और न ही उसके लिए कानूनी अधिकार प्राप्त था। अक्टूबर, १९२९ मे श्रम-संगठन-कानून पारित किया गया, जिसमें कई निश्चित बंधनो के साथ संगठन बनाने का अधिकार स्थापित किया गया।

उल्लेखनीय बात यह नही है, कि १९२० के बाद कई हड़ताले हुई, बल्कि यह तथ्य उल्लेखनीय है, कि उससे अधिक नही हुई। जीवन-निर्वाह की लागत मे लगातार वृद्धि ने दोनों कारखाने के कर्मचारियो और हाथ करघा व अन्य धधो मे लगे हुए अनेक लोगो के लिए गभीर परिस्थिति निर्माण कर दी। मूल्यो, मजदूरी और जीवन-स्तर की पीकिंग के सावधानीपूर्ण अध्ययन[१४] ने दिखाया कि १९०० के बाद वहाँ खाद्यान्न की विभिन्न वस्तुओ की कीमते व कपड़ो की कीमते धीरे-धीरे ऊँची हो रही थी। इसमें कुछ अतर व उतार-चढाव थे, परन्तु मूल्यो का झुकाव वृद्धि की ओर ही था। यह वृद्धि १९२० के बाद विशेष रूप से दिखायी दी। जीवन-निर्वाह की समस्या ताँबा-विनिमय के कारण और जटिल हो गयी थी, जो कि ऊपर उठता जा रहा था। यह पूर्ति के निरन्तर विस्तार तथा उसके गुण मे गिरावट के कारण थी। फिर १९२० के बाद मजदूरी ताँबे के सिक्के के स्थान पर चाँदी के सिक्को मे भुगतान आरम्भ करने के कारण अत्यधिक खराब परिस्थिति पैदा हो गयी। १९०० के बाद के वर्षो के दौरान गिल्ड की कार्रवाई ने मजदूरी-वृद्धि कई बार करायी, परन्तु यदि १९०० या १९२३ के वर्षो को तुलना का आधार माना जाय तो १९२४ मे मजदूर की वास्तविक मजदूरी उन वर्षो की अपेक्षा नीची थी। "गिल्ड का जीवन का न्यूनतम स्तर था, जिसे रखने का वे प्रयास करते थे। यदि परिस्थितियाँ कर्मचारियो को उनके जीवनस्तर में अस्थायी वृद्धि देती है, गिल्ड मजदूरी बढ़ाये रखने मे उनकी सहायता का प्रयास नही करती। वह तब तक मजदूरी बढाने का प्रयास नही करेगी, जब तक कि मूल्य ऐसे हो कि वास्तविक मजदूरी-प्रथा के अनुसार न्यूनतम पर पहुँची हो।"[१५]

मूल्यो मे वृद्धि पीकिंग में सभवत. सम्पूर्ण देश से काफी लाक्षणिक थी। तथ्यो के अनुसार, कहा जाता था कि कैन्टन मे मूल्य पीकिंग से भी अधिक ऊँचाई पर पहुँच गये थे। अन्य शहरो के इसी प्रकार के विस्तृत अध्ययन के अभाव में यह कल्पना की जा सकती है, कि जहाँ तक वे प्रभावकारी थे, एक स्थान पर मूल्यो मे वृद्धि करने वाली बातो का अन्यत्र भी उसी प्रकार का असर होता था। ये तत्त्व राजनीतिक उतने नही थे, जितने कि आर्थिक थे। "अनेक राजनीतिक घटनाएँ, क्रांति, गृह-युद्ध ने सम्राट् को पुन स्थापित करने का प्रयास किया, उनका बहुत कम असर हुआ। तब तक जब तक कि उनके साथ काफी प्रखर उपद्रव हुए हो, जिनका कि असर खेतो की फसल नष्ट करने में हुआ हो अथवा आते-जाते संग्रह पर कब्जा करने और संचार-साधन तोड़ने से यातायात की कठिनाई पैदा हो गयी हो।"[१६] आर्थिक तत्वों में सूखा और बाढ़ का उल्लेख हो सकता है, जिसका विस्तृत क्षेत्र पर असर होने से

उत्पादन पर विपरीत असर हुआ हो तथा तीसरा तत्व था जनसख्या-वृद्धि। श्रम-परिस्थितियाँ ठीक करने के लिए तीन तरीके उपलब्ध होते थे। पहला था, औद्योगिक विवाद से कई पश्चिमी देशो की तरह सुधारकारी कानूनों अथवा परिस्थितियो की ठीक करना, जो कि नीचे से या तो सरकार या मालिक पर दबाव से जबरन खीची जा रही थी, ये सुविधाएँ विकसित हो सकती थी। यूनियनो के सगठन से और साथ ही साथ १९२० के बाद हडतालो के कई गुना होने से यह भविष्यवाणी प्रतीत हुई। दूसरा था, सगठन, जैसे चेम्बर ऑफ कामर्स कोर्ट, पर्याप्त श्रमिक प्रतिनिधित्व के साथ कठिनाइयो के समन्वय के लिए माध्यम सिद्ध हो सकते थे। भूतकाल की परम्पराओ और रीतियो से यह अधिक अच्छी तरह से एकरस हो सकती थी। तीसरा ऊपर से स्वैच्छिक सुधार, शायद नीचे से दबाव डालने पर उसे ग्रहण करने के साधन के रूप मे, जो सफल सिद्ध हो सकता था। यह पश्चिमी देशो मे अधिक जागृत व्यवहार से एक स्वर में होगा।

कुछ मालिक पहले से ही तीसरी विधि विकसित कर रहे थे। चागचिएन ने अपने कारखानो के आसपास एक "नमूने के शहर" की रचना की। १९३२ के दौरान शघाई मे चीन-जापान-उपद्रवो से कारखाना नष्ट होने तक शघाई के कामर्शियल प्रेस ने बच्चों के लिए स्कूल की सुविधा का प्राविधान किया, अपने कर्मचारियो के लिए एक अस्पताल कायम किया, अपने महिला-कर्मचारियो को प्रसवकाल के पूर्व व पश्चात् एक मास की छुट्टी दी, तथा कर्मचारियो के एक आकर्षक आरामदेह स्थल की व्यवस्था की। साथ ही, १९२२ मे वह ५० प्रतिशत लाभाश की घोषणा करने मे सक्षम था और उसके हिस्सो का मूल्यांकन लगभग एक सौ प्रतिशत होता था। हान-येहपिंग कारपोरेशन ने भी इसी प्रकार से अपने कर्मचारियों के लिए प्राविधान किया, जैसा कि श्री वाय. एच. मोह जो निकटता से चीन के "कॉटन किंग" के नाम से जाना जाता था। जहाँ तक यह हुआ, सब ठीक था परन्तु इस तथ्य के कारण कमजोर हो गया कि यह ऊपर से नीचे किया गया। इसके अलावे "आदर्श मालिक" ने मजदूरी की दर नीची रखी, इस अपेक्षा से कि बगीचो और आराम कमरो के रूप मे मुआवजा उच्चतर वेतन का स्थान लेगा। सामान्यतया यह आन्दोलन इस तथ्य के कारण कष्ट सहन किया कि यह "सबसे उत्तम विदेशी तरीके पर" किया गया था, जो पश्चिम में औद्योगिक संघर्ष को रोकने में सिद्ध नही हुआ। और अन्ततः इन व्यक्तिगत सफलताओ ने इस तथ्य को गुप्त रखने का काम किया कि काम की अच्छी शर्तें कोई नियम नही थी।

यह मान्य करना चाहिए कि चीन में अधिकतर मालिक, जैसे कि अन्यत्र उसी या विकास की आगे की स्थिति में हुआ करते है, स्वेच्छा से मजदूरी बढाकर, काम के

घंटे कम करके, उद्योगो मे महिलाओ को सरक्षण देकर और बालक मजदूरो का उपयोग करना अस्वीकार करके मजदूरी की स्थिति सुधारने में कोई रुचि महसूस नही करते थे। मजदूरी बहुत नीची थी और तिस पर भी जीवन-निर्वाह की लागत मे वृद्धि के साथ आंशिक रूप से बराबरी रखने के लिए, शघाई जैसे स्थानो मे मजदूरी बढ़ाने के लिए हडतालें आवश्यक थी। बहुत जागृत मालिको मे भी महिलाओ और बालको को काम पर रखने के विरुद्ध कोई भावना नही थी और निश्चित रूप से आम जनता मे यहाँ तक कि औद्योगिक मजदूरों मे भी बहुत कम थे, क्योकि महिलाओं व बच्चो के श्रम की आय परिवार की आय बढ़ाने मे जरूरी दिखायी पड़ती थी। नीचे से महिलाओ और बच्चो की उद्योग मे सुरक्षा के कोई निश्चित माँग आने के पहले उच्चतर मजदूरी देना आवश्यक होता था। इस सम्बन्ध मे जागृत मालिक श्रमिक की माँग पर बहुत आगे होते थे। सरकारी नियमो का प्रयास होता था (कृषि व कामर्स मंत्रालय ने ऐसे श्रम का नियंत्रण करते हुए एक नियम जारी किया), परन्तु सरकारी कदम की प्रभावशीलता के लिए राजनीतिक स्थिरता पूर्व आवश्यकता होती हैं।

उद्योग का कानूनी नियम और नियत्रण कहाँ तक १९३१ के बाद बढेगा, यह समस्यामूलक था। पुरानी परम्परा देश के आर्थिक जीवन को स्वय नियंत्रित करने की स्वीकृति देती थी, परन्तु इसमें जब जनशांति को खतरा होता था तो मजिस्ट्रेट को मध्यस्थता करनी पड़ती थी। चेम्बर ऑफ कामर्स कोर्ट के विकास में यह परम्परा चलती रही, जैसा कि उल्लेख किया गया है। परन्तु यह अपेक्षा की जा सकती थी कि सरकारी समारोहो के प्रति नया दृष्टिकोण स्वय अभिव्यक्त होता रहेगा, जब औद्योगिक परिस्थितियो के कानूनी नियमन के कुछ माप के विकास के जरिये राजनीतिक स्थिरता प्राप्त की गयी है।

## (७) चीनी उद्योग में विदेशी साझेदारी का प्रभाव

१९३१ मे यदि राजनीतिक स्थिरता थी तब भी अधिकांश देशो की अपेक्षा नये उद्योग के नियम और नियत्रण की समस्या हल करना और भी कठिन होता, जिसका कारण था, उसमे विदेशी साझेदारी। उदाहरण के लिए, वर्तमान सूतकताई कारखानो का ३४ प्रतिशत जापानियो के, अथवा उनके द्वारा नियन्त्रित थे और इसके अलावा ३ प्रतिशत ब्रिटिश लोगो के उनके द्वारा नियन्त्रित थे, शेष ६३ प्रतिशत चीनियों द्वारा नियन्त्रित थे। जहाँ यही अनुपात अन्य उद्योगों के लिए सत्य नही होता, कुछ उद्योगो मे विदेशी साझेदारी बहुत कम थी और कुछ मे और भी अधिक थी, चीनी कारखाना उत्पादन में आम तौर पर भारी विदेशी स्वार्थ थे। युद्ध के

बाद जापान मे मुद्रास्फीति, साथ ही चीन मे औद्योगिक संस्थानो में पूँजी को प्रोत्साहित करने के जापानी सरकार के प्रयास, चीन मे भारी मात्रा मे जापानी पूँजी लगने मे मदद करते है और चीनी मजदूर सस्ता होने से आमतौर पर चीन मे कारखाना स्थापित करने मे विदेशी पूँजी लगाने की रुचि पैदा होती थी। नियत्रण की समस्या इस तथ्य से उठी कि विदेशी सधि-पद्धति का सरक्षण मिलता था। यह कई उद्योगो की स्थापना से और जटिल हो गयी, जिनमे कुछ मे चीनी पूँजी लगी थी वे विदेशी आवास-क्षेत्रों में थे, जहाँ कि मोटे तौर पर वे चीनी नियंत्रण से हटा लिये जाते थे।

यह तुरन्त स्पष्ट है, कि औद्योगिक आत्म-नियत्रण और नियम का पुराना तरीका कायम नही रखा जा सकता था, जब तक कि सम्पूर्ण उद्योग नियंत्रण करने वाले सगठन मे नही लाया जाता, भले ही वह शिल्प गिल्ड मे था या औद्योगिक गिल्ड मे। यहाँ तक कि सरकारी नियम भी ठीक प्रकार से आरम्भ नही हो सकते थे, जब तक कि वह एक ही प्रकार के उत्पादन सलग्न सभी पर लागू नही होता। उदाहरण के लिए, स्वदेशी सूत-उद्योग कीमत, प्रकार, मजदूरी और श्रम-परिस्थितियो के विषय में नियम स्थापित नही कर सकता और तब तक उन्हें असरदार नही बना सकता, जब तक कि शघाई मे विदेशी मिले अनियन्त्रित थी। वास्तव में इसके विपरीत बात भी सही थी। शंघाई के १९२४ के बालक श्रमिक-आयोग द्वारा नगरपालिका के विचार हेतु सिफारिश करने मे एक समस्या का मुकाबला करना पड़ा, जो समस्या उसी औद्योगिक क्षेत्र में प्रतियोगी उद्योग के अस्तित्व मे निहित थी, जिस पर इस प्रकार से बनाये जाने वाले किसी कानून का असर नही होता। आयोग ने रिपोर्ट में कहा "यह स्पष्ट है कि किसी भी काररवाई, जिसका समझौते मे उत्पादन की लागत बढाने मे असर हो सकता हो, वह न केवल बाहर के उद्योगो से प्रतियोगिता करने वाले उद्योग के लिए अनुचित होगा, परन्तु अधिक सामान्य दृष्टिकोण से बुद्धिहीनता भी होगी, चूँकि उन दोषों के समझौते के बाहर आर्थिक सहायता की ओर प्रवृत्त होगा, जिनका कि मुकाबला किया जा रहा था।"[१७] जब तक कि निपटारा विदेशी कार्यक्षेत्र के अतर्गत रहा, यह विसंगत परिस्थिति जारी रहेगी। चीनी नियमन, भले ही वह कानूनी हो अथवा स्वदेशी उद्योगो के सगठन द्वारा हो, विदेश-नियत्रित उद्योग पर लागू नही हो सकता था, जो कि रिआयत मे स्थापित हुए थे और रिआयत का नियमन विस्तार और कार्य मे नियमानुकूल होगा, सिवाय इसके कि दोनो अधिकार के बीच कोई सहकारी कारगर व्यवस्था की जाय।

दूसरी समस्या विदेश द्वारा व्यवस्थापित उद्योगो से हुई प्रस्तुत यह सवाल नहीं है, कि वे कहाँ स्थापित थे, पर यह इस तथ्य के कारण आयी कि सभी श्रमिक-विवादों

में मूल-जाति और राष्ट्रीय संकट पैदा होने की सभावना होती थी। किसी जापानी, ब्रिटिश अथवा अमेरिकी मिल गे फोरमैन के व्यवहार के कारण अथवा मजदूरी पर विवाद होने से पैदा होने वाली हड़ताल जल्द ही जापानी-विरोधी, ब्रिटिश-विरोधी अथवा अमरीकी-विरोधी स्वरूप ले लेती थी, जिससे अतर्राष्ट्रीय कठिनाई आ जाती थी। १९२४ की हांगकाउ के सामुद्रिक कर्मचारियो की हड़ताल, तथा १९२५ मे शंघाई में जापानी मिल की हड़ताल ने यही हमेशा उपस्थित रहनेवाली कठिनाई को ही प्रदर्शित करने का काम किया। राष्ट्रीय भावना के उद्‌भव ने खतरे को विशेष रूप से गभीर बना दिया। प्रश्न का इस प्रकार का कोई भी पलटाव अथवा विस्तार वास्तव में, स्वरूप में राजनीतिक और आशिक रूप से कृत्रिम था। परन्तु यह एक मूल तत्व था, जिसका गभीरतापूर्वक विचार करना था।

तब, ये सारभूत आर्थिक परिवर्तन थे, जो १९०० से १९३१ तक के वर्षों में हो रहे थे :—(१) आयात और निर्यात व्यापार के स्वरूप मे परिवर्तन और विस्तार, (२) कृषि मे कुछ प्रगति तथा संचार साधनो के सुधार द्वारा कृषि-उत्पादन के लिए बाजार की व्यापकता, (३) आधुनिक मशीन और कारखाना-पद्धति का आरम्भ; और इसके परिणामस्वरूप (४) आर्थिक सगठन मे परिवर्तन जो कि भविष्य के लिए बहुत अर्थपूर्ण थे। १९३१ से, जब कि जापान ने अपने महाद्वीपीय विस्तार को पुनः ताजा किया चीन के आर्थिक और सामाजिक जीवन मे उल्लेखनीय परिवर्तन घटित हुए है।

# तेरहवाँ अध्याय

# चीन की प्रगति--बौद्धिक और सांस्कृतिक

## (१) राजनीतिक क्रांति तथा बौद्धिक जागृति का द्वन्द्वकाल

नियमानुसार यदि सांस्कृतिक वश-परम्परा का सुधार नही तो विचारो में पहले मूलभूत परिवर्तन होता है और एक राजनीतिक महापरिवर्तन को सभव बना देता है, जिसे कि सच्ची क्राति कहा जा सकता है। परन्तु चीन में बौद्धिक क्राति राजनीतिक क्रांति के साथ-साथ चली और एक अश तक उसके कारण की अपेक्षा परिणाम कहा जा सकता है। जैसा कि पहले कहा जा चुका है, कि १९ वी शताब्दी के अतिम वर्षो के दौरान नये विचारो का धीरे-धीरे प्रवेश हुआ जिसने १८९८ के सुधार-आदोलन का मार्ग तैयार किया। सुधार के इस प्रयास मे तथा १९११ के पहले सुधार की दशाब्दी मे भी नये तरीको पर शिक्षा पर पर्याप्त जोर दिया गया है। १९०५ मे परीक्षा-पद्धति की समाप्ति से मध्य-युगीन पद्धति के विद्वान् पदाधिकारि-वर्ग की पुरानी व्यवस्था पर गम्भीर आघात हुआ। परीक्षापद्धति मे नये विषयो के आरम्भ से इसका सुधार पहले से ही आरम्भ हो गया था। "परीक्षा-पद्धति की समाप्ति जितनी उस समय के बहुत दूरदर्शी अधिकारियो ने कल्पना की होगी, उसकी अपेक्षा कही अधिक मौलिक कदम सिद्ध हुआ। कन्फूशियसवाद पर इसने मृत्युकारक आघात किया।"[1] इसके अलावा नयी शिक्षा-पद्धति मानवीय और ऐतिहासिक विषयों पर से जोर हटाकर वैज्ञानिक और तकनीकी शिक्षा पर जोर देना आरम्भ कर दिया (मानवनीय व ऐतिहासिक विषयो मे हमेशा वैज्ञानिक विधि की अपेक्षा वैज्ञानिक दृष्टिकोण पर स्पष्ट रूप से पर्याप्त जोर दिया गया था)। परन्तु "चीनी वैज्ञानिक गतिविधियाँ गणतंत्र के प्रथम वर्षो तक आरम्भ नही हुई। पुराने सुधारवादियो ने विज्ञानो का किताबी ज्ञान, बिना उनका बौद्धिक महत्त्व पूर्णतया समझे, प्रयोगशाला के कार्यों हेतु पर्याप्त उपकरणो के बिना तथा नेताओ को अध्ययन और अनुसधान सगठित करने के लिए समुचित शिक्षा के बिना आरम्भ कर दिया था।[2] सबके ऊपर, शासकीय पद पाने के उद्देश्य से साधन के बतौर छात्रवृत्ति पर जोर दिया जाता रहा, जो कि राजनीतिक प्रसिद्धि के अलावा चीन में बढ़ रहे अन्य शिक्षा-व्यवस्था के विरुद्ध कार्य कर रहा था। परिणामस्वरूप बहुत सीमा तक १९११ की क्रांति मंचू-विरोधी विद्रोह था, जिसने मंचू के अनुपयुक्त तरीके के प्रशासन

के कोई भी अन्य विकल्प की कमी के कारण गणतान्त्रिक स्वरूप ले लिया, बजाय इसके कि वह लोगो के मौलिक दर्शन मे मूलभूत परिवर्तन की अभिव्यक्ति होता अथवा उनके, जो देश के नये शासक बन गये थे, मौलिक दर्शन मे मूलभूत परिवर्तन की अभिव्यक्ति होता। नेताओ मे इसके उल्लेखनीय अपवाद थे, पर वे स्पष्टतया अपवाद थे। "पश्चिमी अध्ययन" पर लाभ होने से वे (यकायक परीक्षा-पद्धति की समाप्ति से छात्र "विपत्ति मे पड गये थे") बडी सख्या मे जापान मे एकत्र हो गये, और कुछ छोटी संख्या मे पश्चिमी देशो मे गये, जहाँ उन्होने पश्चिमी तरीको व व्यवस्थाओ का ऊपरी ज्ञान प्राप्त किया। चीन वापस आने पर उन्होने अपने ज्ञान को समझदारी अथवा चीनी परिस्थितियो के अनुकूल बनाने की कमी के साथ साहसपूर्वक लागू करने का प्रयास किया।[२]

तथापि १९११ के बाद धीरे परन्तु निश्चयात्मक रूप मे वहाँ नया बौद्धिक और सास्कृतिक वातावरण विकसित हुआ, जिसने १९१७ तक जागृति के द्वन्द्व की परिस्थितियाँ प्रस्थापित की और वह स्थिति राजनीतिक क्षेत्र के बाहर अगली दशाब्दी मे आयी। यह नया विकास चीन, उसकी जनता और सारे विश्व के आर्थिक, सामाजिक और राजनीतिक भविष्य के लिए उतना ही महत्त्वपूर्ण था, जितना कि १९३१ तक सुदूरपूर्व में कोई एक प्रवृत्ति के लिए था। परिणामस्वरूप इसके तात्कालिक व दूरगामी कारणो व परिणामो दोनो दृष्टिकोणो से जितनी जगह की गुंजाइश हो उतनी निकटता से, आधुनिक समय मे सुदूर पूर्व के इतिहास के अत्यधिक महत्त्वपूर्ण दौर के रूप मे इसका परीक्षण करना आवश्यक है। जहाँ सन् १९२० से १९३० तक दशाब्दी मे यह बहुत महत्त्व का था, तथापि यह स्मरण रखना चाहिए कि उस समय तक इसने व्यापक रूप में केवल शिक्षित-वर्ग को ही प्रभावित किया था और कि पूरा प्रभाव केवल इससे महसूस किया जाता था, कि इसका जनसाधारण मे प्रवेश हो गया था।

## (२) शैक्षणिक विकास

चीनी विचारो मे परिवर्तन का प्राथमिक कारण शिक्षा थी। १८९८ के पूर्व, और वास्तव मे १९०५ के पहले देश मे सार्वजनिक शिक्षा का बहुत कम प्रयास हुआ था। शिक्षा से सत्ता का सम्बन्ध व्यापक तौर पर परीक्षा की व्यवस्था तक ही, जब तक कि वह १९०५ मे जब उसको समाप्त कर दिया, सीमित रहा। इसका वर्णन पहले ही हो चुका है। जहाँ तक परीक्षाएँ उच्चकोटि के साहित्य अथवा उच्चकोटि के साहित्यिक निबन्धो पर आधारित थीं, शैक्षणिक प्रेरणा सीधे तौर पर नवीनीकरण और नये विचारो के प्रचार से दूर थी। दूसरे शब्दो मे शिक्षा

का प्रसार व्यापक रूप से पुरातन ज्ञान की विशेष भाषा मे विकसित हुआ, न कि प्राथमिक रूप से वर्तमान और भविष्य के सम्बन्ध में। इसके साथ ही शिक्षा का परिणाम, योग्यता जिससे निर्माणकारी विचार विकसित होते है, की अपेक्षा धारणायुक्त स्मृति ही था। इसके अतिरिक्त 'शिक्षित' वर्ग तथा अधिकारि-वर्ग के बीच आतरिक सम्बन्धो ने पुरानी बौद्धिक व्यवस्था को कायम रखने मे निहित स्वार्थ पैदा कर दिये। इसने शैक्षणिक परिवर्तन के लिए गभीर बाधक का कार्य किया, चूँकि नये शैक्षणिक क्षमता की स्वीकृति पुराने उच्च साहित्यिक विषयो मे शिक्षित अधिकारियो का महत्त्व कम कर देगी। परिणामस्वरूप यह केवल धीरे-धीरे ही हुआ कि अधिक जागरूक अधिकारी भी, जो विदेशियो के निकट सम्पर्क मे आये ''पश्चिमी शिक्षा'' की महत्ता का आदर करने लगे।

इस प्रकार चीन की 'शुरुआत' करने की विधि के दूसरे और अधिक महत्त्वपूर्ण हिस्से के रूप मे चीनी मस्तिष्क को स्पष्ट करना आरम्भ करने का कार्य विदेशियो पर ही छोड़ दिया गया। चीन के अनेक विदेशी गुटो मे केवल मिशनरी तत्व ही ऐसे थे, जिनकी शिक्षा मे स्वाभाविक रुचि थी। व्यापारीवर्ग चीनियो से चीनी व विदेशियो से व्यापारियो के मध्यवर्गियो के जरिये व्यवहार करते थे, भाषा सीखने का बहुत कम प्रयास करते थे और आम तौर पर चीनी दुनियाँ से, जिसके बीच वे स्वयं को पाते थे अलग ही रहते थे। दूसरी ओर मिश्नरियो का कार्यकलाप, जहाँ तक यह उन्हें स्वीकार करे, इन्हें आवश्यक रूप से चीनी समाज के सम्पर्क मे ला दिया। और उसने शीघ्र ही यह पाया कि यह समाज उसको तत्परता से अपना लेगा यदि वह सेवाएँ अर्पित करे, जो कि स्पष्टतया ईसाइयत के प्रचार की नही थी, जितनी कि उसके धार्मिक सदेश की भूमिका थी। परिणामस्वरूप स्कूलो और अस्पतालो की भी स्थापना की प्रारम्भिक प्रेरणा उसकी चीनी समाज के अधिक निकट आने की इच्छा मे निहित है, जितना कि उसके ईसाइयत के प्रचार के कार्य तक सीमित होने पर सम्भव नही होता।

मिश्नरियो की शिक्षा मे रुचि की दूसरी सफाई, जो कि करीब उतनी ही महत्त्वपूर्ण है, उनकी ईसाई-समाज के लिए वही सेवा करने की इच्छा मे मिलती है, जो कि पश्चिमी देशो मे चर्च स्कूल करते हैं। एक शिक्षित क्षेत्र के महत्त्व का निश्चय रूप से आदर होता है, विशेषकर चीन में शिक्षा पर शुल्क लगाने को देखते हुए। ईसाई-शिक्षा का जितना सम्भव हो उतने व्यापक प्रमाण में फैलाव आवश्यक भी था, यदि ईसाई आचार-पद्धति को कनफूशियन पद्धति का स्थान लेना था, अथवा उसमे सुधार करना था। इसके अतिरिक्त यदि अपने धार्मिक

कार्य को सफलतापूर्वक चलाना हो तो चर्च पर ही निर्भर था कि स्वदेशीय नेतृत्व को प्रशिक्षित करे। निस्सदेह उपयुक्त चर्च-नेतृत्व प्रशिक्षित करने की इच्छा ही शिक्षा में रुचि की बहुत कुछ सफाई दे देती है। मेडिकल शिक्षा का आरम्भ होना तथा अस्पतालो की स्थापना को उतना ही महान् आवश्यकता को महसूस करने का कारण कहा जा सकता है, जितना कि लोगो से विस्तृत आधार पर सबध करने की इच्छा को। ईसा के उपदेशो के सामाजिक भावो की मान्यता से चीनियों की उक्त तथा अन्य तरीकों से सेवा करने की इच्छा को समझने मे मदद होगी। परन्तु स्वभावतः अन्तिम उद्देश्य था, ईसाइयत का प्रचारकार्य और इस उद्देश्य के प्रयासयुक्त साक्षात्कार ने ही बहुत सीमा तक मिश्नरी-कार्य के ईसाइयत के प्रचार के अलावा अन्य कार्यों को जोड़ा या उन्हें रंगा था।

मिश्नरी भी शीघ्र ही और स्वाभाविक ही ईसाइयत प्रचार के प्रारभ मे शब्द-कोष बनाने, भाषा का अध्ययन करने और अनुवाद करने के कार्य मे जबरन पड़ गये, क्योकि वही चीनियो से सीधे प्रकट कर सकता था और वही उनके उपयोग की सामग्री को उस रूप मे रख सकता था, उससे ही अपने धार्मिक उद्देश्य पूर्ण करने की अपेक्षा की जा सकती थी। पहले उसके अनुवाद-कार्य ने छोटी धार्मिक पुस्तिकाएँ तैयार करने का रूप लिया। परतु फिर उसके रास्ते का आधार विस्तृत करने के लिए उसे अन्तत॰ धर्म-निरपेक्ष साहित्य का अनुवाद करने के लिए लगाया जाता था। यह कार्य स्पष्टतया शैक्षणिक प्रकार का था, और इसने शिक्षा मे अधिक औपचारिक रुचि का चीनी-समाज मे प्रवेश के तरीके के रूप मे विकास करने की ओर उन्मुख किया।

तथापि अधिक मानवीय व अन्य रुचियों ने उसे प्रवृत्त किया होगा कि मिश्नरी के लिए शिक्षा, बौद्धिक पुनर्जन्म की ओर अग्रसर करने की अपेक्षा एक साध्य के लिए साधन था। इसका परिणाम यह था कि जो शिक्षण के लिए रखे जाते थे, वे बहुधा मुख्यत. ईसाई उपदेशो के प्रसार में उनकी रुचि के आधार पर चुने जाते थे, न कि इस कारण से कि वे शिक्षक के रूप मे प्रशिक्षित किये गये है। स्कूल में अक्सर कर धार्मिक पाठों पर जोर देते थे न कि कक्षा के कार्यक्रम में और तदनुसार वे चीन में शैक्षणिक समस्या का कोई महत्त्वपूर्ण अध्ययन नही करते थे अथवा ऐसा न करने के लिए योग्य होते थे। १९ वी शताब्दी के अत तक स्कूल प्राथमिक विभाग के होते और बहुधा मिशन के हिस्से होते थे।

प्रथम उच्चतर स्कूल जो स्थापित हुआ वह रोमन कैथोलिक प्रचारको का था। १८७९ में शघाई मे सेंट जॉन्स विश्वविद्यालय की स्थापना के बाद कुछ नाममात्र की

कालेजी श्रेणी के प्रोटेस्टेंट मिशन स्कूलो की संख्या तेजी से कई गुनी होने लगी। कुछ समय तक, काम की श्रेणी की दृष्टि से वे अमेरिकी हाई स्कूलो के सदृश होते थे, यद्यपि वे कालेज या विश्वविद्यालय कहलाते थे। १९११ की क्रांति के बाद तक उक्त उच्चतर स्कूलो की समालोचना वही हो सकती है, जो मिश्नरी-स्कूलो की आम तौर पर होती थी—जहाँ तक रुचि व प्रशिक्षण का सम्बन्ध था, शिक्षक, मिश्नरी पहले होते थे और शिक्षक बाद में। परिणामस्वरूप, उच्चतर स्कूलो मे जो काम होता था, वह शिक्षाशास्त्रियो के दृष्टिकोण से कड़ी आलोचना के लिए खुला था। यह कहना सभवत कुछ ठीक होगा कि वर्तमान शताब्दी की पहली दशाब्दी तक यह बात सही रही। प्राथमिक, माध्यमिक व उच्चतर स्कूलो की सख्या वहुगुणित हो गयी और १९०० से १९१० तक छात्रो की सख्या बढी, तरीके और उद्देश्य लगभग वही रहे।

कालेज मे अध्यापन का जो तरीका हमेशा अपनाया गया, वह भाषण का तरीका था, जिसके साथ जहाँ सभव हो पाठ्य पुस्तको का प्रयोग भी जोड़ दिया गया था। प्रयोगशालीय वैज्ञानिक अध्यापन थोडा कुछ होता था, और प्रयोगशालीय विधि का बहुत कम उपयोग होता था। परिणामस्वरूप आम तौर पर मिशन-स्कूल मे जिस बात पर जोर दिया जाता था, वह भिन्न थी, परन्तु चीनी गैरसरकारी स्कूल से बहुत कम भिन्न थी। विद्यार्थी स्मरण-कार्य करते रहे और विश्व के, जिसमे वे रहते थे, विचारपूर्ण परीक्षण की ओर बहुत कम प्रोत्साहित हुए। पश्चिमी विषय चीनी शास्त्रीय विषयों के साथ पढाये जाते थे, परन्तु वे छात्रो के अनुभवो से असम्बद्ध थे। वह पढता था और याद रखता था और परीक्षा मे उत्तीर्ण अथवा अनुत्तीर्ण अपनी स्मरण-शक्ति की धारणा-शक्ति के अनुसार होता था।

चीन मे सार्वजनिक शिक्षा १९ वी शताब्दी के अंत से आरम्भ होती है। यह सही है, टंगवेन कालेज १८६५ मे स्थापित हो गया था, परन्तु वह सार्वजनिक स्कूल-पद्धति के प्रारम्भ को नहीं दर्शाता। प्रथम वास्तविक चीनी विश्वविद्यालय की स्थापना ली-हुंगचांग द्वारा १८९५ में तिएनसिन मे की गयी। दो अन्य विश्वविद्यालयों चियाओ—तुगपु-नान्यांग और पीकिंग विश्वविद्यालयो की स्थापना १९०० के पूर्व हुई। अन्यथा पूर्ण जनरुचि नौसेना और मिलिटरी स्कूलो मे, जो अधिकारियो के प्रशिक्षण के लिए थे, अभिव्यक्त होती थी।

नये दिवस के प्रारम्भ की परीक्षा-पद्धति में सुधार के साथ तथा राष्ट्रीय नयी स्कूलपद्धति की स्थापना के साथ राज्य-घोषणा हुई थी। नयी स्कूल-पद्धति १८९८ के सुधार कार्यक्रम के हिस्से के रूप मे प्रस्तावित हुई थी। परन्तु नये युग का केवल

१९०५ मे परीक्षापद्धति की समाप्ति के साथ तथा १९०८ मे विस्तृत शैक्षणिक कार्यक्रम की स्थापना के साथ संवैधानिक शासन के प्रारम्भ के लिए तैयारी के बुनियादी हिस्से के रूप मे उद्घाटन हुआ। स्कूलों का निर्माण हुआ और कई मंदिर पश्चिमी शिक्षा के लिए स्कूल मे परिवर्तित कर दिये गये। स्कूलो की संख्या का कई गुना होना आगे गणतंत्र के अतर्गत जारी रहा, जिससे कि १९३१ में प्राथमिक स्कूल से विश्वविद्यालय तक वहाँ सभी श्रेणी के लगभग १,३०,००० शासकीय स्कूल थे, जिनमें लगभग ४२ ५ लाख विद्यार्थी भरती किये जाते थे। यह विस्तार इतना तेज था कि आधुनिक स्कूलो के लिए प्रशिक्षित शिक्षको की पूर्ति करना असम्भव था। परिणामस्वरूप, कई, जिनका पश्चिमी विद्या का ऊपरी अल्पज्ञान था, नौकरियो मे डाल दिये गये। कई मिशन-स्कूलो से आये, अन्य १९०० के पश्चात् अध्ययन हेतु जापान जाने वाले विद्यार्थियो के बहाव मे से पूर्ति किये गये, और कुछ विशेषकर उच्चतर स्कूलो मे यूरोप में और अमेरिका मे प्रशिक्षित किये गये थे। जैसा कि स्पष्ट किया जा चुका है, जो अध्ययन हेतु जापान गये, उनकी ज्ञान प्राप्त करने की अपेक्षा डिप्लोमा प्राप्त करने में अधिक रुचि थी। वे, जो पश्चिमी देशो मे पढे थे, उनमे पृष्ठभूमि का अभाव था, केवल यही उन्हे अपने अध्ययन से पूरा लाभ लेना सम्भव कर सकता था। और छात्रो में से कुछ, जो कि १९ वी शताब्दी के प्रथम १५ वर्षों मे चीन अथवा बाहर प्रशिक्षित किये गये प्राथमिक रूप से शिक्षा की समस्या में रुचि रखते थे। पश्चिमी ज्ञान सार्वजनिक पद पाने के लिए खुला गुप्त द्वार समझा जाता था और इसी कारण उसकी खोज होती थी। परिणामस्वरूप, अक्सर निराश पदाभिलाषी ही शिक्षण की ओर सहायता के साधन के बतौर जाते थे, ठीक उसी तरह जैसे पूर्व के काल में होता था।

विदेशो में प्रशिक्षित चीनी की देश को जगाने की योग्यता उसकी स्वय की जागृति के प्रमाण पर ही निर्भर होती थी। १९१० के बाद विदेश जाने वालों में बढ़ती सख्या में लोग पश्चिमी कालेज और विश्वविद्यालयो मे पश्चिमी विषयों का अध्ययन करने को तैयार थे। विदेशी भाषाओ, विशेषकर अग्रेजी के प्रयोग में उनकी दक्षता थी, और वे अंशतः विदेशियो द्वारा ही प्रसिद्ध संस्थाओ में जैसे कि सेंट जॉन्स विश्वविद्यालय और अमेरिकन क्षतिपूर्ति-स्कूल, शिगुआ कालेज में प्रशिक्षित किये जाते थे। परन्तु यह दुहराया जाना चाहिए कि उन्होने बहुत अधिक व्यापक रूप से पश्चिमी इतिहास, दर्शन, राजनीति विज्ञान तथा अन्य विषयों का अध्ययन किया था, मानो वे अमेरिकन या अंग्रेज लड़के थे न कि चीनी जो कि उनमें चीनी जीवन और चीनी वातावरण के सम्बन्ध में रुचि रखता था। यह तरीका बहुधा पश्चिमी

कालेजो मे, जिनमे वे जाते थे, जारी रहा। वे जॉन स्टुअर्ट मिल को जानते थे, परन्तु उनके शिक्षक जो चीन के विषय मे अपरिचितो मे प्रमुख थे, उन्हे चीन के सम्बन्ध मे सरकार के बारे मे उसके विचारो का परीक्षण करने की ओर ले जाने के योग्य नही थे या ऐसा नही करते थे। यदि वे समाजशास्त्र पढते थे, तो वह अध्ययन पश्चिमी परिस्थितियो और समस्याओं के बारे मे होता था, न कि उसके देश की परिस्थिति या समस्याओ के सम्बन्ध में। जितनी अवधि तक वे विदेश मे पढते थे, उनका ध्यान इस दृष्टिकोण पर होता था कि उनका देश सीधा-सीधा पश्चिमी देश ही है। वहाँ से उनके लौटने पर उनके समक्ष पुनः समन्वय करने की गभीर समस्या उपस्थित हो जाती थी, जिसने प्रारम्भ में बहुत अधिक निराशावाद बढ़ाया, और केवल धीरे-धीरे ही चीनी-समाज की रचनात्मक आलोचना की ओर बढा जो कि पश्चिमी समाजो से उसके स्वभाव के भेद का बुद्धिवादी ज्ञान प्राप्त करने के प्रयत्न पर आधारित था।

जैसे समय बीता चीन के स्कूलों मे अधिक समझदार शैक्षणिक हल अस्तित्व में आया। विदेशी शिक्षक और विदेशो में प्रशिक्षित चीनी शिक्षको ने समान रूप से चीनी-जीवन की कुछ समस्याओ के ज्ञान पर जोर देना आरम्भ कर दिया और इसने शैक्षणिक कार्यक्रम को पुन. निर्देशित करने का आह्वान किया। यह परिणाम था, आशिक रूप से मिशन-स्कूलो के लिए शिक्षको के चयन का, वह भी कार्य के लिए कुछ उपायो का प्रशिक्षण न कि असभ्य मनुष्यो की रक्षा के लिए "आह्वान", और आंशिक रूप से यह परिणाम था चीनियो द्वारा विदेशो मे किये जा रहे अध्ययन में परिवर्तन का। इसके अतिरिक्त शासकीय कार्यक्रम के हिस्से के रूप मे नार्मल स्कूल स्थापित किये गये और नीचे के स्कूलों के शिक्षको को कुछ प्रशिक्षण दिया गया।

यह ध्यान देने के लिए महत्त्वपूर्ण है, कि १९१६ के पश्चात् उन्नतिशील विद्यार्थियो का सरकारी पद पाने के लिए प्रशिक्षण की अपेक्षा गैरसरकारी व्यवसायों के लिए जोर देने की तैयारी की ओर झुकाव होने लगा। १८९८ से राजनीति ही उस समय तक विद्वानो का ध्यान आसक्त किये रही, जब यह बहुत कुछ स्पष्ट हो गया कि १९११ का राजनीतिक आन्दोलन चीन को एक उन्नतिशील किस्म के पश्चिमी राज्य मे बदलने मे असफल हुआ है। ऐसा प्रतीत होता है, कि यह केवल १९१५ के बाद व १९२० के पूर्व इस सत्य का आदर होने लगा कि मूलभूत परिवर्तन सामाजिक, आर्थिक और बौद्धिक परिवर्तन पर निर्भर है। दुर्भाग्य से यह प्रशंसा उसके बाद हुई, जब पश्चिम में प्रशिक्षित चीनियों ने पाया कि गणतत्र ने व्यापक रूप से स्वयं के हाथ में रातोरात सत्ता लेने के स्थान पर, उसका नियत्रण पुरानी

शैली के पदाधिकारियो के हाथो में छोड़ दिया। १९१६ के पश्चात् बुद्धिवादियों का दृष्टिकोण अच्छी प्रकार से उनकी पत्रिका के शब्दो मे मिलता है, जिसने लिखा है :—

"मेरे नम्र मत में राजनीति ऐसे भ्रम मे है, कि यह जान नही पाता कि किस बात की चर्चा करूँ........। जहाँ तक मूलभूत उद्धार की बात है, मेरा विश्वास है, कि इसका आरम्भ नये साहित्य में खोजा जाना चाहिए। संक्षेप में हमे चीनी विचारो को विश्व के समकालीन विचारो के सीधे सम्पर्क में लाने का साहसिक प्रयास करना चाहिए और उसके बाद उसकी मौलिक जागृति का। और हमें यह देखना चाहिए कि विश्व-विचारो के आधारभूत आदर्श सामान्य मनुष्य के जीवन से सम्बद्ध होना चाहिए।"[४]

बुद्धिवादियों के दृष्टिकोण में परिवर्तन का एक परिणाम हुआ व्यावसायिक शिक्षा का आरम्भ और उसका शैक्षणिक विधि के एक भाग के रूप में स्वीकृति। यह अपने आपमे शिक्षा की वर्षो पुरानी कल्पना से स्पष्टतया अलग था, पुरानी कल्पना थी मस्तिष्क (स्मृति) का प्रशिक्षण, हाथ का प्रशिक्षण नही। इसी प्रकार पुरानी कल्पना से दूर जाने की बात उच्चतर टेकनिकल स्कूलो मे देखी गयी, जहाँ कि प्रयोगशाला में और खेतो मे हाथ से काम करने की इच्छा क्रमशः पनपी। चिकित्सा के अध्ययन में प्रयोगशाला-विधि आरम्भ की गयी, जिससे कि छात्रो को पूर्णतया भाषणों पर ध्यान देने, किताबें पढ़ने और चित्र देखने की अपेक्षा आशिक रूप से प्रयोग द्वारा अध्ययन करना पडता था। इजीनिर्यारिंग के विद्यार्थियो ने विस्तृत क्षेत्र के कार्य को कक्षा की पढाई से जोड़ना—लागू करना आरम्भ किया। इस बात की मान्यता का, कि एक व्यक्ति हाथो से कार्य करके भी विद्वान् रह सकता है, स्पष्ट रूप से चीनी मस्तिष्क पर विस्तृत प्रभाव हुआ। वैज्ञानिको के प्रयोगात्मक रुख के विकास ने साहित्यिक और सामाजिक अध्ययन के प्रति छिद्रान्वेशी मार्ग को प्रोत्साहित किया।

## (३) समाचार-पत्र तथा बौद्धिक जागृति

स्कूलों के अलावा, बौद्धिक जागृति पैंदा करने में दूसरा प्रभाव निस्सन्देह रूप से समाचार-पत्रों का था। इसने नये विचारो की अभिव्यक्ति का साधन प्रस्तुत किया और विदेशो व चीनी दुनियाँ की घटनाओ व गतिविधियों के सम्बन्ध मे जानकारी देने के माध्यम का काम किया। वहाँ पर काफी समय से विदेशी भाषा मुख्यतः अंग्रेजी के पत्र थे, जिन्होने चीन व अन्यत्र होने वाली घटनाओं की चर्चा करने का उपयोगी कार्य किया। कुछ सारयुक्त पत्रिकाएँ जैसे "चाईनीज डिपासिटरी" जो

'चीनी वस्तुओं' की भक्त थी। परन्तु अन्ततः उक्त विदेशी संस्थाएँ मूलतः विदेशियों को जानकारी देने और पश्चिमी दृष्टिकोण की अभिव्यक्ति करने के लिए चलती थी, न कि चीनियों में विचारों को प्रोत्साहित करने के और आगे जाने का मार्ग पैदा करने के उद्देश्य से। यह तो स्वदेशीय प्रकाशनों मे ही चीन ने स्वयं का मूल्या-करना और अभिव्यक्त करना आरम्भ किया। प्रथम चीनी समाचार पत्र १८७० मे स्थापित हुआ। दो अन्य पत्र जापान के साथ युद्ध के पहले स्थापित हुए। उस युद्ध के बाद दूसरे पत्र आये। बॉक्सर-आन्दोलन को दबाया जाना, मचू-सुधार-आंदोलन का आरम्भ और मचू-विरोधी भावनाओं की वृद्धि, सभी विभिन्न मतो की अभि-व्यक्ति को प्रोत्साहित करने के लिए समाचार पत्रों की स्थापना के कारण थे। परन्तु विशेष रूप से १९११ की क्रांति के बाद ही पत्रों की संख्या कई गुनी हो गयी। १९३१ तक प्रत्येक प्रमुख शहर का अपना समाचार-पत्र था। आवागमन के साधनों में सुधार से अधिक प्रमुख समाचार-पत्रों का बिक्री का क्षेत्र विस्तृत हो गया और उनके लिए स्थानीय समाचारो से अधिक समाचारों को प्रकाशित करना सभव हो गया। बहुत नही तो भी कई समाचार-पत्र मुख्यतः प्रचारात्मक पत्रिकाएँ थी, कुछ को तो विदेशों से आर्थिक सहायता मिलती थी, और कुछ व्यक्तियों अथवा गुटो के मुखपत्र थे। परन्तु उन सब ने चर्चाओं मे उत्तेजना लाने और विदेशो से सम्बन्धो और घरेलू राजनीति और समस्याओं के बारे मे विचारों को उकसाने का कार्य किया।

समाचार-पत्रों के अतिरिक्त, बाद की प्रगति के रूप मे, महिला-पत्रिकाओं से लेकर तो साहित्यिक और वैज्ञानिक पत्रिकाओं तक कई पत्र-पत्रिकाएँ पैदा हो गयी। अध्ययन-कर्त्ता-शिक्षक वर्ग नये विचारों के लिए आगे जाने का मार्ग पैदा करने की दृष्टि से बाद को वे विशेष महत्त्वपूर्ण थे। विद्वत्तापूर्ण पत्रिकाओं का अच्छा उदा-हरण था 'चीनी सामाजिक और राजनीतिक विज्ञान का सिंहावलोकन'। अन्य पत्रिकाएँ जो नये विचारों की अभिव्यक्ति मे ही विशेष रूप से संलग्न थी वे थीं 'न्यू यूथ' जिसकी स्थापना १९१५ में पीकिंग-विश्वविद्यालय के डीन ने की थी, १९१७ मे जिसका प्रकाशन स्थगित हो गया परन्तु १९१८ में विश्वविद्यालय के ६ आचार्यों के सपादकत्व में पुनः कार्य प्रारम्भ हुआ; 'वीकली रिव्यू' भी विश्वविद्यालय का प्रकाशन था जिसका विषय मुख्यतः राजनीति था, और 'न्यू टाइड' (जिसे बाद में दी रेनेसां कहा गया) का प्रकाशन पीकिंग-विश्वविद्यालय के छात्रों द्वारा प्रेरित था। अन्य स्कूलों ने भी अपने प्रकाशन आरम्भ किये, जिनमें कहानियाँ, नाटक, निबंध और सामाजिक रुचि के गंभीर लेख प्रकाशित होते थे।

अन्तत. बौद्धिक शक्ति के रूप मे हम जनता की बढती हुई गति का उल्लेख कर कर सकते है । रेलमार्ग ने प्रतिवर्ष उससे सफर करने वाले हजारो लोगो के दृष्टि-क्षेत्र का विस्तार कर गतिशील बौद्धिक जीवन पैदा करने मे मदद की । कुलियों ने, जिन्होंने फ्रास मे रेलवे लाइनो पर काम किया, युद्ध के बाद चीन के अपने ग्रामो को व्यक्तिगत निरीक्षण पर आधारित बाहरी दुनिया की गाथाएँ लेकर वापिस लौटे, उन्होने लोगो मे उत्सुकता जगाने मे मदद की, जिसको सतुष्ट करने की कोशिश मे समाचार-पत्रो और पत्रिकाओ ने उसे और भी आगे उत्तेजित किया ।

## (४) साहित्यिक क्रांति

नये तूफान की एक अभिव्यक्ति थी "साहित्यिक क्रांति" जिसकी १९१७ मे व बाद मे व्यवस्थित तरक्की हुई । इसका औपचारिक उद्घाटन अमेरिका-प्रशिक्षित विद्वान् तथा पीकिंग राष्ट्रीय विश्वविद्यालय की फैकल्टी के सदस्य डॉ० हु शुह (शिह) ने किया । १९१७ के आरम्भ मे उसने केवल बोलचाल की ही भाषा मे लिखने तथा विचारो की अभिव्यक्ति के माध्यम के रूप मे पुरानी साहित्यिक भाषा का पूर्णतया परित्याग करने के अपने इरादे की घोषणा की । इस साहित्यिक भाषा का चीनी विद्वानो मे वही स्थान था जो कि यूरोप के विद्वान् लेखको मे लैटिन भाषा को उस समय प्राप्त था, जब कि राष्ट्रीय भाषाओं का जन्म हो रहा था । वेन ली, अथवा चीनी पौराणिक भाषा "मृत" हो गयी थी, सिवाय इसके कि विद्वान् लम्बे समय तक इसका प्रयोग करते थे, परन्तु चीनी पदाधिकारियो की बोलियाँ न केवल व्यापक रूप से बोली जाती थी बल्कि उन्होंने "बहुत प्रमाण मे साहित्य तैयार किया, जो कि राष्ट्रीय भाषा के रूप में स्थापना के बाद किसी भी यूरोपीय भाषा का स्थान रहा हो उसकी अपेक्षा अधिक विस्तृत और विविध साहित्य तैयार किया"[५] परन्तु इसके बावजूद चीनी पौराणिक भाषा की साहित्यिक सर्वोच्चता कायम रही । यह साहित्य मुख्यत. उपन्यास का रूप था, जिस रूप को उच्चकोटि के पुरातन साहित्य की परम्परा मे मान्यता नहीं दी गयी थी अथवा समाविष्ट नही किया गया था । इस चीनी "लेटिन" का अधिकार उसकी निपुणता विद्वानो को विशिष्टता प्रदान करती थी, उसके कारण कायम रहता था । तथापि इसके आगे भी इसकी प्रतिष्ठा इस तथ्य के कारण थी यह "लम्बे समय से सगठित सत्ता की शक्ति द्वारा लादी जाती थी, और शिक्षा की बहुत विस्तृत पद्धति द्वारा समर्थित थी, जहाँ उसके विद्यार्थियो का शास्त्रीय भाषाएँ पढ़ने व लिखने की उनकी योग्यता की शक्ति के आधार पर, पद, प्रतिष्ठा और मान्यता प्राप्त करना ही एकमेव उद्देश्य था ।"[६] इस प्रकार परीक्षा-पद्धति का उन्मूलन साम्राज्य की समाप्ति दोनो बातें विद्वानो द्वारा

शास्त्रीय भाषा के उपयोग दूर जाने के सीधे सूचक थे। इसके अतिरिक्त लम्बे समय से चली आ रही परम्परा से विकसित गतिहीनता पर काबू पाना भी आवश्यक था। यह केवल राष्ट्र के जीवन से शास्त्रीय भाषाओ के परित्याग की केवल खुली और स्पष्ट मान्यता से ही और साहित्यिक व विद्वत्तापूर्ण कार्यों के लिए स्वदेशी भाषा के उपयोग की सभावना से ही हो सकता था। जनसाधारण की लोक-भाषा की सबल वकालत डॉ० हू ने की। उनके लक्ष्य का समर्थन करने मे अन्य भी आकर्षित हुए, यद्यपि कुछ समय तक नये आन्दोलन का काफी विरोध था।

१९२० मे शिक्षा मत्रालय ने लागू करने के लिए एक आदेश जारी किया कि शीतकालीन सत्र के आरम्भ से प्राथमिक स्कूलो की प्रथम दो श्रेणियो मे राष्ट्र भाषा पढाई जानी चाहिए। कुछ वर्षो के अन्दर प्राथमिक शालाएँ अपनी सभी श्रेणियो मे पुरातन भाषा के स्थान पर जीवित भाषा का उपयोग करने लगेगी। इस परिवर्तन का माध्यमिक और नार्मल स्कूलो पर आवश्यक असर हुआ, जहाँ प्राथमिक शिक्षक प्रशिक्षित होते थे और ये उच्चतर स्वेच्छा से शास्त्रीय भाषा के रूप मे पाठ्य को स्वीकार कर आने वाले परिवर्तन का पूर्वाभास पा रहे है। समाचार पत्रो तथा पत्रिकाओ ने शास्त्रीय भाषाओ में कविताएँ प्रकाशित करना अधिकाश मामलो में बद कर दिया है, और बोलचाल की चीनी भाषा में "नयी कविता" उनका स्थान ले रही है।[७] पुराने साहित्यिक स्वरूप के बधनो के ढीले होने का अभिप्राय स्पष्ट है। इसने वास्तव में नये और लचीले माध्यम मे निर्माणकारी साहित्यिक गतिविधियो को पुनर्जीवित करने का मार्ग तैयार किया। इस मूलभूत विषय मे परम्परा के टूटने ने शिक्षित चीनियो के मस्तिष्क को मुक्त करने में भी मदद की और उनको उत्पन्न करने की शक्ति के प्रयास की अपेक्षा रचनात्मक प्रयास की ओर प्रेरित किया। पुरानी शास्त्रीय परम्परा साहित्यिक शुद्धीकरण का प्रतिनिधिव करती थी, जो कि पीढियो पूर्व अपने अन्तिम परिणामो की ओर ले जाया गया था। उस स्थान से प्रस्थान ने नये साहित्यिक जीवन का द्वार खोल दिया।

भाषा का सरलीकरण आन्दोलन भी और अज्ञानता कम करने के लिए सामूहिक शिक्षण का इसका साथी भी महत्त्व का था। बोलचाल की भाषा के एकीकरण का कार्य १९१३ मे शिक्षा-मंत्रालय के तत्त्वावधान में हुए एक सम्मेलन द्वारा हाथ मे लिया गया। इस सम्मेलन ने ३१ संकेतो अथवा अक्षरो की एक ध्वन्यात्मक वर्णमाला तैयार की, जिस पर अधिकार व्यक्ति को रूपो को शासकीय बोले जाने वाली भाषा के अनुसार उच्चारण करने की क्षमता देता है। इस पद्धति का चीन के गैर-पदाधिकारी क्षेत्रो, जैसे शघाई और कैंटन में व्यापक उपयोग किया गया।[८] प्रोटेस्टेट ईसाई-क्षेत्रो

मे रोमनीकरण पद्धति प्रारम्भ मे का रूपो वास्तविक स्थान करनेवाले के रूप मे उपयोग होती थी ।

इस पद्धति के एकीकरण के लिए राष्ट्रवादी उद्देश्य से इस आन्दोलन मे निकट से सम्मिलित हुआ सामूहिक शिक्षा-आन्दोलन, जो अपने प्रमुख नेता वाय० सी० जेम्स येन के नाम से जुड़ा था और जिसका सगठन नेशनल पॉपुलर एजुकेशन एसोसिएशन के जरिये होता था । श्री येन और उनके सहयोगियो ने १३०० रूपो पर आधारित अध्ययन का एक पाठ्यक्रम तैयार किया । ये स्वदेशी भाषाओ मे अत्यधिक सामान्य उपयोग मे आनेवाले रूपो में से थे । भाषा पर उनके अधिकार ने व्यक्ति को "सरल व्यापारिक पत्र लिखने, हिसाब-किताब रखने तथा सरल समाचार-पत्रो को चतुराई से पढने" के योग्य बना दिया । प्रतिदिन डेढ़ घंटा अध्ययन करने से प्रदर्शन द्वारा यह योग्यता साढे चार महीनो मे प्राप्त की जा सकती है । शिक्षको ने स्वेच्छा से अपनी सेवाएँ अर्पित की । वे नियमित शिक्षक व विद्यार्थियो मे से थे । आन्दोलन तेजी से फैला और उसे अशिक्षित जनसमुदाय का बहुत सहयोग व रुचि मिली । आम तौर पर यह कार्य शहरो तक ही सीमित था, जब तक कि कुछ उपयोगिता के साथ कम्युनिस्टो ने हाथ मे न ले लिया ।

## (५) बौद्धिक उफान

देश मे सैनिक शासन की स्थापना के बाद चीनी बुद्धिवादियो की रुचि राजनीति के क्षेत्र से स्थानातरित होने का परिणाम हुआ बौद्धिक उफान, साहित्यिक क्राति तो जिसकी केवल एक अभिव्यक्ति थी । समालोचना का प्रकाश सभी क्षेत्रो व आचरणो, चीनी व विदेशी दोनो की ओर निर्देशित था । यह प्रयास था समकालीन चीनी जीवन व समस्याओ व आधुनिक विज्ञान व विचार धारा के प्रकाश मे उनका मूल्याकन करना । सामाजिक उपयोगिता की व्यावसायिक टेस्ट आमतौर पर लागू की जाती थी । इससे नये चीन की पीढ़ी पर जॉन दिवे का प्रभाव दिखायी दिया और यह प्रभाव चीनियो की सख्या के कारण था, जो अमेरिका निवास के दौरान उसके और उसके मत के सम्पर्क मे आये । इस प्रभाव को तब शक्ति मिली, जब उन्हें पीकिंग विश्वविद्यालय व देश भर मे भाषण देने हेतु आमन्त्रित किया गया । अन्य बलशाली प्रभाव था बर्ट्रेन्ड रसेल का, जिसके दर्शन ने नये चीन के बुद्धिवादी नेताओ के एक गुट को लुभाया था ।

इस बात को भी मान्यता देनी चाहिए कि महायुद्ध तथा उसके बाद के परिणाम ने चीनियो के मस्तिष्क मे विदेशी व्यवस्था के प्रति आदर घटाकर आलोचनात्मक प्रवृत्ति उत्तेजित करने में मदद की, जिसने शांति के ईसाई-सिद्धान्तों को

स्वीकार करते हुए भी इतने व्यापक पैमाने पर सगठित वध की अनुमति दी। जर्मन विरोधी प्रचार, जो चीन तक पहुँचा, उसने भी पश्चिमी दुनिया व उसकी संस्थाओ के बारे मे विचारो को उकसाने का काम किया। परन्तु इन सबके ऊपर पेरिस-सम्मेलन मे शाटुग अवार्ड राष्ट्रीय व देशभक्तिपूर्ण स्वरूप को भावनाओ के उफान की ओर ले गया।

## (६) विद्यार्थी-आन्दोलन

पीकिंग के विद्यार्थी ही ऐसे थे जिन्होने पेरिस के निर्णयो के समाचार चीन पहुँचने पर सर्वप्रथम विरोध की आवाज बुलन्द की। वे अमेरिकन तथा अन्य सम्बद्ध प्रतिनिधियो के मध्यस्थीकरण का प्रश्न करने मोर्चा बनाकर दूतावास तक गये। दूतावास-कार्यालय मे प्रवेश अस्वीकार होने पर वे अन्फू मत्रिमण्डल के कुछ सदस्यो के घर गये, जो कि जापान के हाथ की कठपुतली समझे जाते थे। उनमे से त्साओ-जू-लिन सर्वाधिक कुख्यात था। उसके घर को अशत. ध्वस कर दिया गया, परन्तु वह स्वय बच निकला और जापानियो के पास शरण ली। विद्यार्थियो ने सब मत्रियो से त्यागपत्र की माँग की कि पेरिस स्थित चीनी प्रतिनिधियो को आदेश दिया जाय कि वह जर्मनी के साथ शाति-सधि पर हस्ताक्षर करना अस्वीकार कर दें। पीकिंग तथा अन्य शहरो मे विद्यार्थियो के विरुद्ध पुलिस ने कदम उठाये, जहाँ कि पीकिंग से खबर आने पर विद्यार्थी "यूनियन" द्वारा सगठित किये गये थे। जेल भर गये, परन्तु आन्दोलन का अन्त नही हुआ। हर एक विद्यार्थी के कैद होते ही लोगो मे हलचल पैदा करने के लिए अन्य कई आन्दोलनकारी सामने आ जाते थे। चेम्बर आफ कामर्स तथा व्यापारिक सस्थाएँ भी छात्रो के साथ हो गयी, जो कि हडताल पर गये और जापानी वस्तुओ के बहिष्कार की घोषणा द्वारा उनके प्रचार-कार्य की परिपूर्ति की। कुछ महीनो के लिए यह बहिष्कार कायम रखा गया और व्यापारियो के विरुद्ध काररवाई के लिए चीनी सरकार पर जापानी दबाव इसको समाप्त करने मे असफल रहा। गैर-राजनीतिक वर्ग की शक्ति निष्कर्ष रूप मे प्रदर्शित हुई, क्योकि सरकार को झुकने के लिए बाध्य होना पड़ा। सन्धि पर हस्ताक्षर नही हुए और "गद्दारो" को इस्तीफा देना पड़ा।

तथापि आन्दोलन की शीघ्र सफलता दूरगामी परिणामो अथवा काम मे लाये तरीको के रूप मे इतने अधिक महत्त्व के नही थे। विभिन्न कारणो से छात्रो का हड़ताल पर जाना स्कूली जीवन की साधारण बात हो गयी। परन्तु विद्यार्थियों के लिए सड़को पर घूमकर आम जनता को वर्तमान व भूतकाल में चीन में की गयी गलतियो के बारे मे सिखाना व उपदेश देना, उनके लिए प्रदर्शन आयोजित करना

एव राष्ट्रीय उद्देश्यो की घोषणा करते हुए झडे को लेकर जुलूस निकालना, तथा आदर्शों के लिए स्वेच्छा से कारावास भुगतना—ये नयी बाते थी, जो जल्द ही अपना प्रभाव खोये बिना साधारण होने वाली थी। विदेशी वस्तुओं का बहिष्कार कोई नयी बात नही थी। यह दोनो १९वी सदी तथा २०वी सदी के आरम्भ मे किया गया। परन्तु राष्ट्रीय शस्त्र के रूप मे इसका प्रभाव पहले की अपेक्षा १९वी शताब्दी मे अधिक निष्कर्ष रूप से प्रदर्शित हुआ। इन सबसे ऊपर आन्दोलन का राष्ट्रीय चरित्र स्वयं मे अर्थपूर्ण था क्योंकि इसने चीन के एक सत्ता के रूप मे बोध का सकेत दिया, उद हरणार्थ १८९५ व १९०० में भी प्रदर्शित स्थान विशेष के प्रेम के साथ अद्भुत तुलनात्मक अतर मे।

वास्तव मे आरम्भिक उबाल दब गया यद्यपि १९१९ और १९२५ के बीच समय-समय पर विद्यार्थियो की आवाज सुनाई दी। परन्तु आन्दोलन का शैक्षणिक पहलू जारी रहा। आम जनता के लिए अज्ञानता कम करने और लोगो को चीन की गलतियो का आदर करने को जगाने हेतु प्रयत्न के रूप मे सचालित होते थे। सड़को के किनारे सचालित अथवा छात्रो द्वारा भाग ली जाती बहसो ने इसके परिपूरक का कार्य किया। मिशन-स्कूलो के विदेशी विचारो के प्रचार के कारण उनके विरुद्ध काफी आलोचना की आवाज उठी और विद्यार्थियो मे सबल ईसाई-विरोधी आन्दोलन विकसित हुआ। पश्चिम की सामान्यतया हानि इस बढ़ते विश्वास के कारण हुई कि पश्चिमी देश चीन मे अपनी पुरानी स्थिति पुनः प्राप्त करने लिए स्वेच्छा से मदद नही देंगे।

वाशिंगटन-सम्मेलन के परिणामस्वरूप यह भावना केवल अस्थायी ही घटी। एक वर्ष के भीतर डॉ० सन ने सोवियत रूस के साथ सहकारिता का समारम्भ किया और नयी कोमिनतांग-विचारधारा का विकास और फैलाव आरम्भ किया, जो कि आन्तरिक दृष्टिकोण से मौलिक था तथा विदेश-संबध के दृष्टिकोण से साम्राज्य-विरोधी था। उसके आन्दोलन ने विद्यार्थी-जगत् से बहुत-से अनुयायी आकर्षित किये, जिनमे पीकिंग के राष्ट्रीय विश्वविद्यालय के बुद्धिवादी गुट के साथ सहानुभूतिपूर्ण संबंध स्थापित करके रूसी प्रतिनिधियो ने बीज पैदा करना आरम्भ कर दिया। रूसियो ने मस्तिष्क की आलोचक प्रवृत्ति की सराहना की जबकि "संधिपत्र द्वारा व्यापारिक बन्दरगाह बनाने वाले" पश्चिमी देश इस नये विचार की यह कहकर निन्दा करने लगे कि यह अपरिपक्व, परिवर्तनकारी और बोलशेविक-प्रचार का परिणाम है। चीनी कम्युनिस्ट पार्टी के संगठन तथा उसके कोमिनताग में प्रवेश के साथ आगे भी देश के दक्षिणी भाग में विचारो का एक प्रवाह बहने लगा, जो कि बौद्धिक उफान और राजनीतिक भ्रम में और जुड़ गया।

कोमिनताग को साम्राज्य-विरोधी दल के रूप मे विद्यार्थियो के समर्थन की पुष्टि १९२५ मे जापानी मिलो मे हड़ताल के समय हुई, जब हड़ताल के समर्थन मे विद्यार्थियो के जूलुसों के परिणामस्वरूप ३० मई की "घटना" घटी। शघाई पुलिस ने जो कि अग्रेजो के कमाड मे थी, प्रदर्शनकारी छात्रों पर गोली वर्षा की, जिसमे कुछ मरे और अन्य घायल हुए। इससे सीधे कथित शमीन कत्लेआम घटना भडकी, जिसमे शघाई की ब्रिटिश काररवाई के विरोध मे प्रदर्शन कर रहे छात्रो पर कैंटन मे गोली चलायी गयी। इसका परिणाम हुआ बहिष्कार का पुनर्जन्म जो कि हागकाग के समुद्री कर्मचारियो की हडताल के समय जारी हुआ। छात्रो की गतिविधियों से पैदा बहिष्कार, जिसे कोमिनताग का समर्थन व निर्देशन प्राप्त था, उससे स्वभावत विद्यार्थी व दल मे परस्पर सबध सुदृढ हुए। दो घटनाओ से ब्रिटिश सम्बन्ध से जापान से दुश्मनी हटकर ब्रिटेन पर हो गयी, जिससे उसे साम्राज्यवादी दुश्मन का रोल अदा करने वाला निरूपित किया गया। यह परिवर्तन अत्यधिक सरलता से हुआ जितना कि यह कुछ वर्षों पूर्व होता जिसका कारण था वाशिंगटन सम्मेलन के तुरत बाद के वर्षो मे जापान की चीन के प्रति उल्लेखनीय सांत्वना-प्रदर्शन की नीति। १९२६ की वानसिएन घटना के पश्चात् ब्रिटिश-विरोधी भावना तीव्र हो गयी, जब कि एक ब्रिटिश तोपवाही नौका ने चीनी सेना द्वारा ब्रिटिश व्यापारिक नौका पर गोली चलाने की काररवाई की सजा के बतौर, यांगसी ग्राम पर गोली वर्षा की। नानकिंग सरकार की स्थापना के बाद अग्रेजो की नीति स्पष्टत. राष्ट्रवादी चीन के प्रति सात्वनाकारी होने और राष्ट्रवादी आन्दोलन कम परिवर्तनकारी होने के कारण ब्रिटिश-विरोधी भावनाएँ दब गयी। १९२७ तक पीकिंग मे विदेशी शक्तियो द्वारा एकता कायम रखने से ब्रिटिश-विरोधी भावना को विदेश-विरोधी के रूप में साधारणीकरण करने मे मदद मिली। विदेशवाद-विरोधी विचारधारा को दल की सामान्य साम्राज्यवाद-विरोधी विचारधारा के आधार पर स्पष्ट किया जाना चाहिए। परन्तु यह स्पष्ट है, कि चीनी राष्ट्रवादियो की यह प्रवृत्ति विदेशियो से छुटकारा पाने की इच्छा और उनसे मेलजोल समाप्त करने की इच्छा के कारण नही थी। यह तो तथाकथित "असमान सधियो" के बंधनो से छुटकारा पाने की इच्छा प्रदर्शित करती थी, जिससे कि चीन राष्ट्रो के परिवार मे समानता का पद प्राप्त कर सके। इससे भी आगे यह भावना के एकाएक पूर्ण परिवर्तन को प्रदर्शित करती थी कि चीन अपनी अतर्राष्ट्रीय समस्याओं के हल के लिए पश्चिम पर भरोसा कर सकता था और उस भावना से कि सस्थाएँ, व्यवहार और विचार अच्छे थे क्योंकि वे पश्चिमी थे। परिणामस्वरूप इसने आलोचनात्मक विवाद के

तूफान को बलवान् बनाने का कार्य किया ।

आलोचनात्मक विचार को जापान ने योजना प्रदान की, जब वह चीन से मचूरिया को पृथक् करने की ओर बढ़ा । चीन-सरकार ने निश्चयात्मक रूप से पश्चिमी सस्था लीग ऑफ नेशन्स पर समर्थन के लिए विश्वास किया । पश्चिमी देश लीग के जरिये काम करते थे । परन्तु जेनेवा मे जापान की निन्दा के बावजूद चीनियो ने शीघ्र ही स्वय को भूभाग की हानि के सामने पाया । इसकी छात्रो मे प्रतिक्रिया वैसी ही हुई जिसका उल्लेख हो चुका है, अर्थात् इस प्रवृत्ति का विस्तार कि चीन को स्वय पर ही भरोसा करना चाहिए, किसी अन्य राज्य अथवा सस्था पर संरक्षण और अपनी शिकायतों के निवारण के लिए भरोसा नही करना चाहिए । इस प्रकार मचूरिया के मामले ने साम्राज्यवाद के विरुद्ध बौद्धिक प्रतिक्रिया को शक्ति दी, इसने पहले से व्यापक रूप से अभिव्यक्त विचार को दृढ किया कि प्राथमिक जोर शस्त्रो और सैनिक शिक्षा पर देना चाहिए और इसने अतराष्ट्रीयवाद की वकालत करने वालो की स्थिति कमजोर करते हुए चीन के राष्ट्रीयतावाद की पुष्टि की । जैसा की डॉ० सन ने पहले कहा है, केवल सशक्त राष्ट्र ही अतर्राष्ट्रीय आधार पर सोचने की हिम्मत कर सकता है ।

## (७) परिवार-पद्धति में परिवर्तन

चीनी प्रथाओ की सजग आलोचना का शक्तिशाली उदाहरण प्राचीन वशगत परिवार-पद्धति पर आक्षेप और उसके खुले सम्बन्ध-विच्छेद के रूप मे प्रस्तुत हुआ । युवक बुद्धिवादियो द्वारा सजग रूप से संबंधविच्छेद के पहले ही परिवार-पद्धति को कमजोर करने के लिए बहुत सी बाते कार्य कर रही थी । इनमे जो उल्लेखनीय थी, उनमें प्रथम था रेलवे के विस्तार के कारण लोगो का व्यापक आवागमन । इसने पुश्तैनी मकान से दूर जाना सरल बना दिया और इस प्रकार उससे लगाव कमजोर कर दिया । इसने पैतृक परिवारों को छोटे गुटो में तोड़ने की ओर प्रवृत्त किया । पश्चिमी औद्योगिक पद्धति के आरम्भ का भी काम करने वालो को ग्रामो से कस्बो व नगरों की ओर आकर्षित करने से भी इसी प्रकार का असर हुआ, जहाँ कि वे पारिवारिक सत्ता से दूर हो गये और पृथक् बसने के लिए बाध्य हुए । एक शताब्दी से चल रहे ईसाई-प्रचार व वंशानुगत पूजा, उपपत्नी-प्रथा व परिवार-व्यवस्था से सबद्ध अन्य व्यवहारो पर उनके आक्षेप भी अन्य तथ्य था । दूसरा था पश्चिम का व्यापक ज्ञान और व्यक्ति पर बल देने से तथा एक परिवार-पद्धति से प्रस्तुत कुछ लाभो की प्रशसा । इस ज्ञान ने कम से कम चीनी पद्धति को तुलनात्मक आधार पर मूल्यांकन करने का अवसर प्रदाम किया ।

अन्य पहलू जो परिवार-पद्धति को कमजोर बनाने का कारण और परिणाम था वह था क्रमश· महिलाओ की मुक्ति। इसका प्रादुर्भाव गणतात्रिक शैक्षणिक कार्यक्रम के हिस्से के रूप मे लड़कियो के स्कूलो के प्रादुर्भाव के साथ आरम्भ हुआ। राजशाही के दिनो मे उनके शिक्षण की व्यापक अवज्ञा की गयी, क्योकि वे परीक्षाएँ नही ले सकती थी और किसी भी मामले में उनके शास्त्रीय शिक्षण की आवश्यकता नही सोची गयी। तथापि कुछ मिशन-स्कूलो ने इसका आरम्भ कर दिया था। १९११ के पश्चात् दोनो ने शासन और मिशन व गैरसरकारी स्कूलो ने लडकियों व महिलाओ के प्रारम्भिक व उच्च शिक्षण की सुविधाएँ अधिकाधिक प्रदान की। इसका परिणाम लडकियो के घर के बाहर आने व एक दूसरे के व दुनियाँ के सम्पर्क मे आने में हुआ, और इसने शिक्षित वर्ग मे विवाह का समय आगे बढा दिया। इसके आगे अधिकाधिक सख्या मे पढ़ने विदेश जाने से भी विवाह आगे टलता गया। पढने हेतु विदेश जाने वाली प्रथम लडकियाँ १८८० मे अमेरिका भेजी गयी। १९३१ तक अमेरिका मे उच्च शिक्षण-सस्थाओ मे शिक्षा प्राप्त कर रही चीनी लड़कियो की संख्या २०० हो गयी। स्वभावत जैसे-जैसे यह शिक्षण बढा कुछ महिलाओ ने घरो को सम्हालने की अपेक्षा स्वय को व्यवसाय मे लगाने की तैयारी की। प्रमुख आकर्षण था मेडिकल व नर्सिग मे, परन्तु कुछ ने वकालत का प्रशिक्षण प्राप्त किया व अन्य पत्रकार बन गयी। इस प्रकार चीन के इतिहास में पहली बार आर्थिक दृष्टि से आत्मनिर्भर अविवाहित महिलाओ के वर्ग का निर्माण हुआ जो लगातार बढ़ता ही गया।

१९१९ के विद्यार्थी-आन्दोलन व बाद के आन्दोलनो में स्कूल की लड़कियो ने लड़को के कधे से कधा मिलाया व लड़को के समकक्ष स्थान पाया। इस अप्रत्याशित प्रदर्शन का कोई बुरा परिणाम नही निकला, परन्तु इसने यह अवश्य प्रदर्शित किया कि महिलाएँ सम्भवत. चीनी जीवन में नयी पहल करेगी। शायद इसी के फलस्वरूप कुछ कालेजो व विश्वविद्यालयो में सह-शिक्षा आरम्भ हुई, और नीचे की कक्षाओ में भी इसका अतत· प्रयोग किया गया।

युवक-वर्ग विशेषकर अमेरिका मे शिक्षित विद्यार्थी क्रमशः देश की विवाह-पद्धति के विरुद्ध विद्रोह की ओर बढ़ने लगे, जिसमे वे अपनी वधू का चयन करने में अपनी आवाज उठाने से वंचित थे, यद्यपि विदेशो मे शिक्षित छात्रों की प्रथम पीढी ने अन्य प्रथाओ की तरह इसमें भी अपनी मौन स्वीकृति दे दी थी। परन्तु अतत पैतृक शक्ति के प्रयोग के विरुद्ध लड़कों की आवाज मे नवशिक्षित महिलाओ की आवाज भी मिल गयी। इसका परिणाम यह हुआ कि पारिवारिक व्यवस्थाओं की अवज्ञा

होने लगी, शादी करने वाले दोनो पक्ष स्वय अपनी इच्छा से चुनाव करने लगे। पैतृक सत्ता इन्हें पारिवारिक निवास मे रहने देने से इनकार करने से और भी कमजोर हुई। कुछ मामलो मे यह मानना चाहिए कि विवाह-समारोह, मुक्ति के प्रतीक के रूप मे अलग किया गया। पेंडुलम एक छोर से दूसरे छोर तक घूम रहा था, यद्यपि एक ही छोर को अपनाने का मत नियम की अपेक्षा अपवाद होना चाहिए था। तब समग्र रूप से महिला-शिक्षा का प्रभाव था, परिवार-पद्धति को कमजोर करना, यद्यपि जान-बूझ कर यह उस उद्देश्य के लिए सचालित नही थी।

अन्त मे हम उपयोगिता की दृष्टि से पद्धति की सजग आलोचना द्वारा दिये गये योगदान की ओर आते हैं। परिवार या पैतृक द्वारा जीवन-साथी चुनने के विरुद्ध प्रतिक्रिया का अभी उल्लेख हुआ है। परन्तु यह प्रत्यक्ष और ऊपरी आलोचना केवल एक पहलू मे थी। यह दिखाने के लिये ऐतिहासिक अध्ययन की आवश्यकता पड़ी कि पैतृक परिवार बधनयुक्त विकास का था, यह वह स्थिति थी, जहाँ से अन्य वर्गो ने व्यक्ति पर निर्मित समाज उत्पन्न किया। इसके अनुभव ने कुछ बुद्धि-वादियों को इसकी यह कहकर अवज्ञा करना सभव बना दिया कि यह पूरी पद्धति भविष्य के चीन के लिए अनुपयुक्त है। कुछ चीनियो ने, जिनकी सख्या पुनः अपेक्षाकृत बहुत कम थी, जीवन के सोचने व कार्य के वशानुगत तरीको की प्रभाव-हीनता का और समाज में जिसके सदस्य का प्रमुख कार्य बालक पैदा करना था, पारम्परिक पूजा को चलाना मात्र था, इनका पीछा किया। यह मनोरजक बात है कि युद्ध के बाद चीन मे सतति-नियत्रण के प्रचारको को सुना जाता था। उग्रवादी लोग पैतृक-पूजा पर भी आक्षेप करने की सीमा तक गये, जो कि पद्धति का केन्द्र और प्राण था। इस सचेत आलोचना के प्रकाश मे यह उल्लेख करना उचित है; कि परिवार-पद्धति को कुछ ठोस बचाव करनेवाले भी मिल गये, जिनमें कुछ विदेशी थे। इसके बचाव का प्रमुख युक्तिसगत तर्क इसकी एकता रखने की शक्ति के आधार पर दिया जाता था। इसका उल्लेख सही ही किया जाता था, कि चीन अपने पास व दूर के पुरातन पड़ोसी देशो से अधिक समय तक जीवित रहा है, जिसका व्यापक कारण है, कि उसका जीवन पैतृक परिवारो से ही सरक्षित रहा है। चीन के "युवक" पीढ़ी के बन्धन की कमी को उसके राजनीतिक अव्यवस्था से भी अधिक गंभीर विघटन और ह्रास का लक्षण निरूपित किया गया। परन्तु बिना किसी तर्क मे पड़े यह सिर्फ कहा जा सकता है, कि दोनो बाते—पुरानी पद्धति को ठीक समझ कर बिना बहस वर्षों पूर्व जो स्वीकार किया गया था, उसका समर्थन व विरोध इस बात का सकेत था कि पुरानी व्यवस्था बदल रही थी।

परिवार-पद्धति का प्रश्न छोड़ने के पहले हमे इस तथ्य पर जोर देना चाहिए कि केवल बहुत छोटी सख्या मे ही चीनियों ने इसकी स्वस्थता पर शका की अथवा खडन किया। विदेशो मे शिक्षित चीनियों की नयी पीढी ने तथा शहरो मे विशेषकर विदेशियो के निवास, व्यापार के स्थानो के सम्पन्न चीनियों ने परिवर्तित दृष्टिकोण को अभिव्यक्त किया। ग्रामीण दृष्टिकोण समग्र रूप से तब तक पूर्व-आधुनिक ही था। तथापि परिवर्तन यद्यपि एक छोटे वर्ग तक सीमित थे, वे अर्थपूर्ण थे, क्योकि उसी वर्ग का रुख अन्तत राष्ट्र का रुख निर्धारित करता था। परिवार पद्धति से सबधित सावधानी की दृष्टि से जो कहा गया है, वह पैतृक पूजा-पद्धति से सबधित पूजा के लिए भी सही था। जनसाधारण अभी भी उसे करता था, यद्यपि युवक बुद्धिवादी उन पर आक्षेप करते थे। पैतृक पूजा धीरे-धीरे दब गयी, परन्तु वह समाप्त नही हुई थी। समाप्ति से कोसो दूर थी। पैतृक-पूजा-पद्धति पर बुद्धिवादियो का आक्षेप दूसरे दृष्टिकोण से विद्यार्थी-वर्ग व उनके शिक्षको मे कई के मस्तिष्क की शुद्ध आधुनिक व शका करने की प्रवृत्ति का सकेत था। इसका मूल था आत्मा की दुनिया पर विश्वास का अभाव तथा परिणामस्वरूप पैतृक पूजा के फल पर विश्वास की समाप्ति।

## (८) धार्मिक शंकावाद

उसी शकावाद के कारण आमतौर पर धार्मिक विश्वासों पर आक्षेप आरम्भ हुआ तथा यह कारण और ईसाइयों के विदेशी मूल व समर्थन दोनो ईसाई विरोधी भावना के मूल कारण थे, साथ ही यह भावना थी कि ईसाइयत पश्चिमी साम्राज्यवाद का अग्रिम एजेट है। परन्तु ईसाइयत के साथ-साथ बौद्ध मत, ताओ मत, कन्फूशियसवाद से उत्पन्न धार्मिकता पर भी आक्षेप हुए।

कन्फूशियन नैतिक आचरण-पद्धति की, उससे सम्बन्ध पूजा-तत्व के अलावे, अधिक कडी टीका नही हुई; और न ही उसे उखाड़ फेकने का कोई बलपूर्वक प्रयास हुआ। इसका मूलभूत समर्थन किसी भी नैतिक पद्धति की स्वस्थता द्वारा होता रहा, क्योकि इससे वर्षों पूर्व ये स्वीकार हुए थे और परम्परा के अधिकार के कारण और उस ऋषि के सम्मान के कारण उनका और चीन का नाम लगभग समानार्थी बन गया था।

युद्ध के उपरान्त कन्फूशियस उपासना-पद्धति पर बुद्धिवादियों के परित्याग का आम जनता पर कोई गभीर असर नही हुआ यद्यपि यह समय पर हो सकता हो। साम्राज्य की समाप्ति से राज्य के प्रधान द्वारा स्वर्ग की पूजा करने का तो अंत हो गया सिवाय इसके कि यूआन-शि-के ने अस्थायी तौर पर इसको पुन आरम्भ किया।

कन्फूशियसवाद को सवैधानिक अधिनियम द्वारा राष्ट्रीय नीतिशास्त्र-पद्धति के रूप मे प्रस्थापित करने के प्रयत्न असफल हो गये। प्रातो के कुछ शासकीय समारोह स्थगित कर दिये गये। परन्तु कन्फूशियस के सम्मान मे पूजा व्यापक रूप से जारी रही, जो शासनाधिकारियो द्वारा अथवा कन्फूशियस समितियो द्वारा, जिनकी कि स्थापना हुई, सचालित होता था। उस ऋषि को कई शासकीय स्कूलो मे भी सम्मान प्रदर्शित किया गया। परिणामस्वरूप आम जनता का आनेवाले समय मे कन्फूशियसवाद से जुड़े रहना सभव था, बावजूद इसके कि गणतत्र के इनसे छुटकारा पाने के प्रयास हुए।

कन्फूशियन राजनीतिक-सामाजिक पद्धति निश्चयात्मक रूप से दुनियाँ के मामलो को व्यवस्थित रूप देने से सबधित थी—पुत्र के सबध पिता के साथ, पति-पत्नी, भाई-भाई, मित्र के साथ मित्र के और शासक के सबंध जनता के साथ। इन सम्बन्धों को उस महान् शिक्षक और उसके उत्तराधिकारियो ने विशेषकर मेन्शियस और चु-त्सु ने नियमबद्ध किया है। आत्मविद्या के ५ गुण जिनपर पद्धति मे जोर दिया गया हैं, वे है दयालुता, सदाचार, शिष्टाचार, विवेक और प्रामाणिकता। कन्फूशियस ने घोषणा की थी, "जिस बात को आप स्वय पसद नही करते वही दूसरो के साथ मत करिये" यह कीमती नियम है, जो निषेधात्मक तरीके से व्यक्त किया गया है। न तो कन्फूशियस ने न उनके टीकाकारो ने ही प्राचीनों के विवेक को व्यवस्थित करने व नियमबद्ध करने से अधिक कुछ करने का दावा किया। परिणामस्वरूप वे हमेशा उच्च प्रकार के जीवन की अभिव्यक्ति के रूप मे भूतकाल का ही जिक्र करते थे, इस प्रकार आगे के विचारो की अपेक्षा पिछड़े विचारो का उपदेश देते थे। पुत्र-पुत्री की ईश्वरभक्ति पर सद्गुणा मे सर्वोच्च के रूप में जोर देने से पैतृक उपासना-पद्धति का विकास हुआ, जिसने पिछड़ेपन के लिए अर्द्ध-धार्मिक सत्ता प्रदान की। इन दो बातो पर कन्फूशियसवाद का परिवर्तनकारी बुद्धिवादियो का जानकर सघर्ष हुआ न कि कन्फूशियस की नैतिक पद्धति पर।

वास्तव मे परिवर्तनकारी प्रवृत्ति के लिए कन्फूशियस और मेंशियस के उपदेशो मे ही अधिकार पाया गया। जहाँ तक ईश्वर की कल्पना और मृत्यु के पश्चात् जीवन का सम्बन्ध है, उन्होंने प्रत्यक्षवादी दृष्टिकोण अपनाया। जब तक इस जीवन की समस्याएँ ही हल करनी हैं, अज्ञात के पीछे परेशान क्यो होना? उन्होंने ईश्वर की कल्पना की अवज्ञा नही की, परन्तु उन्होने इसका विकास नही किया।

यह सही है, कि सम्राट् द्वारा शासकीय रूप से स्वर्ग की उपासना का कन्फूशियसवाद से निकट संबंध था, पर इसने पुराने समारोह को कायम रखना व विकसित

करना ही प्रदर्शित किया। यह भी सही है, कि कन्फूशियस तथा आकाशमण्डल के छोटे ग्रहो दोनो की पूजा के साथ ही पूर्वजो की पूजा-पद्धति के एक अंग के रूप में प्रस्थापित हुई और १९०७ मे शासकीय आदेश द्वारा ऋषि को स्वय नियमानुसार माना गया। परन्तु ये तत्त्व राजनीतिक पद्धति पर विकास को प्रदर्शित करते थे, जिससे यह अनुभव किया गया कि, काटे-छाँटे जा सकते है, जैसा कि पद्धति की वैधता को क्षय किये बिना स्वर्ग की पूजा का किया गया था।

अन्य महान् स्वदेशोत्पन्न दर्शन—ताओवाद—ने बहुत पहले अपना दार्शनिक स्वरूप खो दिया। धर्म-दार्शनिक के बतौर यह निश्चयात्मक रूप से गूढ और निवृत्तिमार्गी था। इसका नाम उसके 'ताओ' पर जोर के कारण है :—

....एक अवैयक्तिक सिद्धान्त या अधिकार, जो कि स्वतत्र भाव से देखने पर दुर्बोध, अवर्णनीय और जिसे नाम देना असभव है। आपेक्षिक भाव से देखने पर वह बहुत-सी वेश-भूषा मे और सम्पूर्ण विश्व के सभी भागो मे दीखता है। इसे सही प्रकार से ईश्वर के रूप में नही रखा जा सकता। वास्तव मे एक अगम्य गद्यांश मे वे कहते है, "यह ईश्वर के सम्मुख हुआ दिखायी पडता है।" ताओ, तथापि सभी वस्तुओ का स्रोत और सहारा है। शांतिपूर्वक, बिना प्रयत्न के और निरन्तर, यह अच्छे के लिए काम करता है, और मनुष्य स्वयं को उसे समर्पण करके, बिना प्रतिरोध किये, बिना प्रयास के अपने उच्चतम कल्याण तक पहुँच सकता है। पीड़ा मनुष्य की मौलिक निर्दोषिता व सरलताओ की स्थिति से दूर भागने का परिणाम है। सारे अध्ययन और ज्ञान की खोज को त्याग देना और ताओ की पूर्णतया सरल स्थिति की ओर वापिस लौटना अच्छा होगा। युद्ध, प्रयास, पीड़ा सभी तब समाप्त हो जायँगे और समय शान्त नदी मे तैर कर, व्यक्ति उचित समय में ताओ के समुद्र मे समा जायेगा।[१]

यह श्रेष्ठ गूढ दर्शन जनसाधारण के लिए बहुत अधिक कठिन था और शिक्षितो की भी जड़ नहीं जमा पाया, जिससे यह कनफूशियस-दर्शन का स्थान ले पाता। परिणामस्वरूप जल्द ही इसका जादू और अधविश्वास की पद्धति में विघटन हो गया। ताओवादी पुरोहित "जादू और टोना के प्रमुख नेता थे, जो कि अन्य देशो की तरह प्रागैतिहासिक उत्पत्ति का है, और आत्मवाद के महान् पुरोहित है . । वे किसी भी प्रकार के कार्य के लिए तैयार है, भले ही झाड-फूंक कर भूत भगाने का हो, नरक से आत्मा की मुक्ति का हो, दैवीकरण या अध्यात्मवादी माध्यम से ईश्वर की सलाह प्राप्त करना हो, प्लेग के शैतान से प्रतिष्ठापूर्वक रक्षा के लिए आम जुलूस आयोजित करना, ईश्वरो की जन्मतिथियाँ मनाने के लिए नाटकीय प्रदर्शन आयो-

जित करना—वास्तव मे कोई अधविश्वासी कार्य नही है, जिनमे वे हाथ डालने व शका दूर करने को तैयार नही हो।"[१०]

इस पद्धति और फेंग-शुई पद्धति, जो कि इसके निकट थी, मे समान व्यक्ति जो शिक्षित थे, इसकी पकड़ मे थे। फेंग-शुई पद्धति ने रेलवे तथा अन्य पश्चिमी मशीनो का प्रारम्भ रोक दिया, क्योकि अंधविश्वासी को हवा और पानी की आत्मा पर उनके असर का भय था। वास्तव मे बहुत से कुशाग्र और तर्कपूर्ण चीनियो ने १९वी सदी मे भी अंधविश्वास और जादू के व्यवहार की पूरी सत्ता पर अविश्वास जाहिर किया परन्तु सकट की स्थिति मे वे शायद ही कभी पुरोहित की सेवा स्वीकार करने से चूकते थे, इस अल्प सम्भावना से कि इसमे शायद कुछ हो सकता है।

पश्चिमी वैज्ञानिक शिक्षा के श्वास ने तथापि, शिक्षितो और अशत. शिक्षितो मे अलौकिक के भय के धुध को साफ करना आरम्भ कर दिया। ताओवादियो की आश्चर्यजनक ढंग से विकसित आत्मा की दुनिया पर शकावाद का प्रसार निश्चित था, क्योकि जनसाधारण मे शिक्षा व्यापक रूप से फैल गयी थी। वास्तव मे १९११ के बाद बहुत से मदिरो की मूर्तियाँ नष्ट कर दी गयी और हटाकर अंधेरे मे किसी कोने मे रख दी गयी और स्वय मदिर पश्चिमी शिक्षा को समर्पित कर दिये गये। तथापि भूत और आत्मा मे अधविश्वास को पूरी तरह समाप्त करने मे पहले बहुत समय लगेगा। तथापि मेडिकल विज्ञान का आरम्भ, ऊँचे भवनो का निर्माण, रेलवे का निर्माण, मशीन का चलाना और आलोचना की वृद्धि सभी इसी समाप्ति की ओर बढ रहे थे।

चीन का तीसरा महान सम्प्रदाय बौद्ध मत भी बीसवी सदी के तूफान में बहने का अनुभव कर रहा था। मूल स्वरूप मे "बुद्ध मत सभी वस्तुओ की स्थायी अस्थि-रता, दु:ख का अतिशयोक्तिपूर्ण अनुमान और मुक्ति के लिए स्वय को समाप्त कर देना ही एकमेव मार्ग है, इन पर आधारित है। नव-बुद्ध मत अथवा महायान मत उस प्राणी को मान्यता देता है, जो अस्थिर की सीमा के बाहर जाता है और उसका उद्देश्य है विश्वास और मुक्तिदाता की स्तुति से स्थायी स्वर्ग की ओर उद्धार।"[११] बुद्ध मत के महायान स्वरूप ने ही चीन मे अपनी शक्तिशाली जड़े जमायीं। ईसा की एक शताब्दी पूर्व यह चीन में प्रविष्ट हुआ, परन्तु ढाई सौ वर्षों तक उसकी प्रगति बहुत कम रही—जिस अवधि मे किसी भी चीनी को बौद्ध संन्यासी बनने की अनुमति नही थी। रुकावट उठने के बाद नये पंथ के प्रति कन्फूशियस विद्वानों के विरोध के कारण उपस्थित अनेक उत्पीड़न के बावजूद इसका प्रसार तेजी से हुआ। विद्वानों के मध्य अधिक प्रगति नहीं होने के कारण आम जनता की इसमे

विशेष रुचि बढ़ी। चीन मे प्रवेश के पूर्व भी बुद्ध मत ने अपने उन्नत स्वरूप को खोना शुरू कर दिया। यह विधि चीन मे जारी रही। बुद्ध सन्यासी अक्सर अनभिज्ञ और अधविश्वासी, बुद्ध धर्म के उच्च नैतिक उपदेशो का आदर करने मे यदि वे उन्हे जानते भी थे, अक्षम होते थे। "कथित जनता के धर्म के वतौर यह ताओवाद से बहुत कम भिन्न है, जिसके ईश्वरवाद को अपने स्वय के मदिरो को लोकप्रिय बनाने के लिए इसे लेना पड़ा। लोगो पर इसका प्रभाव मुख्यत. मृत्यु और समाधि के समारोहो और विश्वासो तक ही सीमित है।"[१२] दूसरी ओर ताओवाद ने बुद्धवाद से जितना पाया है, उतना अधिक मन की कल्पनाएँ उससे पूर्णतया अपना ली है। और इसके दोषो के बावजूद बुद्ध मत का चीन पर बहुत अच्छा प्रभाव भी हुआ है। "इसने देश को सुन्दर बौद्ध मन्दिरो से भर दिया है। इसने देशीय दृश्यपूर्ण बागवानी सिखायी है व शिल्पकला व पेंटिंग को प्रोत्साहित किया है। इसके प्रतीक सभी सजावटी कला मे सामान्य है। प्रत्येक महल के द्वार पर सिह दिखायी देता है, छत्र शाही और न्यायिक सत्ता का चिह्न है। गुलाब प्रत्येक उच्च आधिकारिक सरकारी वेषभूषा का अग है, या था। स्वस्तिक पुनर्जन्म का जाल, कानून का चक्र—ये सब और अन्य प्रतीक उनके कपड़ो मे अकित है, लकड़ी की पच्चकारी मे काटकर बनाये गये है और छत पर अकित किए गए हैं।"[१३] सभी-पुरोहित दोषपूर्ण या अनभिज्ञ नही रहे और अनेक कालो मे बुद्ध मत ने शिक्षित समाज मे बहुत-से अनुयायी पाये। परन्तु १९वी शताब्दी मे इस चित्र का अधकारपूर्ण पहलू निश्चित रूप से अधिक ऊँचा था।

परिणामस्वरूप इसे भी ताओवाद की तरह आधुनिकता के आधार पर आलोचना और अस्वीकृति का सामना करना पडा, यद्यपि जनसाधारण मे इसकी पैठ कायम रही। परन्तु ताओवाद के विपरीत इसने पुन. खोया स्वरूप पाने और पुनर्निर्माण की शक्तियाँ दिखाना शुरू किया, जो कि उसे उसके विरुद्ध हो रही आलोचना के अधिकाश का सामना करने की और इस प्रकार फिर से चीनी जीवन मे जीवन्त शक्ति के लिए सक्षम वना सकता था। ठीक जापान और श्रीलका तथा अन्य देशो की तरह युद्ध के बाद के चीनी बौद्ध मत मे वहुत शक्तिशाली सुधार आन्दोलन चला था। १९३१ तक इसने बहुत कम तरक्की की परन्तु इसका यह तर्क नही दिया जा सकता कि इसका परिणाम सम्प्रदाय के पुनर्जीवित करने मे नही निकलेगा। अशत. बुद्ध धर्म के उपदेशो को कार्य में परिणत करने तथा ज्ञान के उद्देश्य से यह दार्शनिक रूप ले रहा था। इसका अर्थ था अंधविश्वासी तरक्की और वर्षों के सग्रह को काटकर रास्ता बनाना। वहाँ ईसाइयत का उसीके तरीको पर सामना करने के लिए बुद्धमत की मिशनरी काररवाई भी विकसित हो गयी। युवको की बौद्धवादी

समितियाँ बनने लगी और समाज-कल्याणन्कार्य का आरम्भ होने लगा था। परन्तु समग्र रूप मे जहाँ तक चीन का सम्बन्ध है, इस बात को मान्यता देनी चाहिए कि पुन चेतनता लाने का कार्य १९३१ में केवल प्रारम्भिक अवस्था में था।

ईसाई-मत की भी कड़ी आलोचना कई आधारो पर हो रही थी। राष्ट्रवादी आन्दोलन के अग के रूप मे इसके विदेशीकरण के प्रभाव पर प्रहार किये जाते थे। इस तथ्य के कारण कि मिशन का कार्य अव तक विदेशी-राशि से सचालित एव विदेशों से नियत्रित था इससे ईसाई-धर्म का सगठन उसे प्रधान रूप से परकीय के रूप मे लोगो को दिखाता था। जिस सीमा तक ईसाइयत मे धर्मान्तरण करनेवाले सामान्य ग्रामीण जीवन से अलग खिचकर ग्रामो की सामान्य गतिविधियो में भाग नही लेने से और अपने हितो को चर्च या मिशन के आसपास केन्द्रित करने से वर्तमान शताब्दी में इस बात को और बल मिलता था। इसका यूरोपियनवाद के प्रभाव के विरोध के विकास से सम्बन्ध का प्रकारान्तर से उल्लेख किया जा चुका है। परन्तु अधिक विशेषकर १९२३ के वाद मिशन के शैक्षणिक कार्य के उसके प्रधान रूप से विदेशी तत्त्व तथा चीनी जीवन की आवश्यकता को ग्रहण न करने के आधार पर आलोचना हुई। जिस समय चीन पर पश्चिमी राष्ट्रवादी दर्शन का आधिपत्य था, उस समय इसके अराष्ट्रीयकरण के प्रभाव के कारण उसे रोका गया।

ये आलोचनाएँ कम-से कम आंशिक रूप से वैध थी, इसे मिशन-क्षेत्रो और चीनी ईसाइयो में मान्यता दी गयी। इसने दो भिन्न, किन्तु निकट सबंधित आन्दोलनों को बढावा दिया। एक था स्वतत्र चीनी चर्च का विकास जो मोटे रूप से आत्म-निर्भर था और पूर्णतया स्वनियत्रित था। प्रत्यक्ष रूप से सभी प्रोटेस्टेट मिशनरी अन्ततः मिश्नरी गतिविधियो के ईसाइयत के प्रचार के पक्ष को इस स्वदेशी चर्च को हस्तातरित करने पर ध्यान दे रहे थे, यद्यपि इसे शीघ्रता से उन्हे देने के सबंधित मत पर मतभेद था। यह आशा की गयी कि इस प्रकार चर्च कुछ समय मे मिशन के साथ केवल एक जुड़ी वस्तु नही रह सकेगा, मिशन जिसने कि उसे छोटा प्रस्तुत किया है। जैसे यह हुआ तो देशी ईसाई चीन में मुख्यत. चीनियो के सलाहकार के रूप में दिखायी देंगे। दूसरे स्थान पर, मिशन का नियंत्रण ही चीनियो को देने के लिए आन्दोलन चला था। यह वाय० एम० सी० ए० द्वारा पहले ही किया जा चुका था और यह केवल समय का प्रश्न रह गया, जब तक कि कई मिशन वोर्ड ईसाई-संघो के कदमो का पूरी तरह अनुगमन करते। जब यह किया गया चीन में ईसाइयत का राष्ट्रीयकरण हो जायगा, जैसा कि यह अन्य देशो में हुआ है। रोमन कैथोलिक जिनकी श्रेणी प्रोटेस्टेंट से काफी प्रमाण में ऊँची थी, स्वदेशी धर्मसत्ता की स्थापना

की ओर बढते प्रतीत हुए और परिणामस्वरूप चर्च के विदेशी नियत्रण को कम करने की ओर। परन्तु स्वभावत संगठन मे मूलभूत मतभेद के कारण इस प्रकार की आलोचनाओं का सामना करने के उनके तरीके मे प्रोटेस्टेट के तरीको से काफी भिन्नता थी।

शिक्षा के क्षेत्र मे ईसाई-सस्थाओ द्वारा उनकी जो आलोचनाएँ की गयी, उनसे प्रस्तुत समस्याओ का अध्ययन कर रहे थे। इसका परिणाम था पूरी समस्या को चीनी एव विदेशी दृष्टि से देखने का प्रयास। चीन मे ईसाई-शिक्षा के प्रश्न का विस्तृत अध्ययन १९२२ मे इसके कार्य के लिए गठित मिशन-मण्डलो और समितियो का प्रतिनिधित्व करने वाले आयोग द्वारा १९२२ मे किया गया। इस आयोग मे कई चीनी सदस्य थे। प्रतिवेदन मे भूतकाल मे किये गये शैक्षणिक कार्यो की तीखी आलोचना की गयी और भविष्य के लिए विस्तृत कार्यक्रम प्रस्तुत किया गया। इस अध्ययन से तथा अन्य कई संकेतो से यह स्पष्ट था कि ईसाई शैक्षणिक कार्य का उन पर लगाये गये आक्षेपो का सामना करने के लिए पुनर्निर्धारण हो रहा था।

बुद्धिवादी लोग ईसाइयत पर उसके विदेशवाद की अपेक्षा अधिक महत्त्व के सवाल पर आक्षेप कर रहे थे। वे इसका परीक्षण उस तरीके से कर रहे थे, जिससे कि अधिक स्वदेशीय पद्धतियो का करते थे, और उनमें कुछ इस निष्कर्ष पर पहुँचे कि मिश्नरी चीनियो को एक प्रकार के अधविश्वासो के समूह को त्याग कर दूसरे समूह को स्वीकार करने मे लाना चाहते थे। उनमे से कुछ नास्तिक थे, उससे कुछ अधिक प्रत्यक्षवादी और इस तरह वे ईसाइयत के विरुद्ध कई तर्क पुन. प्रस्तुत कर रहे थे, जो कि पश्चिमी देशो में सुने जाते थे। उनके आक्षेपो का सामना करने के प्रयास तथा कई मिश्नरियो द्वारा उदार धार्मिक शिक्षा प्राप्त करने से मैदान में कार्य करने वाले कार्यकर्त्ताओ में परस्पर दरार पड गयी, ठीक उसी तरह जैसी कि अमेरिका के चर्च में पडी थी। इस प्रकार चीन में आधुनिकता मे विश्वास करने वाले आये, जो सामाजिक सदेश पर जोर देते थे और बाइबिल का उदार अर्थ लगाते थे और कुछ मौलिकतावादी थे, जो इस पर जिद करते थे कि चर्च का प्राथमिक कर्त्तव्य व्यक्तिगत उद्धार है। इस विभाजन ने साम्प्रदायिक रेखाओ की अवज्ञा की। अंत मे यह उल्लेख किया जा सकता है, कि चीनियो ने कभी सम्प्रदायवाद को नही समझा अथवा उसकी अथवा प्रतियोगी ईसाई-मत की आवश्यकता का आदर नहीं किया। परिणामस्वरूप जो सही विकास होना था, वह था उदार और अनुदार विचारो के साथ स्वतत्र चीनी चर्च जब तक कि प्रत्यक्षवादी विचार इतना व्यापक नही फैलते कि ईसाइयत को वास्तव में विलीन कर दें। बाद में यह असंभव प्रतीत हुआ। बीसवीं

सदी की आलोचनाओ का मुख्य अन्तिम फल यही दिखेगा कि वह इसका ईसाई मत मे रुचि रखने वाले विदेशी या चीनी को उनके विचारोंके बचाव के लिए कुछ आधुनिक आधार खोजने के लिए बाध्य होना।

## (९) चीनी कलाएँ और भवन-निर्माण-विद्या

अन्य क्षेत्र जिसमें नये विचार घुस आये और पश्चिमी प्रभाव अनुभव किया जाने लगा, यद्यपि १९३१ तक, वह था कला का क्षेत्र। पूर्व-आधुनिक काल मे उच्च कलात्मक विकास उल्लेखनीय रूप से पेंटिंग में हुआ था। अन्य का सबध धार्मिक विषयो से था, जो दोनो बौद्ध और ताओ मतो के शक्तिशाली प्रभाव को दिखाते थे। भावना की उच्चता पर बहुत अधिक जोर दिया जाता था और उसकी ध्वनि पर न कि उसे पुनः प्रस्तुत करने की टेकनिकल यथार्थता पर। चीनी कला के पूर्ण प्रवाह में से प्रतीकवाद का एक सबल प्रवाह दौड़ गया था। चित्रो को "आवाज रहित कविताएँ" समझा जाता था। वे पश्चिमी कला की अपेक्षा अधिक निकटता से कविता के स्तर की पुष्टि करते थे। उसके चुने क्षेत्र में और उसकी मर्यादाओ में निश्चयात्मक रूप से चीनी कला उतनी उच्च विकसित थी, जितनी कि यूरोपीय कला। पश्चिमी दृष्टिकोण से मुख्य कमजोरी उसके स्वरूप में और टेकनिकल यथार्थता मे थी। वैज्ञानिक ज्ञान टेकनिकल यथार्थता को हटाने की ओर बढेगा विशेषकर चित्रकला के क्षेत्र में, जबकि पश्चिम मे अध्ययन करने और पश्चिमी कला का अध्ययन करने से स्वरूप की कल्पना को लाने में सहायता होगी, तथापि, समग्र रूप से, पश्चिम के साथ सम्पर्क चीनी कला के लिए लाभकारी नही था। स्वदेशीय कला के उत्तम गुणो को खोकर मुआवजे के रूप में स्वरूप-चित्रण और यथार्थता के रूप में जो प्राप्ति हुई, वह अपेक्षाकृत अधिक थी। पश्चिमी गुण चीनी गुणो के प्रधान रूप से परिपूरक है, परन्तु दोनों को मिलाने के प्रयास से आरम्भ मे दोनो के लाभों को कुछ क्षति हुई।

यही बात भवन-निर्माण-कला के विषय मे सही थी। पुरानी शैली के भवन समरूपता की दृष्टि से बहुत नीरस थे, परन्तु वे स्पष्ट रूप से चीनी थे। प्रमुख विशिष्ट बात थी छत जिसके छोर ऊपर की ओर घुमावदार और विस्तृत सजावट वाले होते थे। "विदेशी शैली" के भवनों का आरम्भ कुछ समय तक शुद्ध नकल थी, उससे बिना किसी विशिष्टता के भवन बनने लगे, सिवाय इसके कि जो वातावरण के साथ एकरसता की कमी के परिणाम थे। कुछ प्रयास, जो कि अशतः विदेशी शिल्पकारों द्वारा पश्चिमी और चीनी विचारधाराओ को एकरस सम्मिलन निकालने के लिए हुए, अशतः सफल हुए। वे इस बात का सकेत करते थे कि पश्चिमी

कल्पनाओ को आरम्भ करने का अन्तिम परिणाम अच्छे निर्माण करने मे अनुत्पादक नही होगा।

यूरोप और अमेरिका में युद्ध बाद के वर्षों मे स्पष्टत. चीनी वस्तुओ के फैशन ने पश्चिम की आँख मूँदकर नकल करने को रोका और परिणामस्वरूप चीनी कला को कायम रखने मे मदद की। कुछ समय तक एक गभीर खतरा था कि नयी कला विशिष्ट रूप से चीन के विकास के स्थान पर पुरानी कला से नयी पर पूर्ण वेग से घूम जायगी, क्योकि वह पुरातन पर आधारित, तिस पर नयी थी, क्योंकि वह पश्चिम से ज्ञान के योगदान के प्रकाश मे सुधारी गयी थी।

## (१०) नाट्यगृह और मनोरंजन

चीनी नाट्यगृह पर पश्चिम से आये विचारो के प्रवाह का अधिकतर लाभकारी प्रभाव हुआ, यद्यपि सुधार मुख्यत. अपरिपक्व कहे जाने वाले क्षेत्र में ही दृष्टिगोचर था। नाट्यगृह की कला, जहाँ तक मच की सेटिंग अथवा न्यूनताओ का संबंध है, वह उसी स्थिति मे था, जहाँ तक एलिजाबेथ-काल का इंग्लैण्ड था। न तो परदे का उपयोग होता था और न ही मंच के सेट्स तैयार होते थे। सम्पत्तिशाली व्यक्ति मंच पर दर्शको को पूर्ण दिख सकें ऐसा प्रस्तुत कर दिया जाता था और इस प्रकार वह खुले रूप मे अपना कार्य करता था। गभीर किस्म के नाटक, बहुधा ऐतिहासिक नाटक, अभिनीत किये जाते थे और कई विस्तृत प्रहसन भी प्रस्तुत किये जाते थे। दोनो मामलो में भ्रमजाल पैदा करने का भार पूर्णतया अभिनेता और श्रोता पर होता था, चूँकि पश्चिमी श्रोताओ को प्रस्तुत किये जाने वाले साधनो का अभाव था। परन्तु व्यावसायिक नाट्यगृहो का अभिनय उत्कृष्ट था, क्योकि वहाँ निर्माण के लिए बहुत स्वाभाविक योग्यता रहती थी और मच पर आने की अनुमति के पूर्व अभिनेताओ को बहुत सख्त प्रशिक्षण मे से होकर निकलना पड़ता था।

पश्चिम से जो योगदान मिला वह था नाटक-प्रस्तुति के यांत्रिक पक्ष का और नाट्य विषयो के विकास का जो चीनी नाट्यगृह के लिए नये थे। इसके अलावे पश्चिमी प्रभाव ने पारस्परिक छोटी दिलचस्प कथाओ की लम्बी श्रृंखला के स्थान पर सगठित कथानक के दो अंको में बँटे नाटक के प्रदर्शन को प्रोत्साहित किया। विदेशो में शिक्षित विद्यार्थियो में ही पश्चिम के नाट्य-साहित्य के प्रति रुचि थी और चीनी मिडिल स्कूलो और कालेजो में पश्चिमी तरीके से नाटक लिखने एव प्रदर्शित करने का प्रयास किया गया। यह अपने आप में रुचिकर था, क्योंकि पिछले समय के चीनी विद्वान् नाट्यगृह को अपनी गभीर रुचि के अन्तर्गत मानते थे। स्कूलो मे प्रस्तुत होने वाले नाटको में यदि अभिनीत करने की कठिनाइयो का स्मरण

किया जाय तो कई काफी अच्छे थे और अभिनय और भी अधिक अच्छा था।

सिनेमा चित्र जो कि पूर्णतया पश्चिमी नवीन पद्धति थी, सधिपत्र द्वारा व्यापार के खोले गये बन्दरगाहो पर आरम्भ हुआ और कुछ सीमा तक उनके बाहर। प्रस्तुत मनोरजनो मे जैसे वाय० एम० सी० ए० द्वारा यह अधिक रुचिकर प्रकार का था। चित्र स्वय आशिक पश्चिमी थे और समग्र रूप मे चीनी पश्चिमी जीवनको तोड-मरोड कर प्रस्तुत करने की कोशिश करते थे, विशेषकर जहाँ तक यौन सबधो का प्रश्न था। १९१९ के बाद चीनी प्रोड्यूसर कपनी वन गयी और स्वदेशी उत्पादन ने अधिक महत्त्वपूर्ण होने का वचन दिया। कुछ समाचारो, दृश्यो के और शैक्षणिक चित्रो के विस्तृत प्रभाव को मान्य करना चाहिए, क्योकि सिनेमा चित्रों ने पश्चिमी सभ्यता के भौतिकवादी पहलुओ को निगाहो के सामने और स्थानापन्न तौर पर चीनियो के अनुभवो में लाने के लिए आश्चर्यजनक अवसर प्रदान किया।

अन्य दृष्टि से पश्चिम के साथ सम्पर्क ने चीनियो के जीवन को बदल दिया, विशेषकर शिक्षित गुट के जीवन को उसके मनोरजक पहलू से। अध्ययन मे रत कन्फूशियस विद्वान् ने युवक या मनुष्य के बतौर किसी प्रकार का शारीरिक व्यायाम नही अपनाया। बहुत अधिक उसने जो किया, वह था छोटे कदमो का विचारमग्न टहलना। विदेशी अपने साथ अपने खेलकूद और खेल लाया, जो कि चीनियो ने स्कूलो मे अपनाने आरम्भ कर दिये। टेनिस, बास्केटबाल, फुटबॉल और मैदानो की दौड़ या स्पोर्ट्स ने १९२० तक काफी रुचि व ध्यान आकर्पित किया। वाय० एम० सी० ए० ने स्कूलो मे दौड़ व कुश्ती की कला लागू करने मे प्रमुख पार्ट अदा किया और वहाँ से लौटकर विद्यार्थियो ने भी अपना प्रभाव डाला। चीनी मैदानी प्रति-योगिताएँ स्थानीय व क्षेत्रीय स्तर पर आयोजित हुई और जापान, फिलिपाइन द्वीपो के साथ एक बार आयोजित सुदूर पूर्व ओलपिक मे उक्त देशो के प्रतिनिधियो के साथ चीनी खिलाड़ियो ने सफल प्रतियोगिता की।

इस परिवर्तन का अभिप्राय तब अनुभव हो सकता है, जब नयी गतिविधियाँ विद्वानो की गतिविधियो से की जायँ, जो इस पर आश्चर्य करते थे कि असभ्य विदेशी ने उसके लिए ये सब बाते करने के लिए एक नौकर क्यो नही रख लिया। १९३१ के विद्यार्थियो को शारीरिक स्वास्थ्य की महत्ता रखनी सिखायी गयी, जो बात क्राति के पहले नही थी। उन्होने शरीर के साथ मस्तिष्क का आदर करना सीखा और उसका ध्यान रखना आरम्भ कर रहे थे। अनुमान द्वारा इसका अर्थ यह भी था कि उन्हें कुछ शरीर विज्ञान और उसके साथ सफाई का ज्ञान दिया जा रहा था। अन्ततः इसका अर्थ था चीनी रहन-सहन की स्थिति में रूपान्तरण।

शरीर-विज्ञान और सफाई मे रुचि, वास्तव मे केवल खेलकूद मे रुचि बढने मात्र से नही थी। यह आधुनिक चिकित्सा-ज्ञान के प्रसार के कारण भी अधिक था, क्योकि चिकित्सा-शिक्षा का पश्चिमी प्रभाव के अंतर्गत सुधार और आधुनिकीकरण हो रहा था। तथापि दोनो मिलकर अधिक पुष्ट विद्यार्थी व विद्वद्-वर्ग के निर्माण और रहन-सहन की परिस्थितियो मे सुधार की ओर उन्मुख थे, यद्यपि दूसरी बात लगभग सूक्ष्म रूप मे ही थी।

यह सही है, कि जो आन्दोलन और परिवर्तन उल्लिखित है, उन्होने उच्चवर्ग को ही प्रभावित किया और अधिकांश व्यक्ति आमतौर पर उनसे अछूते थे। इससे विदेशी को अपनी महत्ता व अभिप्राय को घटाना पडा। इतना ही नही, परन्तु इससे उनमे कुछ तो विद्यार्थी-वर्ग की आलोचना करने लगे, क्योकि वही उत्तेजना मे दिखायी देता था, और देशवासियो द्वारा अब तक पहनी जा रही वेशभूषा की अवहेलना करता दिखता था। परन्तु यह स्मरण रखना चाहिए कि चीन मे विद्यार्थियो की हमेशा एक विचित्र प्रतिष्ठा और महत्त्व रहा है। यदि वे चले गये है, लोग भी अतत चले गये है। बहुत समय तक वे शक्तिशाली अनुदारवादी और चीनी राज्य मे विदेशी प्रभाव के विरोधी रहे है। १९१७ के बाद उन्होने हटना आरम्भ किया और तेजी से हटे। उनके कई विचार अपरिपक्व थे; असभ्य तरीके से रखे गये थे, यह स्वीकार किया जा सकता है। कन्फूशियन सयम की तुलना मे वे अनुशासनहीन थे और अपने नये ज्ञान की शक्ति मे वे अशत आवश्यकता से अधिक दृढता वाले थे।

परन्तु उनमे अधिकाश आलोचना की जड़ इस तथ्य मे निहित थी कि उन्होने पश्चिम से आये विचारो और उनके स्वय के जीवन को तर्कपूर्ण ढंग से देखना आरम्भ किया—उदाहरण के लिए ये कल्पनाएँ थी राष्ट्रीयता और प्रजातत्र। इसी बीच उन्होने पश्चिमी संस्थाओ, विश्वासो व पुरानी रीतियो को तार्किक दृष्टि से देखना शुरू किया। उन्होने पश्चिम से वैज्ञानिक विधि की प्रामाणिक जाँच की, उसको भावना के साथ पाया था और उसी का उपयोग करना आरम्भ कर रहे थे।

यह किस ओर ले जायेगा यह निश्चित रूप से कहना असभव है। तीन दशाब्दियो मे यह बौद्धिक द्वन्द्व की ओर ले गया था। निश्चितत· १९३१ तक चीन शक्तिहीन और गतिहीन नही रह गया था। वह वौद्धिक और सामाजिक जीवन के गतिमान दौर मे प्रविष्ट हो चुका था।

## चौदहवाँ अध्याय

# जापान की बौद्धिक, सामाजिक तथा सांस्कृतिक प्रगति

जापान की सामाजिक तथा आर्थिक प्रगति पर विचार आरम्भ करने के पूर्व, यह अच्छा होगा कि परिवर्तनशील विचारो तथा सामाजिक संस्थाओ द्वारा निर्मित व्यापक पृष्ठभूमि को चित्रित किया जाय। चूँकि सांस्कृतिक दृष्टि से जापान सक्रमण की स्थिति में है, अतः यह निश्चित स्वरूप मे तो नही हो सकता। विकास की धाराएँ मोटे तौर पर काफी स्पष्ट है, अत. उनसे ही अच्छी खासी शुरुआत हो सकती है।

## (१) नेतृत्व पर विश्वास

यह स्पष्ट है, कि मीजी जापान वैसा ही है, जैसा कि योग्य व्यक्तियों के गुट ने, जिन्होने सत्ता हस्तगत कर पुनर्नवीकरण के बाद उसे बनाना चाहा। उनकी एक शक्तिशाली राज्य स्थापित करने मे रुचि थी—जो पश्चिमी आक्रामक प्रवृत्तियो के मुकाबले अपनी स्वतंत्रता कायम रखने में समर्थ हो और पूर्वी एशिया में प्रभुत्वपूर्ण रोल अदा कर सके। इस उद्देश्य की पूर्ति हेतु उन्होने पश्चिम से वे चीजें खुली तौर उधार ली, जिनके विषय में उन्हें महसूस हुआ कि वे राज्य की सुदृढ नीव डाल सकेंगी। प्रथमतः उन्होने पश्चिमी फौजी तथा नौसेना के शस्त्रास्त्रो तथा तरीको का आयात किया। यह सही है, कि यह राष्ट्रीय सैनिक-परम्परा के अनुकूल था, परन्तु यह वर्तमान विश्व में वास्तविक स्वतंत्रता के आधार पर, अनुभवो एव पर्यवेक्षणो से विकसित एक तीखी समझदारी का परिणाम भी था। उन्हे कृषि की कमजोरी का ज्ञान हुआ तथा उन्होने पश्चिमी मशीनो व मॉडलो को प्राप्त कर जागरूकता व कार्यशीलतापूर्वक आधुनिक उद्योगों के विकास मे तेजी लायी। इससे वर्तमान बैंकिंग तथा मुद्रा-पद्धति प्रस्थापित हुई, रेलवे का निर्माण हुआ, तथा दोनो प्रकार के सामुद्रिक व्यापार—अनुतटीय व विदेशी व्यापार—की उत्पत्ति हुई। पश्चिमी सरकारो तथा पूंजीवादियो के लिए यह आवश्यक नहीं था, कि इन उपायो को जापान पर जबरन थोपते। विदेशी मेलजोल को स्वीकार करने व पुन. स्थापना के बाद देश के नेतागण परीक्षण अथवा जानकारी प्राप्त करने हेतु विदेश गये अथवा भेजे गये। जिस बात को वे सीखना चाहते थे, उसके लिए विदेशियों को खुले-आम अपने देश में लाये और उन्हें तब तक यहाँ रखा जब तक कि उनके शिक्षण की आवश्यकता महसूस हुई। हालाँकि इस पर जोर दिया जाना चाहिए कि पश्चिमी देशों में उनकी रुचि

व्यापक तौर पर भौतिक और प्राय पूरी तरह उपयोगितावादी ही थी। फलस्वरूप वे पश्चिमी देशो की औद्योगिक-व्यवस्था के सामाजिक आशय को समझने में असफल रहे। तत्वत. कुछ अपवादो को छोडकर, जिनका कि उल्लेख किया जायेगा, जापान मे ऐसे नैतिक और दार्शनिक तत्त्व लाने का भार पश्चिम पर छोड़ दिया गया, जैसे कि पूर्व की जनता को प्रदान करने के लिए उसके पास थे, जब कि अपने लिए पश्चिम के मशीनी व भौतिक लाभो की ही खोज मे रहा।

वर्तमान जापान का निर्माण करने के लिए राज्य के नेताओ को कुछ सामग्रियों व कुछ नीवों का निर्माण करना था। उन्हे ऐसे लोगो से व्यवहार करना था जो नेतृत्व के अभ्यस्त व उससे संतुष्ट थे। सामतशाही व्यवस्था के साथ विकसित वफादारी धर्मसत्तात्मक शृखला जारी रही। पुन. स्थापना के बाद के प्रचार से वशगत गुटो की वफ़ादारी को सम्राट् के प्रति निष्ठा के रूप मे केन्द्रित करना और उसके जरिये उन्होने जो भी परिवर्तन या विकास कार्यक्रमो का शुभारम्भ किया, उसके लिए समर्थन हस्तगत करना सभव हो गया। राष्ट्रीय धर्म के रूप मे शिन्टो के पुनरुत्थान ने नयी व्यवस्था को, जिसका वे निर्माण करना चाहते थे, अतिरिक्त सहयोग प्रदान किया। इसके अतिरिक्त उन्हे देशभक्ति और राष्ट्रीयता की भावना का निर्माण नही करना पडा, जैसा कि चीन में करना पड़ा था। सामती वफादारी सम्राट् के प्रति वफादारी मे परिवर्तित कर दी गयी। सम्राट् के प्रति वफादारी आप-ही-आप नये राज्य के प्रति वफादारी में परिवर्तित हो गयी, क्योकि सम्राट् और राज्य संगठनात्मक दृष्टि से एकीकृत थे।

## (२) लोगों के जीवन में परिवर्तन

नेतृत्व की इस स्वीकृति से जापान के लिए यह सम्भव हो गया कि वह तेजी से पश्चिमीकरण का स्वरूप लेने लगा। इसी के कारण जापानियो की विदेशियो के प्रति जो शत्रुता की भावना थी, वह बहुत जल्दी बदलने मे और बहुत अर्थों में विदेशियो की अनेक बातो को पूर्णतया स्वीकार करने मे सहायक हुई। क्योकि लोगो ने उनके सम्मुख उपस्थित उदाहरण का अनुगमन किया और विदेशियो का बहुत विषयो में विदेशी दुनिया का अनुकरण करना आरम्भ कर दिया। यहाँ फिर, उन्होने पश्चिम के विचारों, नैतिक और सास्कृतिक मूल्यो की अपेक्षा भौतिक वस्तुओ मे रुचि लेने की ही परवाह की। शहरो में जापानी सैंडल और गेटा का स्थान पश्चिमी जूते लेने लगे। जापानी किमोनो के स्थान पर पश्चिमी कपड़े बहुत अधिक मात्रा मे पहने जाने लगे। कोट और पैंट या स्कर्ट के साथ ही पश्चिमी फर्नीचर भी प्रविष्ट हो गया। राष्ट्रीय भोजन में मास और दूध का स्थान हो गया। आंशिक

रूप से नयी सैनिक भर्ती मे भोजन मे मास को स्थान देने से मास का राष्ट्रीय भोजन मे स्थान हुआ। मास के कारण चावल खाने की जापानी सीको के स्थान पर या उनके साथ-साथ छुरी-काँटो का प्रयोग भी शुरू हो गया। पश्चिमी घड़ियो की तरह बिजली भी सामान्य उपयोग की वस्तु बन गयी। परन्तु पश्चिम के स्वतत्रता, समानता तथा नैतिकता आदि सिद्धात इतने मुक्त रूप से लाये अथवा अपनाये नही जा सके।

आशिक रूप से यह परिवर्तन पुनर्नवीकरण के एक वर्ष बाद की अवधि मे विदेशी वस्तुओ के फैशन के कारण भी हो सकता है। यह फैशन राष्ट्रीय उद्देश्यो को पूरा करने के लिए आधुनिक जापान के निर्माताओ ने आरम्भ किया था। परन्तु अशत. यह और भी कारणो से भी था। उदाहरण के लिए, विदेशी कपड़े कुछ कम खर्चीले सिद्ध हुए, विशेषकर उच्च वर्ग, महिलाओ और बालको के लिए। कुछ विशेष प्रकार के कार्यों के लिए वे अपेक्षाकृत अधिक अनुकूल होते थे। दूसरे शब्दो मे मूल पहनावे की दृष्टि से उसकी जो कमजोरी थी, वह अतिरिक्त उपयोगिता से पूरी हो गयी। यद्यपि विदेशी पहनावा काम की दृष्टि से स्वीकार कर लिया गया था, तो भी पुरानी वेषभूषा घरो मे अक्सर पहनी जाती थी, उन घरो को छोड़कर जिनका आतरिक रूप से विदेशी फर्नीचर के अपनाने से विदेशीकरण हो गया था। विदेशी तरीके की वेशभूषा का सेना तथा नेवी मे, जिसमे अधिकांश नवयुवक प्रभाव मे आते थे, अगीकार किया जाना, एक समान वर्दी के रूप मे स्कूल के बच्चो के हेतु वेश की आवश्यकता, तथा उन लोगो द्वारा विदेशी कपड़ो का प्रयोग जो पढ़े-लिखे है अथवा विदेशो में व्यापार मे लगे है, ये सब तथ्य राष्ट्रीय वेशभूषा मे परिवर्तन के कारण थे।

विदेशी कपड़े परम्परानुसार जमीन पर पल्थी मारकर बैठने मे अनुकूल नही लगते। स्वाभाविक रूप से वेश में परिवर्तन का परिणाम यह हुआ कि स्कूलो में कक्षाओ में बेचें तथा टेबल, कुर्सी और अन्य पश्चिमी फर्नीचर उनके घरो में या व्यापारिक स्थानो मे काम मे आने लगा, जिन्होने वेषभूषा मे परिवर्तन किया था। यह परिवर्तन और भी हुआ क्योंकि स्वयं घर ही पश्चिमी स्टाइल का था।

फिर, जहाँ ठड मे घर के बाहर पहनने मे जापानी कपड़ो की अपेक्षा विदेशी कपड़ों के कुछ अधिक लाभ है, वहाँ वे गद्दी मे या घर की गर्मी का स्थान लेने के लिए बहुत अधिक कपड़े धारण करने मे अनुकूल नही होते। इसीलिए कोयले की अँगीठी की जगह स्टोव का प्रयोग आरम्भ करना जरूरी है, जो केवल हाथ ही गरम करने के लिए उपयोगी है।

यह केवल एक उदाहरण है, कि किस प्रकार लोगो की पोशाक और रीति-रिवाजो मे परिवर्तन आरभ होता है। हलचल की अधिक स्वच्छदता रेलवे और ट्राम की लाइनो के निर्माण के साथ आयी। दोनो का आयात पश्चिम से हुआ, जिनका पुरानी सस्थाओ और रीति-रिवाजो को तोड़ने या परिवर्तित करने मे भी प्रभाव हुआ। तो भी विकसित यातायात साधनो की महत्ता, व्यापार को सुविधाजनक बनाने को छोडकर, अधिक नही थी, जैसी कि वह चीन मे अतत. होगी, क्योकि दोनो के आकार मे अतर है, और क्योकि १९वी शताब्दी के चीन की अपेक्षा पुराने जापान में पर्यटन की प्रवृत्ति अधिक थी। तथापि यह जनसख्या को एक जगह से उखाडकर उसे अधिक चलायमान बनाने मे, और परिणामस्वरूप व्यक्ति के स्थानीय नियत्रण को कमजोर बनाने मे प्रवृत्त हुई।

## (३) शिक्षा

विश्व से एक और विचार लाया गया और वह था राष्ट्रीय-स्कूल-पद्धति और अनिवार्य शिक्षा। वर्तमान स्कूलो की स्थापना और प्रसार का उल्लेख पहले ही किया जा चुका है।[1] यहाँ तो शिक्षण-पद्धति पर राष्ट्र के बौद्धिक जीवनमे महत्त्व की दृष्टि से पुनर्विचार करना चाहिए। १८९४–१८९५ के चीन से महायुद्ध के बाद सभी श्रेणी के स्कूलो की सख्या वढ़ी। स्कूल मे अनिवार्य उपस्थिति की अवधि १९०८ मे वढ़ाकर ४ वर्ष से ६ वर्ष कर दी गयी। जिनपर स्कूल मे उपस्थित होने का बधन था, उनकी तुलना मे वास्तव मे स्कूलो मे बच्चो की सख्या प्राथमिक स्कूलों की सुविधाओ के प्रसार के साथ बढ़ने लगी। १९२२ तक बच्चो की उपस्थिति शत-प्रतिशत से जरा ही कम थी। स्वतत्र रूप से अथवा अत्यधिक विकसित पश्चिमी राज्यो की तुलना मे, दोनो दृष्टि से इस संख्या का विलक्षण रिकार्ड स्थापित हुआ। यदि इसमे लगे समय पर विचार किया जाय तो यह और भी अधिक विलक्षण था। स्वभावत विकास की तीव्र गति के कारण पद्धति में कुछ दोष थे। बहुसख्यक प्राथमिक स्कूलो के लिए आवश्यक शिक्षको को पर्याप्त प्रशिक्षण देना सम्भव नही था। जो व्यापक कार्यक्रम अपनाया गया था उसको दृष्टिगत रखते हुए शिक्षा हेतु धनराशि अपर्याप्त होने से शिक्षकों को कम वेतन का निर्णय करना पड़ा और अत्यधिक विकसित पश्चिमी स्तर की माप मे पूर्ण सतोषजनक उपकरण उपलब्ध कराना असभव हो गया। प्राथमिक और माध्यमिक स्कूलो का व्ययभार आंशिक रूप से स्थानीय सरकारो को सौपा गया, राष्ट्रीय खजाने से १९२९ मे शिक्षा पर व्यय १५ खरब था। शिक्षा-पद्धति के व्यय मे सहायता हेतु निर्धनो को छोड़, सभी छात्र थोड़ी फीस देते थे, इसके अलावे वे अपनी पुस्तकें भी खरीदते थे। इन पुस्तको की

पूर्ति व्यापारिक संस्थाओ की अपेक्षा सरकार ही करती थी ।

प्रारम्भिक स्कूल की अध्ययन-सूची मे "जापानी इतिहास, भूगोल, गणित, विज्ञान, ड्राइग, गायन, व्यायाम, लड़कियो के लिए सिलाई, बालको के लिए श्रम-प्रशिक्षण, तथा प्राथमिक कोर्स के अतिम तीन वर्षों मे कृषि, वाणिज्य तथा अग्रेजी की शिक्षा को स्वीकार किया गया ।"[२] स्कूल में कार्य के घटे बहुत थे, छुट्टियाँ बहुत कम थीं तथा शिक्षक और विद्यार्थी शिक्षा के काम को गभीरता से करते थे।

माध्यमिक शालाओ के लिए, जो आवेदन करते थे, उनमे से आधे को ही स्थान दिया जा सकता था, और जहाँ तक ऊँची शिक्षा का सवाल है, यह अनुपात और भी घटता जाता था । अतः केवल प्राथमिक शिक्षा ही ऐसी थी, जो प्रत्येक जापानी की पहुँच के भीतर-भीतर थी । इससे आगे अवसर सीमित थे, क्योकि सरकारी नौकरी, बैको और वाणिज्य-गृहों, शिक्षा के धधो के स्थान उनके लिए ही खुले थे, जिनके पास आकर्षक डिप्लोमा होते थे । मिडिल तथा माध्यमिक शिक्षा के लिए अवसर प्रदान किये गये थे, तथापि वे गैरसरकारी सस्थाओ मे, जो कि शासकीय गतिविधियो की परिपूरक थी । गैरसरकारी स्कूलो मे बहुत से ईसाई स्कूल थे, यद्यपि कुछ धर्म-निरपेक्ष थे, जिन्हे देशीय धर्मादा-सम्पत्ति का सहयोग था । सभी सरकार की देखरेख के अतर्गत रखे जाते थे और यदि अपने डिप्लोमा का प्रत्यक्ष मूल्य उन्हें बनाना है, तो उन्हे शासकीय आवश्यकताओ की पुष्टि करनी होती थी । उनकी तुलना शासकीय सस्थाओ से हो सकती थी , और कई अर्थों में वे उच्चतर स्तर भी रखते थे ।

इस सक्षिप्त सर्वेक्षण के बाद हम मौलिक प्रश्न पर जा सकते है, कि जनता के बौद्धिक जीवन पर व्यापक रूप से प्रसारित शिक्षा का क्या प्रभाव था । क्या हमें इस वक्तव्य मे उल्लेखनीय अपवाद मिलता है, कि आधुनिक जापान की, अधिकतर बड़े रूप मे, या अनन्य रूप से आधुनिक जीवन के भौतिक पक्ष में ही रुचि थी, और इस तुलना मे विचारों की दुनियाँ और नैतिक तथा सांस्कृतिक मूल्यो में रुचि नही थी ?

सर्वप्रथम इस पर ध्यान रहना चाहिए कि यह दृष्टिकोण पूरी तरह स्वीकार कर लिया गया था कि शिक्षण राज्य के कार्य के लिए होना चाहिए न कि व्यक्ति की मुक्ति के लिए । यही भाव समाहित हो गया और प्राथमिक स्कूल से विश्वविद्यालय तक सम्पूर्ण पद्धति को इसी स्वरूप में समाहित कर लिया । स्वीकृत दृष्टिकोण के अनुसार राज्य को उनकी आवश्यकता थी, जो उसके प्रति तथा उसके प्रस्थापित संस्थानों के प्रति वफादारी से ओतप्रोत थे । परिणामस्वरूप प्राथमिक

स्कूल की शिक्षा मे एकछत्र वफादारी के विकास पर ही पूरा ध्यान केन्द्रित था। उदाहरणार्थ, जापानी आचारशास्त्र की शिक्षा, व्यावहारिक रूप मे सम्राट् के प्रति वफादारी में वृद्धि, जापान के प्रति निष्ठा में वृद्धि तथा सत्ता की शक्तिमत्ता की स्वीकृति ही था। तथापि यहाँ उसी विचार का प्रसार पुत्रीय दया या आज्ञाकारिता को भी जोड़ देना चाहिए। प्राथमिक जापानी गुण है, घर तथा राज्य के प्रति आज्ञाकारी होना। इस बात पर बल ने कार्य की एकता को सत्तावाद के आधार पर विकसित किया, परन्तु इसने व्यक्तिवादिता बढने तथा मस्तिष्क की शका उठाने की प्रवृत्ति को पैदा होने से रोका।

अन्य सभी विषय अपनी विषय-वस्तु की सीमा मे उसी आधार पर पढ़ाये जाते थे। चूँकि पाठ्यपुस्तके राष्ट्रीय शिक्षा-विभाग द्वारा तैयार की जाती थी, देश भर में, पढाई में विषय-वस्तु की अनेकता की सम्भावना बहुत कम थी। तैयार की जानेवाली पुस्तको मे जापानी राष्ट्र पर अधिक जोर दिया जाता था, जो सीधा और सुस्पष्ट था। दूसरे स्थान में संगीत और सभवत. ड्राइग को छोड़कर, राष्ट्रवादिता के आधार पर नही आनेवाले उपयोगितावादी विषय आते थे और उनका उद्देश्य राज्य की भौतिक नीव को सुदृढ करने के लिए होता था। प्रारम्भिक श्रेणी मे यह स्वाभाविक और अपरिहार्य था। पढ़ना, लिखना और गणित तथा भूगोल मिलकर निश्चित रूप से ऐसे आवश्यक औजार है, जिन्हे प्रत्येक नागरिक के हाथ मे दिया जाना चाहिए। और औजारो मे पारंगत हो पाना पश्चिमी देशो की तुलना मे जापान मे अधिक कठिन था, क्योकि इसका कारण था भाषा के विकास का तरीका तथा साहित्यिक वंशपरंपरा, जिसमे चीनी-चरित्र का ज्ञान आवश्यक होता था और चूँकि उच्च कोटि के चीनी साहित्यिक लेखन का मिडिल स्कूल के पाठ्यक्रम के रूप में अध्ययन करना होता था। इस प्रकार के अध्ययन के परिणामो का अन्यत्र उल्लेख किया गया है, अत. इस पर यहाँ अधिक कहना आवश्यक नही है।

तथापि विश्वविद्यालयो सहित माध्यमिक स्कूलो मे शिक्षा के इस उपयोगितावादी स्वरूप का अधिक नाम था। यांत्रिकी तथा वाणिज्य-स्कूलो का स्वाभाविकतया वही स्वरूप था। टोकियो-विश्वविद्यालय में कानून, मेडिसिन, साहित्य, विज्ञान, इंजीनियरिंग तथा कृषि फैकल्टी सन्निहित थी। फैकल्टी की संख्या के अंतर से इसी प्रकार की स्थिति अन्यत्र थी। अनेक धंधो व कार्य मे राज्य की सेवा करने के लिए आवश्यक अधिकाधिक तैयारी करने का अवसर प्रदान किया जाता था और इसी प्रकार, वस्तुत: प्रत्येक व्यक्ति को अपने स्वयं के लिये कैरियर बनाने के लिए तैयारी का अवसर प्रदत्त था। आधुनिक जापानी समाज के लिए वकीलो, डॉक्टरों, इंजी-

नियरो, प्रशिक्षित कृषको की आवश्यकता थी, जैसी कि बैकरो, यात्रिको तथा वाणिज्य और व्यावसायिक क्षेत्र में प्रशिक्षित व्यक्तियो की थी। परन्तु साहित्य तथा ललित कला के बाहर मानव-शास्त्रो मे अध्ययन का कोई प्रोत्साहन नही था। अपने देश की सीमा के बाहर किसी भी दर्शन के अध्ययन मे जिसमे कन्फूशियस की परम्परा मे सुसज्जित दर्शन भी शामिल है, के अध्ययन का अथवा सामाजिक विज्ञानों में अध्ययन व खोज के लिए कोई तीव्र प्रोत्साहन नही था। जहाँ तक सभव था, सम्पूर्ण शिक्षा-पद्धति में से ऐसी बात निकाल दी जाती थी जिसका फल "खतरनाक विचार" का विकास या आरम्भ निकले और जो छात्रो के अथवा जनता के राजनीतिक और सामाजिक दृष्टिकोण को बदलनेवाले हो। प्राकृतिक तथा भौतिक विज्ञान और प्रयुक्त अर्थशास्त्र का अध्ययन और खोज सतोषजनक रूप से तैयार हुआ था, जिसका परिणाम यह था कि जापानी स्कूलों ने इन क्षेत्रो मे योग्य और अच्छे प्रशिक्षित व्यक्ति पैदा किये थे। परन्तु राज्य और सामाजिक सस्थाओ के वैज्ञानिक अध्ययन का तरीका विकसित नही हुआ। यह काफी सत्य है कि यह अनुभव किया गया कि उस प्रकार के अध्ययन और खोज से कम जिज्ञासु और अधिक छिद्रान्वेषी भावना पैदा होगी तथा शायद आगे चलकर यह विचार स्वीकार करने की ओर बढ़े कि राज्य का अस्तित्व व्यक्ति की सेवा के लिए है, न कि व्यक्ति से सेवा कराने के लिए। इस तरह यह कहा जा सकता है, कि उपयोगितावादी दृष्टिकोण तथा "खतरनाक विचार" के भय द्वारा निर्धारित तुलनात्मक दृष्टि से सकुचित मर्यादा को छोड़कर शिक्षा जापान मे सक्रिय बौद्धिक जीवन की अभिवृद्धि करने मे प्रभावकारी एजेंसी नही थी।

## (४) महिलाओं का समाज में स्थान

बीसवी शताब्दी के प्रथम ३० वर्षों में विकास का उल्लेखनीय लक्षण था, महिलाओ व लड़कियो की शिक्षा की ओर तथा उनके लिए कार्य के विभिन्न क्षेत्रो का विकास करने की ओर ध्यान दिया जाना। पहले महिलाओ का स्थान एकमात्र घर मे ही समझा जाता था,[३] बौद्धिक शिक्षण के अर्थ मे शिक्षा मोटे तौर पर उनके लिए नही होती थी। तथापि, प्राथमिक स्कूल लड़के और लड़कियो दोनो के लिए, सस्थाओ के पृथक् पृथक्करण के बिना खुले रहते थे। पुनर्नवीकरण के कुछ समय बाद तक महिलाओ की उच्च शिक्षा के लिए कोई शासकीय प्रविधान नही किया गया था, यद्यपि १८७१ में विभिन्न उम्र की ५ लड़कियाँ प्रशिक्षण के लिए अमेरिका भेजी गयी थी। यह समझा जाता था, कि वहाँ से लौटकर वे महिला-वर्ग मे शिक्षा के प्रसार में अपनी पूरी शक्ति समर्पित कर देंगी। ईसाई-मिशनो के कार्यकर्ताओ ने

सर्वप्रथम महिलाओ को उन्नत प्रशिक्षण के लिए सुविधाएँ प्रदान करने का कार्य हाथ में लिया और उन्होने वहुत बहुमूल्य सेवा प्रदान की। तत्पश्चात्, सरकार ने लड़कियो के लिए हाईस्कूलो का प्रविधान किया तथा प्राथमिक स्कूलों के लिए महिला-शिक्षिकाओ के हेतु उच्च नार्मल स्कूलो को भी चलाया।

महायुद्ध के बाद के वर्षो मे टोकियो के इम्पीरियल विश्वविद्यालय मे वे भाषणो मे श्रोताओ के रूप मे प्रवेश पाती थी। महिलाओ के ईसाई कालेजो के अलावा महिलाओ के लिए एक जापानी महिला-विश्वविद्यालय, गैरसरकारी तौर पर चलाया जाता था, जिसकी स्थापना १९०१ में हुई थी।

जहाँ महिलाएँ व्यापक रूप से पढाने का कार्य करती थी और कुछ डॉक्टरी, पत्र-कारिता व अन्य धंधो मे लगी थी, एक बात सही थी, कि पुराने व आधुनिक जापान की महिलाएँ शादी के लिए अभिभावक के सहारे होती थी और वह भी अपेक्षाकृत कम उम्र मे शादी होती थी। इससे उच्च शिक्षा में रुचि रखनेवाली लडकियो के लिए समस्या काफी जटिल हो जाती थी, क्योकि बहुधा उनके परिवार वाले पढ़ाई पूरी होने के पहले ही उन्हे स्कूल छोडने को बाध्य करते थे, क्योकि परिवार संतोषजनक वर खोज शादी तय कर लेता था। तथापि जापान मे उच्च वर्ग मे देर से शादी करने की प्रवृत्ति प्रतीत होती थी। यह बात आशिक रूप से शिक्षा के अवसरो के प्रसार के कारण थी या नही वरन् पहले जैसा होता था, उसकी अपेक्षा इससे शादी के पहले कुछ आगे तक पढाई जारी रखना सभव हो गया था। जापान मे सम्पन्न वर्गों के बाहर, यह बात समझी जानी चाहिए कि जापान मे सम्पन्न वर्ग के बाहर शादी के पहले और बाद मे महिलाएँ राष्ट्रीय अर्थ-व्यवस्था का अत्यावश्यक भाग थी। चूँकि जनसख्या का बड़ा हिस्सा कृषि मे लगा हुआ था, यह प्रथा थी कि जापानी लड़कियाँ और महिलाएँ चावल की खेती मे मदद करती थी, रेशम के कीड़ो की वे प्रमुख जानकार थी, चाय की पत्तियाँ तोड़ती थी तथा घर में कताई और बुनाई करती थी। जापान मे बाल श्रमिक का अर्थ मुख्यत लड़की-श्रमिक होता था क्योकि जो बच्चे काम पर लगाये जाते थे, उनमे ८० प्रतिशत लड़कियाँ होती थी।

कारखाने विषयक कानून या उसकी आवश्यकता पर अन्यत्र कुछ कहा जा चुका है।[४] यहाँ पर उन परिस्थितियो का उल्लेख किया जा सकता है, जिनमें महिलाएँ और लड़कियाँ रहती थी और काम करती थी। इसमें कुछ उल्लेखनीय अपवाद अवश्य थे परन्तु आम तौर पर औद्योगिक जीवन की परिस्थितियाँ भयानक थी। इसका हमारे पास एक उदाहरण और है, किस प्रकार से जापानी पश्चिम से भौतिक-

वादी सभ्यता, उसकी मशीनें व उन्नत प्रकार के कला-कौशल लाये, परन्तु यह सब मानवीय मूल्यो को कायम रखने के लिए जिन तरीको का विकास शुरू हुआ उनकी खोज का प्रयास किये बिना किया गया।

कारखाने के लिए श्रमिक ग्रामीण जिलो में व्यवस्थित भरती के जरिये प्राप्त किये जाते थे। शहरी जीवन के लाभो को काफी सजीवता से चित्रित किया जाता था, जिससे लड़की ग्रामीण-क्षेत्र छोड़ने को तैयार हो जाय। परन्तु उसके परिवार के लिए प्रभावकारी विचार था रकम दिया जाना, जिसमे ही कई बार लोगो को ग्राम के बाहर लाने की क्षमता होती थी, परिवार की आय मे ठोस वृद्धि हो जाती थी, जो कि शादी होने तक जारी रहेगी। संयोगवश धनिको मे शिक्षा के कारण देर से शादी होने की अपेक्षा गरीब तबके मे महिलाओ के कारखानो मे जाने के कारण देर से विवाह की प्रवृत्ति बढ़ने लगी।

जब लडकी कारखाने पहुँचती थी, वह बहुधा घिरे हुए अहाते वाले मकान मे रखी जाती थी, जहाँ लडकियाँ भाग जाने से रोकने के लिए बद कर दी जाती थी। उन्हे कोई एकान्त नही मिलता था और सोने के लिए केवल चटाई के बराबर जगह प्रत्येक को मिलती थी। कभी-कभी जब रात और दिन की पाली कारखाने मे होती थी तब बिस्तर लगातार किसी-न-किसी के कब्जे में रहता था। काम के घंटे लम्बे होते थे और अच्छे प्रकार के मनोरजन का प्रबन्ध होने पर थकावट आवश्यक मनोरंजन मे भी बाधक होती थी। जिन परिस्थितियो मे वे काम करती और सोती थी, उसके कारण कारखाने के महिला और पुरुष दोनो कर्मचारियो में तपेदिक व्यापक रूप से था। नैतिक दृष्टि से भी परिस्थितियाँ खराब थी। "एक जापानी कारखाना-विशेषज्ञ ने प्रमाणित किया है, कि कुछ कारखानो में यह कोई असामान्य बात नही थी, कि आधे से अधिक लड़कियाँ एक वर्ष मे अपने सद्गुणो को खो देती थीं। काम के लम्बे घंटे श्रमिको को इतना थका देते है, कि किसी प्रकार की उत्तेजना का स्वागत होता है और तत्पश्चात् पतित आनन्द तथा क्रीड़ाओं को प्रोत्साहन होता है और यह बहुत सामान्य है। हमेशा के अधिकतर मनोविनोद हैं शराब पीना, जुआ खेलना और विषय-सुख।"[५] परिणाम यह होता था, कि बीमारी से, भाग जाने से तथा विवाह समीप आ जाने से महिला श्रमिको में करीब ८० प्रतिशत का स्थानांतर होता रहता था और इस कारण भरती निरंतर जारी रखना पड़ता था।

स्वास्थ्य और औद्योगिक कार्यनिपुणता के विचार से इस प्रकार की परिस्थिति बनाये रखने से देश की बहुत बड़ी क्षति हुई। यही है, जहाँ जापानी नेतागण बुरी

तरह असफल हुए, यहाँ तक कि पश्चिम से आयात करने मे शुद्ध उपयोगितावादी आधार पर भी असफल हुए। उन्होने पश्चिम के सामाजिक विचारो और कार्य-निपुणता के विचारो का भी आदर नही किया, जो कि स्वयमेव अभिव्यक्त होना आरम्भ हो गये थे। उन्होने मशीन को तो देखा परन्तु मशीनी अर्थव्यवस्था के सामाजिक परिणामो को नही। इसके पश्चात् उन्होने उद्योगो मे कार्यरत भविष्य की माताओ के रहने की अच्छी परिस्थिति की निश्चित व्यवस्था करके देश के स्वास्थ्य को परिरक्षित रखने का कोई व्यवस्थित.प्रयास नही किया। ईसाई-उद्योग-पतियो ने अपने कर्मचारियो पर ध्यान देने का प्रयास करके वहुधा नियम के उल्लेखनीय अपवाद प्रस्तुत किये तथा मानव-जीवन की पवित्रता के ईसाई आदर्श कुछ-न-कुछ ईसाई-समाज के बाहर भी फैल गये थे। परन्तु जापानी औद्योगिक नेताओ का दृष्टिकोण इतना भौतिकवादी हो गया था, कि उनसे सतोषजनक सामाजिक कार्यक्रम का विकास करने की अपेक्षा तभी हो सकती थी, जब कि यह प्रदर्शित हो कि यह भी अच्छा व्यापार है और महिला कर्मचारियो के कल्याण की ओर ध्यान देना राष्ट्र के प्रत्यक्ष लाभ के लिए है। वास्तव में उन्हे इसका समादर करने मे सहायता होगी यदि श्रमिक स्वयं की सुरक्षा हेतु सगठित हों। यह कथन कि कार-खाने की बहुत अधिक महिलाएँ अपने सद्गुण खो बैठी, इससे कारखाना-पद्धति का कोई नैतिक कलक नही बनता, जैसा कि अन्य कई देशो में होता। कई ग्रामीण क्षेत्रो में स्त्री-पुरुषो के विवाह-पूर्व सम्बन्ध बहुत सामान्य बात है, यद्यपि अनुपात इतना अधिक प्रतीत नही होगा और यह लडकी के विवाह में कोई बाधक नही होता, जैसा कि अन्यत्र यह बहुत होता है।

वेश्या का धधा जैसा चलता था, उसमें और इसमें नैतिक सहिता का अतर आगे खुलकर चित्रित किया है। वेश्यावृत्ति का पेशा सरकारी देख-रेख मे मान्यता-प्राप्त धधे के रूप मे चलाया जाता है, यद्यपि यह सम्मानपूर्ण धंधा नही होता। अनुमान लगाया गया था कि देश में लायसेंस-प्राप्त वेश्याओ की सख्या पचास हजार से कम नही थी। ये महिलाएँ दासत्व की परिस्थितियो मे रखी जाती थी, क्योकि अन्यथा उन्हे संयत रखना बहुत कठिन था।

उनमे बहुतो को जल्द ही इस पेशे से घृणा होने लगती है, परन्तु वे असहाय और निराश कैदी रहती है, क्योंकि उन्हें रखनेवाले सरक्षक उनके माता-पिता को थोड़ा ऋण या कुछ सैकड़ा धन दे देते थे और उन्हें सुन्दर कपड़ो से लाद देते थे, सारी चीजो का खर्च उनके हिसाब मे लिखते थे, जिससे कि वे भारी कर्ज से लदी रहती थी, जिसका भुगतान वहाँ से छोड़ने के पहले होना ही चाहिए। सिद्धान्त रूप से

देश के कानून इस ऋण को कोई मान्यता नहीं देते, परन्तु व्यवहार मे मान्यता देते है, क्योकि "सरक्षक" वेश्यालयो के साथ-साथ वही भी रखता है और अक्सर पुलिस और अधिकारी उसके ही पक्ष में होते है ।[६]

अधिकारियो के रुख के अलावा इस पद्धति के प्रमुख सहयोग निम्न वर्गो की निर्धनता मे निहित है । "लड़की अपने माता-पिता की आज्ञानुसार वेश्यालय मे जाती है । माता-पिता उसे अपने स्वयं के लिए जीविका कमाने तथा उन्हे आर्थिक कठिनाइयो से छुड़ाने मे मदद करने के हेतु वहाँ भेजते है । इस प्रकार शुरू से अत तक, जहाँ तक लड़कियो, माता-पिता और सरक्षको का सम्बन्ध है । यह प्रश्न आर्थिक है ।"[७] यह कहना चाहिए कि वेश्याओ मे से बहुत पहले की इटा अथवा निम्न जातियो से आती थी।

लायसेंस-प्राप्त वेश्याओ की सख्या मे नैतिकता के विचार से होटल व चाय-घर की लड़कियाँ भी जोड़ी जानी चाहिए, क्योकि उनमे से कई वास्तव मे उसी वर्ग मे होती थी । मनोरजन करने वाला वर्ग गीशा भी कभी-कभी उसी श्रेणी मे रखा जाता था । उनका पेशा भी चाय-घरो की लडकियो की तरह वेश्यावृत्ति की ओर ही ले जा सकता था या अक्सर उसी मार्ग पर ले जाता था । परन्तु व्यावसायिक दृष्टि से उच्च प्रशिक्षण प्राप्त जन-मनोरजक होते थे ।

जैसे निम्नतर वर्ग की आर्थिक स्थिति सुधारी गयी माता-पिताओ की अपने बच्चो को इन धधों में देखने की इच्छा भी कमजोर होना निश्चित था और पश्चिम के व्यक्तिवादी विचारो का शुभारम्भ होने के परिणामस्वरूप, जिस सीमा तक माता-पिता का नियन्त्रण क्षीण हुआ, इस पद्धति को भी कमजोर होना ही था । इसके अतिरिक्त आंशिक रूप से जापानियो की विदेशी मत के प्रति आरम्भिक शीघ्र-प्रभावशीलता के परिणामस्वरूप वहाँ लायसेंस-प्रथा के जरिये शासन के वेश्यालयो से खुले सम्बन्ध की कुछ निन्दा भी बढ़ने लगी । इसका परिणाम हमेशा वेश्यावृत्ति की समाप्ति में तो नही, परन्तु उसे अधिक भूमिगत करने व लोकदृष्टि के बाहर खीचने मे हुआ। ऐसा विस्तार अन्ततः उसी प्रतिक्रिया की ओर ले जा सकता था, जैसा कि पश्चिमी देशों में पाया जाता है । निश्चित रूप से १९२१ की अपेक्षा १९३१ के जापान मे वेश्यावृत्ति की प्रमुखता कम हो गयी थी ।

## (५) परिवार-पद्धति

भौतिक विकास पर जोर देने से जापान के सामाजिक ढाँचो मे आर्थिक की अपेक्षा कम परिवर्तन हुए । परिवार समाज की आधारभूत इकाई बना रहा, यद्यपि सरकार व्यक्ति से व्यवहार करती थी, जैसा कि १९३१ तक आधुनिक चीन मे ऐसा

नही होता था। पूर्वजो की उपासना तथा कनफूशियस के परिवार पर जोर देने और देश को विशाल पारिवारिक गुट मानने के दृष्टिकोण के अलावा इसका मुख्य आधार ग्रामीण अर्थ-व्यवस्था-पद्धति मे मिलता है। "परिवार-पद्धति, जिसके द्वारा सब कुछ परिवार के मातहत होता है, किसानो के लिए सुविधाजनक है, क्योकि इसका अर्थ होता है श्रम मे वृद्धि तथा जीवन-निर्वाह मे बचत . आम तौर पर परिवार-पद्धति एक समय और उसी समय युवको को दुनिया में यत्न से बचने से रोकती है और उन्हे उनकी जल्दी शादी के लिए बाध्य करती है, जिससे कि परिवार को मदद करनेवाले हाथो की सख्या बहुत हो जाये।"[८] औद्योगिक विकास ने इस दृष्टिकोण को नही तोडा है, कारण कि लडकियो का श्रम बहुत सीमा तक उपयोग होता था। परिवार की आय बढाने की यह दूसरी विधि है, तथापि औद्योगिक केन्द्रों मे विवाह का परिणाम बहुधा वैयक्तिक घरो की स्थापना में होता था। आगे चलकर औद्योगिक पद्धति के विस्तार का अन्तत प्रभाव परिवार-पद्धति को कमजोर करने मे होगा क्योकि यह ग्राम से शहर मे आने की गति को बढ़ावा देती है।

परन्तु जहाँ परिवार-पद्धति रहती आयी, इसमें कुछ रूपान्तर किये गये। अधिक विकसित वर्गो मे विवाह की व्यवस्था केवल मात्र माता-पिता के हाथों में ही नही होती थी। "मुक्त" विवाह की प्रथा प्रत्येक दशाब्दी मे अधिक व्यापक होती जा रही थी। कभी-कभी, इसका मतलब शादी की व्यवस्था पूर्ण होने के पहले केवल भेट का अधिकार भी होता था। अधिक चरम रूप मे इसके साथ चयन का अधिकार तक हो जाता था। जनसंख्या के शहरो की ओर खिचने के साथ गृहस्थी का अपने अगो मे बिखरने की प्रवृत्ति का उल्लेख किया ही जा चुका है। पश्चिमी उदाहरणो के प्रभावो के अंतर्गत तथा ईसाई-स्कूलों और मिशनो मे पढाई के प्रभाव से मध्यम तथा उच्च वर्गों मे आर्थिक के अलावे अन्य कारणो से भी यही बात हो रही थी। देर से विवाह करने की प्रवृत्ति का भी परिवार पर अपना प्रभाव होता था और पारिवारिक नियत्रण की कमजोरी का सकेत करता था।

## (६) वर्ग विभेद की समाप्ति

पुनर्नवीकरण के बाद जो एक सामाजिक परिवर्तन हुआ वह था समाज का पुनर्विभाजन। दो भिन्न वर्गों को मान्यता दी गयी— कुलीन वर्ग, जिन्हें कई प्रभुता सम्पन्न दर्जे मे रखा गया था तथा सामान्य वर्ग। वर्ग विभेद का, जो कि सामान्य वर्ग के विभिन्न गुटो मे होता है, कानूनन अन्त कर दिया गया। इसने दरबारी अंगरक्षक-वर्ग को गिरा दिया और ईटा जैसे जातिच्युत वर्गों को ऊँचा उठा दिया। वास्तव मे, पेशा तथा धन के कारण विभेदों की स्थापना या दूषित कर्मकरण को

इसने नही रोका परन्तु इसने विशेष अधिकारो और खास-खास अयोग्यताओं का अन्त कर दिया । इस तरह अब ईटा-वर्ग अत्यधिक नीच कर्म और अप्रिय कर्म करने से कानूनन रोके नही जाते थे। उन्हे पृथक् ग्रामो मे रहने की आवश्यकता नही थी। उनके गुट के बाहर शादी करने का बंधन अब नही था। तथापि, जहाँ दरबारी अगरक्षक-वर्ग के लिए परिवर्तन का शीघ्र और वास्तविक परिणाम हुआ वहाँ ईटा के लिए यह अधिक नाममात्र को था। अब तक वे स्वयं को दरबारी अगरक्षक मानते थे और माने जाते थे और उन्हें सामान्य जनसख्या के साथ घुला-मिलाया जा सके इसके लिए कई पीढियाँ लगेगी, यदि वास्तव में कभी उसका अत होता है।

## (७) नये वर्गों से लगाव

जैसे राजशाही वर्गो के भागो का रूपान्तर हुआ अथवा अंत हुआ, नये वर्ग उभरने लगे।[१] दूसरे स्थान पर शिकमी किसान-वर्ग की उत्पत्ति का उल्लेख किया गया है। इससे सकेत मिलता है, वहाँ जमीदार-वर्ग भी था। यह सही है, किसान आंशिक शिकमी और आशिक मालिक थे, और कई जमींदार किसान भी थे। परन्तु सामान्य गति दो चरम सीमाओ की ओर थी—जमीदार जो उन्हें पटाये जाने वाले लगान पर निर्वाह करते थे तथा शिकमी, जिनके पास जमीन ही नही थी। इसने आरम्भ में कुछ मतभेद तथा वर्गद्वेष पैदा कर दिया। जापानी जमीदार केवल आर्थिक-प्राप्ति पर ही विचार करने को उद्यत था और शिकमी की परिस्थिति की उसे स्वयं को चिन्ता नही थी। उसका दृष्टिकोण अन्य स्थानो का काम नही करने वाले जमीदार का दृष्टिकोण था, जब कि वह ग्रामीण क्षेत्र में रहता था। वह बहुधा अपना लगान रकम की अपेक्षा चावल के रूप में प्राप्त करता था जिससे परस्पर वैमनस्य बढ़ता था। जब फसल कम होती थी और उस कारण कीमतें ऊँची होती थी, जमीदार को शिकमी किसान से अधिक प्राप्ति होती थी। जब फसल अच्छी होती थी, तब भी उसे हानि की अपेक्षा प्राप्ति ही होती थी। दूसरी ओर लगान के भुगतान के इस तरीके के कारण किसान यह कोशिश करने लगा था कि वह लगान तब दे जब फसल कम हो। चूंकि वह जमीदार को फसल का अधिक हिस्सा देता था, वह कभी-कभी खाद और फसल-वृद्धि के अन्य साधनों पर होने वाले व्यय को काट लेता था। इससे जमींदार को किसान से हमेशा शिकायतो का कारण रहता था। देश के बहुत हिस्सो में शिकमी किसान धीरे-धीरे कर्ज मे दबाये जाते थे, क्योकि उनका वार्षिक आवश्यक व्यय उनकी आय से अधिक होता था। यह इतना व्यापक तो नही था परन्तु छोटे किसानों के बारे में भी यह सच था। चूंकि ब्याज की दर बहुत ऊँची थी, इसका परिणाम होता था निराशाजनक परिस्थिति।

शिकमी किसान की समस्या का एक उत्तर औद्योगिक नगरों में एकत्र होने की प्रवृत्ति मे मिलता था। यह इतना निश्चित हो गया कि अच्छा शिकमी सम मूल्य पर रहता था और जमीदार व सरकार सुधार के कदम उठाने को बाधित होते थे। सरकार ने किसानो को कम ब्याज दर पर ऋण देने के लिए भू-बैंको की स्थापना द्वारा मदद की। ये प्राय प्रत्येक आधिकारिक क्षेत्र मे पाये जाने लगे। जमीदार को सामाजिक जिम्मेदारी का भाव विकसित करने के लिए बाध्य किया गया। कुछ अपनी माँगो मे अधिक विचारवान् थे, दूसरो ने धान और खेतो के लिए अधिक अच्छी खाद का प्राविधान करने मे मदद की, दूसरो ने सरकार के सहयोग से किसान को उसके तरीके मे सुधार हेतु प्रशिक्षित करने का प्रयत्न किया।

ग्रामीण सहयोग बहुत बढ़ा, अशत: जमीदार द्वारा बढाया गया परन्तु अधिक व्यापक तौर पर स्वतंत्र रूप से बढा। अन्य बातो मे धान के सुधार ने सहकारी-कार्य द्वारा अच्छे परिणाम प्राप्त करने की सम्भावना प्रदर्शित की। प्राय. प्रत्येक विचारणीय काम के लिए सभी भाँति की अधिक अच्छे प्रकार की ग्रामीण या ग्राम-समितियाँ थी। प्रदत्त कार्य के अनुसार कुछ शुद्ध आर्थिक थी, परन्तु वे क्रम में ग्रामीणो को प्रात: जल्दी जागने की आदत के लिए प्रोत्साहित करने से लेकर अधिक सामान्य प्रकार की कृषि सहकारी-सस्थाओ तक की समितियाँ थी। ये समितियाँ ग्राम के सभी युवको अथवा उनके एक हिस्से से बनी होती थी। उनमे से कई मूल्यवान थी, क्योकि वे उनकी मुख्यत अतिरिक्त शक्ति को सोखती थी।

परन्तु साथ ही यह मानना पड़ेगा कि वर्ग-विभाजन तथा वर्ग-भावना ग्रामीण क्षेत्रो मे वृद्धि पर थी।

श्रम-आन्दोलन से प्रभावित होकर, जो कि महायुद्ध-काल या उसके पश्चात् औद्योगिक केन्द्रो में विकसित हुआ, इस दलित वर्ग ने (अर्थात् शिकमी) बाद में साहस दिखाया। उसने भूमि-मालिक के विरुद्ध अपने दावों पर जोर देना आरम्भ कर दिया। १९२० के अत तक वहाँ शिकमी किसानो के ९० संघ बन गये और इसमें ६० संघ भू-स्वामी के विरुद्ध शिकमी के हितो का प्रतिनिधित्व करने के निश्चित कार्य के लिए आरम्भ किये गये। शिकमियो की हड़तालें शुरू हुईं और चलती रही। लोक-प्रसिद्ध रूढ़िवादी वर्ग के इस आन्दोलन का अत बिलकुल निश्चित नही है।[१०]

अनुमान लगाया गया है, कि १९२० के बाद की दशाब्दी में शिकमियो के संगठनो की सख्या ४०० तक बढ़ गयी, जिनमे से एक-तिहाई निश्चित रूप से लड़ाकू थे। १९१४ के बाद जीवन-निर्वाह की लागत मे आम वृद्धि हुई थी और विशेषकर महायुद्ध के बाद की अवधि मे इसमें अधिक वृद्धि हुई, जिसने इस विरोध-प्रदर्शन के आन्दोलन को जन्म दिया।

दूसरो के मतो के प्रति जापानी सज्ञाशीलता का व्यापक प्रसार हुआ था। जैसे श्रम-सम्मेलनो मे जापान का सामाजिक पिछड़ापन जापानी प्रतिनिधियो के समक्ष प्रकट हुआ और वहाँ जापान की परिस्थितियो की अधिकाधिक आलोचना हुई, जापानी नेता उनके निवारण की ओर प्रवृत्त हुए, कम-से-कम आलोचना को कम करने के लिए आवश्यक हल की ओर प्रवृत्त हुए। चौथे जनमत के विस्तार ने श्रमिको को राजनीतिक कार्य का मार्ग दिया, जो कि पहले उनको नही दिया गया था। इसने प्रकट आश्वासन दिया कि कानून-केवल मात्र औद्योगिक और व्यापारिक धनिको के राष्ट्रीय आर्थिक हितो की धारणाओ और दृष्टिकोण का प्रतिनिधित्व करना बद कर देगा। इस प्रकार जहाँ "जापानी पूँजीपति-वर्ग श्रमिक-हितो और श्रमिक-प्रश्नो के प्रति तक उदासीन है, जहाँ विश्वविद्यालय श्रम के मानवीय पहलू की अपेक्षा आर्थिक पहलू के प्रति अधिक चिन्तित है,"[१३] जहाँ मजदूर अपनी पिछडी परिस्थिति और कष्ट कम करने की सम्भावनाओं के प्रति तिस पर भी जागरूक नही है, १९३१ मे आगे बढने की प्रवृत्ति अनुभव करना और यह विश्वास करना कि समय बीतने के साथ इसकी पुष्टि होगी, सम्भव हुआ।

दो अन्य शक्तियो ने पारस्परिक से भिन्न बौद्धिक और सामाजिक दृष्टिकोण पैदा करने का कार्यारम्भ किया और यहाँ इस पर ध्यान देना चाहिए। प्रथम स्थान पर गुट की सफलता के आधार पर प्रथम महायुद्ध की समाप्ति के साथ ही विगत डेढ़ वर्ष तक प्रजातंत्र तथा उसके सह-अस्तित्व पर जोर या कम-से-कम उसके प्रचार मे जोर ने एकतंत्री दृष्टिकोण को कमजोर किया और पहले से विद्यमान उदार आन्दोलन की सक्रिय अभिव्यक्ति को प्रोत्साहित किया। राजनीतिक दृष्टि से जैसा कि अन्यत्र देखा गया है,[१४] यह उदार आन्दोलन का परिणाम मताधिकार का विस्तार व्यापक पुरुष मताधिकार तक मे हुआ। इसका परिणाम यदि अस्थायी हो तो भी विदेशी और औपनिवेशिक नीति के उदारीकरण मे भी हुआ। और अंततः इससे भी अधिक महत्त्व की बात बुद्धिवादी उच्च मध्यम-वर्ग द्वारा इस बात का आदर होने लगा कि जापान में सामाजिक वैचारिकता भौतिक विकास के साथ-साथ नहीं बढ़ सकी। यह कहना अतिशयोक्ति न होगी कि १९१८ तथा १९३१ में मिने-सिटो-सरकार के उलटने की बीच की अवधि में जापान के सामाजिक विचारको मे अधिक मौलिक परिवर्तन महसूस हुए—कि वहाँ विचारो का अत्यधिक उदारीकरण हुआ—जितना कि अपेक्षाकृत पूर्ववर्ती ३०–४० वर्षों में नहीं हुआ। दुर्भाग्य से १९३१ के पश्चात् महाद्वीप में सैनिक जोखिम हाथ में लेने से उसने राजनीतिक नियंत्रण को फिर से सैनिक टुकड़ी के हाथ में फेंक दिया। सामाजिक चिन्तन में सर्वोच्च

महत्त्व के अपने अधिकार के दावे तथा पारस्परिक मूल्यो पर पुन. जोर द्वारा प्रति-क्रिया लाने का इसका असर हुआ। कुछ समय के लिए जापान मे उदारवाद पुनः शिथिल हो गया। इसके साथ ही पश्चिमी आदर्शो का अनुकरणीय बल समाप्त हो गया।

अन्य देशो की तरह जापान मे दूसरा महान् प्रभाव रूसी क्राति का हुआ। शासन तथा सत्ताधारी वर्गो मे नवीन रूसी विचारो से तथा जापान मे उनको आरम्भ करने के असर से भयकर डर था। अतएव, उन्हे देश मे नही आने देने का प्रत्येक प्रयास किया गया। इसके अलावे यदि किसी प्रकार वे सारी सावधानी के बाद भी देश में प्रवेश कर जाते है तो उनके असर को समाप्त करने के लिए उसके विरुद्ध एक प्रतिकूल-प्रवाह कायम रखा गया। परन्तु प्रतिकूल प्रवाह ने निश्चिततया प्रवाह मे वह रुचि पैदा की, जिसे कम करने और समाप्त करने हेतु वे बनाये गये थे। इस प्रकार कुछ सीमा तक जापानी विचारो को रूसी प्रभाव को अनुभव करने से रोकना असम्भव था। ऐसे समय इस प्रभाव का आना जबकि शहरी और ग्रामीण क्षेत्रो मे मजदूर अशांति का प्रकटीकरण आरम्भ होने लगा था, ऐसे आन्दोलन का, जो स्पष्ट रूप से मजदूरो द्वारा राज्य का नियत्रण के विचार पर आधारित था तथा जिसकी विश्वव्यापी प्रतिध्वनि हुई थी, जापानी मजदूर-आंदोलन पर उसका कुछ असर होना निश्चित था। इसका अधिक असर नही हुआ, क्योंकि ''समाजवादी'' विचारो का देशद्रोह की तरह तिरस्कार था और यह प्रवृत्ति महायुद्ध के पहले ही जड़ पकड गयी थी। इस प्रकार विचारो की दो धाराएँ एक पश्चिम के पूंजीपति राज्यो की तथा दूसरी कम्युनिस्ट रूस की आकर जापान मे प्रथम महायुद्ध के बाद सामाजिक सबधों के प्रति विचारो में सुधार करने के लिए मिल गयी।

## (८) साहित्य और समाचार पत्र

आर्थिक और सामाजिक विकास के क्षेत्र की तरह साहित्य-जगत् मे भी जापान ने पश्चिमी प्रभाव की शक्ति को महसूस किया। इसे तत्परता से समझने लायक है, चूँकि पुराने साहित्यिक स्वरूप मे से अधिकांश का विकास विदेशी (चीनी) प्रभाव के अतर्गत हुआ। इसका महान् अपवाद है कविता, जिसका स्वरूप पृथकता और स्पष्टतया जापानी था और जापानी ही बना रहा। इसका विचित्र गुण क्रमश एक के बाद एक लाइन पाँच और सात अक्षरो का होना था। आमतौर पर इसकी लम्बाई ५ पक्ति की होती थी—पहली और तीसरी पाँच अक्षरो, दूसरी, चौथी और पाँचवीं ७ अक्षरो की, अक्सर १७ अक्षरो के छोटे स्वरूप का उपयोग होता था, परन्तु एक लाइन ५ व दूसरी क्रमशः ७ अक्षरो की होना अनिवार्य था। इन बंधनो के अतर्गत रचित कविताएँ पूर्ण अभिव्यक्त होने के स्थान पर उपदेशात्मक अधिक होती थीं।

वे मुक्त प्रसग की अपेक्षा विचार बताती थी। जापानी कविता प्रधान रूप से गेय थी, वीरकाव्य इसके छदो और भावो के लिए पूर्णतया विदेशी स्वरूप था। प्राचीन तथा आधुनिक दोनो कालों मे राजगृह तथा उच्च वर्ग के स्त्री व पुरुष कविता के निर्माण मे जैसे एक प्रमुख व्यापार की तरह लगे रहे। कविता-लेखन की बहुत बार प्रतियोगिताएँ होती थी और बहुधा उसमे विजयी निम्न वर्ग का होता था, उसकी कविता मे रुचि भी विचार करने योग्य होती थी। जब कि टोसन या कुछ अन्य को छोड़कर जिन्होने कि काफी दूरी तक बधनो को तोड़ा, जापानी कविता के स्वरूप वस्तुत आधुनिक विश्व से अप्रभावित थे। नये विचार और प्रभाव को व्यक्त करने के लिए व्यापक रूप से पुराने स्वरूप प्रयुक्त होते थे। इस तरह, निश्चित रूप से जापानी कविता ने अपने पृथक् जापानी रस को खोये बिना पश्चिम के धक्के को अनुभव किया।

कविता को छोड़, साहित्य के क्षेत्र मे पूर्व-आधुनिक जापान को पैदा करना भी बराबर महत्त्वपूर्ण था। परन्तु महाद्वीप से यह इतना अधिक प्रभावित था, कि यह कविता की तरह इतना स्पष्टत जापानी नही था। बिलकुल प्रारभ के कार्य का अवशिष्ट है, कोजिकी (पुरातन बातो का रिकार्ड), जो कि चीजो के प्रारम्भ की तथा जापानी राष्ट्र के विकास की गाथा है। यह अति प्राचीन जापानी मे लिखी गयी थी, तथापि जल्द ही इसका स्थान निहोगी (जापान के अभिलेख) ने ले लिया, जिसमे समान विषय पर ही काम किया गया है, परन्तु यह "शास्त्रीय" अथवा अर्धचीनी भाषा मे लिखा गया है। चीन से आये हुए साहित्यिक विधानसहित यह शास्त्रीय भाषा जापान मे साहित्यिक जागृति-काल तक छायी रही, जो कि टोकूगावा शॉगुन के सुदृढ शासन की स्थापना के कुछ काल बाद हुई। चीनी प्रभाव जारी रहा, परन्तु उससे दूर हटने का जानबूझ कर प्रयास चलता रहा। यह बात विशेष कर ऐतिहासिक लेखन तथा धार्मिक शोध में अधिक देखी गयी। टोकूगावा के शासन मे गैर-ऐतिहासिक लेखन के विस्तृत प्रकारो का विकास हुआ। लोक-कथाएँ और बच्चो की कहानियाँ, नैतिक उपदेश और उपन्यास बहुतायत मे दिखायी दिये।

पुनस्संस्थापन के साथ जापानी चीजो मे रुचि कुछ समय के लिए घटी और पश्चिमी साहित्य, विशेषकर अग्रेजी पर ध्यान केन्द्रित हो गया। १८६८ से १८८५ तक के वर्ष साहित्य-सृजन के वर्ष नही थे। जापानियो ने नयी शिक्षा की नयी दुनियाँ के साथ घर तथा विदेश मे अध्ययन द्वारा तथा पश्चिमी पुस्तको के अनुवाद द्वारा कुछ घनिष्ठता प्राप्त कर ली, परन्तु प्रत्यक्ष कारणो से राष्ट्र की मुख्य निर्माण-

कारी रुचि राजनीतिक और आर्थिक पुनर्निर्माण पर केन्द्रित रही। इस बात ने तथा साथ ही पश्चिम की शक्ति ने साहित्य-सृजन को यदि असभव नही तो कठिन अवश्य बना दिया। पश्चिमी साहित्य मे मुख्य रुचि प्रथमत. इग्लैण्ड मे थी और उसके पश्चात् महाद्वीप मे।

सामान्यतया अगली दो दशाब्दियो मे रोमान्स का प्रतिपादन करनेवालो का साम्राज्य छाया रहा। इस मत का प्रतिपादन करने वाले एक वर्ग का नेतृत्व शेक्स-पियर-शैली के विद्यार्थी शोयो, दूसरे का कोय्यो कर रहे थे जापानी साहित्य मे जिनका प्रमुख योगदान उनके वर्णन की स्थूलता तथा उनकी प्रखर शैली मे निहित है। तीसरे रोमानी वर्ग का नेतृत्व आदर्शवादी रोहन कर रहे थे। चीन के साथ महायुद्ध के परिणामस्वरूप राष्ट्रीय भावनाओ की प्रचण्डता, इसके साथ ही जापान की उसके विशाल पड़ोसी पर विजय से उत्पन्न आशावाद ने ही अधिकाशत वर्ष १८९५ से १९०४ तक के साहित्यिक-सृजन की धारा को निश्चित किया। शैली की दृष्टि से १८९५-१९०५ की दशाब्दी बहुत महत्त्वपूर्ण है, क्योंकि इसमे शैली उच्च स्तर तक पहुँची। इन वर्षो मे पहले से छाया हुआ पश्चिमी प्रभाव क्रमश. बदलकर अग्रेजी से रूसी हो गया।

१९०० के पश्चात् तेजी से रूमानीवाद का स्थान प्रकृतिवाद और यथार्थवाद ने ले लिया। इस परिवर्तन के लिए अग्रेजी का स्थान लेने वाला महाद्वीपीय साहित्य भी अशत. जिम्मेदार था। वैज्ञानिक अध्ययन से विकसित प्रवृत्तियो तथा रूस-जापान युद्ध के बलिदानो व क्षतियो से उत्पन्न निराशावाद ने भी परिवर्तित दृष्टि-कोणो के लिए उल्लेखनीय योगदान दिया। कुछ सीमा तक इसे रूमानीवाद के अत्यधिक विकास से स्वाभाविक आवर्तन भी माना जा सकता है। अपनी प्रारम्भिक स्थिति मे यह प्रकृतिवाद स्पष्टत जापानी साहित्य को लाभकर था, जिसका फल राष्ट्र के साहित्य में उल्लेखनीय योगदान तथा लेखकों के लिए मान्यता प्राप्त करने मे हुआ, जिनका कार्य यद्यपि विचारयोग्य था, पर अनिश्चित भविष्य की ओर स्थिर होता दिखाई देता था। परन्तु आदोलन विषय पर जोर के साथ शैली में ह्रास का कारण हुआ और समय बीतने के साथ, प्रकृतिवाद, यौन सबंधो के मुक्त चित्रण के साथ पतन और इन्द्रिय-जनित सुखो मे प्रतिफलित हुआ।

१९१२ के लगभग एक स्वतंत्र धारा, जो कि प्रकृतिवाद के प्रवाह के समानान्तर प्रवाहित हो रही थी, प्रमुख धारा बन गयी। साहित्य मे आदर्शवाद सोसेकी नत्सुमे की लेखनी द्वारा ही संरक्षित रहा था। सोसेकी शास्त्रीय के साथ ही पश्चिमी ज्ञान के भी विद्यार्थी थे। १९१२ के प्रकृतिवादी लेखको की चरम सीमा की प्रवृत्तियो के

विरुद्ध प्रतिक्रिया के परिणामस्वरूप आदर्श अधिक शक्तिशाली हो गया। यह प्रतिक्रिया प्रथम महायुद्ध के परिणामो में से एक थी, इसकी पुष्टि हुई तथा यह पुन. सचालित हुई। महायुद्ध के बाद वर्ग-सघर्ष के महत्त्व के विकास के साथ जापानी साहित्य वर्ग-सुधार की समस्या से अत्यधिक प्रवाहित था।

साहित्यिक क्षेत्र ही ऐसे थे, जहाँ कि पश्चिम के गैर आर्थिक विचारो और आदर्शो को बहुत अधिक सुना जाता था। और स्कूलो की अपेक्षा साहित्य के जरिये ही ये विचार आधुनिक जापदन मे प्रचलित हुए। तीन चौथाई शताब्दी के विदेशी सहवास द्वारा जहाँ नाटको पर उपन्यासो की तरह बहुत अधिक असर तो नही हुआ, पर नाटक एकदम अछूते नहीं रहे। पुनस्सस्थापन के पूर्व नाटकीय कला के चार स्वरूप थे।

राजगृहों, अधिकारसम्पन्न शाही व्यक्तियो तथा दरबारी अगरक्षको के लिए "नो" नामक धार्मिक नृत्य से विकसित जापानी नाटक होता था, राजकीय नृत्य या गीत होते थे, जिनकी भावना धार्मिक अथवा युद्धीय होती थी। नाटक करने वालो की वेष-भूषा काफी परिष्कृत होती थी। नो-नृत्य की निरुल्लासता के कारण उसमें बीच के अवकाशो मे प्रहसन जोड़ना रिवाज-सा बन गया। परिणामस्वरूप काबुकी अथवा प्रहसन अस्तित्व में आया और इसके साथ पश्चिमी तरीके पर नाट्यशाला का उदय हुआ। पूर्व-पुनस्सस्थापन की अवधि के अत तक यह स्थायी रिवाज था। प्रारम्भ मे यह कानूनी राजाज्ञा द्वारा था, कि महिला का अभिनय पुरुषो को करना चाहिए। नाटक के पुरुष स्थायी रूप से पेशेवर होते थे, इस काम के लिए बहुत अधिक प्रशिक्षित होते थे। अन्य यात्रिक व्यवस्थाओ के साथ घूमता-फिरता मच का पदार्पण भी हो गया था। नाटको की विषय-वस्तु या तो ऐतिहासिक अथवा पारिवारिक होती थी।

पुनस्सस्थापन के बाद कुलीन-वर्ग ने खुले रूप से जनसामान्य थियेटर को सरक्षण देना आरम्भ कर दिया, यद्यपि उन्होने 'नो' नाटको में रुचि लेना जारी रखा। महिलाएँ मच पर प्रविष्ट हुईं। नये नाटकीय कला-कौशल भी प्रारम्भ किये गये, परन्तु जहाँ तक व्यावसायिक नाट्य-प्रदर्शन का सवाल था, जापानी कला प्रधान रूप से जापानी ही रही। शेक्सपियर के कुछ नाटको का अनुवाद किया गया और अभिनीत किया गया, कुछ यूरोपीय नाटककारों के नाटक भी अभिनीत हुए, परन्तु इनमें कोई उल्लेखनीय सफलता नही मिली। कुछ प्रसिद्धि-प्राप्त नाटककार ऐसे थे, जिनके नाटको का प्रदर्शन पश्चिम मे हुआ था, परन्तु उनके नाटको को बहुधा व्यावसायिक कलाकारो की अपेक्षा नये कलाकार ही अभिनीत किया करते थे। वे

अपने कार्यो को मंच की अपेक्षा पत्रिकाओ में अधिक अंगीकार किया जाता, अनुभव करते थे।

जापान में बहुत अधिक ध्यान देने योग्य क्रमिक विकासो मे से एक था, वहाँ के समाचार-पत्र और पत्रकारिता का साहित्य। समाचार-पत्र ऐसी चीज तो पूर्णतया आधुनिक है, और इसका वास्तविक विकास बीसवी सदी की प्राथमिक दशाब्दियों की बात थी। कुछ समाचार-पत्रो का प्रारम्भ प्रथम सधिपत्रो पर हस्ताक्षर होने के तुरन्त बाद हो गया, परन्तु अधिकांश का 'जीवन बहुत छोटा था। १८६८ में केवल दो समाचार-पत्र थे। अन्य की स्थापना १८७१–१८७२ मे हुई और जैसे सविधान के लिए आन्दोलन आरम्भ हुआ, पत्रो की सख्या कई गुना हो गयी। वे अधिकांशत. उन व्यक्तियो के मुखपत्र थे, जो शासन के विरोध में थे। इससे शासकीय दैनिक पत्रो की स्थापना की दिशा मे कदम बढ़ा। वे सब परस्पर आरोप-प्रत्यारोप मे ही रुचि रखते थे, न कि प्रतिदिन के समाचारो के एकत्रीकरण और प्रस्तुतीकरण में। परिणामस्वरूप उन्होने अपने पाठको का समर्थन खो दिया जिन्हें कुछ समय मे वादविवाद से चिढ हो गयी। इसका परिणाम यह हुआ कि आर्थिक दृष्टिकोण से वे अपवाद ही ठीक उपक्रम थे। इनमें एक उल्लेखनीय अपवाद था "जिजि शिम्पो" जिसकी स्थापना १८८२ मे हुई। यह राजनीतिक-साहित्यिक उपक्रम था न कि पूर्णतया व्यावसायिक, जैसे कि टोकियो के कुछ पत्र थे। पूर्णतया व्यावसायिक समझा जानेवाला समाचार-पत्र पहली बार ओसाका मे पनपा। ओसाका "असाही शिम्बुन" तथा ओसाका 'मैनिची शिम्बुन" पत्र निकाले गये, मालिकों और सम्पादको के विचारों का प्रसार करने के लिए नही, बल्कि समाचारो के एकत्रीकरण व विक्रय द्वारा उनके लिए कमाने के लिए। वे इतने सफल हुए कि इसी उद्देश्य के लिए और भी स्थापित हुए। इसके पश्चात् शासकीय निगरानी व अन्य कई कठिनाइयों के बावजूद सख्या तब तक बढ़ती गयी, जब तक जरा भी महत्त्व के शहर का अपना समाचार-पत्र हो गया, जबकि टोकियो मे ५० से अधिक पत्र थे। ९०० जापानी समाचार-पत्रों के अलावे कई विदेशी भाषाओ के पत्र भी थे, जिनमें कुछ तो उत्कृष्ट पत्रिकाएँ थी। सभी प्रकार की पत्र-पत्रिकाएँ जिनमे धार्मिक प्रकाशन, वैज्ञानिक, व्यापारिक और आर्थिक, साप्ताहिक व मासिक, महिलाओ और बच्चो की पत्रिकाएँ तथा हास्य-पत्रिकाएँ शामिल थी, जापान में प्रकाशित होने लगी। इन सभी प्रकाशनो पर, १९३१ के पहले तक भी, कम या अधिक कड़ा पूर्व-निरीक्षण रहता था, यद्यपि समाचार-पत्र और राजनीतिक पत्रिकाएँ ही केवल ऐसी थी, जिन पर गम्भीर असर हुआ था।

निरीक्षण अधिकारी द्वारा चेतावनी दी जाती है, कि किस बात का उल्लेख नही किया जाय और उस आदेश की अवज्ञा पर जुर्माने की सजा दी जाती है। प्रत्येक पत्रिका को उसकी प्रस्थापना पर २००० येन अथवा इससे कम धनराशि जमा (अधिकारियो के पास) करनी चाहिए, यह राशि राशि स्थान और अक के प्रकाशन की अवधि पर निर्भर करती थी और प्रत्येक अपराध पर इस राशि मे से जुर्माना काट लिया जाता है। जब इस प्रकार जमा राशि समाप्त हो जाती है, तो उसे फिर जमा करनी पड़ती है। • प्रतिवर्ष समाचारो के प्रतिबध को तोड़ने पर जारी होने वाले सम्मन का औसत लगभग २५० है, और बिक्री से रोके जाने वाले अथवा निलम्बित होने वाले अको का औसत १७५ है। इसी प्रकार प्रकाशन-पूर्व निरीक्षण पुस्तको के प्रकाशन पर लगाया जाता है और प्रतिवर्ष बीस हजार के कुल प्रकाशनो मे निषेध होने वालो की सख्या करीब ५०० है जिनमे ३७ विदेशो से आयात होने वाली पुस्तको के सम्बन्ध मे है।[१५]

प्रकाशन के पूर्व निरीक्षण का उद्देश्य "खतरनाक विचारो" के प्रसार को रोकना अथवा अवाछनीय समझी जाने वाली सूचनाओ को विभिन्न कारणो से लोगो के पास पहुँचने से रोकना था।

इस नियत्रण के बावजूद यह मानना पड़ेगा, कि समाचार-पत्र लगातार ताकतवर होते गये। यदि उसका पक्ष काफी अच्छा है, तो वस्तुत एकमतेन पत्रो का विरोध शासन को गिराने की स्थिति ला सकता है अथवा अन्य देशो की तरह जापान में नीति के सुधार की स्थिति ला सकता है। पूर्व-निरीक्षण मत्रिमडल अथवा प्रशासको की आलोचना को रोकने के लिए कायम नही रखा गया था, बल्कि वर्तमान व्यवस्थापनाओं के लिए विध्वंसक विचारो के प्रसार को रोकना था।

## (९) जापानी कला-कौशल

जापानी कला और कलात्मक प्रकार के स्वदेशीय कौशल ने आलोच्य अवधि मे निश्चयात्मक प्रगति नही दिखायी और कुछ अर्थो मे उसका ह्रास हुआ। पुनस्सस्थापन के पूर्व पेंटिंग तथा सजावट-कला बहुत अधिक विकसित थी, जहाँ उसमे प्रभावशाली चीनी असर दिखता था, बहुत-से अशो मे जापानी छात्रो ने अपने महाद्वीपीय शिक्षको को भी पीछे डाल दिया। चीनियो की तरह उनका रेखा-कार्य उत्कृष्ट था, जिसका कारण था अच्छे लेखन की कला के हिस्से की तरह ब्रश के उत्तम कार्य का विकास। चित्रण किये जाने वाले विषयो की खोज प्रकृति में होती थी, और प्राकृतिक तथा ग्राम्य दृश्य का चित्रण विशेष कर अच्छा होता था, यद्यपि सजायी हुई आकृति उत्कृष्टतया अंकित होती थी। प्राकृतिक या ग्राम्यदृश्य की पेंटिंग मे जहाँ तक चित्र-

विज्ञान का संबंध है और जहाँ तक चित्रण पूर्णतया काल्पनिक नही है, उसे छोड, प्रकृति का काफी मात्रा मे अनुसरण किया जाता था। पुराने जापानी पेंटिंग और प्रिंट का उद्देश्य विषय का सकेत करना होता था न कि उसके विस्तार को दर्शाना। इससे उनके चित्रण को यूरोपीय मालिको के साथ अच्छी तुलना करना असम्भव है।

पुनसस्थापन के पश्चात् पश्चिमी कला की विधियो व धार्मिक नियमो को आरम्भ करने का प्रयास किया गया, इस हेतु १८७५ मे एक शिक्षक इटली से बुलाया गया। परन्तु यूरोपीय कला ने लम्बे और सम्मानित स्वदेशीय परम्परा का मुकाबला किया, जल्दी ही जापानी कला में प्रतिक्रिया हुई। यह विदेशियो द्वारा स्वय प्रोत्साहित की गयी, केवल एक बहुत अच्छे कारण के लिए कि जापानी कला के यूरोपीकरण से विश्व को विचारणीय प्राप्ति की अपेक्षा हानि ही अधिक होगी। इसके अतिरिक्त जापानी जनता ने पश्चिमी शैली की पेंटिंग मे स्वय इस सीमा तक रुचि नही दिखायी कि कुछ को इस बात के लिए प्रोत्साहित करती, जो कि स्वराष्ट्रीय परम्परा से पूर्णतया अलग हो गये थे। तरुण पेंटरो ने पश्चिम को खीचने का प्रयास किया, अनुकरण द्वारा नही, बल्कि दोनों कलाओ के उत्तम तत्त्वो के मेल द्वारा। इस आन्दोलन से कोई विशेष उल्लेखनीय बात नही आयी। इस प्रकार संक्षिप्त मे कहा जा सकता है। एक प्रबल रूढिवादी प्रभाव था, जो इस प्राचीन धर्म-नियमो को कायम रखने की प्रवृत्ति को सबल करता था, पेंटरो का एक छोटा-सा गुट था जो पश्चिमी तरीको पर पेंटिंग करने का प्रयास करता था, तथा एक बीच का गुट था जापानी परम्परा को संरक्षित रखने की कोशिश की, परन्तु जिसने पश्चिम मे अध्ययन किया था और वह पुरातन कला के साथ विदेश की टेकनिक की तरक्की का मेल कर उसका विकास करने का प्रयास करता था।

पुरातन जापान सभी प्रकार के धातु-कार्यों मे भी बहुत आगे था। ब्रोज का काम आकार में बुद्ध की कामाकुरा और नारो सदृश विशाल मूर्ति से लेकर छोटे मंदिर व घरो के आभूषणो तक होता था। बड़े पैमाने के काम मे ढलाई की उपलब्धियो का अतिक्रमण केवल छोटो की उत्तमता ही करती थी। बाद के सब काम केवल ब्रोज के ही नही थे। अद्भुत तलवार-रचना तथा तलवार-सजावट तथा तम्बाकू के पाइप केस और तम्बाकू की थैली के लिए छोटे घुमावदार सज्जा-सामग्री अन्य पदार्थों मे किये जाने वाले कामो के उदाहरण है। हाथी-दाँत, काष्ठ की मूर्तिकला तथा नक्काशी अत्यधिक विकसित थे। बौद्ध मत तथा सैन्य समाज दोनो ने इन सब रास्तो मे उपलब्धियो को प्रोत्साहित किया।

तुलनात्मक दृष्टि से आधुनिक कार्य मे से कुछ पुरानी कला के बहुत सन्निकट

था। परन्तु जापान और पश्चिम दोनो मे सस्ती सजावट कला की बढती माँग और उत्पादन मे समय की कीमत का तथ्य प्रविष्ट होने से काम की प्रवृत्ति व्यावसायिक होने लगी जिसका परिणाम उपलब्धियो की कमी मे हुआ। अधिकाश काम वास्तविक व सही दृष्टि से कलात्मक की अपेक्षा सज्जात्मक अधिक होता था।

पश्चिम मे जापान के चीनी मिट्टी के बर्तन व पाटरी की बहुतायत माँग का मिट्टी के बर्तन बनाने के उद्योग पर बुरा असर हुआ। घरेलू बाजार के लिए उत्तम बर्तन तैयार किये जाते थे, और पुराने स्तर के पूर्णतया बराबर थे। यही बात धातु के छोटे टुकडो से बने खाने के जापानी सामानो पर भी लागू होती थी। अधिकांश आधुनिक कार्य निम्नस्तर का था। तथापि कुछ कलाकारो का काम न केवल बराबर था, बल्कि भूतकाल के उत्तम कार्य से भी सचमुच अच्छा था। "ताँबे के स्थान पर चाँदी का आधार बनाने प्रयोग और सतह पर इश्मे-विधि से अच्छे डिजाइन बनाना वह अधिक आराम से, कला का नवीनतम विकास है। एण्डो ने अल्प पारदर्शक डिजाइन की फ्रास-विधि का सफलतापूर्वक अनुकरण किया तथा ओटा लाल एकरंगा चित्र तैयार कर रहा है, जो कि इस सुन्दर कला-कौशल मे सभी कामगारो की महत्त्वाकांक्षा है।"[१६] मद्यसार में मिला वारनिश व चित्रकारी का काम, कसीदाकारी तथा बुनाई भी कम से कम उतनी अधिक विकसित हुई, जितनी कि भूतकाल मे थी। पश्चिम में जापान के स्वदेशीय कार्य का स्वागत हुआ, साथ ही शाही दरबार व शाही व्यक्तियो के संरक्षण ने इन स्वदेशीय कला-कौशल के विकास व सरक्षण को प्रोत्साहित करने का काम किया। आधुनिक व्यावसायिक प्रभाव ने कलाकार को बदल कर केवल शिल्पी बने रहने की ओर प्रवृत्त किया, यह सही है परन्तु अन्य प्रभावो ने कलाकार को सरक्षित रखने मे साथ दिया। बहुत से उदाहरण यूरोपीय और अमेरिकी बाजार मे निम्नस्तर व सस्ती वस्तुओं के पहुँचे। वे व्यावसायिक उत्पादन में से थे, जिसकी जापान में खपत होती थी अथवा जो बिरले ही पश्चिम मे पहुँच पाता था वह आधुनिक जापानी कलाकार की कलात्मक उपलब्धि को प्रदर्शित करता था।

जापान में गैरसरकारी कला का विशिष्ट गुण उसकी अत्यधिक सरलता के साथ ही उसकी निर्माण की निर्बलता था। शहरो में छतों पर टाइल्स छाये जाते थे, जबकि ग्रामो में धनी किसानो को छोड़ जो कि टाइल्स का प्रयोग करते थे, छतें फूस की होती थीं। भीतरी दीवारें सरक सकने वाले चौखटे की बनी होती थी, जो पूरी तरह से हटायी जा सकती थीं जब भी दो या तीन कमरों को मिलाकर एक करना हो। सार्वजनिक भवन, जैसे बौद्ध-मंदिर विशेष परिष्कृत रहते थे, कला की

दृष्टि से उतने नही, जितने शायद सज्जा सौंदर्य की दृष्टि से । उनकी शैली चीनी थी और वह स्वाभाविक रूप से जापानी परिस्थितियो मे अपरिवर्तित थी । शिन्टो-समाधियो में स्वदेशी कला-सौदर्य और लोगो की प्रारम्भिक सरलता प्रदर्शित होती थी । पुरातन निवासियो की पुरानी काष्ठ की झोपड़ियो के ये विस्तृत रूप थे । इसकी विशेषता थी, मुख्य द्वार जिसमें होकर उपासनार्थी समाधि तक पहुँचते थे । यह दो सीधे लकड़ी के दोनो ओर खड़े खम्भो पर ऊपर लकड़ी के बने हुए आड़े चौखटे से जो छिद्र से उसमें फँसे रहते थे, और बाहर निकले रहते थे, मिल कर बनता था ।

पश्चिम के सम्पर्क का कलात्मक दृष्टि से मंदिर व समाधि अप्रभावित रहे । दूसरी ओर सरकारी भवन पश्चिमी या छद्म-पश्चिमी शैली मे निर्मित होना आरम्भ हो गया जो अपने अगल-बगल की स्थिति से तादात्म्य बनाने मे एकदम असफल हुए । शहरो मे विदेशी शैली पर निर्मित आवास, स्टोर्स तथा उत्पादन-सस्थान बड़ी सख्या मे व सामान्य थे । भवनों की ऐसी कोई शैली नही निकाली गयी, जो कि विदेशी भवनो के लाभ भी दे सके साथ ही जापानी वातावरण मे भी पूरी तरह एकरस होकर जम सके ।

## (१०) धर्म

जापानी भूखंडो मे प्रमुख सौदर्य है, वहाँ के मंदिर अथवा समाधियाँ, जिससे यह निष्कर्ष निकाला जा सकता है, कि लोग बहुत धर्मनिष्ठ थे तथा अपनी रुचियो व दृष्टिकोण में तीव्र धार्मिक थे । तदनुसार यह वर्णन आधुनिक जापान मे धर्म के स्थान पर विचार किये बिना पूर्ण नही हो सकता ।

संगठित सम्प्रदाय तीन थे—शिन्टो जो शासन का धर्म भी था, बौद्ध व ईसाई सम्प्रदाय । कन्फूशियस मत का अस्तित्व पृथक् उपासना-पद्धति के रूप में नही था, यद्यपि सम्भवतः सभी गैर-ईसाई उच्चवर्गीय जापानी स्वय को कन्फूशियसवादी कहते । परिवार-पद्धति और वंशगत पूजा पद्धति सचमुच में स्वदेशीय थी परन्तु नैतिकता की कन्फूशियन सहिता पुत्र या पुत्र सबंधी सद्गुणो पर जोर देता था, स्वदेशी पद्धति को रखने पर जोर देता था ।

शिन्टो जो "ईश्वरो का मार्ग" था जापानियों का मूल विश्वास था, जो एक आंदोलन के भाग के रूप मे पुनर्जीवित किया गया, जो निजी के पुनस्संस्थापन के बाद शिखर पर पहुँच गया । इस सम्प्रदाय का शासन पक्ष लेता था यद्यपि सरकार सार्वजनिक रूप से इसे सम्प्रदाय की तरह नही मानती थी । सार में यह एक पुश्तैनी पूजा-पद्धति थी । शिन्टो देवता और समाधियों का शासकीय स्थान के अनुसार वर्गी-

करण होता था। राष्ट्रीय समाधियाँ, जिनमे आइस की महान् समाधि को प्रथम स्थान देना चाहिए, पौराणिक काल के देवताओ की पूजा के लिए समर्पित थे। प्रत्येक ग्राम की अपनी समाधि होती थी, जो स्थानीय हीरो अथवा अन्य महान् कार्य करने वाले व्यक्ति को समर्पित की जाती थी। इन दो के बीच मे वे होती थी, जो प्रसिद्ध देशभक्तो की स्मृति मे समर्पित की जाती थी। इसके अलावे प्रत्येक कुटुम्ब की अपनी समाधि होती थी, जिसके समक्ष वह अपने पारिवारिक पूर्वजो की पूजा करता था, क्योंकि सभी मृतको की आत्माएँ राष्ट्रीय देवता अथवा "ईश्वरवत्" प्राणी थे। १९३३ मे १२ श्रेणी की समाधियो की कुल संख्या १,११,०३७ थी। इनकी सेवा मे १५,५८६ पुजारी संलग्न थे। इससे अधिकृत रूप से व्यवस्थापित व सक्रिय उपयोग में आने वाली समाधियो की सख्या मे गिरावट प्रदर्शित होती है, क्योंकि १९०८ मे समाधियो की कुल सख्या १,६२,००० से अधिक थी। पुजारियो की सख्या लगभग वही रही, उसमें बहुत कम गिरावट हुई। अधिकृत मान्यता प्राप्त १३ शिन्टो पथ थे और १९३३ मे घोषित आस्थावान् व्यक्ति १७० लाख थे।[१७]

आधुनिक समय मे शिन्टोवाद की प्रमुख महत्ता धार्मिक की अपेक्षा राष्ट्रवादी अधिक थी। अनुमानानुसार राष्ट्र की और उसके शासकों की दैवी उत्पत्ति पर आधारित प्रखर देशभक्ति पैदा करने के द्वारा राज्य और राजभवन के प्रति भक्ति को विकसित करने मे इसका उपयोग होता था। शिक्षा के प्रसार के साथ इसका जनता पर अधिकार कमजोर होने लगा, यद्यपि मुख्यत अधिकतर शिक्षित-वर्ग मे ही यह था कि आधुनिक वैज्ञानिक विश्व मे इसकी असम्बद्धता की टीका अनुभव की जाती थी, तथापि शासक यह अनुभव करते थे कि देशभक्ति की उपासना-रीति मे उनके पास राजनीतिक, आर्थिक और सामाजिक स्थिति को 'यथावत्' कायम रखने के उत्कृष्ट साधन हैं। इसके परिणाम के बतौर लोग उनके विश्वासो मे उनके द्वारा प्रोत्साहित किये जाते थे, जो सम्भवतः स्वयं उन्हें अस्वीकार कर दिये होते।

जापान मे महाद्वीप से बौद्ध मत का प्रवेश छठी शताब्दी मे हुआ। इसने आपको संघर्ष के बाद और उसके समझौता करने के रिवाज द्वारा स्थापित किया। इसने अपने देवताओ में शिन्टो देवताओ को बुद्ध अवतार मंजूर किया तथा जापान की शौर्य-भावना को भी छूट दी। जापान में नैतिक उत्थान और व्यक्तिगत चरित्र के क्षेत्र की अपेक्षा इसका प्रमुख योगदान कला, साहित्य और देश की सामान्य संस्कृति को प्रभावित करने में था।

१९३३ में अनेक विषयो के साथ १२ प्रमुख बुद्ध-पंथ थे। इनमें से तीन मे अत्यधिक चेतन-शक्ति और वर्तमान परिस्थितियो के अनुकूल होने की अधिक शक्ति

थी । ये पथ थे जैन, निचिरिन और शिन। विभक्त होने की यह प्रवृत्ति जापानी बौद्ध मत के विशिष्ट गुणो मे से एक थी। सभी पथो के मिलाकर १९३३ में ७१ हजार से अधिक बौद्ध मदिर थे, जिनकी देखभाल ५५ हजार से अधिक पुरोहित करते थे। बौद्धमत के लगभग ४८५ लाख अनुचर थे। चूँकि कई बुद्धिवादी शिन्टो-वादी और कई शिन्टोवादी बुद्धिवादी भी थे। उक्त आँकड़ो का यह सकेत पाने के लिए ठोस मूल्य नही है कि जिनसे दोनो संप्रदायो के अनुयायियो की तुलनात्मक शक्ति का सकेत मिल सके।

बुद्धधर्म के सम्बन्ध में शिन्टो धर्म की तरह यह स्पष्ट प्रतीत होता है कि लोगो पर इसका प्रभाव वास्तविक की अपेक्षा नाममात्र को ही अधिक था। विगत शताब्दी के मध्य मे बौद्ध मत निश्चल व प्रवाहहीन था। इसकी शक्ति पूर्व के कालो मे अर्जित गति व कन्फ्यूशियसवाद को छोड़ अन्य कोई विकल्प के अभाव से आयी। कन्फ्यूशियसवाद की जड़े कभी आम जनता मे नही जमीं। चीन की तरह, बौद्धवादी पुरोहित का संबंध जीवन की अपेक्षा मृत्यु से ही था। पुनस्सस्थापन के बाद, राज्य से बौद्धमत का संबंध टूटने तथा ईसाई-मत से प्रतियोगिता ने आरम्भ में इसको कमजोर करने मे किन्तु बाद को उसकी पुरानी जीवन-शक्ति काफी प्रमाण मे लाने का कार्य किया। परिणाम यह हुआ कि बुद्धवादी नवयुवक संगठन संगठित किये गये, बालको के लिए रविवासरीय स्कूल स्थापित हुए तथा फारमोसा व अन्यत्र प्रचार-कार्य हाथ मे लिया गया। कुछ पुरोहितो ने ग्रामीण गिरजा-क्षेत्रो की सम-स्याओ मे रुचि लेना आरम्भ किया तथा मदिरों मे ग्रामीण जीवन में पुनः प्रवेश का प्रयास किया। परन्तु आम तौर पर जापानी बौद्ध मत ने समुचित नैतिक सहिता अथवा कोई सामाजिक कार्यक्रम का विकास नही किया, जो कि वर्तमान समाज की आवश्यकताओ के अनुरूप हो।

जैसा कि बताया जा चुका है, जापान में ईसाई-मत का सर्वप्रथम १६वी सदी के मध्य मे प्रादुर्भाव हुआ, परन्तु लोगो में ठोस जड़ जमा लेना आरम्भ होने के बाद इसी शताब्दी के अंत तक इस पर प्रतिबन्ध लगा दिया गया। प्रारम्भ का यह कार्य रोमन कैथोलिक का था। जापान के विदेशी आदान-प्रदान पुनः आरम्भ होने के बाद प्रोटेस्टेंट जापान मे पुनः प्रवेश करने वाले प्रथम ईसाई थे। रोमन तथा रूढ़िवादी चर्च दोनो भी शीघ्र कार्य करने लगे। रोमन मुख्यतः फ्रांसीसी कैथोलिक को रूढ़िवादी चर्च रूसी ईसाई-मत का प्रतिनिधित्व करते थे।

ईसाई-मत के प्रचार ने लम्बे समय तक धीमी प्रगति की और १९३३ तक भी केवल ३ लाख ने धर्मपरिवर्तन किया, जिनमे से आधे से अधिक पूर्व की दो दशा-

ब्दियो मे चर्चो मे ले जाये गये थे। ऐसा दिखायी देता है कि ६० वर्षो से अधिक काल में कुछ प्रगति हुई थी। दूसरी ओर ईसाइयत का प्रभाव और महत्ता को चर्च के दर्ज सदस्यो की संख्या से नही नापा जा सकता। मिशन-स्कूलो, ईसाई-युवक-सभा (वाय. एम. सी. ए), ईसाई नवयुवती-सभा (वाय. डब्ल्यू सी ए), पापो से मुक्ति की फौज तथा अन्य कई परोपकारी सगठनो द्वारा ईसाई-आदर्श का लोगो में अत्यधिक विस्तृत व व्यापक फैलाव हुआ, जितना कि आँकड़ो से प्रदर्शित हो सकता हो उससे भी अधिक। •

ईसाई-मत के सफल प्रचार मे सबसे बड़ी बाधा तीव्र और संकुचित राष्ट्रवाद था, जो कि ईसाई मत को विदेशी अतरराष्ट्रीयता मे विश्वास करनेवाला मानते थे और परिणामस्वरूप उसे ऐसी कुछ चीज समझते थे, जो राज्य को तथा व्यक्तिगत वफ़ादारी को कमजोर करने वाला असर डालने वाली हो। दूसरे स्थान पर आधुनिक जापान का पदार्थवाद धर्म-परिवर्तन के कार्य मे प्रमुख अड़चन थी। "ईसाई-मत का अनुयायी होना जापानियो को कोई समस्या नही हुई, क्योंकि वह शिन्टो और बोद्धमत के कारण इस अनुयायीकरण के अभ्यस्त है", परन्तु वह "ईसाई मत के नैतिक आदर्शो को सामान्य मनुष्य के लिए बहुत ऊँचा मानता है, विशेषकर व्यापारिक और घरेलू जीवन के लिए।[१८]

१९२० से १९३३ के तुलनात्मक दृष्टि से धर्मांतरण करने वालो की सख्या मे अधिक वृद्धि को तीन प्रकार से समझाया जा सकता है। यह इस तथ्य के कारण हो सकता है, कि समुचित परिणाम की अपेक्षा करने के पूर्व काफी लम्बे समय तक बहुत कठिन परिश्रम करना पड़ता है। इस प्रकार १९२० के बाद तो फसल काटने का समय था। नैतिक स्तरो को उन्नत करने और सामाजिक कार्यक्रमो का विस्तार करने की आवश्यकता की बढ़ती हुई मान्यता को यह प्रदर्शित कर सकता था। चूँकि समय की आवश्यकता के अनुरूप नैतिक और सामाजिक सहिता के जरिये अन्य पंथ बहुत कम योगदान प्रदान कर सकते थे, वहाँ ईसाइयत के प्रति एक आन्दोलन हो सकता था। अथवा यह ईसाई गिरजो के आशिक जापानीकरण के परिणामस्वरूप हो सकता था, जिससे कि उनका विदेशी के नाते भय नही रह गया था। सम्भवतः ये सब धर्मान्तरण की तेजी का कारण समझा सकते हैं।

जापानी गिरजा-घर और अन्य ईसाई-सस्थाएँ धीरे-धीरे आत्म-नियत्रण की ओर बढ़ने लगी। यहाँ तक कि धीरे-धीरे आर्थिक दृष्टि से विदेशियों पर निर्भरता कम होने लगी, कुछ चर्च तो इस स्थिति तक पहुँच गये कि वे अपना खर्च पूर्णतया जापानी सदस्यों के चन्दो से स्वयं चलाने लगे। वास्तव मे आनुपातिक दृष्टि से ईसाई-समाज

इतना अधिक नही बढा, जितना कि उसकी सहायतार्थ चन्दा। स्वतन्त्रता की प्रवृत्ति १९२४ के बाद बहुत तेज हो गयी, चूँकि "हाल मे जापानी चर्चो मे एक आदोलन दिखायी दिया जिसका उद्देश्य था, विदेशी मिशन मडलो से, बहुत कर ब्रिटिश और अमेरिकनो से वित्तीय और अन्य सबध विच्छेद कर लिये जायँ तथा ईसाइयत के प्रचार मे पूरी छूट प्राप्त कर ले। यह कहना महत्त्वपूर्ण है, कि स्वतन्त्रता-आन्दोलन की आवाज प्रथम बार १९२४ मे अमेरिका में नये जापान-विरोधी देशान्तर-गमन-कानून के लागू होने के तुरन्त बाद उठी और तेजी से जड़ पकड़ने लगी, रोमन कैथोलिक और रूसी आरथाडाक्स चर्च को छोड प्रभावशाली जापानी ईसाइयो की बैठक टोकियो मे आन्दोलन को सिद्धि की ओर ले जाने के तरीकों व रास्तो पर विचार-विमर्श हेतु की गयी।"[१९]

यह ध्यान देने योग्य है, कि यह आन्दोलन मिशनो के विरुद्ध लक्षित नही था परन्तु इसका उद्देश्य चर्च को विदेशी सहायता-प्राप्त मिशन से पूर्णतया स्वतन्त्र करना था। यह भी कहा जा सकता है, कि सामान्य तौर पर इस आन्दोलन को जापान के मिशनरियो का समर्थन प्राप्त था, जैसा कि ऐसे आन्दोलन को चीन मे था। बहुतो को यह महसूस होता था, कि ईसाइयत जापान मे शुद्ध जापानी सस्थाओ द्वारा कही अधिक प्रभावशाली तौर पर फैलायी जा सकती है। चर्च के साधनो द्वारा ईसाई-आदर्शो के प्रसार के जरिये अधिक स्वस्थ समाज-व्यवस्था विकसित हो सकती है, बनिस्बत उसके जो जापान के आर्थिक जीवन के आधुनिकीकरण के परिणामस्वरूप विकसित हुई थी। इस प्रकार इलाज भी पश्चिम से ही आरम्भ हो सकता है, क्योकि बुराइयाँ आशिक रूप से पश्चिम से जापान द्वारा उधार ली गयी वस्तुओ के परिणाम-स्वरूप विकसित हुई थी।

तथापि अनेक सम्प्रदायो और पंथो तथा अपूर्व स्थानो पर निर्मित सुन्दर समाधियो व मंदिरो के बावजूद यह नही कहा जा सकता कि जापानी तीव्र धार्मिक लोग है। समग्र रूप से पदार्थवाद पर जोर देने का प्रभाव, आधुनिक विज्ञान-शिक्षा का प्रसार और लोगों को बड़ी संख्या मे शहरो मे लाकर काम हेतु कारखानो में लगाना स्पष्ट रूप से पारम्परिक विश्वासो को कमजोर करने के लिए था। कहा जाता है, कि यह विश्वासो की कमी औद्योगिक कर्मचारियो में अधिक दिखायी देती थी। निश्चित रूप से, १९३१ तक उन पर शिन्टो के राष्ट्रीय पथ का प्रभाव क्षीण हो गया था। विश्वासो की हो रही यह कमी राजनीतिक और औद्योगिक नेताओ को बहुत अधिक चिन्तित किये थी, क्योकि इसने उनके सम्मुख इस विश्वास को पुनर्जीवित करने अथवा दूसरा लाने की आवश्यकता प्रस्तुत कर दी, जो समकालीन

विचारो व आवश्यकताओ के साथ एकरस हो एवं कुछ उपयोगी होने के साथ व्यक्ति और राज्य में एकात्मता स्थापित करने वाले बंधन की तरह हो। यह सब १९३१ और १९४५ के बीच, सुरक्षात्मक कदम की तरह विस्तार से सलग्न राष्ट्रीय सरकार के समर्थन की परिश्रमी उन्नति मे खोजा गया। शिन्टो-विचारो पर पुन. बल देने मे यह बात प्रधान रूप से पायी गयी। पुनस्सस्थापन के पूर्व के दिनो की तरह जापान की बुराइयो का आरोपण विदेशी आयात पर किया गया तथा व्यापक हितो की तुलना मे निजी और वर्गहितो को गौणता के जरिये राज्य के शुद्धीकरण पर बल दिया गया, जैसा कि व्यापक हितो को मिलिटरी-नेताओ ने शासकीय परिभाषा मे समाज का निर्लिप्त तत्त्व निरूपित किया है। इस नये राष्ट्रवाद ने विदेशी संपर्कों से रगे हुए संस्थाओ अथवा कार्यों—जैसे कि ईसाई-मत—पर प्रतिकूल प्रभाव पड़ा।

## पन्द्रहवाँ अध्याय

# जापान की आर्थिक व राजनीतिक प्रगति (१८९५–१९३१)

चीन और रूस के साथ हुए युद्धो व उनके परिणामो के वर्णन से सन् १८९५ के बाद के जापान के आंतरिक राजनीतिक इतिहास का विवरण मे व्याघात हो गया था, किन्तु सन् १९०५ के बाद की जापानी नीतियो और उसकी अतरराष्ट्रीय स्थिति समझने के लिए सन् १८९५ के बाद जापान मे हुई घटनाओ का विवरण आवश्यक है।

सन् १८८९ मे जापान मे सविधान लागू हुआ था और नयी शासन-प्रणाली सन् १८९० मे चालू हुई थी। इस नयी प्रणाली मे शासनतत्र का नियत्रण आम जनता को नही सौपा गया था, क्योकि कार्यकारिणी पर नियत्रण की शक्ति प्रतिनिधि-सभा को नही मिली थी। अतएव, सन् १८८९ से सन् १८९४ तक मंत्रिमण्डल मे जमे हुए कुल नेताओं तथा प्रतिनिधि-सभा का नियत्रण करने वाले राजनीतिक-दलो के बीच लगातार खीचातानी होती रही। डायट मे सरकार पर नियत्रण रखने की शक्ति नही थी, किन्तु, इतनी शक्ति तो अवश्य ही थी कि वह सरकार को व्याकुल और व्यग्र बनाये रहे।

## (१) राजनीतिक दलों का विकास

इटागाकी व ओकूमा के नेतृत्व मे राजनीतिक दल सगठित ही इसलिए हुए थे कि चोशू व सत्सूमा कुलो द्वारा सरकार के नियत्रण के विरुद्ध सघर्ष किया जा सके और राजनीतिक प्रणाली को कम से कम अर्धप्रतिनिधित्वपूर्ण होने का रूप दिया जा सके। काफी समय तक ये दल, मूलत', ओकूमा व इटागाकी जैसे नेताओ के अनुयायियो के समूह मात्र थे और एक दल मे उनकी मौजूदगी सार्वजनिक प्रश्नों पर उनके राजनीतिक विश्वास या सिद्धान्त नही, नेताओ के व्यक्तित्व के कारण थी। जियोटो (उदार दल) जिसके नेता काउण्ट इटागाकी थे, और काइ शिण्टो (प्रगतिशील दल), जिसके नेता काउण्ट ओकूमा थे, दोनो ही सविधान की स्थापना और कुल-नियत्रण से मुक्त प्रतिनिधित्वपूर्ण शासन के लिए संघर्षरत थे, किन्तु सन् १८९८ तक वे एक दल नही बन सके, और जब हुए भी तब भी केवल अस्थायी रूप से, क्योकि मूलत. तो वे दो सबल व्यक्तियो द्वारा सगठित गुट मात्र थे।

डायट की स्थापना से दलो के नेताओ को एक ऐसा सुविधाजनक केन्द्र प्राप्त हो गया था जहाँ से वे कुल-नियत्रण के विरोध के लिए प्रतिनिधिपूर्ण शासन पर दल-

नियत्रण के सिद्धान्त को अमल मे लाने के लिए काम कर सकते थे। शुरू से ही उन्होने अपना यह इरादा प्रकट कर दिया था कि वे ऐसी सरकार का विरोध करेंगे, जिस पर डायट का नियत्रण नही हो। उन्हे आशा थी कि इस विरोध के द्वारा वे इस सिद्धान्त को स्वीकार करवा लेंगे कि मत्रिमण्डल ऐसे बनें, जिन्हे डायट के बहुमत का समर्थन प्राप्त हो। इस योजनाबद्ध विरोध के द्वारा सदन ने एक के बाद दूसरे मत्रिमण्डलो का पतन तो करवा दिया, पर एक मत्रिमडल के गिरने के बाद दूसरा कौन बनाये, इसका नियंत्रण वह नही कर सका। दूसरी ओर, इस विरोध को समाप्त करने के लिए शासन ने कई बार सदनो को भंग करवा दिया था। निर्वाचन-तत्र के नियंत्रण के द्वारा शासन ने चुनावो पर भी प्रभाव डालने का प्रयत्न किया। किन्तु दोनो पक्षो के अपनी-अपनी स्थिति पर कायम रहने के कारण दल-नियत्रण व उत्तरदायित्वहीन शासन के बीच कोई समझौता नही हो सका। स्वय ईटो भी सदन का विरोध समाप्त नहीं कर सके और उन्हे भी सम्राट् के शासनादेश का सहारा लेना पड़ा। इस परिस्थिति मे, सरकार के समर्थन में जनमत बनाने के लिए सन् १८९४ मे उन्होने कोरिया के प्रश्न का उपयोग किया।

अस्थायी रूप से ईटो इसमे सफल भी हुए, किन्तु, युद्ध के फलस्वरूप एक नये संघर्ष का जन्म हो गया, यह था स्वय अल्पतत्र के भीतर का सघर्ष। सम्राट् की पुनस्सस्थापना के समय से ही राष्ट्रीय नीति के सबध मे दो परस्पर विरोधी मत रखने वाले दो गुट इस अल्पतंत्र मे मौजूद थे। यह मत-वैषम्य फारमोसा के प्रश्न पर युद्ध या शाति के रूप मे प्रकट हुआ था। जैसा कि बताया जा चुका है, चीन-जापान युद्ध के समय तक शांतिदल ही सबल रहा। युद्ध के साथ युवराज यामागाटा के नेतृत्व मे दूसरे दल का प्राधान्य हो गया और उसने धीरे-धीरे ईटो के गुट को पीछे, गौणस्थान में धकेलना शुरू कर दिया। इस प्रकार, एक विदेश मे युद्ध छेड़कर ईटो ने इस संघर्ष को तो अस्थायी रूप से समाप्त कर दिया, किन्तु इसके फलस्वरूप, उन्होने नेतृत्व के विरुद्ध ऐसी चुनौती पैदा कर ली, जो दलो के विरोध से भी अधिक प्रबल थी।

शासन की कुल-प्रणाली की तर्कसंगत परिणति सैनिक-नियंत्रण मे होनी ही थी। पुनस्सस्थापना के बाद सेना के पुनस्सगठन और नौसेना के संगठन पर देश के दो सबसे बलवान् कुलो ने दोनो के उच्चपदो पर अपनी इजारेदारी कायम कर ली। नौसेना पर सत्सूमा का आधिपत्य हुआ और सेना पर चोशू का, क्योंकि यामागाटा ने, जोकि स्वयं चोशू थे, सेना का राष्ट्रीय आधार पर पुनस्सगठन किया था। जो भी किसी ऊँचे पद पर था, चाहे वह चोशू हो या न हो, वही यामागाटा का अनुयायी था क्योंकि उन्ही के बदौलत उसे यह पद प्राप्त हुआ था। स्वभावतः सेना व नौसेना

के लोग अपनी-अपनी शाखा के विकास मे दिलचस्पी रखते थे। शुरू मे सेना का महत्त्व अधिक था, क्योकि राष्ट्रीय सुरक्षा व अधिकार-क्षेत्र के विस्तार के लिए वही अधिक आवश्यक मानी जाती थी और इसीलिए अल्पतंत्र के आंतरिक संघर्ष मे सेना की भूमिका ही अधिक महत्त्वपूर्ण रही।

साधारणत., समझा यह जाता था कि नागरिक शासन की विभिन्न शाखाओ द्वारा निश्चित राष्ट्रीय नीतियो के कार्यान्वय के लिए ही रक्षा-सेना के दोनो भागो का अस्तित्व था। किन्तु युवराज यामागाटा सैनिक नेता होने के साथ ही साथ राजनीतिज्ञ भी थे। उनकी राजनीतिक दिलचस्पी सेना के विकास तथा अपने गुरु तथा पुनस्सस्थापना के पूर्व के बड़े साम्राज्यवादी नेता, योशिदा के स्वप्न को पूरा करने के लिए उस सेना के उपयोग मे थी। और जब तक सरकार के नीति-निर्धारक विभागो पर अल्पतत्र के शाति व आतरिक प्रगति के समर्थक गुट का नियत्रण था, इसकी उपयुक्त व्यवस्था हो नही सकती थी। किन्तु, जब चीन से युद्ध चल ही रहा था, प्रिवी कौसिल को इस बात पर राजी कर लिया गया कि एक अध्यादेश जारी कर यह व्यवस्था कर दी जाय, युद्ध व नौसेना के मत्री केवल इन सेवाओ के उच्चपदस्थ अधिकारी ही हुआ करे।[१] इसका परिणाम यह हुआ कि कोई भी मन्त्रिमडल तब तक पूरा नही हो सकता था, जब तक सत्सूमा व चोशू (अर्थात् मुख्यत. यामागाटा) कुलो के सैनिक नेता उसका समर्थन न करे। यह समर्थन सामान्यत. तभी प्राप्त होता था, जब मत्रिमडल इन दोनो रक्षा-सेवाओ के विकास के लिए अपने आय-व्ययक मे उपयुक्त धनराशि की व्यवस्था कर देता था, और इसका तात्पर्य यह होता था कि अप्रत्यक्ष रूप से मत्रिमडल को मुख्य एशिया महाद्वीप की भूमि पर जापान के विस्तार की नीति का समर्थन करना पड़ता था।

सन् १८९४ मे ईटो प्रधान मत्री थे। चीन से युद्ध मे सफलता से उत्पन्न उत्साह तथा इटागाकी को गृहमत्री बनाने से जियोटो-दल से हुई साँठ-गाँठ के फलस्वरूप ईटो दो वर्ष तक इस पद पर बने रह गये। उनके बाद सन् १८९६ मे काउण्ट मत्सूकाटा प्रधान मत्री हुए, जिनके छोटे-से कार्यकाल मे "प्रगति-दल के नेता के रूप मे नही, वरन् उन्हे अपने दल से पृथक् कर देने के उद्देश्य से ही"[२] काउण्ट ओकूमा मत्री बनाये गये। चूँकि यह मत्रिमडल डायट पर नियत्रण नहीं रख सका, ईटो को फिर से प्रधान मत्री बनाया गया।

सन् १८९८ तक यह प्रकट हो चुका था कि एक ओर अल्पतंत्र के भीतर और दूसरी ओर कुल-नेताओ व राजनीतिक दलो के बीच भीषण सघर्ष चल रहा था। जब ईटो ने दूसरे कुल-नेताओ के समक्ष सुझाव रखा कि एक शासन-दल की स्थापना

की जाय तो दोनो संघर्ष मिलकर एक हो गये। यामागाटा ने यह सुझाव नही माना किन्तु ईटो का यह दूसरा प्रस्ताव स्वीकार कर लिया कि प्रतिनिधि-सभा मे किसी भी कुल-नेता का बहुमत न होने के कारण दल-नेता को सरकार बनाने के लिए आमंत्रित किया जाय। यह लगता है कि यामागाटा अपने इस विश्वास के कारण ही इस प्रस्ताव से सहमत हो गये थे कि पहले तो दल शासन चलेगा ही नही और फिर उस पर युद्ध व नौसेना के मत्रियो द्वारा नियत्रण किया जा सकेगा।

अतएव, सन् १८९८ में, ओकूमा व इटागाकी को, जिन्होने अपने-अपने राजनीतिक दलो को मिलाकर सविधान-दल, केनसीटो की स्थापना कर ली थी, मत्रिमडल बनाने का आमत्रण मिला। यह तथाकथित दल-मंत्रिमंडल केवल चार महीने ही टिका। शुरू से ही दल के दो भागो मे, मुख्य रूप से पद प्राप्ति के प्रश्न पर, मतभेद हो गया। दोनो दलो को मिले हुए इतना समय अभी नही हुआ था कि उनके बीच कार्यक्रम के सबध में सतोषजनक समझौता हो चुका होता या दोनो मिलकर एकरस हो गये होते। जब नेताओ को मत्रिमडल बनाने को बुलाया गया, तब उन्हे आश्चर्य ही हुआ था और इरादा भी शायद उन्हे आश्चर्य मे डाल देने का ही था, दोनो दलो के बीच समझौता बहुत हड़बड़ी मे हुआ था। यह प्रयोग अपने उपयुक्त समय से पहले होने के कारण असफल रहा और इससे कुल नेताओं की स्थिति पहले से भी अधिक मजबूत हो गयी।

राजनीतिक-दलो के हाथ शासन-संचालन देने को व्यर्थ सिद्ध कर देने के पश्चात् यामागाटा एक ऐसी सरकार बनाने को तैयार हुए, जो हो तो निर्दलीय, पर जिसे जियोटो-दल का व्यावहारिक समर्थन प्राप्त हो। इस प्रकार, कुल-नेता दलो को स्वीकार करते जा रहे थे, किन्तु अभी उन्हें शासन-सत्ता देने को तैयार नही थे। यह यामागाटा मंत्रिमंडल अल्पतत्र में फौजी गुट की विजय का भी प्रतीक था।

स्पष्ट था कि केवल ईटो ही ऐसे शक्तिशाली व्यक्ति थे, जो यामागाटा गुट के स्थायी नियंत्रण की स्थिति में जमने का विरोध कर सकते थे, और उन्हे भी अल्पतंत्र के बाहर की शक्ति की सहायता की अपेक्षा थी। अपनी इस स्थिति को स्पष्टतः स्वीकार कर उन्होने सन् १९०० में रिक्कन सीयूकाई (वैधानिक शासन के मित्रो का संघ) दल को जन्म दिया और वह ही उसके मान्य नेता हुए। सगठन के साथ ही यह दल डायट मे सबसे बड़ा दल हो गया। इसी समय प्रगतिशील दल का पुनस्संगठन हुआ और ओकूमा के ही नेतृत्व में वह केनसीहोण्टो नाम से प्रसिद्ध हुआ। इन दो घटनाओ से डायट मे यामागाटा के अनुयायियो की संख्या नगण्य हो गयी और उन्होने अपने पद से अवकाश ग्रहण कर लिया। उनके बाद पद पर आने

वाले ईटो को प्रतिनिधि-सभा मे तो काफी समर्थन मिला, किन्तु कुल-प्रतिनिधित्व वाले उच्च सदन मे इस बात को बुरा माना गया कि ईटो राजनीतिक दलो का समर्थन लेने गये और यामागाटा के निर्देशन मे उच्च सदन ने उनका विरोध शुरू कर दिया। इसके अतिरिक्त, दल-नेता के रूप मे भी ईटो असफल सिद्ध हुए। अपने तानाशाही ढंगो से उन्होने अपने कुछ समर्थको को नाराज कर दिया और कुछ अन्य समर्थक इस बात से अप्रसन्न हो गये कि सार्वजनिक सेवाओ मे उनकी इजारेदारी कायम न करके ईटो ने उनके हितो का खयाल नही किया था। अब यह स्पष्ट हो चुका था कि राजनीतिक-दल सार्वजनिक हित मे शासन पर नियत्रण करने की जगह पदो के लाभ मे अधिक दिलचस्पी रखते थे।

सन् १९०३ मे ईटो ने सीयूकाई का नेतृत्व दरबार के कुलीन नेता युवराज साइओजी को सौप दिया और वह मीजी युग की समाप्ति तक नेता के रूप मे कार्य करते रहे। सन् १९०१ मे ईटो-मंत्रिमण्डल के पतन के वाद यामागाटा के एक समर्थक प्रधान मत्री बने थे। अब वयोवृद्ध राजनयिक नेता धीरे-धीरे पृष्ठभूमि मे जा रहे थे, यद्यपि नीतियो मे महत्त्वपूर्ण परिवर्तन और नये प्रधान मंत्रियो के चयन मे सम्राट् द्वारा उनसे लगातार सलाह लेने और उस पर अमल करने के कारण मत्रिमण्डलो के बनाने वालो के रूप मे उनका प्रभाव कायम रहा।

जापान के सवैधानिक जीवन के प्रथम दशक मे ही राजनीतिक-दलो को सीख मिल चुकी थी। वे जान गये थे कि सरकार का विरोध करने से वे पदो के लाभ से वंचित रह जाते है और चुनाव, आन्दोलनो व मतो की खरीद की होड़ आदि की राजनीतिक काररवाई पर काफी धन खर्च करना पड़ता है। राजनीति की महँगाई वार-वार डायट के भग होने से और भी बढ़ गयी थी, क्योंकि चुनाव चार वर्ष मे एक बार नही, कभी-कभी तो, कुछ महीनो के बाद ही फिर से लड़ने पड़ते थे। सरकार के गठन और पदो के वितरण के लिए मत्रिमण्डलो पर नियत्रण के अभाव मे विभिन्न दलो ने शासन के साथ कामचलाऊ समझौते करने की होड़ करना शुरू कर दिया, ताकि राजनीतिक जीवन व काररवाइयो का कुछ लाभ तो उन्हे मिल सके। इससे राजनीतिक प्रगति तो रुक गयी, किन्तु आतरिक राजनीति में, अपेक्षतया एक प्रकार का स्थायित्व व समरसता आ गयी, जो संविधान लागू होने के बाद के प्रथम दशक मे बिलकुल नही थी।

## (२) राजनीतिक दल व सरकार (१९०१–१९१२)

रूस के साथ हो रहा युद्ध जब समाप्त होने लगा, उस समय काउण्ट कटसूरा प्रधान मत्री बने। जब युद्ध छेड़ा गया था, राजनीति मतभेद तब फिर भुला दिये

गये थे। इस बार इसका आशय यह था कि विरोधी दल ने विरोध बन्द कर दिया, क्योंकि सीयूकाई-दल का समर्थन तो कटसूरा को शुरू से ही प्राप्त था। सम्राट् की मृत्यु व मीजी-युग की समाप्ति तक यही स्थिति चली। सन् १९०१ से सन् १९१२ तक कटसूरा या साइओंजी ही प्रधान मत्री बनते रहे। सीयूकाई के नेता के रूप मे साइओजी को इस दल का समर्थन मिलता ही रहता था। अपेक्षा यह की जाती थी कि दलो के सिद्धान्ततः विरोधी होने व अहलकारी समाज के होने के कारण कटसूरा को इस दल का समर्थन प्राप्त न होगा, किन्तु वस्तुस्थिति यह थी कि कटसूरा को भी साइओंजी के समान ही सीयूकाई का समर्थन प्राप्त रहता था, क्योकि दल ने सिद्धान्त की जगह कार्य-साधन को अधिक इष्टकर मान लिया था। इन दोनो मे से कोई जब प्रधान मत्री का पद छोड कर दूसरे को यह पद देता तो बहुधा इसका तात्पर्य यह नही होता था कि डायट मे उसका बहुमत नही रह गया था। काफी समय शासन कर चुकने के बाद डायट एक प्रधान मत्री से ऊब जाती थी। इसके अतिरिक्त, प्रतिनिधि-सभा के निर्वाचनो का समय निकट आने पर दल के सदस्य सरकार का समर्थन समाप्त कर देते थे और सरकार से बडी-बड़ी माँगें शुरू कर देते थे और प्रधान मत्री अवकाश ग्रहण कर लेते थे। आर्थिक समस्या का समाधान ढूँढने की कठिनाई भी प्रधान मत्रियो के इस्तीफो का महत्त्वपूर्ण कारण थी। रूस से हुए युद्ध के कारण राष्ट्र पर भारी कर्ज हो गया था और युद्ध-विजय के लाभो को सगठित करने व उन्हे आगे बढ़ने तथा आतरिक विकास के लिए अधिकाधिक धन की आवश्यकता होती थी। सन् १९०५ में जब शाति होने लगी, कटसूरा ने प्रधान मत्री पद से इस्तीफा देकर यह पद साइओंजी को सौप दिया और आर्थिक कठिनाइयों का सामना करने का बोझ साइओंजी पर आ पड़ा। करो के भारी बोझ से जब जनता मे असतोष बढ़ने लगा और साइओंजी आर्थिक समस्याएँ हल नही कर पाये, तब सन् १९०८ में कटसूरा फिर प्रधान मत्री बन गये और सुधारो का एक कार्यक्रम चलाया, किन्तु उससे स्थिति सुधरी नहीं। सन् १९११ मे फिर साइओजी ने पदभार सम्हाला और अगले वर्ष सन् १९१२ मे, फिर कटसूरा वापस प्रधानमत्री पद पर लौट आये। आय और व्यय के संतुलन स्थापित करने मे सबसे बड़ी बाधा जल व थल-सेनाओ की यह माँग थी कि उनके लिए अधिक से अधिक अनुदान प्राप्त होते रहे, और इसी के कारण एक के बाद दूसरे मत्रिमण्डलो का पतन होता रहा। युद्ध के फौरन बाद नौसेना के विस्तार का अनेक वर्ष तक चलने वाला एक कार्यक्रम अपनाया गया था। आर्थिक कठिनाइयो के कारण कार्यक्रम की अवधि तो बढ़ा दी गयी किन्तु कार्यक्रम तथा उसे लागू करने पर यामागाटा का जोर कायम रहा, जिसके कारण वित्तीय समस्या और जटिल होती गयी।

## (३) राजनीतिक विकास का पुनराम्भ

सन् १९१२ मे हुई घटनाओ के फलस्वरूप, तत्कालीन हर सरकार का समर्थन करनेवाले राजनीतिक दल सीयूकाई के कारण जो राजनीतिक विकास अवरुद्ध हो रहा था, वह फिर से आरम्भ हो गया। सन् १९११ मे कटसूरा ने प्रधान मत्री पद छोडने के बाद राजनीति से सन्यास लेने की घोषणा कर दी। इसका एक कारण यह बताया जाता था कि उन्हे यामागाटा का प्रभुत्व असह्य हो उठा था, यामागाटा ही हर बदलने वाले मत्रिमण्डल की असली शक्ति हुआ करते थे, दूसरे यामागाटा ने कटसूरा को सम्राट् के घरेलू विभाग मे एक पद पर नियुक्ति दिला दी थी, जिसके लिए राजनीति का त्याग आवश्यक था। सन् १९१२ में प्रधान मंत्री के फिर इस्तीफा देने से सम्राट् के परामर्शदाताओ मे मतभेद उत्पन्न हो गया, जिसके कारण कटसूरा फिर राजनीतिक सन्यास छोड सक्रिय राजनीति मे उतर आये। किन्तु इससे उनके अपने राजनीतिक सहायक, यामागाटा से सबध-विच्छेद हो गया और वह नये सहायक ढूँढने को बाध्य हुए; ईटो की भाँति उन्होने भी एक नये राजनीतिक दल की स्थापना की। उनके दल, दोशीकाई, मे अधिकाशत: सवैधानिक राष्ट्रीयतावादी (कोकूमिण्टो) दल के, जो सन् १९१० के पहले का प्रगतिवादी दल ही था, सदस्य ही शामिल हुए। ये सदस्य लगातार विरोधी दल मे रहने के कारण सरकारी पदो से वचित रहे थे और अब पद-लोलुपता से आकृष्ट होकर ही कटसूरा के साथ आये थे। कोकूमिण्टो की शक्ति अवश्य कम हो गयी थी, किन्तु इनागाई के योग्य नेतृत्व मे वह विरोधी दल के रूप में कार्य करता रहा। कोकूमिण्टो से कटसूरा को केवल ७० सदस्य ही प्राप्त हुए थे—और सीयूकाई से सदस्य फोड़ लेने के उनके प्रयत्न विफल हुए थे। अतएव, प्रतिनिधि-सभा मे बहुमत के अभाव, सीयूकोई के विरोध, जनमत के समर्थन के अभाव तथा वयोवृद्ध राजनयिक नेताओं का समर्थन न मिलने के कारण कटसूरा मत्रिमण्डल का पतन हो गया। किन्तु कटसूरा के साथ ही साइओजी का पतन हो गया, क्योकि, कटसूरा ने सम्राट् को इस बात के लिए राजी कर लिया था कि वह साइओजी से सरकार का विरोध समाप्त करने के लिए कहें, साइओजी अपने दल को इस बात के लिए तैयार नही कर सके और सम्राट् की इच्छा पूरी न कर सकने के कारण उन्हे भी राजनीति से अवकाश लेने के लिए बाध्य होना पड़ा।

कटसूरा के इस्तीफे के बाद सीयूकाई के समर्थन से फिर कुल-सरकार की स्थापना हुई; सत्सूमा कुल के नौसैनिक एडमिरल, यामामोटो, सन् १९१३ मे प्रधान मत्री बने। उनकी सरकार का समर्थन करने के कारण सीयूकाई दल मे फूट और विद्रोह हो गया जिसके कारण दल के अधिक आदर्शवादी सदस्यो ने सीयू (सवैधानिक)

क्लब की स्थापना कर ली । नौसेना मे हुए गड़बड़घोटाले के कारण यामामोटो की सरकार भी गिर गयी और चूँकि नौकरशाही समाज के नेताओ मे कोई सरकार बनाने मे सक्षम नही था, राजनीतिक दलीय बनने के लिए रास्ता खुल गया ।

८० वर्षीय काउण्ट ओकूमा, "जो जापानी जनता के अपने आदमी थे और जो लगातार स्वशासन के लिए लडते रहे थे,"[४] सन् १९१४ मे प्रधान मंत्री बने । उन्होने अपने कार्यक्रम में "आर्थिक सुधार, भ्रष्टाचार के उन्मूलन, उत्तरदायी शासन की स्थापना, शिक्षा-विकास, शाति-स्थापना, उत्पादन-वृद्धि तथा कर कम करने"[५] को प्रधानता दी । सीयूकाई ने उनका समर्थन करने से इनकार कर दिया और उन्होने तत्काल डायट भंग करवा दी तथा देश की जनता से समर्थन माँगा । जब से सीयूकाई-दल की स्थापना हुई थी तब से पहली बार अब वह प्रतिनिधि-सभा मे अल्पमत मे हुआ था । दोशी काई, सीयू क्लब तथा ओकूमा के व्यक्तिगत अनुयायियो ने मिलकर केनसीकाई दल की स्थापना की जो बहुमत मे था ।

चूँकि केनसीकाई की स्थापना दल-प्रणाली मे महत्त्वपूर्ण परिवर्तन का द्योतक थी, तत्कालीन राजनीतिक दलो का एक सक्षिप्त विवरण यहाँ उपयुक्त होगा । सन् १९०५ के बाद, कुल-प्रणाली समाप्त कर उत्तरदायी शासन की स्थापना के लिए सघर्ष रुक गया था, क्योकि दलो के उद्देश्यो मे परिवर्तन आ गया था । शासकीय पदो की लोलुपता सतुष्ट करने की प्रवृत्ति का उल्लेख हो ही चुका है; किन्तु, इसी समय एक और अधिक महत्त्वपूर्ण परिवर्तन यह हुआ था कि आधुनिक उद्योगो का विकास हो रहा था और नया पूँजीपति वर्ग अस्तित्व मे आ रहा था, जिसके हितो की रक्षा का प्रश्न उठ रहा था । कोकूमिण्टो के उद्योगपतियों से घनिष्ठ सबध थे, किन्तु सन् १९१४ के बाद केनसीकाई ने पूँजीपतियो का प्रतिनिधित्व करना आरम्भ कर दिया । अतएव, इस दल ने आय व व्यवसाय-करो में कमी व अन्य वे माँगे अपनायी, जो इस वर्ग के हित मे थीं । वैदेशिक सबधो मे यह दल क्षेत्रीय नही वित्तीय व आर्थिक साम्राज्यवादी विस्तार का पक्षपाती था, और चीन के समक्ष रखी गयी २१ माँगो से यह वैदेशिक नीति स्पष्ट हो चुकी थी । सीयूकाई के निकट सबध नौकरशाही समाज से थे और आर्थिक प्रवेश की जगह बलपूर्वक विस्तार की नीति से हुए लाभ उसे प्राप्त हुए थे, यद्यपि, सन् १९१८ के बाद वह भी मूलतः आर्थिक विस्तार का पक्षपाती बन गया था । यह दल औद्योगिक पूँजीपतियो के विरुद्ध नहीं था, किन्तु इसके सदस्यो मे बड़े जमीदारो व व्यापारियो का बाहुल्य था । अतएव, करो के संबंध मे वह भूमि-कर कम करने का पक्षपाती था, आय कर या व्यवसाय कर नहीं । सबसे कमजोर दल था कोकूमिण्टो, जिसका समर्थन बड़े औद्योगिक नगरो में

था। राजनीतिक दल की हैसियत से इसे पदो मे हिस्सा मिलने की आशा न थी और न वह सरकारी नीतियो पर ही कोई प्रभाव डाल सकता था;" अपने सिद्धान्तो को अधिक आदर्शवादी बनाने और मताधिकारहीन जनता पर लगने वाले अप्रत्यक्ष उपभोक्ता कर कम कराने की बात वह कर सकता था।"[१]

## (४) राजनीति-विकास पर युद्ध का प्रभाव

काउण्ट ओकूमा ने जो वादे किये थे वे कभी पूरे नही हुए। आर्थिक परिवर्तन व करो मे कमी पर विचार होने के पहले ही यूरोप मे महायुद्ध छिड़ गया। और जापान के उसमे शामिल हो जाने तथा बाद की घटनाओ से दिलचस्पी आतरिक विकास से हटकर वैदेशिक मामलो की ओर चली गयी। ओकूमा-शासन के इस पक्ष का बाद मे वर्णन किया जायगा, यहाँ केवल यह कह देना काफी है कि ओकूमा सरकार का सबसे प्रबल विरोध इस बात पर हुआ कि उसकी परराष्ट्र-नीति काफी कठोर और सशक्त नही थी। सन् १९१६ मे अशत. यामागाटा के विरोध के कारण और अंशत. अधिक कठोर वैदेशिक नीति चालू न करने के आरोप के कारण कूओमा-सरकार का पतन हो गया।

कोरिया मे बडी सख्ती के साथ गर्वनर-जनरल के पदभार ग्रहण करने की ख्याति प्राप्त, यामागाटा के प्रिय कृपापात्र, काउण्ट तेरौची ने वयोवृद्ध राजमर्मज्ञो की सिफारिश पर निर्दलीय सरकार बनायी, डायट में उन्हे सीयूकाई दल का समर्थन मिला। उन्होने आते ही प्रतिनिधि-सभा भंग कर दी और सरकारी अधिकारियो का प्रभाव केनसीकाई सदस्यो के विरुद्ध शुरू किया, जिससे केनसीकाई का नियत्रण तो समाप्त हो गया, पर सीयूकाई को सदन मे तब भी बहुमत नही मिला। तेरौची ने सन् १९१८ तक शासन किया, जब चावल के भाव कृत्रिम रूप से बढ़ने के कारण व्यापक असंतोष फैला और औद्योगिक नगरो में इसके कारण उपद्रव हो गये। इस स्थिति का लाभ उठाकर तेरौची से इस्तीफा लिया गया।

युवराज साइओंजी के अवकाश ग्रहण करने पर सीयूकाई के नेता हारा हुए और तेरौची की जगह वह ही प्रधान मत्री बने; वह पहले "अ-कुलीन" प्रधान मत्री थे। यह पद कुलो के बाहर जाने के कई कारण थे। पहले तो वह एक सशक्त दल के मान्य नेता थे। दूसरे महायुद्ध-संबंधी प्रचार मे सन् १९१७–१९१८ मे जनतत्र के सिद्धान्त पर इतना बल दिया गया था कि यह दिखाना उपयुक्त समझा गया कि जापान ने भी यह नया विचार स्वीकार कर लिया है। यह इसलिए भी वाछनीय था कि सन् १९१४ के बाद अमरीका व अन्य पश्चिमी देशों मे जापान के सेनावाद व 'कुलीन' शासन की आलोचना हुई थी। इसके अतिरिक्त, अहलकारी समाज में कोई ऐसा व्यक्ति भी नही था, जो शासन की बागडोर सम्हाल लेता।

सन् १९२० मे डायट फिर भंग कर दी गयी, क्योंकि प्रकटत "वह (हारा) कोकूमिण्टो व केनसीकाई दलो द्वारा डायट में पेश किये गये वयस्क मताधिकार सबधी विधेयक को जनता के लिए खतरा मानते थे।"[७] किन्तु वास्तविकता यह थी कि सीयूकाई को स्थायी बहुमत दिलाने का प्रयत्न किया जा रहा था। इसमे सफलता मिलने के कारण शासन कुछ दिन तक रक्षित रहा। दुर्भाग्यवश, एक राष्ट्रीयतावादी उन्मादी ने सन् १९२१ मे हारा की हत्या कर दी, जब वार्शिगटन-सम्मेलन चल रहा था। उनके बाद वाइकाउण्ट ताकाहाशी प्रधान मत्री व सीयूकाई के नेता बने। किन्तु, सन् १९२२ मे मत्रिमण्डल के पुनस्सगठन के सबध मे प्रधान मत्री की नीति को लेकर सीयूकाई में फूट पड गयी। फलस्वरूप, एक नये दल, सीयू होण्टो, की स्थापना हुई और मत्रिमण्डल का पतन हो गया। सन् १९२२ मे, वयोवृद्ध राजमर्मज्ञो मे साइओजी व मत्सूकाटा जीवित थे और उनकी राय से नये प्रधान मत्री का चयन हुआ। वार्शिगटन-सम्मेलन मे शामिल हुए जापानी प्रतिनिधिमण्डल के सदस्य, एडमिरल काटो का जापान के बाहर काफी अच्छा प्रभाव पड़ा था और वार्शिगटन समझौतो को पूरी तरह लागू करने की घोषणा के आधार पर वह ही प्रधान मंत्री बने। वह अपने वादे पूरे करने मे तत्पर थे तभी २४ अगस्त, १९२३, को उनकी मृत्यु हो गयी। अगले महीने, सितम्बर मे, जापान मे जब भारी भूकम्प आया और जिससे अपार क्षति हुई, वहाँ सक्रमणकालीन मत्रिमण्डल के नेता के रूप में एडमिरल यामामोटो प्रधान मंत्री थे, शीघ्र ही वाइकाउण्ट कियूरी ने अधिक स्थायी निर्दलीय सरकार बनायी। इस प्रकार दो वर्ष तक जापान मे निर्दलीय सरकारो की स्थापना हुई जिन्हे पुराने सरकारी दल का समर्थन तो प्राप्त था, किन्तु जो उसी के बल पर स्थापित नही हुई थी।

मई, १९२४, के निर्वाचन के बाद ही जापान मे फिर दलीय शासन स्थापित हुआ। चुनाव मे केनसीकाई के १५१, सीयूहोण्टो के ११६ तथा सीयूकाई के १०० प्रतिनिधि जीतकर आये, शेष महत्त्वहीन गुटो के थे या स्वतत्र थे। केनसीकाई के नेता, काउण्ट काटो से, जो सन् १९१४–१९१६ में ओकूमा मत्रिमण्डल में परराष्ट्र मंत्री रह चुके थे, सरकार बनाने को कहा गया। निर्दलीय कियूरी-मत्रिमण्डल को हटाने की इच्छा से प्रेरित हो सीयूकाई व केनसीकाई-दलो के गठबंधन से यह सरकार बनी। यह उद्देश्य पूरा होते ही गठबंधन भंग हो गया और सन् १९२५ में काटो ने केवल केनसीकाई के समर्थन पर नया मत्रिमण्डल बनाया। सन् १९२७ तक यह सरकार चली तब ताइवान बैंक की सहायता के लिए लाये गये विधेयक के प्रिवी कौंसिल के विरोध के कारण सरकार ने इस्तीफा दे दिया। सीयूकाई दल को

सशक्त बनाने के लिए फौजी नेता टनाका को नेता बनाया गया था और सदन में बहुमत न होने पर भी सन् १९२९ तक टनाका की सरकार ने ही शासन चलाया।

बढते हुए असतोष के कारण टनाका शासन ने जब इस्तीफा दिया, तब सन् १९२७ मे केनसीकाई व सीयूहोण्टो के मिलन द्वारा स्थापित नये दल मिनसीटो के नेता ने सरकार बनायी। सदन मे सबसे बड़ा दल होते हुए भी तब इसका बहुमत नही था। किन्तु सन् १९३० के चुनाव मे इसे बहुमत मिल गया जब मिनसीटो को २७३ व सीयूकाई को १७४ स्थान प्राप्त हुए। किन्तु, इस बहुमत के बावजूद सन् १९३१ के अत मे मिनसीटो सरकार गिर गयी क्योकि उसके आर्थिक कार्यक्रम तथा १८ सितम्बर, १९३१ की मुकडेन मे हुई घटना के बाद उसकी मंचूरिया सबधी 'कमजोर' नीति से असतोष उत्पन्न हो गया था। वयोवृद्ध राजनीतिज्ञ व पुराने उदारपंथी, इनुकाई, ने सीयूकाई-दल की सरकार बनायी; इनुकाई इस दल मे सन् १९२४ मे शामिल हो गये थे और टनाका के बाद इसके अध्यक्ष बने थे। डायट मे बहुमत प्राप्त करने के लिए उसे भग कर दिया गया। सन् १९३२ के चुनाव में सीयूकाई के ३०४ व मिनसीटो के १४७ उम्मीदवार विजयी हुए। बाद मे इनूकाई की हत्या के उपरान्त फिर सीयूकाई समर्थित निर्दलीय शासन हुआ, जिस पर युद्ध मत्री, जनरल अराकी का पूरा प्रभाव रहा।

इस सक्षिप्त वर्णन से यह नही लगता कि सन् १८९५ के बाद जापान मे कोई भी वास्तविक राजनीतिक प्रगति हुई। राजनीतिक-दल अधिकांशत. अवसरवादी थे और जनहित के कार्यक्रम बनाने की जगह व्यक्तियों के ही भक्त बने हुए थे। सन् १९२५ मे अततः पुरुषो के लिए बालिग मताधिकार प्राप्त हो चुका था, किन्तु इसके कोई व्यापक राजनीतिक परिणाम नही हुए थे; मताधिकार पहले सन् १९०० में विस्तृत किया गया था और फिर सन् १९१८–१९१९ से इसे और व्यापक बनाया गया था। सामान्यत., राजनीति पद-लोलुपता के आधार पर चलती थी और इसीलिए राजनीतिक-दल व डायट दोनो के प्रति आम जनता की भावना किसी हद तक घृणा व क्रोध की ही थी। दलगत शासन से उत्पन्न असतोष का नवयुवको मे, विशेषकर सैनिक-वर्ग मे, बढ रही इस भावना से सामजस्य हो गया था कि नौकरशाही शासन ही चले और ससदीय प्रक्रिया की बाधाएँ उसके मार्ग से हटा दी जायँ। सर्वहारा व किसानो के हितो की बात करने वाले राजनीतिक दलो की स्थापना के प्रयास भी हुए, किन्तु वे विशेष सफल नही हो सके।

## (५) आर्थिक विकास

सन् १८९५ के बाद जापान मे सबसे अधिक परिवर्तन जिस क्षेत्र मे हुआ, वह आर्थिक था। यदि आधुनिक औद्योगिक प्रणाली के विकास, विदेशी व्यापार के

विस्तार तथा व्यापारिक नौ-संवहन के विकास को प्रगति का प्रतीक माना जाय तो इस क्षेत्र मे भारी प्रगति हुई थी। जैसा कि पहले कहा जा चुका है, चीन से युद्ध के पहले ही जापान मे उद्योग-व्यवसाय के विकास की नीव पड़ चुकी थी।[८] रेल-मार्गों का निर्माण हुआ था, आधुनिक बैक संगठित हुए थे, और कुछ प्रयोगो के उपरान्त सतोषजनक बैक-व्यवस्था स्थापित हुई थी; मुद्रा-विनिमय-प्रणाली का पुनस्सगठन किया गया था, और युद्ध के कुछ दिनो बाद ही उसे स्वर्णमान पर आधारित कर दिया गया था, आधुनिक डाक-व्यवस्था सगठित की गयी थी, टेलीफोन व तार के सचार साधनो का विकास हुआ था; जहाज बनाने का उद्योग व व्यापारिक जहाजो का बेड़ा बन चुका था। इस प्रकार औद्योगिक विकास का आधार कायम हो चुका था। शासकीय प्रेरणा से नयी औद्योगिक पद्धतियाँ अपनायी जा रही थी, किन्तु मोटे तौर पर, सन् १८९५ के बाद ही विशेषकर सन् १९०३ के बाद ही, जापान के औद्योगिक राष्ट्र बनने की क्रिया चली और ओसाका व अन्य नगर बर्मिंघम जैसे औद्योगिक नगरो का रूप लेने लगे।

सन् १९३१ के पहले जिन युद्धो मे जापान फँसा था, उनका उसकी औद्योगिक प्रगति पर बड़ा अच्छा प्रभाव पड़ा था। हर युद्ध से उद्योगो का विस्तार हुआ, हर युद्ध के बाद बाजार मे तेजी आयी, सट्टेबाजी हुई, अस्थायी रूप से नये उद्योग स्थापित हुए और उद्योग का अतिशय विकास हुआ; और असीमित समृद्धि के हर युग के बाद मन्दी आयी और अनेक अस्थायी समृद्धि जनित कल-कारखाने बैठ गये। किन्तु हर मन्दी के बाद भी जापान हर युद्ध के पहले की तुलना मे और अधिक औद्यौगिक होता गया और स्थायी आधार पर क्रमिक प्रगति की तैयारी करता गया।

सन् १८९५ के बाद की आर्थिक प्रगति के वर्णन के लिए कुछ आँकड़े उपयुक्त होगे। सन् १८८५ मे जापान का कुल निर्यात ३७० लाख येन का था और आयात २९० लाख येन का, अर्थात् कुल विदेशी आयात-निर्यात ६६५ लाख येन का था। सन् १८९४ के युद्ध के समय यह व्यापार बढ़कर २३ करोड़ येन से भी अधिक का हो गया था। सन् १९०४ के युद्ध के समय तक यह बढ़कर ६९ करोड़ येन पर पहुँच गया था। सन् १९१४ में आयात ५९.६ करोड़ और निर्यात ९९ १ करोड़ येन का हो गया था। सन् १९१९ में आयात व निर्यात दोनो २००–२०० करोड़ येन के हो चुके थे। सन् १९२० व उसके बाद की मदी मे यह व्यापार कम हुआ था पर सन् १९२९ तक फिर यह सन् १९१९ के व्यापार से बहुत आगे बढ़ा चुका था। मूल्यों में वृद्धि तथा विनिमय के उतार-चढ़ाव को भी ध्यान मे रखें तब भी ये आँकड़े व्यापार के अत्यधिक विस्तार के ही द्योतक है।

इन आँकड़ो से कई महत्त्वपूर्ण तथ्य प्रकट होते है। सन् १८८२ से सन् १८९४ तक लगभग लगातार जापान का आयात व्यापार निर्यात की तुलना में कम था क्योकि खेतिहर जनता अब भी विगत मे ही रह रही थी और पश्चिमी वस्तुओ की आवश्यकता उसे महसूस नही हो रही थी। सन् १८९५ से प्रथम महायुद्ध तक जापान का आयात-निर्यात से लगातार अधिक रहा। युद्ध के वर्षो में जापान का निर्यात फिर आयात से आगे बढ गया। युद्ध के उपरान्त मंदी व उद्योग के क्षेत्र मे अन्य प्रतियोगी देशो के फिर से व्यापार के मैदान में उतर आने के कारण और सन् १९२३ के भीषण भूकम्प से हुई क्षति को पूरा करने के लिए आयात फिर बढ गये थे।

विदेशी व्यापार के आँकडो से एक अन्य महत्त्वपूर्ण तथ्य यह भी प्रकट है कि सन् १८९५ के बाद व्यापार का स्वभाव ही बदल गया। अब तैयार औद्योगिक माल की जगह कच्चे माल या आधे तैयारशुदा माल ले रहे थे और निर्यात तैयार औद्योगिक माल का होने लगा था। सन् १९१९ मे व्यापार की जो स्थिति थी, उससे परिवर्तन की व्यापकता और स्वभाव का पता लगता था। कुल निर्यात का केवल ३ १ प्रतिशत भाग ही खाद्य-सामग्री था, यद्यपि इसी मद मे आयात १२ प्रतिशत था; खाने का तैयार माल आयात का ४.२ प्रतिशत व निर्यात का ४ प्रतिशत था; खाद्यान्न छोड अन्य कच्चे माल का निर्यात कुल निर्यात का केवल ५.२ प्रतिशत था, किन्तु आयात ५०.३ प्रतिशत था, औद्योगिक उत्पादन सामग्री निर्यात का ४३.२ प्रतिशत और आयात का २० प्रतिशत थी; तैयार औद्योगिक माल कुल आयात का १२ प्रतिशत और कुल निर्यात का ४३ प्रतिशत था। आरम्भ में, सन् १८९५ से मीजी-युग के अत तक, जब विदेशी व्यापार का सतुलन जापान के विरुद्ध था, अर्थात् आयात अधिक थे और निर्यात कम, तब वह उद्योगो के लिए विदेशों से केवल कच्चा माल ही नहीं, यत्र व औद्योगिक साज-सज्जा भी मँगा रहा था और राष्ट्रीय उद्योग तैयार माल की देश की आवश्यकताएँ पूरी नही कर पा रहा था। सन् १९१४ के बाद के दशक मे यह स्थिति बिलकुल बदल चुकी थी, जापान न केवल अपनी ही औद्योगिक आवश्यकताएँ पूरी कर ले रहा था बल्कि निर्यात के लिए भी उसके पास माल बच रहता था।

जापान के औद्योगिक व पूँजीवादी समाज मे परिवर्तित होने का एक अन्य लक्षण उद्योग व उद्यम के मिश्रित पूँजी आधार का विकास था। सन् १९०५ तक भी कुल २० लाख येन की चुकती पूँजी की ८३ मिश्रित पूँजी वाली कंपनियाँ जापान मे थी, जब कि १३० लाख येन की पूँजीवाली सीमित साझेदारी वाली १४८ कंपनियाँ मौजूद थी; सन् १९१४ में २१० लाख येन की पूँजी वाली १९८ मिश्रित पूँजी कंप-

नियाँ बन चुकी थी और सीमित साझेदारी की २९३ कपनियो की कुल पूँजी ६० लाख येन ही रह गयी थी।

सन् १९०५ मे देश मे १९,०४० यान्त्रिक और ७,१६,००० हथकरघे थे, सन् १९१४ मे यान्त्रिक करघो की सख्या बढ कर १,२३,००० हो गयी थी और हथकरघो की सख्या घटकर ४,००,००० रह गयी थी, जिससे प्रकट था कि नया उद्योग पुराने उद्योग की जगह ले रहा था। सन् १९१४ के बाद यह विकास और अधिक तेजी मे हुआ और वस्त्रोद्योग के विकास के समान ही अन्य उद्योगो मे विकास हुआ। पुराना, सुन्दर, गृह-उद्योग भी यांत्रिक उद्योग के साथ-साथ चलता रहा पर राष्ट्रीय अर्थ-व्यवस्था में उसका महत्व कम होता गया था। जापानी जनता की रुचि और स्वभाव व आदत यान्त्रिक एकरसता वाली सामग्री के उपभोग के प्रति कम थी, इसलिए हस्त-उद्योग के उत्पादन के लिए माँग लगातार बनी रही, किन्तु कारखानो में बने माल के फलस्वरूप जापान का औद्योगीकरण तेजी से होता रहा।

यह बात ध्यान देने की है कि आधुनिक यत्रो के उपयोग से उद्योगो की स्थापना मे जापान-सरकार ने आगे बढ कर पहल की थी। सरकार की दिलचस्पी इस बात मे थी कि दैनिक जीवन के लिए उपयोगी वस्तुओ के लिए देश पश्चिमी राष्ट्रो पर निर्भर न रहे और उसका निर्यात बढ़े। इससे दैनिक आवश्यकता की वस्तुओ के बड़े परिमाण मे उत्पादन को बल मिला, सुन्दर घरेलू धन्धो की कलापूर्ण वस्तुओ के उत्पादन को प्रोत्साहन नही मिला। फलतः नया उद्योग पश्चिम के समानान्तर विकसित होने लगा। जो नये, आधुनिक उद्योग स्थापित हुए, उनमे प्रमुख थे रेशम व सूती वस्त्रोद्योग, जहाज-निर्माण, कागज व दियासलाई बनाने, रासायनिक खाद तैयार करने, लोहे व इस्पात के उत्पादन व शराब बनाने के कारखाने। प्रथम विश्व युद्ध के समय व उसके बाद रसायन उद्योग पनपा। नये उद्योगो मे बड़े परिणाम में पतिमानित उत्पादन पर ही बल दिया गया।

आधुनिक जापान में बिजली उद्योग भी महत्त्वपूर्ण था। सारे देश मे रोशनी के लिए बिजली ही काम मे आती थी और इसके अतिरिक्त उद्योगों को चलाने मे भी बिजली का उपयोग होता था। पहाड़ी नदियो व झरनों से बनी बिजली सस्ती व प्रचुर थी। किसी भी देश की तुलना मे जापान की जल-विद्युत्-सभावनाएँ अधिक हैं। जैसे-जैसे बिजली उत्पादन बढ़ता गया, देश में कोयले की कमी पूरी होती गयी।

रूस से हुए युद्ध के समय व उसके बाद विदेशी वस्तुओ का चलन इतना बढ़ गया था कि देशी उद्योग-धंधो को बड़ी क्षति हुई थी। पहले तो लोगों ने पश्चिम के अनुकरण में कला के अपरिचित मानों की नकल करने की कोशिश की, जिससे एक

ऐसी सकर अभिरुचि पैदा हो गयी, जो न पश्चिमी और न जापानी दृष्टिकोण से ही उचित थी। किन्तु पश्चिम के लोगो ने ही जापानी घरेलू धन्धो मे बनी वस्तुओ को पश्चिमी वस्तुओ से वरीयता देकर उनमें दिलचस्पी दिखायी। तब स्वय जापानी लोगो ने अपने देशी धन्धो की सभावनाओ के प्रति जागरूकता का दृष्टिकोण अपनाया और पश्चिमी प्रभाव को त्यागा। इससे जापान के स्वदेशी माल मे फिर से दिलचस्पी बढी। मिट्टी के बरतन बनाने के धन्धे पर पश्चिमी प्रभाव सबसे अधिक पड़ा था, पर शीघ्र ही वहाँ जापानी प्रतिमान व अलकरण व नमूनों का आदर्श चालू हो गया। धातु के सामान पर शीशे के समान पालिश व वारनिश कर उस पर चित्रकारी करने की कला का जापानी फिर आदर करने लगे। घरो पर रेशम से कसीदे के दुपट्टे व अन्य वस्त्र बनाने के काम का महत्त्व भी कायम रहा और उसमे रूप प्रतिमानीकरण नही हुआ। ऐसा तो कभी नही हुआ कि जापान के स्वदेशी घरेलू धन्धो का अस्तित्व या आर्थिक महत्त्व ही मिट गया हो, हुआ यह था कि ये वस्तुएँ जनरुचि से अस्थायी रूप से गिर गयी थी, क्योकि वे पश्चिमी नही थी; जनरुचि के अभाव मे कुछ समय के लिए इन वस्तुओ की विशिष्टता कम होने लगी थी, किन्तु कुछ समय बाद ही उनमे फिर स्वाभाविक अभिरुचि उत्पन्न हो गयी थी।

## (६) औद्योगिक विकास के प्रभाव

जापान मे कारखाने बनने से राज्य की भौतिक नींव तो अवश्य मजबूत हुई, किन्तु, साथ ही वे खराबियाँ आ गयी जो पश्चिमी औद्योगिक समाजो मे थीं। घनी गन्दी बस्तियो व धुएँ भरे वातावरण वाले औद्योगिक नगर, कल-कारखानो व खदानों में काम करने के लिए अपने-अपने घरो को छोड़कर आये बच्चे व स्त्रियाँ जो घरो पर दस्तकारियो मे सुविधापूर्वक फुरसत के समय काम करते थे, व्यवसाय के यत्रो का स्वामित्व कारीगरो से छिन जाना, कारीगरो व शिल्पियो का लगातार घण्टो तक एक ही काम करते रहने वाले श्रमिक बन जाना, संपत्ति की असमानता व औद्योगिक केन्द्रों में पारस्परिक सहयोग व सहायता की सामंती पारिवारिक परपरा का अभाव, समूहो व वर्गों के बीच पारस्परिक वैमनस्य व विरोध—औद्योगीकरण के सभी लक्षण तेजी से आधुनिक जापान की विशेषताएँ बनने लगे।

ये परिवर्तन इस तेजी से आये कि कुछ समय तक उनसे उत्पन्न समस्याओ के निराकरण का प्रयत्न ही नही किया गया। वास्तव मे, नेताओ व मतदाताओ का बड़ा भाग इन समस्याओ के प्रति उदासीन ही रहा और पूँजीपतियों का वर्ग उत्पन्न होकर इतना शक्तिशाली हो गया कि राजनीतिक दलो की सहायता से मजदूरो की दशा सुधारने के प्रस्तावो पर विचार करना ही रुकवा दिया गया।

साथ ही, पुराने कुलीन व भूस्वामियो के वर्ग ने इस दशा के प्रति अपना कोई उत्तरदायित्व नही माना और इन समस्याओ की अवहेलना करते रहे। कारखानो के सबंध मे कानून बनाने का पहला प्रस्ताव सन् १८९७ मे आया, पर कानून जाकर सन् १९११ मे बना और वह भी सन् १९१६ के पहले लागू न हो सका। इस कानून का महत्त्व उसके स्वीकार हो जाने मे ही था, इसमे सन्देह नही कि उससे मजदूरो को कोई बहुत अधिक सुविधाएँ मिल गयी थी। यह कानून केवल उन्ही कारखानो पर लागू था जहाँ १५ से अधिक मजदूर काम करते थे, जिन कारखानो मे जहाँ खतरनाक चीजे बनती थी या जहाँ काम करने की हालतो मे खतरा निहित था, वहाँ मजदूरो की सख्या की कैद नही रखी गयी थी। कुछ अपवादो को छोड़कर, १२ वर्ष से कम आयु के बालको के कारखानो मे मजदूरी करने पर रोक लगाने की व्यवस्था कानून मे की गयी थी। स्त्रियो व १५ वर्ष से कम उम्र के वच्चों के लिए काम के अधिकतम घण्टे १२ करने की व्यवस्था थी, किन्तु इसमें भी कुछ अपवादो की गुजाइश कर दी गयी थी, जहाँ अधिकतम घण्टे बढाकर १४ कर दिये गये थे। महीने मे दो दिन का अवकाश नियत किया गया था, किन्तु चूँकि कानून की धाराएँ तत्कालीन व्यावहारिक परिस्थितियो पर आधारित थी, काम की दशा व शर्तो के संबध में निर्धारित निम्नतम मान बहुत ही नीचे थे और कानून लागू करने में इतने अपवाद छोड़ दिये गये थे कि कानून एक मखौल बनकर रह गया था। सन् १९२३ में हुए संशोधन से, जो सन् १९२६ मे लागू हुआ, और फिर सन् १९-२९ के संशोधन द्वारा, कानून उन सभी कारखानो पर लागू कर किया गया जो बिजली से चलते थे। सन् १९१९ के अन्तरराष्ट्रीय श्रम सम्मेलन में काम के घण्टो के सबंध में जो अन्तरराष्ट्रीय मान निर्धारित किये गये थे, जापान मे भी उन्ही मानो को चलाने का प्रयत्न हो रहा था। और तदर्थ कानून मे संशोधन भी किये गये थे।

बढती हुई आबादी के फलस्वरूप बड़ी सख्या में मिलने वाले मजदूरो, देहाती मजदूरो के लिए नागरिक जीवन के आकर्षण तथा औद्योगिक संस्थानो में लगातार स्त्रियो की भरती के कारण जापान में मजदूरी का स्तर सन् १९१४ तक, वरन् सन् १९१८ तक भी, बहुत ही नीचा रहा, जब एकाएक ही उद्योग के व्यापक विकास और मजदूरों की लगभग असीमित खपत व माँग के कारण मजदूरी की दरें तेजी से बढ़ीं। किन्तु, बड़े हुए वेतन, बढ़ती हुई महँगाई तथा नयी समृद्धिजनित बढ़े हुए उपभोग के कारण मजदूरो को विशेष सुविधा नही प्रदान कर सके। फिर प्रश्न यह भी था कि क्या ये बढ़े हुए वेतन युद्ध के बाद भी कायम रह सकेंगे। युद्धोत्तर गरम

बाजारी का मुख्य कारण कच्चे रेशम व रेशमी माल की अमरिका में खपत थी; दूसरा कारण दलालों के समझौतो के कारण सूती वस्त्रो के दाम कृत्रिम रूप से ऊँचे रहना था। किन्तु, यह गरम बाजारी सन् १९२० मे समाप्त हो गयी और इसके साथ ही रूस व चीन से युद्धों के समय की भाँति सट्टे, अत्यधिक विकास व अत्यधिक पूँजी निर्माण मे परिलक्षित समृद्धि का दौर भी समाप्त हो गया।

मन्दी का तात्कालिक कारण था जापान-बैंक का निजी बैंको को और अधिक ऋण देने से इनकार और बकाया ऋणों की अदायगी की माँग करना। किन्तु सन् १९२० तक जापानी रेशम की अमरीकी माँग कम हो चुकी थी, युद्ध समाप्त होने से, प्रशान्त सागर में माल ढोने की जो लगभग इजारेदारी-सी जापान को मिल गयी थी, वह समाप्त हो गयी थी और जहाज उद्योग को गहरा धक्का लगा था, और पेरिस सम्मेलन के शानतुंग-सबधी निर्णय चीन मे ज्ञात होने से वहाँ जापानी सूती वस्त्रों का बहिष्कार शुरू हो गया था, जिससे माँग बहुत घट चुकी थी। फिर आवश्यकता से अधिक औद्योगिक विकास का दण्ड तो मिलता ही है। यह मन्दी वाशिंगटन-सम्मेलन तक जारी रही, और सरकार के समक्ष एक बड़ी समस्या यह आयी कि बड़े जहाजों के निर्माण के स्वीकृति कार्यक्रम को जारी रखना असंभव हो रहा था, क्योंकि वाशिंगटन मे इस सबध मे जापान वचन दे चुका था, और यह कार्यक्रम जारी न रखने से शेष उद्योग भी ठप होने का डर था। जहाज-उद्योग में लगे मजदूरो को बेकारी से बचाने के लिए सरकार ने पर्यटक या क्रूजर जहाज बनाने का फैसला किया। फिर भीषण भूकम्प से आयी तबाही के बाद मरम्मत के काम से औद्योगिक जीवन मे आयी शिथिलता किसी हद तक दूर हुई।

बीसवी शताब्दी के पहले तीन दशको मे जापान मे करो के भारी बोझ के कारण जीवन दूभर हो गया था। सरकारी खर्च सन् १९०२ और सन् १९१४ के बीच ३० करोड़येन से बढकर ५५ करोड येन हो गया था और जापान के महायुद्ध मे शामिल होने पर सरकारी खर्च बहुत तेजी से बढ़कर १०० करोड़ येन से भी अधिक हो गया था। खर्च बढने का एक कारण एशिया महाद्वीप की मुख्य भूमि पर पैर जमाने के लिए की गयी कारवाई, तथा सन् १९१६ मे निश्चित व सन् १९२० में सशोधित, जल व थल-सेनाओ के विकास के कार्यक्रम भी थे, इस बीच प्रशासकीय व्यय भी बढा था। सन् १९०२ से सन् १९१४ के बीच की अवधि मे राष्ट्रीय ऋण भी ५० करोड़ से बढ़ कर २५० करोड़ येन का हो चुका था। रूस से हुए युद्ध के फलस्वरूप यह ऋण बहुत तेजी से बढ़ा था, किन्तु सन् १९०६ में रेल-मार्गों के राष्ट्रीयकरण तथा रेलमार्गों के विकास तथा मंचूरिया मे जापानी हितो के विकास के कारण

भी ऋण का परिमाण बढा था। सन् १९१४ के बाद राष्ट्रीय ऋण और भी बढा। इसके विपरीत सन् १९१४ से सन् १९१८ तक राजनीतिक कारणो से जापान ने चीन को ऋण दिये भी, जिनके मूल व ब्याज की अदायगी की किश्तें बकाया पडी थी।

इस भारी बोझ को ढोने के लिए सरकार हर सभव उपाय काम में ला रही थी। उदाहरणार्थ, सरकार ने वित्तीय कारणो से तम्बाकू, कपूर व नमक की इजारेदारी स्थापित कर ली थी—चीन से हुए युद्ध के बाद तम्बाकू की इजारेदारी कायम हुई। फारमोसा मे कपूर-उद्योग के विकास के लिए इस उद्योग मे इजारेदारी आयी और नमक की इजारेदारी रूस से हुए युद्ध के समय कायम हुई। किन्तु इस सबके बाद भी करो का बोझ बढता ही गया, विलास-सामग्री, पजीकरण-शुल्क, भूमि-आय, व्यवसाय व उत्तराधिकार-कर आदि से जनता पर कर बोझ असह्य हो उठा। इसके अतिरिक्त, स्थानीय करो का भी बोझ था। इस प्रकार सपन्न व निर्धनो के बीच की खाई बढती गयी और निर्धन और भी अधिक निर्धन होते गये, ओर इस प्रक्रिया के लिए केवल मात्र औद्योगीकरण ही उत्तरदायी नही था।

## (७) श्रमिक-समस्याएँ

यहाँ श्रमिक-सगठनो के विकास का कुछ विवरण उपयुक्त होगा। सन् १९०० मे लागू 'शाति नियम' मे एक धारा यह भी थी कि जो भी हडताल कराने के उद्देश्य से दूसरो को भडकायेगा या फुसलायेगा उसे एक से छ. महीने तक की कड़ी कैद व तीन या तीसयेन तक के जुरमाने की सजा होगी, इस धारा के कारण श्रम-सगठनो की स्थापना, या कम से कम, प्रभावकारी उपयोग पर एक प्रकार की रोक लग गयी। ये सगठन केवल मात्र सामाजिक व सहायता प्रदान करने वाली सस्थाएँ ही बने रह जाने को ही बाध्य थे। किन्तु इसके बावजूद, श्रम-सगठन बनने शुरू हुए, यद्यपि ये संगठन समय-समय पर इतने बदलते रहे कि उनकी वास्तविक शक्ति आँकना असभव था। सन् १९१२ में जापानी श्रमिक-सघ स्थापित हुआ। सन् १९२० मे बूजी सुजूकी ने इसका पुनस्सगठन किया और दावा किया कि उसके ५० हजार सदस्य है; किन्तु ये सदस्य कोई भी सामूहिक कदम उठाने मे इसलिए समर्थ नही थे कि उनके मत व दृष्टिकोण स्पष्ट नहीं हुए थे। जब यह रोक सन् १९१९ में अशत: हटा ली गयी, तब इस तथा इस तरह के अन्य सगठनों की स्थिति कुछ हद तक सुधरी।

युद्ध व युद्धोत्तर सपन्नता के युग मे जापान मे सुविकसित मजदूर-संगठनो के अभाव में भी अनेक हडतालें हुईं। उनमे से कई बहुत बड़े पैमाने पर भी हुईं और उन सबका मुख्य कारण असतोषजनक वेतन-दरें थीं। सन् १९२० के बाद की मदी

के फलस्वरूप मजदूर-आन्दोलन घटा पर उद्योग व कृषि दोनों मे पूंजी व श्रम के बीच खटपट जारी रही और बढती गयी तथा सरकार की ओर से सुविधा प्रदान करने वाले कोई भी सतोषजनक कदम नही उठाये गये। सन् १९३१ के बाद सेना-कार्यक्रम के लिए उत्पन्न जनमत और जन-सहयोग का एक कारण यह भी था।

## (८) आबादी की समस्या

औद्योगिक विकास से, अनेक जापानी धनवान् हो गये थे और ऐसी सपत्ति के निर्माण से जिस पर कि कर लग सकते थे, शासन भी भारी वित्तीय बोझ उठाने मे समर्थ हो गया था। इस समृद्धि से आम जनता के रहन-सहन का स्तर ऊँचा इसलिए नही हुआ कि जैसा सामान्यत होता है, सपत्ति का बडा भाग मुट्ठी भर लोगो ने हड़प लिया था, किन्तु इसका मूल कारण यह था कि पुनस्सस्थापना के बाद जापान की आबादी बहुत तेजी से बढी थी। सन् १८६७ के पहले जापान की आबादी लगभग तीन करोड पर स्थिर थी। सन् १९१३ मे सरकारी अनुमान के अनुसार यह आबादी बढ़ कर ५.३ करोड हो चुकी थी और सन् १९२० में यह ५.६ करोड व सन् १९३१ मे ७ करोड़ हो गयी थी। तब से यह ६ ९ करोड़ से भी अधिक हो गयी है।

आधुनिक चिकित्सा-प्रणाली अपनाने तथा स्वच्छता आदि के उत्तम स्तर के फलस्वरूप मृत्युसंख्या घट रही थी और जन्मसख्या में कोई कमी नही हो रही थी। आधुनिक युग के पूर्व के जापान मे वहाँ की खेती तीन करोड़ व्यक्तियो का किसी-न-किसी तरह भरण-पोषण कर देती थी। यदि जनसंख्या स्थिर रहती, खेती में सुधार, नयी भूमि पर खेती, वन-सपत्ति के अधिक वैज्ञानिक उपयोग, खाद्यान्न लाने-ले जाने के उन्नत साधन आदि से जनता का जीवन-स्तर ऊँचा हो सकता था, चाहे औद्योगीकरण न भी हुआ होता। किन्तु सन् १८६७ के बाद आबादी जिस गति से बढ़ी उसके भरण-पोषण के लिए जापानी कृषिसाधन सर्वथा अपर्याप्त थे; चाहे उनका उतना बढ़िया व वैज्ञानिक उपयोग भले ही होता जितना सन् १९३१ मे, विशेषकर होक्कायडो द्वीप मे होना शुरू हुआ था। अतएव, सन् १९०५ के बाद जब जापान में व्यापक पैमाने पर औद्योगिक परिवर्तन शुरू हुए सरकार राज्य की औद्योगिक नीव ठोस धरातल पर रखने मे दत्तचित्त हुई। भूमिगत कोयले, लोहे व मिट्टी के तेल के नियंत्रण, कपास की व्यवस्था, औद्योगिक व व्यावसायिक आबादी के लिए भोजन की व्यवस्था आदि मे सरकारी दिलचस्पी प्रकट हुई। सन् १९०५ के बाद, विशेष कर सन् १९१४ के बाद, जापान ने एशिया मे जो नीति अपनायी, वह इसी परिवर्तित गृह-नीति व दिलचस्पी की ही प्रतीक थी।[१]

दूसरे दृष्टिकोण से औद्योगिक राज्यो की सबसे बड़ी दिलचस्पी यह होती है कि उसके माल की खपत हो, उसे बाजार मिले और जहाँ तक सभव हो, इन बाजारो की इजारेदारी—या कम-से-कम वरीयता—उन्हे मिल जाय। पश्चिमी देशो मे जापान के रेशम व चाय की अच्छी खपत थी और सूती वस्त्रोद्योग के लिए जापान की दिलचस्पी चीन के बाजार मे थी, जहाँ सूत व वस्त्र दोनो बेचता था। सन् १९१४-१९१८ के महायुद्ध के पहले ही जापान चीन के व्यापार पर छाया जा रहा था। महायुद्ध के बाद चीन मे जापानी प्रतियोगिता के कारण ब्रिटेन की प्राथमिकता पर आँच आने लगी। भौगोलिक दृष्टि से उपयुक्त स्थिति और उत्पादन के क्षेत्र मे अपेक्षतया जल्दी उतर आने से महाद्वीप के बाजारो मे जापान की स्थिति बहुत मजबूत हो गयी थी; इस स्थिति पर चीन और भारत के औद्योगीकरण से अवश्य एक धक्का लगा था। जापान की परराष्ट्र नीति से भी उसकी चीन मे व्यापारिक स्थिति को धक्का पहुँचा था। फिर भी, जैसा कि एक लेखक ने सन् १९१२ मे ही कहा था—"पश्चिमी देशो ने अपने उद्योग जापान को दिये है तो इन उद्योगो के फल चीन पहुँचते हुए वे देखेगे ही।"[१०]

इस प्रकार सन् १९०५ के बाद जापान ने औद्योगिक विकास द्वारा अपनी जन-संख्या के विकास की समस्या को हल करने का प्रयत्न किया और रहन-सहन के स्तर को गिरने से रोकने की कोशिश की। किन्तु जनसख्या इस तेजी से बढ रही थी कि औद्योगीकरण से रहन-सहन का स्तर ऊँचा नही हो सका। इससे जापान की परराष्ट्र-नीति के विकास पर भी भारी प्रभाव पड़ा।

बढ़ती हुई आबादी की समस्या का एक अन्य समाधान उपनिवेशीकरण होता है। यद्यपि कोरिया, फारमोसा व मचूरिया मे पैर जमाने का मूल उद्देश्य वहाँ उप-निवेश स्थापित करने का नही था, फिर भी, मचूरिया मे अपनी अतिरिक्त आबादी को भेजने के इरादे का आरोप जापान पर सन् १९१५ व सन् १९३१ के बीच लगाया गया और इस आरोप के लगाये जाने की गुजाइश भी थी। किन्तु उपनिवेश-सगठन में जापान बहुत कुशल नही था। कोरिया मे शासन और शोषण की दृष्टि से जापान को सफलता मिली, किन्तु उपनिवेशीकरण की दिशा मे सगठित प्रयासो के बावजूद वहाँ बड़ी संख्या में जापानी नही बसे; दूसरे स्वय कोरिया की अपेक्षतया बड़ी आबादी को तो वहाँ प्राथमिकता मिलनी भी चाहिए थी। फारमोसा में अवश्य ही बड़ी संख्या में जापानी बस सकते थे पर इसके लिए जिस तरह पहल करके काम संगठित करने की आवश्यकता थी वह जापानियों को बहुत रुचिकर नहीं लगा। कोरिया की ही भाँति फारमोसा में भी जापानी पहुँचे अधिकारी, शोषक,

दूकानदार के रूप मे, वहाँ बसनेवालो के रूप मे नही। यही स्थिति मंचूरिया मे भी रही, जहाँ जापानियो की जगह चीनी ही जाकर भूमि पर जम गये और अपने को सफलतापूर्वक जमाये रहे।

जापानी खेतिहर मजदूर पूर्व की अपेक्षा हवाई व अमरिका बड़ी सख्या मे पहुँचे, इसका एक कारण सभवत यह था कि वहाँ पुरोगामी कार्य पहले ही हो चुका था। जापानी आँकड़ो के अनुसार सन् १९२० मे मचूरिया व हागकाग मिलाकर चीन मे ३,५ लाख जापानी थे, सिंगापुर, मलय प्रायद्वीप, सुजावा, मात्रा, फिलिपीन तथा दक्षिण-सागर के क्षेत्र मे कुल १८,००० जापानी थे। हवाई मे उनकी संख्या एक लाख थी, जो वहाँ की आबादी की लगभग आधी थी, अमरीका मे उनकी सख्या ९०,०००' थी, जबकि कुछ अमरीकी इसे "वास्तविकता से बहुत कम" समझते थे, कनाडा मे १४,००० जापानी थे, दक्षिणी अमरीका मे ४३,००० थे, आस्ट्रेलिया व निकटवर्ती क्षेत्रो मे जापानियो की सख्या १२,००० के लगभग थी। जिस क्षेत्र मे भी ये प्रवासी बड़ी सख्या मे पहुँचे, उन्होने वहाँ के विकास में ठोस योग दिया; किन्तु उत्तरी अमरीका व आस्ट्रेलिया में इनकी सख्या बढ़ने पर वह विरोध फिर से प्रकट होने लगा, पहले जिसका सामना चीन को करना पडा था। अमरीका व आस्ट्रेलिया मे इनके प्रवेश पर प्रतिबन्ध लगाने के नियम-कानून बन गये। जापानियो से भेदभाव करने वाले जो नियम-कानून अमरीका मे पहले से ही जारी थे, उनके साथ इन नये नियमो ने जुड़ कर अतिरिक्त जापानी आबादी के प्रवेश को तो रोक दिया पर साथ ही इससे जापानियो मे अमरीका के प्रति एक कटुता बढ गयी। किन्तु यह कटुता गृह नही परराष्ट्र नीति में परिलक्षित हुई और इसका वर्णन अन्यत्र होगा।[११]

## (९) कृषक-जीवन

जापान के आर्थिक जीवन पर विचार के समय अबतक केवल उद्योगो की ही चर्चा की गयी है, किन्तु इससे यह निष्कर्ष नही निकलता कि कृषि का महत्त्व कम था। वास्तव में जापान के आर्थिक जीवन मे खेती का ही महत्त्व अधिक था और इस अध्याय के शेष भाग मे जापानी खेती पर आर्थिक दृष्टिकोण से विचार किया जायगा।

जापान मे सदैव ही खेती का अर्थ अधिकाशत' चावल की उपज ही समझा जाता रहा है। गेहूँ, जौ आदि अन्य अनाज भी थोड़े बहुत पैदा किये जाते है, किन्तु खेती और भोजन दोनो में चावल ही मुख्य है। सन् १९१९ में ३१ लाख से अधिक चो भूमि पर चावल की खेती हुई जबकि गेहूँ व जौ आदि की खेती केवल १७ लाख

चो पर हुई । चावल का उत्पादन ६,०८,१८,००० कोकू हुआ जो गेहूँ-जौ आदि के संयुक्त उत्पादन से कहीं अधिक था । जितना भी चावल जापान मे पैदा होता था उसकी लगभग पूरी खपत वहीं हो जाती थी और लोग इस चावल को अन्यत्र कही भी पैदा किये गये चावल से बेहतर मानते थे ।[१२]

जापान में जोतें हमेशा ही छोटी थी और खेती सघन होती थी । औसत जोत ढाई एकड प्रति परिवार थी । पुनस्सस्थापना के पूर्व किसान सामुराई या दाइम्यो के शिकमी या आसामी की हैसियत से काम करता था । सामन्तवाद की समाप्ति पर किसानो को भूमि पर स्वामित्व मिल गया । किसानो के भूस्वामी होने के उपरान्त, विशेषकर पिछले २५ वर्षों में फिर शिकमी या आसामी काश्तकारो की संख्या बढनी शुरू हुई, क्योंकि बड़े, सपन्न व दूरदेश किसान अपनी-अपनी जोतें वढाने मे दिलचस्पी रखते थे ।

"कोई ३४ प्रतिशत काश्तकार भू-स्वामी है, लगभग ४० प्रतिशत भू-स्वामी भी है, असामी भी और लगभग २८ प्रतिशत केवल असामी है........किन्तु, इधर हाल के वर्षो मे एक अस्वस्थ प्रवृत्ति यह दिखाई पडी है कि भू-स्वामियो की सख्या घट रही है और असामियो की सख्या तेजी से बढ रही है । उदाहरणार्थ, सन् १९१९ मे सन् १९१४ के मुकाबले में भू-स्वामियो की सख्या मे ३०,५०० की कमी हो गयी और असामियो की संख्या मे २५,६१३ की वृद्धि हो गयी....इस प्रकार अनेक लोग भूमिहीन होते जा रहे है और कुछ लोग अपनी खेती का क्षेत्र बढा कर स्वतत्र जमींदार बनते जा रहे है । पश्चिमी देशो की तुलना मे जापानी जमीदार बहुत अधिक शोषक व परजीवी होता है । यदि यह प्रक्रिया जारी रही तो स्थिति बिगड़ेगी क्योकि असामियो की सख्या बढ़ने से जापान मे किसान की स्वतंत्रता व स्वय निर्णय व प्रेरणा पर आघात होता है ।"[१३]

इसके अतिरिक्त असामियो की संख्या मे वृद्धि से जमींदारो व असामियों के बीच सघर्ष बढता था । सन् १९१४ के बाद महँगाई बढ़ने से असामी की जीविका का प्रश्न जटिल हो गया था और उसके व जमीदारो के बीच शत्रुभाव पैदा हो रहे थे । दूसरी ओर, भूमिहीन किसान औद्योगिक नगरो की ओर अधिक आसानी से आकृष्ट होता था । इससे उद्योग का लाभ भले ही हो, देश का नही था । उद्योग से होड़ मे जमीदार अपने असामियो को खेती मे रोक रखने मे कठिनाई का अनुभव करता था । यद्यपि असामियो की संख्या मे वृद्धि कोई शुभ लक्षण नहीं था, इससे जोतो का क्षेत्रफल बढता था और भूमि के फिर से बँटवारे व चकबन्दी से उतनी ही मेहनत से अधिक उत्पादन होता था । एक सीमा तक, इससे आधुनिक औजारो

व नये तरीको का उपयोग सभव था। समस्या यह थी कि स्थिति की खराबियाँ हटा कर किस पर सभावनाओ का भरपूर उपयोग किया जाय।

हर वर्ष नयी भूमि खेती के लिए तोडी जाती थी। सन् १९०५ से सन् १९३४ के बीच खेती की भूमि ५३,८२,३७८ चो से बढकर ६०,३७,६४५ चो हो गयी थी। सन् १९०९ मे खेती की भूमि कुल भूमि का १४.६ प्रतिशत थी, सन् १९३४ मे वह १५ प्रतिशत हो गयी थी। इसका यह अर्थ नही था कि जापान मे ऐसे बड़े-बड़े क्षेत्र पड़े थे, जिन पर नये सिरे से खेती की जा सकती थी। जापानी द्वीप ज्वालामुखी पर्वतों के लावे से बने है और उनमे अनेक पर्वत-श्रेणियाँ फैली हुई है। खेती की दृष्टि से भूमि की प्रकृति समझने के लिए यह बताना उपयुक्त होगा कि वहाँ लग-भग ५० ज्वालामुखी पहाड ऐसे हे जो बीच-बीच मे आग उगलने लगते है और लग-भग एक हजार झरने गरम पानी के है। अतएव, पूरे क्षेत्र की तुलना मे खेती या रहने की भूमि हमेशा ही कम रहेगी। अभी ही, पहाड़ो के ढलानो का जितना व जिस ढंग से खेती के लिए उपयोग होता था, वही आश्चर्यजनक था। भूमि की प्रकृति ही जापान में ऐसी है कि जोतें अनिवार्यत. छोटी है।

खेती के क्षेत्रफल में जो वृद्धि थी वह उपज की वृद्धि की तुलना मे बहुत कम थी। सन् १८८२ मे चावल का कुल उत्पादन १,०६,९२,००० कोकू था, सन् १९१३ मे यह बढ कर ५,०२,२२,००० कोकू और सन् १९२८ मे ६,०३,०३,००० कोकू हो गया था।[१४] उत्पादन की यह वृद्धि ७५ प्रतिशत प्रति एकड़ थी। इस बीच आबादी केवल ५५ प्रतिशत ही बढी थी। चावल का अतिरिक्त उत्पादन व उसके आयात से उसकी प्रति व्यक्ति औसत खपत बढ़ी और इससे प्रकट होता था कि आम जनता का, विशेषकर सपन्न वर्गों का रहन-सहन का स्तर ऊँचा हुआ था। किन्तु, यदि आबादी का बढ़ाव अपनी पुरानी गति से ही होता रहता तो कुछ ही वर्षों मे कृषि-उत्पादन आबादी की आवश्यकताओ से कम पड़ने लगता। इससे जापान भोजन के लिए बाहरी दुनिया पर आश्रित होता, जैसा कि वह अपने उद्योगो की कच्चे माल की आवश्यकतापूर्ति के लिए सन् १९३३ तक हो चुका था।

जैसा कि कहा जा चुका है कृषि-उत्पादन मे वृद्धि का एक कारण तो कृषि-क्षेत्र मे वृद्धि थी। साथ ही, इस वृद्धि के बड़े कारण थे धान के खेतो का बदलाव ताकि उनकी सिंचाई हो सके, वैज्ञानिक ढंग से खाद देना, उन्नत औजारो का उपयोग, यन्त्र व जानवरो की शक्ति का उपयोग, बीज का ठीक चयन और उन्नत बीज का अधिकाधिक उपयोग, बाढ़ रोकने के लिए वृक्षारोपण तथा ग्रामीणों को ऋण देने की उपयुक्त व्यवस्था का विकास।

विकास के अन्य क्षेत्रो की भाँति खेती की उन्नति मे भी सरकार ने महत्त्वपूर्ण भूमिका अदा की थी। कृषि-शिक्षा के लिए उसने स्कूल खोले और निचली कक्षाओ के पाठ्यक्रमो मे भी कृषि-शिक्षा शामिल कर दी। नये प्रयोगो के लिए उसने केन्द्र खोले जहाँ किसानो की प्राविधिक समस्याओ पर विचारपूर्वक हल ढूँढे जाते और उन्हे किसानो तक पहुँचाया जाता; नये प्रयोग करने के लिए किसानो को प्रोत्साहित भी किया जाता था। खेती के साथ चल सकनेवाले दूसरे धंधो के—जैसे कि बागवानी या रेशम उद्योग के विकास मे भी सरकार ने सहायता दी, यद्यपि रेशम आदि मे उसकी दिलचस्पी ग्रामीण क्षेत्रो मे समृद्धि लाने के लिए उतनी नही थी, जितनी कि उद्योगो के विकास और निर्यात योग्य घरेलू आवश्यकता से अधिक सामान तैयार करने के लिए। सरकार ने कृषि विशेषज्ञों को गाँव-गाँव दौरा करने के लिए भेजा और गाँव से माल बाहर निकालने के लिए सड़क आदि आवागमन के साधनो को विकसित किया।

इस दिशा मे सरकार और अधिक काम करना चाहती थी, पर धन की कमी एक बडी बाधा थी। "क्षेत्रीय राज्यपालो व कृषि विशेषज्ञो ने मुझे बार-बार आश्वासन दिया कि विनाशकारी बाढो की रोक-थाम के लिए, नयी भूमि पर खेती करने के लिए, किसानो को ऋण देने व जनता का कृषि-संबधी ज्ञान बढाने व उनकी समृद्धि बढ़ाने के लिए तैयार की गयी योजनाएँ धनाभाव के कारण ही लागू होने से रह जाती थी; और एक विदेशो से बात करते समय अतिशयोक्ति से काम लेने की सभावना बहुत कम ही थी।"[१५] विकास के लिए धनाभाव का एक बड़ा कारण राष्ट्रीय आय का एक बडा भाग जल व थल सेनाओ तथा विभिन्न युद्धो में लिये गये ऋणो की अदायगी में चला जाना था। यही स्थिति जापान के अतिरिक्त अन्य देशो की भी थी।

किसान खेती के साथ जो अन्य धन्धे अपनाते थे, उनमे मुख्य थे चाय पैदा करना, रेशम का उत्पादन, बागवानी, वृक्षो व पौधो को बौना बना कर खुशनुमा बनाना तथा पशुपालन। कुछ क्षेत्रो में चाय व रेशम का महत्त्व खेती से भी अधिक था, किन्तु सामान्यतः देश भर मे ग्रामीण क्षेत्रो मे खाद्यान्न-उत्पादन ही अधिक महत्त्वपूर्ण था। सबसे उत्तर के कुछ क्षेत्रो को छोड़कर, चाय देश भर में पैदा की जाती थी, किन्तु चाय के खेत छोटे-छोटे थे और इसे "दूसरा धन्धा" के समान ही रखा जाता था। इसके अतिरिक्त अधिकांशतः चाय को बिक्री के लिए तैयार करने का काम भी यत्र से नही हाथों से ही किया जाता था।

चाय की खेती का महत्त्व इस बात से समझा जा सकता है कि सन् १९३१ में ३८,१०९ चो भूमि पर चाय उगायी गयी थी और ११,२६,३१८ घरेलू कारखानों

मे चाय तैयार की गयी थी । सन् १९१९ में ३.४ करोड़ येन की चाय जापान में पैदा हुई थी; हर वर्ष १.८५ करोड़ येन की चाय का निर्यात होता था, मुख्यत. अमरीका व कनाडा को । अमरीका मे जापानी चाय का आयात कम हो रहा था, सन् १९१८ मे ५०,००० टन चाय जापान से आयी थी और सन् १९२० मे यह घट कर २३,००० टन ही रह गयी; इसका एक कारण तो यह था कि खुद जापान मे ही चाय की खपत बढ रही थी किन्तु, मुख्य कारण यह था कि अमरीका काली चाय का अधिकाधिक प्रयोग करने लगा था ।

रेशम के कीड़ो व रेशम के वार्षिक उत्पादन का अनुमान १७ करोड़ येन का था । "हर एक दर्जन एकडो मे कम-से-कम एक एकड़ पर शहतूत के पत्ते उगाये जाते थे, जो रेशम के कीडो का भोजन थे; देश के एक तिहाई से अधिक, २० लाख किसान परिवार रेशम के कीड़े पालने का कष्टसाध्य काम करते थे ।"[११] इससे प्रकट है कि किसान के लिए कच्चा रेशम पैदा करने का क्या महत्त्व था । खेती के साथ करने के लिए यह आदर्श धन्धा था क्योकि कीड़ो की देखभाल परिवार की स्त्रियाँ व लडकियाँ कर लेती थी और इन्हें पालने का काम भी केवल बसन्त व शरद् ऋतुओ तक ही सीमित रहता था ।

सन् १९१० मे जापान के रेशम का निर्यात उसके सबसे बड़े प्रतियोगी चीन से बढ गया और बाद में वह चीनी रेशम निर्यात से दुगुना हो गया । यह उत्पादन इटली के उत्पादन से तिगुना और फ्रांस के उत्पादन से बहुत अधिक था, यद्यपि जलवायु की दृष्टि से उसके प्रतियोगी देश बेहतर स्थिति में थे । जापान मे शहतूत के वृक्षो की बहुतायत थी । काफी समय तक जापान कच्चे रेशम की उपज का तीन चौथाई निर्यात करता रहा, किन्तु जैसे-जैसे रेशम के कारखाने देश में स्थापित होने लगे, कच्चे माल से रेशम का माल तैयार करने का काम देश मे ही होने लगा । इस ग्रामीण धन्धे ने देश के सबसे महत्त्वपूर्ण राष्ट्रीय उद्योग की नींव डाली ।

जैसे-जैसे रेशम की खपत देश मे बढ़ने लगी, इसके उत्पादन पर अधिक ध्यान दिया जाने लगा और कुछ क्षेत्रो में खाद्यान्न-उत्पादन की जगह रेशम को ही मुख्य धन्धा बना लिया गया । घरेलू धन्धे की हैसियत से रेशम सबसे अधिक महत्त्वपूर्ण था और किसानो की सपन्नता बढाता था । किन्तु यदि किसान केवल इसी काम को करने लगते तो परिणाम उलटे हो जाते, क्योकि वे दुनिया के बाजार की स्थिति पर निर्भर रहने लगते और एक ऐसे उद्योग पर उनकी निर्भरता बढ़ जाती, जिसके नियंत्रण में उसका अप्रत्यक्ष हाथ ही था ।

बहुत से ग्रामीण परिवारो की आय मछली पालने से भी बढी थी । लगभग १५ लाख व्यक्ति मछली-उद्योग में लगे थे और इससे प्रतिव्यक्ति औसत वार्षिक आय ७०

येन थी। सरकार ने मत्स्य-पालन की वैज्ञानिक जाँच कर उसे प्रोत्साहित किया था। सरकार ने साइबेरिया तट व तट के निकट जलाशयो मे मछली पकड़ने के अधिकार जापानी नागरिको के लिए प्राप्त करने का भी प्रयास किया। सन् १९३३ तक गहरे समुद्रो मे मछली पकड़ने का धन्धा जापान मे अर्ध-पूँजीवादी स्वरूप ग्रहण कर चुका था।

किन्तु होक्काइडो को छोडकर शेष देश मे पशुपालन को प्रोत्साहित करने मे इतनी सफलता नही मिली। होक्काइडो मे सरकार ने एक केन्द्र स्थापित किया था, जहाँ सेना के उपयोग के लिए जानवर पाले जाते थे। कुछ अन्य व्यक्ति भी जानवर पालते थे। भोजन की आदते बदलने से दूध व मास की बढी हुई माँग पूरी करने के लिए पशुपालन का विकास तो सभव लगा, किन्तु ग्रामीण जनता मे इसका विशेष महत्त्व नही था और चरागाहो की कमी से पशु-पालन बढ़ नही रहा था।

दूसरी ओर, बागवानी व शाक-सब्जी का उत्पादन बढ़ रहा था। देश मे २० करोड़ येन के फल-तरकारी हर वर्ष पैदा किये जाते थे। नये किस्म के फलो व फलों-वाले वृक्षो की संख्या तो बढ़ी ही थी, फलो की किस्मों मे भी प्रयोगो द्वारा सुधार किया गया था।

जापानी किसान अपनी छोटी जोत पर गुजारे के लिए चावल व अन्य अनाज के साथ इन अन्य वस्तुओ के उत्पादन मे लगा रहता था और इन पूरक कामो व उपजो से ही वह निर्वाह के लिए आवश्यक आय कर पाता था। भूमि पर काम करने के लिए साल में कम-से-कम ५० और अधिक-से-अधिक २०० दिन काफी होते थे। इस प्रकार उसके व उसके परिवार के सदस्यो के पास पूरक धन्धे करने के लिए समय की कमी नही रहती थी और खेती के काम की उपेक्षा भी नही होती थी और न काम के घण्टे बढने का ही सवाल उठता था। आवश्यकता इस बात की थी कि फसल कटने के बाद और खेत मे काम करने के मौसम शुरू होने के बीच के समय में किसान के लिए अधिकतम लाभ के धन्धे ढूँढ़े जायँ और उन धन्धों के विकास के लिए किसान को उस सीमा से आगे भी प्रोत्साहित किया जाय, जो कि सन् १९३३ तक पहुँच चुकी थी।

होक्काइडो के विकास का भी संक्षिप्त वर्णन यहाँ उपयुक्त होगा। उस द्वीप की कठिन शीत की जलवायु के कारण जापानियो ने न तो वहाँ कुछ विकास ही किया था और न वे वहाँ जाकर बसे ही थे; इसका एक कारण यह भी था कि जापानियों में कठिन शीत से घृणा है, क्योकि जापानी जीवन मे शीत का सामना करने की शिक्षा का अभाव है। मुख्य द्वीप-समूह से निर्वहन-सघर्ष में पराजित निर्धन लोग ही बाहर जाते थे और जीवन-यापन की परिवर्तित परिस्थितियों को स्वीकार करने की

जानकारी व क्षमता के बावजूद वे होक्काइडो मे इसलिए नही रह सकते थे कि उनके पास शीशे की खिड़कियो व कमरो को गर्म रखने वाले चूल्हो वाले घर बनाने के साधन नही थे। द्वीप की भूमि भी ऐसी थी कि वहाँ खेती का परपरागत ढग बदलना आवश्यक था। इसलिए लोग वहाँ जाकर बस नही रहे थे। फिर होक्काइडो के उपनिवेशीकरण मे एक बड़ी बाधा वहाँ जमीनो पर कब्जा कर लेने के बड़े गड़बडघोटाले भी थे, जिनके कारण जापान के मंत्रिमंडलो तक का पतन हुआ था। लार्ड सैलिसबरी के अनुसार भूमि के जो सबसे अच्छे टुकड़े थे, उन पर बड़े जमीदारो ने कब्जा कर रखा था; उनमे से कुछ को तो जनहित का खयाल था, पर अधिकतर जमीदार उस भूमि पर किसानो को बसने नही देते थे, जो रेलमार्गो व सड़को के निकट हो सकती थी, जिसकी मिट्टी अच्छी थी और जो बहुत सरलता से विकसित हो सकती थी।[१७] इसका नतीजा यह हुआ था कि होक्काइडो मे भूमि के मालिक किसान नही, शिकमी-असामी की माँग थी और जो लोग वहाँ बस गये थे वे भी वहाँ की परिस्थितियो से असतुष्ट होकर वापस लौट आये थे।

इस द्वीप को बसाने के लिए बहुत कुछ किया जा सकता था। उन्नीसवी शताब्दी के अतिम २५ वर्षों मे उसे बसाने के लिए जो कदम शुरू मे उठाये गये थे, उन्हें फिर आगे नहीं बढाया गया, क्योकि विश्व-स्तर की सैनिक-शक्ति का राष्ट्र बन जाने के बाद जापान को अन्य बहुत से खर्च करने होते थे और इस काम के लिए पैसा नहीं बचता था। नये रेल-मार्ग व सड़के बननी थी। द्वीप में बसनेवालो के लिए रिआयती दर पर पूँजी चाहिए थी। जमीदारो को निरुत्साहित करने के लिए भूमि-सबधी नीति में परिवर्तन चाहिए था।

इसका यह अर्थ नहीं कि होक्काइडो मे कोई विकास हुआ ही नही। वहाँ एक रेललाइन बिछायी गयी, आटा-मिल, चुकन्दर की शक्कर बनाने के कारखाने, फलो के अचार-मुरब्बे बना कर डिब्बो मे भरने के कारखाने और शराब बनाने के कारखाने बनाये गये; और भी नये काम-धन्धे वहाॅ शुरू हुए। एक कृषि-विद्यालय वहाँ खोला गया, जो बाद मे विश्वविद्यालय बना और जिसका द्वीप के जीवन मे बडा महत्त्व हुआ। दूध का उत्पादन बढाने के लिए पशुपालन का विकास हुआ और दूध से बनने वाले समान के उत्पादन के लिए कारखाना स्थापित हुआ। और ये सभी विकास-कार्य बहुत पहले ही हो गये थे।

जैसा कि पहले कहा जा चुका है, विकास की संभावनाएँ होक्काइडो मे बहुत थीं। एक क्षेत्र था, जहाँ जापान की अतिरिक्त आबादी का एक भाग आसानी से बसाया जा सकता था। किन्तु जब तक जापानी बड़ी सख्या में जाकर होक्काइडो में

बसने को तैयार न हों, शेष दुनिया तो यह मानने को तैयार नही थी कि जापान को जनसख्या-सबंधी किसी समस्या का सामना पड़ रहा था और यह मानने के बाद भी कि समस्या है, उसके सही समाधान के प्रश्न पर मतभेद हो सकता था ।

पाँच वर्ष तक लगातार टोकियो ने होक्काइडो का आय-व्ययक काट कर बहुत कम कर दिया । सार्वजनिक निर्माण व विकास की अनेक योजनाएँ बार-बार स्थगित कर दी गयी या उन पर काम रोक दिया गया । जब होक्काइडो का हित इस बात में है कि वहाँ जाकर अधिक-से-अधिक किसान बसे, जब वहाँ मजदूरो की कमी है, जब बाहर जाकर बसने की लगातार माँग है, तब जितने लोग होक्काइडो मे जाकर जमीन पर बसने के लिए आवेदन पत्र देते है उनके एक-दो तिहाई को अनुमति मिलती है ।[१८]

इस प्रकार जनसंख्या की समस्या के कृषि-पहलू व औद्योगिक पहलू, दोनों ही जापान की परराष्ट्र-नीति के प्रश्न पर लौट आते है, आधुनिक जापान मे सबसे अधिक दिलचस्पी व महत्त्व का प्रश्न परराष्ट्र-नीति का ही है ।

# सोलहवाँ अध्याय
# सुदूर पूर्व में जापानी प्रभुत्व का दावा

सन् १९१७-१९१८ तक पूर्वी एशिया मे जापानी शक्ति का एक नया स्तर बन चुका था। प्रथम महायुद्ध की बदौलत जापान ऋण लेनेवाले की जगह ऋण देनेवाला राष्ट्र बन गया था, आयात-निर्यात का संतुलन जापान के पक्ष में हो गया था और अपर्याप्त स्वर्ण प्रारक्षण की जगह जापान के पास अब पर्याप्त के अतिरिक्त भी सोना मौजूद था। विश्वयुद्ध के कारण ही उसे एशिया महाद्वीप पर पैर जमाने की अपनी अभिलाषा पूरी करने की पूरी छूट मिल गयी थी और इसमें किसी विदेशी हस्तक्षेप का डर नही था। किन्तु जापान युद्ध द्वारा प्रदत्त अवसर का लाभ केवल इसीलिए उठा सका था कि वह पहले ही इसके लिए पूरी तैयारी कर चुका था। उत्पादन के आधुनिक साधन अपना चुकने के कारण ही वह अपने बाजारो का विस्तार कर सका; व्यापारिक जहाज पहले से ही निर्मित कर लेने के कारण ही वह प्रशान्त-सागरीय व्यापार मे अपना एकाधिकार कायम कर सका। पहले से ही जो तैयारी जापान कर चुका था, उसी के फलस्वरूप वह सुदूर पूर्व मे अस्थायी ही सही, अपना प्रभुत्व जमा सका था।

## (१) जापान के अधीन क्षेत्र—फारमोसा व कोरिया

प्रथम महायुद्ध के समय के जापान का चित्र समझने के लिए उसे एक राज्य की जगह एक साम्राज्य के रूप मे देखना होगा। पहले जापान के अधीन क्षेत्र—कोरिया व फारमोसा, फिर सन् १९०५ से १९१४ तक मचूरिया मे जापान की दिलचस्पी व काररवाई और फिर सन् १९१४ से सन् १९१८ तक जापान की चीन-सबंधी नीति पर विचार करने से यह चित्र स्पष्ट हो सकेगा।

साम्राज्य की सबसे दक्षिण की चौकी थी फारमोसा जिसके कारण फूकिन प्रान्त से उत्तर के समस्त चीनी समुद्र तट पर आवागमन व प्रवेश पर नियंत्रण सभव था; फारमोसा पर अधिकार के फलस्वरूप ही वह फूकिन प्रान्त में अपनी विशेष दिलचस्पी का दावा कर सका था। आधुनिक काल मे जापान ने अपने पहले सफल युद्ध की निशानी के रूप में फारमोसा प्राप्त किया था और इसलिए भी उसकी यहाँ दिलचस्पी थी; वैसे फारमोसा एक आर्थिक बोझ तो बना ही हुआ था और सन् १९१४ तक वहाँ के उत्तरी पठार के आदिवासियो के दमन के लिए उसे वहाँ काफी

सैनिक रखने पड़ते थे। सड़के, रेल-मार्ग, बन्दरगाह, पाठशालाएँ आदि के निर्माण मे जापान लगातार यहाँ धन लगा रहा था और युद्ध के समय जाकर ही यहाँ का प्रशासन लगभग स्वावलम्बी हो पाया था। आर्थिक दृष्टि से जापान को यहाँ से अफीम, कपूर, नमक और सीमित मात्रा मे तम्बाकू प्राप्त होती थी और इन सभी के व्यापार की इजारेदारी सरकार की थी; निर्यात के बड़े मद चाय व शक्कर थे, ६५ लाख येन की मछली व अन्य समुद्री फसल हर वर्ष आती थी; कुछ सोना, कोयला व खनिज तेल भी यहाँ था। यहाँ का लगभग सारा व्यापार जापान से ही था, कुछ थोडा-बहुत व्यापार चीन से भी था और तीसरे नम्बर पर अमरीका से था। उपनिवेशीकरण के प्रयासो के बावजूद जापानी लोग यहाँ बडी सख्या मे आकर नही बसे, क्योकि सन् १९२५ तक यहाँ कुल १,८७,००० जापानी नागरिक थे।

कोरिया, जिसका नाम जापान के अधीन होने पर बदल कर चोजेन कर दिया गया था, जापान के अधीन राज्यो मे सबसे अधिक महत्त्व का था। सन् १९०५ तक की कोरिया की राजनीतिक स्थिति का वर्णन ऊपर हो चुका है।[१] सन् १८९५ मे कोरिया का चीन से अतिम रूप से सबधविच्छेद हो गया था और इसके बाद रूस व जापान के बीच स्पर्धा चलती रही थी। इस स्पर्धा के अतिम मोर्चे के पहले, सन् १९०२ मे, ब्रिटेन व जापान के बीच समझौता हो गया था। इस समझौते में अन्य बातो के अतिरिक्त, कोरिया की स्वतंत्रता की स्वीकृति और साथ ही वहाँ जापान के विशिष्ट राजनीतिक, व्यापारिक व औद्योगिक हितो की मान्यता थी। सन् १९०५ के पुनरीक्षित समझौते के अनुसार "कोरिया मे जापान के सर्वोच्च राजनीतिक, सामरिक व सैनिक तथा आर्थिक हित होने के फलस्वरूप ब्रिटेन कोरिया में जापान द्वारा इन हितो को सुरक्षित रखने व उनके विस्तार करने की दृष्टि से निर्देशन, नियत्रण व सुरक्षा के लिए उपयुक्त व आवश्यक काररवाई करने के अधिकार को स्वीकार करता है; सिर्फ शर्त यह है कि ऐसी काररवाई से कोरिया के साथ उद्योग-व्यवसाय के लिए अन्य सभी राष्ट्रो के समान अधिकारो के सिद्धान्त पर आँच न आये।"[२] युद्ध होने पर कोरिया जापान का सरक्षित राज्य बन गया और ईटो यहाँ के लिए सबसे बड़े अधिकारी नियुक्त हुए। यह स्थिति सन् १९१० तक कायम रही, जब कोरिया के शासक व जापान के सम्राट् के बीच एक अधिनयन-सधि हुई और कोरिया जापान मे मिला लिया गया; सम्राट् की ओर से उस समय कोरिया में नियुक्त रेजिडेण्ट अधिकारी, जनरल तेरौची ने हस्ताक्षर किये। जापानी साम्राज्य मे शामिल होने पर अस्थायी रूप से कोरिया का अतरराष्ट्रीय व्यक्तित्व समाप्त हो गया। इस परिवर्तन की अंतरराष्ट्रीय स्वीकृति का एक परिणाम यह हुआ कि कुछ

समय के लिए कोरिया मे विदेशी शासनो के षड्यन्त्र समाप्त हो गये, यद्यपि, बीच-बीच मे, अमरीकी पादरियो के विरुद्ध ये आरोप लगाये जाते रहे कि वे अपनी पाठशालाओ में राजद्रोहात्मक सिद्धान्तो का प्रचार करते है, सन् १९२० मे, आनटुंग रहने वाला एक अग्रेज कोरिया आने पर इसलिए गिरफ्तार कर लिया गया कि उस पर "कोरिया की स्वाधीनता के लिए आदोलन करने वालो का मित्र और सहायक होने का काफी समय से सन्देह था।"[३] स्वाधीनता-आंदोलन के अतिरिक्त कोरिया मे कोई आतरिक खलबली नही रही।

जापानी शासन के अधीन कोरिया की स्थिति का विशद और उपयुक्त वर्णन यहाँ कठिन है, विवादास्पद बाते छोडकर शेष, निश्चित तथ्यो का सक्षेप भर यहाँ दिया जा सकता है। यह स्पष्ट है कि देश की आर्थिक स्थिति काफी सुधर गयी थी। फारमोसा की भाँति यहाँ भी सड़के व रेल-मार्ग बनाये गये और बन्दरगाहो का सुधार हुआ, बिजली का प्रकाश राजधानी सिऊल से अन्य नगरो को ले जाया गया; नयी भूमि पर खेती शुरू की गयी और खेती की प्रणाली मे भी सुधार हुआ, सफाई के बेहतर तरीके वहाँ चालू किये गये, आधुनिक बैक-व्यवस्था की स्थापना की गयी; उद्योग पनपे और आयात-निर्यात व्यापार का परिमाण बढ़ा।

व्यापार बढने से सबसे अधिक लाभ जापान का हुआ। सन् १९२९ मे कोरिया से होनेवाले निर्यात मे ३० करोड येन से अधिक का माल जापान गया, तीन करोड़ का चीन गया और कुछ थोडा एशियाई रूस, अमरीका व अन्य देशो को गया। इसी प्रकार, आयात मे ३० करोड़ येन से अधिक का माल जापान से आया, सात करोड़ का चीन से आया और सबसे कम माल अमरीका से आया जो इस व्यापार से तीसरे नम्बर पर था। इस प्रकार आयात-निर्यात व्यापार का ९० प्रतिशत भाग जापान तक ही सीमित था।[४] कोरिया के आतरिक विकास मे जापान की यह प्रमुख स्थिति और भी स्पष्ट थी। केवल सोने की खदानो में कुछ समय तक 'अ-जापानी' हित कायम रहे। और यह स्वाभाविक भी था, यद्यपि कोरिया के स्वाधीन होने पर उसके विकास में विदेशी पूँजी और बड़े परिमाण में लग सकती थी। किन्तु व्यापार के क्षेत्र में जापान की प्रभुता, व्यापार मे एकाधिकार कायम करने की प्रवृत्ति के कारण नही, भौगोलिक निकटता तथा जापान की कोरिया की आवश्यकताएँ पूरी कर सकने और अपनी आवश्यकताओं की पूर्ति के लिए वहाँ का माल जापान ले जाने की क्षमता के कारण थी।

यह बात भी ध्यान देने की है कि टोकियो द्वारा नियंत्रित तथा फौजी ढंग की होने के बावजूद जापान ने जो शासन कोरिया को प्रदान किया, वह स्वयं कोरिया-

वासियो की क्षमता व इच्छा से कही अधिक अच्छा था। सन् १९१९ के आदोलन के बाद सन् १९२० में शासन का पुनस्सगठन किया गया, जिससे उसका स्वरूप और अधिक राष्ट्रीय हो गया। इस पुनस्सगठन के फलस्वरूप एक ही पद पर काम करने वाले जापानी व कोरियावासियो के वेतनो मे जो अतर था, वह समाप्त कर दिया गया, कोड़े लगाने का दण्ड खत्म कर दिया गया और स्थानीय शासन की दिशा में एक कदम बढ़ाया गया।

किन्तु यह भी स्वीकार करना होगा कि जापान ने जो कुछ किया, उसके पीछे भावना यह नही थी कि कोरियाई जनता की हालत सुधरे, बल्कि यह भावना थी कि कोरिया-क्षेत्र जापान के लिए और अधिक लाभदायक सिद्ध हो। जो अनेक सुधार हुए, उनसे कोरियाई जनता का लाभ अवश्य हुआ; किन्तु दूसरी ओर यह भी स्वीकार करना होगा कि कोरियाई भाषा की जगह बलात् जापानी भाषा लादना, कोरिया के साहित्य व कोरिया की सस्थाओ को दबाना, जनता के सामूहिक रूप से काम आनेवाली जमीनो का बडा भाग छीन कर अधिकाशत जापानियो के हाथ बेच देना, बहुत सी निजी सपत्ति के सबसे मूल्यवान् भाग को बेच डालना, जिसके फलस्वरूप इस सपत्ति के स्वामी जाकर मचूरिया मे बस गये, कोरिया मे भाषण की स्वतत्रता छीन लेना और वहाँ के समाचारपत्रो को बन्द कर देना, जनता से व्यवहार मे नृशसता व बर्बरता बरतना, आदि ऐसे कृत्य थे, जिनसे जापानी प्रभुसत्ता को खुशी से पूरी तरह स्वीकार करने की भावना को कोई बल नहीं मिला। साथ ही, शिक्षा के क्षेत्र मे जापान ने जो कदम उठाये उनसे कोरियावासी संतुष्ट नही थे। केवल जापानी बच्चो के लिए ३५० प्राथमिक पाठशालाएँ थीं, जब कि कोरियाई बच्चों के लिए ४०० पाठशालाएँ थी और कोरियाई जनता की तुलना में जापानी जनता दो प्रतिशत से भी कम थी। यह अनुपात या सतुलन की नीति नहीं थी। फिर, कोरियाई बच्चो की पाठशालाओ मे जो शिक्षा दी जाती थी, वह उन्हें जापान की अच्छी प्रजा बनाने के उपयुक्त थी और इसका वहाँ विरोध भी शुरू से ही किया गया था। मिशनों व निजी तौर पर चलायी गयी ८०० से अधिक पाठशालाओं को जाब्ते से प्रशासकीय नियत्रण मे रख दिया गया और वहाँ धार्मिक शिक्षा पर रोक लगा दी गयी।

सन् १९१८ में सारे ससार में जनतत्र तथा राष्ट्रों के आत्म-निर्णय के सिद्धांत के लिए उत्साह की जो लहर दौड़ी थी, उस लहर तथा जापानी शासन से असतोष के कारण सन् १९१९ में कोरिया में जापान के विरुद्ध भीषण विद्रोह हुआ। देश में तो इसने सविनय अवज्ञा का रूप लिया और देश के बाहर विद्रोहियों ने पेरिस

शाति-सम्मेलन से अपील की; सम्मेलन ने शंघाई मे सगठित "कोरिया की अस्थायी सरकार" के दावो पर विचार करने से इनकार कर दिया। फ्रासीसी निबटारे के आधार पर (?) यह अस्थायी सरकार तो भग कर खदेड़ दी गयी और कोरिया का आतरिक विद्रोह नृशसतापूर्वक दबा दिया गया, जिससे जापान की प्रतिष्ठा कायम रही। बहुत से असतुष्ट लोगो व विद्रोहियो को मचूरिया या साइबेरिया की ओर देश-निकाला दे दिया गया और स्वतत्रता-आदोलन कुछ समय के लिए समाप्त हो गया; जापानी अधिकारियो ने कोरिया की चीनी बस्तियो पर लगातार कई बार हमले किये। इस आदोलन के फलस्वरूप जो सुधार हुए और जापान की कोरिया नीति मे जो परिवर्तन हुए, उसका हवाला दिया जा चुका है।

## (२) मंचूरिया मे जापान

जापान के एशिया मे दूसरे बड़े हित-क्षेत्र, मचूरिया में न तो उसकी स्थिति स्वयं ही इतनी स्पष्ट थी और न जापान की तत्सबधी नीति की स्पष्ट व्याख्या ही सरल है। सन् १९०५ से सन् १९१४ के बीच जापान ने मचूरिया मे जो कुछ भी किया, उसके परस्पर-विरोधी विवरण और उससे निकले परस्पर-विरोधी निष्कर्ष उपलब्ध है। इस मत-वैषम्य का एक कारण यह भी है कि अध्ययन का आधार ही भिन्न था। मूल रूप से जापान की स्थिति यह थी कि उसने मंचूरिया मे रूसियो को खदेड़ने के लिए बहुत जन-धन की बरबादी सही थी और फिर सधि द्वारा वहाँ एक स्थिति प्राप्त कर ली थी, जिसे जाब्ते से "दिलचस्पी का क्षेत्र" कहा जा सकता था। जापान का दावा था कि इस क्षेत्र मे दिलचस्पी व हित बनाने मे उसने केवल उन्ही उपायो का अवलम्बन किया था, जो यूरोपीय देशो ने चीन या अन्यत्र उपयोग किये थे और जब तक इन उपायो को सामान्यतः व सर्वत्र निन्दित और बहिष्कृत न किया जाय, केवल मात्र उसे ही (जापान को) इन उपायो के उपयोग के लिए लाछित नही किया जाना चाहिए। जापान का यह भी कहना था कि मंचूरिया मे रूस की जो स्थिति थी, युद्ध के बाद वही स्थिति जापान की हो गयी, उस पर केवल दो सीमाएँ लगी थी—एक तो यह कि मंचूरिया मे 'उन्मुक्त द्वार' सिद्धान्त लागू होगा, जिसका अर्थ जापान सन् १८९९ के अमरीकी परराष्ट्र मत्री हे के 'उन्मुक्त द्वार' गश्ती पत्र में वर्णित तीन शर्तों तक सीमित मानता था, और दूसरी सीमा यह थी कि जापान चीन की स्वतत्रता व क्षेत्रीय अविच्छिन्नता का आदर करेगा। और उसका दावा था कि कम-से-कम सन् १९३१ तक उसने इन सीमाओं की मर्यादा रखी है और उनका अतिक्रमण नही किया; अतएव मंचूरिया में उसकी काररवाइयों की जो इतनी आलोचना हुई वह बिलकुल अनावश्यक तथा अवाछनीय थी।[५]

मचूरिया की स्थिति के सबध मे दूसरा बडा मत यह था कि वह चीन का अविच्छिन्न अग था और इसलिए इस क्षेत्र पर चीनी नियत्रण तथा उसकी इस अविच्छिन्नता को कायम रखने के संदर्भ मे ही जापानी कार्य-कलाप का मूल्यांकन होना चाहिए, या कम-से-कम, सन् १९०५ तक क्वागतुग अतरीप के पट्टे और रेलमार्ग बनाने व उससे सबंधित अन्य अधिकारो के देने से चीनी सत्ता का जिस सीमा तक ह्रास हुआ, उसे छोड कर शेष सत्ता की रक्षा तो होनी ही चाहिए थी। इस स्थिति से जापान जिस हद तक आगे बढा और उसने अपनी स्थिति मचूरिया से मजबूत की उस हद तक चीन के हितो को कमजोर करने व चीन के अधिकारो का अपहरण करने का अभियोग उस पर लगता ही था। जापानी नीति के आलोचक उन्मुक्त द्वार-सिद्धान्त के आधार पर तथा चीन की स्वतत्रता व क्षेत्रीय अविच्छिन्नता का आदर करने के जापान के वादो के आधार पर भी उसकी निन्दा करते थे और कहते थे कि सन् १९०५ से सन् १९१४ तक जापान ने अपने इन दोनो वादों को लगातार भग किया।[६]

यहाँ पर यह समझ लेना आवश्यक है कि एक ही तथ्य को उन्मुक्त द्वार सिद्धान्त या चीन की स्वतत्रता व क्षेत्रीय अविच्छिन्नता के पक्ष में या उनके विरुद्ध मान लेने का कारण क्या था। पहली बात तो यह थी कि यूरोपीय राष्ट्रो की भाँति जापान भी यह मानता था कि उन्मुक्त द्वार-सिद्धान्त हे की तीन शर्तों मे निहित था कि (१) "दिलचस्पी के क्षेत्र" या पट्टे पर दिये गये क्षेत्र मे निहित स्वार्थों या सधि-बन्दरगाहों मे कोई भी हस्तक्षेप नही किया जायगा, (२) संधि द्वारा निश्चित चीन सीमा-शुल्क एक 'क्षेत्र' के भीतर लागू होगा और चीन यह शुल्क वसूल करेगा, और (३) रेलमार्गों व बन्दरगाहों के भाड़े इस प्रकार नियत होगे कि उनमें किसी देश के साथ पक्षपात या भेदभाव नही बरता जायगा। इस प्रकार यह सिद्धान्त ही क्षेत्र-धारण पर आधारित था और किसी 'क्षेत्र' के भीतर पूँजी लगाने के सभी देशो को समान अवसर देने की बात इसमें नही थी। इस सिद्धान्त के सीमित स्वरूप को सन् १९०० के बाद अमरीका में भुला दिया गया और सामान्यत उसे "अवसरो की समानता" माना जाने लगा। इसका फल यह हुआ कि जापान ने जिस सीमित सिद्धान्त को स्वीकार किया था, उसके व्यापक संदर्भ और अर्थ लगाकर जापानी नीति की आलोचना की गयी। अगर यह मान भी लिया जाय कि अतत: अमरीकी सिद्धान्त ही अधिक ठोस व वांछनीय था, तो भी, जापानी नीति की इस आधार पर आलोचना करना अनुचित होगा कि जापान पर भी यह सिद्धान्त लागू होता था, जबकि स्थिति यह थी कि जापान पर वह लागू नहीं था। उन्मुक्त द्वार-सिद्धान्त

के सदर्भ मे जापान की मचूरिया नीति के मूल्याकन के समय इस भेद पर हमेशा ध्यान रखना आवश्यक है।

इसी प्रकार जापान की अविच्छिन्नता के प्रश्न की व्याख्या उपयुक्त होगी। इस सिद्धान्त को जापान ने सन् १९०५ के आग्ल-जापानी समझौते, सन् १९११ की आंग्ल-जापानी मैत्री-सधि, सन् १९०७ के फ्रासीसी-जापानी समझौते, सन् १९०७ की रूस-जापान उपसधि तथा सन् १९०८ के रूट-टाकाहीरा पत्र-व्यवहार मे स्वीकार किया था। किंतु ऐसा आभास होता है कि जापान इस सिद्धान्त को चीन की क्षेत्रीय अविच्छिन्नता तक ही सीमित समझता था, जैसा कि वास्तव मे रूस के साथ हुई उपसधि मे स्पष्ट वर्णित था। जापान की धारणा थी कि जब तक वह मंचूरिया को जाब्ते से चीन से पृथक् न कर दे, तब तक वह इन समझौतो के अनुरूप ही कार्य कर रहा है। किन्तु अमरीका ने सन् १९०० मे ही समझ लिया था कि क्षेत्रीय अविच्छिन्नता के लिए प्रशासकीय अविच्छिन्नता आवश्यक है। दूसरे शब्दो मे, अमरीका की मान्यता थी कि जाब्ते व औपचारिक रूप से कायम रखते हुए भी स्वाधीनता व अविच्छिन्नता का तब लोप हो सकता है, जब प्रशासकीय सेवाओ मे लगातार घुसपैठ की जाय, और इसके अतिरिक्त, उसकी यह मान्यता भी थी कि राज्य के किसी क्षेत्र के विकास की दिशा क्या होगी, इसके निर्णय के अधिकार में हस्तक्षेप से देश की स्वतंत्रता व अविच्छिन्नता पर आघात होता था। दुर्भाग्यवश, यह व्यापक और चीनी दृष्टिकोण से अधिक उचित व सगत सिद्धान्त विभिन्न राष्ट्रो से (और जापान से भी) स्वीकार तो करा लिया गया, किन्तु, जाब्ते से इस सिद्धान्त की व्याख्या नही की गयी। इस व्याख्या के अभाव मे, रूस-टाकाहीरा पत्रव्यवहार में बिना किसी नयी परिभाषा के पुराने शब्दो व वाक्याशो का प्रयोग हुआ, जिससे उचित मतभेद की काफी गुंजाइश रह गयी और बाद मे बदगुमानी हुई। इसी पत्रव्यवहार मे अमरीकी सरकार ने यह स्वीकार किया कि वह यथास्थिति कायम रखने मे सहयोग देगी, इसका जापान ने यह अर्थ लगाया कि सन् १९०८ तक मचूरिया मे जो स्थिति बन चुकी थी, वह इस यथास्थिति का ही अग है।

इस पृष्ठभूमि में सन् १९०५ से सन् १९१४ तक मंचूरिया मे जापान के जो हित बने, उनका अध्ययन उपयुक्त होगा। यह अध्ययन आर्थिक क्षेत्र से आरम्भ हो सकता है। आर्थिक विकास अंशत. विदेशी व्यापार के आयतन से नापा जा सकता है; सन् १८९८ मे इस व्यापार में आयात-निर्यात माल का मूल्य चार करोड़ ताएल आँका गया था, और सन् १९०८ में यह बढ कर १० करोड़, सन् १९११ में १८ करोड़ और सन् १९२० में ५४ करोड़ ताएल से भी अधिक हो गया था। मूल्यो में बढोतरी

की गुजाइश छोडते हुए भी यह व्यापार विकास बहुत बडा था। देश मे उत्पादन भी बढ़ा था, सोयाबीन, काओलिआंग, मोटे अनाज, मक्का, गेहूँ, जौ, चावल तथा अन्य अनाजो का उत्पादन बहुत काफी बढा था। इस वृद्धि का बड़ा कारण तो प्रवासी चीनियो का वहाँ जा बसना था, किन्तु साथ ही जापानी रेलमार्ग प्रशासन के कार्यों व आवागमन के साधनो के विकास से नये बाजार मिल जाने के फलस्वरूप भी उत्पादन-वृद्धि हुई थी।

दक्षिणी मंचूरिया रेलवे-कम्पनी रेलवे कम्पनियों के सामान्य कामो के अतिरिक्त भी अनेक काम करती थी। रेलगाड़ियाँ चलाने के अलावा वह रेल-क्षेत्र का प्रशासन करती थी, स्कूल व अस्पताल चलाती थी, शोध के लिए प्रयोगशालाएँ चलाती थी, प्रयोग केन्द्र सचालित करती थी, फूशुन व येण्टाई जैसी खानो का नियंत्रण करती थी, पानी के जहाज चलाती थी, डैरेन के बन्दरगाह के सुधार, होटलें चलाने के काम करती थी तथा डैरेन, मुकडेन, चागचुन व आनटुग मे बिजली-उत्पादन करती थी। ये सब काम, जिनमें कुछ शासकीय या अर्ध-शासकीय भी थे, वह मचूरिया को समृद्ध बनाने और, इसलिए, जापान के लिए उसका मूल्य बढाने के लिए करती थी।

वास्तव मे इस कम्पनी के द्वारा ही जापान अपने हित व दिलचस्पी के इस क्षेत्र का विकास कर रहा था। किन्तु कम्पनी ये कार्य तो जापान-सरकार के लिए ही कर रही थी, क्योकि कम्पनी की २० करोड़ येन की पूँजी का आधा भाग सरकार का था। जब कम्पनी की पूँजी बढ़ाकर ४४ करोड़ येन कर दी गयी, तब भी सरकार ने अधिक पूँजी लगाकर उसके ५० प्रतिशत भाग अपने पास ही रखा। सरकार ने १० करोड येन की मूल संपत्ति इस कम्पनी के नाम कर दी थी और पूँजी के लिए लन्दन के पौंड ऋणपत्र (डिबेंचर) इसमें लगा दिये थे। मूल संपत्ति का विकास मुख्यत: अंग्रेजी धन से हुआ था; जापान सरकार ने यह ऋण लिया था, क्योंकि निजी कंपनियों को ब्याज अधिक देना पड़ता था। इस प्रकार, अप्रत्यक्षरूप से, मंचूरिया के विकास में ब्रिटेन की पूँजी लगी थी, यद्यपि इस विकास का लाभ ब्रिटेन को नहीं मिला। वास्तव में, यूरोप से आयी पूँजी से रेलमार्ग का विस्तार हुआ और उसके लिए साज-सज्जा व आवश्यक उपकरण अमरीका से खरीदे गये, ऋण देने वाले देश से नहीं। चूँकि कपनी व जापान-सरकार के बीच इस प्रकार के निकट संबंध थे, यह मानना होगा कि कंपनी की नीति-रीति वास्तव मे सरकार की ही रीति-नीति थी।

मंचूरिया की स्थिति पर विचार समाप्त करने के पहले उन काररवाइयो पर दृष्टिपात आवश्यक है, जो जापान ने वहाँ अपनी स्थिति मजबूत करने के लिए की।

मचूरिया का विकास सन् १९०५ के बाद हुआ। क्या इस विकास से जापान को लाभ हुआ ? जापान के कार्यों से चीन व अन्य देशो के हितो पर क्या प्रभाव पड़ा ?

रेल-यातायात के विकास के सबध मे जापान की नीति का वर्णन पहले हो चुका है।[७] दक्षिणी मचूरिया-रेलवे चलाने के निर्णय के बाद जापान ने दावा किया कि चीन से हुई सन् १९०५ की कोमूरा-सन्धि मे यह समझौता हो चुका था कि जापान की सहमति बिना चीन ऐसा कोई रेलमार्ग नही बनायेगा, जो इस मार्ग के समानान्तर हो या जिसकी इस मार्ग से प्रतियोगिता हो सकती हो। इस समझौते के आधार पर ही जापान ने हसिमिनटुन-फाकूमेन-रेलमार्ग नही बनने दिया और रूस की सहायता से चिनचाउ-आइगुन मार्ग के लिए मिली रिआयत का उपयोग नही होने दिया और न अमरीकी मत्री नौक्स की व्यापक निष्प्रभावीकरण योजना को ही चलने दिया। जैसा कि कहा जा चुका है, जापानी दृष्टिकोण से यह उन्मुक्त द्वार के लिए दिये गये वचन का उल्लघन नही था, क्योकि जापान के अनुसार आर्थिक अवसरो की समानता की कोई बात उसमे शामिल नही थी। किन्तु, अपने साम्राज्य के एक भाग के विकास की दिशा निर्धारित करने की चीन की स्वतत्रता पर तो यह एक प्रतिबन्ध था ही और इसे चीन की स्वतत्रता व प्रशासकीय अविच्छिन्नता पर आघात माना जा सकता था। किन्तु जापान इसे भी वचन भग नही मानता था, क्योकि, उसके अनुसार, उसकी काररवाइयो से मचूरिया चीन से पृथक् नही होता था। इसके अतिरिक्त, जापान का यह भी दावा था कि मचू-शासन वचनबद्ध था कि वह वे काम नही करेगा जो इन रिआयतो के लागू होने से होते; इस प्रकार जापान चीन पर अपनी नीयत बिगाड़ कर गैर ईमानदारी से धोखा देने का आरोप लगा रहा था। सन् १९०५ से सन् १९१४ तक मचूरिया की रेल-राजनीति के संबंध मे जो निर्विवाद निष्कर्ष निकाले जा सकते है वे हैं (१) जिस प्रकार रूस उत्तर मे कर रहा था, जापान दक्षिण के अपने हित-क्षेत्र मे अपने अनन्य अधिकार स्थापित करने को कटिबद्ध था और अपनी इस स्थिति को सगठित करने के लिए वह चीन से नये समझौते कर रहा था, (२) चीन जापान की रेलवे-इजारेदारी कायम होने देने के लिए खुशी से तैयार नही था, किन्तु काफी विदेशी आर्थिक व राजनीतिक सहायता के बिना वह जापान को रोकने मे असमर्थ था, और (३) विदेशी राष्ट्रो में केवल अमरीका ही ऐसा था, जो जापान की इजारेदारी बनने मे अड़गा लगाना चाहता था और स्थापित इजारेदारी को ध्वस्त करना चाहता था, किन्तु इस काम के लिए आवश्यक विदेशी सहयोग तथा समर्थन उसे प्राप्त नही हो रहा था। अत-

एव, सन् १९१४ तक जापान रेलवे-क्षेत्र मे पूर्ण नियंत्रण प्राप्त कर चुका था, किन्तु इससे उसने इस काम मे दिलचस्पी रखने वाले अमरीकियो का अविश्वास व शत्रुता मोल ले ली थी।

व्यवसाय की दृष्टि से भी जापान मचूरिया मे अपने पैर जमा चुका था। रूस से हुए युद्ध के बाद, जब फौजे वापस लौट रही थी, तो गैर-जापानी व्यापारियो को उस क्षेत्र मे इस आधार पर नही घुसने दिया गया कि अभी फौजी शासन समाप्त नही हुआ। किन्तु इसी अवधि मे केवल सैनिक प्रयोजन के लिए चल रही रेलगाड़ियों मे जापान से व्यापारिक माल आ रहा था। इस प्रकार, प्रतियोगिता के अभाव मे, उस क्षेत्र मे सबसे पहले प्रवेश करने वालो की हैसियत से जापानी व्यापारी वहाँ जम गये। अतएव, सन् १९०६ के ग्रीष्म के पहले उन्मुक्त द्वार-सिद्धान्त वहाँ लागू होना माना ही नही गया। युद्ध से पहले मचूरिया का प्रवेश-द्वार न्यू चुआंग नामक चीनी बन्दरगाह था। इस बन्दरगाह का उपयोग लगभग पूरी तरह से समाप्त हो गया और उसकी जगह जापानी बन्दरगाह डैरेन का उपयोग होने लगा, क्योकि एक तो, डैरेन में व्यापार की बेहतर सुविधाएँ प्राप्त थी, और दूसरे, जापानी रेलवे चीनी बन्दरगाह के साथ सीमाशुल्क की दरो मे भेदभाव बरत रही थी। यह भी उन्मुक्त द्वार-नीति का उल्लंघन नही माना गया, क्योकि स्थानो या बन्दरगाहो में भेद न करना उस सिद्धान्त में शामिल नहीं था; किन्तु, इस नीति के फलस्वरूप उन अंग्रेज व अमरीकी व्यापारियो के साथ भेदभाव अवश्य होता था, जो चीनी बन्दरगाह पर आ बसे थे। दक्षिणी मंचूरिया रेलवे ने सीमा-शुल्क की दरों मे तो भेदभाव नही बरता था और जापानी व्यापारियो को उनमें विशेष सुविधाएँ नही दी थी, किन्तु उसने दरो मे रिआयतो की एक प्रणाली चालू कर रखी थी, जिसका प्रभाव जापान के पक्ष में भेदभाव ही होता था; विदेशी शिकायतो व आलोचना के कारण बाद मे यह रिआयत-प्रणाली समाप्त कर दी गयी। इस प्रणाली की जगह आर्थिक सहायता या उपदान देने की प्रणाली चालू कर दी गयी, जिस पर आपत्ति नही की जा सकती थी, क्योंकि अन्य सरकारें भी बहुधा इस प्रणाली का उपयोग करती थी। कोरिया से आयात किये हुए माल को मंचूरिया-व्यापार में सुविधाएँ मिलती थी,[८] किन्तु यह सुविधा सभी को समान रूप से प्राप्त होने के कारण इसे उन्मुक्त द्वार-वचन का उल्लघन नहीं माना जा सकता था। जो जापानी कोरिया के द्वारा व्यापार करते थे, वे अपनी ही सीमा-शुल्क-प्रणाली के भीतर व्यापार कर रहे होते थे, किन्तु यह बात विदेशी व्यापारियों पर तो लागू थी नही; इस प्रकार जापानी व्यापारियों को निश्चित रूप से एक ऐसी सुविधा

प्राप्त हो जाती थी, जो अन्य विदेशियो को प्राप्त नही थी । अतएव, सामान्यत , गैर-जापानी व्यापारी अपना माल कोरिया होकर नही मँगाते थे । शुरू-शुरू मे, जब माल का लदान बहुत हो रहा था और ढुलाई के साधन सीमित थे, गैर-जापानी विदेशी माल बहुधा देर मे पहुँचाया जाता था और जापानी माल जल्दी, कभी-कभी गैर-जापानी माल के साथ छेडछाड भी होती थी ।[९] जापानी व्यापारी विदेशी व्यापार चिह्नो या छापो व मार्क का भी प्रयोग कर लेते थे, किन्तु व्यापारिक नैतिकता का अभाव ही था, उन्मुक्त द्वार-नीति का उल्लघन नही, यह चीन, जापान व चीन की दीवार के उत्तर मे, सभी जगह होता था । फिर अपने विदेशी प्रतियोगियो को हराने के लिए जापानी अपने राजनीतिक प्रभुत्व के बल पर चीन मे उत्पादन व उपभोक्ता-कर देना भी बचा जाते थे या उन्हे कम करा लेते थे । यह अवश्य सही है कि जब भी उन्मुक्त द्वार सिद्धान्त के विपरीत हो रहे कार्यो की ओर जापान का ध्यान दिलाया जाता था, तो जापान अपने वचन का शाब्दिक पालन करने को तैयार हो जाता था, किन्तु तब भी, इस सिद्धान्त के शाब्दिक उल्लंघन के बिना भी, प्रतियोगिता के अनेक अनुचित ढंग अपनाये जाने की शिकायते तो रहती ही थी । और इसी कारण मचूरिया के प्रश्न को लेकर अमरीका और जापान के बीच मनमुटाव हुआ ।

प्रशासकीय दृष्टि से जापान ने अपनी शक्ति व्यापक रूप से बढा ली थी । रेलवे कपनी व वाणिज्य दूतावासो के द्वारा पट्टे मे प्राप्त क्षेत्र से जापानी अधिकारि-वर्ग अपना प्रभाव बढा रहा था । इसका फल यह हुआ है कि केवल पट्टे द्वारा प्राप्त क्षेत्र व रेलवे-क्षेत्र मे ही नही, वरन्, अप्रत्यक्ष रूप से पूरे दक्षिणी-पूर्वी मचूरिया मे जापान की अधिकार-सत्ता सर्वोच्च और ऐकातिक हो गयी है, क्योकि चीनी प्रशासन का अस्तित्व तो है, किन्तु हर महत्त्वपूर्ण विषय मे चीनी अधिकारी जापानियों का आज्ञापालन करते है और व्यावहारिक रूप मे अतिम रूप से अधिकार-सत्ता जापानी अधिकारियो की ही रहती है ।[१०]

सधियो की शर्तों के अनुसार जापानियो व अन्य विदेशियो का निवास केवल सधि-बन्दरगाहों मे ही हो सकता था, किन्तु अवैध रूप से प्रान्त के भीतरी भागो मे भी घुस रहे थे, इससे चीन के लिए प्रशासन की समस्या और जटिल हो गयी थी, क्योकि राज्य-क्षेत्रातीतता का सिद्धान्त मचूरिया मे लागू था । अपने नागरिको पर नियंत्रण करने के लिए जापान ने पुलिसघर बनाने की पणाली चालू की और इस प्रकार रेलवे-क्षेत्र के बाहर भी अधिकार-क्षेत्र का दावा करना शुरू कर दिया; और जानबूझ कर या अनजाने ही जापान ने अपनी स्थिति ऐसी बना ली, जिससे चीनी अधिकारी व्यग्र हो उठे ।

संक्षेप मे, सन् १९१४ तक, आर्थिक दृष्टिकोण से मचूरिया का काफी विकास हो चुका था, जिसका लाभ मुख्यत. जापान को ही मिल रहा था, यद्यपि जो रेलवे उपकरण आदि जापान स्वय तैयार नही कर पाता था उनकी अमरीका मे खरीद के फलस्वरूप कुछ अप्रत्यक्ष लाभ अमरीका को भी हो रहा था। जहाँ तक रेल-मार्गो का संबध था, रूस की सहायता और ब्रिटेन की सहमति से जापान ने अपनी एकातिक स्थिति बना रखी थी। चीन की क्षेत्रीय अविच्छिन्नता भंग किये बिना, जापान ने अपना राजनीतिक प्रभाव भो बढा लिया था। इसके अतिरिक्त, यह भी स्पष्ट हो चुका था कि जापान से मैत्री के फलस्वरूप जो लाभ मिल रहे थे, उनके बदले मे ब्रिटेन अपने इस मित्र को मचूरिया में अपनी स्थिति मजबूत करने मे सहायता देने को तैयार था, दूसरी ओर, अमरीका और जापान के सबंधो मे खिचाव बढ रहा था।

## (३) प्रवास का प्रश्न

अमरीका व जापान के बीच बढते हुए मनमुटाव का जापान की मचूरिया-सबंधी नीति के अलावा एक अन्य कारण भी था। रूस से युद्ध तथा विश्व-युद्ध के बीच के वर्षों मे अमरीका के प्रशान्तसागरीय तट पर जापानी प्रवासियो के विरुद्ध तीव्र भावना फैली थी। एक तरह से यह उसी भावना का एक अग थी, जो पहले चीनियो के बडी सख्या मे वहाँ जाकर बसने पर, चीनियो के विरुद्ध उठी थी। अब यह भावना अधिक तीव्र थी, क्योकि जापान की विश्व-स्थिति ऊँची थी।

जापानियो ने बड़ी सख्या में अमरीका पहुँचना सन् १९०० के बाद ही शुरू किया था; उस समय तक वहाँ उनकी संख्या २४,००० थी। सन् १९१० में यह संख्या बढकर ७२,००० हो गयी और सन् १९२० मे, १,१०,०००। अमरीका की पूरी आबादी के अनुपात मे यह सख्या बहुत बड़ी नही थी, किन्तु जापानी प्रवासियो का अधिकांश जमाव कैलिफोर्निया व प्रशान्तसागर-तट पर ही था, जिससे उनका खतरा बड़ा भारी लगने लगा था, और जापानियो के वहाँ खेती-बाड़ी करने से यह खतरा और भी बड़ा लगने लगा था।

पहले जिस प्रकार चीनी-विरोधी आदोलन के समय काररवाई हुई थी, उसी की पुनरावृत्ति इस बार हुई। कैलिफोर्निया-वासियो ने माँग की कि अमरीकी काग्रेस की बैठक बुलाकर उसमें इस प्रश्न पर विचार किया जाय और जापानियो के अमरीका-प्रवेश पर रोक लगा दी जाय। सन् १९०६ में सैन फ्रासिस्को के शिक्षा-मंडल ने एक प्रस्ताव द्वारा जापानी बच्चो का उन सभी स्कूलो में प्रवेश वर्जित कर दिया, जो जापानियों द्वारा नही चलाये जाते थे। जापान ने इसका विरोध किया और अमरीकी राष्ट्रपति ने यह प्रस्ताव वापस करवा दिया और आश्वासन दिया

कि जापानियो का प्रवेश रोकने के लिए काररवाई की जायगी। इसके बाद अमरीका व जापान के बीच 'भलेमानसो की बात' सन् १९०७ मे पक्की हो गयी कि जापान अमरीका जाने वाले मजदूरो को पारपत्र (पासपोर्ट) नही देगा। यही नीति हवाई द्वीप व मैक्सिको के सबध मे निश्चित हो गयी। इससे अमरीका पहुँचने वाले जापानियो की सख्या मे कुछ कमी आयी और अगले १५ वर्षो मे कुल ९८,००० जापानी पुरुष वहाँ पहुँचे जबकि १,२०,००० वहाँ से वापस लौटे। किन्तु प्रवासियो की वास्तविक सख्या मे वृद्धि इसलिए हो गयी कि इस भलेमानसो की बात की एक शर्त यह थी कि अमरीका मे बसे जापानियो की पत्नियाँ वहाँ जाकर बस सकेंगी।

जापान ने अपनी ओर से बात निबाहने की ही कोशिश की, किन्तु कैलिफोर्निया वालो को सतोष नही हुआ और वह जापानियो के प्रवेश के ही विरुद्ध कानून बनाने की माँग करते रहे। जापानियो की बढती हुई सख्या को लेकर उन्होने जापान पर वचन-भंग करने का आरोप लगाया और उन जापानी स्त्रियो को भी प्रवासी जापानियों की पत्नी बनाकर पासपोर्ट देकर भेज देने की शिकायत की, जिनका विवाह तस्वीर देखकर समुद्र पार इतनी दूरी से ही हो जाता था। यह प्रथा जापानियो के लिए असामान्य नही थी, किन्तु कैलिफोर्निया के अमरीकियो ने आरोप लगाया कि प्रथा को प्रोत्साहन इसीलिए दिया जा रहा है कि बच्चा पैदा करने वाली स्त्रियाँ अमरीका जाकर बस जाये। कानून बनवाने के लिए जापान के विरुद्ध बहुत-सी गलत बाते भी कही गयी।

जापानियों के प्रवेश-निषेध के आदोलन मात्र से सतुष्ट न रह कर, सन् १९१३ मे कैलिफोर्निया की विधानसभा ने एक कानून बना दिया, जिसके अन्तर्गत नागरिकता के अधिकारो से वचित विदेशियो की हैसियत से जापानियो[११] पर यह प्रतिबंध लगा दिया गया कि वे जमीन पट्टे पर केवल तीन वर्ष के लिए ही ले सकते थे और वह भी केवल सधि में वर्णित उपयोग के लिए ही। यह जापान के विरुद्ध स्पष्ट भेदभाव था, सन् १९२० में यह कानून और भी कठोर कर दिया गया।

इन काररवाइयो से जापान में अमरीका के विरुद्ध भावना फैली और जापान-सरकार ने इनके विरुद्ध कड़े विरोध पत्र भी भेजे। विद्वेष की यह जनभावना और भी व्यापक हो उठी, जब सन् १९२४ मे प्रवास-कानून द्वारा जापानियो के विरुद्ध प्रवेश निषेध लागू कर दिया गया, जापानी राजदूत, हाना हीरा के इस वक्तव्य के बाद यह कानून और भी जल्दी बन गया कि इसके "परिणाम गभीर" होगे।

इन कार्यवाहियों के संबंध में जापानी दृष्टिकोण के दो पहलू थे। एक तो वह भेदभाव के लिए इस प्रकार छाँटे जाने का विरोध करता था, मानो जापानी

यूरोपीय लोगो से निम्नश्रेणी के मनुष्य हों। प्रवेश पर सीमा लगाने का विरोध जापान नही करता था, जैसा कि भलेमानसो के समझौते से प्रकट था। जापान का यह दृष्टिकोण इस बात से भी प्रकट था कि वह उस परीक्षा-प्रणाली को स्वीकार करता था, जिसके अतर्गत हर प्रवेशार्थी को लिखने की परीक्षा मे बैठना होता था, यद्यपि यह परीक्षा इस प्रकार ली जाती थी कि एशियावासी उसमे उत्तीर्ण नही हो पाते थे, अमरीकी राष्ट्रपति रूजवेल्ट से हुए भलेमानसो के समझौते के समान ही कनाडा से समझौता कर वहाँ जापानियो के बसने पर स्वेच्छा से नियत्रण लगाने के लिए तैयार होकर भी जापान ने इसी दृष्टिकोण का परिचय दिया था। जापान की आपत्ति अमरीका मे प्रवेश-निषेध पर ही नही भेदभाव बरतने वाले अन्य कानूनों व काररवाइयो पर भी थी, जैसे कि कैलिफोर्निया के भूमि-संबधी कानून तथा जापानियो के अमरीकी नागरिक बनने पर रोक लगाने वाले कानून।

जापान के दृष्टिकोण का दूसरा पहलू कुछ उसी प्रकार का था, जैसा कि वह एशिया मे अपने विस्तार के सबध मे अपना रहा था। जापान की जनसख्या की समस्या काफी जटिल हो रही थी। उसका तर्क था कि अतिरिक्त आबादी का प्रश्न प्रवास द्वारा हल हो सकता था या एशिया की भूमि और साधनो के नियत्रण द्वारा या औद्योगीकरण द्वारा हल हो सकता था। जापानियो के लिए अपने देश के दरवाजे बन्द कर लेने मे अमरीका सबसे आगे और सबसे अधिक सक्रिय था और इसी प्रकार सन् १९०५ और सन् १९१४ के बीच वही जापानी साम्राज्यवाद का सबसे बडा विरोधी था, चाहे फिर यह साम्राज्यवाद आर्थिक हो या क्षेत्रीय। इस प्रकार जापान की जनसंख्या की समस्या के जो दो संभव व संतोषजनक समाधान थे, सन् १९०५ के बाद अमरीका ही उन दोनो के रास्ते का सबसे बड़ा रोडा था। दूसरे शब्दो मे, मचूरिया व प्रवास की कठिनाई—ये दो ऐसी समस्याएँ थी, जो एक दूसरे के बीच सघर्ष बढाने में सहायता दे रही थी। इस स्थिति पर विचार के लिए फिर जापानी पूर्वी एशिया संबधी-नीति का अध्ययन आवश्यक होगा।

## (४) जापान का प्रथम विश्वयुद्ध में प्रवेश

सन् १९१४ तक की स्थिति पहले ही बतायी जा चुकी है। प्रथम विश्वयुद्ध के शुरू होते ही जापान ने सोचा कि मंचूरिया के बाहर एशिया महाद्वीप पर विस्तार करने और वहाँ अपने साम्राज्य की जडे जमा देने का यह बहुत बढ़िया अवसर है। विभिन्न राष्ट्रो के हित चीन में निहित होने के कारण सुदूरपूर्व की परिस्थिति अनिवार्यत जटिल और नाजुक थी। यूरोप में युद्ध शुरू होते ही पीकिंग सरकार ने अपनी तटस्थता की घोषणा कर दी थी। किन्तु चीन के उन क्षेत्रों की स्थिति के संबंध मे

तत्काल ही प्रश्न उठ खड़ा हुआ, जो उसने विदेशी शक्तियो को पट्टे पर दे रखे थे। यह प्रश्न जर्मनी के त्सिंगताओ पर अधिकार पर आकर केन्द्रित हो गया। पहले जर्मनी व चीन के बीच इस सबंध मे बातचीत चली कि जर्मनी पट्टे पर मिले अपने क्षेत्र को चीन को वापस कर दे। समझौते की शर्तों मे ही यह बात मौजूद थी कि जर्मनी जब चाहेगा किआओचाउ-क्षेत्र का पट्टा चीन मे किसी अन्य उपयुक्त स्थान के बदले में छोड देगा। अतएव ऐसा आभास होता है कि जर्मनी कुछ समय के लिए अपने पट्टे के अधिकार छोडने पर सहमत हो गया, ताकि युद्ध के बाद वह पूर्व में आकर अपने पैर फिर जमा ले। कम-से-कम, कहा यही जाता है कि पट्टा क्षेत्र के संबंध मे जर्मनी व चीन के बीच समझौते का जो विरोध ब्रिटेन ने किया, उसका एक कारण यह भी था।[१२] यह न होता, तो दूसरा रास्ता यह निकल सकता था कि विदेशी शक्तियाँ इस बात पर राजी हो जायँ कि वे चीन मे अपने-अपने अड्डो को युद्ध के लिए प्रयोग नही करेंगी और इस प्रकार चीन सरकार की तटस्थता की घोषित नीति चीन के सारे क्षेत्र मे ही चालू रह सकती थी। सूदूरपूर्व की स्थिति देखते हुए यही समाधान सबसे अधिक उपयुक्त होता, किन्तु इस सबंध मे कोई समझौता हो, इसके पहले ही जापान ने ऐसे कदम उठा लिये कि इस समझौते के लिए बातचीत चला सकना असभव हो गया।

सूदूरपूर्व व भारत मे शाति कायम रखने के घोषित उद्देश्य के लिए ब्रिटेन व जापान के बीच पहले से ही एक मैत्री-सधि हो चुकी थी। इस सधि की पहली धारा के अनुसार "जब भी, ब्रिटेन या जापान के अनुसार, समझौते की प्रस्तावना मे वर्णित हितो व अधिकारो पर आँच आयेगी, दोनो सरकारो के बीच खुल कर पूरी बात होगी और संकटग्रस्त हितों या अधिकारो की रक्षा के लिए आवश्यक सयुक्त उपायो पर विचार होगा।" समझौते की दूसरी धारा के अनुसार "यदि किसी उत्तेजना के बिना, किसी भी राष्ट्र या राष्ट्रों द्वारा, कही भी, दोनों पक्षो मे से कोई भी, हमले या आक्रमण का शिकार होता है और समझौते की प्रस्तावना में वर्णित विशेष हितो या क्षेत्रीय अधिकारो की रक्षा में युद्धरत होता है, तो, दूसरा पक्ष तत्काल अपने मित्रराष्ट्र की सहायता में सन्नद्ध होगा और दोनो सयुक्त रूप से युद्ध करेंगे और पारस्परिक समझौते के आधार पर शाति की शर्तें स्वीकार करेंगे।"

यूरोप में युद्ध छिड़ने से न तो जापान के क्षेत्रीय अधिकारो या विशेष हितो पर ही प्रभाव पड़ता था, और जहाँ तक युद्ध के प्रारम्भ का सबंध था, न ही ब्रिटेन के सुदूरपूर्व या भारत के स्थित हितों पर ही कोई ऐसा आघात होता था कि संधि की ये शर्तें अमल मे आ जायँ और जापान ब्रिटेन के पक्ष में युद्धरत हो जाय। फिर, कम-

से-कम अपेक्षा तो यही थी कि सधि-पक्षो मे से ब्रिटेन ही युद्ध में फँसने के कारण वह ही जापान को युद्ध मे उतारने मे पहल करेगा। लगता है कि अपने उपक्रम मे ब्रिटेन ने जापान से वहुत ही स्पष्टत सीमित रूप से युद्ध मे भाग लेने को कहा, किन्तु जापान सरकार को उसमे दिलचस्पी नही थी। शुरू में जापान ने युद्धरत होने के लिए सधि की शर्तो का हवाला दिया, किन्तु ऐसा लगता है कि विषुवत्-रेखा के उत्तर मे प्रशान्त महासागर के द्वीपो व चीन के शानतुग प्रान्त से जर्मनी को खदेड देने के बाद जापान को इन शर्तो के दायित्व का आभास कुछ कम ही लगने लगा था। कम-से-कम एक जानकार पर्यवेक्षक का विचार है कि ब्रिटेन की सरकार की इच्छा के बावजूद ही जापान ने युद्ध में प्रवेश किया। इस सबध मे, पीकिंग स्थित अमरीकी मत्री, पॉल एस० राइश ने लिखा था—

"८ अगस्त, १९१४ को जापान के युद्धपोत त्सिगताओ के निकट प्रकट हुए। १० अगस्त को जापान ने सुझाव रखा कि ब्रिटेन सधि की शर्त के अनुसार उससे सहयोग माँगे। संभावित परिणामो के कारण ब्रिटेन यह सहयोग माँगने मे हिचकिचाता रहा; चीन में जो अग्रेज थे, वे इस बात के महत्त्व पर जोर दे रहे थे कि जापान की चीन में कोई स्वतत्र काररवाई नही होनी चाहिए और उसे रोकने का प्रयास होना चाहिए।"

"१५ अगस्त को जापान ने अपने आप ही जर्मनी को शानतुग अंतिमेत्थम् भेज दिया। यह काररवाई करने के बाद इसकी सूचना ब्रिटेन को दी गयी।"[१३]

इससे प्रकट है कि जापान या तो सधि के दायित्व निबाहने की असाधारण रूप से विकसित भावना से प्रेरित हुआ था, या फिर युद्ध के विश्व-व्यापी होने के पहले ही यूरोपीय युद्ध मे उतरने के पीछे जापान का कोई गूढ उद्देश्य था। जापान की बाद की काररवाई से यह स्पष्ट है कि उसके युद्ध मे उतरने का कारण गूढ़ उद्देश्य ही था। १५ अगस्त, १९१४, को जर्मनी को दिये गये अंतिमेत्थम् में जापान ने जर्मनी से माँग की कि वह शानतुंग प्रान्त के अपने पट्टा-अधिकार, १५ सितम्बर से पूर्व छोड़ दे "ताकि वे अंततः चीन में फिर से निहित हो"; जर्मनी को इसका उत्तर देने के लिए एक सप्ताह का समय दिया गया। जब जर्मनी का इस संबंध में कोई उत्तर नही आया, २३ अगस्त को जापान ने जर्मनी के विरुद्ध युद्ध की घोषणा कर दी और उसे त्सिंगताओ से बलपूर्वक खदेड़ देने के प्रयास आरम्भ कर दिये। शेष ससार को जापान के इरादो की सूचना देने के लिए, प्रधान मंत्री ओकूमा ने एक संदेश प्रकाशनार्थ अमरीका भेजा, जिसमें कहा गया था कि "जापान की कोई क्षेत्रीय आकांक्षा नही है और वह पूर्व में शांति के सरक्षक के रूप में खड़ा होना चाहता है।"

त्सिंगताओ की ओर बढ़ने के लिए जापान ने बन्दरगाह से लगभग १०० मील उत्तर मे अपनी फौजे उतार दी, जो चीन के क्षेत्र में होती हुई दक्षिण की ओर

बढने लगी, यद्यपि चीन ने अपनी तटस्थता की पहले ही घोषणा कर दी थी। इस कारवाई का विरोध करने के बाद चीन इस अनिवार्य स्थिति को स्वीकार कर चुप बैठ गया और कोशिश करने लगा कि उसकी तटस्थता के उल्लघन की जितनी कम घटनाएँ हो उतना ही अच्छा है। चूँकि यह पहला अवसर नही था, जब चीन के क्षेत्र पर अन्य राष्ट्रो का ऐसा सघर्ष हुआ हो, जिसमे स्वय चीन शामिल ही न रहा हो, चीन को पूर्वदृष्टान्त के अनुरूप कार्य करने की सुविधा थी। अतएव अमरीका के सुझाव पर चीन ने सन् १९०४ मे जो युद्धक्षेत्र को पृथक् व सीमित घोषित किया था, उसी के समान उसने इस बार भी युद्धक्षेत्र घोषित कर दिया और कहा कि लडाई इस क्षेत्र के बाहर नही निकलनी चाहिए। जापान की कारवाई के लिए यह क्षेत्र काफी व्यापक था, किन्तु उसने इस व्यवस्था की फौरन ही अवहेलना कर दी और प्रान्त के भीतर के एक रेलमार्ग पर अधिकार कर लिया। सन् १८९८ के चीन व जर्मनी के बीच हुए समझौते के अनुसार यह रेलमार्ग चीन व जर्मनी के कुछ लोगो का संयुक्त प्रयास निजी क्षेत्र मे था, यद्यपि इसकी देखभाल का काम त्सिंगताओ-शासन करता था। पट्टे पर जर्मनी को दिये गये क्षेत्र पर अधिकार करने के लिये, जिसका क्षेत्रफल आग्ल-जापानी सैनिको के अधिकार के कारण बहुत घट चुका था, इस रेल-मार्ग पर कब्जा करना बिलकुल आवश्यक नही था।

७ नवम्बर को त्सिंगताओ के पतन के बाद जापान ने योजनाबद्ध रीति से शानतुग प्रान्त पर अपने पैर जमाने शुरू किये। पट्टा-क्षेत्र के बाहर के जर्मनी के हितो पर भी जापान ने कब्जा कर लिया, जिनमे त्सिनानफू-त्सिंगताओ रेलमार्ग, काओमी के दक्षिण का रेलमार्ग, अपने अधिकार के १५ वर्षों मे जर्मनी द्वारा विकसित खानें तथा प्रान्त भर के जर्मनी के सार्वजनिक व निजी संपत्ति पर अधिकार भी शामिल थे। जर्मनी को प्राप्त अधिकार, विशेष सुविधाओ व स्वामित्व पर कब्जा करके ही जापान संतुष्ट नही हुआ और इनके विस्तार के लिए प्रयत्न करने लगा। उदाहरणार्थ, पट्टा-क्षेत्र के बाहर के रेलमार्ग की रक्षा का काम उस प्रान्त में चीन ही करता था, क्योंकि जर्मनी को उस प्रकार के अधिकार प्राप्त नही थे, जैसे कि मचूरिया में रूस और जापान को प्राप्त थे, किन्तु जापान ने सारे रेलमार्ग-क्षेत्र का प्रशासन व रक्षा-कार्य अपने हाथ में ले लिया। सैनिक दृष्टि से इन्हें आवश्यक बताने की संभावना तक जब असंभव हो गयी थी, तब भी जापान इन अत्यधिक विस्तृत अधिकारो पर अड़ा रहा। जापान का रुख एक अन्य बात से भी प्रकट था। जर्मनी के अधिकार के समय त्सिंगताओ की सीमा-शुल्क-सेवा चीनी समुद्री सीमा-शुल्क-व्यवस्था के अंतर्गत ही कार्य करती थी, केवल शर्त यह थी कि वहाँ का आयुक्त व अमला जर्मनी का

होगा। किन्तु यह सेवा, सन् १८९८ के समझौते के अनुसार नियुक्त अंग्रेज अध्यक्ष के निर्देश पर काम करती थी और इसके लिए चीन की नौकरी मे लगे जर्मनी के नागरिको में से ही नियुक्तियाँ होती थी। इससे जो भी आय होती थी, उसका २० प्रतिशत स्थानीय आवश्यकताओ की पूर्ति के लिए त्सिंगपाओ-शासन के लिए दे दिया जाता था। जब यह क्षेत्र जापान के कब्जे मे आया, उसने भी जोर दिया कि आयुक्त व अमला पूरा-पूरा जापानी होगा (चीन की सेवा मे लगे जापानियो मे से ही नियुक्ति करने की बात नही थी)। इससे त्सिंगताओ सेवा पर से चीनी नियत्रण समाप्त हो जाता; और सभवतः कुल वसूल की हुई राशि में भी कमी-कटौती हो जाती, यद्यपि इस आय से मुक्का-आंदोलन की क्षतिपूर्ति व अन्य अंतरराष्ट्रीय देयो का भुगतान होता था। काफी लम्बी बातचीत के बाद जापान इस बात पर राजी हो गया कि जर्मनी से हुए समझौते के अनुरूप ही कार्य होगा, यद्यपि त्सिंगताओ मे नौकरियो में जर्मन की जगह जापानी लोग रहेगे।

जहाँ तक जर्मनी से प्राप्त इस क्षेत्र को खाली कर, उसे फिर से चीन को सौप देने का प्रश्न था (जैसा कि जापान ने अपने अतिमेत्थम् मे कहा था), डायट मे प्रश्नोत्तर मे जापानी परराष्ट्र मत्री ने कह दिया कि पट्टे के क्षेत्र को चीन को सौप देने का कोई दायित्व जापान पर नही है, यह बात तब कही गयी थी, जब जर्मनी द्वारा पूरा क्षेत्र शांतिपूर्वक छोड़ देने की बात थी। बन्दरगाह को जर्मनी से खाली कराने में जापान का जो धन लगा और जो जापानी सैनिक काम आये, उससे एक बिलकुल नयी परिस्थिति पैदा हो चुकी है, जिसका समाधान बिलकुल भिन्न प्रकार से हो सकता है। यह भिन्न प्रकार क्या था, यह भी शीघ्र ही स्पष्ट हो गया।

सन् १९१४ के अंत मे जब शानतुग मे जर्मनी का प्रतिरोध बिलकुल समाप्त हो चुका था और उसके साथ ही सैनिक क्षेत्र कायम रखने की आवश्यकता समाप्त हो चुकी थी, (७ जनवरी, १९१५ को) राष्ट्रपति युआन शिह-का'ई ने जापान को सूचना दी कि पट्टे के क्षेत्र को छोड़ कर शेष शानतुंग प्रान्त में फिर से चीनी तटस्थता कायम होगी। जापान ने फौरन इसका विरोध करते हुए कहा कि यह तो अमैत्रीपूर्ण कार्य है और इसी बहाने चीन के समक्ष लम्बी-चौड़ी माँगों की एक सूची पेश कर दी।

## (५) इक्कीस माँगें

१८ जनवरी, १९१५, को पाँच समूहों में २१ धाराओ वाली ये माँगें चीन के समक्ष पेश कर दी गयी और मई के अत तक इन पर समझौते की बातचीत चलती रही। चीन के परराष्ट्र-मंत्रालय की उपेक्षा करते हुए ये माँगें सीधे चीनी राष्ट्रपति

के सामने पेश की गयी थी और समझौते की बातचीत पूरी होने तक इन्हें बिलकुल गुप्त रखने का निर्देश भी राष्ट्रपति को दिया गया था। पीकिंग-स्थित विदेशी सवाद-दाताओ को इस समझौता-वार्ता का सुराग लगा और बात सारी दुनिया मे फैल गयी। गोपनीयता का पर्दा उठने पर जापान को पीकिंग से आये समाचारो की पुष्टि करनी पडी। पहले तो टोकियो मे "साधिकार सूत्रो" के आधार पर कहा गया कि जापान ने चीन के समक्ष कोई माँग पेश ही नही की है। जब माँगो के तथ्य का निरूपण हो गया, तब कहा गया कि कुल ११ माँगे पेश की गयी थी; इनमें से जो साधारण व निरीह थी वे माँगें भी प्रकाशित कर दी गयी। अत मे यह स्वीकार किया गया कि माँगे तो २१ अवश्य है पर माँगो का पाँचवाँ समूह केवल चीन सरकार के विचारार्थ प्रस्तुत किया गया है, उसकी स्वीकृति पर जोर नही दिया जा रहा। एक के बाद एक, धीरे-धीरे जापान सरकार इन माँगो की सच्चाई स्वीकार करने के लिए इसलिए बाध्य हुई कि उनका प्रकाशन हो गया था और वह बाध्य थी कि या तो यह स्वीकार करे कि उसने माँगें पेश की है, या फिर उनसे मुकर जाय और इस संबंध में कोई काररवाई न करे। जापान की इस बलवती इच्छा का पुष्ट प्रमाण है कि पीकिंग मे जो कुछ हो रहा है, उसकी सूचना विदेशों को प्राप्त न हो और जब तक सूचना उन तक पहुँचे, सुदूरपूर्व की स्थिति में व्यापक परिवर्तन हो चुके और इन विदेशो के लिए इन परिवर्तनो को स्वीकार करने के सिवा कोई चारा न रहे।

अपनी इन माँगो को स्वीकार करवाने के लिए जापान ने राष्ट्रपति युआन पर दोहरा दबाव डाला। पहले तो बराबर यह धमकी दी गयी कि यदि जापान की इच्छा पूरी न हुई तो सैन्यबल के प्रयोग की संभावना रहेगी। दूसरी ओर, युआन को बताया गया कि सन् १९१४ के बाद जो व्यक्तिगत शासन उन्होने कायम कर रखा था, उसका विरोध करने वाले अनेक चीनी क्रांतिकारी जापान मे एकत्र है और यदि राष्ट्रपति युआन ने जापान की माँगो का समर्थन न किया तो इन चीनी क्रातिकारियो को जन-धन से सहायता दी जायगी और वे ऐसी शक्ति बन जायँगे, जिससे युआन के लिए खतरा पैदा हो जायगा। फिर, यह भी कहा गया कि जापान चीन में राजतंत्र की स्थापना का समर्थन भी कर देगा यदि सम्राट् का जापान के प्रति दृष्टिकोण रहे। यह संकेत भी किया गया कि सम्राट अपना मैत्रीपूर्ण दृष्टिकोण इन माँगों को स्वीकार कर प्रकट कर सकते है। इस प्रकार, जापान ने एक ओर चीन-राज्य के अस्तित्व को ही समाप्त करने की धमकी दी, दूसरी ओर युआन के शासन को मिटा देने की धमकी दी और साथ ही राष्ट्रपति व उनके

परिवार को राजतंत्र स्थापित करने मे सहायता देने का लालच या रिश्वत भी दी। किंतु जापान मे इस बात की आशा कम ही रही होगी कि युआन जापान के अधीन होकर कोई स्थिति स्वीकार कर लेगे, क्योंकि वह जापान के एशिया मे प्रसार-विस्तार के सिऊल मे चीनी प्रतिनिधि बनने के समय से ही विरुद्ध थे।

समझौते की बातचीत के दौरान मे चीन ने अलग-अलग माँग-समूहो पर अलग-अलग विचार करने का सुझाव रखा, उसे आशा थी कि इस तरह से अलग-अलग विचार कर कम आपत्तिजनक माँगो को स्वीकार कर सभवत अधिक आपत्तिजनक माँगो की स्वीकृति से बचाया जा सकेगा। उसे यह भी आशा थी कि बातचीत के लम्बे खिचने पर और जापानी प्रस्तावो पर विशद विचार में लगने वाली देर से विदेशी जनमत उभर सकता है और विदेशी राष्ट्र जापान पर दबाव डाल कर स्थिति मे कुछ सुधार करवा सकेगे। अंत में पीकिंग-स्थित जापानी मंत्री ने चीन सरकार को अंतिमेत्थम् दे दिया कि एक निश्चित तिथि तक, बातचीत द्वारा सशोधित माँगें (बदनाम पाँचवे समूह की माँगे छोड़ कर जिन पर कभी भविष्य मे विचार-विमर्श हो सकता था) स्वीकार कर ली जायँ। एक निश्चित समय के भीतर उत्तर की माँग और माँगे स्वीकार न होने पर बलप्रयोग की धमकी होने के कारण चीन ने अतिमेत्थम् की शर्तें मान ली और इस समझौते को कई सधियो व पत्र-व्यवहारो मे लिखित रूप दिया गया।

सन् १९१४ मे अमरीकी प्रतिनिधि से राष्ट्रपति युआन ने कहा था कि "इस युद्ध का लाभ उठा कर जापान चीन पर नियंत्रण करना चाहता है।"[१४] इन जापानी माँगों का विवरण प्राप्त कर उनकी विवेचना से यह निष्कर्ष स्पष्ट है कि जापानी नीति उसी दिशा में बढ़ रही थी, जिस ओर राष्ट्रपति युआन ने इंगित किया था। जैसा कहा गया है, माँगें थी—

जापान मचूरिया, शानतुंग व फूकिन के तीन केन्द्रो से अपने प्रभाव का उपयोग करेगा। मंचूरिया जापानी पूँजी व उपनिवेशीकरण के लिए पूरी तरह उसी का सुरक्षित क्षेत्र बन जायगा और ऋणो मे प्राथमिकता तथा परामर्शदाताओं की नियुक्ति द्वारा जापान इस क्षेत्र का प्रशासकीय नियत्रण करेगा। शानतुंग मे पहले जो हित-अधिकार जर्मनी के थे वे अब जापान के हो जायँगे और इन हित-अधिकारो का विस्तार होगा। फूकिन मे पूँजी लगाने व विकास-कार्य करने मे जापान को प्राथमिकता दी जायगी जिससे अन्य राष्ट्र वहाँ प्रवेश न कर सकें और अंततः वह क्षेत्र मचूरिया में आत्मसात् हो जायगा। जापान के प्रभाव के उत्तरी क्षेत्र का विस्तार करके भीतरी मगोलिया उसमे शामिल कर लिया जायगा। शानतुंग के प्रभाव क्षेत्र

का रेल मार्गों द्वारा शांसी व होनान प्रान्तो के भीतर विस्तार होगा। इसी प्रकार, रेलमार्गो सबधी रिआयते फूकिन के प्रभाव क्षेत्र को किआगसी, हुपेइ व क्वागतुग प्रान्तो तक बढा ले जायँगी। हानी एफ इग की लोहे व कोयले की खानो मे बधक व विशेष दरो पर कच्चा या ढलवाँ लोहा खरीदने की शर्तो के कारण मौजूद जापानी हितो को जापानी नियत्रण में बनी एक कपनी के रूप मे सगठित किया जायगा। इसके अतिरिक्त एक महत्त्वपूर्ण मॉग यह भी थी कि इस कपनी की खानो के आसपास की किसी खान का उपयोग जापान की पूर्व अनुमति के बिना किसी अन्य देश को नही दिया जायगा; और बिना इस अनुमति के कोई भी राष्ट्र उस क्षेत्र में कोई भी ऐसा काम करने की अनुमति पायेगा, जिससे प्रत्यक्ष या अप्रत्यक्ष रूप से कंपनी के हितो पर प्रभाव पड़े। इस आश्चर्यजनक मॉग के फलस्वरूप चीन की मध्य यांग्त्सी घाटी के औद्योगिक विकास की एकमात्र निर्णायक यह कपनी हो जाती।[१५]

यदि जापान की ये माँगें चीन स्वीकार कर लेता तो औपचारिक रूप से तो उसकी स्वतत्रता, सर्वोच्च सत्ता या क्षेत्रीय अविच्छिन्नता पर कोई प्रभाव नही पड़ता, किन्तु चीन इस प्रकार के नियत्रण या अधिकार-क्षेत्र मे आ जाता, जैसा कि आधुनिक साम्राज्यवाद चाहता है।

दूसरी ओर, व्यापक माँगो का पाँचवाँ समूह ऐसा था, जिससे अपने मामलो में ही चीन सरकार का नियत्रण बिलकुल छिन जाता। सैनिक, आर्थिक व राजनीतिक क्षेत्रो मे प्रभावकारी जापानी परामर्शदाताओ की नियुक्ति, महत्त्वपूर्ण स्थानो मे पुलिस का सयुक्त चीनी-जापानी-सगठन, युद्धसामग्री की कम-से-कम आधी, या उससे अधिक की जापान से खरीद, और, चीन व जापान, दोनो द्वारा सयुक्त रूप से सचालित शस्त्रागार, इन मॉगो में शामिल थे। बाद वाली माँगो से चीन के सैनिक-संगठन का प्रभावकारी नियत्रण जापान के हाथो मे चला जाता।[१६]

माँगो का यह पाँचवाँ समूह, शुरू मे बातचीत से हटा दिया गया था, पर अततः जो समझौता हुआ, उसमे यह शर्त रख दी गयी कि इन माँगो पर भविष्य में विचार-विमर्श होगा और इस प्रकार इन माँगो की तलवार खतरे की भाँति चीन के सिर पर बाद में भी मँडराती रही।

२५ मई, १९१५ को जो समझौता हुआ, उसके संक्षिप्त वर्णन से स्थिति स्पष्ट हो जायगी। उत्तर से लेकर दक्षिण तक चीन के भौगोलिक क्षेत्रो पर समझौते का जो प्रभाव पड़ता था, उसका विवरण ही यथेष्ट होगा।

## (६) सन् १९१५ की संधियाँ

दक्षिणी मंचूरिया व पूर्वी भीतरी मगोलिया से सबंधित संधि में व्यवस्था थी कि (१) डालनी व पोर्ट आर्थर तथा दक्षिणी मचूरिया व आनटुंग-मुकडेन रेल-मार्गों

के पट्टों की अवधि बढ़ाकर ९९ वर्ष कर दी जाय, (२) सधि-बन्दरगाहों के बाहर जापानी नागरिक दक्षिणी मचूरिया मे रह सके, यात्रा कर सके, उद्योग व व्यापार मे लग सके और पट्टे पर भूमि प्राप्त कर सके और उस पर खेती या व्यवसाय कर सके, (३) जो भी सयुक्त चीनी-जापानी औद्योगिक प्रयास किये जायें, उन्हे चीन-सरकार अपनी अनुमति दे दिया करे, (४) जापानी नागरिकों पर स्थानीय चीनी कानून लागू तो हो, किन्तु अपराधियो को दण्ड देने के सबध मे क्षेत्रातीतता का सिद्धान्त लागू हो, (५) पूर्वी भीतरी मगोलिया मे उपयुक्त स्थान विदेशियो के निवास व व्यापार के लिए खोले जायें, (६) किरिन-चागुचुन-रेलमार्ग के लिए ऋण-सबधी समझौते का जापानी हित में पुनरीक्षण किया जाय। पृथक् टिप्पणियो द्वारा ये रियायतें देना भी स्वीकार हुआ कि (१) जापान जिन क्षेत्रों मे बताये, वहाँ जापानी नागरिक खानें खोदने और उनका उपयोग करने में स्वतंत्र हो; (२) यदि चीन भविष्य में कभी मचूरिया में रेल-मार्गों के निर्माण के लिए विदेशी पूँजी प्राप्त करना चाहे, तो सबसे पहले वह यह पूँजी जापान से माँगे, और (३) यदि चीन कभी दक्षिणी मचूरिया मे विदेशी आर्थिक, सैनिक या पुलिस परामर्शदाताओ की नियुक्ति करना चाहे तो वे परामर्शदाता केवल जापानी ही हो।

शानतुग-सधि में व्यवस्था थी कि (१) "शानतुंग प्रान्त मे, सधियो द्वारा या अन्यथा, जर्मनी ने जो भी हित, अधिकार या रियायतें प्राप्त की थी, उनके संबंध मे जापान जर्मनी से जो भी समझौता करे, उसे चीन-सरकार अपनी पूर्ण स्वीकृति दे दे" (धारा १); (२) यदि जर्मनी चेफू-वीहसीन रेल-मार्ग मे पूँजी लगाने का अपना अधिकार छोड दे तो यह अधिकार जापानी पूँजीपतियो को दे दिया जाय; (३) इस प्रान्त मे विदेशियों के निवास तथा व्यापार के लिए चीन स्वयं नये स्थान खोले। जो टिप्पणियाँ दोनो पक्षो ने एक दूसरे को दी, उनमे चीन ने यह स्वीकार कर लिया कि इस प्रान्त या प्रान्त के समुद्र-तट से लगे द्वीपों का कोई भी क्षेत्र किसी भी बहाने से किसी भी विदेशी को नहीं देगा। दूसरी ओर जापान ने यह संकेत किया कि जर्मनी से मुक्त होने के बाद किआओचाओ खाड़ी के पट्टा-क्षेत्र को जापान चीन को इस शर्त पर वापस कर देगा कि चीन पूरी खाड़ी को व्यावसायिक कार्यों के लिए खोल दे, जापान जिस क्षेत्र को बताये वह जापान के पूर्ण नियंत्रण मे जापानी निवास-क्षेत्र के रूप में सुरक्षित कर दिया जाय, और यदि अन्य विदेशी चाहें तो उनके निवास के लिए एक अंतरराष्ट्रीय क्षेत्र बना दिया जाय।

हेनी 'एफ' इंग रेल-मार्ग के सबध में जापान की जो माँग थी, वह टिप्पणी के रूप में आयी। चीनी परराष्ट्रमंत्री ने लिखा—"मुझे यह लिखने का गौरव प्राप्त

हुआ है कि भविष्य मे यदि हेनी' एफ' इग कंपनी व जापानी पूँजीपति एक दूसरे से सहयोग करना चाहें तो उन दोनो के बीच के निकट सबधो को देखते हुए चीन सरकार इस प्रकार के सहयोग के लिए अपनी अनुमति प्रदान कर देगी। चीन सरकार यह भी स्वीकार करती है कि वह न तो इस कपनी की सपत्ति को छीनेगी, न जापानी पूँजीपतियो की अनुमति के बिना इस कपनी के काम को सार्वजनिक या सरकारी क्षेत्र मे लेगी और न जापानी छोड़ कर किसी अन्य विदेशी पूँजी का उपयोग करने के लिए ही कपनी को वाध्य करेगी।''

जहाँ तक फूकिन प्रान्त का सबंध था, चीन-सरकार ने औपचारिक रूप से घोषणा कर दी कि उसने इस प्रान्त के तट पर गोदीबाडा, सैनिक उपयोग के लिए कोयला भरने के स्थान या नौसैनिक-अड्डा बनाने का कोई अधिकार किसी विदेशी राष्ट्र को नही दिया है और न उसका कोई इरादा इस प्रकार के विकास के लिए ऋण लेने का ही है।

यह स्पष्ट है कि एशिया महाद्वीप मे जापान की दिलचस्पी केवल क्षेत्रीय न रहकर आर्थिक भी हो चुकी थी। अपनी नीति के समर्थन मे शुरू मे जापान कहता था कि उसे महाद्वीप पर अपने विस्तार की इसलिए आवश्यकता है कि वहाँ उपनिवेशीकरण द्वारा अपनी अतिरिक्त आबादी की समस्या हल कर सके। किन्तु, सन् १९१४ के बाद उसने उपनिवेशीकरण के लिए किसी क्षेत्र पर नियंत्रण की माँग नही की क्योकि, इस दिशा मे उसने जो भी प्रयोग किये थे, उनमें वह असफल हुआ था। कोरिया, फारमोसा या दक्षिणी मचूरिया मे जापानी किसान नही जापानी दूकानदार, रियायते माँगने वाले या विकास करने वाले ही दिखलाई पडते थे। जापान के उद्देश्य मे जो परिवर्तन हुआ, उसका आंशिक कारण यह असफलता भी थी। इसके साथ ही, जापान की आतरिक व्यवस्था में भी परिवर्तन आया था, जिसने राष्ट्रीय विकास की धारा ही बदल दी थी। युद्ध से जापानी उद्योग को बहुत बड़ी प्रेरणा व उद्दीपन मिला था। जिस तरह अमरीका मे युद्धसामग्री बनाने वाले उद्योगो का हर तरफ विकास हुआ था, उसी प्रकार जापान में शस्त्रास्त्र व उनसे सबंधित उद्योगो तथा यूरोप द्वारा अस्थायी रूप से खाली किये गये बाजारो में बेचने के लिए असैनिक माल के स्थापित उद्योगो का बडा व्यापक विस्तार हुआ तथा नये उद्योगो की तेजी से स्थापना हुई। इस औद्योगिक विकास से जापान को कोयला व लोहे जैसे आवश्यक माल के लिए विदेश निर्भरता का तीव्रता से आभास हुआ। फलतः जापानी राजमर्मज्ञ यह सोचने लगे कि इन आवश्यक सामग्रियो को प्राप्त करने के लिए युद्ध के इस अवसर का उपयोग करना चाहिए। इसके अतिरिक्त,

औद्योगिक विकास के फलस्वरूप जापान मे पूँजीपति-वर्ग बन रहा था, जो रूस से युद्ध के बाद पनपा था और विश्वयुद्ध के समय सर्वशक्तिशाली हो चुका था। डायट का समर्थन प्राप्त करने के लिए तथा अपनी काररवाईयो मे डायट के हस्तक्षेप को रोकने के लिए बड़े उद्योगपतियों व व्यवसायियों ने कुछ राजनीतिक-दलो के नेताओ से गहरी मित्रता कर रखी थी। सन् १९१३ में राजनीतिक-दल की स्थापना कर उसके नेतृत्व के कत्सूरा के विफल प्रयास के बाद, सन् १९१४ में, यामामोटो के मंत्रिमंडल के पतन के बाद, डायट में राजनीतिक दलो के समर्थन से ओकूमा ने मंत्रिमण्डल बनाया था। इसी मत्रिमंण्डल ने, जिसे जापान के इतिहास में राजनीतिक-दल पर आधारित पहला दलीय मत्रिमडल होने का गौरव मिला था, औद्योगिक पूँजीपतियों के हित मे चीन के समक्ष २१ माँगे प्रस्तुत की थी। इससे इन माँगों का मूलतः आर्थिक रूप स्पष्ट था।

इन माँगों का चीन मे यह प्रभाव पडा कि सभी दल व गुट राष्ट्रपति के समर्थन में खड़े हो गये। यद्यपि चीन के पास सफल प्रतिरोध के साधनो का अभाव था, अनेक बड़े समुदायों ने माँग की कि चाहे युद्ध ही क्यो न लड़ना पड़ जाय, इन माँगो का विरोध होना चाहिए। राष्ट्रीय तैयारी के लिए राष्ट्र-मुक्ति-कोष की स्थापना की गयी, जिसमे धनी, निर्धन, सभी वर्गो और व्यक्तियो ने चन्दे दिये। राष्ट्रपति जिस सीमा तक जापानी दबाव का सामना कर सकते थे और जिस सीमा तक परिस्थिति सुधार सकते थे, वह निस्सन्देह उस सीमा तक गये। किन्तु वह उस सीमा तक जाने की हिम्मत नहीं कर सकते थे, जहाँ युद्ध छिड़ जाने की आशंका हो जाय। अपनी सरकार के समर्थन में हुई तात्कालिक प्रतिक्रिया और जनभावना की अभिव्यक्ति से वह बहुत उत्साहित हुए, और जैसा कि कहा जा चुका है,[१७] काफी हद तक राजतंत्र की पुनस्संस्थापना के पक्ष में आंदोलन खड़ा करने का यही कारण भी था। इस प्रकार, अप्रत्यक्षत: चीन की आंतरिक परिस्थिति पर इन माँगों का काफी प्रभाव पड़ा था।

इन माँगों को स्वीकार करने के उपरान्त उनसे पीछे हटने का कोई उपाय युआन-सरकार के पास नहीं था। किन्तु राष्ट्रपति को हटाने के बाद और पीकिंग में विधान सभा के फिर से संगठित होने के बाद, केन्द्रीय सरकार ने यह दृष्टिकोण अपनाया कि जापान से हुए समझौते अवैध हैं, क्योकि, एक तो, वे दबाव में आकर किये गये हैं और दूसरे, उनका संसद् द्वारा अनुसमर्थन नहीं हुआ है; यह दृष्टिकोण केवल उसी समय अपनाया गया जब केन्द्रीय सरकार जापान के दबाव में नहीं थी, जैसा कि आनफू-शासन के समय था। चीन के युद्ध में प्रवेश के अध्ययन के समय,

अगले अध्याय मे, इस सबंध मे विस्तार से विचार होगा और तभी जापान के वढाव का विवेचन भी होगा, यहाँ केवल यह वताना आवश्यक है कि जापान ने चीन मे जो प्रभाव बढ़ा लिया था और अपनी स्थिति मजबूत कर ली थी, वह वही पर रुका नही, वरन् अवसर प्राप्त होते ही, उन माँगो को मनवाने का भी प्रयास करता रहा जो सन् १९१५ के समझौते मे शामिल नही थी। मंचूरिया मे चीनियो व जापानियो के बीच लगातार झगड़े चलते रहे और हर झगड़े का उपयोग जापान ने अपने हितो के विस्तार के लिए किया। इन झगड़ो मे अनेक बार दोष जापान का ही था, पर इससे जापान के नये दावे करने मे कोई बाधा नही पडी। इन घटनाओ मे सबसे कुख्यात चेगचियाटुन की घटना थी, जिसमे एक जापानी सैनिक ने एक चीनी दुकानदार से माल ले लिया और कीमत चुकाने से इनकार कर दिया, दोनो ओर के सैनिक इस झगड़े मे शामिल हुए, किन्तु इस अवसर का भी लाभ उठाकर जापान ने चीन के समक्ष नये दावे पेश कर दिये और नयी रिआयते प्राप्त भी कर ली।

ऊपर कहा जा चुका है कि जापान ने युआन शिह्-का’ई को संकेत किया था कि यदि उन्होने जापान की माँगें स्वीकार नही की तो उपद्रव खडा होगा। जापान को तमाम रिआयते दिये जाने के बाद भी यह उपद्रव हुआ ही, यद्यपि यह उपद्रव तब तक नही उभाडा गया जब तक युआन ने सम्राट् बन बैठने का उपक्रम नही किया। चीन मे राजतंत्र की पुनस्संस्थापना के प्रयास का विरोध सक्रिय होने के पहले ही, जापान अन्य राष्ट्रों का अगुआ बनकर आशका प्रकट करने लगा था कि इस प्रयास का जो विरोध चीन मे होगा, उसे दबाने मे चीन सरकार समर्थ नहीं होगी। जब युआन ने उत्तर दिया कि चीन राष्ट्र पुनस्संस्थापना के पक्ष में है और किसी उपद्रव की आशका नही है, जापानी प्रतिनिधि ने कहा था कि उसकी सूचना के अनुसार युआन को परिस्थिति का ठीक ज्ञान नही है। जैसा कि बाद में प्रकट हुआ, युआन गलत साबित हुए और जापानी प्रतिनिधि सही। जापानी प्रतिनिधि की सूचना सही साबित करने में स्वय जापान का भी हाथ था, क्योकि उपयुक्त समय पर, सन् १९१३ से जापान में शरण पाये चीनी क्रातिकारी वहाँ से रवाना होकर दक्षिणी पश्चिमी चीन जा पहुँच और वहाँ विद्रोह का झण्डा फहरा दिया। इन क्रातिकारियो को जापानी सूत्रो से आर्थिक सहायता मिली थी और उनके पास जापान से आये शस्त्रास्त्र थे। और बीच मे वाशिंगटन-सम्मेलन के समय कुछ अवधि छोड़कर तभी से (यदि जापानी दावो के अनुसार और पहले से नही तो) जापान लगातार चीन सरकार के विरोधी तत्वो की सहायता करता

रहा; उसे आशा थी कि चीन की उपद्रवग्रस्त स्थिति का लाभ उठाकर वह और भी अधिक लाभ प्राप्त कर सकेगा।

## (७) सन् १९१७ की गुप्त संधियाँ

जब अन्य राष्ट्र यूरोप मे युद्धरत थे, तब चोन पर दबाव डालकर अधिकाधिक अधिकार प्राप्त कर लेना ही जापान के लिए काफी नही था; उसे अपनी नयी स्थिति को सगठित और सुरक्षित करने के लिए सुदूरपूर्व मे दिलचस्पी रखने वाले राष्ट्रो से समझौते भी करने थे। इन राष्ट्रो मे केवल अमरीका ही इस स्थिति मे था कि सन् १९१५ की संधियो से उसके चीन के साथ हुई संधियो द्वारा प्रदत्त अधिकारो पर जहाँ आँच आती थी, उनका प्रभावकारी विरोध कर सके। किन्तु उसने औपचारिक रूप से अपना दृष्टिकोण पेश करते हुए एक राजनयिक वक्तव्य देने के अतिरिक्त, सक्रिय विरोध के लिए और कोई कदम नही उठाया। चीन सरकार को दिये गये इस वक्तव्य मे अमरीका ने कहा कि वह "चीन व जापान की सरकारों के बीच हुए या होने वाले किसी ऐसे समझौते या उपक्रम को मान्यता नही दे सकता, जो अमरीका व अमरीकी नागरिको के चीन मे सधि अधिकारों को क्षीण करते हो या चीन-सबधी अतरराष्ट्रीय नीति का, जिसे उन्मुक्त द्वार-नीति के नाम से जाना जाता है, उल्लघन करते हो।"

यूरोप में युद्ध की प्रगति मे जर्मनी को सफलताएँ मिली तो समहित राष्ट्रो को सगठित रहने की और भी आवश्यकता पड़ने लगी। सन् १९१६ मे अपने मित्र-राष्ट्र के उद्देश्य मे जापान की निष्ठा डिगने लगी। आंग्ल-जापानी मैत्री-सधि को कायम रखने के विरुद्ध जापानी पत्रों मे कड़ी आलोचना की बाढ़ आ गयी; समाचार-पत्रो के अनुसार यह मैत्री एकतरफा और इसलिए अनुचित थी। इसके अतिरिक्त, जर्मनी प्रत्यक्ष अजेयता की ओर इगित करते हुए इन पत्रों ने खुला सकेत किया कि ब्रिटेन की जगह जर्मनी से मैत्री-सधि कर लेना अधिक वाछनीय होगा। असतोष का बीज अच्छी तरह अंकुरित कर लेने के बाद जापान सरकार ने मित्र राष्ट्रों से अपने मित्र बने रहने की कीमत माँगनी शुरू की। ब्रिटेन ने यह कीमत यह आश्वासन देकर चुकायी कि जब शाति-समझौता होगा, तब वह शानतुग प्रान्त व विषुवत् रेखा के प्रशान्त महासागर-स्थित जर्मनी के अधिकार वाले द्वीपो में जर्मनी के अधिकार को जापान को सौप देने की माँग का समर्थन करेगा। दूसरी तरफ, जापान ने यह वादा किया कि वह विषुवत् रेखा के दक्षिण के टापुओं के लिए ब्रिटेन के दावे का समर्थन करेगा। इसी समय फ्रास ने इस शर्त पर जापानी दावे का समर्थन करने का आश्वासन दिया कि जापान चीन को मित्र राष्ट्रो की

ओर से युद्ध मे उतरने को प्रोत्साहित करेगा। इटली ने भी ऐसा ही समझोता कर लिया। ये सभी समझौते सन् १९१७ मे, अमरीका के विश्वयुद्ध मे प्रवेश करने के पहले हो गये थे और इन्हे शाति-सम्मेलन शुरू होने तक गुप्त रखा गया था।

ये समझौते इसलिए और भी आवश्यक हो गये थे कि मार्च, १९१७, मे रूस मे क्रांति हो गयी थी और जापान ने पहले अपनी स्थिति सुदृढ करने के लिए रूस की जार सरकार से समझौता करने की कोशिश की थी। यह समझौता सन् १९१६ के ग्रीष्म मे हो गया था, जब ऊपर से, विज्ञापित रूप से दोनो देश सुदूरपूर्व मे शांति कायम रखने के उद्देश्य से प्रगाढ मैत्री मे आबद्ध हुए थे किन्तु, गुप्त उपसधियों द्वारा पूर्वी-एशिया मे अपने-अपने हितो की हल्केबन्दी करने तथा किसी भी बाहरी हमले के समय इन हितों की रक्षा के लिए सहयोग करने का निर्णय हुआ था। हितो के इस परिसीमन मे रूस ने सन् १९१५ के चीन-जापान समझौते के फल-स्वरूप यथास्थिति मे हुए परिवर्तनो को स्वीकार किया और मैत्रीसधि द्वारा इन परिवर्तनो को अक्षुण्ण रखने की आवश्यकता स्वीकार की, उधर जापान ने सन् १९१२ से १९१५ के बीच बाहरी मगोलिया मे रूसी प्रभाव के विस्तार को तथ्य रूप मे स्वीकार कर लिया। मनोरजक बात यह थी कि, जानबूझ कर ऐसा रहा हो या अनजाने ही, जापान ने रूस से हुई मैत्री की अवधि अग्रेजो से हुई मैत्री की अवधि से एक दिन अधिक रखी थी।

## (८) लैनसिंग–इशी समझौता

इन संधियों के बाद केवल अमरीका ही ऐसा बचा था, जिसने महाद्वीप पर जापान के प्रभुत्व को मान्यता नही दी थी। जब युद्ध का दबाव अमरीका में महसूस होने लगा तब यह मान्यता मिलने मे देर नही लगी। नवम्बर, १९१७ मे अमरीका व जापान के बीच के मनमुटाव या शत्रु-भावना की अफवाहो का खण्डन करने की दृष्टि से (अमरीकी परराष्ट्र मत्री ने इन अफवाहो को जर्मनी के प्रचार का परि-णाम बताया था, जो कि सही नही था), अमरीका व जापान के बीच हित व नीति का पूर्ण साम्य प्रकट करने के लिए पत्र-व्यवहार हुआ, जो बाद मे लैनसिग–इशी समझौते के नाम से जाना गया। इस टिप्पणी के आदान-प्रदान के फलस्वरूप अम-रीका ने स्वीकार किया कि भौगोलिक नैकट्य के कारण चीन मे जापान के विशिष्ट हित निहित हैं। इन विशेष हितों की सूची बना कर उनका विशद वर्णन करने का कोई प्रयत्न नहीं किया गया और फलत., चीन व जापान दोनो ने यह समझा कि सन् १९१४ के बाद हुए बढ़ाव और सन् १९१७ की स्थिति तक की मान्यता इस समझौते में है। यह सही है कि इन टिप्पणियो में दोनो देशों की चीन की

क्षेत्रीय अविच्छिन्नता तथा उन्मुक्त द्वार-नीतियो मे निष्ठा की पुष्टि की गयी थी। बाद में प्रकट हुआ कि इन विशिष्ट हितो की मान्यता का जापान ने एक अर्थ लगाया था और अमरीका ने दूसरा। व्याख्या का यह भेद जापान-सरकार की दृष्टि से ओझल नही था किन्तु, जैसा कि उसने टोकियो-स्थित रूसी राजदूत से कहा, यह बात जापान के हितो के प्रतिकूल नही समझी गयी, क्योकि जापान समझता था कि उपयुक्त समय आने पर वह अपनी व्याख्या और अपने अर्थ अमरीका से मनवा लेगा। किन्तु एक गुप्त संलेख मे लैनसिंग ने जापान को सीमित रखने की दृष्टि से उसे इस बात पर राजी करने का प्रयत्न किया कि "वह.......चीन में ऐसे विशेष अधिकार व सुविधाएँ प्राप्त करने के लिए वर्तमान परिस्थिति का फायदा उठाने का प्रयत्न न करेगा जिनसे अन्य मित्र राष्ट्रो के नागरिकों या प्रजा के अधिकार सीमित हो।"[१८]

इस प्रकार, जापान ने चीन के समक्ष अपनी माँगें पेश कर, चीन के आतरिक राजनीतिक सघर्ष में हस्तक्षेप की धमकी देकर और बाद मे हस्तक्षेप करके भी उस देश पर अपना प्रभुत्व जमा लिया। फिर रूस, ब्रिटेन, फ्रास, इटली व अमरीका से मुख्यत. युद्ध की आवश्यकताओं के फलस्वरूप अलग-अलग समझौते करके, जापान ने बाहरी दुनियाँ के अपनी सर्वोच्च सत्ता पर हो सकने वाले हमलों से अपने आपको सुरक्षित कर लिया।

## सत्रहवाँ अध्याय

# चीन और प्रथम विश्वयुद्ध

## (१) तटस्थता के परिणाम

अगस्त, १९१७, मे चीन ने भी जर्मनी के विरुद्ध युद्ध की घोषणा कर दी और मित्रराष्ट्रो के पक्ष मे युद्धरत हो गया। सन् १९१४ से सन् १९१७ तक चीन अपनी क्षमता के अनुसार ईमानदारी से तटस्थता की अपनी घोषित नीति पर डटा रहा था; इसका अर्थ यह था कि अपने देश को झगड़ो से बचाने की निषेधी नीति का ही वह पालन करता रहा। इसी नकारात्मक नीति के फलस्वरूप जापान शानतुग प्रान्त मे आकर जम गया था, और चीनी साम्राज्य के अन्य क्षेत्रों में उसने अपने हित व दिलचस्पियाँ बढा ली थीं।

यह निर्विवाद है कि चीन के लिए ऐसे युद्ध में तटस्थता बरतने की नीति ही उपयुक्त थी, जिससे उस पर कोई प्रभाव नही पडता था। किन्तु, यह संभव था कि युद्ध के शुरू मे ही वह मित्रराष्ट्रो के पक्ष मे युद्ध मे शामिल हो जाता—इसलिए नही कि उसकी जर्मनी से शत्रुता थी, बल्कि इसलिए कि उसे जापान से भय था। युआन शिह-का' ई ने सन् १९१४ में ही अपनी इच्छा व्यक्त की थी कि त्सिंगताओ पर कब्जा कर लिया जाय, ताकि चीन उस स्थिति से बच सके जो बाद में आयी ही, अर्थात् जापान का उस क्षेत्र पर अधिकार हो गया। पर तब न केवल चीन को इस युद्ध में शामिल होने से ही निरुत्साहित किया गया, बल्कि जापान ने उसे स्पष्ट रूप से ऐसा करने से रोक दिया। तब और बाद मे भी यूरोप मे युद्ध में व्यस्त होने के कारण अन्य राष्ट्र जापान का ही अनुसरण करते थे। बाद में फिर एक बार राष्ट्रपति युआन ने तटस्थता छोड़ कर मित्रराष्ट्रो की ओर से युद्ध मे शामिल होने की इच्छा व्यक्त की, पर इस बार भी उन्हे कोई उत्साहवर्धक उत्तर नही मिला।

यह कहा जा सकता है कि यदि चीन समझता था कि युद्ध मे शामिल होने मे उसका कोई लाभ था तो स्वयं अपने उत्तरदायित्व पर युद्ध मे शामिल हो जाना चाहिए था। पर स्मरण रखने की बात यह है कि विदेशी राष्ट्रो ने अब तक उसे यही सिखाया था कि परराष्ट्र विषयो मे उसे कोई पहल नहीं करनी चाहिए, क्योकि जब भी उसने अपने उत्तरदायित्व पर कोई कदम उठाया, उसे कष्ट और झंझट ही झेलने पड़े थे। युद्ध के प्रति चीनी दृष्टिकोण समझने के लिए एक बात ध्यान में रखने

की यह भी है कि उसका कोष खाली था और विदेशी सहायता से ही उसका काम चल रहा था। अंतरराष्ट्रीय बैंक-समूह से अमरीका के हट जाने के बाद और सरकारी आवश्यकताओ की पूर्ति के लिए अमरीकी आर्थिक सहायता की बाद की अविश्वसनीयता के कारण चीन के पुनस्सगठन के लिए आवश्यक धन जापान से ही आ रहा था। सन् १९१४ के बाद इस बैंक-समूह में से केवल जापान से ही धन आ रहा था और वह भी योकोहामा सोना-चाँदी-बैंक के द्वारा। पुनस्संगठन के लिए इस प्रकार विदेशी सहायता पर निर्भर होने के कारण पीकिंग का यह दृष्टिकोण समझ मे आ जाता है कि वह ऐसा कोई कदम नही उठाना चाहता था, जिसका विदेशी राष्ट्रों से समर्थन प्राप्त न हो।

## (२) तटस्थता समाप्त करने के लिए आंदोलन

किन्तु, सन् १९१७ तक एक बिलकुल भिन्न परिस्थिति उत्पन्न हो चुकी थी। इस वर्ष के शुरू मे ही अमरीका में चीन के सबध मे एक नये नेतृत्व का उदय हुआ और जब तक यह नेतृत्व चला चीन को लाभ हुआ। सन् १९१७ में अमरीकी नेतृत्व मे चीन को युद्ध मे उतारने का जो आदोलन हुआ था, उसका सक्षिप्त विवरण दिया जा चुका है। फरवरी मे अमरीका ने सभी तटस्थ राष्ट्रो से अनुरोध किया कि वे उसके साथ मिलकर जापान के पनडुब्बी-युद्ध के विस्तार का इस आधार पर विरोध करें कि इससे अंतरराष्ट्रीय कानून के मान्य सिद्धान्तों का हनन होता है और यह मानवता के विरुद्ध अपराध है। पीकिंग स्थित अमरीकी प्रतिनिधि ने चीन को सुझाव दिया कि इस अवसर का लाभ उठाकर उसे अमरीका की रक्षा के अंतर्गत एक अधिक फलदायक व ठोस नीति बरतनी चाहिए। चीन को बताया गया कि शांतिसम्मेलन में शामिल होने और सुदूरपूर्व के उन प्रश्नों के हल करने के संबंध में अपना मत देने का केवल यही एक उपाय है, जिनमे उसकी गहरी दिलचस्पी है। सभवत:, यह पूरी तरह समझे बिना ही कि इस तरह के विरोध-पत्र उस शृंखला की पहली कड़ी ही है जो अतत: उसे युद्ध में भी धकेल सकते हैं, चीन ने जर्मन सरकार को एक संयत पत्र भेजा, जिसमें अंतरराष्ट्रीय कानून व मानवता के नाम पर अबाध रूप से पनडुब्बी युद्ध चालू रखने का विरोध किया गया था। जब इस पत्र का कोई संतोषजनक उत्तर नहीं मिला, चीन के समक्ष जर्मनी व उसके गुट के देशो से राजनयिक संबध विच्छेद करने का प्रश्न आया। यदि चीन-सरकार अपने इस विरोध-पत्र के उत्तर के अभाव में कोई और कदम न उठाती तो विदेशों तथा स्वयं चीनी जनता में उसकी साख गिरती और उसका अपमान होता; और कोई अन्य कारण न भी होता, तो भी कोई कदम उठाने के लिए यही कारण बहुत काफी था।

जब जर्मनी से राजनयिक संबध-विच्छेद करने का प्रश्न उठा चीन में तेजी से इस बात की समझ आयी कि इससे युद्ध मे पड़ना अनिवार्य हो सकता है। अतएव, वे लोग भी जिन्होने विरोध-पत्र भेजने का समर्थन किया था, अब राजनयिक संबध-विच्छेद करने मे हिचकिचाने लगे। प्रधान मत्री तुआन ची-जुई इस पक्ष मे थे कि सबध विच्छेद कर लिया जाय, क्योकि सबसे अधिक अपमान होने की आशंका उन्ही को थी। किन्तु राष्ट्रपति इस कदम की आवश्यकता तथा विवेक के प्रति सशयालु थे और सविधान के अनुसार यह एक ऐसा प्रश्न था जिस पर अंतिम निर्णय राष्ट्रपति या मत्रिमडल ही कर सकते थे। इस प्रश्न पर निर्णय के पहले ही तुआन ने प्रधान मंत्री के पद से इस्तीफा दे दिया और वह अपने घर टीटसीन मे वापस लौट गये। इससे राष्ट्रपति ली उद्विग्न हो उठे, क्योकि वह समझते थे कि किसी भी अन्य व्यक्ति के नेतृत्व मे मत्रिमडल का गठन करना असंभव होगा। अतत, तुआन को प्रधान मत्री की हैसियत से वापस पीकिंग लाने के लिए राष्ट्रपति ने युद्ध के सबध मे उन्ही की बात मान ली। जब जर्मनी से सबध-विच्छेद का प्रश्न ससद् के समक्ष पेश हुआ तो दोनो सदनो के बड़े बहुमत ने प्रधान मत्री का समर्थन किया।

अमरीका के नेतृत्व मे जिन तटस्थ राष्ट्रो ने जर्मनी को विरोध-पत्र भेजा था, उनके राजनयिक सबंध-विच्छेद कर लेने से जर्मनी की नीति मे कोई अंतर नही आया। अतएव चीन के सामने तीसरा कदम उठाने, अर्थात् युद्ध की घोषणा करने का प्रश्न आया। यह कदम उठाने की तैयारी मे प्रधान-मंत्री ने चीन के युद्धरत होने की सीमा तथा इससे मिल सकने वाले ठोस लाभो के संबंध मे अन्य राष्ट्रो से बातचीत शुरू की। अमरीका और मित्रराष्ट्रो द्वारा चीन के युद्ध मे शामिल होने की उत्कट इच्छा के अनुरूप जर्मनी के विरुद्ध युद्ध की घोषणा करने के बदले में तुआन ने माँग की कि मुक्का-आदोलन की क्षतिपूर्ति का जर्मनी व आस्ट्रिया को जाने वाला भाग समाप्त कर दिया जाय, मित्र राष्ट्रो को इस क्षतिपूर्ति के मूल ब्याज की जो किस्ते जा रही है, उन्हे निलबित कर दिया जाय, मुक्का-उपसधि के अनुरूप जो विदेशी सेनाएँ चीन मे स्थित है वे हटा ली जायँ, और परंपरागत सीमा-शुल्क की दरें बढ़ा दी जायँ। इसके बदले में चीन कच्चा माल, श्रमिक व खाद्यान्न देने को प्रस्तुत था। मित्रराष्ट्रो के प्रतिनिधियो ने तुआन को अपनी-अपनी सरकारों की ओर से कोई आश्वासन नही दिया और कहा कि चीन युद्ध मे अभी शामिल हो जाय और माँगों के संबंध में बातचीत बाद मे करे; किन्तु उन्होंने चीन से यह अवश्य कहा कि यदि वह मित्रराष्ट्रो की ओर से लड़ा और उनके साथ रहा तो उसके साथ अच्छा व्यवहार ही किया जायगा।

अनेक चीनी नेताओ का भी यही मत था कि विदेशी प्रतिनिधियो के रुख या प्रतिक्रिया से प्रभावित हुए बिना चीन को स्वतत्र रूप से अपनी नीति निर्धारित करनी चाहिए और इस प्रकार अनेक वर्षों के बाद पहली बार वैदेशिक मामलो मे स्वय अपने पैरो पर खडा होना चाहिए। ऐसा करने से चीन सरकार अपनी उन विगत परपराओ से भी सबध तोड़ लेगी जिनसे अब तक हानि ही हुई थी। इसके अतिरिक्त युद्ध की घोषणा से मित्रराष्ट्रो मे चीन के प्रति मित्रता का भाव ही बढेगा और चीन के प्रति अमरीका की मैत्री ही बढ़ेगी क्योकि, चीन अमरीका की सलाह पर ही यह कदम उठायगा। प्रसिद्ध विद्वान, लिआग ची'चा'ओ ने अपना मत व्यक्त करते हुए लिखा—"... ...जब भी कोई नीति लागू की जाय हमें उसकी तर्कसगत सीमा तक उसे निबाहना चाहिए। यदि हम बीच मे ही ढुलमुल होकर हिचकिचाने लगे और आगे बढने से डरने लगे, हमारी स्थिति शीघ्र ही गलत हो जायगी। इसलिए सरकार व ससद् को हिम्मत के साथ निर्णय लेकर अगला कदम उठाना चाहिए।"[१]

किन्तु इस प्रकार मित्र बनाने से शत्रु भी बनते है। चीन को इस बात का अनुभव कई प्रकार से हुआ। सरकार को बताया गया कि जर्मनी अबतक अजेय सिद्ध हुआ है और उससे शत्रुता करना चीन के लिए भारी गलती होगी। बेहतर नीति यही होगी कि सारे ससार से ही अर्ध-मैत्री का संबंध कायम रखा जाय जैसा कि पहले किया जाता था।

जर्मनी का यह भय एक अन्य प्रसिद्ध विद्वान् तथा शुरू के सुधार-आंदोलन के नेता, का'ग यू-वी के एक लेख में किये गये उद्बोधन से भी प्रकट होता है। उन्होने लिखा था—

"युद्ध मे कौन पक्ष जीतेगा ? इस सबंध में भविष्यवाणी करने का प्रयास मैं यहाँ नही करूँगा, किन्तु यह तो असंदिग्ध ही है कि यूरोप के सभी शस्त्रास्त्र तथा अमरीका व जापान की औद्योगिक व आर्थिक शक्ति मिल कर जर्मनी के विरुद्ध विशेष सफल नहीं हो सकी है। दूसरी ओर, फ्रांस के उत्तरी प्रान्त उसके हाथ से निकल चुके है और बेल्जियम, सर्विया व रूमानिया का नाम ही नक्शे से मिट चुका है। यदि जर्मनी विजयी हुआ तो सारा यूरोप—निर्बल चीन का तो कोई उल्लेख ही नही है—समाप्ति के सकट में फँस जायगा। यदि वह हारा, शांति सधि होने के बाद भी, जर्मनी एक नौसैनिक बेड़ा हमारे विरुद्ध रवाना कर देगा। और चूँकि अन्य राष्ट्र एक दूसरे विश्वयुद्ध की आशका के कारण डरे हुए रहेगे, हमारी सहायता को कौन आयगा ? क्या कोरिया का उदाहरण हमारे सामने नहीं है ? सत्य के लिए लड़ने

वाली ऐसी किसी सेना का अस्तित्व नही है, जो निर्बल राष्ट्रो की सहायता के लिए आ खड़ी हो । मै जर्मनी की क्रुद्ध तोपो के चीन के तटो पर गर्जन की कल्पना भी नही करना चाहता !"[२]

युद्धरत राष्ट्रो की काररवाईयो और नीतियो की दृष्टि से युद्ध-विरोधी लोग यह कह सकते थे कि सन् १८९८ के त्सिंगताओ पर अधिकार कर लेने की प्राचीन घटना के अतिरिक्त जर्मनी से शत्रुता मोल लेने का कोई भी कारण चीन के पास नही है । दूसरी ओर, सन् १९१४ से जापान से लगातार झगड़ा और विवाद चलता रहा है और फ्रास से भी, अपेक्षतया कम महत्त्वपूर्ण किन्तु उल्लेखनीय विवाद और सघर्ष हो चुका है, जब उसने चीन की इच्छा के विरुद्ध (लाओहसीकाई घटना) टीटसीन मे अपनी बस्ती की सीमा बढाने का प्रयास किया था । तिब्बत और मंगोलिया के प्रश्नो पर ब्रिटेन व रूस से हुए मनमुटाव और झगड़े का कोई उल्लेख न भी किया जाता तो भी मित्रराष्ट्रो ने जर्मनी की तुलना मे अतरराष्ट्रीय व्यवहार का कोई ऊँचा मान तो स्थापित किया नही था ।

दूसरी ओर, अमरीका के वक्तव्यों की ईमानदारी पर लोगो को भरोसा था और इससे वे यह आश्वासन प्राप्त करते थे कि यदि चीन युद्ध मे उतर आया तो वह चीन की रक्षा उसके मित्रो व शत्रुओ दोनों से ही करेगा और यह भी स्वीकार करना होगा कि छोटे राष्ट्रो के अधिकारो तथा एक अधिक आदर्श अंतरराष्ट्रीय व्यवस्था कायम करके युद्धो को समाप्त करने के लिए विश्व-युद्ध लड़ने के अमरीकी वक्तव्य चीनी विद्वानो को अधिक प्रभावित करते थे । किन्तु युद्ध के विरोध मे दिये गये तर्कों को काटने के लिए और अधिक महत्त्व की बात यह थी कि, जहाँ तक परराष्ट्र सबंधो का प्रश्न था, जर्मनी चीन को आर्थिक या अन्य किसी प्रकार की सहायता देने की स्थिति मे नही था, जबकि अमरीका व मित्रराष्ट्र इस प्रकार की सहायताएँ तत्काल ही दे सकते थे ।

साथ ही, युद्ध से अलग रहने के कुछ आंतरिक कारण भी थे । अनेक चीनियो का विचार था कि अपनी बड़ी व तात्कालिक समस्याओं को हल करना शुरू किये बिना ही चीन का एक विदेशी युद्ध मे फँस जाना गलत होगा । चीनी राष्ट्र को कायम रखने के लिए एक सशक्त वैदेशिक नीति की नही, आतरिक पुनस्संगठन तथा शक्ति-सचय आवश्यक था । युद्ध के सबंध मे सोचते समय सेनाओ की बात सामने आ ही जाती है और अनेक चीनी सेनाओं की बात सोचते समय इसी नतीजे पर पहुँचते थे कि युद्ध-घोषणा से चीन मे सैनिक दल की शक्ति बढ़ेगी और इससे सच्चे प्रतिनिधित्वपूर्ण शासन की स्थापना अनिश्चित काल के लिए टल जायगी ।

और हुआ भी यही, यद्यपि यह युद्ध मे भाग लेने के प्रत्यक्ष परिणाम के रूप मे नही हुआ। प्रधान मंत्री द्वारा टूचुनो का सम्मेलन बुलाने तथा उसके बाद की घटनाओ का उल्लेख ऊपर हो चुका है, जैसे कि मचू-राजतत्र की पुनस्सस्थापना का प्रयास तथा पीकिंग पर सेनावादियो के नियत्रण का प्रयास। युद्ध की घोषणा से पहले ही विदेशी राष्ट्रो से सुविधाएँ प्राप्त कर सकने मे प्रधान मत्री की असफलता के कारण ही ये घटनाएँ घटी, क्योकि प्रधान मत्री ने ससद् को बताया था कि वह समझौते की बातचीत चला रहे है और उन्हे विश्वास है कि चीन की तटस्थता समाप्त करने से उसे जो ठोस सुविधाएँ व लाभ प्राप्त होगे, वे शीघ्र ही सामने आ जायँगे। जब बातचीत का सिलसिला लम्बा खिचा लोगो की युद्ध के प्रश्न मे दिलचस्पी खत्म होने लगी। जनता का ध्यान उसकी असतोषजनक परिस्थितियो से हटाने के लिए और ससद् व उसके बाहर की स्थिति पर नियत्रण कायम रखने के लिए टूचुनो का सम्मेलन बुलाया गया। उसके बाद युद्ध का प्रश्न गौण हो गया और उसकी जगह सेनावादियो से परामर्श के राजनीतिक प्रभाव की चीनियो के लिए दिलचस्प समस्या ने ले ली।

सन् १९१७ के शरद मे, जब स्थिति फिर से सामान्य होने लगी और तुआन ची-जुई फिर प्रधान मत्री हो गये और राष्ट्रपति पद पर फेग कुओ-चाग आसीन हुए, युद्ध का प्रश्न फिर से उठाया गया। १४ अगस्त, १९१७ को युद्ध की घोषणा कर दी गयी। नये शासन के लिए विदेशी राष्ट्रो की सहायता प्राप्त करने के लिए तुआन को अपनी ईमानदारी का परिचय देना था और इस शासन के लिए आर्थिक सहायता प्राप्त करने के लिए विदेशियो के समक्ष अनुकूल स्थिति पैदा करनी थी, इसीलिए यह कदम उठाया गया।

## (३) युद्ध-घोषणा के तात्कालिक परिणाम

इस काररवाई से चीन व मित्रराष्ट्रो दोनो के लिए वाछनीय परिणाम हुए। चीन के लिए, एक तो कुछ बातचीत के बाद, सीमा-शुल्क के पुनरीक्षण से काफी सुविधा मिल गयी—शुल्क वास्तविक ढाई से प्रभावकारी पाँच प्रतिशत कर दिया गया और इस प्रकार सन् १९०१ की दरो की तुलना मे आयात-निर्यात के मूल्याकन मे नयी दरे सात प्रतिशत अधिक हो गयी। वास्तविकता तो यह है कि राष्ट्रो ने चीन को यह कोई सुविधा नही दी थी प्रारम्भिक न्याय ही दिया था। मुक्का-आदोलन के बाद की उपसधि के समय से ही चीन को यह पाँच प्रतिशत शुल्क मिलना था, किन्तु वह सन् १९०१ के बाद सधियो के पुनरीक्षण कराने में सफल नहीं हुआ था, ताकि उसे राष्ट्रों द्वारा स्वीकृत सीमाशुल्क की आय प्रतिशत के रूप मे प्राप्त हो

सकती; और मूल्य बढ ही रहे थे। दूसरे, मार्च मे जर्मनी व उसके मित्रो से राजनयिक सबधविच्छेद कर देने और अब युद्ध की घोषणा कर देने से चीन को टीटसीन जैसे संधि बदरगाहो में आस्ट्रिया व जर्मनी की उन निवास-बस्तियो का नियत्रण प्राप्त हो गया था, जहाँ इन दोनो देशो ने अनन्य अधिकार प्राप्त कर रखे थे। युद्ध समाप्ति के बाद समझौते के फलस्वरूप समायोजन होने तक जर्मनी व आस्ट्रिया की सार्वजनिक व निजी सपत्तियो पर भी चीन का अधिकार हो गया था। तीसरे, मित्र राष्ट्रो ने मुक्का आदोलन की क्षतिपूर्ति मे जर्मनी व आस्ट्रिया के भागो को समाप्त कर दिया था और मित्र राष्ट्रो को राशि की जो अदायगी हो रही थी वह पाँच वर्ष के लिए स्थगित कर दी थी। सीमा-शुल्क की आय वृद्धि के साथ इन सुविधाओ से चीन की आर्थिक समस्या एक सीमा तक सुलझ गयी थी। और चीन को यह भी विश्वास हो गया था कि जब भी शाति-सम्मेलन होगा, उसे जापान में समकक्ष बैठने का अधिकार होगा।

दूसरी ओर, चीन के युद्ध में भाग लेने से मित्रराष्ट्रो को भी लाभ हुआ था। चीन से मजदूरो की भरती पहले से ही हो रही थी और अब इस भरती, मजदूरो के प्रशिक्षण व उनके फ्रास भेजे जाने की सुविधाएँ बढ गयी थी। यद्यपि चीन ने न तो कोई सेना ही पश्चिम भेजी थी और न मित्रराष्ट्रो के साइबेरिया-अभियान मे ही कोई भाग लिया था, किन्तु मोर्चे के पीछे, फ्रांस में, चीनी मजदूरो ने काफी अच्छा काम किया था। उनकी मौजूदगी से बहुत-से ऐसे व्यक्ति खाली हो गये थे, जिन्हे इन पीछे के मामूली कामो से छुटकारा दिला कर युद्ध मे लगाया जा सकता था। मित्रराष्ट्रो को चीनी मजदूरो से जो सहायता मिली, उसकी काफी प्रशंसा हुई थी।

फिर, चीन ने खाद्यान्न व कच्चे माल की सप्लाई का भी वादा किया था। यद्यपि चीन मे खपत के बाद अतिरिक्त मात्रा मे इस सामान की सप्लाई कम थी, किन्तु वह तेजी से बढायी जा सकती थी। चीन की औद्योगिक संभावित शक्ति भी बडी थी। यदि वह कच्चे लोहे व ऐसे ही अन्य माल का उत्पादन बढाने के लिए साधन जुटा सकता तो चीन युद्ध मे बहुत बडा योग दे सकता था। दुर्भाग्यवश, इस कार्य के लिए उसके पास अपनी पूँजी थी नही और मित्रराष्ट्र उसे अन्य यन्त्रो व अन्य साज-सज्जा के लिए आवश्यक पूँजी या ऋण दे नही सके। यह दोष विशेषतः अमरीका का ही था, क्योंकि केवल वह ही चीन की बहुत साधारण आवश्यकताओं को पूरा करने मे समर्थ था। अमरीकी प्रतिनिधि, अपनी सरकार की ओर से वादा करने के आदेश के अभाव में, आर्थिक सहायता के जो भी आश्वासन दे सकता था,

दे रहा था, किन्तु ये आश्वासन कभी पूरे नही हुए। इस प्रकार युद्ध मे भाग लेने का एक परिणाम यह हुआ कि चीन जापान पर पूरी तरह निर्भर हो गया। लाभ-दायक परिस्थितियों मे एक सीमा तक चीन मे पूँजी लगाने की बुद्धि जापान मे तो थी, पर अमरीका इतनी दूर आगे नही देख पा रहा था। यदि वाशिंगटन भविष्य की संभावनाएँ समझ पाता तो चीन के लिए युद्ध का परिणाम बिलकुल भिन्न होता।

चीन के युद्ध में शामिल होने से मित्रराष्ट्रो को जो तीसरा और सबसे अधिक महत्त्वपूर्ण लाभ हुआ वह था चीनी बन्दरगाहो मे रुके जर्मनी जहाजो का उपयोग। सन् १९१७ में जहाजो की बड़ी आवश्यकता और माँग थी और चीन को युद्ध में शामिल कराने की कोशिश के पीछे यही बलवती इच्छा काम कर रही थी कि जर्मनी के इन जहाजो का उपयोग किया जाय। फिर, युद्ध की अवधि के लिए जर्मनी के अनेक नागरिको को नजरबन्द कर देने या खदेड देने से और चीन के द्वार उनके लिये बन्द हो जाने से जर्मनी की सुदूरपूर्व में काररवाइयो का बिलकुल अत हो गया था। इसका महत्त्व बडा था, विशेषकर ब्रिटेन व जापान के लिए जो सुदूरपूर्व मे जर्मनी की व्यापारिक प्रतियोगिता से चौकन्ने थे। यह सर्वविदित था कि जर्मनी युद्ध के बाद अपनी आर्थिक व व्यापारिक काररवाइयो के लिए चीन मे जितने भी व्यावसायिक संपर्क संभव थे, उन सभी को कायम रख रहा था। जर्मनी व आस्ट्रिया के नाग-रिको की नजरबन्दी व उनकी सपत्तियो को अलग कर दिये जाने से इस प्रकार फिर से व्यापार चालू कर देने की सभावना बहुत कम हो गयी थी।

## (४) चीन के युद्ध-प्रवेश के राजनीतिक प्रभाव

सन् १९१७ के पहले तक के युद्ध के सुदूर पूर्व पर पड़े प्रभाव का ऊपर उल्लेख हो चुका है। यहाँ अब युद्ध के शेष समय और शाति-सम्मेलन शुरू होने तक चीन के युद्धरत होने के राजनीतिक प्रभाव का विवरण उपयुक्त होगा।

चीन के युद्ध प्रवेश के लिए पहला कदम अमरीकी सुझाव पर उठाया गया था और कुछ महीनो तक चीन प्रशान्त महासागर पार के अपने इस पड़ोसी के आदर्श पर आचरण करने का प्रयास करता रहा। यदि अमरीकी नेतृत्व कायम रहता और प्रभावकारी होता तो युद्ध के पहले तीन वर्षों मे जापान ने महाद्वीप मे अपने प्रभुत्व का जो रूप बड़ी सावधानी व योजनाबद्ध उपायो से कायम किया था, उसे समाप्त करने मे बड़ी सहायता मिलती। अमरीकी नेतृत्व को नगण्य बनाने के लिए जापान ने पहले रूस से मैत्री-सधि करके और फिर सन् १९१७ मे ब्रिटेन, फ्रांस व इटली से गुप्त सधियाँ करके चीन को युद्ध मे उतारने का श्रेय स्वयं लेने के प्रयत्न शुरू कर दिये। पहले तो पीकिंग-स्थित जापानी राजदूत ने बड़े दिखावे के साथ चीन को

'सलाह' दी कि वह महायुद्ध मे मित्रराष्ट्रो की ओर से शामिल हो जाय, जबकि चीन पहले से ही यह कदम उठाने पर विचार कर रहा था। इसी समय चीन मे जो जापानी समाचारपत्र थे, उन्होने लगातार यह लिखना शुरू किया कि सुदूरपूर्व मे अमरीका का प्रभाव नगण्य है, उन्होने बड़े विशद रूप से बताना शुरू किया कि चीनी हितो के लिए सहानुभूति के बड़े वक्तव्य और दावे करने के बावजूद अमरीकी सरकार विदेशी राष्ट्रो द्वारा उसकी लोट-खसोट रोकने मे लगातार असफल रही थी। उदाहरण के लिए यह बताया गया कि ऋण की शर्तो को चीन की स्वतंत्रता व प्रशासकीय अक्षुण्णता के लिए खतरा बता कर अमरीका चीन को पुनस्सगठन ऋण देने वाले राष्ट्र गुट से अलग हो गया था। इस अतरराष्ट्रीय गुट ने जिन शर्तो पर चीन को ऋण दिये थे, अमरीका उनसे अधिक सुविधाजनक शर्तो पर चीन को ऋण देने मे भी असफल रहा था और अतत. चीन को इसी गुट से ऋण लेने को बाध्य होना पड़ा था। इन समाचारपत्रो ने यह भी बताना शुरू किया कि, दूसरी ओर यदि चीन जापान को ही अपना मित्र मान ले (क्योकि जापान बातें करने वाला नही, काम करने वाला देश है) तो उसे उसकी अनेक कठिनाइयो को दूर करने मे बड़ी सहायता मिल सकती है। अमरीकी नीति में जो भी त्रुटियाँ दिखायी पडती थी, जापान उन सबका लाभ उठाता था और चीन को अमरीकी वादो-वक्तव्यो का खोखलापन दिखा कर साबित करता था कि सभी पश्चिमी राष्ट्र सुदूर पूर्व मे जापान के प्रभुत्व को स्वीकार करते है, लैनसिग-इशी-सधि का भी इसी सदर्भ मे हवाला दिया गया। अमरीका के युद्ध में सक्रिय रूप से शामिल होने के बाद जब युद्ध के पश्चिमी क्षेत्र की अधिकार सत्ता वाशिंगटन में केन्द्रीभूत हो गयी, तब यह नीति और भी अधिक जोर पकड़ गयी। हर बात इसी दृष्टिकोण से देखी जाने लगी कि पश्चिम का युद्ध किस प्रकार जीता जाय।

अतएव, सन् १९१७ के ग्रीष्म व वसन्त मे जब चीन आतरिक रूप से विश्रृंखल हो रहा था, उस समय अमरीकी सरकार ने चीनी परराष्ट्र-मत्रालय को पत्र लिखा कि जर्मनी के विरुद्ध युद्ध छेडने से अधिक बेहतर यह होगा कि चीन अपने घर मे व्यवस्था ठीक करे। यह परामर्श सद्भावनापूर्ण और उचित था। किन्तु आश्चर्यजनक यह था कि यह परामर्श उसी सरकार ने दिया था, जो कुछ ही महीने पहले चीन को युद्ध में शामिल होने की सलाह दे रही थी। जापान ने इसका पूरा फायदा उठाया और चीनी पत्रो में प्रतिवाद छपवाये कि जापान के पड़ोसी राष्ट्र के घरेलू मामलो मे अमरीका 'हस्तक्षेप' कर रहा है। जब अमरीका ने इस संबंध में आगे कोई काररवाई नही की, जापान ने चीन को बताना शुरू कर दिया कि अमरीका ने

उसका (जापान का) यह अधिकार स्वीकार कर लिया है कि वाशिंगटन व पीकिंग के बीच किस प्रकार का पत्र-व्यवहार हो इसका निर्णय वह (जापान) ही करेगा। जहाँ तक चीन का संबध था, उसे इसमे यही सकेत मिला कि पूर्वी एशिया मे पश्चिमी राष्ट्र जापानी प्रभुत्व को ही स्वीकार करते है।

जब पीकिंग-स्थित सेनावादी शासन ने युद्धरत होने का सकल्प कर लिया तो जापान ने इस नयी घटना का भी पूरा फायदा उठाया। जब अमरीका चीन-सरकार को ऋण देने मे असफल रहा, जापाभ ने खुशी-खुशी यह काम भी अपने जिम्मे ले लिया। सन् १९१८ व युद्ध की समाप्ति के बाद भी तुआन ची-जुई की सरकार को जापान से लगातार ऋण मिलते रहे। इन ऋणो के भुगतान के लिए कभी-कभी प्रान्तीय करो को बधक रखने की माँग की जाती थी, किन्तु बहुधा ऋणों के बदले मे उद्योग स्थापित करने, खानो का उपयोग करने या रेलमार्ग बनाने आदि हर तरह की रिआयते व सुविधाएँ प्राप्त कर ली जाती थी। इन सुविधाओं मे से अनेक तो सन् १९१८ मे युद्ध मे सहयोगात्मक रूप से शामिल होने के समझौते की शर्तों के रूप मे स्वीकार हो गयी। युद्ध कार्यो के लिए पीकिग मे एक मडल स्थापित हुआ जिसका उद्देश्य औपचारिक रूप से तो यह बताया गया कि मित्रराष्ट्रो को सैनिक सहायता की योजनाएँ बनायी जायँगी, किन्तु उसका वास्तविक उद्देश्य था देश के आतरिक कार्यो के लिए जापान से ऋण लेना, और इन ऋणो का बड़ा भाग अधिकारियो की जेबों में जा रहा था। उस समय से सन् १९३१ के बाद तक चीन मे जापानी अधिकार व प्रभुत्व का चरम उत्कर्ष रहा। युद्ध मे भाग लेने के लिए स्थापित मडल के निर्देशन मे सन् १९१८ मे चीन व जापान के बीच एक सैनिक समझौता हुआ, जिसकी शर्तों के अनुसार युद्ध की तैयारी के लिये दोनो देशों ने सहयोग का निर्णय किया; इस सहयोग मे चीनी नौ-सेना व स्थल सेना के लिए जापानी सलाहकार नियुक्त हुए और युद्ध कार्यों के लिए जापानी आर्थिक सहायता का आश्वासन प्राप्त हुआ, चीन ने अपनी ओर से वादा किया कि अपने युद्ध-साधनो का ब्योरा वह जापान को देगा और युद्ध-सामग्री जापान से खरीदेगा। जब महायुद्ध के अत मे विराम-सधि हुई, यह मडल समाप्त हो जाना चाहिए था, किन्तु उतर से बोल्शेविकवाद (साम्यवाद) आने के खतरे और उसकी रोक-थाम की आवश्यकता के बहाने मंडल बाद तक कायम रखा गया। आन फू गुट की जनरल वू-पी'-फू की सेना के हाथो पराजय और पीकिंग से खदेड़े जाने के बाद सन् १९२० मे यह मडल भग हुआ।

किन्तु जापान की काररवाई पीकिंग तक ही सीमित नही थी। उसने यह व्यवस्था कर रखी थी कि एक गुट की जय-पराजय से उसके हितों पर आँच न आये।

आनफू-गुट के लोगों की जेबों में जापानी रुपया भर रहा था तो उसका कुछ भाग कैण्टन स्थित डाक्टर सुन यात-सेन की सरकार के पास भी पहुँच रहा था और एक भाग मचूरिया मे चाग त्सोलिन को सशक्त बनाने मे भी लग रहा था। जापान का हित-साधन चीन मे अराजकता व अव्यवस्था कायम रहने से ही होता था और इसका एक सरल उपाय यह था कि हर गुट को धन व शस्त्रास्त्र मिलते रहे। इससे यह निष्कर्ष निकालना गलत होगा कि चीन की हर सरकार का सचालन टोकियो से ही होता था। चीन के आतरिक विग्रह को कायम रखने के लिए जापान को यह जरूरत नही थी कि शासन की हर गतिविधि का वह नियत्रण करे। वह प्रत्यक्ष-अप्रत्यक्ष रूप से विभिन्न गुटो को शस्त्रास्त्र व युद्ध-साधन उपलब्ध कराता रहता था और इन गुटा के वास्तविक या काल्पनिक हित-वैषम्य शेष काम पूरा कर देते थे। हर गुट यही समझता था कि केवल उसी के निर्देशन मे चीन विश्व में अपनी पहले की सम्मानित स्थिति प्राप्त कर सकता है। डाक्टर सुन यात-सेन पीकिंग के आनफू-शासन का विरोध करते थे, किन्तु इसका तात्पर्य यह नही था कि आनफू-शासन के बाद पीकिंग मे स्थापित हुई त्सा'ओ कुन या चाग त्सो-लिन सरकारो को उनका समर्थन प्राप्त हो गया था। इसके विपरीत, डाक्टर सुन ने निष्कासित आनफू-गुट से तत्कालीन पीकिंग-शासन को हटाने के लिए सहयोग की बात चलायी और जब जनरल वू पी' फू की सेना चाग त्सो-लिन को पीकिंग से खदेड रही थी, डाक्टर सुन अपने पहले के शत्रु, जनरल चाग से मैत्री कर रहे थे। यह सभव हुआ था हर गुट को जापानी शस्त्रास्त्र मिलने से और युद्ध सामग्री जापान मे खरीदने के लिए जापान मे ऋण मिलते रहने से।

## (५) पेरिस-सम्मेलन के समय वैधानिक स्थिति

शाति सम्मेलन तथा उसके निर्णयो के सुदूर पूर्व की स्थिति पर प्रभाव पर विचार करने के पूर्व, सन् १९१४ के बाद उत्पन्न परिस्थिति के वैधानिक पहलू पर विचार कर लेना आवश्यक है। सन् १८९८ के ठेके या पट्टे की शर्तो के अनुसार जर्मनी को न तो शानतुग के किसी क्षेत्र मे स्वामित्व के अधिकार प्राप्त हुए थे और न उसे शानतुग प्रान्त या उसके किसी भाग मे सर्वोच्च सत्ता के ही अधिकार मिले थे। सर्वोच्च सत्ता निश्चित रूप से चीन की ही थी और चीन सरकार ने पट्टे के क्षेत्र मे इस सत्ता को ९९ वर्ष के लिए जर्मनी के पक्ष मे उत्सर्जित कर रखा था। कानून की दृष्टि से पट्टे की शर्तों से बँधा जर्मनी उस क्षेत्र मे अधिष्ठाता मात्र था। अतएव, जर्मनी से कोई अन्य राष्ट्र जो कुछ भी प्राप्त कर सकता था, वह अधिक से अधिक पट्टे का उत्तराधिकार भर था। पट्टे को कायम रखने की एक शर्त यह

भी थी कि जर्मनी उसके अंतर्गत मिले अधिकारो को किसी अन्य राष्ट्र को हस्तांत-रित नही कर सकेगा। दूसरे शब्दो मे, पट्टा कायम रहना ही इस बात पर निर्भर था कि वह मूल पट्टेदार के पास ही रहे। इस प्रकार शाति-सधि की शर्तो के अनु-रूप यदि जर्मनी अपना पट्टा किसी अन्य राष्ट्र को हस्तातरित करता तो उसी से पट्टे का समझौता समाप्त हो जाता था।

अतएव, बलपूर्वक किआओचाओ खाडी के क्षेत्र का उत्तराधिकार जर्मनी से ले लेने से जापान के अधिकार कानून की दृष्टि से अपूर्ण थे। फिर, जब यह देखा जाय कि यह पट्टा समझौता जर्मनी ने चीन पर जबरदस्ती लाद दिया था, तब जापान की स्थिति चोरी का माल पानेवाले जैसी हो जाती थी। किसी चोर से चोरी का कोई सामान पानेवाला उस सामान का मालिक नही हो जाता, वह तो उसे केवल उस समय तक अपने पास रखने का अधिकारी होता है, जब तक वह सामान उसके असली मालिक तक न पहुँच जाय। इस प्रकार जापान की स्थिति यही थी कि सन् १९१४ की कारवाई के फलस्वरूप उसे ऐसी चीनी सपत्ति प्राप्त हुई, जिसे वह अस्थायी रूप से तब तक अपने पास रखता था, जब तक वह उसे उसके असली मालिक चीन को वापस न लौटा दे या उस सपत्ति के संबध में चीन से कोई अतिम समझौता न कर ले। दूसरे शब्दो मे, इस सपत्ति का स्वामित्व चीन व जापान के बीच समझौते पर निर्भर था, जापान व जर्मनी के बीच किसी सम-झौते पर नही, क्योकि जर्मनी को पट्टे के अधिकार किसी अन्य राष्ट्र को हस्ता-तरित करने का और इस प्रकार उसका स्वामित्व किसी अन्य राष्ट्र को सौप देने का कोई वैधानिक हक नहीं था।

किन्तु शानतुंग-संबंधी सन् १९१५ के समझौते से स्थिति मे एक मौलिक अतर आ गया था। शानतुग-सधि के अनुसार चीन व जापान के बीच इस चीनी संपत्ति के अंतिम रूप से निर्वर्तन या ठिकाने लगाने का एक समझौता हो गया था। चीन-सरकार पहले से ही यह स्वीकार कर चुकी थी कि जर्मनी व जापान के बीच इस संपत्ति के संबध में जो भी समझौता होगा, वह उसे मान लेगी; यह भी माना जा चुका था कि यदि जर्मनी ने अपना पट्टा जापान को हस्तांतरित किया तो वह (जापान) कुछ शर्तो पर यह पट्टा चीन को वापस कर देगा। इसके अतिरिक्त सन् १९१८ में चीन-सरकार ने सन् १९१५ के समझौते के पूरक रूप में, शानतुग के मामलों के संबंध में पत्र व्यवहार द्वारा एक नयी व्यवस्था स्वीकार कर ली थी। इस समझौते के अनुसार व्यवस्था थी कि (१) किआओचाओ-त्सिनान रेलमार्ग की स्थिति और स्वामित्व स्पष्ट हो जाने के बाद दोनो देश मिलकर उसे चलायेंगे;

(२) त्सिगताओ के बाहर जापानी नागरिक-प्रशासन समाप्त हो जायगा, (३) जापानी फौजे वापस त्सिगताओ लौट जायँगी और रेलमार्ग की सुरक्षा की देखभाल चीनी सैनिक करेगे, और (४) "इस पुलिस टुकडी के मुख्यालय, प्रमुख रेलवे स्टेशनो व पुलिस प्रशिक्षण पाठशाला" में जापानियो की नियुक्ति होगी। सन् १९१६ मे रूस की जार-सरकार तथा सन् १९१७ में ब्रिटेन, फ्रास व इटली से हुई सधियो के द्वारा जापान ने अपनी यह स्थिति और भी मजबूत कर ली थी। किन्तु, ध्यान देने की बात यह है कि शानतुग मे जर्मनी के जो अधिकार थे, उनके जापान के पक्ष मे हस्तातरण की मान्यता इन देशो ने किसी वैधानिक या अतरराष्ट्रीय कानून के आधार पर नही दी थी, वरन् कालोचित कार्यसाधक काररवाई के रूप मे थी।

दूसरी ओर, चीन के महायुद्ध मे शामिल होने से कुछ कानूनी संबध व कानूनी परिस्थितियाँ उत्पन्न हो गयी थी। पहले तो, चीन के युद्ध प्रवेश से उसके व जर्मनी के बीच के वे सभी समझौते समाप्त हो गये थे, जो युद्ध-सचालन या शांति-समझौते से मेल नही खाते थे। यदि चीन जर्मनी के विरुद्ध सन् १९१४ मे ही युद्ध छेड़ देता, तो स्पष्ट है कि इस घोषणा मात्र से सन् १८९८ के समझौते और जर्मनी के चीन मे राज्य-क्षेत्रातीतता-सबंधी अधिकार समाप्त हो जाते, सन्धि की शर्तो पर आधारित ये अधिकार दोनो देशो के बीच शातिपूर्ण समझौते और दोनों की पारस्परिक सहमति के बाद ही फिर से चालू हो सकते थे। दूसरे, जर्मनी से युद्ध की घोषणा के बाद जर्मनी सरकार की जो भी सपत्ति चीन मे थी, वह अस्थायी रूप से चीनी प्रशासकीय अधिकार मे आ गयी थी और उसे तत्काल जब्त कर लेना चीन सरकार की कार्यवाही पर निर्भर था। इस प्रकार चीन पट्टे के क्षेत्र पर अपनी सर्वोच्च सत्ता के अधिकार प्रयोग कर सकता था। किन्तु चीन ने सन् १९१७ तक युद्ध की घोषणा नही की और तब तक वह इस बात पर राजी हो चुका था कि जर्मनी के हितो के सबध मे जर्मनी व जापान के बीच जो भी समझौता होगा, वह उसे मान्य होगा। चीन के युद्ध में शामिल होने से जापान से हुआ यह समझौता रद नहीं हुआ था, यद्यपि पेरिस मे चीनी प्रतिनिधिमडल ने यही तर्क दिया था कि चीन के युद्ध मे शामिल हो जाने से वह स्थिति बिलकुल ही बदल चुकी थी जो सन् १९१५ की सधि के समय थी और जिसकी कल्पना सधि मे की गयी थी; और....के सिद्धात के अनुसार यह समझौता लागू होना समाप्त हो चुका था और इसका वैधानिक अस्तित्व समाप्त हो गया था।[३]

## (६) पेरिस-सम्मेलन व सुदूर पूर्व

जनवरी, १९१९ मे पेरिस मे शांति-सम्मेलन शुरू होने पर चीन के विभिन्न गुटों ने मिलकर एक प्रतिनिधिमंडल अपने देश का प्रतिनिधित्व करने के लिए वहाँ

भेजा। इस प्रतिनिधिमडल ने सम्मेलन से अनुरोध किया कि सन् १९१५ व सन् १९१८ मे जापान व उसके बीच जो समझौते हुए है, वे रद कर किये जायें और शानतुग प्रान्त मे जर्मनी के जो पट्टे व अधिकार थे, वे अब उसे (चीन को) ही दे दिये जायें। अपने पक्ष मे उसने कई तर्क दिये। पहले तो चीन ने कहा कि जापान व जर्मनी के बीच समझौते के परिणाम को स्वीकार कर लेने के सन् १९१५ के समझौते के बावजूद, चीन के युद्ध मे शामिल होने से ही जर्मनी को पट्टे पर दी गयी भूमि स्वयमेव सीधे चीन की हो गयी। क्योकि चीन का दावा था कि शानतुग-सधि व अन्य सभी सबधित समझौते पूर्णरूपेण समाप्त हो गये, जिस दिन वह युद्ध मे शामिल हुआ। इसीलिए सन् १९१८ के समझौते भी समाप्त हो गये, क्योकि उनकी वैधता का आधार सन् १९१५ के समझौते थे, जो चीन के युद्धरत होने से समाप्त हो चुके थे। सन् १९१५ की सधि को अवैध करार देने के लिए प्रतिनिधिमंडल के तर्क ये थे कि एक तो युद्ध की धमकी देकर ही इस पर चीनी प्रतिनिधियो के दस्त-खत कराये गये थे और दूसरे इस सधि को चीनी सविधान मे वर्णित प्रक्रिया द्वारा अनुसमर्थन ही प्राप्त नही हुआ था।

शाति-सम्मेलन शुरू होने के पहले से ही जापान ने उन अधिकारो को कायम रखने के लिए प्रयत्न शुरू कर दिये थे, जिनके सबंध मे मित्रराष्ट्रो ने वादे कर रखे थे। समाचारपत्रो में शानतुग प्रान्त के लिए जापानी दावे के सबध में विशेष कुछ भी प्रकाशित नही हुआ, किंतु सम्मेलन मे पेश करने के लिए एक दूसरा ही मसला तैयार किया गया था। यह था विभिन्न जातियो की समानता व बराबरी के सिद्धांत को स्वीकार करने की माँग। यदि तत्कालीन समाचारपत्रो ने जापान की इच्छाओं को सही रूप मे प्रतिबिम्बित किया था, तो ऐसा मालूम पड़ता था कि जापानी जनता को इस सिद्धात को स्वीकार करा लेने में अधिक दिलचस्पी थी—और जन-तंत्र के नाम पर लड़ने वाले राष्ट्रो द्वारा इस सिद्धांत का विरोध करने की ऊपर से तो कोई सभावना लगती नही थी—युद्ध के फलस्वरूप भौतिक सुविधाएँ प्राप्त करने मे कम दिलचस्पी थी। यह स्पष्ट करना आवश्यक नहीं है कि यह सिद्धात अमरीका व ब्रिटेन के विरुद्ध ही पडता था, क्योकि उन्होने एशियाई जनता के लिए अपने दरवाजे बन्द कर रखे थे। इस माँग का अन्य कोई महत्त्व हो ही नही सकता था, क्योंकि अन्य सभी बातों में जापान को राष्ट्रो के समाज में पूर्ण समानता का स्थान प्राप्त ही था। यह सही है कि यह स्थान चीन या एशिया के अन्य देशो को प्राप्त नही था, किंतु जापान ने पहले ही उन सभी विशेष सुविधाओ के लिए अपनी माँग स्वीकार करवा रखी थी, जो किसी भी अन्य देश को प्राप्त थीं और इस स्थिति को अब त्याग देने का उसका कोई भी इरादा नहीं था।

जापान ने इस सिद्धात को सामने केवल इसीलिए रखा था कि शानतुग प्रान्त मे वह जो माँगे करने वाला था, उनका अमरीका द्वारा विरोध होने की सभावना थी और इस सिद्धात के प्रतिपादन की माँग से अमरीका निष्प्रभाव होता था। यह सर्वविदित था कि चीन को पेरिस मे अमरीकी सहायता व समर्थन की आशा थी और लैनसिंग-इशी समझौते के बावजूद जापान-सरकार को आशका थी कि चीन को यह समर्थन प्राप्त हो सकता है।

जापान की माँगे सक्षेप मे इस प्रकार थी—एक तो, जापान चाहता था कि उत्तरी प्रशान्त महासागर मे तथा शानतुग प्रान्त मे जर्मनी के कब्जे मे जो भूमि थी और उसके जो भी अधिकार थे, उन्हे उत्तराधिकार के रूप में जापान को मिलने की बात शाति-सधि मे शामिल कर दी जाय। इस माँग की पुष्टि मे उसने एक तो महायुद्ध में अपने धन-जन की क्षति का हवाला दिया और दूसरे विभिन्न मित्रराष्ट्रो से हुए तत्सबधी समझौतो को पहली बार औपचारिक रूप से खुलेआम पेश कर दिया और फिर कहा कि जर्मनी से मिलने के बाद वह किआओचाओ को कुछ शर्तो के अधीन समझौते के बाद चीन को वापस लौटाने को तैयार है। दूसरी माँग जापान ने यह पेश की कि राष्ट्रो की समता और उनके नागरिको के साथ उपयुक्त व्यवहार का सिद्धात स्वीकार कर लिया जाय।

अमरीकी राष्ट्रपति विलसन के इस आधार पर निषेधाधिकार का प्रयोग करने से दूसरी माँग अस्वीकार कर दी गयी कि इसका सबध प्रवासियो के दूसरे देशो मे जाकर बसने और उन पर लगे प्रतिबन्धो से है और इसलिए अमरीका को अमान्य है। इन अस्वीकृति से जापान को अपनी पहली माँग पर अड़ने मे बल मिला और वही माँग वास्तव मे जापान के लिए अधिक महत्त्वपूर्ण थी। जापान ने एक मित्र-राष्ट्र की हैसियत से सुदूरपूर्व से जर्मनी का प्रभाव समाप्त करने और प्रशान्त महासागर को सुरक्षित रखकर यूरोप का एक मार्ग खुला रखने का अपना उत्तर-दायित्व निभाया था। इससे जापान के राजकोष को गहरी क्षति हुई थी तथा जापानी नागरिको की जाने भी गयी थी। फिर क्या मित्रराष्ट्रो मे से उसे अकेला छाँट कर विजय के भौतिक फलो से वचित कर दिया जायगा? यदि ऐसा ही होना है तो जापान भविष्य मे अकेला ही अपनी काररवाई करेगा और प्रस्तावित राष्ट्रसघ से भी कोई सबध नही रखेगा।

फियूमे के प्रश्न पर सम्मेलन से हटने के इटली के निर्णय की भाँति जब जापानी प्रतिनिधिमडल ने भी सम्मेलन का बहिष्कार करने की धमकी देनी शुरू की तो अमरीकी राष्ट्रपति विलसन कमजोर पड़ गये और विलसन की सहायता के बिना

चीनी प्रतिनिधिमडल पेरिस में हार गया, क्योकि अन्य राष्ट्र तो युद्ध के समय हुए समझौतो के अनुसार जापान के समर्थन के लिए बाध्य थे ही। इस प्रकार, जापान जातीय समता का सिद्धान्त मनवाने मे तो असफल हुआ, किन्तु "सुदूरपूर्व में शांति कायम रखने" के उद्देश्य से महायुद्ध मे शामिल होने का जो मुख्य लाभ वह पाना चाहता था, वह उसे प्राप्त हो गया। अर्थात्, सुदूरपूर्व स्थित जर्मनी के सभी स्वत्व व अधिकार उसे उत्तराधिकार स्वरूप प्राप्त हो गये।

## (७) वार्साइ-संधि में सुदूर पूर्वीय व्यवस्था

संधि की शर्तों के अनुरूप, मुक्का-आन्दोलन के फलस्वरूप क्षतिपूर्ति देने के लिए हुई उपसधि में वर्णित, जर्मनी को देय की जिम्मेदारी से चीन मुक्त कर दिया गया, टीटसीन व हैनकाउ मे जर्मनी को जो रिआयते व सुविधाएँ प्राप्त थी, वे भी चीन को वापस लौट गयी, राजनयिक व राजदूतावास-सबंधी सपत्तियो को छोडकर चीन मे स्थित जर्मनी की शेष सभी सार्वजनिक सपत्ति चीन को मिल गयी, चीनी समुद्र मे जर्मनी के जहाजो व चीन मे जर्मनी के नागरिको को युद्ध की अवधि मे रोक रखने के हरजाने से चीन मुक्त कर दिया गया, मुक्का-विद्रोह के समय जो ज्योतिष शास्त्र व वेधशाला सबंधी यत्र पीकिंग से ले जाये गये थे, वे चीन को वापिस मिल गये। सन् १८९८ तथा बाद के समझौतो के अनुरूप शानतुग प्रान्त में जर्मनी ने जो भी आर्थिक व अन्य अधिकार प्राप्त किये थे और किआओचाओ खाड़ी का पट्टा जापान को मिल गया। जापान के इस उत्तराधिकार पर 'तीन की परिषद्' के समक्ष दिये गये इस मौखिक आश्वासन की सीमा अवश्य लगी थी कि जापान चीन से समझौते की सीधी बातचीत कर शानतुग प्रान्त के राजनीतिक अधिकार चीन को ही वापस कर देगा और केवल आर्थिक सुविधाओ व अधिकारों का ही उपयोग स्वयं करेगा।

इस फैसले के पक्ष मे राष्ट्रपति विलसन ने इसी मौखिक आश्वासन को तर्क रूप मे प्रस्तुत किया और कहा कि राष्ट्रसंघ की स्थापना के बाद चीन को अततः न्याय मिल ही जायगा। किन्तु, वह यह बिल्कुल ही नहीं समझ पाये कि शानतुग प्रान्त मे आर्थिक अधिकार जापान को और राजनीतिक अधिकार चीन को देने का अर्थ है असली पदार्थ तो जापान को मिल जाना और चीन को उसकी छाया मात्र दिया जाना।

शांति-सम्मेलन के निर्णय का समाचार जब चीन पहुँचा तो वहाँ लोगों की यही प्रतिक्रिया हुई। पेरिस-सम्मेलन मे शामिल प्रतिनिधियों की भी यही प्रतिक्रिया थी। चीनी प्रतिनिधियों ने पहले तो कहा कि शांति-सधि पर वे शानतुंन प्रान्त-संबधी

धारा का विरोध करते हुए हस्ताक्षर करेंगे, पर जब उन्हें शर्त लगा कर दस्तखत करने की अनुमति नहीं मिली तो उन्होने सधि पर दस्तखत करने से ही इनकार कर दिया। चीन के क्रुद्ध जनमत के अनुरूप ही उन्होने यह इनकार किया था। वार्साइ-सधि की शानतुग-सबधी धारा की प्रतिक्रिया चीन में छात्र-आन्दोलन के रूप में प्रकट हुई, जिसमे चीन-स्थित जापानियो व जापान के हाथ की कठपुतली बने चीनी अधिकारियो का विरोध किया गया। जापान के विरुद्ध यह आंदोलन जनता को वास्तविक स्थिति समझाने के प्रचार तक ही सीमित था किन्तु जापान पर इसका बुरा प्रभाव पडा और उसने पीकिंग सरकार पर दबाव डाला कि वह बलपूर्वक छात्रो का दमन करे। छात्रो का प्रतिवाद शुरू होने के बाद उसे व्यापारियो का समर्थन मिला, जिन्होने पूरे देश में जापानियो का बहिष्कार शुरू कर दिया।[५] इन दो तत्वो के दबाव के फलस्वरूप जापान ने शानतुग-संबधी समझौते की बातचीत का अपना वादा पूरा करने की इच्छा प्रकट की। किन्तु पीकिंग-सरकार ने बातचीत का आधार ही यह बनाने को कहा कि प्रान्त पूरी तरह और बिना किसी शर्त के उसे वापस कर दिया जाय। वाशिंगटन-सम्मेलन तक यह गतिरोध जारी रहा।

## (८) अंतरराष्ट्रीय बैक-संगठन का पुनरुज्जीवन

महायुद्ध का एक महत्त्वपूर्ण प्रभाव और भी हुआ। पहले जब अतरराष्ट्रीय बैंक-गुट मे भाग लेने वाले अमरीकियो ने अमरीका सरकार की सहायता माँगी थी, तब राष्ट्रपति विलसन ने ही इसका विरोध किया था। किन्तु नवम्बर, १९१७ तक वह भी इसी निष्कर्ष पर पहुँच चुके थे कि चीन पर किसी एक देश का आर्थिक प्रभुत्व होने से रोकने के लिए यह आवश्यक है कि चीन को आर्थिक सहायता देने मे अतरराष्ट्रीय सहयोग वांछनीय हो। अतएव, अमरीकी परराष्ट्र मत्रालय ने जर्मनी व रूस को छोड़ कर शेष राष्ट्रों से ऐसा सगठन बनाने के सबंध में बातचीत शुरू की; इस अतरराष्ट्रीय गुट में अमरीका के शामिल होने से चार राष्ट्र हो गये। सगठन का उद्देश्य यह था कि चीन सरकार को आर्थिक सहायता देने व चीन के उद्योग तथा सचार-सवहन के विकास के लिए जो भी समझौते भूत, भविष्य व वर्तमान मे हो, उन सबको एक स्थान पर केन्द्रित कर लिया जाय। सभी राष्ट्रो के आर्थिक प्रतिनिधियो से बातचीत करने के बाद इस अतरराष्ट्रीय बैंक-संगठन के कार्य व क्षेत्र से सबधित शर्तों पर समझौता हुआ; इस मे अपवाद केवल एक था। जापान चाहता था कि सगठन का काम केवल चीन मे ही होने तथा मचूरिया व पूर्वी भीतरी मगोलिया के चीन के अविच्छिन्न भाग होने के बावजूद यह संगठन इन दो क्षेत्रो से बाहर रहे। कुछ दबाव पड़ने के बाद जापान राजी

हो गया, पर उसे यह आश्वासन भी दिया गया कि इन दो क्षेत्रो मे ऐसी कोई काररवाई नही की जायगी जो जापान के हितो के विरुद्ध हो ।

सगठन का जन्म सन् १९२० मे फिर हुआ, किन्तु इसे शुरू मे कार्य करने के लिए क्षेत्र ही नही मिला, क्योकि चीनी जनता को भय था कि चीन के विकास और सहायता के बहाने कही देश मे अतरराष्ट्रीय आर्थिक नियंत्रण की स्थिति तो नही लायी जा रही, अतएव, संगठन को चीन का सहयोग नही मिला । यह आशका धीरे-धीरे कम हुई और सगठन के घोषित व वास्तविक उद्देश्य एक ही है । किन्तु सगठन तब भी निष्क्रिय ही रहा, अशत: तो इसलिए कि उसके सदस्यो का राष्ट्र-स्तर पर सहायता देने मे दिलचस्पी थी, अतरराष्ट्रीय स्तर पर नही; किन्तु बडा कारण सभवत: चीन की आतरिक अव्यवस्था ही थी ।

## (९) संधि की चीनी अस्वीकृति के परिणाम

वार्साइ-सधि की शानतुग-व्यवस्था-सबधी धारा को चीनी जनता व सरकार द्वारा अमान्य करने और फलत सधि पर हस्ताक्षर करने से इनकार करने का परिणाम यह हुआ कि चीन व जापान के महायुद्ध मे शामिल होने से सबधित कुछ प्रश्न हल होने से रह गये । इन प्रश्नो मे सबसे जटिल था शानतुग प्रान्त मे जर्मनी के हित, अधिकार व स्वत्वो का निपटारा । इस प्रश्न का हल वाशिंगटन-सम्मेलन तक नही हो सका था और तब तक के लिए इस पर विचार भी स्थगित किया जा सकता है ।

जर्मनी से सामान्य संधि-सबध स्थापित करने का प्रश्न भी था । १५ सितम्बर, १९१९ को एक घोषणा द्वारा चीनी राष्ट्रपति ने युद्ध की समाप्ति की घोषणा कर दी और जर्मनी से राजदूत व वाणिज्य-दूत-सबध स्थापित हो गये । इसके बाद समझौते की बातचीत शुरू हुई जो २० मई, १९२१ के समझौते तक चलनी रही, इस समझौते का चीनी राष्ट्रपति ने २८ जून को अनुसमर्थन किया । समझौते की सबसे अधिक महत्वपूर्ण शर्तें यह थी कि जर्मनी ने चीन मे अपने नागरिको के कार्यकलाप से अपना कार्यक्षेत्र स्थायी रूप से समाप्त मान लिया और उन्हे चीनी कानून और अदालतो के अधीन कर दिया, जहाँ तक जर्मनी से आयात-निर्यात का सबध था, जर्मनी ने चीन की सीमा शुल्क-सबंधी सर्वोच्च सत्ता भी स्वीकार कर ली ।

सधि की राज्यक्षेत्रातीतता-सबधी अधिकार समाप्त करने वाली धारा इस प्रकार थी—एक दूसरे देश के क्षेत्र मे रहने वाले दोनो राष्ट्रो के नागरिको को यात्रा करने, बसने और उन सभी क्षेत्रो मे उद्योग व व्यवसाय चलाने का अधिकार उस देश के नियम कानूनो के अधीन प्राप्त होगा, जहाँ किसी भी अन्य देश के नागरिको को प्राप्त हो ।

ये नागरिक तथा उनकी सपत्ति स्थानीय अदालतो के कार्यक्षेत्रो के अतर्गत होगी; जहाँ वे रहते है, इन नागरिको को उस देश के कानूनो का पालन करना होगा। वे उस देश के नागरिको से अधिक कर, शुल्क या चन्दा नही देगे।

जर्मनी के प्रतिनिधि के प्रश्नो के उत्तर मे, एक टिप्पणी के रूप मे, चीनी प्रतिनिधि, डाक्टर डब्लू डब्लू येन ने निम्नलिखित वक्तव्य दिया --

(१) चीन सरकार आश्वासन देती है कि चीन मे जर्मनी के नागरिको के सभी शातिपूर्ण कामो को सुरक्षा प्रदान की जायगी और चीन के कानूनो व अतरराष्ट्रीय विधान के मान्य सिद्धान्तो के अनुरूप जो सपत्तिँ पृथक् की जानी चाहिए, उसे छोड़ कर कोई अन्य सपत्ति नही ली जायगी, केवल शर्त यह है कि चीनी नागरिको को जर्मनी मे समान अधिकार मिलेगे।

(२) ...... चीन मे जर्मनी के नागरिको के मुकदमे आधुनिक नियम-कानून के अनुसार आधुनिक अदालतो मे नियमित कानूनी प्रक्रिया के अनुसार चलाये जायँगे और अपील करने का अधिकार सुरक्षित रहेगा। मुकदमो के दौरान मे अदालतो द्वारा मान्यता प्राप्त जर्मनी के वकील व दुभाषिये सहायता कर सकेगे।

(३) मिली-जुली अदालतो मे ऐसे मुकदमो मे, जहाँ एक या दोनो पक्ष जर्मनी के नागरिक हो, चीन सरकार भविष्य मे प्रयत्न करेगी कि मामलो का ऐसा हल निकल आये जो सभी पक्षो को मान्य हो।[६]

इसी के साथ जर्मनी ने एक घोषणा द्वारा वार्साइ-सधि की १२८ से १३४ तक धाराओ की वैधता स्वीकार कर युद्ध के पहले चीन मे जर्मनी को प्राप्त विशेष सुविधाओं को समाप्त कर दिया। इसके अतिरिक्त इन घोषणाओ मे यह व्यवस्था भी कर दी गयी कि युद्ध के दावो व चीन द्वारा जर्मनी के नागरिको की सपत्ति अलग करने से उत्पन्न दावो को हल करने का आधार क्या हो। महायुद्ध की अवधि मे जर्मनी के साथ व्यापार करने के सबध मे चीन ने जो भी नियम-कानून बनाये थे, उनकी समाप्ति से जर्मनी चीन के साथ व्यापार करने मे अन्य राष्ट्रो के साथ सक्रिय होड मे उतर आया।

इस प्राथमिक व्यावसायिक समझौते तथा बाद मे टिप्पणियो के आदान-प्रदान के द्वारा अन्य प्रश्नो के सबध मे हुए समझौते से महायुद्ध की सुदूरपूर्व मे समाप्ति हो गयी और केवल दो मित्रराष्ट्रो—चीन व जापान—के बीच कुछ प्रश्नो का सुलझाव शेष रह गया। किन्तु चीन के उत्तर मे मित्रराष्ट्रों के हस्तक्षेप से सुदूरपूर्व की राजनीति स्थायी रूप से जटिल हो गयी थी। यह जटिलता रूस मे बोल्शेविको (साम्यवादियो) के शासनतत्र के नियंत्रण के कारण उत्पन्न हुई थी। अतएव, वाशिंगटन-सम्मेलन की आवश्यकता व परिणामो पर विचार करने के पूर्व साइबेरिया के प्रश्नो पर विचार कर लेना उपयुक्त होगा।

# अट्ठारहवाँ अध्याय

# रूस, सुदूर पूर्व में

## (१) साइबेरिया के साधन व क्षेत्र

रूसी हितो व नीतियो के विकास को समझे बिना सुदूरपूर्व के आधुनिक इतिहास का अध्ययन अपूर्ण होगा। इसके अतिरिक्त, अंतरराष्ट्रीय दृष्टिकोण से प्रथम महायुद्ध के समय तथा उसके बाद की घटनाओ के कारण रूसी क्षेत्र चीन व जापान की भाँति ही महत्त्वपूर्ण हो चुके थे। इन घटनाओ को समझने के लिए सन् १९१७ के पहले रूसी साम्राज्य मे साइबेरिया की स्थिति समझ लेना आवश्यक है; सन् १९१४-१९१७ के विश्व-आंदोलनो में रूसी साम्राज्य के एक भाग की हैसियत से साइबेरिया की स्थिति उसकी आबादी की प्रकृति, उसके साधन आदि की जानकारी इसके लिए जरूरी है।

जैसा कि क्रोपोटकिन ने कहा है—"साइबेरिया बर्फ से जमा हुआ केवल निष्कासित लोगो से बसा हुआ देश नही है, जैसाकि बहुत से लोग—अनेक रूसी भी—समझते हैं। इसके दक्षिणी भाग उतने ही उपजाऊ है जितने कि दक्षिणी कनाडा के और इसकी प्रकृति व भूगोल में दक्षिणी कनाडा से साम्य भी बहुत है।"[1] वास्तव में साइबेरिया जिस ढग से साम्राज्य में शामिल किया गया और जिस ढग से आबाद किया गया, उसी के कारण लोग इसे बिलकुल वीरान समझने लगे हैं।

प्रथम विश्वयुद्ध शुरू होने के समय रूसी साम्राज्य के एक भाग के रूप में साइबेरिया का क्षेत्रफल ४८ लाख वर्ग मील का था और उसकी आबादी एक करोड़ से कुछ अधिक थी। यह क्षेत्र पश्चिम मे यूराल पर्वत से पूर्व मे ओखोत्स्क सागर तक और दक्षिण मे मंगोलिया व मचूरिया से लेकर उत्तर मे ध्रुव सागर तक फैला था। इसके बड़े क्षेत्र गैर-आबाद थे और उनमें यूरोपीय लोग बस भी नही सकते थे। कुछ क्षेत्रो में रेनडियर (हिरन) व मुलायम व कीमती फर वाले जानवर बहुतायत से पाये जाते थे और शिकार व मछली मारने के लिए ये क्षेत्र बहुत उपयुक्त थे। दूसरे क्षेत्रों में इमारती लकड़ी बहुतायत से पायी जाती थी। दक्षिण के विस्तृत क्षेत्र खेती के लिए उपयुक्त थे। यहाँ की जलवायु ऐसी थी कि गेहूँ व अन्य अनाज आसानी से पैदा किये जा सकते थे और लाभप्रद खेती हो सकती थी।

शासन की दृष्टि से साइबेरिया दस प्रान्तों में बँटा हुआ था। सन् १९१५ में इनमें सबसे अधिक घना बसा हुआ प्रान्त था तोम्स्क, जिसकी आबादी लगभग ४० लाख थी।

## (२) साइबेरिया पर अधिकार

आज जो सयुक्त राज्य अमरीका है, उसे जिस प्रकार पहले ब्रिटेन व बाद मे अमरीका ने धीरे-धीरे अपने अधिकार मे किया था, उसी प्रकार रूस ने साइबेरिया के क्षेत्रो पर धीरे-धीरे कब्जा जमाया था। कहते है कि सन् १५५५ तक मे रूस यूराल पर्वत के पूर्व मे बसी जातियो से प्रतिवर्ष एक हजार फर वाली खालो के रूप मे कर वसूल करता था। किन्तु, इस क्षेत्र की विजय और वास्तविक अधिकार सन् १५८० के बाद ही शुरू हुए, जब यरमाक नामक एक कज्जाक लुटेरे ने अपने कुछ अनुयायियो के साथ यूराल पार कर इस क्षेत्र मे प्रवेश किया और सिबिर नामक स्थान को अपना शासन-केन्द्र बनाया, यूरोपीय रूस मे यरमाक झंझटो मे फॅस गया गया था और इसीलिए वहाँ से भागा था। पूरे क्षेत्र का नाम सिबिर के ही नाम पर पड़ गया। यरमाक ने अपने पुराने अपराधो के लिए क्षमा के बदले मे यह सारा क्षेत्र जार को देने को कहा। तब से एक शताब्दी तक धीरे-धीरे पर लगातार रूस इस क्षेत्र मे बढता गया। सन् १५८७ मे तोबोल्सक नगर की नीव पड़ी; सन् १६३२ में याकुत्सक नगर बसाया गया; सन् १६५१ मे रूस बैंकाल झील तक पहुँच गया और अर्कुत्स्क नगर बसा; सन् १६५५-१६५८ मे बैंकाल झील के आसपास बसी बुरियात जाति के कठिन प्रतिरोध के बावजूद वहाँ अधिकार स्थापित किया गया; इसके पहले बर्फ से जमे उत्तरी क्षेत्र मे तेजी से रूसी प्रसार हो चुका था और सन् १६३९ मे ओखोत्सक सागर तक रूस पहुँच चुका था और इस प्रकार पूरा उत्तरी क्षेत्र रूसी साम्राज्य मे शामिल हो चुका था। इसके उपरान्त बैंकाल के पूर्व के क्षेत्र मे दक्षिण की ओर से प्रवेश करने का प्रयास हुआ। मचूरिया के उत्तर की ओर से बढ कर हाबारोव पूर्वी साइबेरिया में आमूद तक जा पहुँचा और उसके किनारे-किनारे चल कर उसुरी नदी तक आ गया और उसने उस नदी के क्षेत्र पर अधिकार करने का प्रयत्न किया।

अभी तक रूसी प्रसार का मुकाबला केवल असंगठित, निर्बल, अर्ध-जंगली जातियाँ ही कर रही थी। किंतु आमूर और उसुरी क्षेत्रो मे पहुँचने पर रूसियों को मचुओ के विरोध का सामना करना पड़ा जो तभी चीन पर अधिकार जमा चुके थे। उत्तरी मचूरिया से रूस को निकाल बाहर करने में मंचुओ को सफलता मिली जो २७ अगस्त, १८८९, की नर्चिस्क सधि से प्रकट था; अपने आधुनिक काल के इतिहास मे चीन की किसी यूरोपीय देश से यह पहली संधि थी। इस सधि में रूस ने आमूर-क्षेत्र से हटना स्वीकार किया। सन् १८८९ से लेकर उन्नीसवीं शताब्दी के पहले २५ वर्षों तक रूस का इस ओर प्रसार थमा रहा।

किन्तु, जब यूरोप के देश चीन का द्वार पश्चिमी समागम के लिए खोलने के लिए प्रयत्नशील हुए और इस सपर्क-समागम के लिए लगायी गयी चीनी शर्तों की कडाई कम करवाने की कोशिश करने लगे, तभी रूस ने फिर से आमूर-क्षेत्र मे दिलचस्पी दिखानी शुरू की। सन् १८४६ मे आमूर नदी के मुहाने का सर्वेक्षण करने के लिए एक अभियान हुआ। अभियान का प्रतिवेदन जानबूझ कर प्रतिकूल बनाया गया; पूर्व मे रूस की दिलचस्पी बढाने का श्रेय केवल एक व्यक्ति को है और उस व्यक्ति का रूस के दूसरे प्रसार युग मे वही महत्त्व है, जो प्रथम प्रसार युग मे यरमाक का था। सन् १८४७ मे जार ने मुरावीव को साइबेरिया का प्रधान शासक (गवर्नर-जनरल) नियुक्त किया। मुरावीव के निर्देशन में आमूर के मुहाने तक एक दूसरा अभियान हुआ और इसका प्रतिवेदन इतना अनुकूल था कि मुरावीव ने आमूर को साइबेरिया की सीमा बनाने का सकल्प कर लिया। सन् १८५० में निकोलाईवस्क नगर नदी के मुहाने पर बसाया गया। वह समझता था कि एक सर्वेक्षण-अभियान तथा एक बस्ती के आधार पर पूरे क्षेत्र पर रूसी अधिकार साबित नही किया जा सकता और इसलिए उसने पूरे क्षेत्र का उपनिवेशीकरण करने का निश्चय किया। इसके लिए उसे अपने ही साधनो पर निर्भर रहना था, क्योकि रूस से इस काम के लिए साधन तथा लोग नही मिल सकते थे। इसलिए उसने साइबेरिया के निवासियो की एक सेना बनाने की अनुमति माँगी, जो उसे मिल गयी। यह सेना इस क्षेत्र की रक्षा व उपनिवेशीकरण के लिए बनायी गयी थी। इसके उपरान्त उसने कैदियों को मुक्त कर सेना में भरती करना शुरू किया और कज्जाको को भी इस काम मे लगाना शुरू किया। इनसे उसने आमूल के उपनिवेशीकरण व रक्षा का काम लिया। डिकैस्ट्रीज खाड़ी पर कब्जा कर वहाँ एलेक्जैण्ड्रोस्क नगर बसाया गया और खोज-पडताल व कब्जे के आधार पर सखालीन द्वीप पर अधिकार का दावा किया गया। यह काम सन् १८४७ मे मुरावीव के साइबेरिया के शासक नियुक्त होने से लेकर सन् १८५६ में क्रीमिया के युद्ध तक चलता रहा। उस समय आमूर के मुहाने पर ब्रिटेन व फ्रास के एक जहाजी बेड़े के आ जाने से समस्या जटिल हो गयी। शुरू के हमलो को रूसियो ने नाकाम कर दिया और अन्यत्र फँसे रहने के कारण ब्रिटेन व फ्रास ने वहाँ से रूसियों को हटाने मे विशेष दिलचस्पी नही ली।

सन् १८५८ में जब पश्चिमी राष्ट्र चीन से संधियो के पुनरीक्षण की माँग कर रहे थे, मुरावीव ने उत्तर मे प्राप्त किये गये रूसी अधिकार क्षेत्रों को चीन से सन्धि द्वारा संगठित करने का प्रयत्न किया। परिणामस्वरूप सन् १८५८ में आइगुन को

सन्धि हुई, जिसमें उसुरी नदी तक रूस व चीन की सयुक्त सीमा आमूर पर स्थिर कर दी गयी, उसुरी के आगे यह सीमा अनिश्चित ही रही। सन् १८६० में पीकिंग-स्थित रूसी राजदूत काउण्ट पुटियाटिन ने चीन से एक पूरक संधि की जिसके द्वारा उसुरी के पूर्व का क्षेत्र रूसी साम्राज्य में शामिल हो गया और रूस को पोसीट व पीटर महान् खाडियो पर अधिकार मिल गया। इससे रूस की सीमा बढ़ कर प्रशान्त महासागर तक आ गयी और उसका क्षेत्र कोरिया की सीमा तक पहुँच गया; इससे रूस को व्लाडीवोस्टक का बढिया प्राकृतिक बन्दरगाह मिल गया, यद्यपि बर्फ से मुक्त किसी प्रान्त सागरीय बन्दरगाह की रूसी इच्छा पूरी नही हो पायी।

ध्यान देने की बात यह है कि यह सारा प्रसार केवल एक व्यक्ति, मुरावीव, के परिश्रम व सूझ-बूझ का परिणाम था और इससे यह साबित नही होता कि रूस की राष्ट्रीय नीति पूर्व मे प्रसार की थी। वास्तव मे, मुरावीव को इसके लिए राजधानी सेण्टपीटर्स-बर्ग के प्रभावकारी अधिकारियो से लगातार टक्कर लेनी पड़ी थी। अधिकारियो के इस विरोध का एक कारण तो यह था कि शुरू में तो सबकी इच्छा यही थी कि रूस लगातार पश्चिम की ओर ही देखता रहे, और फिर, सन् १८५८–१८६० मे यह आशका उठ खड़ी हुई कि इस प्रसार के फलस्वरूप कही चीन से संघर्ष न हो जाय। मुरावीव ने जब चीन से हुई सधियो के फलस्वरूप प्राप्त क्षेत्रों को दरबार मे एक तथ्य के रूप मे पेश किया तब कही जाकर उसकी सेवाओ को मान्यता दी गयी, और तब उसे काउण्ट बना कर काउण्ट मुरावीव आमुर्स्की का नाम दिया गया।

## (३) साइबेरिया में बस्तियाँ

तीन शताब्दियो मे जो यह विस्तृत क्षेत्र रूस के हाथ आया, उसमे बसने का काम, शुरू में तो बहुत धीरे-धीरे चला, पर सन् १८९० के बाद इसमे गति आ गयी। बुरियात जैसी स्थानीय जातियो को छोड़कर तीन अन्य जातियाँ भी इस उपनिवेशीकरण मे शामिल हुईं। शुरू मे आकर कज्जाक बसे। जो क्षेत्र रूस के अधिकार में आते जाते थे, वहाँ कज्जाक जाकर विरल रूप से बस जाते थे और उस क्षेत्र पर रूसी आधिपत्य कायम रखते थे। उन्नीसवी शताब्दी के पहले पच्चीस वर्षो के बाद जो तत्व यहाँ बड़ी सख्या मे बसाये गये, वे बिलकुल भिन्न थे। सन् १८२३ व सन् १८८७ के बीच यहाँ यूरोपीय रूस से निष्कासित सात लाख व्यक्ति निर्वासित किये गये थे। इनमें से कुछ तो जरायम पेशा या अपराधशील थे, पर बहुत से राजनीतिक बन्दी भी थे और ऊँचे दरजे के लोग थे। इन लोगो के परिवार भी इनके साथ आये और अनेक यहाँ ही स्थायी रूप से आबाद हो गये। राजनीतिक निर्वासितो में प्रमुख थे

सन् १८२५ में क्रांतिकारी आदोलन की असफलता के बाद आने वाले दिसम्बरवादी, सन् १८६३ में तथा उसके बाद आने वाले पोलैण्ड के विरोधी तथा सन् १९१४ मे युद्ध शुरू होने तक होने वाले एक के बाद एक क्रांतिकारी आदोलनो में भाग लेनेवाले लोग। सन् १९१४ मे राजनीतिक बंदियो व अन्य सभी लोगों के लिए यह निर्वासन-प्रथा बन्द कर दी गयी, किन्तु तब तक इन लोगों के द्वारा जनसंख्या की दृष्टि से साइबेरिया काफी हद तक बसाया जा चुका था।

साइबेरिया में बसनेवाले तत्त्वो मे सबसे महत्त्वपूर्ण प्रवासी किसान थे। किसानो का यह प्रवास-आदोलन सन् १८६० मे शुरू हुआ था और रूस में कृषक दास-प्रथा की समाप्ति से इसे प्रोत्साहन मिला था। इस आंदोलन मे सन् १८६० से सन् १८६३ तक लगभग बीस लाख प्रवासी साइबेरिया पहुँचे थे। सन् १८७० के बाद के बीस वर्षों मे लगभग पाँच लाख लोग और आये। इसके उपरान्त, रेलमार्ग के निर्माण हो जाने के फलस्वरूप यहाँ आकर बसने वालो की सख्या बढती गयी। इस क्षेत्र के विकास मे सबसे बड़ा योग निस्सन्देह ही ट्रास-साइबेरिया-रेलमार्ग का था।

प्रशान्त महासागर तक रेलमार्ग बनाने का विचार सन् १८५८ मे शुरू हुआ था। सन् १८७५ मे पर्म-एकटरीनबर्ग-तिऊमेन-रेलमार्ग का प्रस्ताव हुआ, जो सन् १८८४ तक कार्यरूप में परिणत हुआ। सन् १८९० मे यूराल पार का रेलमार्ग बढा-कर चेलियाबिंस्क तक पहुँचा दिया गया और सन् १८९१ मे जार के शाही निर्णय के अनुसार ट्रास साइबेरिया (साइबेरिया के एक से दूसरे छोर तक) रेल मार्ग चालू हो गया। रेलनिर्माण से सुदूरपूर्व के प्रान्तो से रूसी सम्बन्धो का स्वरूप ही बदल गया। जैसे-जैसे यह विकास-कार्य होता गया प्रदेश की बस्तियाँ घनी होती गयी और रेलमार्ग के साथ-साथ प्रवासियो की टोलियाँ पूर्व में आगे बढ़ती गयी। इन बस्तियो और यातायात के साधनो के विकास से बैकाल झील के पूर्व मे शाही सरकार का ध्यान आकृष्ट होता गया।

रेलमार्ग-निर्माण का मूल उद्देश्य आर्थिक था पर साम्राज्य के एकीकरण मे भी इससे बहुत सहायता मिली। जब रेलमार्ग का निर्माण शुरू हुआ तब देखा गया कि उत्तरी मचूरिया से होकर व्लाडीवोस्टक तक यह मार्ग बनाने में बहुत किफायत होगी और जापान से युद्ध मे चीन के हार जाने से रूस के लिए मचूरिया मे रेलमार्ग बनाने की सुविधा प्राप्त करने में बडी आसानी हो गयी।[२] मचूरिया से गुजरने वाले मार्ग का नाम चीनी पूर्वी रेलवे पड़ा।

सन् १८९६ के बाद रूसी सरकार ने सुदूरपूर्व में खुले प्रसार की नीति अपनायी। इससे रूस को मंचूरिया व कोरिया में कुछ ऐसे काम हाथ में लेने पड़े, जिनके कारण

उसकी जापान से अनबन हो गयी। प्रसार-नीति रूसी किसान को पूर्व की ओर बढने के लिए सरकारी प्रोत्साहन मे भी परिलक्षित थी। सन् १९०४-१९०५ के युद्ध मे हार के बाद साम्राज्य मे शामिल क्षेत्रो को रूसी आबादी व रूसी रगढग देने के लिए किसानो को वहाँ बसने के लिए और भी अधिक बढावा दिया जाने लगा। सन् १९०४ मे साइबेरिया मे रूसियो की जनसख्या लगभग ६५ लाख थी। सन् १९०६ म प्रवास प्रोत्साहन पर १३ लाख डालर खर्च किये गये और सन् १९०८ मे यह राशि बढाकर एक करोड डालर कर दी गयी और उस वर्ष लगभग पाँच लाख रूसी लोग आकर साइबेरिया मे बसे।

जापान से हुए युद्ध मे जापान ने साइबेरिया पर कभी हमला नही किया, किन्तु मचूरिया के मोर्चे पर लड़ने के लिए अनेक रूसी सैनिक साइबेरिया होकर गुजरे और इस प्रकार उस क्षेत्र के सबध में उनकी जानकारी हुई, जिसके बारे मे युद्ध से पहले लोगो को अधिक ज्ञान नही था। इस युद्ध के कारण उपनिवेशीकरण को प्रोत्साहन मिला और सेना से निवृत्ति पाने के बाद अनेक रूसी सैनिक इसी क्षेत्र मे आकर आबाद हो गये।

पोर्ट्समाउथ सधि का साइबेरिया पर प्रत्यक्ष प्रभाव पडा, क्योंकि सधि की दो शर्तों का वहाँ की जनता के लिए विशेष महत्त्व था। एक तो सखालीन द्वीप के दक्षिणी भाग से रूस का अधिकार उठ गया; रूस ने सन् १८७५ मे जापान से यह अधिकार कुराइल द्वीप पर नाममात्र के स्वामित्व के बदले मे प्राप्त किया था। दूसरे, रूस को बाध्य होकर साइबेरिया के तटीय सागर में जापानी मछुवाहो को मछली पकड़ने का अधिकार देना पड़ा। युद्ध का एक परिणाम यह भी हुआ कि लिआओतुग प्रायद्वीप में बन्दरगाह-सबधी सुविधाएँ रूस से छिन गयी, जिससे रूस के लिए व्लाडीवोस्टक का महत्त्व बढ गया और उसने इसे मजबूत किलेबन्दी करके अपना नौसैनिक अड्डा बनाया।

सन् १९१४ तक साइबेरिया रूसी साम्राज्य का एक अविच्छिन्न अग बन चुका था; उस पर सेण्टपीर्सटबर्ग से शासन होता था और इस शासन से पृथक् होने की कोई विशिष्ट इच्छा कहीं नही थी। कई अर्थो मे साइबेरिया में बसे लोगो का रुतबा और रहन-सहन का स्तर यूरोपीय रूस के किसानो से बेहतर था। यूरोप की अपेक्षा यहाँ जोतें बड़ी-बड़ी थी, क्योंकि भूमि काफी थी और बसने वाले कम थे। क्षेत्र का विकास बाद में होने और वहाँ के जीवन मे पुरोगमन के फलस्वरूप व्यक्तिवाद को यहाँ प्रोत्साहन मिला था। और इस भावना को इस बात से भी बढावा मिला था कि भूमि व्यक्ति की थी, उसका सामाजिक स्वामित्व नही था। इस प्रकार यहाँ के

लोगो के जीवनयापन के ढंग और विचारो मे तथा अमरीका या पश्चिमी कनाडा के उपनिवेशीकरण के शुरू के दिनो के लोगो के ढंग व विचारों मे बडी समानता थी।

किन्तु निवासियो के रूसी और क्षेत्र के साम्राज्य के अविच्छिन्न अग होने के बावजूद लोग पूर्ण स्वतत्रता की इच्छा व्यक्त किये बिना अधिक सार्वभौमिक अधिकार तो चाहते ही थे। अनेक लोग कहते थे, और उनकी बात उचित भी थी, कि जब तक बिल्कुल स्थानीय विषयो पर भी निर्णय दूरस्थ सेण्टपीटर्सबर्ग मे होता रहेगा, क्षेत्र के सम्यक् विकास मे बाधा पड़ती रहेगी। सार्वभौम अधिकारो के लिए पहले-पहल सन् १९०५ मे माँग की गयी और इस आंदोलन के फलस्वरूप प्रथम ड्यूचा (निर्वाचित स्थानिक स्वायत्त शासन सस्था) की स्थापना हुई। इसके उपरान्त साइबेरिया के निवासियो ने माँग की कि क्षेत्र को पूर्ण स्वायत्त शासन मिले और केन्द्रीय शासन का नियत्रण केवल उन्ही विषयो तक सीमित रहे, जिनमे केन्द्रीय हित निहित हो। जो उन्होने माँगा वह नही मिला, फिर भी, सन् १९०९ मे जेम्स्त्वो (निर्वाचित विधानसभा) प्रणाली लागू हुई और वाछित दिशा मे एक कदम उठाया गया।

महायुद्ध के शुरू के काल मे, रूसी क्राति के पहले तक साइबेरिया में असंतोष के कोई विशिष्ट चिह्न प्रकट नही हुए थे। जिस प्रकार साम्राज्य के अन्य क्षेत्रों के लोग उनसे की गयी माँगे पूरी करते थे, उसी प्रकार साइबेरिया के लोग भी करते थे। युद्ध से उनका सबंध जर्मनी व आस्ट्रिया के युद्धबंदियो के निवास के लिए स्थान देने और व्लाडीवोस्टक से ट्रांस-साइबेरिया-रेलमार्ग द्वारा अमरीका व जापान में खरीदी हुई युद्ध-सामग्री को युद्धक्षेत्र तक ले जाने के लिए मार्ग देने तक सीमित था।

रूस ने जापान से बहुत अधिक युद्धसामग्री खरीदी, किन्तु बाद मे वह इस सामग्री के दाम चुकाने मे असमर्थ हो गया। परिणामस्वरूप, उसे उत्तरी मंचूरिया से और पीछे हटना पड़ा। युद्ध के लिए खरीदे गये आवश्यक गोला-बारूद व शस्त्रास्त्र के दाम आंशिक रूप से चुकाने और इस सामान की जापान से आमद जारी रखने के लिए रूस ने चांगचुन से लगभग हारबिन तक की अपनी रेल-संपत्ति जापान के सिपुर्द कर दी और जापान की ट्रास-साइबेरिया-मार्ग तक पहुँचने की पुरानी बलवती कामना लगभग पूरी हो गयी।

## (४) रूसी क्रांति का साइबेरिया पर प्रभाव

मार्च, १९१७, में रूस में जो क्राति हुई, उसकी साइबेरिया में भी वही प्रतिक्रिया हुई जो यूरोपीय रूस मे हुई थी, किन्तु उसके परिणाम भिन्न हुए। क्रांति का एक नये युग के प्रारम्भ के रूप में स्वागत व आह्वान किया गया और इसलिए इस

अवसर का लाभ उठा कर साइबेरिया का पृथक् राज्य बनाने का कोई प्रयत्न तत्काल नही किया गया। शुरू मे जो क्रातिकारी सरकारे बनी, उनका हार्दिक स्वागत किया गया या उन्हे निष्क्रिय स्वीकृति प्राप्त होती रही। किन्तु क्रांति के कारण एक सीमा तक अनिश्चितता और इसलिए अस्थिरता तो आ ही गयी थी। तत्काल, जेम्स्त्वो जैसी स्थानिक सस्थाओ ने कार्यसचालन अपने हाथो मे ले लिया। इसके अतिरिक्त, अनेक नगरो मे अधिकारियो के निरीक्षण तथा जनता व क्राति के हितो की रक्षा के लिए स्थानीय समितियो (सोवियतो) की स्थापना हो गयी, ये अधिकारी अधिकाशत पिछली सरकार द्वारा नियुक्त लोग थे।

जिस तरह साइबेरिया बसाया गया था, उसमे स्वभावत ही, वहाँ अनेक उग्र व क्रातिकारी व्यक्ति तथा समुदाय मौजूद थे। क्राति के तत्काल बाद ऐसे लोगो की सख्या बढ गयी कि अनेक निर्वासित लोग व्लाडीवोस्टक तथा ट्रांस-साइबेरिया-रेल-मार्ग से रूस पहुँचने का प्रयास करने लगे और उनमे से काफी साइबेरिया मे ही रुक गये।

दस वर्ष पुरानी अपनी स्वशासन की माँग को अपनी सरकारें बनाकर पूरी कर लेने के अतिरिक्त साइबेरिया के लोगो ने उस सविधान सभा मे अपने प्रतिनिधि भी भेजे, जो सारे रूस के लिए सविधान बनाने और शासन तत्र का रूप निश्चित करने के लिए बुलायी गयी थी।

इस सविधान सभा के भग होने और यूरोपीय रूस मे बोल्शेविक-दल का नियत्रण हो जाने के बाद साइबेरिया को लेकर तथा साइबेरिया मे ही अशाति शुरू हुई। नगरो मे मजदूरो के बीच ऐसे तत्व मौजूद थे, जो बोल्शेविको के साम्यवादी कार्यक्रम के समर्थक थे, किन्तु किसान सामान्यत. समाजवादी विचार धारा के होते हुए भी कम्युनिस्ट-विरोधी थे। यह कहना असभव है कि यदि उन्हे अपना भाग्य निर्णय करने के लिए स्वतंत्र छोड दिया जाता तो परिणाम क्या होता; वस्तुत, उनपर बाहरी प्रभाव पड़ा तथा कुछ स्थानो पर पहली क्राति के बाद आये लोगो ने सक्रिय भाग लिया। बाहर से आने वाले लोग दो विचारधाराओ के थे; एक तो जार द्वारा निष्कासित उग्र विचारो के लोग थे और दूसरे वे रूढिवादी लोग थे, जो पहली क्राति के समय रूस से भाग आये थे या केरेंस्की-सरकार के पतन के बाद बोल्शेविको द्वारा निर्वासित कर दिये गये थे। पहले वाले तत्व साइबेरिया के उग्र विचारवालो से मिलकर सुदूरपूर्व में साम्यवादी राज्य स्थापित करना चाहते थे; दूसरे वाले तत्व पुराने शासन को फिर से स्थापित करना चाहते थे।

## (५) विदेशी हस्तक्षेप का प्रस्ताव

साइबेरिया में विदेशी हस्तक्षेप सन् १९१८ तक नही हुआ और गंभीरतापूर्वक इस ओर तब ध्यान भी नही दिया गया, जब तक लेनिन व ट्राट्स्की के नेतृत्व में

रूस महायुद्ध से अलग नही हो गया। किन्तु क्राति के फौरन बाद युद्धपोत व्लाडी-वोस्टक भेज दिये गये। शुरू मे, अमरीकी नौसेना के सह-नौबलाध्यक्ष (रीअर-एड-मिरल) नाइट ने नगर के विभिन्न राजनीतिक गुटो से सपर्क कायम करने का प्रयास किया और जब इन गुटो मे मतभेद बढने लगे, उन्होने एक योजना पेश की कि मित्र राष्ट्रो की सहायता व समर्थन से वे एक हो जायँ। अमरीकी सरकार ने इस योजना के अनुसार काम नही किया और साइबेरिया में स्थिति बदलती रही ओर लगने लगा कि साम्यवाद की जड़े वहाँ गहरी बैठ जायँगी।

सन् १९१८ के शुरू में साइबेरिया में मित्र-राष्ट्रो के हस्तक्षेप के सुझाव औप-चारिक रूप से आने लगे। ब्रिटेन की ससद् मे १४ मार्च को बालफर ने सुझाव दिया कि उस क्षेत्र में जर्मनी का प्रभुत्व होने से रोकने के लिए मित्रदेश जापान से हस्तक्षेप करने को कहा जाय। यह कहा गया कि जर्मनी व आस्ट्रिया के युद्ध-बदियो को बड़ी सख्या मे मुक्त कर दिया गया है और वे पूर्व की ओर बढ रहे ह, यदि समय रहते काररवाई न की गयी तो इन युद्ध बदियो का साइबेरिया पर आधिपत्य हो जायगा। उस समय प्रस्ताव केवल जापान द्वारा हस्तक्षेप का था, मित्र राष्ट्रो के सयुक्त हस्तक्षेप का नही।

हस्तक्षेप के संबंध में जापान का दृष्टिकोण जाब्ते से प्रकट करते हुए परराष्ट्र मंत्री, बैरन गोटो, ने १ मई, १९१८ को कहा—रूस में "पुनस्सगठन के काम में जापान को प्रोत्साहन, सहायता व समर्थन देना ही चाहिए" और "सुदूरपूर्व में शांति कायम रखने" के उत्तरदायित्व को जापान को निबाहते रखना चाहिए। इसके बाद फ्रांस व ब्रिटेन की सहमति से जापान ने अमरीका से प्रस्ताव किया कि मित्र राष्ट्रो के हितों की रक्षा के लिए जापानी सैनिक व्लाडीवोस्टक में उतार दिये जायँ। जब राष्ट्रपति विलसन ने इस नीति के औचित्य व विवेक के संबध मे शका प्रकट की, तब जापान सरकार ने यह रुख अपनाया कि जब तक मित्र राष्ट्र आपस में यह तय नही कर लेते कि उचित कदम क्या होगा, वह (जापान) इस संबध में कोई काररवाई करने के लिए तत्पर न होगा। किन्तु क्रांति होने के पूर्व ही, रूसी मोर्चे पर साइबेरिया होकर भेजने के लिए जो सामान व्लाडीवोस्टक जमा कर लिया गया था, उसकी सुरक्षा के लिए ब्रिटेन व जापान के नौसैनिक अप्रैल मे ही उस नगर मे पहुँचा दिये गये थे। जापान ने १६ मई, १९१८ को चीन से सम-झौता करके सभावित घटनाओं का सामना करने के लिए अपनी तैयारी भी कर ली; इस समझौते के अनुसार चीन व जापान उत्तर में अपने हितों की रक्षा के लिए और चीनी पूर्वी रेल मार्ग से फौजें भेजने में सहयोग देने के लिए सहमत हो गये।

ग्रीष्म मे अमरीका ने स्वय ही मित्रराष्ट्रो द्वारा साइबेरिया मे सक्रिय हस्तक्षेप करने का प्रस्ताव किया। अमरीका के दृष्टिकोण मे इस परिवर्तन का कारण यह बताया गया कि रूसी सरकार के चेकोस्लोवाको के प्रति दृष्टिकोण बदल जाने से उन लोगो के लिए जो सकटापन्न स्थिति उत्पन्न हो गयी थी, उसमे उन्हे बचाना आवश्यक था। चेकोस्लोवाक सेना मे वे लोग थे, जो पहले के आस्ट्रिया के साम्राज्य की प्रजा थे और जो या तो रूसियो द्वारा बदी बना लिये गये थे और या जो अवसर पाते ही आस्ट्रिया की सेना से भाग निकले थे और जिन्हे रूस मे शरण मिली थी। क्राति के बाद रूस के सैनिक पराभव पर इन लोगो ने इच्छा प्रकट की उन्हे रूस छोडकर फ्रास पहुँच कर पश्चिमी मोर्चे पर मित्रराष्ट्रो की ओर से लडने के लिए सुविधाएँ प्रदान की जायें। इस इच्छा के पीछे यह आशा निहित थी कि मित्रराष्ट्रो की विजय के उपरान्त चेक राष्ट्रीय राज्य स्थापित हो सकेगा।

बोल्शेविको के शासन में आने के शीघ्र बाद चेकोस्लोवाको ने रूस छोडने की अनुमति चाही। यह अनुमति उन्हें फरवरी मे प्राप्त हो गयी और उन्होने पूर्व की ओर प्रस्थान किया। किन्तु मार्च मे रूस व जर्मनी के बीच ब्रेस्ट-लिटोव्स्क-सधि हो गयी। अब जर्मनी ने रूस पर दबाव डालना शुरू किया कि चेक-सेना को रूस से हटने की जो अनुमति दी गयी थी वह वापस ली जाय। सोवियत्-शासन इस दबाव मे आ गया और मई मे चेक-सेना को निश्शस्त्र करने का प्रयास किया गया। इस पर चेक-सेना ने चेलियाबिंस्क से क्रासनोयार्स्क तक के क्षेत्र पर कब्जा कर लिया। इस प्रकार स्थिति यह हो गयी कि चेक-सेना ने उस क्षेत्र पर अधिकार कर लिया, जो शत्रु-क्षेत्र बन गया था, किन्तु वहाँ से निकलने के लिए ट्रांस-साइबेरिया-रेलमार्ग पर नियत्रण आवश्यक था। कहा यह गया कि उनकी मुख्य कठिनाई जर्मनी व आस्ट्रिया के वे युद्धबंदी थे, जो मुक्त करके सशस्त्र कर दिये गये थे, किन्तु, वास्तविकता यह थी कि रूस के भीतर सशस्त्र सेना के रूप मे मौजूद रहना ही उनके लिए असली खतरा था।[१] हस्तक्षेप के सबंध मे अमरीकी दृष्टिकोण बदलने का कारण यह स्थिति ही थी।

कोई कदम उठाने के पूर्व जापान व अमरीका ने अपने इरादो की औपचारिक रूप से घोषणा कर दी। अमरीकी घोषणा में पहले तो यह प्रस्ताव किया गया कि सामान्य सैनिक-अभियान विवेकपूर्ण न होगा, क्योकि इसका प्रभाव रूस की सेवा नही उसका उपयोग मात्र होगा और इससे मित्रराष्ट्रो की शक्ति का अनुचित विभाजन हो जायगा। इसके फलस्वरूप पश्चिमी मोर्चे से अनावश्यक रूप से ध्यान हट जायगा। अमरीका के मौलिक दृष्टिकोण की पुनरावृत्ति के रूप में यह कह कर घोषणा में आगे बताया गया

आज की स्थिति मे अमरीकी सरकार रूस मे सैनिक काररवाई केवल इसलिए आवश्यक समझती है कि चेकोस्लोवाक-सेना को हर सभव सुरक्षा व सहायता दी जाय, क्योकि उस पर जर्मनी व आस्ट्रिया के सशस्त्र युद्धबन्दी आक्रमण कर रहे है और स्वशासन व स्वरक्षा के लिए रूसी लोग जो भी सहायता स्वीकार करे वह सहायता उन्हे दी जाय। चाहे व्लाडीवोस्टक मे हो या मर्मास्क मे आर्केंजिल मे, अमरीकी सैनिको का एकमात्र लक्ष्य होगा उस सैनिक-सामग्री की रक्षा करना, जो बाद मे रूसी सेना के काम आ सके और ऐसी सहायता प्रदान करना, जो स्वरक्षा सगठन के लिए रूसियो को ग्राह्य हो।[४]

अमरीकी घोषणा मे यह आश्वासन भी दिया गया था कि रूस की राजनीतिक प्रभुसत्ता, उसके आतरिक मामलो या उसकी क्षेत्रीय अविच्छिन्नता मे कोई हस्तक्षेप नही किया जायगा।

जापान सरकार ने भी हस्तक्षेप के उद्देश्य स्पष्ट करते हुए इसी प्रकार के आश्वासन दिये कि वह रूस के आतरिक मामलों में दखल नही देगा और रूस की क्षेत्रीय अविच्छिन्नता का सम्मान करेगा। दोनों पक्षों ने घोषणा की कि हस्तक्षेप के सीमित उद्देश्यो की पूर्ति होते ही सैनिक हटा लिये जायँगे।[५]

यूरोपीय राज्यों ने इस सैनिक-अभियान के लिए अपनी-अपनी सैनिक टुकड़ियाँ भेजी और अमरीका व जापान ने, समझौते के अनुसार, साढ़े सात-सात हजार सैनिक व्लाडीवोस्टक भेज दिये। अमरीकी सैनिकों की सख्या तो समझौते के अनुरूप ही रही, किन्तु जापान ने घोषित उद्देश्यो व हस्तक्षेप के महत्त्व से कहीं अधिक सैनिक उतार दिये, जिससे साइबेरिया में जापान के हस्तक्षेप के गुप्त उद्देश्यों की आशंका करने वालो के सन्देह तत्काल पुष्ट हो गये। जापान ने साइबेरिया में जो सैनिक भेजे, उनकी सख्या का अनुमान ३० से ९० हजार तक लगाया गया।

साइबेरिया मे हस्तक्षेप के औचित्य के पक्ष मे यह तर्क दिया गया था कि ब्रेस्ट-लिटोव्स्क-सधि के उपरान्त सशस्त्र किये गये जर्मनी व आस्ट्रिया के युद्धबदियों से चेकोस्लोवाक-सेना की रक्षा करनी थी। किन्तु वास्तविकता यह थी कि हस्तक्षेप के पीछे असली उद्देश्य साम्यवाद का डर था। स्वशासन के रूसी प्रयासो को स्थायित्व प्रदान करने का अर्थ पश्चिमी राष्ट्रो के लिए यही था कि जो भी गुट साइबेरिया में सोवियत्-शासन की स्थापना का विरोध करे, उसे सहायता व समर्थन प्रदान किया जाय। जापान का भी यही दृष्टिकोण था, यद्यपि बाद में जापानी नीति का एक उद्देश्य साइबेरिया के समुद्रो में मछली मारने का अधिकार प्राप्त करना भी प्रकट हुआ।

कुछ अपवादो को छोडकर, व्लाडीवोस्टक-स्थित, गैर जापानी, विदेशी सेनाएँ व्लाडीवोस्टक मे ही रही, यद्यपि चेकोस्लोवाक-सेना को सरलतापूर्वक बाहर निकाल लाने के लिए कुछ छोटे-मोटे अभियान उस क्षेत्र के भीतर भी हुए। किन्तु दूसरी ओर जापानी सेना बडी सख्या मे क्षेत्र के भीतर घुस गयी। आमूर के मुहाने पर, निकोलाइव्स्क मे फौजें उतार दी गयी, ब्लागोवेस्क व एलेक्सिव्स्क पर कब्जा कर लिया गया; हाबारोव्स्क पर अधिकार कर लिया गया। इसके अतिरिक्त ट्रास-साइबेरिया रेल मार्ग पर सुनियोजित बढ़ाव शुरू हुआ। हर स्थान पर, हर अवसर पर, जापानी साइबेरिया के स्वामी के रूप मे व्यवहार करते थे और इस प्रकार उनके प्रति अविश्वास व दुर्भावना बढती जा रही थी।

## (६) आंतरिक संघर्ष

इसी बीच साइबेरिया के निवासियो ने संगठित होना शुरू कर दिया था। अनेक स्थानो पर स्थानीय सोवियतो की स्थापना हो गयी थी और उन्होने शासन संचालन का भार अपने ऊपर ले लिया था। किन्तु दूसरी ओर अनेक स्थानो पर गैर-साम्यवादी शासन स्थापित करने के भी प्रयत्न हुए। क्षेत्र की आंतरिक राजनीति मे हस्तक्षेप न करने के वचन के बावजूद, इन साम्यवाद-विरोधी शासनो को मित्रराष्ट्रो मे से किसी-न-किसी की सहायता मिलती ही रही और जापान तो सुनियोजित ढग से उन सभी शासनो को प्रोत्साहित करता रहा जो जापान से उसकी शर्तो पर समझौता करने को तैयार थे। इन स्थानीय 'सरकारो' का विशद वर्णन अनावश्यक है। जनरल होरवाथ ने चीनी भूमि पर साम्यवादी शासन हारबिन के लिए कायम किया और उसे कुछ समय तक जापानी सहायता मिलती रही। इस सहायता के बावजूद या इस सहायता के कारण ही होरवाथ को साइबेरिया मे कोई जन-समर्थन प्राप्त नही हुआ। होरवाथ की असफलता का एक कारण यह भी था कि साइबेरियावासी किसी भी ऐसे काम से डरते थे, जिससे प्रतिक्रियावाद की गध आती हो। होरवाथ की 'त्राता' की भूमिका समाप्त होने पर जापानियो को अपना मतव्य पूरा करने के लिए अन्यत्र देखना पडा। जून, १९१८ के मित्रराष्ट्रीय अभियान के पूर्व ओम्स्क मे सर्व-साइबेरिया सरकार स्थापित करने के प्रयास हुए। यह शासन साम्यवाद-विरोधी था। इस शासन मे बाद मे ऊफा मे बनी सरकार भी शामिल कर दी गयी। इस सयुक्त सरकार के नियत्रण के लिए पाँच-सदस्यीय सचालन-समिति बनी; इन पाँच मे से तीन सदस्य समाजवादी विचारधारा के थे। इस समिति ने एडमिरल कोलचाक को अपना युद्धमंत्री बनाया। १७ नवम्बर, १९१८ को कोलचाक ने विप्लव द्वारा सरकार का तख्ता

उलट दिया और स्वय सचालक बन बैठे; उन्होंने साम्यवादियो को साइबेरिया से निकाल बाहर करने का इरादा प्रकट किया।

कोलचाक की शक्ति देख कर जापान ने उसका समर्थन शुरू किया, यद्यपि कज्जाक अटामान सेमेनोव को भी जो चीटा मे प्रभुत्व जमाये हुए था, जापान धन व सामग्री दे रहा था। सेमेनोव और कोलचाक के ध्येय एक ही थे और इसलिए उन दोनो को मिलाकर उनसे मिल-जुल कर काम कराने के प्रयत्न किये गये, सेमेनोव को नाममात्र के लिए कोलचाक के अधीन कर दिया गया। किन्तु, सेमेनोव ने इस शासन को सहयोग व सहायता नही दी जिसके कारण इस सरकार का अंततः पतन हो गया। किन्तु कोलचाक-सरकार के पतन का एक मुख्य कारण यह था कि उसने अपने बूते के बाहर का काम अपने ऊपर ओढ़ लिया था; यूराल के पूर्व मे साम्यवादियो को खत्म करने का जो बीडा उसने उठाया था, उसमे शुरू मे तो कुछ सफलता मिली, क्योकि उस समय साम्यवादी लाल सेना का पुनस्सगठन हो रहा था, किन्तु पुनस्सगठन का काम पूरा होते ही कोलचाक की सेना की हार शुरू हो गयी और अतत उसका भी वही परिणाम हुआ जो साम्यवाद को समाप्त करने के अन्य प्रयासो का हुआ था।

कोलचाक की पराजय के बाद बैकाल झील से यूराल तक के पश्चिमी साइबेरिया के क्षेत्र ने साम्यवाद के पक्ष में होने और रूस मे आत्मसात् होने के पक्ष में घोषणा कर दी। इस घोषणा के उपरान्त साइबेरिया के पूर्वी क्षेत्र मे होनेवाले सघर्ष से पश्चिमी साइबेरिया पर कोई प्रभाव नही पड़ा। पूर्वी क्षेत्र मे राजनीतिक स्थायित्व आने मे समय लगा और काफी समय तक वहाँ उपद्रव व अशाति रही। सेमेनोव चीटा मे अपना प्रभुत्व जमाये रहा और कोलचाक के पराभव से लाभ उठाकर उसने उसकी सेना के अवशेष अपनी सेना मे भरती कर लिये। चीटा के आसपास के क्षेत्र मे बडी अशाति रही, क्योंकि उस क्षेत्र पर सेमेनोव आतकवादी ढंग से शासन करता था। कुछ क्षेत्र पर जापानी सैनिको ने कब्जा कर रखा था या रूसी व्यक्ति नाममात्र के लिए शासनाध्यक्ष बना दिये गये थे जो जापानी शक्ति व सहायता से शासन चलाते थे। इन क्षेत्रों के बाहर सगठित सरकार का अस्तित्व भी नहीं था।

विघटन की इस परिस्थिति में 'पक्षपातियों' के गिरोहों का जन्म हुआ; ये साइबेरिया के देशभक्त या लूट-खसोट करनेवालो के गिरोह होते थे, जो कभी अलग-अलग और कभी मिलकर काम करते थे; इन लोगो की विचारधारा साम्यवादी थी और ये मास्को सरकार से संबद्ध शासन पूर्वी एशिया मे स्थापित करना चाहते थे।

सन् १९१९ मे ये गिरोह अपना प्रभुत्व पूर्व की ओर बढाते गये और उनके साथ कुछ-कुछ व्यवस्था आती गयी। अतत सेमेनोव भी चीटा से खदेड दिया गया और वहाँ एक नयी सरकार का केन्द्र बना।

जब ये गिरोह पश्चिम की ओर बढ रहे थे, इनका सामना एक अन्य आदोलन से हो गया, जिसका प्रणेता क्रासनौसचैकोफ नामक एक व्यक्ति था, जो मास्को के निर्देशानुसार पूर्व की ओर बढ रहा था। वह मूलत. साम्यवादी था, किन्तु उसका यह विश्वास हो गया था कि प्रगति की इस विशिष्ट स्थिति मे साइबेरिया का विकास पूँजीवादी माध्यम से ही संभव है। वह यह भी समझ गया था कि मित्र-राष्ट्र सुदूरपूर्व मे एक साम्यवादी शासन को आसानी से सहन नही करेंगे। इसलिए उसने मास्को-शासन को समझाया कि जापान व रूस के बीच व्यवधान स्वरूप एक जनतत्रीय राज्य की स्थापना वांछनीय होगी, और इस काम मे वह सफल भी हो गया, इन गिरोहो को भी वह यह समझाने मे सफल हो गया कि बैकाल झील के पूर्व के क्षेत्र मे साम्यवाद की स्थापना का प्रयत्न उपयुक्त न होगा। उसके प्रयत्नो के फलस्वरूप साइबेरिया का सुदूरपूर्वीय गणतत्र स्थापित हुआ। किन्तु अभी तक रूस का जो क्षेत्र साइबेरिया नाम से जाना जाता था, वह पूरा का पूरा इस नये राज्य मे शामिल नही था। पहले तो बैकाल झील के पश्चिम के क्षेत्र ने रूस मे शामिल होने का फैसला कर लिया, फिर मास्को से हुए समझौते के अनुसार[६] कामचाटका का पहले का प्रान्त रूसी क्षेत्र के रूप मे सुरक्षित कर दिया गया, तीसरे, समुद्र तट के प्रान्त पर कुछ दिनो तक जापान नाममात्र के रूसी कठपुतली शासको के द्वारा अपना कब्जा जमाये रहा, उधर सुदूरपूर्वीय रूसी क्षेत्र के एक अग पचासवें अक्षाश के उत्तर के सखालीन द्वीप के क्षेत्र पर जापान ने निकोलाईव्स्क घटना-सबंधी समझौते के होने तक अपना कब्जा जमाये रखा।[७] परिणाम यह हुआ कि इस नये सुदूरपूर्वीय गणतंत्र का क्षेत्र बैकाल झील से पूर्व मे समुद्री प्रान्त तक एक सँकरी पट्टी के रूप में रह गया। जापानी सेनापति ने इसकी स्थापना पर प्रसन्नता प्रकट की, पर जापान सरकार ने इस शासन को मान्यता नही दी और इसकी सत्ता के प्रसार को रोकने का प्रयास किया। किन्तु, सन् १९२० के अत तक व्लाडीवोस्टक-शासन ने चीटा-सरकार को साइबेरिया की सरकार के रूप मे मान्यता दे दी। इसके उपरान्त संघर्षरत गुटो से समझौते और सेमेनोव को उसके अधिकार-क्षेत्र से खदेड़ देने के फलस्वरूप वहाँ एक सुगठित राज्य की स्थापना सभव हुई।

फलत, केरेंस्की शासन के चुनाव-कानून के अनुरूप संविधानसभा में प्रतिनिधि भेजने की व्यवस्था हुई। इस सभा का पहला अधिवेशन १२ फरवरी, १९२१ को

हुआ जिसमें निर्दलीय किसानो का बहुमत था। सभा ने नवस्थापित गणतंत्र के लिए सविधान बनाने का काम शुरू किया और १७ अप्रैल को सविधान स्वीकार कर लिया; यह सभा इस राज्य के शासन के रूप मे १५ नवम्बर, १९२२ तक कार्य करती रही, जबकि सुदूरपूर्वीय गणतत्र औपचारिक रूप से सोवियत्-सघ में शामिल हो गया।

दो वर्ष तक यह राज्य मान्यता प्राप्त करने का प्रयत्न करता रहा, ताकि सन् १९१७ के बाद से सुदूरपूर्व के मामलो मे बोलने के जिस अधिकार से रूस वचित हो गया था, वह उसे फिर प्राप्त हो जाय। इस गणराज्य ने वाशिंगटन-सम्मेलन के लिए भी अपने प्रतिनिधि इस आशा से भेजे कि उसे मान्यता प्राप्त हो जायगी, उसके प्रतिनिधि उस सम्मेलन मे भाग ले सकेंगे और जापान के साइबेरिया मे हस्तक्षेप कायम रहने के प्रश्न पर वे अपना दृष्टिकोण स्पष्टत. रख सकेंगे। जब यह मान्यता नही मिली तो इस राज्य के अस्तित्व को कायम रखने का एक बडा कारण खत्म हो गया। इसके अतिरिक्त, कुछ समय तक यह भी समझा गया था कि चीन और जापान से समझौते की बात एक गैर-साम्यवादी शासन के माध्यम से करने मे सोवियत्-शासन को अधिक सुविधा रहेगी।

## (७) सोवियत् रूस व जापान

इस सुदूरपूर्वीय गणतंत्र व जापान के प्रतिनिधियो के दो सम्मेलन हुए; इनमे से पहले सम्मेलन मे रूसी प्रतिनिधि केवल पर्यवेक्षक के रूप मे शामिल था, किन्तु दूसरे मे उसने सक्रिय भाग लिया। पहला सम्मेलन डैरन मे अगस्त, १९२१ में शुरू हुआ और अप्रैल, १९२२ तक बीच-बीच मे मिलता रहा; इस प्रकार यह सम्मेलन वाशिंगटन-सम्मेलन के समय भी जारी रहा। सम्मेलन के समय जो प्रश्न प्रस्तुत थे, उन पर कोई समझौता नहीं हो सका, क्योकि जापान के प्रस्ताव अत्यधिक आपत्तिजनक थे और वह उन्हे स्वीकार्य बनाने के लिए उनमे कोई भी संशोधन करने को तैयार नही था। इस सम्मेलन मे भाग लेने के पीछे जापान का उद्देश्य यह था कि साइबेरिया का प्रश्न वाशिंगटन-सम्मेलन मे इस आधार पर न उठाया जा सके कि संबंधित पक्ष इस समय आपसी समझौते की बातचीत मे सलग्न है। इसमें जापान को आशिक सफलता भी मिली।

दूसरा सम्मेलन चांग-चुन में सितम्बर, १९२२ में हुआ। यह बिलकुल भिन्न कारणो से भंग हुआ। उस समय तक जापान में प्रभावशाली व्यक्ति इस निष्कर्ष पर पहुँच चुके थे कि साइबेरिया मे जापानी अभियान अत्यधिक व्ययसाध्य व निरर्थक था और उससे जापान के अन्य देशो के संबंधो पर बुरा प्रभाव पड़ रहा था। अतएव

जापान-सरकार अब समझौते के लिए काफी हद तक तैयार थी। किन्तु वह रूस की इस माँग को स्वीकार नहीं कर रही थी कि इस राज्य को मान्यता प्रदान की जाय और पूर्ण समता के आधार पर इस राज्य से स्वतत्र रूप से सबध स्थापित किये जायँ, और न वह इस बात पर तैयार थी कि निकोलाईव्स्क के नरसहार के लिए क्षतिपूर्ति प्राप्त किये बिना ही वह सखालीन से हट जायगी, यद्यपि वह साइबेरिया से हटने के लिए तैयार थी। अतएव यह दूसरा सम्मेलन भी असफल रहा। किन्तु समझौते के अभाव मे भी जापान ने साइबेरिया से अपने सैनिक हटा लिये और १ नवम्बर, १९२२ तक उस क्षेत्र मे अपना हस्तक्षेप लगभग समाप्त कर दिया; अमरीकी सैनिक दो वर्ष पूर्व, जनवरी, १९२० मे ही हटाये जा चुके थे। इस प्रकार सन् १९२२ के अत तक साइबेरिया फिर से रूस का अविच्छिन्न अग बन चुका था; किन्तु सखालीन पर जापान का कब्जा अब भी बना हुआ था और कुछ प्रश्नो का हल अब भी शेष था, जो केवल सीधी आपसी बातचीत से ही सभव था और यह बातचीत तभी सभव थी जब जापान रूस की सोवियत्-सरकार को मान्यता दे देता।

सोवियत्-शासन को मान्यता देने के लिए जापान वाध्य हो गया, जब चीन ने यह मान्यता प्रदान कर दी; २० जनवरी, १९२५ को मान्यता दी गयी; इस बीच सन् १९२३ व सन् १९२४ मे बीच-बीच मे समझौते की बातचीत चलती रही। जापान व सोवियत् सघ के प्रतिनिधियो के बीच पीकिंग मे हुई इस उपसधि की पहली धारा में दोनो देशों के बीच राजदूत व वाणिज्यदूत रखने का समझौता हुआ, दूसरी धारा मे रूस ने पोर्ट्समाउथ-सधि को मान्यता दी, किन्तु सन् १९०५ से सन् १९१७ के बीच हुई अन्य सधियों के संबंध मे तय हुआ कि फिर एक सम्मेलन करके उन पर विचार कर लिया जाय, तीसरी धारा मे कुछ समय के लिए साइबेरिया के समुद्र में मछली मारने का जापान का अधिकार स्वीकार कर लिया गया, चौथी धारा में वे शर्तें स्वीकार की गयी जो बाद की वाणिज्य सधि का आधार बननेवाली थी, पाँचवी धारा मे स्वीकार किया गया कि कोई पक्ष दूसरे पक्ष के सगठनो-संस्थानो के विरुद्ध प्रचार की अनुमति नही देगा और अपने अधिकार-क्षेत्र मे ऐसे सगठनो या गुटो का अस्तित्व सहन नही करेगा जो दूसरे पक्ष के किसी भी क्षेत्र की सरकार होने का दावा करते हो; छठी धारा में रूस ने यह आश्वासन दिया था कि वह वन, खनिज व अन्य प्राकृतिक साधनो के उपयोग या शोषण की सुविधाएँ जापान को देने के लिए तैयार है। इस समझौते के संलेख व नत्थियो मे यह व्यवस्था कर दी गयी थी कि सार्वजनिक ऋणों व संपत्तियों का हिसाब कर लिया जायगा, जापानी सैनिक सखालीन से हट जायँगे, उत्तरी सखालीन में मिट्टी के तेल की जितनी खानें है,

उनमे से आधी जापानियो द्वारा उपयोग मे लायी जायँगी, तथा कुछ वर्षो तक जापान को नये क्षेत्रो में खनिज तेल आदि खोजने की सुविधा रहेगी। रूसी अधिकारियो ने सन् १९२० के उस निकोलाईव्स्क नरसहार के लिए क्षमा-याचना भी की, जिसके फलस्वरूप जापान ने उत्तरी सखालीन पर अधिकार जमा रखा था।

रूस से संधि सबध स्थापित करने मे जापान बहुत झिझकता रहा था। रूसी क्राति के प्रति भय और अविश्वास की जो भावना जापान सरकार मे व्याप्त थी वह किसी भी अन्य सरकार मे नही थी। और सोवियत् दर्शन के 'खतरनाक विचारो' का इतना अधिक भय भी किसी अन्य सरकार को नही था। महाद्वीप की राजनीति और यह भावना कि मास्को से समझौता कर लेने के बाद राजद्रोहात्मक प्रचार पर अधिक सफलतापूर्वक नियंत्रण पाया जा सकेगा ही वे कारण थे जिनसे जापानी शासन सोवियत् शासन से बात करने और उसे मान्यता देने के लिए राजी हुआ।

## (८) सोवियत् रूस व चीन (१९१९–१९३३)

रूसी क्राति के समय चीन मे रूस के जो हित व अधिकार थे, उन्हे दो श्रेणियो में बाँटा जा सकता है। एक तो सामान्य सधि-प्रणाली मे भाग लेकर रूस ने अनेक लाभ उठाये थे, जैसा कि राज्यक्षेत्रातीतता का अधिकार, सीमा-शुल्क-व्यवस्था मे सुविधा, मुक्का-आंदोलन की क्षतिपूर्ति मे भाग तथा पीकिंग मे दूतावास की रक्षा के लिए सैनिक रख सकने की सुविधा। दूसरे, उत्तरी मंचूरिया मे रूस के कुछ विशिष्ट अधिकारी थे, जिनमे सबसे अधिक महत्त्वपूर्ण था चीनी पूर्वी रेलमार्ग। रूसी शासन ने मंगोलिया मे भी दिलचस्पी रखी थी और सन् १९११ के मंगोलिया स्वातंत्र्य-सघर्ष को प्रोत्साहित किया था। रूस-मंगोलिया-चीन के सबंध सन् १९१५ की सधि में उल्लिखित थे, जिसमें चीनी अधिराजत्व मे मगोलिया की सर्वोच्च सत्ता स्वीकार की गयी थी।

रूस में बोल्शेविको की विजय से चीन मे एक गलत स्थिति पैदा हो गयी थी। मार्च की अस्थायी रूसी सरकार को जो मान्यता दे दी गयी थी, वह केरेंस्की के शासन के बाद आने वाले सोवियत्-शासन को प्राप्त नहीं हुई थी; चीन पहले वाली सरकार के राजनयिक व राजदूत-प्रतिनिधियो को ही मान्यता देता रहा यद्यपि इन लोगों को नये सोवियत्-शासन के प्रतिनिधित्व का कोई अधिकार नहीं था। यह स्थिति सन् १९२० तक कायम रही।

किन्तु इस बीच चीन में रूस की स्थिति बराबर कमजोर होती जा रही थी। पहले तो परिस्थितिवश, रूसी वाणिज्य-अदालतें संतोषजनक रूप से कार्य नही कर

पा रही थी, इसलिए चीन-सरकार ने रूसियों के राज्यक्षेत्रातीतता के अधिकार समाप्त कर रूस को मिली रिआयतें वापस ले ली थी। इसी प्रकार चीनी पूर्वी रेल-मार्ग सोवियत्-शासन के नियत्रण से निकल चुका था। जिस समय मित्रराष्ट्रो ने हस्तक्षेप आरम्भ किया, यह रेलमार्ग, जिसका प्रशासन रूसियो के हाथ मे था और जिसे पीकिंग के आनफू-शासन की सहायता से जापान अपने नियंत्रण मे लेना चाहता था, एक मित्रराष्ट्रमडल के अधीन कर दिया गया था। यह मंडल सन् १९२० तक इस रेलमार्ग का नियत्रण करता रहा, जब अमरीका ने अपना हस्तक्षेप समाप्त कर दिया। फिर,साइबेरिया के रेलमार्गो के मित्र-राष्ट्रीय-नियत्रण के सबध मे हुए समझौते मे यह व्यवस्था होने के कारण कि समझौता "साइबेरिया से विदेशी सैनिको के हटने के बाद रद"[८] हो जायगा,चीन ने इस रेलमार्ग पर अपना दावा पेश किया। २ अक्तू-बर, १९२० को वाणिज्य मत्रालय ने रूसी-एशियाई बैंक से यह समझौता कर लिया कि मान्यता-प्राप्त रूसी शासन से समझौता होने तक इस रेलमार्ग पर चीन का ही सर्वोच्च नियंत्रण-निर्देशन रहे। रेलमार्ग को व्यावसायिक संस्थान के रूप में चलाने के लिए नये प्रबन्ध किये गये और रेल-क्षेत्र की पुलिस-व्यवस्था आदि के शासकीय अधिकार चीन सरकार ने ले लिये। यह अस्थायी व्यवस्था सोवियत्-शासन से नया समझौता होने तक चलती रही। रूसी स्थिति कमजोर होने का तीसरा प्रमाण बाहरी मगोलिया की हैसियत में हुए परिवर्तन मे प्रकट थी। आनफू-शासन के पतन तक चीन-सरकार ने मंगोलिया के सबध में कड़ा रुख कायम रखा। सन् १९१५ की सधि का उल्लघन कर चीन ने मंगोलिया के क्षेत्र मे अपनी फौजें उतार दी और वहाँ के शासन पर इतना दबाव डाला कि उसने अपनी सर्वोच्च सत्ता को समाप्त कर देने के लिए आग्रह किया।

किन्तु इसी समय, जब सुदूरपूर्व मे रूस का प्रभाव पिछले ७५ वर्षों में सबसे कम था, संभवतः अपनी कमजोरी के कारण, सोवियत्-शासन ने चीन के संबंध मे अपनी नयी नीति निर्धारित की, जिससे अंततः उसे वही प्रतिष्ठा और प्रभाव प्राप्त हो गया, जो पहले जारकालीन रूस को प्राप्त था। सन् १९१९ में घोषित और सन् १९२० मे फिर प्रतिपादित नीति के अनुसार रूस ने उन सभी हितो और अधिकारो को त्याग दिया, जो जार-सरकार ने चीन की सर्वोच्च सत्ता व क्षेत्रीय अविच्छिन्नता पर आघात करके प्राप्त किये थे और, रूसी जनता की ओर से चीन की संत्रस्त जनता के प्रति सहानुभूति प्रकट की। इस घोषणा का तात्कालिक प्रभाव इसके अतिरिक्त कुछ भी नही हुआ कि चीन-सरकार रूसियो के राज्यक्षेत्रातीतता के अधिकार को अपने कानून द्वारा समाप्त करने और चीनी पूर्वी रेलमार्ग का प्रशासन अपने हाथ

मे ले लेने को प्रोत्साहित हुई; चीन में समझा यही गया कि रूस की इस नीति की घोषणा के कारण वह इन अधिकारो के छीने जाने पर आपत्ति नही करेगा। किन्तु रूसी घोषणा की उदारता व सदाशयता का पीकिंग पर यह प्रभाव नही पड़ा कि वह सोवियत्-शासन को मान्यता प्रदान कर दे या मान्यता प्रदान करने के लिए समझौते की बात शुरू करे। इसका एक कारण निस्सदेह ही पश्चिमी राष्ट्रो का पीकिंग पर यह दबाव था कि नये रूसी शासन को मान्यता न दी जाय। इस दबाव का दोहरा असर था, क्योकि वाशिंगटन-सम्मेलन तक पीकिंग शासन सहायता, समर्थन व सधि पुनरीक्षण के सबंध में चीन पूंजीवादी देशो की ओर ही ताकता था। किन्तु, सन् १९२२ के बाद, चीन में वाशिंगटन-सम्मेलन के निर्णयों पर विचार के फलस्वरूप तथा इन राष्ट्रों में फूट पड़ने के कारण इस दबाव का असर कम होने लगा। इस फूट के लक्षणो के रूप मे स्वर्ण-फ्राक-विवाद, लिनचेंग डाकू-काण्ड के समय राजनयिक प्रतिनिधियों द्वारा अपनाये गये दृष्टिकोण तथा कैण्टन-सीमाशुल्क-व्यवस्था-संबधी विवाद गिनाये जा सकते है। इसके अतिरिक्त, सन् १९२२ के बाद चीन में पश्चिमी राष्ट्रो की मान-प्रतिष्ठा भी गिरने लगी थी और काम करने के पश्चिमी ढगो की बडी बदनामी होने लगी थी।

फलतः, वाशिंगटन-सम्मेलन के बाद तक, रूस पीकिंग मे अपने पैर नही जमा पाया था। सन् १९२१ के अत तक तो निश्चय ही रूस ने अपनी स्थिति मजबूत करने के लिए कोई सीधा व मजबूत कदम नहीं उठाया, यद्यपि सुदूरपूर्वीय गणतत्र के माध्यम से, अप्रत्यक्ष रूप से चीन से सबध स्थापित करने के प्रयत्न अवश्य किये गये थे। मान्यताहीन सुदूरपूर्वीय गणतंत्र से कोई सबध रखने के जापान के विरोध के बावजूद इग्नेशियस यूरिन के नेतृत्व मे आये प्रतिनिधिमडल का अनौपचारिक रूप से स्वागत किया गया। पुरानी रूसी सरकार के राजदूत से पीकिंग सरकार का संबंध-विच्छेद कराने में यूरिन सफल भी हो गये और अंततः, वह उस नीति के संचालन मे योग देने के दायित्व के भी भागी हुए, जिसके फलस्वरूप राज्यक्षेत्रातीतता समाप्त हुई और चीनस्थित अनेक रूसियों के हितो का हनन हुआ, किन्तु चीन व सुदूरपूर्वीय गणतत्र के बीच सधि-संबध कायम करने मे वह सफल नही हुए। पारस्परिक सबधहीनता की दीवार में एक बड़ा छेद तब हुआ, जब सिंकियाग के तूचुन तथा ताशकन्द के सोवियत् के बीच हुई व्यापारिक संधि का चीन-सरकार ने अनुसमर्थन कर दिया। किन्तु इससे भी चीन व रूस के संबधो पर अप्रत्यक्ष प्रभाव ही पड़ा।

चीन व रूस के बीच राजनयिक संबंध फिर से स्थापित करने का असली काम सन् १९२२ में आरम्भ हुआ जब चतुर व जानकार राजनयिक प्रतिनिधि जौफ को

पीकिंग भेजा गया। तब से सीधे दोनो देशो के बीच बातचीत का युग शुरू हुआ; यह बातचीत बीच-बीच मे सन् १९२४ तक चलती रही, जब समझौते की बात सफल हो गयी। जौफ और उनके बाद लिओ कराखान ने जो उपाय अपनाये वे इस प्रकार थे–(१) पश्चिमी पूँजीवादी साम्राज्यवाद तथा नये रूस के सन् १९१९–१९२० की घोषणाओ मे व्यक्त साम्राज्यवाद-विरोधी उद्देश्यो के भेद पर लगातार जोर देते रहना; (२) चीन व जापान से समझौता-वार्ता मे लगातार एक को दूसरे के विरुद्ध उभाड़ते-भड़काते रहना; (३) चीन के बुद्धिजीवियो से मैत्री कर उनकी सहायता प्राप्त करना और इस सहायता से चीन सरकार पर दबाव डालना, तथा (४) कैण्टन से संपर्क स्थापित करना और इस संपर्क को पीकिंग-सरकार को सक्रिय बनाने में काम में लाना।

चीन के आंतरिक राजनीतिक घटनाक्रम पर सोवियत् रूस के प्रभाव का विवरण आगे दिया जायगा;[१] यहाँ इतना ही कह देना पर्याप्त है कि इस प्रभाव से चीन में रूस के हितों को समर्थन प्राप्त हुआ और राजनयिक संबंध फिर से स्थापित करने में सहायता मिली।

सोवियत्-प्रतिनिधियो को चीन-रूस-मैत्री मे उपस्थित तीन बड़ी बाधाएँ हटानी पड़ी। एक बाधा थी अन्य देशो की भाँति चीन में भी यह भय व्याप्त होना कि साम्यवादी प्रचार से स्थापित व्यवस्था पर आँच आयेगी, किन्तु यह भय वाशिंगटन-सम्मेलन के पहले जिस मात्रा मे व्याप्त था उसकी तुलना मे सन् १९२२ के बाद कम हो गया था। दूसरी बाधा थी मगोलिया का प्रश्न, और तीसरी बाधा थी चीनी पूर्वी रेलमार्ग का भविष्य।

सन् १९२०–१९२१ में मगोलिया के प्रश्न का एक नया अध्याय शुरू हुआ था। सन् १९१५ के चिहली-समझौते के अनुसार मगोलिया के चीनी अधिराजत्व के अधीन जो सर्वोच्च सत्ता प्राप्त हुई थी, उसे चीन ने सन् १९१९ में ही समाप्त कर दिया था, किन्तु पहले सुरक्षा-आयुक्त ह् सु शू-त्सेंग से लेकर अन्य अधिकारियो तक सभी ने शुरू से ही मंगोलिया में जिस कठोरता से शासन किया, उससे मंगोल-जनता उनके विरुद्ध होने लगी; और चीनी अधिराजत्व के प्रति सहानुभूति का कोई भाव तो जनता मे पहले भी नही था। फलतः, श्वेत रूसी सेनापति, बैरन उनगर्न फौन स्टर्नबर्ग को उस समय बाहरी मगोलिया में अपना नियंत्रण स्थापित कर लेने में कोई विशेष कठिनाई नही हुई थी, जब सुदूर पूर्वीय गणतंत्र के सैनिको के समक्ष सेमेनोव को अपनी चीटा-स्थित सरकार कायम रखना असम्भव हो गया था। सन् १९२० में "स्वतत्र" मंगोलिया की घोषणा हो चुकी थी और हुतुखत् (सजीव बुद्ध)

वहाँ शासनाध्यक्ष बन गये थे, यद्यपि वास्तविक नियत्रण श्वेत रूसियो का ही था। इस प्रकार "लाल" साइबेरिया सरकार पर हमला करने के लिए मगोलिया एक अच्छा अड्डा बन गया था। रूसी सेना के पुनस्सगठन के बाद सोवियत्-लाल सेना ने मगोलिया के श्वेत रूसी शासन पर हमला बोला और सन् १९२१ में बैरन उन-गर्न खदेड दिये गये तथा लाल सेना की सहायता से अस्थायी क्रातिकारी मगोलि-याई जन-सरकार की स्थापना हुई। इस प्रकार मंगोलिया की स्वाधीनता फिर से स्थापित हुई, रूसी क्रांति के तत्काल बाद रूस का जो प्रभाव क्षीण हुआ था, वह फिर से कायम हो गया। लाल सेना ने स्वतन्त्र सरकार की सहायता ही नही की, स्वयं मास्को ने इस सरकार से सन्धि सम्बन्ध स्थापित कर लिये। किन्तु चीन मंगोलिया को अपना अविच्छिन्न अंग मानता था और इसलिए रूस की नयी सरकार को मान्यता देने के बड़े प्रश्न पर विचार करने के पहले वह मगोलिया के सम्बन्ध में कोई समझौता चाहता था।

चीनी पूर्वी रेलवे के सबंध मे कठिनाई इसलिए उठ खड़ी हुई कि सन् १९१९ की रूसी घोषणा से चीन ने यह समझा था कि वह बिना किसी प्रकार का हर-जाना या क्षतिपूर्ति माँगे रेलमार्ग चीनी जनता को वापस देने को तैयार है[१०] किन्तु सन् १९२० में रूस ने माँग की कि इस सबंध में संधि हो जानी चाहिए और सन् १९२२ में जौफ के पीकिंग आने पर रूसियो ने इस रेलमार्ग पर अपने प्रशासकीय अधिकार फिर से स्थापित करने में लगातार बढती हुई दिलचस्पी दिखायी।

इस प्रकार, इन तथा रूस को मान्यता देने के प्रश्न पर सन् १९२२ से सन् १९२४ तक बीच-बीच में समझौते की बात चलती रही और अत में रूसी प्रतिनिधि की इच्छा के अनुकूल शर्तें तय हो गयी और औपचारिक रूप से समझौता हो गया। ३१ मई, १९२४ को जिस उपसधि पर हस्ताक्षर हुए, उनमें अन्य बातो के अति-रिक्त दोनों देशो के बीच सामान्य राजनयिक व वाणिज्य-दूत-संबंध स्थापित करने की व्यवस्था थी। सार्वजनिक संपत्तियो व संधियों के संबंध में व्यवस्था करते हुए इस समझौते के अनुसार जार-सरकार से हुई वे सभी सधियाँ रद कर दी गयीं, जो चीन से या चीन के संबंध में की गयी थी और जिनसे चीन के सार्व-भौम हितों व अधिकारों पर आँच आती थी; इसी प्रकार रूस-संबंधी चीन की संधियाँ भी रद कर दी गयीं।[११] मंगोलिया से रूसी सेना के हटने की भी व्यवस्था इस उपसंधि में थी और यह भी कि एक दूसरे देश की स्थापित संस्थाओं के विरुद्ध प्रचार नही होने देगा। सीमा संबंधी विवरण तैयार करने के लिए, जल-संचार-

सवहन के उपयोग के लिए तथा चीनी पूर्वी रेल मार्ग का प्रश्न हल करने के लिए बाद मे एक सम्मेलन करने का निश्चय हुआ, रेलमार्ग के प्रश्न को हल करने के लिए यह आधार भी माना गया कि (१) यह रेलमार्ग विशुद्ध व्यावसायिक कार्य ही माना जायगा; (२) उस पर चीन का प्रशासकीय नियंत्रण होगा, (३) चीन को अपना धन लगाकर इस रेलमार्ग को ले लेने का अधिकार होगा; (४) रेल मार्ग के प्रबन्ध की जो व्यवस्था सन् १८९६ मे निश्चित हुई थी; वह अस्थायी रूप से कायम रहेगी, केवल उसमे उन्ही बातों मे सशोधन कर दिये जायँगे, जो नयी रूसी सरकार के प्रतिकूल पडती हो, और (५) रूस व चीन के पारस्परिक मसलो का समझौता किसी तीसरे पक्ष को बीच मे लाये बिना किया जायगा।[१२] उपसधि मे यह व्यवस्था भी की गयी कि मुक्का-आन्दोलन-सबधी क्षतिपूर्ति मे रूस अपना भाग छोड़ देगा और यह भाग शिक्षा पर व्यय किया जायगा।

चीनी पूर्वी रेलमार्ग के सबंध मे हुआ समझौता तभी कार्यान्वित किया जा सकता था, जब उसकी शर्तें चाग त्सो-लिन को स्वीकार होती; चाग ने सन् १९२२ मे मचूरिया को स्वाधीन घोषित कर दिया था, सन् १९२४ में चाग को जिन राजनीतिक कठिनाइयों का सामना करना पड़ा;उनका लाभ उठाकर २० सितम्बर को उनसे एक पृथक् व वृहत् समझौता कर लिया गया, जिसमे रेलमार्ग के नियन्त्रण व सचालन की शर्तें निश्चित कर दी गयी।[१३]

चीन से हुए इस समझौते तथा सन् १९२५ मे जापान से हुए समझौते से उत्तरी मचूरिया मे रूस की स्थिति फिर से मजबूत हो गयी। और यद्यपि सन् १९२४ के समझौते के अनुसार बाहरी मगोलिया को चीन का अविच्छिन्न अग माना गया था और वहाँ से रूसी सैनिको को हटाने की व्यवस्था की गयी थी, मगोलिया की सरकार व मास्को के बीच, परामर्श देने के लिए, निकट सबध स्थापित होने का कोई निषेध नहीं था। इस प्रकार व्यावहारिक रूप मे चीन का नियंत्रण वहाँ फिर से स्थापित नही हुआ। फलत', सन् १९१५ की तुलना मे वहाँ रूस की स्थिति अधिक मजबूत हुई। जब इस स्थिति को उन अन्य उपलब्धियों के सन्दर्भ मे देखा जाय, जो रूसी प्रतिनिधियो ने प्राप्त कर ली थी, तब स्पष्ट हो जायगा कि सन् १९१७ की क्राति के तत्काल बाद के वर्षों में रूस का जो प्रभाव क्षीण हुआ था, उसे इन प्रतिनिधियो ने बड़े सुचारु रूप से फिर स्थापित कर दिया था, इन उपलब्धियो में प्रमुख थी (१) सन् १९२४ मे कुओमिनतांग से घनिष्ठ परामर्श-सम्बन्धो की स्थापना; (२) पीकिंग में राजदूतावास की स्थापना, जिससे उत्तरी चीन मे प्रभाव बढाया जा सकता था; तथा (३) उत्तर-पश्चिम मे फेंग यू-हिस याग से मैत्री-सम्बन्धो की स्थापना।

किन्तु लगभग तत्काल ही मुख्य चीन मे रूस का प्रभाव बहुत कम हो गया।[१४] सन् १९२७ में कुओमिनताग से रूसी व साम्यवादी प्रभाव समाप्त कर दिया गया और रूसी सलाहकार वापस रूस भेज दिये गये। उसी समय, चाग-त्सो-लिन ने पीकिंग स्थित रूसी दूतावास व उसके आसपास की इमारतो पर आक्रमण कर दिया और फिर सोवियत् सरकार से सम्बन्धविच्छेद कर लिया।

किन्तु जैसा कि कहा जा चुका है, बाहरी मगोलिया मे चीन से हुए समझौते के बावजूद रूस ने अपनी स्थिति कायम रखी तथा उसे सुदृढ़ बनाया, तथा मुकडेन के अधिकारियो से खटपट व कठिनाइयो के बावजूद उत्तरी मचूरिया मे रूस ने मचूकुओकी स्थापना तक अपनी स्थिति बनाये रखी। मंचूरिया मे रेलमार्गो से सम्बन्धित नीति, साइबेरिया के समुद्र मे मछली मारने के अधिकार तथा ब्लाडीवोस्टक मे एक बैंक की शाखा बन्द करने के सम्बन्ध मे जो मतभेद जापान से उत्पन्न हुए उन्हें शांतिपूर्ण समझौते से सुलझा लिया गया। दूसरी ओर, मचूरिया के प्रश्न पर रूस व चीन के बीच जो मतभेद पैदा हुए, उनके कारण सन् १९२९ मे युद्ध हो गया।

इससे पहले, सन् १९२५-१९२६ में ही, चांग त्सो-लिन ने जो नीतियाँ अपनायी थी और जिनके फलस्वरूप पूर्वी चीनी रेलवे के रूसी प्रबन्धक इवानोव को गिरफ्तार कर लिया गया था, उनसे गभीर सकट उत्पन्न हो चुका था। रूस के कड़े विरोध के समक्ष चांग के झुक जाने से ही स्थिति बिगड़ने से रुकी थी। सन् १९२८ में चाग की हत्या के बाद, फिर संकट पैदा हो गया था, जब सोवियत्-सहायता से "तरुण मंगोलियावासियो" ने मंचूरिया के बरगा जिले को अलग काट कर वहाँ स्वतंत्र सत्ता स्थापित करने की कोशिश की थी। किन्तु सबसे अधिक गंभीर सकट तब आया था, जब चाग ह्सूएह-लियांग के शासन मे मंचूरिया के तीन प्रान्तो ने नानकिंग की राष्ट्रीय सरकार का नियंत्रण स्वीकार कर लिया था। विभिन्न देशो से सधियो द्वारा स्थापित सबधो के फलस्वरूप जिन अधिकारो का अपहरण हुआ था, उन्हे फिर से प्राप्त करने के राष्ट्रीय कार्यक्रम की आंशिक सफलता के बाद यह निश्चय किया गया था कि चीनी पूर्वी रेलमार्ग पर नियंत्रण का अधिकार फिर से प्राप्त कर लेने को भी इस कार्यक्रम में शामिल कर लिया जाय। सन् १९२९ के वसन्त मे उत्तरी मंचूरिया स्थित रूसी वाणिज्य-दूतावासो पर आक्रमण कर उन्हें बन्द कर दिया गया। इसके उपरान्त रूसी वाणिज्य-दूतावासो के अधिकारियों व रेलमार्ग के एक संचालक को गिरफ्तार कर लिया गया। फिर, १० व ११ जुलाई को चीनी पूर्वी रेलमार्ग की तार व टेलीफोन-व्यवस्था पर चीनियों ने अधिकार कर लिया, रेल-क्षेत्र व हारबिन

मे हर प्रकार के रूसी संगठनो-सस्थानो को बन्द कर दिया गया, रेलमार्ग के प्रशासन को चीनियो ने अपने हाथ मे ले लिया तथा रेलमार्ग के २०० से अधिक रूसी कर्मचारियो को गिरफ्तार कर लिया। इस काररवाई के समर्थन मे कहा गया कि रूस ने सन् १९२४ के समझौते का उल्लघन किया है, उधर रूस भी चीन पर आरोप लगा रहा था कि उसने सन् १९२४ के इस समझौते का उल्लघन किया है। चीन की इस काररवाई के प्रतिरोध-स्वरूप रूसियो ने अपने क्षेत्र मे आगे बढना शुरू किया।

अमरीका ने प्रारम्भ मे ही दोनो पक्षो का ध्यान कैलग-समझौते के अधीन उनके उत्तरदायित्वो की ओर दिलाया था, किन्तु दोनो ही पक्षो ने कह दिया था कि युद्ध छेडकर उन दायित्वो से बचने का उनका कोई इरादा नही है। और, दोनो ही पक्षो ने शुरू मे ही सन् १९२४ के समझौते की उस शर्त का हवाला दिया था जिसमे कहा गया था कि चीनी पूर्वी रेलवे की अधिकार-स्थिति के सबध मे समझौते मे कोई तीसरा पक्ष शामिल न होगा और यह समझौता केवल इन्ही दो देशो का सीमित मामला रहेगा। बाद में चीन ने तीसरे पक्ष के प्रभाव को मामले मे डालने की कोशिश की, किन्तु उसे इसमे सफलता नही मिली।

अतत. इस मतभेद का निर्णय चीन के विरुद्ध रूस के सैनिक दबाव के आधार पर हुआ, किसी बाहरी हस्तक्षेप के फलस्वरूप नही। २२ दिसम्बर को एक प्राथमिक समझौते पर हस्ताक्षर हुए, जिसकी शर्तों के अनुसार पहले की यथास्थिति स्वीकार कर ली गयी। सितम्बर, १९३१ मे जब चीन व जापान के बीच मतभेद व विवाद शुरू हुए, उस समय स्थिति यह थी कि चीनी पूर्वी रेलमार्ग पर तब भी रूस का नियत्रण था, किन्तु मुख्य चीन मे रूस का प्रभाव बहुत कम था; केवल चीनी साम्यवादी रूसियो से सपर्क बनाये रखते थे।

## उन्नीसवाँ अध्याय

# वाशिंगटन-सम्मेलन और उसके बाद

### (१) सम्मेलन की पृष्ठभूमि

वाशिंगटन-सम्मेलन का विचार नौसैनिक शस्त्र-सज्जा को आर्थिक दृष्टिकोण से कम करने की अभिलाषा से शुरू हुआ। किंतु, चूंकि नौसेना राष्ट्रीय नीतियों के कार्यान्वय का एक साधन होती है, यह स्पष्ट है कि उन नीतियों तथा हितो मे जिनसे संघर्ष का जन्म होता है तथा उन साधनों को समाप्त कर देने या कम कर देने में जो इन नीतियों व हितो की रक्षा के लिए होते है घनिष्ठ संबध होता है। जहाँ तक अमरीका का सबंध था, सन् १९२१ मे भविष्य के सघर्ष का क्षेत्र सुदूरपूर्व में ही था। ऐसा लगता था कि मुख्य सघर्ष चीन मे ही होगा, क्योकि वह निर्बल और असगठित था। जापान व अमरीका की नीतियो मे टकराव था और वही मुख्य विरोधी मालूम पड़ता था। अतएव नौसेना कम करने के प्रश्न पर गभीरता-पूर्वक विचार करने के लिए सुदूरपूर्व के प्रश्न का हल ढूँढना आवश्यक था। जिस समय शस्त्र-सज्जा संबंधी बात चल रही थी, उसी समय प्रशान्त महासागर व सुदूरपूर्व के प्रश्नो पर विचार करने के लिए राष्ट्रो को आमन्त्रित करने का यही कारण था।

सुदूर पूर्व का आधुनिक इतिहास ही वाशिंगटन-सम्मेलन की पृष्ठभूमि था। जापान, ब्रिटेन व अमरीका की नीतियों के सक्षिप्त वर्णन से यह पृष्ठभूमि अधिक स्पष्ट हो जायगी।

एशिया महाद्वीप के संबंध मे जापान की जो स्थिति थी, उसके विकास का पिछले पृष्ठो मे विवरण आ चुका है। सन् १९२१ तक जापान इस स्थिति मे आ चुका था कि वह सामरिक दृष्टि से सुदूरपूर्व का नियंत्रण कर सके। उत्तर से दक्षिण तक सभी समुद्री प्रवेश-द्वार उसके नियत्रण में थे। उत्तर में सखालीन द्वीप के आधे क्षेत्र पर, कुराइल द्वीपो तथा होक्काइडो पर आधिपत्य होने के कारण ओखोत्स्क-सागर मे प्रवेश पर जापान का नियंत्रण था, सखालीन, होक्काइडो, जापान व कोरिया पर प्रभुत्व होने के कारण जापान-सागर शेष दुनिया के लिए बन्द था और त्सुशीमा द्वीप पर जापान के स्वामित्व से इस स्थिति को और भी दृढ़ता प्राप्त होती थी; लूचू द्वीप-समूह तथा पेस्काडोर पर प्रभुत्व जो मुख्य जापानी द्वीप से फारमोसा तक फैले हुए थे तथा स्वयं फारमोसा पर कब्जा होने के कारण पीत सागर मे

किसी विदेशी का प्रवेश वर्जित था। इस प्रकार चीन व साइबेरिया के सभी समुद्री प्रवेशद्वारो पर जापान का नियत्रण था। इसके अतिरिक्त सखालीन पर नियत्रण के फलस्वरूप जापान को आमूर के मुहाने का भी नियत्रण प्राप्त था और इस प्रकार साइबेरिया के सभी जलमार्गो पर प्रभावकारी नियत्रण जापान का ही था। कोरिया तथा क्वागतुग-पट्टा-क्षेत्र से वह मंचूरिया के प्रवेश-द्वार रोके हुए था। चीन की बडी दीवार के उत्तर मे उसकी स्थिति तथा शानतुंग प्रान्त में उसके जोर के कारण वह जब भी चाहता पीकिंग पर दबाव डाल सकता था। शानतुग के जर्मनी के रेल-अधिकार व सन् १९१४ के बाद उन अधिकारो के विकास के फलस्वरूप जापान इस स्थिति मे था कि जब भी चाहे वह चीन के उत्तरी भाग को मध्य भाग से काट कर अलग कर सकता था। और फूकिन प्रात से उत्तर तथा शानतुंग प्रान्त से दक्षिण की ओर चल कर जापान मध्य चीन पर भी प्रभावकारी नियत्रण कर सकता था। इस प्रकार सामरिक दृष्टि से जापान चीन पर नियत्रण करने की स्थिति मे था और उन प्रतियोगियों से बहुत बेहतर स्थिति मे था, जिन्हे पूर्व से समुद्री मार्ग से आकर चीन पहुँचना होता था।

क्षेत्रीय दृष्टि से इस स्थिति में पहुँचने के लिए जापान ने दस-दस वर्ष के अतर पर तीन युद्ध सफलतापूर्वक लड कर विजय प्राप्त की थी और फारमोसा व कोरिया से चीन को, मंचूरिया व दक्षिणी सखालीन से रूस को व शानतुग से जर्मनी को हटा दिया था। इन क्षेत्रीय उपलब्धियो का लाभ आर्थिक प्रसार के फलस्वरूप दुगुना हो गया था। कोरिया पर जापानी शोषण की इजारेदारी थी, मचूरिया के बाजार पर जापान छाया हुआ था और वहाँ पूँजी लगाने के एकाधिकार का दावा करता था, शानतुंग में रेलमार्गों में पूँजी लगाने मे जापान ने विशिष्ट हित बना लिए थे, पूर्वी भीतरी मगोलिया में जापान सन् १९१५ में ही आर्थिक प्रवेश कर चुका था; सन् १९२१ मे साइबेरिया में अपनी सुदृढ आर्थिक स्थिति बनाने के लिए जापान प्रयत्नशील था; मंचूरिया व शानतुग के बाहर भी चीन के कुछ साधनो पर जापान विशेष दिलचस्पी स्थापित कर चुका था।

सन् १९०५ के बाद से जापान के एशिया मे प्रभुत्व स्थापित करने के प्रयत्नो का मुख्य विरोधी अमरीका ही था। जापान के मित्र होने के नाते तथा यूरोपीय राष्ट्रो के सबधों मे विशेष रुचि होने के कारण ब्रिटेन जापान का विरोध करने की स्थिति मे नही था। जापान व ब्रिटेन के बीच सन् १९०७ के समझौता तथा जापान के हाथो युद्ध मे हार के बाद रूस की दिलचस्पी सुदूरपूर्व मे घट गयी थी। जार-सरकार सन् १९०७, सन् १९१० तथा सन् १९१६ मे जापान से समझौते करके

उत्तरी मंचूरिया व बाहरी मगोलिया में अपनी स्थिति कायम रख कर ही संतुष्ट थी। अतएव, अमरीका को जो रूजवेल्ट-शासन मे जापान को रूस के खिलाफ सिद्धान्त-संरक्षक मानता था और जो आंग्ल-जापानी समझौते को पूर्वी एशिया मे शाति कायम रखने का बहुत सुन्दर साधन समझता था, जापान पर अकुश लगाने का कठोर कार्य करने का प्रयत्न करना पड़ा। मचूरिया मे अपनी स्थिति सुदृढ करने मे अमरीकी विरोध का सामना करने के कारण जापान अमरीका के प्रति कटुता का अनुभव करता था और अमरीकी नीति की असफलता के कारण अमरीका जापान का अविश्वास करता था। यह मनमुटाव प्रवासियो के विवाद के कारण और भी गहरा हो गया था।

अमरीका की चीन मे दिलचस्पी सन् १८९५ मे ही शुरू हो गयी थी, किन्तु गृहयुद्ध के ३० वर्ष बाद तक अमरीका ने सुदूरपूर्व की राजनीति मे लगातार कोई दिलचस्पी नही ली। संधि-संबध स्थापित होते ही अमरीका ने परममित्र राष्ट्र के व्यावसायिक व्यवहार की माँग की किन्तु अपने लिए कोई विशेष अधिकार न तो माँग ही और न उन्हें पाने की कोई चेष्टा ही की, राज्यक्षेत्रातीतता-प्रणाली व संधिसीमा-शुल्क-प्रणाली-सबधी जो सुविधाएँ अन्य राष्ट्रो को मिल रही थी, अमरीका उन्ही से संतुष्ट था। अन्यथा, व्यक्ति ही अमरीकी नीति को प्रभावित करते रहते थे, जैसे कि सेवर्ड के परराष्ट्र-मत्री होने के समय हुआ या बर्लिगेम के पीकिंग रहने के समय हुआ; और इसका परिणाम यही था कि अमरीकी दिलचस्पी व काररवाइयों में बीच-बीच मे जोर आ जाता था और शेष समय इसका बिलकुल ही अभाव रहता था। यही बात बड़े प्रशान्त-क्षेत्र के लिए भी लागू थी और इसका एकमात्र अपवाद हवाई द्वीप था, जहाँ कैलिफोर्निया व प्रशान्त महासागरतट पर बस्तियाँ हो जाने के बाद लगातार दिलचस्पी कायम रही, और हवाई द्वीप-समूह के सबंध मे भी अमरीकी नीति कभी बिलकुल एक ओर और कभी बिलकुल दूसरी ओर झुकती रही। परराष्ट्र-सचिव वेब्सटर की नीति थी कि द्वीप-समूह की स्वतंत्रता का सभी को सम्मान करना चाहिए, अमरीका को भी। परराष्ट्र सचिव मेसी का कहना था कि अमरीका को चाहे द्वीप-समूह पर कब्जा कर लेना पड़े, वह उन्हे किसी अन्य देश के हाथ मे न जाने देगा। सेवर्ड सबल प्रशान्त नीति के समर्थक थे और क्षेत्रो पर आधिपत्य तक कर लेने के लिए तैयार थे। इसके उपरान्त समता की नीति अपनायी जाने लगी जो सन् १८७५ की संधि से प्रकट था; इसके उपरान्त सन् १८८१ से ब्लेन-नीति चालू हुई, जिसके अनुसार "हमारे और हवाई द्वीप समूह के बीच प्रगाढ़ पारस्परिक संबंध होने चाहिए, ताकि उनकी पूर्ण स्वतंत्रता को अक्षुण्ण रखते हुए भी द्वीप-समूह

व्यावहारिक रूप से अमरीका का ही अंग बन जाय''[१] सन् १८५० के बाद अमरीकी नीति का आधार यही था कि किसी तीसरे पक्ष के बीच मे पड़ने की जगह अमरीकी दिलचस्पी का ही दावा किया गया।

किन्तु, सन् १८९५ के बाद प्रशान्त महासागर मे अमरीका की दिलचस्पी बढ गयी और चीन मे अमरीकी दिलचस्पी फिर से शुरू हुई। इसके कारण अनेक थे और अमरीका की बाद की सुदूरपूर्वीय काररवाइयो पर उनका प्रभाव पडा। पहले तो स्पेन से युद्ध और हवाई द्वीप-समूह पर कब्ज़ा हुआ, जिसके कारण अमरीका की सीमा काफी दूर तक प्रशान्त महासागर मे आ गयी। हवाई पर कब्जा करने के लिए सन् १८९३ से ही आदोलन चल रहा था, जब क्रांति के उपरान्त एक अमरीकी—सैनफर्ड बी० डोल—के नेतृत्व मे वहाँ सरकार की स्थापना हुई थी। शासन में परिवर्तन के कारण समामेलन-सधि का अनुसमर्थन तब तक नही हो सका, जब तक क्लीवलैण्ड-शासन समाप्त नही हो गया, १६ जून, १८९७ को राष्ट्रपति मैककिनले ने एक दूसरी सधि पर हस्ताक्षर किये और ७ जुलाई, १८९८ को संयुक्त प्रस्ताव द्वारा समामेलन स्वीकृत हुआ। हवाई में जापानी लोग काफी बडी संख्या में बसने लगे थे और उसने अमरीका के इस कब्जे का विरोध किया किन्तु, समामेलन हो चुकने के बाद उसने नयी स्थिति स्वीकार कर ली।

स्पेन से युद्ध का एक प्रत्यक्ष परिणाम यह हुआ फिलिपीस द्वीप-समूह तथा बीच के एक अड्डे गुआम, पर अमरीका का अधिकार हो गया। अमरीका के साथ हुई शांति-सधि द्वारा फिलिपीस द्वीप अंततः अमरीका को ही मिल गये और सन् १९०० के आदोलन से यह इरादा भी स्पष्ट हो गया कि जब तक वहाँ के लोग स्वशासन-योग्य न हो जायँ अमरीका फिलिपीस को अपने ही अधिकार मे रखना चाहता था। अमरीका की फिलिपिनी नीति का विवरण यहाँ अनावश्यक है, क्योंकि वह अमरीका के इतिहास का अग है, किन्तु फिलपीस को अपने अधिकार मे रखने से अमरीका की सुदूरपूर्वीय नीति पर प्रभाव तो पडा ही। इस अधिकार को कायम रखने का एक कारण यह भी था कि सुदूरपूर्व में क्षेत्रीय हित बना लेने के आधार पर अमरीका सुदूरपूर्व के मामलो में साधिकार रूप से बोल सकता था। दूसरा कारण यह था कि मनीला चीन से व्यापार का उपयुक्त आधार-केन्द्र बन सकता था और अमरीका इस व्यापार मे अधिक प्रभावकारी ढग से भाग ले सकता था।

जिस प्रकार कैण्टन के व्यापार के कारण अमरीका की चीन में मूल दिलचस्पी पैदा हुई, उसी प्रकार विदेशी बाजारो की आवश्यकता के आभास से चीन में अमरीका की दिलचस्पी फिर से पैदा हुई। सन् १८९८ तक अनेक लोगो का यह

मत बन चुका था कि भविष्य मे अमरीका की समृद्धि का आधार विदेशी व्यापार के विस्तार तथा चीन जैसे क्षेत्रो मे पूँजी लगाने की सुविधाएँ प्राप्त करने में ही निहित है। बाजार व पूँजी लगाने के क्षेत्र—दोनो दृष्टियो से चीन पिछड़ा व अनियंत्रित देश होने के नाते अत्यधिक उपयुक्त स्थान था। यह स्थिति वास्तविक रही हो या न रही हो, इस भावना के कारण ही अमरीका ने फिलिपीस मे दिलचस्पी कायम रखी और उसे चीन के रास्ते की एक मजिल बनाया तथा चीनी साम्राज्य की गतिविधियो मे दिलचस्पी ली।

जब आर्थिक व राजनीतिक दृष्टि से अमरीका ने फिर से बाहर की ओर देखना शुरू किया, चीन मे रिआयते व सुविधाएँ प्राप्त करने की दौड़धूप अपनी चरम सीमा पर थी और उसके अस्तित्व और इस प्रकार भविष्य के एक बाजार के अस्तित्व पर सकट आया लग रहा था। इस स्थिति मे, व्यावसायिक अवसरो की समानता के सिद्धान्त की पुनरावृत्ति (जैसी कि हे की टिप्पणियों से प्रकट थी) ही अमरीका ने उपयुक्त नीति मानी। किन्तु, सन् १९०० व सन् १९०४ के बीच यह स्पष्ट हो गया कि इस नीति को लागू रखने के लिए जो हित व दिलचस्पी आवश्यक थी, वह अमरीका ने अभी नही बनायी थी और इसीलिए वह मचूरिया मे रूस को रोकने में असमर्थ था। तब रूस को रोकने का काम अमरीका ने भी ब्रिटेन की भाँति और लगभग उसी सीमा तक जापान पर छोड दिया और जापान के प्रति सहानुभूति व प्रोत्साहन का रुख अपनाया। जहाँ तक अमरीका का प्रश्न था, वह यही मान रहा था कि जापान "उन्मुक्त द्वार" नीति व चीन की क्षेत्रीय अविच्छिन्नता कायम रखने के लिए लड़ रहा था। किन्तु, रूजवेल्ट काफी यथार्थवादी थे और वह समझ रहे थे कि यदि जापान पर भी अकुश न लगाया गया तो चीनी राजनीति से रूस के हटा दिये जाने के बाद स्वय जापान ही अमरीकी हितों के लिए खतरा बन गया जायगा। अतएव वह सन् १९०५ के बाद चाहते थे कि रूस व जापान एक दूसरे के ऊपर अंकुश का काम करते रहे।

जब दक्षिणी मचूरिया मे जापान रूसी हितो व नीतियों का उत्तराधिकार पा गया और रूस उसे रोकने मे केवल असमर्थ ही नही रहा बल्कि एक दूसरे की अपने-अपने क्षेत्रो मे सगठित होने में सहायता करने के लिए राजी हो गया, तब अमरीका अपनी नीति चलाने के लिए कोई दूसरी योजना बनाने को बाध्य हो गया। यह योजना थी मचूरिया के रेल मार्गों के तटस्थीकरण या प्रभावहीन कर देने की या कम से कम मंचूरिया में अमरीकी व ब्रिटेन की पूंजी लगा देने की। सन् १९०७ से सन् १९१० के बीच के प्रस्तावो व काररवाइयो से अमरीका व जापान की नीतियो

व हितो मे परस्पर विरोध प्रकट होता है। इस राजनयिक सघर्ष मे भी जापान की उसी प्रकार विजय हुई, जैसी उसे रूस व चीन से युद्धो मे मिली थी। किन्तु हित-विरोध तथा जापान की जीत भी ऐसे तथ्य थे, जिनसे पारस्परिक शत्रुता व कटुता बढी और उनका प्रभाव दोनो देशो की नीतियो पर पडा। अमरीका मे बसनेवाले जापानियो के प्रति अनुचित व्यवहार व उन्हे निकालने के प्रयत्नो से यह शत्रुता और भी गहरी हो गयी। सन् १९११ मे ही दोनो देशो के बीच युद्ध की बात लोग करने लगे थे।

विश्व-युद्ध मे जापान के शामिल होने से यह हित-विरोध व सघर्ष समाप्त नही हुआ। सन् १९१४ के पहले जापान की सरकार अपनी कथनी व करनी को अपने सहायकों को सतोषजनक ढग से समझा लेती थी और मचूरिया मे अपनी कारर‌वाइयो के औचित्य को किसी न किसी तरह सिद्ध कर लेती थी, किन्तु, सन् १९१४ के बाद जापान के कार्य खुले रूप से आक्रमण और चीन पर काबू रखने की इच्छा प्रकट करने वाले हो गये। अतएव जापान मे अधिकृत व अनधिकृत अमरीकी आलोचना के कारण और अमरीका मे, दोनो देशो में स्थिति विस्फोटक व संकटापन्न समझी जा रही थी।

इसलिए २६ मई, १९२१ को सीनेट व २९ जून, १९२१ को पाने कांग्रेस पारस्परिक समझौते द्वारा नौसैनिक-व्यय कम करने के लिए विभिन्न राष्ट्रों का सम्मेलन बुलाने का आग्रह बोरह प्रस्ताव द्वारा राष्ट्रपति से किया और अमरीकी सरकार इस दिशा में कार्यशील हुई तो प्रशान्त महासागरीय व सुदूरपूर्वीय प्रश्नों को भी सम्मेलन के विचारणीय विषयों में शामिल कर लिया गया। बोरह-प्रस्ताव का मुख्य उद्देश्य खर्च कम करना था, किन्तु प्रशासन ने व्यावहारिक रूप मे यह देखा कि अंतरराष्ट्रीय विग्रह के कुछ कारणो को समाप्त किये बिना शस्त्रसज्जा में सफलता-पूर्वक कमी नही की जा सकती। साथ ही अमरीका ने यह भी समझ लिया था कि विग्रह या सघर्ष का कारण चीन की स्थिति तथा चीन व साइबेरिया के प्रति जापान की नीति थी।

प्रशान्त क्षेत्र मे शक्ति-संमजन के प्रस्ताव का अर्थ था जापान व अमरीका के अतिरिक्त अन्य राष्ट्रो से भी परामर्श करना। इन राष्ट्रो में चीन भी शामिल था और उसे भी अपने प्रतिनिधि भेजने के लिए आमन्त्रित किया गया, क्योंकि अमरीका कोई गृद्धों की दावत तो कर नही रहा था, जिसमे चीन भोजन के स्वरूप परोसा जा रहा हो। चीन की जो स्थिति थी, उसका विवरण पहले ही दिया जा चुका है और यहाँ पर इतना ही कहना काफी होगा कि अपने आधुनिक काल के इतिहास में चीन ने जो कुछ खोया था, उसे वापस पाने के लिए वह प्रयत्नशील था।

सुदूर पूर्व की समस्या के हल में ब्रिटेन को भी, जिसमें कनाडा व आस्ट्रेलिया भी शामिल थे—सक्रिय दिलचस्पी थी। पूर्वी एशिया में ब्रिटेन की भूमिका को समझे बिना वाशिंगटन-सम्मेलन का उपयुक्त परिचय प्राप्त नहीं हो सकता। सन् १८४०–१८४२ के युद्ध के बाद हुई नानकिंग-संधि से तथा चीन के द्वार उन्मुक्त होने से ब्रिटेन को हांगकांग मिल गया था, जो शीघ्र ही सुदूरपूर्व का सबसे महत्त्वपूर्ण व्यावसायिक केन्द्र बन गया। इसके बाद सन् १८९८ तक ब्रिटेन ने चीन मे कोई क्षेत्रीय उपलब्धि नही की थी; केवल उत्तरी बर्मा पर उसने अवश्य आधिपत्य जमा लिया था। ब्रिटेन की मुख्य दिलचस्पी व्यापार में थी यद्यपि सन् १८५८–१८६० के युद्ध के फलस्वरूप दूतावास स्थापित करने के अधिकार प्राप्त कर लेने के बाद पीकिंग में ब्रिटेन की राजनीतिक भूमिका महत्त्वपूर्ण थी, जैसा कि सन् १८६० से सन् १८९५ के बीच प्रकट हुआ। सर्वप्रमुख व्यापारिक शक्ति होने के नाते ब्रिटेन की नीति अमरीकी नीति के समानान्तर चलती रही थी। यह नीति थी 'परम मित्रराष्ट्र' के आधार पर व्यापार के लिए चीन के द्वार अधिकाधिक उन्मुक्त करवाना। भारत की सुरक्षा में दिलचस्पी के कारण—और यह प्रश्न ब्रिटेन की एशियाई नीति की पृष्ठभूमि में सदा ही बना रहा—ब्रिटेन नही चाहता था कि चीन अत्यधिक कमजोर पड़ जाय और इससे रूस लाभ उठा ले।

ब्रिटेन की नीति में चीन की सहायता छोड़कर जापान की सहायता करने का परिवर्तन तब प्रकट हुआ, जब उसने सन् १८९५ में न केवल जापान को एशिया महाद्वीप से बाहर रखने के आंदोलन का नेतृत्व करने से ही इनकार कर दिया, बल्कि उस हस्तक्षेप में शामिल होने से भी इनकार कर दिया, जिसके फलस्वरूप लिआओतुंग प्रायद्वीप की वापसी हुई। और जब, सन् १८९५ के बाद, चीन मे अधिकार जमाने की आपाधापी शुरू हुई, ब्रिटेन ने वीहाईवी तथा काओलून का क्षेत्र ले लिया, यांग्त्सी घाटी में रेलमार्ग की रिआयतें प्राप्त कर ली और उस क्षेत्र मे किसी अन्य देश का कब्जा न होने देने का वचन ले लिया और इस प्रकार अपनी दिलचस्पी का एक क्षेत्र बना लिया। सन् १८९९ में हे के प्रस्तावों को स्वीकार कर वह फिर अपनी पुरानी चीन-संबंधी नीति पर वापस लौटा और सन् १९०० में विभाजन के विरुद्ध खड़ा हुआ। जब रूस ने मंचूरिया व उत्तरी चीन में बहुत मजबूती के साथ अपने कदम जमाने शुरू किये, ब्रिटेन को इसमें भारत व अपने व्यापार के लिए संकट दिखायी दिया और रूसी बढाव को रोकने के लिए ब्रिटेन ने सहायता व समर्थन की खोज की। ब्रिटेन व जर्मनी के बीच समझौते की कोशिश हुई, पर वह असफल रहा, क्योंकि जर्मनी उन्मुक्त द्वार और क्षेत्रीय अविच्छिन्नता के सिद्धान्त को मंचूरिया मे

लागू करने को तैयार नही था। अमरीका अपने राजनयिक दाँव अलग अकेले ही खेलना चाहता था। तब ब्रिटेन जापान की ओर मुडा और सन् १९०२ का समझौता हो गया। तब से ब्रिटेन लगातार ईमानदारी से जापान का समर्थन करता रहा, न केवल रूस के ही विरुद्ध, बल्कि अमरीका के विरुद्ध भी जब अमरीकी सरकार की सहायता से अमरीकी पूँजी ने मंचूरिया पर धावा बोलना चाहा।

किन्तु अमरीका और जापान की अनबन बढ़ने से ब्रिटेन में कई कारणो से चिन्ता हो गयी। पहले तो ब्रिटेन व अमरीका के बीच मैत्री-सबंध दृढतर हो रहे थे और सन् १९०२ मे पश्चिमी द्वीप-समूह से हटने से ये सबंध और भी अच्छे हो गये थे। इस मैत्री पर ब्रिटेन द्वारा मंचूरिया मे जापान के समर्थन से संकट आया था। दूसरे, अगेज सामान्यतः इस बात को पसन्द नही कर रहे थे कि यदि जापान का अमरीका से युद्ध हो जाय तो उसमे ब्रिटेन जापान का साथ दे, और सन् १९०५ के संशोधित समझौते के अनुसार ब्रिटेन को जापान का साथ देना पड़ता, यह भावना इसलिए भी प्रबल थी कि चीन के साथ व्यापार करने वाले और वहाँ पूँजी लगाने वाले प्रमुख अंग्रेज जापान की एशियाई नीति के उतने ही कटु आलोचक थे, जितने कि अमरीकी। और तीसरे, जहाँ तक इस सभाव्य संघर्ष से प्रवासियो का प्रश्न जुड़ा हुआ था, कनाडा व आस्ट्रेलिया की नीति व हित बिलकुल अमरीका के समान ही थे। इसका परिणाम यह हुआ कि सन् १९११ की मैत्री-सधि मे व्यवस्था कर दी गयी कि जिन देशो से किसी भी पक्ष की सामान्य विवाचन-संधि हो, जैसी कि अमरीका व ब्रिटेन के बीच हाल में ही हुई थी, उन देशो के संबंध में इस सधि की शर्तें लागू न होगी। किन्तु अमरीकी प्रतिनिधिसभा (सीनेट) द्वारा इस सधि का अनुसमर्थन न होने के कारण मामला तब तक जैसा का तैसा लटका रह गया, जब तक तथाकथित "ब्रायन शांति-आयोग" सधि न हो गयी। इस सधि को ब्रिटेन ने सामान्य विवाचन-सधि की श्रेणी मे माना और जापान ने इसका खुला विरोध नही किया। किन्तु यदि युद्ध छिड जाता तो जापान ब्रिटेन की इस सधि-सबधी व्याख्या को स्वीकार करता या नही, यह प्रश्न अपनी जगह बना रहा।

महायुद्ध की आवश्यकताओ से बाध्य होकर सन् १९१४ के बाद ब्रिटेन ने जापान की शक्ति व प्रभाव के प्रसार को स्वीकार कर लिया और फिर सन् १९१७ का गुप्त समझौता भी कर लिया। जापान के प्रति वफादारी और अपने वचन का मूल्य ही ब्रिटेन को जापान के पेरिस मे किये गये दावों को विरोध से रोके रहा, किन्तु यह कहना अतिशयोक्ति न होगा कि अनेक अंग्रेज चाहते थे कि जापान से यह मैत्री समाप्त कर दी जाय, क्योकि इससे चीन मे ब्रिटेन के व्यापार व पूँजी-सबंधी हितों

के विकास में बाधा पडती थी और सुदूरपूर्व में जापान के अत्यधिक प्रसार को अप्रत्यक्ष रूप से ब्रिटेन का समर्थन प्राप्त होता था और इससे ब्रिटेन व अमरीका के संबंधों पर गंभीर विपरीत प्रभाव पडता था।

इन कारणों से तथा उपनिवेशो, विशेषकर कनाडा के दबाव के कारण सन् १९२१ की ग्रीष्म में लन्दन में हुए सम्मेलन में ब्रिटेन-जापान की मैत्री का प्रश्न विचारणीय विषयो में प्रमुख हो गया। उस समय विचार-विनिमय में यह स्पष्ट कर दिया गया कि न तो यह मैत्री-सधि राष्ट्रसंघ में प्रसंविदा या ब्रिटेन के दायित्वो के विरुद्ध मानकर समाप्त की गयी थी और न दस वर्ष की अवधि पूरी होने पर वह स्वतः ही समाप्त हुई थी; इसे समाप्त करने के लिए ब्रिटेन या जापान द्वारा स्वय सक्रिय कदम उठाना आवश्यक था। ब्रिटेन संधि को अकस्मात् या ऐसे ढंग से समाप्त कर देने के पक्ष में नहीं था जिससे लगे कि उसने जापान का पूरा लाभ उठाने के बाद उसे छोड दिया। अतएव यह मानना होगा कि अमरीकी राष्ट्रपति के निमत्रण का अर्थ यह लगाया गया कि सुदूरपूर्व के पूरे प्रश्न के समझौते के एक अग के रूप मे यह सधि समाप्त कर देने का एक अवसर है।

वाशिंगटन-सम्मेलन के सुदूरपूर्वीय अंग मे शामिल होने वाले अन्य देशो के संबंध मे कहने को विशेष कुछ भी नही था। फ्रास आमत्रित हुआ था क्योकि चीन मे दिलचस्पी का क्षेत्र होने का उसका दावा था, उसे पट्टे पर वहाँ क्षेत्र प्राप्त था और चीन में उसके आर्थिक हित थे और इस प्रकार वह एक एशियाई शक्ति था। चीन के संबध में उसकी जो नीति थी, वह रूस व जापान की नीति से मौलिक रूप से भिन्न नही थी। हालैण्ड इसलिए आमत्रित था कि पूर्व में उसके अधिकार में क्षेत्र थे, इसलिए नही कि वह राजनीतिक दृष्टि से वहाँ सक्रिय था, पुर्तगाल सुदूरपूर्वीय शक्ति इसलिए माना गया था कि मकाओ उसके अधिकार में था और ज्वलंत अतीत की स्मृति था और बेल्जियम को इसलिए बुलाया गया था कि उस क्षेत्र में उसके आर्थिक हित थे।

सम्मेलन में आमंत्रित राष्ट्रों में एक महत्त्वपूर्ण नाम छूटा हुआ था। रूस या सुदूर पूर्वीय गणतंत्र को आमंत्रित नहीं किया गया था। संभवतः उस समय रूस के पूर्वीय हितो व दिलचस्पियो को नगण्य समझा गया, यद्यपि रूस को न बुलाने का असली कारण अमरीकी सरकार की मान्यताहीन रूसी सरकार से प्रत्यक्ष या सुदूरपूर्वीय गणतंत्र के माध्यम से अप्रत्यक्ष रूप से कोई संबंध रखने में अनिच्छा ही था। सम्मेलन में रूस के न शामिल होने से उसके समझौतों का अंतरराष्ट्रीय स्वरूप तो कम हो ही गया और इससे रूस के सुदूरपूर्व में महत्त्वपूर्ण स्थान फिर से प्राप्त कर लेने पर कोई रोक भी नहीं लग सकी।

११ नवम्बर, १९२१ को शुरू हुए इस वाशिंगटन-सम्मेलन के काम के दो स्पष्ट भाग थे—एक था नौ-सैनिक शस्त्र-सज्जा मे कमी करने के प्रश्न पर विचार और दूसरा था प्रशान्त-क्षेत्र मे विभिन्न राष्ट्रो के हित-वैषम्य का कोई सुलझाव ढूँढ़ना। इस दूसरे काम मे चीन, साइबेरिया व प्रशान्त महासागर के प्रादेशाधीन द्वीपो का संबध था। नौसेना की शक्ति सीमित करने का जो प्रभाव सुदूरपूर्व पर पड़ा तथा प्रशान्त-क्षेत्र की समस्याओ व समाधानो का सुदूरपूर्व पर जो प्रभाव पड़ा, यहाँ केवल उन्ही का वर्णन अभीष्ट है।

## (२) शस्त्र-समझौते और उनका सुदूर पूर्व पर प्रभाव

नौ-सैनिक शस्त्र-सज्जा तथा प्रशान्त-क्षेत्र-सबंधी समझौतो का सक्षिप्त विवरण यहाँ उपयुक्त होगा। इस सबंध में चीन व साइबेरिया मे जापान की स्थिति का जो विवरण ऊपर दिया जा चुका है और फारमोसा से फिलिपीस द्वीप-समूह की समीयता को ध्यान मे रखना उचित होगा।

सामरिक व नौ-सैनिक दृष्टि से यह स्पष्ट है कि जापान पर सैनिक दबाव सफलतापूर्वक केवल प्रशान्त महासागर की ओर से ही डाला जा सकता था और फारमोसा व जापान के मुख्य द्वीप-समूह पर प्रशान्त महासागर की ओर से आक्रमण करके ही यह दबाव पड़ सकता था। और, फिर आवश्यकता पड़ने पर जापान के विरुद्ध चीन की सहायता करने का भी यही उपाय था; केवल रूस ही दूसरी ओर से चीन की सहायता कर सकता था। उस समय के नौ-सैनिक-विशेषज्ञों का मत था कि जापान के विरुद्ध सफल युद्ध छेड़ने के लिए किसी भी देश को जापान की नौ-सैनिक-शक्ति से कम से कम दुगुनी शक्ति चाहिए थी और तब भी यह आवश्यक था कि इस युद्ध के लिए किलेबन्दी नौ-सैनिक आधार-केन्द्र जापान के निकट ही हो, हवाई द्वीप भी इस काम के लिए बहुत दूर माने जाते थे।

वाशिंगटन-सम्मेलन के नौ-सेना-सबंधी निर्णयो पर इन तथ्यों का स्पष्ट प्रभाव परिलक्षित था। परराष्ट्र-सचिव ह्यूज ने जो प्रस्ताव रखे, उनमें नौ-सेना का अनुपात इस प्रकार था—अमरीका व ब्रिटेन पाँच-पाँच, जापान तीन, और फ्रांस व इटली पौने दो-पौने दो। इसका अर्थ था कि अमरीका या ब्रिटेन अकेले जापान पर सफलतापूर्वक आक्रमण नही कर सकते थे। कुछ अपवादो को छोड़कर प्रशान्त महासागर के द्वीपो की किलेबन्दी के संबंध में 'यथास्थिति' कायम रखने के संबंध में जो समझौते हुए, उनसे भी यह निष्कर्ष सही साबित होता था। अमरीका के लिए ये अपवाद थे "अमरीका के तट, अलास्का और पनामा नहर के क्षेत्र के निकट के द्वीप, जिनमें हवाई व एल्यूशियन द्वीप शामिल नही थे"। ब्रिटेन के लिए ये अपवाद थे

११०वें पूर्वी देशान्तर के पश्चिम के द्वीप[२] तथा "कनाडा, आस्ट्रेलिया व उसके क्षेत्र तथा न्यूजीलैण्ड" के तटवर्ती द्वीप। इसका अर्थ यह था कि यदि जापान व अमरीका के बीच युद्ध हो जाय तो अमरीका को अपना युद्ध-सचालन हवाई से करना पडता, क्योंकि गुआम मे नौ-सैनिक बेड़ा रखने की पक्की व्यवस्था नहीं की गयी थी और न अब की जा सकती थी और फिलिपीस द्वीप-समूह नौ-सेना के सचालन के लिए उपयुक्त रूप से सज्जित नही था। जब नौ-सैनिक-शक्ति का अनुपात ५ :३ का हो अमरीका महाद्वीप से युद्ध-सचालन विनाशकारी ही होता। जब तक ब्रिटेन व अमरीका मिल कर युद्ध न छेड़े या जब तक युद्ध-सचालन के लिए सिंगापुर का अड्डा न मिल जाय, जापान बाहरी हमले के सकट से तब तक के लिए मुक्त था जब तक यह समझौता कायम था। दूसरी ओर, यद्यपि जापान हवाई या अमरीका के विरुद्ध कोई युद्ध सफलतापूर्वक नही छेड सकता था, वह फिलिपीस द्वीप-समूह पर जब चाहे तब कब्जा कर सकता था और इस प्रकार यह जापान की दया पर ही आश्रित हो गया था।

ब्रिटेन व अमरीका के संयुक्त आक्रमण की आशका से जापान को चार राष्ट्रो के उस समझौते के द्वारा रक्षा मिली हुई थी जिसमे पश्चिमी राष्ट्र सुदूरपूर्व मे हस्तक्षेप न करने के लिए वचनबद्ध थे। जापान पश्चिम से आक्रमण की आशका से तो मुक्त था ही, एशिया महाद्वीप पर उसके जो हित थे, वे भी सुरक्षित थे, क्योंकि सामरिक दृष्टि से महत्त्वपूर्ण स्थानों पर मौजूद रह कर वह चीन और साइबेरिया पर नियंत्रण कर सकता था; सम्मेलन ने ऐसे पनडुब्बी व हवाई जहाजो के निर्माण पर कोई सीमा नहीं लगायी थी, जो महाद्वीप के विरुद्ध प्रयुक्त हो सकते थे; और सम्मेलन ने स्थल-सेना की शस्त्र-सज्जा पर सीमा लगाने के लिए समझौता करने का प्रयास भी नही किया था। इससे स्पष्ट है कि सम्मेलन में जापान की भारी जीत हुई थी और इस जीत को पिछले २५ वर्षों में एशिया महाद्वीप में प्राप्त लाभों को इस सुरक्षा के बदले में छोड़ कर या आक्रमण की आशंका से मुक्ति प्राप्त कर जापान-सरकार स्वेच्छापूर्वक अपनी नीति बदल कर ही विफल कर सकती थी। जब तक यह नीति-परिवर्तन न हो वाशिंगटन-सम्मेलन मे एकत्र प्रतिनिधियो के प्रयास-परिश्रम के बावजूद सघर्ष का एक स्थायी कारण वहाँ बराबर मौजूद रहता।

## (३) चीन संबंधी नव राष्ट्रों की संधि

जहाँ तक चीन व साइबेरिया का प्रश्न है सम्मेलन की महत्त्वपूर्ण उपलब्धि थी नव राष्ट्रो की चीन संबंधी नीति। साइबेरिया के प्रश्न पर विशेष ध्यान नहीं दिया गया था। उसे बड़े और अविकसित क्षेत्र के संबंध में जापान से यह आश्वासन

प्राप्त कर ही सम्मेलन सतुष्ट हो गया कि जब भी उपयुक्त होगा, वह (जापान) साइबेरिया से हट जायगा और साइबेरिया के सबंध मे उसके इरादे न तो कभी आक्रामक रहे है और न है ही। इस पर केवल अमरीकी प्रतिनिधिमण्डल की ओर से सचिव ह्यूज ने यह कहा कि यह घोषणा तो ठीक है, किन्तु जापान इस प्रकार की घोषणा पहले भी कर चुका है और आशा है कि पहले की घोषणाओ की अपेक्षा जापान इस घोषणा के पालन की ओर अधिक ध्यान देगा।[3]

चीन के सबंध मे स्थिति बिलकुल भिन्न थी। सम्मेलन की सुदूरपूर्वीय समिति की ३१ बैठको में से ३० मे चीन, उसके दावो तथा उसकी समस्याओ पर ही विचार हुआ था। पहले तो यह कोशिश की गयी कि जो सिद्धान्त चीन के सबंध में लागू हो, उनकी व्याख्या कर ली जाय। अमरीकी सरकार के अनुरोध पर, सामान्य सिद्धान्तों के आधार पर चीन ने अपनी आवश्यकताओ का एक वक्तव्य तैयार किया और सिद्धान्तों की घोषणा के रूप में दससूत्री कार्यक्रम समिति के समक्ष पेश कर दिया। ये दस सूत्र इस प्रकार थे[4]—

(१) (अ) विभिन्न राष्ट्र चीनी गणतंत्र की राजनीतिक व प्रशासकीय स्वाधीनता तथा क्षेत्रीय अविच्छिन्नता को स्वीकार करे और उनका सम्मान करे।

(ब) अपनी ओर से चीन यह वचन देने को तैयार है कि वह अपने क्षेत्र के किसी भाग या तटवर्ती क्षेत्र को किसी भी राष्ट्र को नही हस्तांतरित करेगा और न पट्टे पर देगा।

(२) तथाकथित 'उन्मुक्त द्वार' सिद्धान्त, अर्थात् चीन से संधि-सबंधो से बँधे सभी राष्ट्रों को व्यवसाय व उद्योग के समान अवसर प्राप्त होने के सिद्धान्त से पूर्णतः सहमत होने के कारण चीन इसे बिना किसी अपवाद के अपने पूरे क्षेत्र में लागू करने को तत्पर है।

(३) पारस्परिक विश्वास दृढ़तर करने तथा प्रशान्त-क्षेत्र व सुदूरपूर्व मे शाति कायम रखने के लिए, राष्ट्रो को चाहिए कि वे इन क्षेत्रो व चीन पर प्रभाव डालने वाले ऐसे कोई समझौते या सधियाँ न करें जिनकी चीन को पूर्व सूचना न हो और जिनमें शामिल होने का अवसर उसे प्राप्त न हुआ हो।

(४) चीन में या चीन के संबंध में सभी विशेष अधिकार, सुविधाएँ, वादे या प्रतिरक्षाएँ, उनका जो भी स्वरूप हो और समझौते का जो भी आधार हो, और वे किसी भी राष्ट्र से किये गये हों, रद समझे जायँगे और भविष्य में इस प्रकार के जो भी दावे प्रकट किये जायँगे वे भी रद समझे जायँगे। अभी तक घोषित या व्यक्त सभी अधिकारों, दावों, सुविधाओ व प्रतिरक्षाओं को उनकी परिधि व वैधता

निर्धारित करने के लिए जाँचा जायगा और यदि उन्हें वैध पाया जायगा तो उन्हें इस सम्मेलन मे घोषित सिद्धान्तो से तथा आपस मे एक दूसरे से ताल-मेल बैठा कर समरस बनाया जायगा ।

(५) चीन की राजनीतिक, क्षेत्रीय तथा प्रशासकीय स्वाधीनता पर लगी सीमाएँ तत्काल या परिस्थिति के अनुसार शीघ्रातिशीघ्र हटा ली जायँगी ।

(६) अभी चीन के वर्तमान दायित्वो पर अवधि की कोई सीमा न होने के कारण उन पर निश्चित और न्यायोचित सीमा निर्धारित की जायगी ।

(७) विशेष सुविधाओ व अधिकारों के समझौतों की व्याख्या के समय इस सुस्थापित सिद्धान्त का अनुसरण किया जायगा कि दान की व्याख्या देनेवाले के पक्ष मे होगी ।

(८) जिन युद्धो में, भविष्य मे, चीन शामिल न हो उनमें चीन की तटस्थता का सम्मान किया जायगा ।

(९) प्रशान्त महासागर व सुदूरपूर्व मे जो अतरराष्ट्रीय विवाद उठ खड़े हो, उनके शातिपूर्ण सुलझाव की व्यवस्था की जायगी ।

(१०) प्रशान्त तथा सुदूरपूर्व के क्षेत्रों से सबंधित अंतरराष्ट्रीय प्रश्नों पर विचार-विनिमय के लिए तथा समझौते पर हस्ताक्षर करनेवाले राष्ट्रो द्वारा उन प्रश्नो पर समान नीतियाँ निर्धारित करने के लिए भविष्य में समय-समय पर सम्मेलन करने की व्यवस्था की जायगी ।

चीन से यह वक्तव्य तैयार कराने के बाद, उस पर सम्मेलन मे विशदरूप से विचार कराने और उसे स्वीकार कराने की कोशिश करने की जगह अमरीकी प्रतिनिधि-मण्डल ने उस वक्तव्य से ध्यान हटाने के लिए तत्काल एक प्रस्ताव के रूप मे चीन पर लागू होने वाला एक सिद्धान्त-वक्तव्य पेश कर दिया । एलीहू रूट द्वारा पेश प्रस्ताव इस प्रकार था[५]—

सम्मेलन में भाग लेनेवाले राष्ट्रों का पक्का इरादा है कि

(१) चीन की क्षेत्रीय व प्रशासकीय अविच्छिन्नता, स्वाधीनता व सार्वभौम सर्वोच्च सत्ता का सम्मान किया जाय ।

(२) शासन के प्राचीन व अतिप्रयुक्त साम्राज्यवादी ढाँचे को बदलने मे जो कठिनाइयाँ आती हैं, उन पर विजय प्राप्त कर, एक स्थायी व प्रभावशाली सरकार के निर्माण व विकास के लिए चीन को पूरा और निर्बाध अवसर प्रदान किया जाय।

(३) चीन के पूरे क्षेत्र में सभी राष्ट्रो के उद्योगों तथा व्यवसायो के लिए समान अवसर का सिद्धान्त, जहाँ तक संभव हो, सारी दुनिया के लिए सुरक्षित रहे ।

(४) चीन की वर्तमान परिस्थिति का लाभ उठा कर ऐसे विशेष अधिकार या सुविधाएँ प्राप्त करने की चेष्टा से बचा जाय, जिनसे मित्रराष्ट्रों की प्रजा या नागरिको के अधिकार सीमित होते हो; जिनसे मित्रराष्ट्रो की सुरक्षा पर आँच आये, उन काररवाइयो को बरदाश्त न किया जाय।

स्पष्ट है कि चीनी प्रश्न के विभिन्न पहलुओ पर लागू होने वाले सिद्धान्तो के निरूपण के लिए चीन के दस सूत्री कार्यक्रम को न लेकर, रूट के प्रस्ताव को विचार का आधार बना कर, सम्मेलन ने विचार-क्षेत्र को बहुत सीमित कर दिया था। अतएव यदि सम्मेलन चीन के हित में कोई व्यावहारिक निर्णय नही कर सका तो उसकी जिम्मेदारी सीधी अमरीकी प्रतिनिधिमण्डल की ही थी। इसका एक कारण यह था कि अमरीका को निहित स्वार्थों की पवित्रता मे विश्वास था, जिसके फलस्वरूप भविष्य में लागू होने वाले सामान्य सिद्धान्तो के निरूपण से आगे बढ़ने और वर्तमान अधिकारो व उत्तरदायित्वो की वैधता परखने को वह खतरनाक समझता था। जो भी हो, नव राष्ट्रों की सधि में केवल सामान्य सिद्धान्त ही थे।

जैसा कि पहले बताया जा चुका है, चीन मे विगत काल मे झगडो की सबसे बडी जड थी विभिन्न राष्ट्रो द्वारा वहाँ अपनी-अपनी दिलचस्पी व हितो के विशिष्ट क्षेत्र बनाने की प्रवृत्ति। 'दिलचस्पी के क्षेत्र' के सिद्धान्त की जो तर्कसगत पराकाष्ठा थी, उस ओर भी ध्यान आकृष्ट किया जा चुका है और इस ओर भी कि यह समझ लेने के बाद कि 'उन्मुक्त द्वार' का अर्थ चीन का स्वतंत्र अस्तित्व है, अमरीका ने अपनी नीति को विस्तार दिया। उन्मुक्त द्वार-सिद्धान्त को स्वीकार करने से जो उत्तरदायित्व उत्पन्न होते थे, उनकी व्याख्या में जो मतभेद उठ खड़े हुए, उनका भी वर्णन किया जा चुका है।[६] सम्मेलन मे यह व्याख्या-भेद जापान के एक प्रतिनिधि, बैरन शिदे हारा के भाषण और ह्यूज के वक्तव्य से प्रकट हो चुका था। जापानी प्रतिनिधि ने कहा कि "सिद्धान्त का क्षेत्र सीमित है–विषयवस्तु के सबध मे भी और क्षेत्र की दृष्टि से केवल चीनी क्षेत्र मे लागू होने के संबध मे भी; मूलत , इस सिद्धान्त की व्यवस्था यही है कि जिन राष्ट्रो के चीन मे दिलचस्पी के क्षेत्र है या जिनके पास चीन की भूमि पट्टे पर है वे न तो सधि-बन्दरगाहो मे हस्तक्षेप करें और न रेल तथा बन्दरगाह-शुल्क या सीमा-शुल्क की वसूली में कोई भेदभाव बरतं।"[७] अमरीकी परराष्ट्र-सचिव तथा अमरीकी प्रतिनिधिमण्डल के नेता, ह्यूज ने शिदेहारा के उत्तर मे सिद्धान्त का इतिहास बताते हुए कहा कि इसके पीछे जो भावना थी, उसे राष्ट्रो ने अच्छी तरह समझ लिया था और हे की गश्ती चिट्ठी मे वर्णित तीन बातो से वृहद्, उसकी आत्मा ही यह सिद्धान्त थी। फलतः, इस विचार-विमर्श से यही प्रकट

हुआ कि सिद्धान्त की परिभाषा और अधिक स्पष्ट होनी चाहिए, नही तो भविष्य में फिर इस प्रकार के मतभेद और तज्जनित परेशानी व व्याकुलता हो सकती है।

अतएव, सम्मेलन में प्रगति की ओर एक निश्चित कदम उठाया गया, जब इस नीति की परिधि-सीमा के संबध मे समझौता हो गया। अमरीका की जो सिद्धान्त-कल्पना थी, वही एक संकल्प के रूप में नव राष्ट्रो की सधि मे शामिल कर ली गयी—(१) चीन की क्षेत्रीय व प्रशासकीय अविच्छिन्नता तथा स्वाधीनता व सार्वभौम सत्ता का सम्मान करना, (२) चीन मे व्यावसायिक अवसरो की समानता के सिद्धान्त को लागू करना व आगे बढ़ाना; तथा (३) ऐसी कोई काररवाई न करना और ऐसी किसी काररवाई मे सहायता-समर्थन न प्रदान करना जिससे दिलचस्पी के विशिष्ट हित-क्षेत्र बने या चीन के विशिष्ट क्षेत्रों में ऐसे अवसरो का उपभोग हो जो अन्य राष्ट्रो को उपलब्ध नही है।[८]

दिलचस्पी के क्षेत्र तथा उन्मुक्त द्वार के परस्पर विरोधी सिद्धान्त एक-दूसरे के विरोध मे आ खड़े हुए; जहाँ तक भविष्य मे अधिकार प्राप्त करने का प्रश्न था, उसका निषेध हो चुका था। अमरीका लगभग अकेले ही व्यापक उन्मुक्त द्वार-सिद्धात का प्रतिपादन-समर्थन करता रहा था, अब इस सम्मेलन में, लार्ड बालफर के माध्यम से, ब्रिटेन ने अपने पहले वक्तव्य की फिर से घोषणा की कि जहाँ तक ब्रिटेन का संबंध है दिलचस्पी के क्षेत्र विगत की बात बन चुके है। नव राष्ट्रों की संधि में भविष्य में लागू होने वाले सिद्धान्तो के अनुमोदन के अतिरिक्त ही ब्रिटेन ने यह नीति-वक्तव्य किया था। वाशिंगटन मे प्रतिपादित नीति के समर्थन मे यदि सभी राष्ट्र ईमानदारी से काम लेते या इस सिद्धान्त के प्रतिकूल काररवाई करनेवालों के विरुद्ध प्रभावकारी दण्ड की व्यवस्था की कल्पना कर ली गयी होती तो संधि के मूल्य के संबंध में जो संशय लोगो के मन में था वह पैदा न होता। इस आशा की कि संधि-सिद्धान्त लागू ही होंगे तर्कसंगति केवल यही थी कि सधि के हस्ताक्षरकर्त्ता राष्ट्रों में सबसे सशक्त दो राष्ट्रों मे ऐसा हितसाम्य रहेगा कि वे सधि-सिद्धान्तों को लागू करवा लेंगे। किन्तु देखने की बात यह रह गयी थी कि संधि-सिद्धान्तो के प्रतिकूल आचरण होने पर ब्रिटेन व अमरीका किस सीमा तक एक ही दिशा में चलने का प्रयास करते हैं।

उन्मुक्त द्वार की परिभाषा व स्वीकृति के अतिरिक्त नव-राष्ट्र-संधि मे यह भी व्यवस्था की गयी थी कि चीन के रेलमार्गों पर भाडों व सुविधाओं के संबंध में जो अनुचित भेदभाव बरता जाता था, वह भविष्य में नही बरता जायगा। इस धारा की भाषा से लगता था कि इस संबंध मे चीन दोषी था। यह सत्य से विपरीत था,

क्योंकि जैसा कि चीनी प्रतिनिधि ने सम्मेलन मे कहा था, जहाँ भी रेलमार्ग चीनी प्रशासन मे थे वहाँ कही भी भेदभाव का आरोप नही लगाया जा सकता था। चीन के विभिन्न रेलमार्गों पर, जिन विदेशो का प्रभुत्व था, उनमे से अनेक इस दोष के भागी थे और उन्ही की काररवाइयो के कारण यह धारा जोड़ी गयी थी।

संधि में, अत में यह भी व्यवस्था कर दी गयी थी, भविष्य मे किसी युद्ध में चीन के तटस्थ रहने पर उसकी तटस्थता का सम्मान किया जायगा। अपनी ओर से चीन ने तटस्थता के दायित्व निबाहने का वचन दे दिया। इस ओर ध्यान आकृष्ट किया जा चुका है कि जिस समय जर्मनी द्वारा बेल्जियम की तटस्थता पर आक्रमण की निन्दा की जा रही थी, उसी समय मित्रराष्ट्रो में से एक ने चीन की तटस्थता को भंग किया था। जापान की इस काररवाई के विरुद्ध उस समय अधिक कुछ नही कहा गया था, किन्तु नव-राष्ट्रसधि मे यह व्यवस्था निस्सन्देह ही जापान के इस कृत्य के कारण तथा महायुद्ध के पहले की ऐसी ही घटनाओ के कारण ही की गयी थी। सधि की अन्य व्यवस्थाओं की भाँति इस व्यवस्था का मूल्य भी तभी आँका जा सकता था, जब परीक्षा का कोई अवसर आता।

इस बात से इनकार नही किया जा सकता कि उन्मुक्त द्वार-सिद्धान्त की व्यापक परिभाषा व व्याख्या स्वीकार कर जापान ने एक रिआयत की थी; किन्तु इस स्वीकृति से उसे कोई बहुमूल्य वस्तु छोड़नी पड़ी हो, इसमे सन्देह है। यदि सधि-सिद्धान्त उन सभी विदेशी हितो व दिलचस्पियो पर लागू होता, जो चीन मे पिछले २५ वर्षों में बनाये गये थे तो उन सभी को रद घोषित कर दिया जाता। चीन-जापान के युद्ध के बाद के वर्षो मे जो क्षेत्र पट्टो पर ले लिये गये थे, उन्हे वापस करना होता, क्योकि वे चीन की प्रशासकीय अविच्छिन्नता तथा सर्वोच्च सत्ता के प्रतिकूल थे; चीन के क्षेत्र से विदेशी डाकखाने हटाने पड़ते, सीमा-शुल्क व न्याय-व्यवस्था से सबंधित सर्वोच्च सत्ता फिर से अक्षुण्ण बनानी पड़ती, विदेशी बेतार के तार की व्यवस्था या तो नष्ट करनी पड़ती या चीन को सौप देनी पडती; आग्ल-जापानी-मैत्री, लैंनसिग-ईशी-समझौता तथा २१ माँगो को या तो सशोधित करना पडता या फिर समाप्त कर देना पड़ता। इन्ही बातो मे हृदय-परिवर्तन निस्सन्देह परिलक्षित हो सकता था।

लैंनसिग-ईशी समझौता तथा आग्ल-जापानी मैत्री-सधि समाप्त कर दी गयी। किन्तु नव-राष्ट्र-संधि के सिद्धान्तों के लागू होने से वे समाप्त नही हुईं, उन्हें केवल चार राष्ट्रों के समझौते में बदल दिया गया। सन् १९१५ की संधियों व समझौतों की वैधता पर विचार-विनिमय करने से जापान से इनकार कर दिया। जो अधि-

कार प्राप्त किये जा चुके थे, उन्हे 'सिद्धान्तों' की कसौटी पर परखा नहीं जा सकता था, उन्हें चुनौती दिये बिना यथावत् छोड़ दिया जाता था; चुनौती देनी थी तो केवल चीन को। सम्मेलन ने इस आधार पर विचार ही शुरू किया था कि निहित स्वार्थों मे हस्तक्षेप नही किया जायगा, चाहे एक के स्वार्थ व दावो का दूसरे के स्वार्थ व दावो मे विरोध भले ही आता हो। वास्तव मे चीन को केवल एक क्षेत्र की वापसी का आश्वासन मिला; वह था वीहाईवी-क्षेत्र जिसका अब ब्रिटेन के लिए कोई उपयोग न था, फ्रांस ने भी कहा कि वह भविष्य मे क्वागचाउ खाडी को वापस करने की बात इस शर्त पर कर सकता है कि अन्य राष्ट्र भी अपने-अपने पट्टे वाले क्षेत्र वापस करें। किआओचाओ के पट्टे की वापसी की भी बात हुई, किन्तु-संधि-सिद्धान्तों के लागू होने से नही। सम्मेलन ने चीन की न्याय-व्यवस्था की जाँच और उसके सुधार में सहायता-संबधी एक प्रस्ताव स्वीकार किया था, किन्तु राज्य-क्षेत्रातीतता लागू रही। यह भी निश्चय हुआ कि पट्टे वाले क्षेत्र छोड कर शेष चीन से विदेशी डाकघर हटा लिये जायँगे। निश्चय हुआ कि मचूरिया के रेल-क्षेत्र व चीन के पट्टा-क्षेत्र छोडकर शेष स्थानो पर स्थापित विदेशी रेडियो केन्द्र को सौप दिये जायँगे, किन्तु जापान के लगभग सभी रेडियो-केन्द्र उन्ही मुक्त क्षेत्र मे ही थे। चीन के क्षेत्र से विदेशी सैनिक हटने थे किन्तु तभी जब पीकिंग स्थित विदेशी प्रतिनिधि इसे उपयुक्त समझें। चीन को सीमा-शुल्क के सम्बन्ध में सर्वोच्च अधिकार प्राप्त नही हुए, किन्तु कुछ रिआयतें अवश्य कर दी गयी, जिनसे उसकी आय मे काफी वृद्धि हुई। इन छोटी-मोटी रिआयतो को छोड़कर नव-राष्ट्र-संधि-सिद्धान्त इस प्रकार लागू नही किये गये, जिससे उन विशेष अधिकारो व सुविधाओं को समाप्त किया जा सकता, जो इन सिद्धान्तो के प्रतिकूल थे।[९]

फिर भी यह तो कहा ही जा सकता है कि वाशिंगटन-सम्मेलन से चीन का एक लाभ यह हुआ कि उससे कुछ छीना नहीं गया। जैसा कि डाक्टर डब्ल्यू०डब्ल्यू० विलोबी ने कहा है :

तो, चीन की केन्द्रीय शासन-सत्ता के निश्चित विघटन के बावजूद, कुछ विदेशी ऋणों की अदायगी में असफल होने के बावजूद, दक्षिणी भाग में एक ऐसे राजनीतिक-दल और ऐसे राजनीतिक-संगठन के होने के बावजूद जो पीकिंग सरकार की ही वैधता से पूरी तरह इनकार करता था, चीन इस सम्मेलन से वापस लौटा तो न केवल उसकी सर्वोच्च सत्ता नयी प्रशासकीय या अन्य प्रकार की सीमाएँ ही नहीं लगायी गयी थीं, बल्कि उसे विदेशों से औपचारिक रूप से यह स्पष्ट आश्वासन मिल गया था कि उसकी वर्तमान परिस्थितियों से लाभ उठाकर वे उसकी कार्य-स्वतंत्रता पर नयी सीमाएँ नहीं लगायेंगे।[१०]

दूसरे शब्दो मे, यह मानना चाहिए कि इस सम्मेलन से चीन को लाभ हुआ, क्योंकि जितना वह खो चुका था, उससे अधिक उसे नही खोना पडा और विदेशों ने उसकी आतरिक परिस्थिति का लाभ उठा कर अपने-अपने हितो का प्रसार करने के लिए हस्तक्षेप नहीं किया।

यह प्रश्न पहले भी उठाया जा चुका है कि इन समझौतो के ईमानदारी से लागू होने की कितनी आशा थी। पहले भी उन्मुक्त द्वार-नीति का सबसे बड़ा दोष यही था कि उसे प्रभावकारी बनाने की कोई व्यवस्था नही की गयी थी। वाशिंगटन में इस दिशा मे प्रयास किया गया था और एक ऐसा मडल वना देने का प्रयत्न हुआ था, जिसके पास उन्मुक्त द्वार सिद्धात के प्रतिकूल कोई समझौता या सविदा होने पर अपील भेजी जा सके। सीमा-शुल्क पुनरीक्षण के लिए जिस आयोग के गठन की व्यवस्था थी, वही आयोग इस मंडल के गठन के सबध मे सिफारिश करने वाला था, किंतु कोई भी राष्ट्र यह सिफारिश मानने को बाध्य नही था। किंतु यदि ऐसा मडल बन भी जाता तो उसका अधिकार केवल जाँच करके प्रतिवेदन करने भर का था और उस प्रतिवेदन को स्वीकार करना आवश्यक नही था। अतएव सम्मेलन के बाद इस सिद्धात का कार्यान्वय उन पक्षों की सदाशयता मात्र पर निर्भर हो गया, जिन्होंने अतीत में इस उत्तरदायित्व को निबाहने में तत्परता नही बरती थी।

## (४) शानतुंग के प्रश्न का समाधान

जिस प्रश्न ने अमरीकी जनता का ध्यान सबसे अधिक सुदूरपूर्व की ओर आकृष्ट किया था, वह था शानतुग प्रान्त का प्रश्न। अमरीकी सीनेट व जनता मे वार्साइ-संधि का जो विरोध हुआ था, वह पेरिस-निर्णय मे चीन के साथ हुए अन्याय के कारण ही था। अतएव, अमरीकी जनता वाशिंगटन-सम्मेलन को तब तक सफल नही मानती, जब तक शानतुग का प्रश्न हल नही हो जाता। चीन चाहता था कि इस प्रश्न पर पूरा सम्मेलन विचार करे, पर जापान ने यह कह कर इसका विरोध किया कि यह विषय केवल दो राष्ट्रों से सबंधित है। समझौते के उद्देश्य से अमरीका ने सुझाव रखा कि सम्मेलन के साथ ही साथ चीन व जापान के प्रतिनिधियो की एक बैठक इस प्रश्न पर विचार करने के लिए हो जाय और उसमें ब्रिटेन व अमरीका के प्रतिनिधि पर्यवेक्षको के रूप मे भाग ले। चीन इस सुझाव को मानने को अनिच्छा के साथ बाध्य हो गया, क्योकि इनकार का अर्थ निकाला जाता अड़चन डालना और अमरीकी जनता में चीन के प्रति जो सहानुभूति थी उसे खो देना।

लम्बे विचार-विनिमय तथा ब्योरे मे बड़े मतभेदो के बाद अतत. मामला निपट

गया। जापान इस बात पर राजी हो गया कि पट्टे के सारे क्षेत्र को और जर्मनी की सरकार की सभी सार्वजनिक सपत्तियों को वह चीन को लौटा देगा। इन संपत्तियों के लिए चीन को कोई हरजाना नही देना था, केवल वह राशि जापान को वापस कर देनी थी, जो उसने सपत्तियो के अपने कब्जे के समय उन्हें बढ़ाने या सुधारने पर खर्च की थी। इन सपत्तियो के संबध मे एक शर्त यह भी थी कि त्सिंगताओं मे जापान के वाणिज्य-दूतावास तथा जापानी समाज के लिए पाठशालाएँ, समाधियाँ आदि बनाने के लिए आवश्यक संपत्तियाँ जापान अपने पास ही रख लेगा।

पट्टे के क्षेत्र या त्सिंगताओ-त्सिनान-रेलमार्ग के निकटवर्ती क्षेत्र मे जो भी जापानी सैनिक थे, उन्हे जितनी जल्दी सभव हो, वहाँ से हटना था; बन्दरगाह व रेलमार्ग की सुरक्षा का काम चीन अपने हाथ मे तत्काल ले लेने को तत्पर था। समझौते पर हस्ताक्षर होने की तिथि के छः महीने के भीतर सभी जापानी सैनिको को वहाँ से हट जाना था।

त्सिगताओ-स्थित जापानी सीमाशुल्क-व्यवस्था चीनी समुद्री शुल्क-व्यवस्था का अंग बन जाने वाली थी और इस सबध मे सन् १९१५ में चीन व जापान के बीच जो समझौता हुआ था, वह रद हो रहा था।

त्सिगताओ-त्सिनान-रेलमार्ग चीन को इस शर्त पर वापस मिल रहा था कि वह उसकी व उससे संबधित संपत्ति की कीमत चुकायेगा; इस संपत्ति का मूल्याकन वह आयोग करने वाला था जो जर्मनी से क्षतिपूर्ति लेने के संबंध में बना था; इसके अतिरिक्त चीन को वह राशि भी अदा करनी थी, जो जापान ने रेलमार्ग पर अपने प्रभुत्व के समय उस पर खर्च की थी। इस राशि को दोनो देशो के प्रतिनिधियों का संयुक्त आयोग तय करने वाला था। यह अदायगी पन्द्रह वर्ष तक चीनी नोटों में होनी थी, यद्यपि चीन को यह छूट थी कि वह चाहे तो पाँच वर्ष के भीतर इन नोटो को छुड़ा सकता था।[११] नोटो के विमोचन की अवधि में जापानी हितों की रक्षा के लिए यह निश्चित हुआ था कि चीन एक जापानी अधिकारी को यातायात-प्रबन्धक बना देगा और एक अन्य जापानी अधिकारी को चीनी अधिकारी के साथ सयुक्त मुख्य लेखाकार बना देगा।

शानतुंग-रेल मार्गों के विकास व प्रसार में पूँजी लगाने का जो अधिकार जापान ने प्राप्त कर लिया था, उस सबध मे तय हुआ कि यदि चीन स्वयं इस काम में पूँजी न लगा सके तो एक अंतरराष्ट्रीय अभिषद् इस काम को करेगा।

२६ जून, १९२२ से ५ दिसम्बर, १९२२ तक टोकियो में हुए चीन व जापान के प्रतिनिधियों के सम्मेलनों में शानतुंग-संधि को लागू करने का ब्योरा तैयार होता

रहा। पट्टे के क्षेत्र व सपत्तियो का हस्तातरण इसके तत्काल बाद हो गया और सन् १९२३ के आरम्भ मे ही सन् १९१५ की वे संधियाँ जो शानतुंग प्रान्त से सबधित थी, सिद्धान्त तथा व्यवहार मे समाप्त हो गयी। दोनो देशो के बीच मैत्री-सम्बन्ध स्थापित होने मे जो बाधा थी वह इस प्रकार समाप्त हो गयी। जब जापान का उस क्षेत्र मे कब्जा था, उसके नागरिको ने वहाँ जो काफी सपत्तियाँ बना ली थी, वे कायम रही और सामान्य स्थिति में इससे सरकारो के बीच के सबध कटु नही होते। किन्तु जैसा कि अन्यत्र बताया गया है[१२] शानतुग मे रहने वाले जापानी नागरिकों के जान-माल की रक्षा के लिए, टनाका शासन ने, सन् १९२७ व फिर सन् १९२८ में वहाँ फौजे उतार दी जब कि राष्ट्रीय सेनाएँ उत्तर की ओर बढ रही थी। सन् १९२८ मे त्सिनान मे भीषण सघर्ष हो गया और एक नया 'शानतुग प्रश्न' उठ खडा हुआ, जिससे चीन व जापान के सबध और भी जटिल हो गये। सौभाग्यवश, मार्च, १९२९ में यह प्रश्न हल हो गया।

## (५) संधि-पुनरीक्षण

वाशिंगटन-सम्मेलन के बाद विभिन्न राष्ट्र चीन के साथ व्यवहार करने मे नव-राष्ट्र-सधि-सिद्धान्तो की कानूनी परिधि से नियत्रित थे। किन्तु उस समय चालू संधि-प्रणाली के स्थापित सिद्धान्तो से उनकी रक्षा भी होती थी। इसके अतिरिक्त कुछ ऐसी विशिष्ट सुविधाएँ भी थीं, जो सामान्य सधि-प्रणाली की उपचय या अभिवृद्धि के रूप मे थी या दो देशो के बीच हुए समझौतो के रूप मे थी। चूँकि वाशिंगटन-सम्मेलन के समझौते चीन के परराष्ट्र-संबधो के इस पहलू पर भी थे, सम्मेलन के प्रभावो को इस दृष्टि से संक्षेप में बताकर ही चीन-सरकार के सधि-पुनरीक्षण के प्रयासों का वर्णन उपयुक्त होगा।

विदेशी चीन मे एक विशेष सुविधा का उपभोग करते थे, जिसका सधि-आधार पक्का नही था; यह सुविधा थी चीन के क्षेत्र पर अपने सशस्त्र सैनिक रखना। मुक्का-आन्दोलन के बाद की उप-सधि मे यह व्यवस्था थी कि सधि-राष्ट्र पीकिंग मे तथा पीकिंग से समुद्रतट तक जानेवाले रेलमार्ग पर दूतावास-रक्षको की हैसियत से कुछ सशस्त्र सैनिक रख सकेंगे। इसके अतिरिक्त, रेलमार्गों के कुछ समझौतो की व्याख्या इस प्रकार कर ली गयी थी कि रेलक्षेत्र में रेल-रक्षको की हैसियत से सैनिक रखे जा सकेंगे, किन्तु कई देशो ने, सन् १९११ व उसके बाद उन स्थानो पर अपने सैनिक तैनात कर दिये थे, जहाँ उनके नागरिक बडी संख्या में रहते थे; इसका बहाना उन नागरिकों के जान-माल की रक्षा करना था। याग्त्सी नदी तथा चीन के समुद्र में नौ-सैनिक भी उतार दिये गये थे। अतः, वाशिंगटन-सम्मेलन मे एक

प्रस्ताव द्वारा इस स्थिति की जाँच के लिए एक प्रस्ताव स्वीकार किया गया; विभिन्न राष्ट्रों ने यह इरादा भी प्रकट किया कि जहाँ भी चीन विदेशी नागरिकों की सुरक्षा का आश्वासन देगा, वहाँ से वे सैनिक हटा लिये जायँगे, जिनके रखने की व्यवस्था संधियो मे नही है। जब तक सम्मेलन के समझौतो के लागू करने का प्रश्न चलता रहा, वह समय कभी नही आया, जब विदेशी अपने सैनिक चीन से हटाते।

सम्मेलन का एक अन्य प्रस्ताव पट्टे के क्षेत्र तथा उन स्थानो को छोड़ कर जहाँ संधियो की शर्तों मे इसकी व्यवस्था थी, शेष चीन से विदेशी डाकघर हटाने के सबध में था। यह प्रस्ताव लागू हुआ, केवल दक्षिणी मचूरिया के रेल-क्षेत्र मे जापानी डाकखाने कायम रहे; प्रस्ताव की एक शर्त यह थी कि विदेशी डाकघर हटने पर चीन एक सुव्यवस्थित डाक सेवा का संगठन कर लेगा।

चूँकि इस प्रस्ताव से यह ध्वनि निकलती है कि चीन-सरकार डाक-सेवाएँ सुचारु रूप से नही चला रही थी और इसीलिए विदेशी डाकघरो की आवश्यकता पड़ी। चीन की इस व्यवस्था के संबध मे कुछ कह देना आवश्यक है। आधुनिक युग से पहले चीन मे पत्र और समाचार ले जाने का केवल एक माध्यम था सरकारी हरकारो का तथा देशी डाकघरो का, इसके अतिरिक्त यात्री भी एक स्थान से दूसरे स्थान तक पत्र लाया-ले जाया करते थे। हरकारा प्रथा अक्षम और व्ययसाध्य होने के बावजूद गणतत्र की स्थापना तक कायम रही, जब सन् १९१२–१९१३ में चीनी डाकखानों ने सभी सरकारी पत्रों को लाने-ले जाने का उत्तरदायित्व ले लिया। इसी प्रकार सरकारी डाक-व्यवस्था के बाद भी कुछ दिनों तक देशी डाकघर भी चलते रहे, जो पत्र, पारसल, हुडी तथा चाँदी की सिल्लें भुगतान के लिए लाते-ले जाते थे तथा स्वयं व्यापार भी करते थे। एक ही संगठन सारे चीन के लिए नही था और बहुधा एक सगठन एक-दो प्रान्तो या कभी-कभी प्रान्त के भीतर जिलों तक ही सीमित होता था। यह प्रथा इसलिए कायम रही कि ये संगठन शक्तिशाली थे, समुद्रतट व नदियों मे जहाज चलाने वाली कपनियों से उनके अच्छे सबंध थे, देश भर मे सरकारी डाक-व्यवस्था होने के पहले वे दूर भीतरी जिलो तक डाक ले जाने का प्रबन्ध करते थे और दूर-दूर से पत्रादि लाने-ले जाने की व्यवस्था करते रहते थे। यह सही है कि राष्ट्रीय डाक ले जाने के साथ वे कुछ अन्य सामान भी ले जाते थे, जिससे उन्हे थोड़ा-बहुत लाभ और भी होता रहता था। सन् १९२२ तक इन सगठनो का कार्य-क्षेत्र कुछ छोटे जिलो तक ही सीमित रह गया था, जहाँ वे सेवाएँ भी प्रदान करते थे, जो डाकखानों के लिए असंभव थी।

राष्ट्रीय डाक-सेवा का विचार धीरे-धीरे तब सर्वस्वीकृत हुआ जब सर राबर्ट

हार्ट के नेतृत्व में समुद्री सीमा-शुल्क-सेवा ने इस दिशा मे कुछ प्रयोग किये। सन् १८७५ तक चीन-सरकार को विश्वास हो चुका था कि यह सेवा स्वय उसे स्थापित करनी चाहिए और चेफू-सधि मे एक धारा डाक-सेवा स्थापित करने के संबध मे भी जोड़ दी गयी थी। दुर्भाग्यवश, यह हो नही सका और फिर सन् १८९६ मे ही शाही शासनादेश से चीन-डाक-घर की विधिवत् स्थापना हुई। सन् १८९७ मे धन भेजने की व्यवस्था की गयी और अगले वर्ष पारसल भेजने की। सन् १९१४ में चीन विधिवत् विश्व-डाक-सम्मेलन से संबद्ध हो गया, यद्यपि तत्सबधी नियमों का वह पहले से ही पालन कर रहा था। सन् १८९६ के बाद से डाक-सेवा का विस्तार बहुत तेजी से हुआ और सन् १९२२ तक उन सभी स्थानो मे डाक सुव्यवस्थित रूप से पहुँचने लगी थी, जहाँ रेलमार्ग थे। इस प्रकार, डाकखानो की सख्या सन् १९०६ मे २०९६ थी, जो सन् १९११ मे बढकर ६२०१ हो गयी और सन् १९२२ में ११,३०६। इसी प्रकार इस सेवा से ले जाये जानेवाले पत्रो तथा अन्य वस्तुओं की सख्या जो सन् १९०६ मे ३,१९,९४,१४३ थी, सन् १९२२ मे बढ कर ४२,६३,६३,६१६ हो गयी; इसी प्रकार, पारसलो की सख्या सन् १९०६ से सन् १९२२ तक ४,००,१२६ से बढ़ कर ४७,९१,४२० हो गयी थी। अतएव यह स्वीकार करना होगा कि वाशिंगटन-सम्मेलन के समय तक चीन ने कठिन परिस्थितियो में भी आधुनिक डाक-सेवा चालू करने मे प्रशसनीय प्रगति की थी। चीन को जिन कठिनाइयो का सामना करना पड़ा था, उनमे विदेशी डाकघरो से प्रतियोगिता तथा राजनीतिक उथल-पुथल भी शामिल थीं; सन् १९२२ के बाद विदेशी डाकघरो से प्रतियोगिता समाप्त हो गयी।

संधि-प्रणाली से उत्पन्न समस्याओं के समपार्श्व ही पट्ट के क्षेत्रो की समस्या थी। यद्यपि पट्टे के क्षेत्रों का प्रश्न वाशिंगटन-सम्मेलन मे सीधे नही उठाया गया था, दिलचस्पी के क्षेत्र के सिद्धान्त के बहिष्कार से इस ओर ध्यान केन्द्रित हुआ था कि पट्टे के क्षेत्रो से दिलचस्पी के क्षेत्र बनने का आधार शुरू होता है। शानतुंग-संधि के अनुसार जर्मनी-जापान को मिला किआओचाओ का पट्टा समाप्त कर दिया गया था। फ्रास ने भी आश्वासन दिया था कि यदि अन्य राष्ट्र अपने-अपने पट्टे के क्षेत्र छोड़ दे तो वह भी क्वागचाउ का पट्टा समाप्त कर देगा; कम-से-कम वह पट्टा समाप्त करने के लिए बात चलाने को तो तैयार था ही। उधर ब्रिटेन वीहाईवी छोड़ने के लिए बात करने को तैयार था। किन्तु जापान ने क्वागतुंग के क्षेत्र के पट्टे को कायम रखने की बात की और ब्रिटेन ने भी कोउलून-क्षेत्र के सबध में बात करने में तत्परता नही दिखायी। जब वाशिंगटन में किये गये वादो को लागू करने का

समय आया फ्रांस ने बातचीत शुरू ही नहीं की। ब्रिटेन ने अक्तूबर, १९२२, में वीहाईवी वापस लौटाने की शर्तों पर बात शुरू की और ३१ मई, १९२३ को एक अस्थायी समझौता हो गया। यह समझौता पीकिंग-सरकार को असतोषजनक लगा और समझौते की बात फिर शुरू हुई। सन् १९२४ मे इस बातचीत में गत्यवरोध आ गया और सन् १९३० तक बात आगे नही बढ सकी; ३० अप्रैल, १९३० को दोनो पक्षों के लिए संतोषजनक समझौता हो गया।

चीन की स्वतंत्रता पर जो दो प्रतिबन्ध—राज्यक्षेत्रातीतता तथा सीमाशुल्क-सबंधी सधि-प्रबन्ध—सबसे पहले लगे थे, उन्हे हटाने के जो प्रयास उसने किये, वे संभवत: सबसे अधिक महत्त्व के है। वाशिंगटन-सम्मेलन में यह आश्वासन दिया गया था कि चीन की न्याय-व्यवस्था की जाँच करने के लिए एक आयोग नियुक्त होगा जो राज्य-क्षेत्रातीतता के सबंध में सिफारिश करेगा। यह जाँच सन् १९२५ तक टल गयी, क्योकि देश की राजनीतिक परिस्थिति के कारण चीन-सरकार ने ही उसे स्थगित करने का अनुरोध किया था। आयोग ने पहले पीकिंग में तत्कालीन न्याय-व्यवस्था तथा उसमे प्रस्तावित संशोधनो पर विचार किया और यह जाँचने की कोशिश की कि स्थानीय प्रशासन किस सीमा तक आधुनिक विचारों से समरस हुआ है। गृहयुद्ध के फिर से शुरू होने और प्रान्तों मे अशांति फैल जाने से आयोग के काम में बाधा पड़ गयी। आयोग ने सिफारिश की कि विदेश अपने नागरिकों का नियंत्रण चीन सरकार को सौंपे इसके पहले चीन सरकार को कुछ आवश्यक कदम उठाना चाहिए; चूँकि व्यवस्था की जाँच मे वह अशतः उपयुक्त पायी गयी है, विदेशी सरकारो को समझौता कर लेना चाहिए कि राज्यक्षेत्रातीतता-प्रणाली धीरे-धीरे खत्म कर दी जायगी; आयोग ने इसके लिए भी सुझाव दिये कि इस प्रणाली में ऐसे सुधार कर दिये जायँ, जिससे वह क्षमतापूर्वक व सभी पक्षों के लिए संतोषजनक रूप से संचालित हो सके।[११]

सीमाशुल्क के संबंध में नव-राष्ट्र-संधि में व्यवस्था की गयी थी कि (१) शुल्क की दरें तत्काल इस प्रकार संशोधित कर दी जायँ कि चीन को विदेशी व्यापार के मूल्य का पाँच प्रतिशत मिलने लगे; (२) संधि के अनुसमर्थन के तीन महीने के भीतर एक विशेष सम्मेलन बुला कर एक प्रान्त से दूसरे प्रान्त जाने वाले माल पर लगने वाली राहदारी या पारवहन चुंगी व उसकी समाप्ति के प्रश्न पर विचार किया जाय और सम्मेलन इसकी जगह ढाई प्रतिशत तक का सामान्य कर लगा दे और कुछ विलास-सामग्रियों पर पाँच प्रतिशत तक का कर लगा दे; और (३) जल व स्थल-सीमाओ पर लगने वाले करों में एकरूपता का सिद्धान्त स्वीकार कर लिया

जाय, जिससे दक्षिण मे फ्रास से और उत्तर मे रूस व जापान से होने वाले व्यापार को वे रिआयतें न रहें, जो समुद्र द्वारा आनेवाले व्यापारियो को प्राप्त नही हैं।[१४]

सीमाशुल्क के तत्काल पुनरीक्षण का काम तो हो गया, किन्तु विशेष सम्मेलन सन् १९२५ तक नही बुलाया जा सका, इसका मुख्य कारण यह था कि फ्रांस ने तब तक सधि का अनुसमर्थन ही नही किया था। यह देरी स्वर्ण-फ्रांक-विवाद के कारण हुई थी।[१५] जब सन् १९२२ मे पाँच वर्ष के युद्ध-अधिस्थगन के उपरान्त, मुक्का आन्दोलन की क्षतिपूर्ति फ्रास को देने का प्रश्न उठा, तब उसने यह शर्त रखी कि यह राशि सोने के फ्रांको मे अदा होनी चाहिए। चीन-सरकार का कहना था कि उसे कागज के उन नोटो से अदायगी का अधिकार है, जिनका मूल्य गिर गया था। विवाद सन् १९२५ तक हल नही हुआ। इस विवाद के अन्त और सधि के अनुसमर्थन के बाद विशेष सम्मेलन बुलाने का काम शुरू हुआ। सम्मेलन के समक्ष चीन की यह माँग पेश हुई कि सीमा-शुल्क के पुनरीक्षण द्वारा दरें बढ़ाने से काम नही चलेगा, चीन को इस सबंध मे सर्वोच्च अधिकार फिर से प्राप्त होने चाहिए। माँग सिद्धान्ततः स्वीकार कर ली गयी और यह तय हुआ कि चीन का राष्ट्रीय सीमा-शुल्क १ जनवरी, १९२९ से लागू हो, जब तक चीन लिकिन (पारवहन या राहदारी चुगी) समाप्त कर देगा। सन् १९०२ की मैंके संधि के समय से ही विदेशी राष्ट्रो ने लिकिन और सीमा शुल्क के प्रश्नो को एक दूसरे से सम्बद्ध माना था और सीमा-शुल्क-पुनरीक्षण के सीमित प्रश्न पर विचार के समय भी दोनों को सम्बद्ध को रखा था, किन्तु चीन का कहना था कि राष्ट्रों ने सीमा-शुल्क के सम्बन्ध मे एक वादा किया है, जिसे पूरा होना चाहिए और उसे लिकिन समाप्त करने मे सफलता के प्रश्न से नही जोड़ा जाना चाहिए। किन्तु सन् १९२५-१९२६ में पीकिंग सरकार के गृहयुद्ध के कारण गिर जाने से सम्मेलन कोई समझौता किये बिना ही समाप्त हो गया। बाद की समझौता वार्ता वाशिंगटन-सम्मेलन के द्वारा निश्चित आधार पर नही हुई।

संधि-पुनरीक्षण-आंदोलन की दूसरी मजिल सन् १९२६ मे आरम्भ हुई। कुओमिनतांग का एक निश्चित उद्देश्य यह था कि चीन के परराष्ट्र-सबध पूर्ण समता के आधार पर स्थापित हो। किन्तु इस दिशा में निश्चित कदम पीकिंग-सरकार ने उठाया जब एक ओर राज्यकोष रिक्त था और दूसरी ओर मुखर राष्ट्रीय जनमत का दबाव बढ़ रहा था। सन् १९२६ के अत में चांग त्सो-लिन ने आदेश जारी कर दिया कि १ फरवरी, १९२७ से वाशिंगटन-अतिकर वसूल किया जाय, यद्यपि इस अतिकर की वसूली के समझौते नही हुए थे। सीमा-शुल्क के महानिरीक्षक, सर

फ्रासिस एगलेन ने यह "अवैध" अतिकर वसूल करने से इनकार कर दिया तो उन्हे पदच्युत कर उनकी जगह एक अन्य अंग्रेज, ए एच. एफ. एडवर्ड्स को नियुक्त कर दिया गया। पीकिंग-स्थित राजदूतो ने इस काररवाई पर प्रतिवाद किया पर कोई नतीजा नही निकला।

किन्तु इसके पूर्व चीन ने अपने इस निश्चय की ओर सकेत कर दिया था कि वह सभी सधि-राष्ट्रो से सामूहिक रूप से समझौते की बात न चलाकर उनसे अलग-अलग बात करेगा। पेरिस व वाशिंगटन मे सामूहिक काररवाई के प्रयत्न हुए थे और राष्ट्रसघ की सन् १९२५ की सभा मे चीन ने सधि-पुनरीक्षण का प्रश्न उठाया था। इस सबंध में अतरराष्ट्रीय निर्णय प्राप्त करने के परिणाम निराशाजनक रहे थे और चीन को कोई नया ढग अपनाना था। इस नये ढग का आधार अधिकाश सधियो की धाराओ मे मिल गया, जिनके अनुसार एक या दोनो पक्षों के अनुरोध पर, दस वर्ष की अवधि के बाद सधियो के पुनरीक्षण की बात उठायी जा सकती थी। यद्यपि इन धाराओं की कल्पना यही थी कि पुनरीक्षण आशिक होगा, पूरी संधि रद नही कर दी जायगी या उसकी जगह कोई बिलकुल नया समझौता नही कर लिया जायगा, चीन-सरकार ने तब और बाद मे यह दृष्टिकोण अपनाया कि यदि पूर्ण समता तथा अन्योन्यता के सिद्धान्तो पर नये समझौते नही किये गये तो वह अपनी ओर से एक-तरफा तौर पर ही संधियो को समाप्त कर देगी। इस प्रकार विदेशो से संतोषजनक सधि-पुनरीक्षण का अनुरोध करने की जगह चीन ने अपनी ओर से ही स्पष्ट कर दिया कि वह लागू सधियो को किन शर्तों पर कायम रखने को तैयार है। चीन के दृष्टिकोण मे यह आश्चर्यजनक परिवर्तन था।

इस नये दृष्टिकोण से जिस संधि का सबसे पहले निपटारा किया गया वह बेल्जियम से थी और जिसकी धारा में यह स्पष्ट उल्लेख था कि संधि-संशोधन का प्रस्ताव लाने का अधिकार केवल बेल्जियम को ही होगा। पीकिंग-स्थित बेल्जियम के प्रतिनिधि को १६ अप्रैल, १९२६ को सूचना दी गयी कि चीन संधि का सशोधन चाहता है। प्रतिनिधि से कहा गया कि संधि अक्तूबर में समाप्त होगी और उसकी जगह लेने के लिए एक नया समझौता होना चाहिए। बेल्जियम ने कहा कि संधि-संशोधन माँगने का चीन को कोई अधिकार नही है, किन्तु वह सीमित पुनरीक्षण के लिए तैयार है। यह शर्त चीन को अमान्य थी; अत मे बेल्जियम इस प्रश्न को अंत-रराष्ट्रीय न्याय की स्थायी अदालत में ले गया।[१६] चीन ने यह मानने से इनकार कर दिया कि यह विषय न्याय्य है और इसलिए बिना दोनों पक्षों की सहमति के अदालत में ले जाया जा सकता है; साथ ही चीन सरकार ने टीटसीन में बेल्जियम

को मिले रिआयत-क्षेत्र तथा बेल्जियम के नागरिकों को अपने नियंत्रण-क्षेत्र में ले-लेने के लिए काररवाई शुरू कर दी। इसके पहले कि बेल्जियम सरकार के आवेदन पर अदालत विचार करती बेल्जियम चीन से नयी सधि करने के लिए समझौता-वार्त्ता के लिए तैयार हो गया और इस बात पर पहले ही राजी हो गया कि चीन टीटसीन-रिआयत को वापस ले ले। १७ जनवरी, १९२७ को समझौते की बात शुरू हुई और चीन-सरकार ने उन अस्थायी प्रबन्धो की घोषणा कर दी जो बेल्जियम के नागरिको की सुरक्षा के लिए किये जाने वाले थे; इस घोषणा मे व्यवसाय-सबधी तथा बेल्जियम के नागरिको पर केवल आधुनिक अदालतो मे ही मुकदमा चलाने की बातें भी थी। इस प्रकार, एक छोटे राज्य से सशक्त व्यवहार कर पीकिंग-सरकार ने अपना यह अधिकार स्थापित कर लिया कि एक अस्वीकार्य सधि की जगह सतोषजनक सधि की जा सकती है, चाहे अस्वीकार्य सधि के सीमित पुन-रीक्षण की माँग का वैध अधिकार भी उसे न रहा हो। जब दस-दस वर्ष की अवधियाँ समाप्त होने पर फ्रांस, स्पेन व जापान की सधियों का प्रश्न उठा, तब पीकिंग-सरकार ने उनके प्रति भी यही नीति बरती। इन तीनो सरकारो से सन् १९२६–१९२७ मे समझौता-वार्त्ताएँ शुरू की गयी। इसी बीच सन् १९२५ व सन् १९२६ मे आस्ट्रिया व फिनलैण्ड से दो नयी संधियाँ भी की गयी, जिनका आधार काफी हद तक समता व अन्योन्यता था।

बेल्जियम, फ्रास, जापान तथा स्पेन से 'असमान' संधियो को समाप्त करने के लिए चल रही समझौता-वार्त्ता पूरी होने के पहले ही उत्तर की सरकार बदल गयी और परराष्ट्र विषयो का निर्देशन नानकिंग से होने लगा। इससे बातचीत जारी रखने व अन्य देशों से बातचीत शुरू करने में राष्ट्रीयतावादियो को एक विशेष सुविधा मिल गयी। इस बातचीत के लिए आवश्यक था कि विदेशी प्रतिनिधि नानकिंग आये और इस प्रकार उन सधि-अधिकारो के सबंध मे समझौता-वार्त्ता करने के लिए, जो सामान्यत: सभी राष्ट्रो के लिए समान थे, विदेशी राजनयिक-समुदाय का एका भंग हो गया। वाशिंगटन-सम्मेलन के बाद विभिन्न राष्ट्रो ने पीकिंग में सहयोगात्मक नीति का अनुसरण करने का प्रयास किया था, जिसका अर्थ था पीकिंग-सरकार के साथ व्यवहार करने मे सयुक्त मोर्चा बनाना व कायम रखना। चीन के लिए यह स्थिति तभी लाभदायक हो सकती थी जब सधि-राष्ट्रो द्वारा अपने-अपने राष्ट्रीय हितो को आगे बढ़ाने की चेष्टा हो रही होती। किन्तु संधि-पुनरीक्षण की दृष्टि से यह सहयोगात्मक नीति चीन के हित में नही, विभिन्न राष्ट्रो के हित मे ही थी। जैसा कि कहा जा चुका है, राष्ट्रीयतावादियो द्वारा देश की एकता स्थापित करने के पहले ही पीकिंग-सरकार ने इस विदेशी एकता की दीवार को तोड़ना शुरू

कर दिया था। नानकिंग-सरकार के लिए यह काम और भी आसान हो गया। दूसरी ओर, राष्ट्रीयतावादी भी पहले से ही इस सयुक्त मोर्चे के विरुद्ध आंदोलन कर रहे थे और इससे परराष्ट्र-संबंधो में पीकिंग-सरकार को सहायता मिली थी।

जिन परिस्थितियो को ध्यान में रखकर वाशिगटन-सम्मेलन मे संधि व समझौते हुए थे, चीन में राष्ट्रीय आदोलन के विकास से वे परिस्थितियाँ मौलिक रूप से तो नही बदली, किन्तु उससे सुदूर पूर्व की राजनीति मे एक नये तत्त्व का उदय अवश्य हुआ। यह तत्त्व था चीन-सरकार द्वारा कार्य-स्वतत्रता का दावा। सीमित रूप मे इससे चीन की परराष्ट्र-नीति को एक नयी दिशा मिली। किन्तु तत्काल इसने उस आंदोलन को केवल एक नयी गति ही प्रदान की, जो वाशिगटन-सम्मेलन तथा उसके बाद पीकिग-सरकार की काररवाइयो के फलस्वरूप निश्चित लक्ष्यो की ओर बढ़ रहा था। फिर भी, यह समझने के लिए कि सन् १९२८ के बाद चीन के परराष्ट्र-संबघो तथा गृहनीतियो में क्या परिवर्तन हुआ, राष्ट्रीय चीन के उदय व उसके कार्यक्रम को समझना आवश्यक है। अतएव, सन् १९३१ के बाद वाशिंगटन-सम्मेलन-प्रणाली की असफलता का विश्लेषण करने के पहले, यहाँ चीन के आंतरिक राज-नीतिक विकास पर फिर विचार करना आवश्यक है।

# बीसवाँ अध्याय

# राष्ट्रीय क्रान्ति

चीनी क्रांति के पहले चरण में, जो स्वरूप मे विशुद्ध राजनीतिक था, मंचुओ का सिंहासन तो पलट गया था, पर संसदीय गणतत्र की स्थापना का उसका उद्देश्य पूरा नहीं हुआ था। सैद्धातिक दृष्टि से भले ही न सही, व्यवहार में यह चरण सन् १९१३ की 'ग्रीष्म-क्रांति' की असफलता पर पूरा हो चुका था। युआन शिह-का'ई की मृत्यु के बाद संसदीय गणतंत्र एक वर्ष के लिये पुनरुज्जीवित अवश्य हुआ था, किन्तु विकेन्द्रित सैनिक-शक्ति के विरुद्ध वह टिक नहीं पा रहा था और इसी ने उसे सन् १९१७ मे निश्चित रूप से समाप्त कर दिया था। प्रान्तो के युद्ध-नेताओ के विरोध के फलस्वरूप संसद् को फिर से जीवन देने के सभी प्रयत्न विफल हुए थे। अतएव, कुछ समय के लिए क्रांति का राजनीतिक स्वरूप समाप्त-सा हो गया था। सन् १९१७ से सन् १९२४-१९२५ तक क्रांतिकारी शक्तियाँ आर्थिक, सामाजिक, साहित्यिक, बौद्धिक क्षेत्रो में गहरे पैठ कर काम करती रही। इससे राजनीति का क्षेत्र सैनिक शासको को खाली मिल गया; इन शासको को केन्द्रीय सरकार में पेशेवर राजनीतिज्ञों व पेशेवर राजनयिक अधिकारियो का समर्थन प्राप्त था; राजनीतिक क्षेत्र मे डाक्टर सुन यात-सेन तथा उनके अनुयायियों का छोटा सा गुट भी काम करता रहा।

## (१) कुओमिनतांग (१९१२-१९२४)

सन् १९१३ व सन् १९२४ के बीच क्रातिकारी दल लगभग मृतप्राय रहा। गुप्त क्रांतिकारी सगठन; तुंग मेंग हुई, जो सन् १९११ की क्राति का मुख्य अस्त्र था, मचुओं के पतन के बाद सैद्धान्तिक दृष्टि से क्रांति पूर्ण होने पर, फिर से 'अ-गुप्त' राजनीतिक दल के रूप में संगठित हुआ और उसमे अनेक अन्य गुट भी शामिल हो गये; तुंग मेंग हुई का क्रांतिकारी स्वरूप लगभग समाप्त हो चुका था। सन् १९१३ के विद्रोह के असफल होने के बाद यह फिर एक गुप्त क्रांतिकारी दल के रूप में संगठित हुआ जिसके हर सदस्य को डाक्टर सुन यात-सेन के प्रति व्यक्तिगत रूप से निष्ठा रखने की शपथ लेनी पड़ती थी। इस शपथ के कारण संगठन की सदस्य संख्या सीमित रह गयी, क्योंकि तुंग मेंग हुई के अनेक पुराने सदस्यों ने यह शपथ लेने से इनकार कर दिया था। तब से क्रातिकारियो में "डाक्टर सुन यात-सेन के व्यक्तित्व के कारण

ही एकता रहती थी, दल की सदस्यता एक परंपरा की बात बन गयी थी; इसका केवल एक अर्थ था कि सदस्य का डाक्टर सुन से व्यक्तिगत सर्पर्क था।''[१] इससे दल के निर्बल होने के लक्षण प्रकट होने लगे और क्वागतुंग पर सन् १९२० में कब्जा होने के बाद दल का पुनस्सगठन किया गया। चीन का नया राष्ट्रीय लोकदल गुप्त संगठन तो बना रहा, पर उसमे शपथ लेने की प्रथा समाप्त हो गयी और पहले वाले कुछ और प्रतिबन्ध भी हटा दिये गये। इससे सदस्य-सख्या तो बढ़ गयी, किन्तु दल में स्फूर्ति नही आयी, क्योकि आपसी सहयोग के आधार पर कार्यक्रम बनाने के लिए संगठन की बैठके करने की कोई व्यवस्था नही थी। इसके अतिरिक्त, दल के नेतृत्व तथा राजनीतिक व सैनिक सत्ता के बीच कोई सबध नही स्थापित किया गया था। दल केवल नेता का ही अस्त्र था।

दल के पुनस्सगठन के बल पर डाक्टर सुन क्वागतुंग मे अधिक समय तक सत्ता मे नही रह सकते थे। जनता को दक्षिण व पीकिंग की सरकारो मे कोई अतर नही लगता था, क्योकि जैसा कि कहा जा चुका है, डाक्टर सुन की शक्ति भी प्रान्तीय सैनिक नेता ही थे। इस परावलम्बन को दूर करने के लिए डाक्टर सुन ने फिर एक बार दल का बिलकुल नये आधार पर सगठन किया।

डाक्टर सुन द्वारा आमंत्रित, सन् १९२३ के शरद मे कैण्टन आये, रूसी परामर्शदाताओ ने कुओमिनतांग के पुनर्गठन के लिए जो सुझाव दिये उन्हें ही कार्यान्वित किया गया। सुदूर पूर्व के देशो के लिए नियुक्त रूसी प्रतिनिधि जौफ से शंघाई में लम्बी वार्ता के फलस्वरूप सोवियत् रूस से सहयोग करने का आधार उस वर्ष के आरंभ मे ही बन चुका था। फलतः, एक सयुक्त वक्तव्य मे,[२] जौफ की सहमति से डाक्टर सुन ने कहा कि चीन की समस्या पूर्ण स्वाधीनता तथा एकता स्थापित करने की है और यहाँ साम्यवाद या सोवियत्-प्रणाली लागू करना सभव न होगा। चीन की इस समस्या के समाधान में डाक्टर सुन को रूस के पूर्ण सहयोग का आश्वासन मिल चुका था। रूसी घोषणा मे चीनी पूर्वी रेलमार्ग व बाहरी मंगोलिया के सबंध में रूस के इरादो से डाक्टर सुन को आश्वस्त किया गया था। इस आश्वासन में सन् १९१९ की सोवियत्-घोषणा के उन सिद्धान्तो की फिर से पुष्टि की गयी थी, जो पूँजीवादी देशो की साम्राज्यवादी नीति के विरोध मे सोवियत्-नीति को साम्राज्यवाद-विरोधी स्वरूप प्रदान करते थे।

दक्षिण की सरकार के लिए माइकेल बोरोडिन मुख्य परामर्शदाता नियुक्त किये गये। सितम्बर, १९२३ मे बोरोडिन कैण्टन आये और उसी दिन से कुओमिनतांग को नवस्फूर्ति मिलनी शुरू हुई। पहला लक्ष्य तो यह था कि दल को अनुशासित

व्यक्तियो का, जो डाक्टर सुन की व्यक्तिगत निष्ठा की जगह एक संयुक्त कार्यक्रम के सूत्र से आबद्ध हो, सुसगठित दल बनाया जाय। इस पुनर्गठन के लिए रूसी साम्यवादी-दल को आदर्श बनाया गया। पुराने दल के सदस्यों की एक बार फिर नये सिरे से भरती शुरू हुई। इस प्रकार अनेक वे लोग दल की सदस्यता से वंचित हो गये जो अब भी सन् १९११ की विचारधारा मे विश्वास करते थे या जो दल की नयी विचारधारा मे रूसी झुकाव को पसन्द नही करते थे। दल की सदस्य-सख्या बढाने के लिए चीन के साम्यवादी दल के सदस्यो को व्यक्तिगत रूप में कुओमिनतांग का सदस्य बनने की अनुमति मिल गयी।

सगठन का आधार हर जगह भरती स्थानीय सदस्य हुए, जो पखवारे मे एक वार मिल कर अपनी काररवाइयो को नियत्रित करते थे। इन स्थानीय सदस्यो को सगठन, अनुशासन व प्रचार के लिए अपनी कार्यसमिति बनाने का तथा दल के हिसाब-किताब की जॉच, सामान्य नियंत्रण तथा दल के नियमो या अनुशासन भंग करने पर सदस्यो के विरुद्ध काररवाई करने के लिए अपनी निरीक्षण समिति बनाने का अधिकार था। सगठन की इस नींव से तहसील, जिला, प्रान्त तथा केन्द्र के संगठन ऊपर उठते चले जाते थे; सबसे ऊपर वार्षिक राष्ट्रीय सम्मेलन था जो नीति सबधी सर्वोच्च संस्था थी; केन्द्रीय कार्यकारिणी व केन्द्रीय निरीक्षण समिति राष्ट्रीय सम्मेलनो के बीच की अवधि मे दल का कार्य-सचालन करती थी। सिद्धान्तत., दल की शक्ति का स्रोत नीचे से, साधारण सदस्यों से ऊपर की ओर चलता था, न कि ऊपर से नीचे की ओर जैसा कि डाक्टर सुन के अधीन सारे सदस्यो को करने की पुरानी प्रथा मे होता था। किन्तु, दल के सविधान (२१वी धारा) मे डाक्टर सुन को आजीवन दल का अध्यक्ष मान लिया गया था। (धारा २२ में) यह भी व्यवस्था की गयी थी कि "सदस्य अध्यक्ष का निर्देशन मानेंगे और दल का काम आगे बढायेगे; (२) नीति का अतिम नियंत्रण अध्यक्ष का होगा और वह राष्ट्रीय सम्मेलन के प्रस्तावो से भी असहमत हो सकेंगे, और (३) केन्द्रीय कार्यकारिणी मे अध्यक्ष का मत सर्वोपरि होगा।" फिर भी दल के नियमित रूप से होने वाले राष्ट्रीय सम्मेलनो तथा केन्द्रीय कार्यकारिणी की स्थापना से सिद्धान्त व व्यवहार दोनो रूप से सत्ता नेता से हट कर दल में तो आयी ही। २८ जनवरी, १९२४ को दल का पहला राष्ट्रीय सम्मेलन हुआ और उसमें संगठन का जो स्वरूप स्वीकार किया गया, उस पर बोरोडिन के विचारो की स्पष्ट छाप थी। अध्यक्ष के रूप में डाक्टर सुन को जो विलक्षण अधिकार प्राप्त थे, उनका आधार यह आवश्यकता बतायी गयी कि कुओमिनतांग के इतने दिनो तक उनके नियंत्रण व निर्देशन में रहने के फलस्वरूप

"पुनस्संगठन के संक्रमण काल में भी उसे डाक्टर सुन यात-सेन के सक्रिय निर्देशन की आवश्यकता है।"[१]

संगठन का स्वरूप काफी हद तक दल की आवश्यकताओं के अनुरूप था और इसीलिए वह लगभग अपरिवर्तित रूप में ही तब भी लागू रहा, जब दल की सरकार बन गयी। किन्तु परिस्थितिवश, दल के राष्ट्रीय सम्मेलन नियमित रूप से हर वर्ष नहीं हो पाये। सन् १९२४ मे पहला सम्मेलन हुआ था और सन् १९३१ तक केवल दो सम्मेलन और हो पाये थे। दूसरा सम्मेलन जनवरी, १९२६ मे हुआ था और तीसरा मार्च, १९२९ मे। दल के दृष्टिकोण से इसका प्रभाव यह पड़ा कि राष्ट्रीय नीति-निर्देशन उस सीमा तक केन्द्रीय कार्यकारिणी के हाथ में चला गया, जिस सीमा तक उसकी शुरू में कल्पना नही की गयी थी।

दूसरी ओर अनेक स्पष्ट दोष होते हुए भी निर्देशन की समिति-प्रणाली के फलस्वरूप ही विभिन्न मत व प्रवृत्ति वाले लोग भी एक साथ दल के निर्देशन मे लगे रहे। इस दृष्टि से यह प्रणाली उपयोगी सिद्ध हुई।

## (२) दल के सिद्धान्त

कुओमिनतांग के सिद्धान्त, अर्थात् राष्ट्रीय क्राति का दर्शन, शुरू मे अनेक महत्त्वपूर्ण प्रलेखो के रूप में निर्धारित किये गये थे। ये प्रलेख थे—सन् १९२४ के राष्ट्रीय सम्मेलन में दल का घोषणा-पत्र; सैन मान यू आई या 'जनता के तीन सिद्धान्त' के रूप मे प्रकाशित इन सिद्धान्तों के स्पष्टीकरण के लिए डाक्टर सुन यात-सेन द्वारा दी गयी व्याख्यानमाला, तथा १२ अप्रैल, १९२४ वाले "राष्ट्रीय पुनर्निर्माण के मूल सिद्धान्त।" १२ मार्च, १९२५ को अपनी मृत्यु से पूर्व डाक्टर सुनने जो 'वसीयतनामा'[६] लिखा था, उसका हवाला भी यहाँ आवश्यक है।

क्रांतिकारी दर्शन का केवल संक्षिप्त विवरण ही यहाँ संभव है। यह डाक्टर सुन के 'जनता के तीन सिद्धान्त' पर आधारित था। पहला सिद्धान्त राष्ट्रीयता था। डाक्टर सुन का विश्वास था कि चीनी जन-मानस में परंपरागत चीनी सांस्कृतिक एकता का स्थान मजबूत राजनीतिक एकता द्वारा लेना चाहिए। अपने भाषणो में उन्होंने अनेक बार चीन को 'बालू की रस्सी' की संज्ञा दी। वह कहते थे कि बालू का हर एक कण अन्य कणो के समान है, पर इसी से बालू की रस्सी में मजबूती नहीं आ सकती, जब तक कि राष्ट्रीयता के सीमेण्ट से इन कणों को एक साथ बाँधा न जाय; डाक्टर सुन के अनुसार सत्ता के विकास से सांस्कृतिक समाज को राजनीतिक राज्य बना देना ही राष्ट्रीयता है। इस प्रकार, मूलतः, उनकी राष्ट्रीयता विदेशी विरोध नहीं थी; वह तो चाहते थे कि परिवार, कुल व गाँव के प्रति जो

परंपरागत निष्ठा है, वह हट कर राज्य के प्रति हो जाय। अतएव वह राष्ट्रीयता के राष्ट्रभक्ति के विकास वाले पहलू पर बहुत जोर देते थे। किन्तु राष्ट्रभक्ति जगाने का सभवतः सबसे सरल उपाय उन लोगो के प्रति शत्रुता उभार देना होता है, जो राज्य की अविच्छिन्नता के लिए खतरा हो। इसीलिए साम्राज्यवाद के विरुद्ध, जिसने (डाक्टर सुन के शब्दो मे) चीन को उपनिवेश या गुलामो की बस्ती से भी बदतर बना रखा था, एक सयुक्त राष्ट्रीय मोर्चा बनाने पर बहुत जोर दिया जाता था। किन्तु यह उल्लेख कर देना यहाँ आवश्यक है कि साम्राज्यवाद का विरोध (डाक्टर सुन की स्थिति साम्राज्यवाद-विरोध में अधिक व्यक्त होती थी—विदेशी विरोध मे नही) मात्र राष्ट्रीयता का पूर्ण सिद्धान्त नही था। अभी भले ही इसका महत्त्व हो, किन्तु अंततः तो चीनी जनता की अपने प्रति भावना, उसके सोचने के ढंग को ही बदलना है। इसका अर्थ यह है कि चीनी जनता छोटे-छोटे गुटो के आधार पर नही पूरे राज्य के आधार पर सोचे और इसी आधार पर आगे बढ़े। इसके अतिरिक्त, जातियों की समानता के सिद्धान्त को देश के भीतर व बाहर दोनो जगह लागू करना चाहिए; स्वयं चीन मे ही पाँच जातियाँ है।

दूसरा सिद्धान्त था जनतंत्र का; किन्तु जनतंत्र की यह धारणा सन् १९११ की विचारधारा से भिन्न थी। सन् १९२४ तक डाक्टर सुन-शासन, जो सत्ता के आधार पर बनता है, और नियंत्रण, जहाँ जनता की सर्वोच्च सत्ता प्रकट होती है, के बीच स्पष्ट भेद करने लगे थे। नियत्रण के लिए डाक्टर सुन ने चुनाव-नीति निर्धारण करने वाले अधिकारियो को वापस बुलाने की पद्धति, मतगणना तथा जनता की पहल के उपाय सुझाये थे। इन उपायो द्वारा नियत्रित शासन प्रणाली पाँच-शक्ति-संगठन के आधार पर निर्मित होनी चाहिए—विधायक, कार्यवाहक, न्याय, परीक्षा तथा परख या सेंसर। परीक्षा और परख पुरानी परिपाटियो के समावेश भर थे, कोई नये सिद्धान्त नही थे। डाक्टर सुन के बदले हुए विचारो के अनुसार शासन श्रेष्ठ या प्रवर व्यक्तियों के हाथ मे होना चाहिए, किन्तु उस पर नियत्रण जनता का होना चाहिए, ताकि शक्ति का उपयोग जनहित में हो।

इसके अतिरिक्त यह भी मान्यता प्रकट की गयी (जो सन् १९११ में स्पष्ट नही थी) कि जनता अभी तत्काल अपनी शक्ति के उपयोग के लिए तैयार नही है। जनतंत्र की ओर प्रगति की तीन स्पष्ट मंजिलें निश्चित हुई। पहली मंजिल में सैनिक काररवाई होगी और सैन्य शक्ति प्रबल होगी। सैनिक काररवाई पूरी होने के बाद, दूसरी मंजिल राजनीतिक संरक्षण की होगी, जब जनता को अपनी शक्ति के उपयोग की शिक्षा दी जायगी। यह काम स्थानीय स्तर पर होगा

तथा स्थानीय जनता का नियन्त्रण अधिक प्रभावकारी बनाया जायगा, एक-एक कदम बढकर फिर राष्ट्रीय जनतंत्र का श्रीगणेश होगा। इस प्रकार विकास नीचे से उपर की ओर होगा, ऊपर से नीचे की ओर नहीं। इस दृष्टिकोण के अनुसार यदि किसी प्रान्त या क्षेत्र मे सैनिक कारखाई पहले पूरी हो जाय तो सारे देश मे इसके पूरे होने की प्रतीक्षा किये बिना ही राजनीतिक सरक्षण का युग शुरू किया जा सकता था। इस युग में शासन तंत्र पर जनता का नही, दल का पूर्ण नियत्रण होगा। जब जनता राष्ट्रीय स्तर पर अपने अधिकारो का उपयोग करने को तैयार हो जायगी, तभी संवैधानिक गणतत्र की सरकार बनाना विवेकपूर्ण होगा।

तीसरा सिद्धान्त जनता की जीविका का था। सत्ता प्राप्त करने के बाद उसका उपयोग किस प्रकार किया जाय, इस प्रश्न का उत्तर डाक्टर सुन के इस सिद्धान्त में निहित था। मोटे तौर पर डाक्टर सुन का कार्यक्रम इतिहास की आर्थिक नही सामाजिक व्याख्या पर आधारित था। इस प्रश्न पर व्याख्यान देते हुए डाक्टर सुन ने मार्क्स के भौतिकतावादी सिद्धान्त की काफी लम्बी आलोचना की और यह निष्कर्ष निकाला कि वर्ग-संघर्ष और भौतिकतावाद दोनों ही चीन की परि-स्थिति मे लागू नहीं हो सकते।[५] चीन के मुख्यतः खेतिहर देश होने के कारण किसान की जीविका के प्रश्न पर विशद रूप से विचार किया गया। इस समस्या को हल करने के लिए डाक्टर सुन ने जो कार्यक्रम पेश किया, उस पर हैनरी जॉर्ज की झलक स्पष्ट थी, इसके अनुसार सामाजिक विकास द्वारा भूमि मे लगी पूँजी सरकार से लेकर भूमि का बरावर-बराबर बटवारा कर दिया जाता। इसके आगे, अपने भाषणो में डाक्टर सुन ने जीविका के सिद्धान्त को व्यावहारिक रूप मे लागू करने के लिए जो सुझाव दिये, उनसे डाक्टर सुन बूर्जुआ उग्र समाज सुधारक के रूप में ही प्रकट होते थे, साम्यवादी के रूप मे नही, किन्तु सिद्धान्त पर प्रकट विचार सामान्य थे, विशिष्ट नही और इसलिए उनसे ठोस व्यावहारिक कार्यक्रम ढूँढ़ निकालना कठिन था। इसके अतिरिक्त, विचारो की सामान्यता के ही कारण भिन्न सामाजिक व आर्थिक लक्ष्य व हित वाले नेताओं को एक साथ रखना सभव हुआ और अन्त मे तथाकथित साम्यवादी कार्यक्रम के पक्ष-विपक्ष में घोर विवाद हुआ।

## (३) कैण्टन में शक्ति के लिए संघर्ष (१९२४-१९२६)

जब कुओमिनताग को पुनर्गठित कर उसे मजबूत बनाने के लिए कारखाई हो रही थी, तभी कैण्टन के व्यापारियों व क्वांगतुग प्रान्त के कुलीन वर्ग में असन्तोष बढ़ रहा था। युन्नान व क्वागसी के सैनिक नेताओं के समर्थन से ही सन् १९२३

मे डाक्टर सुनयात-सेन ने फिर से सत्ता प्राप्त की थी। किन्तु इन सैनिक नेताओ की दिलचस्पी सुशासन मे नही, नगर व प्रान्त के शोषण द्वारा अपनी जेबे भरने में थी। अपनी सुरक्षा के लिए, डाक्टर सुन की सहमति से, व्यापारियों व कुलीनों ने एक स्वयसेवक संगठन बनाया और इसे व्यापारी स्वयसेवक-दल का नाम दिया। सेना से जान-माल की रक्षा के लिए ये टुकडियाँ स्थानीय स्तर पर बनायी गयी थी। किन्तु जैसे-जैसे कुओमिनतांग का प्रचार उग्र होता गया और इसके फल-स्वरूप मजदूरो व किसानो के सगठन बनने लगे, कुलीनो का असन्तोष दल के सैनिक समर्थको की जगह दल के विरुद्ध ही हो गया। इसका परिणाम यह हुआ कि व्यापारी स्वयसेवक दल के बूते पर डाक्टर सुन को कैण्टन से निकाल देने के लिए आदोलन खड़ा कर दिया गया, ये लोग चे'न चिउग-मिंग को फिर नगर में वापस लाने को तैयार हो गये। सितम्बर व अक्तूबर, १९२४ मे जब सघर्ष हुआ, उसकी शुरुआत डाक्टर सुन द्वारा व्यापारी स्वयसेवक-दल के वे हथियार जब्त कर लेने से हुई जो विदेशो से मँगाये गये थे। फलत., संघर्ष स्वयसेवक-दल की पूरी तैयारी के पहले ही हो गया और कुओमिनताग दल पूरी तरह जीत गया। संघर्ष के कारण कैण्टन मे सम्पत्ति का भारी विनाश हुआ और इससे भी डाक्टर सुन की प्रतिष्ठा कुछ गिरी।

इसके तत्काल बाद ही डाक्टर सुन उत्तर की ओर रवाना हो गये। सन् १९२२ से ही वह उतर मे तुआन ची-जुई का साथ दे रहे थे और अब वह वू पी-फू का तख्त उलटने के लिए तुआन और चांग त्सो-लिन का साथ देने का प्रयास कर रहे थे। किन्तु, सैन्य-शक्तिहीन होने के कारण वह निर्णय मे सहायक नही हो सके, यद्यपि फेंग यू-ह्सियाग के फूट आने के कारण निर्णय वू के विरोधियों के पक्ष में ही हुआ। वू के विरुद्ध दक्षिण में आंदोलन शुरू करने मे असफल रहने के बावजूद डाक्टर सुन ने पीकिंग जाकर चांग, फेंग व तुआन की सहायता ऐसी सरकार बनाने मे करने का आमंत्रण स्वीकार कर लिया, जो चीन में एकता स्थापित कर सके। पीकिंग वह दिसम्बर मे पहुँचे और वहाँ उन्हें पता लगा कि सभी महत्त्वपूर्ण निर्णय पहले ही हो चुके थे और इस प्रकार हुए थे, जो उन्हे अस्वीकार्य थे। बीमार तो वह पीकिंग पहुँचने के पहले ही से थे, १२ मार्च, १९२५ को उनकी वही मृत्यु हो गयी।

डाक्टर सुन यात-सेन की मृत्यु के दो महत्त्वपूर्ण किन्तु परस्पर विरोधी परिणाम हुए। एक तो डाक्टर सुन रातोरात राष्ट्रीय चीन व कुओमिनतांग के जननायक और संरक्षक सत बन गये। उनके विवेक के संबंध में जो भी सशय थे, वे समाप्त हो गये, उनकी पुरानी भूले व राजनीतिक अक्षमताएँ भुला दी गयीं। मृत्यु से पहले

अनेक लोग उन्हें स्वप्नद्रष्टा मानते थे और कुछ उन्हें उत्पाती समझते थे, किन्तु अब वह समस्त ज्ञान व विवेक के स्रोत हो गये। इससे तथा रूसी प्रभाव व निर्देशन से चीनी राजनीति में कुओमिनताग एक महत्त्वपूर्ण शक्ति बन गया। सुन यात-सेनवाद सुन-यात-सेन से अधिक स्फूर्त शक्ति बन गया। उनका 'वसीयतनामा' दल के लिए पवित्र सिद्धान्त बन गये और 'जनता के तीन सिद्धान्त' राष्ट्रीयतावादियो का धर्मग्रंथ हो गया।

किन्तु इस सबके बावजूद दूसरा परिणाम भी प्रकट ही हुआ। उनकी मृत्यु से दल के नेतृत्व के लिए संघर्ष के फलस्वरूप सैद्धातिक फूट का द्वार खुल गया। सैद्धांतिक मतभेदों का कारण डाक्टर सुन द्वारा अपनी बातो को सामान्य या आम ढंग से कहना था, जिससे उन्हें लागू करने मे व्याख्याभेद की गुजाइश रह जाती थी।

संघर्ष में दल का वामपक्ष अधिक सुविधाजनक स्थिति में था और इसे साम्यवादी सदस्यों का समर्थन प्राप्त था। दल के केन्द्रीय यत्र पर इसका नियत्रण था। क्वांगतुंग के कुलीनों व कैण्टन के व्यापारियों के विरुद्ध सघर्ष में विजयी होने से कैण्टन पर इसका कब्जा था। सन् १९२५ में जब चेन चिउग-मिंग व क्वागसी तथा युन्नान के सैनिक नेताओ ने उस पर हमला किया, तब विजय वामपक्ष की ही हुई। जनवरी, १९२६ में दल के दूसरे राष्ट्रीय सम्मेलन के निर्णयों पर भी इसी का प्रभुत्व रहा। दल के भीतर के संघर्ष की दृष्टि से सबसे महत्त्वपूर्ण निर्णय रूसी सबध कायम रखना था। दल मे साम्यवादियों की भरती तथा यह निर्णय ही वामपक्ष व दक्षिणपक्ष के बीच मतभेद के सबसे बड़े कारण थे, जैसे कि वे दक्षिणपक्ष के, तथा-कथित 'पश्चिमी पहाड़ी सम्मेलन' में बनाये गये कार्यक्रम मे प्रकट हुए। दक्षिणपक्ष के कार्यक्रम को दूसरे राष्ट्रीय सम्मेलन मे विचार के लिए पेश न होने देने से दल मे फूट कायम रही।

शघाई में ३० मई की घटना के बाद ब्रिटेन से जो झगड़ा हुआ, उससे भी रूसी झुकाव को सहायता मिली। जापानी मिलमालिको के विरुद्ध मजदूरों की हड़ताल के समर्थन में प्रदर्शन करने वाले छात्रो व अन्य व्यक्तियों पर अतरराष्ट्रीय बस्ती की पुलिस ने एक अंग्रेज के नेतृत्व में गोली चलायी। इसका सारे देश में जोर-शोर से विरोध हुआ और कैण्टन में भी इसी प्रकार का प्रदर्शन किया गया। इस प्रदर्शन पर भी अंग्रेज पुलिस ने गोली चलायी और इसका जो परिणाम हुआ, उसे शाकी-शामीन कत्ले-आम की संज्ञा दी गयी। तत्काल इसकी प्रतिक्रिया यह हुई कि हाग-कांग व ब्रिटेन के साथ होने वाले व्यापार का बहिष्कार शुरू कर दिया गया।[१] भविष्य के लिए इस घटना का यह परिणाम हुआ कि राष्ट्रीयतावादी यह मानने

लगे कि डाक्टर सुन यात-सेन के राष्ट्रीयता के सिद्धान्त का अर्थ केवल साम्राज्यवाद का विरोध था और कुओमिनतांग का यही सबसे महत्त्वपूर्ण नारा बन गया। साम्राज्यवाद के विरुद्ध संघर्ष में दल के सभी तत्त्व एक हो सकते थे। इस संघर्ष के प्रारम्भ से उन लोगो की स्थिति मजबूत हुई, जो रूस से सबंध कायम रखने के समर्थक थे, क्योकि रूसी नीति घोषित रूप से साम्राज्यवाद-विरोधी थी।

## (४) उत्तर की ओर अभियान

किन्तु साम्राज्यवाद के विरुद्ध सफल संघर्ष के लिए कैण्टन से अधिक व्यापक आधार आवश्यक था। इस कारण ध्यान एक अन्य शत्रु की ओर गया, जिसके विरोध में भी दल मे सयुक्त मोर्चा था। यह उत्तरी सेनावाद था। डाक्टर सुन सन् १९१७ से ही उत्तरी अभियान के स्वप्न देख रहे थे और अब दल ने इसे अपना लक्ष्य बना लिया। दल के दूसरे राष्ट्रीय सम्मेलन मे (सन् १९२६ में) तुरन्त अभियान का निर्णय हुआ था, किन्तु रूसी परामर्शदाताओ ने इसका विरोध किया था और उनकी राय थी कि अभियान स्थगित कर दिया जाय। किन्तु कैण्टन में लगातार बढती हुई गुटबन्दी की प्रवृत्ति और उससे स्वय अपनी स्थिति बिगड़ने की आशका से (जिसका उदाहरण सन् १९२६ के वसन्त मे वामपक्ष के विरुद्ध च्यांग काई-शेक के विप्लव में मिला था), बोरोडिन ने अपना मत बदल दिया और उत्तर के सैनिक नेताओ के विरुद्ध अभियान का वह समर्थन करने लगे। इस नये दृष्टिकोण मे यह नयी समझ भी शामिल थी कि ब्रिटेन व अन्य पूँजीवादी देशो के विरुद्ध आदोलन के लिए व्यापक क्षेत्र आवश्यक है।

सन् १९२६ की गर्मियों में अततः यह उत्तरी अभियान शुरू हुआ। मुख्य रूसी सैनिक परामर्शदाता, जनरल ब्लूशर ने इस आक्रमण की रूपरेखा तैयार की, जिसके अनुसार हैनकाउ के विरुद्ध हुनान व किआगसी प्रान्तों से एक साथ बढ़ाव होना था। योजना यह थी कि हैनकाउ से यांगत्सी के किनारे-किनारे नानकिंग व शघाई पहुँचने के बाद पीकिंग-हैनकाउ व टींटसीन-पुकोउ-रेलमार्गों के किनारे-किनारे उत्तर की ओर पीकिंग तक पहुँचा जा सकता था। यागत्सी की ओर बढ़ाव मे सारी सेनाएँ च्याग काई-शेक के सेनापतित्व में कर दी गयी और उन्हे इस अभियान की अवधि के लिए दल के निरीक्षण-पंचो के नियत्रण से मुक्ति दे दी गयी। किन्तु किआगसी प्रान्त से बढ़ रही सेनाएँ हुनान हो कर हैनकाउ की ओर बढ़ने वाली सेनाओं की अपेक्षा उनके सीधे और प्रत्यक्ष नेतृत्व के अधीन थी।

जब तक जनरल च्यांग नानचांग पहुँचे, वूपीफू के विरुद्ध मध्य से चली सेना ने हैनकाउ पर कब्जा कर लिया था। उत्तर के एक महत्त्वपूर्ण सैनिक नेता को

इतनी जल्दी पराजित करने का श्रेय युद्धकौशल को था, जो वहाँ अपनाया गया था। सैन्य-संचालन और अभियान के बहुत पहले ही किसानो व विरोधी नेताओ मे व्यापक प्रचार किया गया था। परिणाम यह हुआ कि राष्ट्रीय सेना की शक्ति बहुत बडी सख्या में किसानो व वूपीफू की सेना के सैनिकों के आ मिलने से बढ गयी और उधर वू की सेना कमजोर पड गयी। फिर, सेना के आगे बढ़ जाने पर दल के प्रचारक पीछे ही रुक जाते थे और अपने अधिकार के क्षेत्रो मे सगठन बनाते थे और अभियान के लाभ को सुसंगठित करते थे। इन प्रचारको मे अधिकाश के साम्यवादी तथा उग्र वामपक्षी लोगो के होने से राष्ट्रीय सेना के कब्जे मे आये क्षेत्रो मे उग्र व साम्यवादी सिद्धान्तो का प्रचार हुआ।

उत्तर की ओर अभियान मे सफलता से कैण्टन की सरकार का स्वरूप और अधिक स्पष्टरूप से साम्यवादी हो गया। अभी तक यह सरकार साम्यवादियो व कुओमिनताग के वामपक्ष की मैत्री पर निर्भर थी और नेतृत्व मे वरीयता साम्यवादियो को नहीं वामपक्ष को ही दी जाती थी। यह स्थिति उस विराम सधि से स्पष्ट हो जाती थी, जो बोरोडिन की अनुपस्थिति मे उग्रपंथियो के विरुद्ध च्याग काई-शेक साम्यवाद-विरोधी आक्रमण के उपरान्त की गयी थी और जिसमें साम्यवादियो के विभागाध्यक्ष होने पर निषेध लगा दिया गया था यद्यपि च्याग बोरोडिन से ही संधि करने आये थे। यह निर्णय दल की केन्द्रीय कार्यकारिणी के खुले अधिवेशन में किया गया था। किन्तु च्यांग के सैन्य-संचालन के लिए बाहर रहने तथा प्रमुख वामपक्षी नागरिक नेता वैग चिग-वी के विदेश चले जाने से सयम कायम रखने वाले लोग नही रह गये थे। फलत., नवम्बर में जो सरकार कैण्टन से हैनकाउ गयी, उस पर रूसी परामर्शदाताओ का प्रभाव बढ गया। इसके अतिरिक्त, नेताओं में यह भी अभिलाषा जाग्रत हुई कि दल के भीतर अभी तक च्याग की जो मजबूत स्थिति थी, उसे कमजोर किया जाय, फलतः, च्याग-विरोधी आदोलन भी चल गया।

यह स्थिति देखकर च्याग ने केन्द्रीय कार्यकारिणी की एक बैठक नानचाग में बुलाने का प्रयत्न किया, जहाँ वह अपना प्रभुत्व फिर से जमा सकते थे। किन्तु बैठक हैनकाउ मे हुई जहाँ च्याग अनुपस्थित थे। परिणाम यह हुआ कि च्यांग को सर्वोच्च सेनापति के पद से तथा स्थायी समिति की अध्यक्षता से हटा दिया गया, किन्तु केन्द्रीय कार्यकारिणी की उनकी सदस्यता कायम रहने दी गयी।

## (५) हैनकाउ और नानकिंग

यह बहुप्रतीक्षित तथा बहुधा टाल दी गयी दल की फूट की भूमिका थी, जिसके कारण, कुछ समय के लिए, उत्तरी सैनिक नेताओ व साम्राज्यवादियों के विरुद्ध

संघर्ष भी थम गया।[7] कुछ समय तक तो विदेशी-विरोधी आंदोलन भी, जैसा कि साम्यवादी राष्ट्रीय सैनिकों द्वारा नानकिंग पर कब्जा कर लेने के समय हुआ था, मूलतः इसीलिए संगठित किये गये कि उनका प्रभाव विदेशों पर नहीं आंतरिक राजनीति पर पड़े। जब हैनकाउ में समाचार पहुँचा कि च्यांग नानकिंग पर कब्जा करना चाहते हैं और शंघाई पर नियंत्रण करना चाहते हैं, ताकि वहाँ के समृद्ध व्यापारियों की सहायता प्राप्त कर सकें, राष्ट्रीय फौजें पहले ही नानकिंग में घुस गयीं और विदेशी संपत्ति लूटनी शुरू कर दी, ऊपर से यही पता था कि ये फौजें भी च्यांग के ही आदेश से आयी हैं; आशा यही की गयी थी कि इस घटना से च्यांग को विदेशी शक्तियों से उलझ जाना पड़ेगा; विदेशी पहले से आतंकित थे और देश के भीतरी भागों से अपने-अपने नागरिकों को निकाल कर बाहर ला रहे थे, शंघाई में और अधिक सैनिक भेज रहे थे और वहाँ की अंतरराष्ट्रीय बस्ती व फ्रांसीसी रिआयती क्षेत्र की सुरक्षा के लिए रोके व बाड़े बना रहे थे।[8] किन्तु च्यांग कुछ समय तक अंतरराष्ट्रीय कठिनाइयों से बच गये, यद्यपि उनकी प्रेरणा व प्रयास से जो सरकार अंततः नानकिंग में बनी उसने इस घटना के लिए उत्तरदायित्व स्वीकार कर लिया और विदेशी प्रतिनिधियों से नानकिंग की इस घटना के लिए हरजाने का समझौता कर लिया।

नानकिंग में इस तरह मात खाने पर च्यांग सीधे शंघाई चले गये, जहाँ उन्हें व्यापारियों व धनिकों, रूसी झुकाव के कारण असंतुष्ट हो कुओमिनतांग से बाहर निकले पुराने नेताओं (तथाकथित पश्चिमी पहाड़ी सम्मेलन वाला गुट) तथा उन श्रमिक संगठनों के नेताओं व सदस्यों का समर्थन प्राप्त हो गया, जो वामपक्षीय व साम्यवादी प्रचार से प्रभावित नहीं हुए थे। अतएव वह बिना रक्तपात नगर पर अधिकार जमाने में सफल हो गये, बलप्रयोग केवल नृशंसतापूर्वक साम्यवादियों का दमन करने में प्रयुक्त हुआ।

हैनकाउ-शासन के वे नरम दली सदस्य भी, जो नयी उग्र नीतियों से घबरा गये थे, शंघाई जाकर च्यांग से तब जा मिले, जब उन्होंने नानचांग से हट कर शंघाई को अपना केन्द्र बना लिया। कुछ ऐसे भी नेता थे, और वांग चिंग-वी उनमें प्रमुख थे, जो वामपक्ष के गैर-साम्यवादी सदस्य थे और जो दल की विनाशकारी फूट रोकने के लिए च्यांग और हैनकाउ के बीच समझौता कराने का प्रयास कर रहे थे। इन प्रयासों के असफल होने पर हैनकाउ-शासन में च्यांग को कुओमिनतांग से निकाल दिया और उधर च्यांग ने अपनी सरकार नानकिंग में बनाकर उन सभी लोगों के साथ आने का आह्वान किया जो रूसी प्रभाव व साम्यवाद के विरुद्ध थे। पीकिंग

के रूसी कार्यालय पर चांग त्सो-लिन द्वारा आक्रमण, लन्दन में आर्कस काण्ड तथा वूहान-सरकार से संबद्ध साम्यवादी कार्यकर्त्ता, एम० एन० राय के कुछ अविवेकपूर्ण कार्यों से यह स्पष्ट हो गया कि रूस चीन में राष्ट्रीय क्रांति के लक्ष्य पूरा कराने मे उतनी दिलचस्पी नही रखता जितनी दिलचस्पी उसे चीनी क्रांति को अपने उद्देश्यो की पूर्ति के लिए है; इससे नरमदलीय गुट को शक्ति मिली। कुओमिनताग के वाम-पक्षीय सदस्य साम्यवादियो से अलग होकर नरमदल से जा मिले और वे भी इसी मत के हो गये कि दल में से साम्यवादियों को निकाल देना चाहिए और बोरोडिन व अन्य रूसी परामर्शदाताओ को वापस भेज देना चाहिए। यह काम सन् १९२७ की ग्रीष्म में पूरा हुआ, और तब भी, दल मे इतनी भीतरी समरसता नही आयी कि उत्तर के सैनिक नेताओं के विरुद्ध सफलतापूर्वक अभियान किया जा सकता। केन्द्रीय कार्यकारिणी पर नियंत्रण होने के कारण हैनकाउ के नेता कुओमिनतांग में अपने बहुमत का दावा करते रहे और च्यांग काई-शेक व उनके नानकिंग-स्थित समर्थको को अल्पमत में बताते रहे। इस सघर्ष में क्वांग्सी के सैनिक नेता तथा फेंग यू-हि्सयांग जैसे लोग जो वू-पी-फू के विरुद्ध अपनी तटस्थता छोड कुओमिनतांग को सक्रिय सहयोग देने लगे थे, नानकिंग व हैनकाउ के बीच सतुलन बनाने के लिए एक या दूसरे पक्ष का समर्थन करते रहे।

संघर्ष में एक बार एक पक्ष की जीत हुई और दूसरी बार दूसरे की। सुन चुआनफेंग के विरुद्ध युद्ध में हार कर च्यांग नानकिंग में कमजोर हो चुके थे और अगस्त मे वह इस्तीफा देकर नानकिंग के अन्य नेताओ के साथ अवकाश लेकर नान-किंग चले गये। तब वूहान के नेताओं ने नानकिंग को राजधानी बनाने का निश्चय किया। च्यांग के इस्तीफे के बाद नानकिंग में क्वांग्सी के सैनिक नेताओ का नियं-त्रण था और हैनकाउ-शासन का सितम्बर में उनसे समझौता हो गया। किन्तु यह समझौता बहुत थोड़े दिनों तक ही चला और वामपक्षीय नेताओं के कैण्टन लौट जाने पर फिर च्यांग से समझौते की बात शुरू की गयी। तब तक च्याग व फेंग यू-हि्सयांग में मैत्री हो चुकी थी। फलतः, सन् १९२७ के अंत तक च्याग काई-शेक फिर सत्ता में आ गये, दल में इतनी एकता आ गयी कि उत्तर के सैनिक नेताओं के विरुद्ध अभियान फिर से चालू किया जा सका। उस समय स्थिति यह थी कि यांग्त्सी के दक्षिण का क्षेत्र नानकिंग की पुनस्संगठित सरकार के नाममात्र के नियंत्रण में आ गया था। उत्तर-पश्चिम के प्रान्तों व होनान पर फेंग यू-हिसयांग का शासन था, जो अब कुओमिनतांग के निर्देशन में चल रहे थे। शांसी प्रान्त के राज्यपाल येन हसी-शान भी राष्ट्रीयतावादियो के साथ आ मिले थे। अतः चाग त्सो-लिन की

संयुक्त सरकार के अधिकार में केवल उत्तर के आनहुई, चिहली व शानतुग के प्रान्त तथा मंचूरिया के तीन प्रांत ही रह गये थे।

## (६) राष्ट्रीयतावादियों द्वारा देश में एकता की स्थापना

सन् १९२८ के वसन्त में राष्ट्रीयतावादी दल के तत्वावधान मे चीन मे एकता स्थापित करने के लिए सैनिक काररवाई आरम्भ हुई। इस बार भी सर्वोच्च सेनापति च्यांग काई-शेक बने। इस बार भी युद्ध की योजना यही बनी कि फौजें समानान्तर होकर उत्तर में पीकिंग की ओर बढ़े। और इस बार भी, याग्त्सी के उत्तर की ओर बढ़ाव की भाँति ही, च्याग पीछे रह गये और मध्य से आने वाली सेनाएँ पहले ही लक्ष्य पर पहुंच गयी। किन्तु इस बार च्याग के बढ़ाव मे जापान बाधक हुआ था, क्योकि शानतुग प्रान्त मे त्सिगताओ-त्सिनान रेलवे-मार्ग के किनारे-किनारे, अपने हितो की रक्षा के लिए उसने (जापान ने) अपने सैनिक तैनात कर रखे थे। यह एक वर्ष पूर्व ही हो चुका था, जब नानकिंग मे सरकार बनाने के बाद च्यांग ने उत्तर की ओर बढ़ने की कोशिश की थी। उस समय सघर्ष बच गया था। किन्तु इस बार जापानी सैनिको व त्सिनान पर अधिकार करने वाले क्रांतिकारी सैनिकों के बीच एक संघर्ष हो गया। किन्तु इस घटना को आगे नही बढ़ने दिया गया और संघर्ष स्थानीय घटना बना कर रह गया, जिससे स्थिति मे गंभीरता नहीं आ पायी। किन्तु मनमुटाव तो हो ही गया था और इसी के कारण चाग त्सो-लिन को पीकिंग से खदेड़ने के काम में च्यांग स्वयं शामिल नही हो सके।[९] यह जून में हुआ और च्यांग अपने सैनिको के साथ उत्तर मे मंचूरिया चले गये। अपनी दिलचस्पी के क्षेत्र को गृहयुद्ध से सुरक्षित रखने की नीति का अनुसरण करते हुए जापान ने राष्ट्रीय सेना को चांग का पीछा करते हुए मुकडेन तक जाने से रोक दिया और इस प्रकार राष्ट्रीय फौज का मंचूरिया में प्रभुत्व नही बढ़ने दिया। किन्तु, यह प्रभुत्व मंचूरिया में स्वयमेव पहुँच गया जब मुकडेन में एक बम-दुर्घटना में चांगत्सो-लिन की मृत्यु के बाद उनके पुत्र, चांग ह्सुएह-लिआंग, ने स्वेच्छा से राष्ट्रीय चीन में मंचूरिया के प्रान्त मिलाते हुए राष्ट्रीय झण्डा वहाँ फहरा दिया।

पीकिंग पर अधिकार करने के बाद चीन की राजधानी नानकिंग ले आयी गयी; सन् १९११ में क्रांतिकारियो ने यही माँग की थी पर युआन शिह्-का'ई तब उन्हें परास्त करने में सफल हो गये थे। अतीत से सबंध-विच्छेद करने के लिए क्रांति के पहले की राजधानी का नाम बदल कर पीपिंग कर दिया गया।[१०] सरकार और उसके कार्यालयो के नानकिंग चले जाने के बाद पीपिंग की प्राचीन गौरव-गरिमा की याद दिलानेवाला क्षेत्र केवल विदेशी दूतावासो का ही रह गया था और वे भी धीरे-

धीरे नयी राजधानी मे जाने के निर्णय करते जा रहे थे।

## (७) राष्ट्रीय सरकार की स्थापना

क्रांति का सैनिक युग समाप्त होने पर च्याग काई-शेक ने सर्वोच्च सेनापति तथा सैनिक परिषद् की अध्यक्षता से इस्तीफा देकर, सैद्धातिक दृष्टि से शक्ति-सत्ता दल को वापस सौप दी, जिससे यह शक्ति पहले प्राप्त हुई थी। अब देश के पुनर्निर्माण की ओर ध्यान गया। अगस्त, १९२८, मे कुओमिनताग की केन्द्रीय कार्यकारिणी के पाँचवे खुले अधिवेशन मे राष्ट्रीय सरकार की संघटनात्मक विधि के निर्माण का निर्णय हुआ। यह विधि अक्तूबर मे लागू हुई और अब देश औपचारिक रूप से क्रांति की दूसरी मजिल अर्थात् राजनीतिक संरक्षण के युग में आ गया। डाक्टर सुन की योजना के अनुसार, इस युग में नियंत्रण दल के हाथों में रहना था और दल राष्ट्रीय सम्मेलन, केन्द्रीय कार्यकारिणी व स्थायी समिति द्वारा इस नियंत्रण का उपयोग करता। संघटनात्मक विधि के अनुसार शासनतंत्र का निर्देशन व निरीक्षण दल की केन्द्रीय कार्यकारिणी व केन्द्रीय राज्य-समिति के सदस्यो द्वारा निर्मित केन्द्रीय राजनीतिक परिषद् के हाथों में था। इस प्रकार दल व शासन के बीच व्यक्तियो की सीधी कडी बन गयी। सरकार की दृष्टि से, राज्यपरिषद् सर्वोच्च संस्था थी, जिसका अध्यक्ष राज्य का अध्यक्ष हुआ। इसके अंतर्गत शासन का डाक्टर सुन की कल्पना के अनुरूप विधायक, कार्यकारी, न्याय, परीक्षा तथा परख (संसर) के पाँच भिन्न युआनो में सगठन हुआ।

२५ अक्तूबर, १९२८ के कानून में प्रान्तीय सरकारो का ढाँचा घोषित हुआ; इसके अनुसार प्रान्तीय शासनतत्र प्रान्तीय परिषदो के अधीन कर दिया गया और उसका एकीकरण हो गया। इन परिषदो के सदस्यों व अध्यक्षो के नाम राष्ट्रीय सरकार को तय करने थे। प्रान्तीय परिषदो के ऊपर, हैनकाउ, कैण्टन, काइफेग, ताइ यु आन, पीकिंग व मुकडेन मे राजनीतिक परिषद् की शाखाएँ स्थापित की गयीं, जो प्रभाव के क्षेत्रीय केन्द्रो के रूप में थीं।

औपचारिक संविधान की जगह, शासन के आधार के रूप मे सघटनात्मक विधि १२ मई, १९३१ तक कायम रही, जब इसी हेतु बुलाये गये राष्ट्रीय जन-सम्मेलन ने अस्थायी संविधान स्वीकार कर लिया। इस नये संविधान में संघटनात्मक विधि वाला शासकीय ढाँचा ही काफी हद तक कायम रखा गया, और कुओमिनतांग की केन्द्रीय कार्यकारिणी द्वारा सरकार के नियंत्रण की व्यवस्था भी कायम रखी गयी, केवल राज्यपरिषद् के अध्यक्ष के अधिकार काफी बढ़ा दिये गये। किन्तु इस सविधान में राज्य के क्षेत्र, नागरिकता, जनता के कर्त्तव्य तथा अधिकार आदि के अध्याय थे;

जनता की जीविका के सिद्धान्त, शिक्षा, केन्द्रीय व स्थानीय शासनो के बीच शक्ति व अधिकार-विभाजन, स्थानीय सरकारो की स्थापना आदि की व्यवस्था भी इसमें की गयी । अस्थायी सविधान के उस समय स्वीकार होने के कारण, जब मंचूरिया मे जापान से सघर्ष हुआ तथा जब दक्षिण-मध्य चीन मे साम्यवाद के फिर से उभर आने के कारण राज्य के स्थायित्व के लिए गंभीर सकट पैदा हो गया था, उसका वास्तविक महत्त्व केवल सैद्धातिक रह गया था । जो भी हो, यह सविधान राजनीतिक संरक्षण की दूसरी मजिल पूरी होने तक,[१] जिसके लिए सन् १९३५ की सीमा मान ली गयी थी, सरकार चलाने के यंत्र के रूप मे आया ।

## (८) घरेलू राजनीति (१९२९-१९३३)

उत्तर के सैनिक नेताओ के परास्त होने तथा १ जनवरी, १९२९ को कुओमिनतांग की सत्ता चाग ह्सुएह-लिआग द्वारा स्वीकार होने के बाद यदि चीन मे वास्तविक एकता स्थापित हो जाती तो राष्ट्रीय पुनर्निर्माण की दिशा मे तेजी से बढा जा सकता था । किन्तु इस दिशा में बढ़ाव इसलिए बहुत कम हो गया कि सरकार को अपने आप को कायम रखने के लिए भी लगातार संघर्ष करना पड़ रहा था । च्यांग काई-शेक शासन के अध्यक्ष थे और नानकिंग सरकार उनके नियंत्रण में थी, किन्तु इनका अधिकार क्षेत्र केवल यांग्त्सी के मुहाने के प्रान्तो तक ही सीमित था । अन्यत्र सरकार की सत्ता उन मैत्रियो पर निर्भर थी जो फेंक यू-ह्सियाग, येन ह्सी-शान तथा हैनकाउ-केन्द्र के क्षेत्र पर नियंत्रण करने वाले क्वांग्सी सैनिक नेताओ से की गयी थी । इसके अतिरिक्त, साम्यवाद-विरोधी अभियान को इतनी सफलता तो मिल गयी थी कि दक्षिण-मध्य चीन में उनकी शक्ति समाप्त कर दी गयी थी, किन्तु साम्यवादियों को ही पूर्णतः समाप्त करने मे अभियान असफल रहा था । साम्यवादी-आंदोलन गुप्त हो गया, किन्तु प्रचार जारी रहा तथा मूल राष्ट्रीय सेनाओं के एक भाग की विचारधारा साम्यवादी बनी रही और वह भाग राष्ट्रीय सरकार के विरुद्ध प्रतिरोध को जारी रखे रहा । सिद्धान्त की दृष्टि से भी कुओमिनतांग का दक्षिण पक्ष दल के यंत्र पर अधिकार जमाये हुए था और वामपक्ष व दक्षिण पक्ष के सघर्ष के फिर से उभर आने की आशका बनी हुई थी । तत्काल, वामपक्ष, जो पुनस्सगठनवादी कहलाने लगा था, नानकिंग-शासन के प्रति तटस्थता का दृष्टिकोण अपनाने लगा था ।

अतएव, इस बात पर आश्चर्य नही होना चाहिए कि केन्द्रीय सरकार की शक्ति अपने को कायम रखने में ही लग रही थी । जनवरी, १९२९ में सामन्ती-सैनिक शक्ति के विघटन की योजना बनाने के लिए जो सम्मेलन बुलाया गया था, उसकी बैठक समाप्त होने के पहले ही फेंग यू-ह्सियांग ने च्यांग की नानकिंग-सरकार को

सहयोग देना बन्द कर दिया था।[११] १५ मार्च, १९२९ को दल के तीसरे राष्ट्रीय सम्मेलन के गठन के ढंग के सबंध मे नानकिंग के नेताओ ने जो निर्णय किये, उनका वामपक्षीय नेताओ ने कड़ा विरोध किया। और यह बाद में कैण्टन में विरोध का झण्डा ऊँचा करने का आधार बन गया। फिर मार्च, में क्वांग्सी गुट से खुला सैनिक-सघर्ष हो गया। नानकिंग-शासन की सहायता की माँग पर, अपने अधिकार-क्षेत्र के विस्तार की आशा में आये फेंग यू-ह्सियाग ने च्यांग से मिलकर क्वाग्सी के सैनिक नेताओ को हैनकाउ से खदेड़ दिया।

अतएव च्यांग व फेंग के बीच का निर्णायिक सघर्ष सन् १९३० तक के लिए टल गया। इस बीच दोनो पक्ष आरोप-प्रत्यारोप द्वारा एक दूसरे को निर्बल बनाने की कोशिश करते रहे और चीन का परंपरागत सैनिक-राजनयिक संघर्ष का उपाय काम मे आता रहा। येन ह्सी-शान व चांग ह्सुएह-लियांग की सहायता पाने के लिए च्याग व फेंग दोनों प्रयत्नशील थे। जब संघर्ष हुआ तो नानकिंग को येन व फेंग की सयुक्त शक्ति का सामना करना पडा, यद्यपि चांग ने, जो शुरू में तटस्थ थे, बाद मे नानकिंग का साथ दिया। अंतत. येन समाप्त हो गये और फेंग उत्तर-पश्चिम के अपने क्षेत्र में खदेड़ दिये गये,[१२] इनके क्षेत्र चांग के नियंत्रण में आ गये और इस प्रकार उनकी फिर वही स्थिति हो गयी जो सन् १९२८ मे उनके पिता की थी, जब वह उत्तर से हटाये गये थे। अंतर केवल इतना था कि वह च्यांग के नियंत्रण वाली नानकिंग-सरकार के प्रति निष्ठावान् थे और उनके पिता लगातार राष्ट्रीयतावादियो से लड़ते रहे थे। नानकिंग-शासन के अधीन उनकी यह स्थिति तब तक बनी रही, जब तक मंचूरिया में जापान ने उनकी शक्ति तोड़ नहीं दी और जापान के विरुद्ध सफल प्रतिरोध संगठित करने में असफल होने के कारण वह उत्तरी चीन में अपनी अधिकार-सत्ता छोड़ने को बाध्य नही हो गये।

जब उत्तर में शक्ति हथियाने के लिए यह संघर्ष चल रहा था यांग्त्सी के दक्षिण में भी नानकिंग-सरकार को अपनी सत्ता के विरुद्ध चुनौतियाँ मिल रही थी। जैसा कि कहा जा चुका है, दल की केन्द्रीय कार्यकारिणी पर दक्षिणपंथी नेताओ के प्रभुत्व को पुनस्संगठनवादी नेता पसन्द नहीं करते थे और न वे च्याग काई-शेक के हाथो में शक्ति व सत्ता का केन्द्रीकरण ही पसन्द करते थे। नानकिंग में जो स्थिति थी, उससे यह निष्कर्ष सही साबित होता था कि क्रांति का केवल यही फल हुआ था कि उत्तर के युद्धवादियों व सैनिक नेताओ की जगह एक सैनिक नियंत्रण ने ले ली थी। अतएव वामपंथी नेताओं ने डाक्टर सुन के ढंग अपनाये। उन्होंने कैण्टन पर अधिकार करने का प्रयास किया और जब जनरल चांग फा-क्वी ने उस नगर पर आक्रमण किया तो

उसकी सहायता की। जब यह प्रयास असफल हुआ तो उन्होने उत्तर के च्यांग-विरोधी नेताओ से समझौता करने के लिए बात चलायी। पहले तो उनकी बात ठुकरा दी गयी, किन्तु जब येन व फेंग का गठबन्धन हो गया और विद्रोह का झण्डा फहरा दिया गया, तब पुनस्संगठनवादियो के दो प्रमुख नेताओ, वांगचिंगवी तथा चे'न कुंग-पो, को पीकिंग मे एक नयी सरकार में शामिल होने का निमत्रण मिला, जो उन्होंने स्वीकार कर लिया; यह सरकार बहुत थोड़े दिन चली। इसके बाद कैण्टन में एक पृथक् सरकार बनी, जिसे क्वाग्सी के उन नेताओं का समर्थन प्राप्त हो गया, जिन्हें पहले हैनकाउ से खदेड़ दिया गया था और उनके मूल अधिकार क्षेत्र मे वापस भेज दिया गया था। इस नयी सरकार का नियत्रण-क्षेत्र केवल क्वांग्सी व क्वांगतुग प्रान्तों तक ही सीमित था, किन्तु वह क्रांति की उत्तराधिकारिणी होने का दावा करती थी और उसने सन् १९३१ के ग्रीष्म मे च्याग व उनकी नानकिंग-स्थित सरकार के खिलाफ हमला भी किया। जापान के साथ चल रहे झगड़े के कारण संघर्ष रुका, समझौता-वार्ता हुई और अत मे नानकिंग मे एक नया शासन कायम हुआ, जिसकी सारी शक्ति तीन व्यक्तियो—च्यांग, वांग चिंग-वी तथा हू हान-मिन की एक समिति में केन्द्रित थी। यह दक्षिण व वामपक्ष का गठबन्धन, जिसका झुकाव वामपक्ष की ओर अधिक था, थोड़े ही दिन चला। अगली बार जब शासन का पुनर्गठन हुआ, तब च्यांग काई-शेक का प्रभुत्व फिर स्थापित हो गया। किन्तु सन् १९३३ के ग्रीष्म मे यह शासन फिर निर्बल हो गया, क्योकि उत्तरी चीन में जापान की काररवाई का प्रसार हो रहा था, दक्षिण मे कैण्टन में एक पृथक् सरकार बनी हुई थी और दक्षिण-मध्य मे साम्यवादियो की बढ़ती हुई शक्ति को समाप्त करने के लिए संघर्ष चल रहा था।

च्यांग ने यह नीति अपनायी कि साम्यवाद के विरुद्ध संघर्ष जारी रखा जाय जिसके फलस्वरूप जापान के बढ़ाव का लगभग कोई प्रतिरोध हुआ ही नही। च्याग से वांग चिंग-वी इस बात मे सहमत थे कि साम्यवाद सबसे बड़ा शत्रु है, किन्तु अन्य वामपक्षीय नेता चाहते थे कि जापान का जमकर विरोध करना चाहिए, इसमे चाहे कोई भी खतरा क्यो न मोल लेना पड़े। ये लोग च्यांग-प्रभुत्व वाले शासन से हट गये।

## (९) साम्यवादी आंदोलन

सन् १९२७ के साम्यवाद-विरोधी अभियान के बाद नानकिंग शासन की शक्ति, विशेषकर सैनिक शक्ति, उत्तर में लगी रहने के कारण ही साम्यवादियो की शक्ति इतनी बढ़ गयी थी कि वे नानकिंग सरकार के लिए खतरा बन गये थे।

सरकार के अन्यत्र व्यस्त रहने के कारण साम्यवादी शक्तियाँ धीरे-धीरे मजबूत होती गयी और अपनी रणनीति व युद्ध-कौशल का विकास करती रही। साम्यवादी सैन्य-सगठन के अवशेष दक्षिण में क्वांग्सी प्रान्त के जंगलों में जाकर छिप गये थे। शुरू मे इन टुकड़ियो को कायम रखना भी कठिन था, किन्तु जैसे-जैसे वे किसानों का विश्वास प्राप्त करती गयी और यह सीखती गयी कि प्रान्तीय सैनिक-शक्ति के साथ सघर्ष होने पर अपने आपको पहाड़ी क्षेत्रों मे कैसे कायम रखा जा सकता है, वे सशक्त और आक्रामक होती गयी। सन् १९३० तक वे इतनी सशक्त हो गयी थी कि उन्होने चांगशा नगर पर हमला कर उस पर कब्जा जमा लिया; किन्तु नानकिंग के पक्ष में विदेशी हस्तक्षेप के कारण यह कब्जा बहुत दिन नही चल पाया। साम्यवादियों की सैनिक सफलता का कारण नानकिंग सरकार का येन-फेंग संघर्ष में फँसा रहना था।

किन्तु इस संघर्ष के समाप्त होने पर, कुओमिनतांग की केन्द्रीय कार्यकारिणी ने फिर "साम्यवादी सेनाओं के समूल विनाश तथा सोवियतीकृत क्षेत्र फिर कब्जा करने" का फैसला किया। इस निर्णय को कार्यान्वित करने के लिए दिसम्बर, १९३१ में प्रयास शुरू हुए और सन् १९३३ तक वे जारी रहे; उस समय तक साम्य-वादियो से चार बार बड़े संघर्ष हुए थे। सैनिक सफलताएँ तो मिली थी, किन्तु साम्यवादी सेनाओं को समाप्त नही किया जा सका था, और साम्यवादी प्रभाव में भी कोई विशेष कमी नही की जा सकी थी। सन् १९३३ में, दक्षिणी-पूर्वी क्यांग्सी प्रान्त व पश्चिमी फुकीन प्रान्त में सोवियत् (साम्यवादी) शासन स्थापित था, क्यांग्सी प्रान्त भर में साम्यवादियों का प्रभाव था। और हूपेह प्रांत में भी उनका काफी प्रभाव था। इसके अतिरिक्त दक्षिण में हुनान व क्यागतुंग प्रान्तों व यांग्त्सी नदी के उत्तर में आन हुई प्रान्त के छोटे-छोटे क्षेत्रों में भी साम्यवादी प्रभाव था। साम्यवादी प्रभाव के क्षेत्र खेतिहर थे, औद्योगिक नही, और इसलिए, सर्वहारा-वर्ग की तानाशाही की जगह किसानो के नियंत्रण का ही विकास हो रहा था। साम्यवादी नीति कृषि सुधार व भूमि कानूनों में सुधार की थी। बड़ी-बड़ी जमींदारियाँ समाप्त कर भूमि का बटवारा कर दिया गया था। सहकारी ऋण-समितियाँ व बैंक-प्रणाली स्थापित हुई थीं। अफीम की खेती पर रोक लगा दी गयी थी और इस प्रकार सैनिक नेताओं को समृद्ध बनाने के लिए जो भूमि खाद्यान्न से हटाकर अफीम की खेती मे लग गयी थी, वह फिर खाद्यान्न की खेती के लिए मुक्त हो गयी। सार्वजनिक भूमि से हुई आय से बाढ़ रोकने व सिंचाई के निर्माण कार्य किये गये थे। कर-प्रणाली भी बदली गयी थी और सम्पन्न लोगों

पर कर-भार सबसे अधिक कर दिया था, जबकि पहले कर-प्रणाली ऐसी थी कि निर्धन लोगो का ही शोषण होता था। सोवियत्-शासन के अन्तर्गत जो नगर थे, उनमे श्रमिको के वेतन बढा दिये गये थे, जिस प्रकार खेतिहर मजदूरो के वेतन बढाये गये थे, काम के घण्टे कम कर दिये गये थे तथा वे नीतियाँ कार्यान्वित की गयी थी, जिनसे निर्धन वर्ग की स्थिति मे सुधार हुआ था।

जिस शासन के पास अपार सैनिक शक्ति हो और अत्यधिक साधन हो, उसके विरोध के बावजूद साम्यवाद के विस्तार का कारण उन नीतियो से प्रकट था, जो साम्यवादी प्रभुत्व के क्षेत्र में अपनायी जाती थीं। नानकिंग-शासन सैनिक काररवाई व उसके लिए धन जुटाने के काम मे ही इतना व्यस्त रहा था कि वह उन सामाजिक व आर्थिक सुधारो को लागू करने में असफल रहा था; जो डाक्टर सुनयात सेन के कार्यक्रम के अभिन्न व आधारभूत अग माने जाते थे। जो सुधार कार्य किये भी गये थे, उनके आलोचक उन्हें निर्धन-वर्ग के नही सम्पन्न-वर्ग के हित मे किया गया बताते थे। कुओमिनतांग ने सत्ता प्राप्त कर अपना क्रांतिकारी स्वरूप इसीलिए खो दिया था।

## (१०) राष्ट्रीय सरकार की आंतरिक उपलब्धियाँ

किन्तु इसका यह अर्थ नही लगाया जाना चाहिए कि नानकिंग-सरकार ने निर्माण की दिशा में कोई कदम उठाया ही नही था। इस शासन की मुख्य उपलब्धियाँ मंचूरिया हाथ से निकल जाने के बावजूद, परराष्ट्र सम्बन्धी ही थी। किन्तु घरेलू क्षेत्र मे, उसने शासन के लिए सार्वजनिक पूंजी निर्माण का कठिन काम हाथ में लिया था और उसमे कुछ सफलता भी प्राप्त की थी। सेना के बढ़ते हुए खर्च के बावजूद-जो अपना अस्तित्व कायम रखने के लिए मैदान में सेना को तैयार रखने के अलावा, इसी उद्देश्य से लिये गये ऋणो के परिशोधन के लिए भी हो रहा था—पीकिंग की सरकारों से उत्तराधिकार में मिले सामान्य सार्वजनिक ऋणो की अदायगी की किश्तें फिर से शुरू करने की व्यवस्था भी नानकिंग-सरकार ने की थी। जहाँ राज्यो के आय-व्ययक लगातार असतुलित थे, वही अन्ततः चीन ने सतुलित बजट की घोषणा की। नानकिंग शासन की स्थापना से लगातार ही वित्त-मत्रालय के अध्यक्ष पद पर काम करने वाले केवल एक व्यक्ति, टी. वी. सुग, को ही अधिकांशतः इसका श्रेय प्राप्त होता है।[१३] किन्तु, यह संभव तभी हुआ जब सीमा शुल्क की सर्वोच्च सत्ता प्राप्त होने से आय के साधन बढ़ गये, नानकिंग के वित्त-मंत्रालय में वित्तीय प्रशासन का केन्द्रीकरण हो गया और मितव्ययिता अधिकतम कड़ाई से लागू की गयी।[१४] किन्तु मितव्ययिता निर्माण-कार्य में बाधक थी।

सचार-संवहन मंत्रालय के अधीन रेल-प्रशासन के केन्द्रीकरण से भी प्रगति हुई। जैसे-जैसे साधन उपलब्ध होते गये, इस मंत्रालय ने रेलमार्ग-विकास का व्यापक कार्यक्रम बहुत तीव्र गति से कार्यान्वित करना शुरू किया। मोटर यातायात के लिए उपयुक्त सड़कें भी बनायी गयी और इस प्रकार देश में यातायात की सुविधाओं का विकास किया गया।

सचार-सवहन के अतिरिक्त, आर्थिक क्षेत्र में नानकिंग-शासन का कार्य गवेषणात्मक था। विदेशी आयोगो की सहायता से मुद्रा-विनिमय, शिक्षा, जन-स्वास्थ्य सगठन, अफीम-नियंत्रण तथा राष्ट्रीय पुर्ननिर्माण से सबंधित अन्य अनेक समस्याओं के संबंध में विस्तार से अध्ययन किये गये। निर्माण-कार्य की भूमिकास्वरूप इन अध्ययनों मे राष्ट्रसंघ सचिवालय से निकट सपर्क स्थापित किया गया। इसके अतिरिक्त श्रमिक-संगठनो, श्रमविवाद के निपटारे तथा काम के दैनिक घण्टे आठ करने के लिए कानून भी बनाये गये।

न्याय के क्षेत्र मे कानून व प्रक्रिया-संबंधी संहिताएँ बनाने के काम को पूरा करने की दिशा में काफी प्रगति हुई। अनेक नयी व आधुनिक अदालतें स्थापित की गयी तथा आधुनिक कारागार स्थापित करने के काम मे भी प्रगति हुई।

किन्तु ये सब कार्य पूँजीवादी राज्य के कार्यक्रम भी कहे जा सकते थे और उन्हें निर्धन जनता की जीविका की आवश्यकतापूर्ति की दिशा में प्रगति नही कहा जा सकता था। यही बात उन प्रस्तावों के सबध में भी कही जा सकती थी, जो अस्थायी सविधान में उल्लिखित जीविका के सिद्धान्त को लागू करने के लिए आये। अतएव इस प्रचार के सफल होने की गुंजाइश रह गयी कि नानकिंग सरकार डाक्टर सुन के तीसरे सिद्धान्त को लागू करने में विशेष दिलचस्पी नही रखती। इस प्रचार से भी चीनी साम्यवादियों का हितसाधन हुआ। इस दृष्टिकोण से विरोध की इस स्थिति को जितने स्पष्ट ढंग से श्रीमती सुन यात-सेन ने रूसियों से संबंधविच्छेद करते समय सन् १९२७, फिर सन् १९२९ तथा सन् १९३१ में कहा उतनी स्पष्टता से किसी ने नही। मैडम सुन तथा उनकी तरह सोचने वाले अन्य लोगों का कहना था कि नानकिंग-सरकार का कार्यक्रम समाज सुधार का है, क्रांति का नही। इस प्रकार, सन् १९३३ में देश के भीतर मुख्य भेद उन लोगों में था, जो च्याग काई-शेक के नेतृत्व में पूँजीवाद समर्थित, नरम सरकार कायम रखना चाहते थे और जो कृषक-क्रांति उभार रहे थे। इसका यह अर्थ नहीं है कि नानकिंग-शासन के साम्यवादियों पर विजय प्राप्त करने भर से आंतरिक परिस्थिति में स्थायित्व आ जाता, क्योंकि, सुधार-कार्यक्रम पर मतभेद की गुंजाइश रहती ही। वास्तव में नानकिंग तथा

कैण्टन के बीच जो भेद था वह उतना बुनियादी नही था, जितना कि नानकिंग व साम्यवाद के बीच का भेद था।

सन् १९११ के बाद चीन में हुई राजनीतिक घटनाओ से एक स्पष्ट निष्कर्ष यह निकलता था कि आधुनिक समाज में शासन की भूमिका व्यापक तथा निश्चयात्मक होती जा रही है। अब शासन, चाहे वह नानकिंग का हो, कैण्टन का हो या साम्यवादी हो, केवल शांति व सुरक्षा की व्यवस्था करके अपने कर्तव्य की इतिश्री नही समझ सकता था और इस प्रकार देश के सामजिक व आर्थिक जीवन में निश्चयात्मक भूमिका व सबध स्थापित किये बिना नही रह सकता था। यह स्थिति राष्ट्रीय चीन का कोई अन्वेषण नही थी, पश्चिम से सपर्क से जो विकास शुरू हुआ था, वह उसे केवल आगे बढा रहा था। उदाहरणार्थ, मुद्रा-विनिमय के सुधार के लिए नियुक्त कैमरर-आयोग, आयोगो की श्रृखला में सबसे नया था और उसे मुद्रा के क्षेत्र मे फैली अराजकता को दूर कर सुव्यवस्था स्थापित करने के सुझाव देने के लिए कहा गया था। इसी प्रकार राष्ट्रसघ के आयोग ने राष्ट्रीय सरकार के लिए शिक्षा की समस्या का फिर से अध्ययन किया और राष्ट्रीय जीवन के इस अंग पर एक बार पुनर्विचार हुआ। किन्तु महत्त्व की बात यह है कि चीन की सरकारें देश के जीवन के इन विभिन्न पहलुओं पर नये ढंग से विचार कर रही थी और उनसे शासन को संबद्ध कर रही थीं। शुरू मे सन् १९०० के बाद यह परिस्थिति परिलक्षित होने पर शासन की नयी भूमिका तय करने की प्रेरणा पश्चिम से मिलती थी। किन्तु, सन् १९३३ तक स्थिति यह हो गयी थी कि शासन की भूमिका को नकारात्मक से सकारात्मक बनाने में स्वयं चीन को सक्रिय दिलचस्पी हो गयी थी। अब यह निश्चयपूर्वक कहा जा सकता था कि सरकार यातायात के साधन बढ़ाने, खेती की दशा सुधारने, औद्योगिक सस्थान बनाने, विकास-कार्य करने तथा सामाजिक संबंधो की दिशा में अधिकाधिक दिलचस्पी लेती जायगी। सन् १९३३ मे शासन के समक्ष जो प्रश्न उपस्थित था वह केवल यह था कि कार्यक्रम पूंजीवादी सिद्धान्त पर बने या साम्यवादी सिद्धान्त पर।

## (११) परराष्ट्र-संबंध-क्षेत्र में उपलब्धियाँ

इसी प्रकार परराष्ट्र-सबंधो के क्षेत्र में उसी दिशा में कार्य हुआ, जिसका कुछ विवरण पहले दिया जा चुका है। जैसा कि पहले बताया गया है, राष्ट्रीयतावादियो द्वारा पराजित होने के समय पीकिंग-सरकार उन सधियो के पुनरीक्षण के संबध में समझौता-वार्ताएँ करने मे व्यस्त थी, जिन्हें राष्ट्रीयतावादी 'असमान' संधियाँ कहते थे। कुओमिनतांग ने पुनरीक्षण की प्रक्रिया को पूरा किया। उसके नेताओं ने

साम्राज्यवाद के विरुद्ध अपने प्रचार का मुख्य लक्ष्य ब्रिटेन को बनाया; अंशतः, इसलिए कि चीनियों के लिए ब्रिटेन पूँजीवादी साम्राज्यवाद का प्रतीक बन चुका था और अंशतः इसलिए भी कि हांगकांग में ब्रिटेन की जो स्थिति थी, उससे मनमुटाव व शत्रुता पैदा हो चुकी थी। हांगकांग मे मल्लाहो की हड़ताल से संबंधित घटनाएँ तथा कैण्टन मे बहिष्कार, सन् १९२५ में एक अंग्रेज के नेतृत्व में शघाई में पुलिस द्वारा गोली-वर्षा, जिससे रक्तपात हुआ, सीमा-शुल्क सेवा के अंग्रेज अध्यक्ष द्वारा कैण्टन को अतिरिक्त आय में उसके अनुपात से हिस्सा देने से इनकार, वान्हसीन-काण्ड जहाँ ब्रिटेन के जहाजो ने गाँव पर इसलिए गोलाबारी की कि चीनी सैनिकों ने एक अंग्रेजी जहाज पर गोली चला दी थी—ये तथा ऐसी ही अन्य घटनाओ के कारण राष्ट्रीय चीन का ध्यान ब्रिटेन के विरुद्ध मुख्य शत्रु के रूप में केन्द्रित हो चुका था। इन घटनाओ की उचित सफाई या उनकी पृष्ठभूमि में विशिष्ट परिस्थितियाँ होने की बात से ध्यान काररवाइयो से नहीं हटा। साम्राज्यवाद अमूर्त्त प्रक्रिया या विचार है, जो जन-मानस की पकड़ के बाहर है। राष्ट्रीयतावादी प्रचार को विभिन्न राष्ट्रों की विशिष्ट ठोस घटनाएँ चाहिए थीं, जिन पर वह साम्राज्यवाद के उदाहरण के रूप में ध्यान केन्द्रित कर सके। इस समय इन घटनाओ की आवश्यकता की पूर्ति ब्रिटेन ने कर दी थी।

दिसम्बर, १९२६ में विभिन्न राष्ट्रो के समक्ष यह प्रस्ताव रख कर ब्रिटेन ने राष्ट्रीयतावादियो को प्रसन्न करने का प्रयास किया कि वाशिंगटन-सम्मेलन के समझौतों से अधिक उदार व प्रगतिशील आधार पर एक संयुक्त नीति बनाने में वे सहयोग दे। अपने स्मृतिपत्र में, अन्य बातों के अतिरिक्त, ब्रिटेन ने यह सुझाव भी रखा कि वाशिंगटन-सम्मेलन के अति करों की तत्काल वसूली के लिए वे राजी हो जायँ, जैसे ही राष्ट्रीय सीमा-शुल्क कानून बन कर लागू होने के लिए तैयार हो जाय वे चीन को तत्काल सीमा शुल्क सर्वोच्च सत्ता प्रदान कर दें; तथा पुनरीक्षित समझौतो के लागू होने के पहले मौजूद संधियों के लागू रहने पर जोर देते हुए भी वे राष्ट्रीय चीन की आकांक्षाओं की पूर्ति के लिए संधि पुनरीक्षण वार्ता करने के लिए अपनी सहमति प्रकट करें।

ब्रिटिश प्रस्ताव पर विभिन्न राष्ट्र कोई काररवाई करते इसके पहले ही हैनकाउ का पतन हो चुका था और वहाँ वामपक्षीय-साम्यवादी शासन स्थापित हो चुका था। फिर भी, हैनकाउ व किउकिआंग में ब्रिटेन को प्राप्त रिआयतें जब हैनकाउ-शासन ने छीनीं, उस क्षेत्र की वास्तविक शासन-सत्ता के रूप में उसे स्वीकार कर ब्रिटेन के प्रतिनिधि ने इन रिआयतों को चीन को वापस करने की शर्तें तय करने

के लिए समझौते की बात उससे (हैनकाउ शासन से) शुरू की। इससे एक आंदोलन-सा चल गया और विदेशी प्रतिनिधि पीकिंग-सरकार को छोड़कर अन्य लोगों से समझौते की बाते करने लगे। इससे नानकिंग-शासन को सन् १९२८ से पूर्व और अपनी सत्ता में देश को सगठित कर सन् १९२८ के बाद अनेक विदेशी संधि-राष्ट्रो से अलग-अलग समझौता-वार्ता करने का रास्ता साफ हो गया।

सधि-पुनरीक्षण का काम हाथ मे लेने, नानकिंग-सरकार को पीकिंग-सरकार द्वारा अपनाये गये ढंग और उनकी उपादेयता की सुविधा तो मिल ही गयी थी। सन् १९२५ के सम्मेलनो मे हुई बातचीत से यह संकेत मिल चुका था कि विदेशी राष्ट्र सीमा-शुल्क-संबधी रिआयतें समाप्त करने के लिए जल्दी तैयार हो सकते है, राज्यक्षेत्रातीतता समाप्त करने के लिए नही। सन् १९२५ के पीकिंग-सम्मेलन तथा दिसम्बर, १९२६ के ब्रिटिश प्रस्तावो से यह प्रकट हो चुका था कि राष्ट्र सीमा-शुल्क-संबंधी सर्वोच्च सत्ता चीन को देने को तैयार है, किन्तु राज्यक्षेत्रातीतता के प्रश्न पर विचार करने के लिए बने आयोग की सिफारिशें बिलकुल भिन्न थी। चीन के परराष्ट्रमत्री ने पहले उसी बात पर ध्यान देना बेहतर नीति माना, जो जल्दी प्राप्त हो सके। किन्तु बात शुरू करने के पहले सन् १९२७ की नानकिंग की घटना से उत्पन्न बाधा को दूर करना आवश्यक था। विदेशी प्रतिनिधि-समझौते की बात तब तक शुरू नही करना चाहते थे, जब तक राष्ट्रीयतावादी सरकार (सन् १९२८ के बाद यह राष्ट्रीय सरकार हो गयी थी) राष्ट्रीयतावादी सेना द्वारा नानकिंग में घुस कर विदेशी संपत्ति के नष्ट-भ्रष्ट करने के लिए क्षतिपूर्ति न कर दे। यह आक्रमण २४ मार्च को हुआ था और अमरीका, ब्रिटेन, फ्रांस, इटली व जापान के प्रतिनिधियो ने ११ अप्रैल को परराष्ट्र-मंत्री को बिलकुल समान विरोध-पत्र भेजे, जिनमें माँग की गयी थी कि अपराधियो को दण्ड दिया जाय, सर्वोच्च सेनापति क्षमायाचना करें, इस बात का आश्वासन दिया जाय कि विदेशी-विरोधी आंदोलन व कारररवाइयाँ रोकी जायँगी तथा धन-जन व संपत्ति की क्षति के लिए हरजाना दिया जाय। जब हैनकाउ-गुट से संघर्ष में नरम दल की विजय हुई, नानकिंग-सरकार ने इस संबंध में समझौता कर लेने की इच्छा प्रकट की। अमरीकी सरकार से पत्र-व्यवहार द्वारा २ अप्रैल, १९२८ को संतोषजनक समझौता हो गया। यह कहते हुए भी कि घटना साम्यवादी कारररवाई के फलस्वरूप हुई थी, चीन सरकार ने उसका उत्तरदायित्व स्वीकार किया और क्षतिपूर्ति का आश्वासन दिया; अपनी ओर से अमरीकी प्रतिनिधि ने खेद प्रकट किया कि अमरीकी नागरिकों की सुरक्षा के लिए शक्ति प्रयोग के लिए बाध्य होना पड़ा। अन्य राष्ट्रों से जो समझौते हुए वे भी इसी

प्रकार के थे।

नानकिंग की घटना के संबंध मे समझौता हो जाने पर, २५ जुलाई को, अमरीका ने एक नयी संधि कर ली, जिसके अनुसार चीन व अमरीका के बीच सीमा-शुल्क आदि संबंधी सभी पुरानी शर्तों को समाप्त कर परम-मित्र-राष्ट्र-सिद्धान्त के अनुरूप, चीन की सीमा-शुल्क-सबंधी सर्वोच्च सत्ता स्वीकार कर ली गयी थी और १ जनवरी, १९२९ से यह नयी संधि लागू होने का निश्चय हुआ था; यह तिथि राष्ट्रीय सीमा-शुल्क-पद्धति कानून लागू करने के लिए पहले ही निश्चित हो चुकी थी। शुल्क-दर-पद्धति में चीन के स्वतंत्र होने के संबंध मे इस प्रकार की सधियाँ सन् १९२८ मे दस अन्य राष्ट्रों से भी हुई, जिनमे ब्रिटेन, इटली व बेल्जियम भी शामिल थे। तिथि बाद में १ जनवरी की जगह १ फरवरी कर दी गयी और इस बीच जापान ने सधि होने से पूर्व ही इस निर्णय को स्वीकार कर लेने का आश्वासन दे दिया। इस प्रकार तत्काल तो अतिरिक्त राजस्व प्राप्त करने के लिए तथा अंततः चीन के उद्योगो को संरक्षण प्रदान करने के लिए जो अभी शैशवास्था में ही थे, राष्ट्रीय शुल्क-पद्धति चालू करने के लिए पूर्ण स्वाधीनता प्राप्ति के लिए जो लम्बा सघर्ष चला था उसकी सफल समाप्ति हो गयी। इसी प्रकार काफी समय तक प्रतिरोध करने के बाद विभिन्न राष्ट्र दरो के पुनरीक्षण के लिए भी राजी हो गये, यद्यपि, कुछ देशों ने अपनी संधियो में यह व्यवस्था करवा ली थी कि चीन-सरकार जल्दी से जल्दी लिकिन-प्रथा को समाप्त कर देगी।

अब केवल राज्यक्षेत्रातीतता की संधि-व्यवस्था समाप्त करने की बात रह गयी थी। इस दिशा मे भी राष्ट्रीयतावादियों के सत्तारूढ़ होने के पहले ही कुछ सफलता मिल चुकी थी। महायुद्ध में चीन के शामिल होने से जर्मनी और रूसी क्रांति के फल-स्वरूप रूस के नागरिकों के ये अधिकार समाप्त हो चुके थे। इन दो देशों के नागरिको के ऊपर अपना अधिकार-क्षेत्र स्थापित करने में सफलता ने चीन को यह विश्वास दिला दिया था कि यह प्रथा अन्य देशो के नागरिको के लिए भी समाप्त होनी ही चाहिए। आस्ट्रिया, फिनलैण्ड व पोलैण्ड से जो नयी संधियाँ हुई, उनमें पीकिंग-सरकार ने राज्यक्षेत्रातीतता की शर्तें शामिल नही होने दी। और राष्ट्रीयतावादी पीकिंग-सरकार की भाँति ही संकल्प-बद्ध थे कि इस दृष्टि से सभी पुरानी संधियों का, उनकी दस-दस वर्ष की अवधियाँ समाप्त होते ही, पुनरीक्षण हो जाना चाहिए।

फलतः, सन् १९२८ मे स्पेन व बेल्जियम से हुई सधियों में व्यवस्था कर दी गयी कि १ जनवरी, सन् १९३० से इन देशों के नागरिक चीनी न्याय-व्यवस्था के अधि-कारक्षेत्र में आ जायँगे, शर्त यह थी कि अन्य राष्ट्र भी इस व्यवस्था को स्वीकार कर

लेंगे, या कम से कम वाशिंगटन-सम्मेलन में शामिल होने वाले देश राज्यक्षेत्रातीतता की व्यवस्था की समाप्ति को स्वीकार कर लेंगे। सन् १९२८ व सन् १९२९ में अन्य अनेक देशों ने यह व्यवस्था स्वीकार कर ली। किन्तु सन् १९२९ में जापान से हुई संधि में यह व्यवस्था शामिल नही हुई, जब अगस्त, १९२९, व उसके बाद, अमरीका, फ्रांस व ब्रिटेन से इस संबंध में बात चलायी गयी, उन्होने सहानुभूति तो प्रकट की पर तत्काल इस व्यवस्था को स्वीकार करने की जगह उसे धीरे-धीरे लागू करने को कहा। मुख्य विदेशी शक्तियो पर इस संबंध में दबाव डालने के लिए २६ दिसम्बर, १९२९ को केन्द्रीय राजनीतिक परिषद् ने एक प्रस्ताव द्वारा राज्यपरिषद् को आदेश दिया कि उन सभी देशो के नागरिको के राज्यक्षेत्रातीतता के अधिकार १ जनवरी, १९३० से समाप्त कर दिये जायँ, जिन्हें ये तब तक प्राप्त रहे हो। अमरीका व जापान के समर्थन से ब्रिटेन ने इसके उत्तर में घोषणा की कि उसकी सरकार सिद्धान्ततः इस तिथि को राज्यक्षेत्रातीतता-प्रथा को समाप्त करने की प्रक्रिया का आरम्भ मानने को तैयार है। इसके बाद सन् १९३० में समझौते की बातचीत चलती रही, पर कोई फल नहीं निकला। देश की आंतरिक राजनीति के दबाव के कारण, जब कि सन् १९३१ के वसन्त में राष्ट्रीय जन-सम्मेलन द्वारा संविधान स्वीकार होने की बात चल रही थी, चीन सरकार ने ऐसे विनियमों की घोषणा कर दी, जो १ जनवरी, १९३२ से लागू होने वाले थे और जिनके द्वारा विदेशियो को अपने अधिकार-क्षेत्र व नियंत्रण में लाने का काम पूरा होना था। आशा यह थी कि तब तक संधि-पुनरीक्षण का कार्य पूरा हो चुकेगा। किन्तु मंचूरिया में सितम्बर, १९३१ की घटनाओं और यांग्त्सी-क्षेत्र की अशान्त स्थिति के कारण संधि-पुनरीक्षण की ओर ध्यान नहीं दिया जा सका और २९ दिसम्बर, १९३१ को वह आदेश स्थगित कर दिया गया, जिसके द्वारा राज्यक्षेत्रातीतता-सबंधी अधिकार समाप्त होने थे।

सन् १९२८ व सन् १९३३ के बीच राष्ट्रीय सरकार की उपलब्धियों के इस संक्षिप्त विवरण में पट्टे के क्षेत्रों व विदेशियों की बस्तियों की स्थिति के सबंध में भी कुछ कहना आवश्यक है। १ अक्तूबर, १९३० को अंग्रेजों ने वीहाईवी को चीनी अधिकार में दिया था; वाशिंगटन-सम्मेलन के बाद समझौते की बात में लगातार व्याघात होते रहे थे। यह संतोषजनक स्थिति वाशिंगटन-सम्मेलन का ही अप्रत्यक्ष परिणाम था, चीन में राष्ट्रीयतावादियों के बढते हुए प्रभुत्व का परिणाम नहीं था, यद्यपि यह हुआ तभी जब राष्ट्रीयतावादियों का प्रभाव बढ़ रहा था। उन पट्टे के क्षेत्रों का हस्तान्तरण इस अवधि में नहीं हुआ जिनका प्रश्न वाशिंगटन-सम्मेलन में नहीं उठा था।

किन्तु, रिआयतों व बस्तियों के संबंध में कुछ प्रगति अवश्य हुई थी। हैनकाउ व किउक्यांग की बदली हुई स्थिति स्वीकार करने के उपरान्त ब्रिटेन ने सन् १९२९ में चिक्यांग व सन् १९३० में अमोय चीनी अधिकार मे दे देने के समझौते कर लिये। सन् १९३१ में बेल्जियम ने टीटसीन मे प्राप्त रिआयत के संबंध में भी ऐसा ही समझौता कर लिया। अब विदेशी शक्तियो के हाथ मे तेरह बस्तियाँ व रिआयतें बची थी। इनमे सबसे अधिक महत्त्वपूर्ण थी शघाई की अतरराष्ट्रीय बस्ती। यहाँ लगभग ४० हजार विदेशी नागरिक व लगभग दस लाख से अधिक चीनी लोग रहते थे। विदेशियो की बस्ती होने के नाते सन् १९२८ तक इसका शासन उन विदेशी करदाताओं द्वारा निर्वाचित स्थानीय स्वशासन-परिषद् द्वारा होता था, जिनकी संख्या विदेशी नागरिको के दस प्रतिशत से कम थी। इस बस्ती से फ्रांसीसी बस्ती लगी हुई थी और उसके बाद चीनी बस्ती थी, जहाँ लगभग साढ़े बाईस लाख लोग रहते थे। चीन का सबसे बड़ा नगर, चीन के सबसे अधिक महत्त्वपूर्ण व्यापारिक क्षेत्र के लिए आयात-निर्यात केन्द्र तथा शुरू से ही उद्योगों का केन्द्र बन जाने के कारण शंघाई की इस बस्ती का महत्त्व अत्यधिक था और इसके ही कारण यहाँ कई समस्याएँ भी उत्पन्न हुई।

इस अतरराष्ट्रीय केन्द्र का महत्व समझ में आने के बाद चीन ने शंघाई पर फिर से अपना नियंत्रण लागू करने की चेष्टा की। इस माँग पर सबसे अधिक जोर राष्ट्रीयतावादियों ने दिया और राष्ट्रीय सरकार भी इसके लिए लड़ी। केन्द्र का महत्त्व होने के कारण विदेशी सरकारों व नागरिकों ने नगर चीनियों के नियंत्रण में वापस करने की तात्कालिक माँग पर विचार करने से भी इनकार कर दिया। किन्तु ६ मई, १९२८ को यह तय हुआ कि शघाई की स्थानीय स्वशासन-परिषद् में तीन चीनी प्रतिनिधि भी लिये जाया करे और बस्ती की विभिन्न प्रशासकीय समितियों मे छ. चीनियों को ले लिया जाय। सन् १९३० में परिषद् में दो और चीनी प्रतिनिधियो को लेने का निर्णय हुआ।

परिषद् में प्रतिनिधित्व मिलने से शंघाई के प्रश्न को लेकर जो चीनी आंदोलन चल रहा था, वह समाप्त नहीं हुआ। अतएव, सन् १९२९ मे परिषद् ने दक्षिण अफ्रीका के न्यायाधीश, रिचर्ड फीटम को पूरे मामले की जाँच कर सुधार के व्यावहारिक सुझाव देने को कहा। सन् १९३१ मे न्यायाधीश का जो प्रतिवेदन आया, वह तत्काल नगर को चीनी नियंत्रण में दे देने की माँग के प्रतिकूल था। ''कुछ छोटे-मोटे सुधारों के लिए लाभदायक सुझावो के अतिरिक्त इस जाँच का केवल यही फल निकला कि तथ्यो को करीने व सिलसिले से सजा कर रख दिया गया और

कानून व सिद्धान्त की दृष्टि से कुछ ऐसे तर्कसंगत निष्कर्ष निकाले गये जो अपने-आपमें तो उपयुक्त थे, किन्तु चीनी राष्ट्रीय चेतना के तीव्रता से बढने की पृष्ठभूमि में वे बिलकुल पुराने पड़ चुके थे।"[१५] किन्तु जाँच होना व उसका प्रतिवेदन आना, चीनियो को परिषद् मे प्रतिनिधित्व देना, चीन के राष्ट्रीय औद्योगिक कानून को बस्ती मे लागू करने मे सहयोग के ढंग निकालने के लिए बस्ती के अधिकारियो का तैयार होना तथा अन्य बातो से यही प्रमाण मिलता था कि विदेशी अब चीन की राष्ट्रीय सरकार की प्रतिष्ठा व सम्मान करने लगे थे। पिछली सरकारो ने भी इन बातो के लिए प्रयत्न किया था, पर वे असफल रही थी।

नानकिंग में राष्ट्रीय सरकार बनने के पाँच वर्ष बाद, सधियो के सबंध मे स्थिति यह थी कि सीमा-शुल्क-पद्धति पर चीन की सर्वोच्च सत्ता स्थापित हो चुकी थी तथा राज्यक्षेत्रातीतता समाप्त करने का आंदोलन काफी आगे बढ़ गया था। दस देशो ने निश्चयपूर्वक अपने नागरिको के लिए यह अधिकार लेना छोड़ दिया था। कुछ अन्य देश इस बात पर तैयार हो चुके थे कि वाशिंगटन-सम्मेलन में भाग लेने वाले राष्ट्र जब इस प्रथा के अत के लिए राजी हो जायँगे, तब वे भी अपना यह अधिकार त्याग देंगे। अमरीका, जापान व ब्रिटेन इस प्रथा को धीरे-धीरे समाप्त करने के लिए सहमत हो गये थे। पट्टे का एक क्षेत्र चीन को वापस मिल चुका था; अनेक निवास-बस्तियाँ चीनी प्रशासन के अंतर्गत आ चुकी थी; शघाई मे ऊपर लिखी सुविधाएँ चीनियो को प्राप्त हो गयी थी। और यह प्रगति उस समय हुई थी, जब नानकिंग की सरकार लगातार भीतरी शत्रुओ से लड़कर अपने अस्तित्व की रक्षा कर रही थी। अतएव यह मानना होगा कि परराष्ट्र-सबधो के क्षेत्र मे नानकिंग-शासन की उपलब्धियाँ काफी थी। निश्चय ही, इस प्रगति के लिए अशतः पश्चिमी राष्ट्रों व जापान द्वारा अपनायी गयी सुलह की नीतियों को भी श्रेय है। किन्तु यह भी असंदिग्ध है कि परराष्ट्र-संबंधी बिषयों के कुओमिनताग के नियत्रण मे आने के बाद चीन ने जो निश्चयात्मक नीतियाँ अपनायी, वे अंशत. विदेशियों की सुलह-नीति के लिए उत्तरदायी थी। साथ ही, चीन के परराष्ट्र-सबध सुधरने का काफी श्रेय उसके राजनयिक अधिकारियों को भी है—चाहे वे पीकिंग-शासन के रहे हो या नानकिंग-शासन के—जिन्होंने सन् १९२६ व उसके वाद के वर्षों मे पश्चिमी राष्ट्रो व जापान से समझौता-वार्त्ताएँ चलायी और उनमें सफलता प्राप्त की।

## इक्कीसवाँ अध्याय

# पूर्व और पश्चिम (१८३०-१९३०)

सन् १९३१ के बाद सुदूरपूर्व की स्थिति मे जो परिवर्तन हुए, उन पर विचार के पूर्व, सुदूरपूर्व के राज्यो के पश्चिम से संबंधो तथा चीन व जापान पर पश्चिमी प्रभाव के परिणामों का अवलोकन उपयुक्त होगा। इससे सुदूरपूर्व के देशो में पश्चिम के नियंत्रण से मुक्त होने की बढ़ती हुई प्रवृत्ति और अपनी राजनीति को यूरोपीय राजनीति से पृथक् रखने के प्रयासो को समझना सरल हो जायगा।

## (१) पूर्व में पश्चिम की दिलचस्पी

इस सबध मे पहली और सबसे अधिक स्पष्ट बात है पूर्व पर पश्चिम के प्रभुत्व का आकार। सन् १९१४ तक कुस्तुनिया से पीकिंग तक यूरोपीय नियन्त्रण—पूर्णत. या अशतः—स्थापित हो चुका था। भारत, बर्मा, फ्रासीसी हिन्द-चीन आदि देशो मे यह नियन्त्रण गोचर या मूर्त्त था, क्योंकि वह क्षेत्रीय व शासकीय था। अन्यत्र इस नियन्त्रण का स्वरूप वित्तीय था, जैसे कि ईरान, तुर्की व चीन मे। क्षेत्रीय व राजनीतिक न होते हुए भी तथा अमूर्त्त होते हुए भी यह नियन्त्रण ठोस और वास्तविक था।

पश्चिम जब पूर्व में आया, तब उसका मूल उद्देश्य केवल रेशम, मसाले, चाय आदि यहाँ की उपज प्राप्त करना था। किन्तु उन्नीसवी शताब्दी मे यूरोपीय उपभोक्ता की आवश्यकताओं से अधिक माल-सामान बनना शुरू होने पर यह मूल दिलचस्पी इन सामान के लिए नये बाजार ढूँढ़ने की आवश्यकता में बदल गयी। उन्नीसवीं शताब्दी मे भी पश्चिम को उष्ण कटिबन्ध की उपजों मे दिलचस्पी रही अवश्य, पर वह बाजार खोजने की आवश्यकता की तुलना में गौण हो चुकी थी। औद्योगिक क्रांति के बाद, बाजार स्थापित होने पर यूरोपीय देशो के लोग अधिकाधिक सख्या में पूर्व के देशो में आने लगे और उनके लिए संतोष, सुरक्षा व आराम के साथ व्यापार कर सकने के लिए निवास का अधिकार प्राप्त करना अनिवार्य हो गया। व्यापार-हित तथा इस आवश्यकता से उन देशो में, जहाँ पश्चिम का सीधा नियंत्रण स्थापित नही हुआ था, राज्यक्षेत्रातीतता तथा संधि सीमा-शुल्क की पद्धतियाँ आयी। पूर्वी एशिया मे ये देश थे श्याम, चीन, कोरिया व जापान। भारत, बर्मा, हिन्द-चीन, बोर्नियो, मलेशिया, फिलीपीस आदि देशों का नियंत्रण किसी न किसी पश्चिमी

राष्ट्र के हाथो मे चला गया था और यूरोप के हितो व आवश्यकताओ की दृष्टि से राज्यक्षेत्रातीतता या सीमा-शुल्क-पद्धति आदि अनावश्यक थे।

वित्तीय या पूँजी लगाने की दिलचस्पी उन्नीसवी शताब्दी के अंत में ही शुरू हुई। उस समय तक जापान यूरोपीय सरक्षण से मुक्त हो चुका था और फ्रांसीसी व बरतानवी अधिकार क्षेत्रो के बीच स्थित होने के फलस्वरूप काफी हद तक सुरक्षित होने के कारण श्याम की स्थिति में स्थायित्व आ गया था और वह अपनी अर्थ व न्याय-व्यवस्थाओ को आधुनिक पश्चिमी ढंग पर विकसित कर रहा था। कोरिया को जापान हड़प रहा था। अतएव ये तीनो देश तो यूरोपीय पूँजी नियत्रण से बच गये, पर चीन नही बचा।

बाद में चीन ने विदेशी अकुश हटाकर मनमाने ढंग से विकसित होने के लिए संघर्ष शुरू किया। इसके अतिरिक्त, भारत व फिलिपिनी द्वीप-समूह मे विदेशी नियंत्रण के विरुद्ध प्रबल प्रतिक्रिया शुरू हुई। यहाँ यह कह देना अनुपयुक्त न होगा कि यदि चीन व श्याम का अंतरराष्ट्रीय अस्तित्व इसीलिए बना रहा कि पश्चिमी राष्ट्रो मे एक-दूसरे से ईर्ष्या थी और हित साम्य नही था। जहाँ तक श्याम का संबंध था, ब्रिटेन व फ्रास एक-दूसरे को रोके रहे। रूस, ब्रिटेन, फ्रास, अमरीका, जर्मनी व जापान की चीन में ऐसी ईर्ष्या-स्पर्धाएँ थी और इतना हित-वैषम्य था कि चीन का अस्तित्व कायम रह गया। किन्तु, चीन साम्राज्य व चीनी गणतत्र और सन् १९३१ में चीनी राष्ट्रीय गणतंत्र लगातार अंतरराष्ट्रीय संकट का केन्द्र बना रहा, जब कि जापान अतरराष्ट्रीय समाज का सशक्त सदस्य बन चुका था और सन् १९३३ में राष्ट्रसंघ से इस्तीफा देने के पूर्व वह संघ-परिषद् का स्थायी सदस्य था, जिससे उसकी परिवर्तित स्थिति व प्रतिष्ठा का पता लगता था। सन् १९३१ में आधुनिक दुनिया के प्रति चीन व जापान की क्या प्रतिक्रियाएँ थी, उनका सक्षिप्त विवरण यहाँ अनुपयुक्त न होगा। बाद के वर्षों में सुदूरपूर्व में जो घटनाएँ हुईं, इस विवरण से उनकी बदलती हुई दिशाओ का पता लग जायगा।

## (२) चीन व जापान के विकास की तुलना

प्रतिक्रियाओ की भिन्नता का पहला कारण भूगोल था। जापान का क्षेत्र छोटा है और उसकी तुलना मे चीन का विशाल, अपार। संचार-संवहन के साधन दोनो देशो में ही आदिम होते हुए भी नयी दुनिया का ज्ञान सारे जापान में अधिक तेजी से फैला और चीन में यह संभव भी नही था। इसी से संबद्ध जनसंख्या का प्रश्न था; यह ज्ञान जापान में थोड़े लोगो तक पहुँचाना था, चीन में विपुल जनसमुदाय को। जापान की सन् १८५० में जनसंख्या लगभग ३.३ करोड़ थी जो एक छोटे-से

क्षेत्र में घनी बसी हुई थी; उसी समय चीन की आबादी ३५.४० करोड़ थी और विशाल क्षेत्र में फैली हुई थी। केवल यात्रा की दृष्टि से आधुनिक ज्ञान का प्रसार जापान की अपेक्षा चीन के लिए कई गुना बड़ा काम था। यदि दोनो देशों में रेल-मार्ग, जहाज, रेडियो, तार, टेलीफोन आदि की व्यवस्था होती तो यह अतर इतना बड़ा न लगता। किन्तु इन साधनों का विकास भी उस नयी व्यवस्था का अग था, जो कि लायी जानी थी और इसलिए शुरू में यह विकास सभव नहीं था।

दूसरे, आधुनिक युग से पूर्व का जापान पश्चिम से संपर्क के समय एक नयी राजनीतिक व्यवस्था के लिए पहले से ही सचेष्ट था, जिससे सम्राट् शक्ति-सत्ता के केन्द्र होते और देश शोगुन की जगह उनकी सत्ता में एक होता। पश्चिमी कुलों के नेताओ का उद्देश्य राजनीतिक विकेन्द्रीकरण नहीं तोकूगावा की जगह स्वयं उनके अधीन एकीकरण था। देश के भीतर मौजूद इस चेतना व सक्रियता से उन नये विचारो की स्वीकृति का मार्ग प्रशस्त हुआ जो शोगुन के विरोधियों के उद्देश्यो के प्रतिकूल नहीं थे। विदेशो से संपर्क का पश्चिमी कुलो के प्रारम्भिक विरोध से कोई दूसरा अर्थ लगाना ठीक न होगा, क्योकि यह विरोध अंशतः इष्टसिद्धि के लिए था और तोकूगावा-नियत्रण को कमजोर करने के लिए हर संभव साधन का उपयोग कर लेने की इच्छा का ही प्रतीक था। इसके अतिरिक्त, वास्तविकता यह भी थी कि सधियाँ होने के पहले से ही नागासाकी होते हुए पश्चिमी विचार देश में आने लगे थे और डच-स्कूल के माध्यम से उनका प्रसार होने लगा था।

इस संबंध में जापान की स्थिति चीन से भिन्न थी। आधुनिक युग से पूर्व के चीन मे कोई नयी धारा दृष्टिगोचर नही थी। मंचू-शासन निर्बल हो रहा था, किन्तु किसी सशक्त विरोध के कारण नही, स्वयं अपनी ही प्रभावहीनता के कारण। चीन के बौद्धिक जगत् में गति नही स्थिरता थी। बौद्धिक दृष्टि से बाहर के संपर्क से दीर्घकाल तक वचित रहने से एक राष्ट्रव्यापी रूढ़िवादिता आ गयी थी और सभी वर्गों में फैल चुकी थी। किसी प्रगतिशील बौद्धिक आंदोलन से इस रूढ़िवादिता पर आघात नही हुआ था और राजवंश-विरोधी विप्लव भी नही हुए थे, जो राष्ट्रीय रूढ़िवादिता में कुछ खलबली पैदा करते; जो भी आंदोलन हुए थे, वे मूलतः आर्थिक थे और उनकी प्रेरणा भी आर्थिक ही थी।

इसके अतिरिक्त, जिन परिस्थितियो मे चीन व जापान की संस्कृतियों का विकास हुआ था, उनका प्रभाव उन नये विचारो, संस्थाओं, यांत्रिक वस्तुओं की बाढ़ के प्रति हुई प्रतिक्रिया पर भी हुआ जो विदेशी व्यापारी, धर्म-प्रचारक व राज-नयिक अधिकारियो के द्वारा आ रही थी। चीनी संस्कृति पूरी तरह देशज थी।

बौद्ध प्रभाव को छोड़कर उस संस्कृति पर जो विदेशी प्रभाव पड़े थे, वे नगण्य थे। विदेशी प्रभाव से उन्मुक्त व प्रतिरक्षित होने के कारण चीन में सांस्कृतिक श्रेष्ठता की भावना के कारण शिक्षित वर्ग भी यह समझने या स्वीकार करने मे अक्षम हो चुका था कि यूरोप की अपेक्षा चीनी साम्राज्य आर्थिक व राजनीतिक दृष्टि से बहुत पिछडा हुआ था। दूसरी ओर जापानी सस्कृति के अनेक तत्त्व बाहर से आये व स्वीकार किये हुए थे। निश्चय ही, जापान ने इन बाहरी तत्त्वों का परिष्कार व सुधार भी किया था। किन्तु ध्यान देने की बात यह है कि जापान ने अपनी सांस्कृतिक कमियों को स्वीकार करने और उन्हें बाहरी तत्त्वो से पूरा करने से कभी अनिच्छा प्रकट नही की। उसका शिल्प व कला, (शिन्तोवाद छोड़कर) धर्म, प्रशासकीय सिद्धान्त, दर्शन-प्रणाली, लिपि—सभी या तो महाद्वीप से प्राप्त हुई थीं या महाद्वीप में प्रचलित विचारो के अनुरूप उनमें सुधार किया गया था। जापान के लिए उपयोगी विदेशी विचारो व प्रथाओं को अंगीकार करने मे व दूसरों की अनुकृति मे जापान को कोई मौलिक घृणा का आभास नही होता था। आधुनिक युग में केवल इतना अंतर आया था कि इन उपलब्धियों का स्रोत बदल गया था।

इन देशो मे जो दूसरा महत्त्वपूर्ण अतर था, जापान में शासक व शासित का स्पष्ट भेद होना, जिसके कारण जापान विदेशी विचारो आदि को चीन की अपेक्षा अधिक तत्परता से स्वीकार कर लेता था। जापान में सत्ता की आज्ञाकारिता की प्रवृत्ति बहुत विकसित थी, इसलिए, एक बार मार्ग निश्चित कर चुकने पर जापानी नेता बहुत जल्दी जनता को अपने साथ उस मार्ग पर ले चलते थे। इस संबंध में तीन बाते ध्यान देने की है—(१) पुनस्संस्थापना के पहले और बाद के संघर्षों में अत्यन्त योग्य नेताओ का जन्म हुआ; (२) पुनस्संस्थापना तथा उसके द्वारा शासन की बागडोर अपने हाथों में लेने के बाद इन नेताओं ने पश्चिम के देशों से खुलकर संपर्क बढ़ाया और जापान को सशक्त बनाने के लिए पश्चिम के विचारो आदि का खुलकर उपयोग करने का संकल्प किया, और (३) आज्ञापालन के सामन्ती कर्त्तव्य की जनता द्वारा स्वीकृति के कारण शासको के लिए अपना कार्यक्रम लागू करना आसान हो गया; अन्यत्र किसी व्यक्तिवादी समाज में यह इतनी जल्दी संभव नही हो सकता था।

दूसरी ओर चीन में ऐसा नेतृत्व नही था, जिसे राष्ट्र स्वीकार करता और जिसमें राज्य के पुनस्संगठन व परिवर्तन के कार्यक्रम लागू करने की क्षमता होती। राजवंश विदेशी था और उसे जनता का वह सहयोग व समर्थन प्राप्त भी नहीं हो सकता था, जो सन् १८६७ के बाद जापान के राजवश को प्राप्त हुआ। उन्नीसवीं

शताब्दी में चीन में जो नेता थे, वे राज्य की निर्बलता कभी स्वीकार नही करते थे, आधुनिक अर्थ में चीन का असली पिछड़ापन समझ ही नही पाते थे और इसीलिए सन् १९०० के बाद तक वे परिवर्तन का कोई व्यापक कार्यक्रम नहीं चला पाये। जापान के शासको ने जो किया, चीनी शासक वह करने का प्रयास भी करते तो उन्हे जापान की अपेक्षा बहुत अधिक कठिनाई का सामना करना पडता, क्योकि चीनी जनता अत्यधिक व्यक्तिवादी थी। जापान में शासकीय निर्देशन को स्वीकार करने की जो प्रवृत्ति थी, चीन में उसके बिलकुल विपरीत स्थिति थी। शासक-समुदाय जनता से पृथक्, ईश्वर से शासन का अधिकार प्राप्त, अलग वर्ग नहीं था। दूसरे शब्दो में, सत्ता की परंपरा का उतना ही बड़ा अभाव था, जितना कि जापान में परिलक्षित निष्ठा के उत्तराधिकार के अस्तित्व का। यदि शिक्षित-वर्ग मे सास्कृतिक श्रेष्ठता की भावना न भी होती तो भी, उसे जनता की कार्यप्रणाली व विचारो की लीक से निकालने में बडी कठिनाई होती; इसका एक ही उपाय था और वह था शिक्षा-प्रसार का धीमा तरीका व उदाहरण से जनता को परिवर्तन के लाभ बताने का तरीका।

फिर, राजनीतिक दृष्टिकोण से, जापान की प्राचीन प्रणाली और अब राज्य कहलाने वाले न्याय-सैनिक समाज के बीच बहुत अतर भी नही था। जापान मे जनतंत्र के सिद्धांत समझाने और अपनाने में तो अवश्य देर लगी, किंतु पूर्ण एकता वाले राजनीतिक समाज की स्थापना अपेक्षतया सरल कार्य था। किंतु राजनीतिक दृष्टि से चीन अनाकार या स्वरूपहीन था। जैसा कि बताया जा चुका है, चीन का प्रशासन संकलित या एकीकृत था और अधिकारी परीक्षा द्वारा छाँटे जाते थे। किंतु चीनी समाज से इस प्रशासकीय संगठन का बहुत कम संबंध था। अतएव सर्व-सामर्थ्यवान राज्य की कल्पना चीन को जितनी विदेशी लगती थी, उतनी जापान को नहीं। चीन का समाज मूलत: राजनीतिक नहीं सांस्कृतिक समाज था, जब कि जापान में राजनीतिक दृष्टि से संगठित सत्ता का कार्य अधिक विकसित था।

अंततः, पश्चिम की पूर्व पर श्रेष्ठता का तब सबसे अधिक स्पष्ट प्रमाण सामरिक यंत्र-तंत्र थे। जापान जैसे युद्ध-प्रिय देश के लिए यह श्रेष्ठता तत्काल प्रकट थी और इससे उतनी ही श्रेष्ठ आर्थिक व्यवस्था लागू होने में सहायता मिली। एक ऐसे सामन्ती देश में जहाँ सामुराई जैसे योद्धाओ को सम्मान व प्रतिष्ठा मिलती थी; यह स्वाभाविक भी था। किंतु चीन को यह समझने में समय लगा कि पश्चिम के देश विकसित हैं, क्योंकि उनका सामरिक तंत्र श्रेष्ठ है। एक ऐसे देश के लिए जहाँ पेशेवर सैनिक समाज के निम्नतम स्तर पर रहते थे, यह स्वाभाविक भी था। कागो-

शीमा व शिमोनोसेकी पर हुई गोलाबारी से जापान की आँखें एकदम खुल गयीं, किंतु इसी प्रकार की और इनसे बहुत बड़ी-बड़ी अनेक घटनाओ से चीन की केवल यही धारणा पुष्ट हुई कि विदेशी बर्बर या जंगली है। चूँकि विभिन्न देशो के बीच श्रेष्ठता या समता की परीक्षा सैन्य-शक्ति से ही होती थी। जापान फौरन अपनी शस्त्र-सज्जा करने लगा, अपनी सैन्य-शक्ति का उसने प्रदर्शन किया और 'पिछड़े' देशो की पंक्ति से वह हट आया। यद्यपि देश के उत्तरोत्तर आधुनिक बनाने की प्रक्रिया तथा सैनिक-शक्ति बढ़ाने का काम साथ-साथ ही चला, जापान को सशक्त राष्ट्रों की पंक्ति में बैठने का सम्मान सैनिक-शक्ति के प्रदर्शन से ही प्राप्त हुआ, देश के आधुनिकीकरण से नही।

ऊपर लिखित सभी कारणों से जापान की अपेक्षा चीन के विकास मे अधिक समय लगा और उसकी गति बहुत धीमी रही। पहली संधि पर हस्ताक्षर होने के १५ वर्ष के भीतर जापान आधुनिक बनने को तैयार हो चुका था, जब कि अपना दृष्टिकोण बदलने में चीन को ६० से अधिक वर्ष लगे। तब मंचू शासको ने वह करना शुरू किया, जो जापान सन् १८६८ में ही शासन के क्षेत्र में कर चुका था। मंचू-शासको ने राजनीतिक सुधारो का एक ऐसा कार्यक्रम बनाया, जिससे ऐसा संवैधानिक ढाँचा स्थापित किया जा सके, जिसमे राजतंत्र अक्षुण्ण रहे। जहाँ जापान सफल हुआ था, वही चीन असफल हुआ और इसका एक कारण यह भी था कि चीन ने यह कदम उठाने मे बहुत देर कर दी थी; अन्य वे ही मौलिक चीन व जापान के भेद थे, जिनके कारण यह असफलता हुई। इसके अतिरिक्त चीन ने आर्थिक परिवर्तनो के लिए कोई वैसा व्यापक कार्यक्रम नही तैयार किया था जैसा कि जापान ने किया था; चीन ने केवल उन रेलमार्गों के विकास का कार्यक्रम बनाया था; जो शुरू में लाद दिये गये थे और विदेशी सुझाव पर ही उसने मुद्रा-सुधार की बात भी सोची थी।

किंतु गणतंत्र की स्थापना के बाद पश्चिमी देशो के अनुरूप चीन ने जापान से अधिक राजनीतिक प्रगति कर ली। दोनो देशो ने ही शासन-संचालन के लिए लिखित रूप मे संवैधानिकता स्वीकार की थी। चीन ने संवैधानिक प्रयोग सन् १९११ के बाद शुरू किये थे, ताकि जनता की इच्छा पर आधारित राजनीतिक संस्थाएँ निर्मित हो सकें, जबकि जापानी संविधान में व्यवस्था की गयी थी कि वंशपरंपरानुगत, उत्तराधिकारस्वरूप प्राप्त 'ईश्वरीय आज्ञा' से बने शासक की इच्छा सुचारु रूप से लागू हो सके। अतएव पश्चिम की राजनीतिक धारणाओं को स्वीकार कर जापान ने जब पुनस्संगठन किया तब उसने सत्ता के स्रोत-संबंधी कोई ऐसी धारणा

नहीं अपनायी, जो देश की धारणा से बहुत भिन्न रही हो। अतएव यह मानना होगा कि जापान की संवैधानिकता की अपेक्षा चीन अपने गणतत्रीय प्रयोग को देश की परंपरागत शासकीय धारणाओ से बहुत आगे तक ले गया।

इस तथ्य मे भी जापान के राजनीतिक जीवन के पुनर्गठन की तीव्र गति का रहस्य छिपा है; जापान में राजनीतिक स्थायित्व बहुत शीघ्र आ गया था, यद्यपि लगता यही था कि उसने भी पश्चिम की संवैधानिक प्रणाली अपनायी है, जब कि चीन में स्थायित्व की ओर बढ़ने में भी बहुत समय लगा। जापान में पुरानी सस्थाओ की नीव पर, पुरानी इमारत का ही काफी भाग कायम रखकर, कुछ जोड़-जाड़ कर नया रंग कर दिया गया था। इसके विपरीत चीन में देश के सस्थागत जीवन की नींव तक आदोलन पहुँच चुका था। गणतंत्र की स्थापना द्वारा अतीत से संबंध-विच्छेद का आन्दोलन सन् १९११ के पहले से ही चला हुआ था और समाज मे एक ठोस रचनात्मक शक्ति के रूप मे शासनतत्र की कल्पना भी धीरे-धीरे जनता तक पहुँचती रही थी। इस आन्दोलन की व्यापकता व प्रसार मंचू राजवंश व एकतंत्र समाप्त करने के सीमित उद्देश्यो से बहुत अधिक था। यह समझना गलत होगा कि चीन में संघर्ष बिना ही परंपरा ने हार स्वीकार कर ली थी। इसके विपरीत, इस संघर्ष के कारण ही परिवर्तन की जड़े समाज में गहरी बैठने लगी थीं; यदि सन् १९११ में ही नयी शक्तियो को तत्काल पूर्ण सफलता मिल गयी होती तो आंदोलन गहरा न पैठता। जिस शासन को स्थापित करने में उनका हाथ था, उसका नियंत्रण करने में असफलता के कारण ही सुन यात-सेन व कुओमिनतांग में उनके अनुयायी क्रांति-पथ पर अग्रसर होते गये और अंत में पश्चिमी प्रणाली का गणतंत्र लक्ष्य बन गया और सुन यात सेन-वाद पीछे पड़ गया। राज-नीतिक संगठन व प्रक्रिया मे नये कार्यक्रम में परंपरा व अर्वाचीन के समन्वय का प्रयास अवश्य हुआ था, किन्तु अधिकांशत, गणतंत्र की स्थापना के बाद वर्षों के अनुभव के आधार पर एक नयी दिशा में प्रयाण ही अधिक परिलक्षित था। इन दोनों बातो में ही पश्चिम के उपयुक्त अनुभव व विचारो की जगह चीन के ही अनुभव व विचारों के उपयोग की इच्छा अवश्य विद्यमान थी। किन्तु नये आंदोलन पर रूसी क्रांति के बाद पश्चिम में चली क्रातिकारी धाराओं का प्रभाव पड़ चुका था। इस प्रकार सन्१९३१ का चीन, राष्ट्रीय आंदोलन के प्रारम्भ के युग की अपेक्षा पश्चिम की विचारधारा से अधिक प्रभावित हो चुका था।

पहली क्रांति के बाद राजनीतिक सत्ता जिन सैनिक-नेताओ के हाथो में पहुँच चुकी थी, वही अब भी कायम थी। किन्तु यह भी मंचू-शासन के समय से काफी

महत्त्वपूर्ण परिवर्तन की प्रतीक थी, क्योंकि इससे सेना के प्रति पुराना दृष्टिकोण बदल गया था। नागरिक-सत्ता पर सैन्य-सत्ता का नियंत्रण जापान मे परपरागत होने के कारण अधिक स्थायी था, किन्तु चीन मे यह क्रातिकारी परिस्थितियो से उत्पन्न हुआ था और अतीत में इसकी कोई जडें नही थीं। देश के भीतर सत्ता के लिए सघर्ष और देश पर पश्चिम के राष्ट्रो और फिर जापान के लगातार दबाव के कारण चीन की विचारधारा में शक्तिपुज के रूप मे राज्य की कल्पना तेजी से घर करने लगी थी। किन्तु व्यवहारत' स्थापित होते हुए भी सैन्यै-शक्ति की सत्ता का स्वाभाविक आधार चीन ने सिद्धान्तः कभी स्वीकार नही किया था। अत' सैनिक शासन कायम रहने के बावजूद, राजनीतिक विकास की धारणा का आधार युद्धपूर्व के पश्चिमी दृष्टिकोण द्वारा समर्थित यही परपरागत विचार बना हुआ था, कि सैनिक शक्ति नागरिक शक्ति के अधीन रह कर उसके निर्देशन पर कार्य करे। कैण्टन, नानकिंग व अन्य क्षेत्रो मे लगातार चलनेवाले संघर्षों तथा चीनी राजनीति की अराजकता व विशृखलता को इस आधार पर नही समझा जा सकता, कि वह नागरिक सत्ता व सैनिक सत्ता के बीच की खाई के कारण था और न यह केवल सैनिक नेताओ की अपनी ईर्ष्या के ही कारण था। इसका एक बड़ा कारण सत्ता ग्रहण करने के बाद वर्ग, भाग या व्यक्ति के हित मे उसके उपयोग के संबध में गहरे मतभेद थे।

नये विचारो के कारण जो खाईयाँ चीन में बन गयी थी, उनकी अभिव्यक्ति जापानी राजनीति में कभी नही होने दी गयी थी। सम्राट् के हस्तक्षेप से अनेक मतभेद व संघर्ष बच गये थे। सत्ता के लिए संघर्षशील सभी वर्ग सम्राट् की अतिम सत्ता में निष्ठा रखते थे। इस प्रकार वहाँ राजनीतिक सत्ता में स्थायित्व आ गया था और नयी शक्तियों को आर्थिक व अन्य क्षेत्रो मे विघटनकारी प्रभाव नही डालने दिया गया था।

आंतरिक व अंतरराष्ट्रीय दृष्टिकोणो से चीन व जापान के बीच एक महत्त्वपूर्ण अंतर यह था कि उन्नीसवी शताब्दी की सधि-प्रणाली से चीन को सन् १९३१ मे जाकर लगभग पूर्ण छुटकारा मिला था, जबकि जापान इससे उन्नीसवीं शताब्दी के अंतिम दशक में ही छुटकारा पा चुका था; इस प्रकार यह अंतर कानूनी व राजनीतिक था। चीन राजनीतिक एकता व प्रभावकारी संगठन के लिए तब भी प्रयत्नशील था, जबकि जापान में सन् १८९४ में ही सुगठित संस्थाएँ बन चुकी थी। सन् १९३१ में यह संदिग्ध था, कि चीन अपने पूरे क्षेत्र में विदेशियो के जान-माल की सुरक्षा की जिम्मेदारी ले सकता था जबकि जापान संधियो का जुआ उतारते ही

संतोषजनक सुरक्षा-व्यवस्था स्थापित कर चुका था। जापान ने आधुनिक कानून बनाये थे और वहाँ आधुनिक न्याय-व्यवस्था कायम थी; चीन ने भी अनेक अदालते स्थापित की थी और कानून बनाये थे, किन्तु राजनीतिक उथल-पुथल के कारण सारे देश में ये कानून लागू नहीं हो पा रहे थे। सीमाएँ सकुचित होने के बाद भी चीन का क्षेत्र इतना विशाल था, कि सभी स्तरो पर काफी संख्या में आधुनिक अदालतें स्थापित करने मे काफी समय लगता।

अतएव चीन में इस दिशा में प्रगति होने के बाद भी यह स्वीकार करना होगा, कि जापान में जो राजनीतिक स्थायित्व सन् १८९४ में आ गया था उस सीमा तक पहुँचे बिना ही और नयी न्याय-व्यवस्था पूरी तरह कायम किये बिना ही सन् १९३१ तक चीन ने संधियों का पुनरीक्षण करवा लिया था। इसका एक कारण था चीनी राष्ट्रीयता की उग्र दृढ़ता और दूसरा था अपने सिद्धान्तों के विरुद्ध किसी स्थिति को कायम रखने के लिए काफी बल प्रयोग करने में विदेशी शक्तियो की अनिच्छा; इन्हीं कारणो से चीन पुरानी संधि-प्रणाली बदलवाने में सफल हो गया था यद्यपि अमरीका, ब्रिटेन, फ्रांस व जापान चीनी में अपने राज्यक्षेत्रातीतता के अधिकार अस्थायी रूप से कायम रखे हुए थे। यह माना जा सकता था कि अपनी क्षेत्रीय अविच्छिन्नता पर होने वाले हमलों के खिलाफ यदि चीन टिक सका, तो वह राष्ट्रों के समाज में पूर्ण प्रभुतासंपन्न सदस्य की हैसियत से शीघ्र ही शामिल हो जायगा। महत्त्वपूर्ण बात यह थी कि आंतरिकअशांति तथा संधियों द्वारा लागू सीमाओं के बावजूद चीन राष्ट्रसंघ बनने के समय से ही उसका सदस्य था और बहुधा चुनाव द्वारा उसकी परिषद् का भी सदस्य हो जाता था।

## (३) सुदूर पूर्व का आर्थिक विकास

जापान में जो आर्थिक परिवर्तन ५० वर्ष में ही प्रकट हो चुके थे उन्हें अपने यहाँ लाने में चीन को पहली संधि के बाद ९० वर्ष लगे। इनमें से कुछ परिवर्तन ऐसे थे, जो सन् १९३१ तक भी चीन के कुछ केन्द्रों तक ही सीमित थे और वहाँ भी विदेशियो की काररवाइयो के फलस्वरूप ही आये थे। इसके विपरीत पूरा का पूरा जापान ५० वर्ष के भीतर ही बदलने लगा था और इस परिवर्तन के पीछे विदेशियो की नहीं स्वयं जापान की ही प्रेरणा थी। विदेशी अधिकांशत: पृष्ठभूमि में पड़ गये थे। अपने आर्थिक जीवन को विदेशी प्रभाव से मुक्त करने की दिशा में चीन की अपेक्षा जापान की प्रगति बहुत अधिक थी। चीन में यही प्रवृत्तियाँ सन् १९२८ में प्रकट हुईं। तब भी सन् १९३१ में विदेशी चीन के आर्थिक जीवन पर उस सीमा से कहीं अधिक हावी थे, जो रूस-जापान युद्ध के बाद जापान में थी। चीन के

आर्थिक जीवन में विदेशियो का भाग लेना कायम था और उसकी राशि बढ़ भी रही थी किन्तु, भाग लेने की शर्ते उसी तरह बदलने लगी थी, जैसे वे जापान में बदल चुकी थीं। यह प्रगति बड़ी न होने पर भी महत्त्वपूर्ण थी। आर्थिक दृष्टिकोण से दोनों देश नयी दुनिया को समझने लगे थे और प्राचीन व्यवस्था बदल कर नयी व्यवस्था बनाने के सक्रमण काल मे थे।

व्यापार-संबंधी जो आँकड़े ऊपर दूसरे संदर्भ मे लिये जा चुके है, उनसे स्थिति पूरी तरह स्पष्ट नही होती। पश्चिम के औद्योगिक देशो की चीन, जापान व औद्योगिक दृष्टि से पिछड़े देशो में दिलचस्पी उन्नीसवी शताब्दी के अंत तक मुख्यतः बाजारों की दृष्टि से ही रह गयी थी। पश्चिम के यंत्रो के बढ़ते उत्पादन के फलस्वरूप एशिया की उपज प्राप्त करने की जगह अब मुख्य दिलचस्पी वहाँ अपना सामान बेचने में थी। कालान्तर मे स्वयं यंत्र ही निर्यात की वस्तु बन गये और पश्चिमी संरक्षण से पूर्व वह सामान स्वयं अधिकाधिक मात्रा मे बनाने लगा, जो पहले पश्चिम से आता था। जैसा पहले जापान में हो चुका था, भारत व चीन में करघों व तकुओ की सख्या बढ़ने लगी। औद्योगिक उत्पादन के अन्य क्षेत्रो मे भी यही हुआ। जिस तरह पश्चिमी जगत् मे ब्रिटेन औद्योगिक दृष्टि से सबसे पहले आगे बढ आया था उसी तरह पूर्वी जगत् मे जापान सबसे आगे बढ़ गया था। किन्तु, सन् १९३१ तक पूर्व के अन्य देश भी अपनी आवश्यकता की वस्तुएँ स्वय बनाने लगे थे। इस सबसे व्यापारिक संबधो का स्वरूप भर बदल गया था और पश्चिम के देशो की इन देशो मे आर्थिक शक्ति कम नही हुई थी। कुछ देशी उद्योगपतियों को तो पश्चिम से पूँजी उधार मिल गयी थी, जिससे उन्होने पश्चिम से उत्पादनयंत्र खरीदे थे, किन्तु अधिकाशत. और बढती मात्रा मे पश्चिम के ही उद्योगपतियों ने पूर्व के देशों में आकर अपने कारखाने लगा लिये थे, जिससे वे स्थानीय आवश्यकताओं की पूर्ति के लिए सामान वही बनाने लगे थे। इन सबसे पूर्व-पश्चिम संबंधो में संशोधन तो हुआ, किन्तु मौलिक परिवर्तन नही हुआ। एक तरह से पूर्व अब भी पश्चिम का करदाता था।

विचाराधीन युग के अंत तक पूर्व व पश्चिम का संतुलन मूलतः बिगाड़े बिना भी पूर्वीय देशो के औद्योगीकरण से एक अन्य प्रकार से भी व्यापार का स्वरूप बदला था। कपड़ा जैसा उपभोक्ताओ का सामान बेचने की जगह पश्चिम के औद्योगिक राज्य बिनाई-कताई की मशीने बेचते थे और इस प्रकार जबकि एक प्रकार की वस्तुओं का बाजार संकुचित होता जा रहा था, उसके साथ ही दूसरी तरह के माल के लिए बाजार बढ़ता जा रहा था। पूर्व के देशों ने मशीनें बनाने के भारी उद्योग

स्थापित नहीं किये थे, इससे विनिमय का परिवर्तित आधार उपलब्ध था। किन्तु इसके अतिरिक्त बीसवी शताब्दी के तीसरे दशक के अंत तक चीन व जापान में उन वस्तुओ को पैदा करने की क्षमता और संकल्प प्रकट होने लगे थे, जिनके लिए पश्चिम के व्यापारियो ने माँग पैदा की थी, ताकि देश के भीतर उत्पादित वस्तुओ के लिए बाजार प्राप्त हो सके। पूर्व के औद्योगिक विकास के साथ पहले का आर्थिक परावलम्बन समाप्त हो रहा था, क्योंकि अपनी आर्थिक आवश्यकताओ की पूर्ति के लिए पूर्व के देश स्वयं ही अधिकाधिक सामान तैयार करने लगे थे।

इसके अतिरिक्त पूँजीवादी अर्थ-व्यवस्था कायम होने से चीन व जापान में पूँजी लगाने का स्वरूप बदलने लगा था। दोनों ही देशों में सन् १९३१ तक विशेष-रूप में जापान में, विकास तथा उद्योग में लगने के लिए देश के भीतर ही धन उपलब्ध कर लेने की क्षमता आ रही थी। उद्योगो के लिए और ऋणो के रूप में भी विदेशी पूँजी आवश्यक रही थी, किन्तु सरकार व विकासमान उद्योगों के लिए पूँजी के आंतरिक स्रोत पर निर्भरता बढती जा रही थी; यह पूंजी-बाजार पहले देश में था ही नहीं। चीन में आर्थिक व राजनीतिक संघर्ष का अखाड़ा बन रहा था। सन् १९०२ में ७८.७९ करोड़ अमरीकी डालर की विदेशी पूँजी लगी हुई थी, वह सन् १९३१ में बढ़कर ३२४.२५ करोड डालर हो गयी थी। यह विकास काफी बड़ा था, किन्तु साथ ही स्वयं चीन के आंतरिक साधनों से इससे भी बड़ी राशि उद्योगों में लग चुकी थी। इसके अतिरिक्त विदेशी पूँजी में जापान द्वारा चीन व मंचूरिया में लगायी गयी पूँजी भी शामिल थी। सन् १९०२ में जापान की चीन में लगी पूँजी नगण्य, केवल १० लाख डालर थी, किन्तु अगले ३० वर्षों में यह बढ़-कर ११.३६ करोड़ डालर हो गयी थी। चीन मे लगी कुल विदेशी पूँजी का यह ३५.१ प्रतिशत थी। इसका अधिकाश मचूरिया में लगा था, जो उस समय जापान की विशेष दिलचस्पी का क्षेत्र था। किन्तु पूँजी लगाने का यह काम महत्त्वपूर्ण था, क्योंकि सुदूरपूर्व का एक देश जापान, अब इस सीमा तक पूँजी निर्यात कर रहा था।

नये आर्थिक संबंधों को आँकने के लिए इससे भी अधिक महत्त्व की बात यह थी कि जो बाजार अभीतक पश्चिमी देशों की इजारेदारी समझे जाते थे, वहाँ अब जापान ने धावा बोल रखा था। पश्चिम के देशो मे जापान का कच्चा या अर्ध-निर्मित माल ही नही पहुँच रहा था, वह तो बहुत दिन से हो रहा था और पश्चिम के देश स्वयं यह माल अपने यहाँ मँगाते थे, सन् १९२० के बाद से जापान इन बाजारों में कपड़ा व बिजली का सामान जैसा कारखानों द्वारा उत्पन्न माल भी भेज रहा था और गंभीर प्रतियोगिता उत्पन्न हो चुकी थी। पहले तो यह प्रतियोगिता

भारत व मलाया जैसे एशिया के उन देशों मे तथा अफ्रीका के गैर-यूरोपीय क्षेत्रों में गंभीर रूप से प्रकट हुई, जिन्हे यूरोपीय देश अपने बाजार मानते थे। फिर यह माल पश्चिम के देशो के 'घरेलू' बाजारो में भी पहुँचने लगा। पूर्व व पश्चिम के संबंधो में व्यापार के ज्वार की इस प्रकार दिशा बदलना बहुत महत्त्वपूर्ण घटना थी।

सन् १९३१ तक व्यापार का ढग भी बदलने लगा था और उससे भी पश्चिम व सुदूरपूर्व के देशो के बीच नये सबधो की स्थापना और पूर्वस्थिति मे परिवर्तन प्रकट होते थे। पहले चीन व जापान से होने वाले आयात-निर्यात-व्यापार का काम विदेशी कंपनियाँ ही करती थी; अब प्रवृत्ति यही थी कि जितना अधिक हो सके विदेशी बिचवलिये से छुटकारा पाया जाय; इससे विदेशी आर्थिक प्रभाव या नियत्रण का क्षेत्र और भी कम हो गया था। जापानी व्यापारिक संस्थान भारत, श्याम, फिलिपीन द्वीप समूह, मलाया, सुदूरपूर्व के उपनिवेश तथा अमरीका व अन्य पश्चिमी देशो में अपने माल की बिक्री स्वयं जाकर करने लगे थे। पूर्व के देशो मे व्यापार बढाकर जापान ने चीनी व्यापारी की ही जगह ली थी, पश्चिम के व्यापारियो की नही। इसका अवसर तब आया, जब चीन व विदेश स्थित चीनी दूकानो ने जापानी माल का बहिष्कार करना शुरू किया। जापानी व्यापारियो को अपना निर्यात कायम रखने के लिए स्वय वितरण-व्यवस्था मे उतरना पड़ा। स्वय जापान मे आयात-व्यापार अधिकाधिक मात्रा मे जापानियो के हाथों मे आ रहा था और विदेशियों के हाथों से यह व्यापार निकल रहा था। यही बात चीन पर भी लागू थी, यद्यपि उसकी मात्रा अभी कम थी।

## (४) सुदूर पूर्व में राष्ट्रीयता

इस परिवर्तन की आर्थिक प्रेरणा बहुत सीमित थी ; अधिकांशतः यह राष्ट्रीयता की बढ़ती हुई भावना का परिणाम था। इसी प्रकार पश्चिम द्वारा स्थापित और उसी के धन से चलने वाली धार्मिक सस्थाओ के विदेशी नियत्रण की समाप्ति, विदेशियो द्वारा स्थापित तथा उन्ही के धन से परिचालित शिक्षा-संस्थाओ का कड़ाई से निरीक्षण तथा विदेशों द्वारा स्थापित लोकोपकारक सस्थाओं का राष्ट्रीयकरण चीन के लक्ष्य बन गये थे। जापान मे ये लक्ष्य प्राप्त भी किये जा चुके थे। अब यह इच्छा बन गयी थी कि विदेशी का उपयोग तो कर लिया जाय पर उसके उपयोग में न आया जाय।

चीन व जापान में राजनीतिक व आर्थिक क्षेत्र मे जो उग्र या दृढ़ राष्ट्रीयता प्रकट हुई, वह पश्चिमी संपर्क की ही धरोहर थी। कम से कम चीन मे तो राज्य की समता व सार्वभौमिकता का सिद्धान्त पश्चिम से ही लिया गया था। पश्चिम से आये

शिक्षकों, धर्म प्रचारकों तथा राजनयिक अधिकारियों के साथ ही राज्य की राष्ट्रीय व समशील सत्ता होने की पश्चिमी विचारधारा भी चीन पहुँची थी। शुरू में इस विचारधारा को अपनाने में झिझक दिखायी दी थी, किन्तु बीसवी शताब्दी के दूसरे दशक मे यह चीन के चिन्तन में बौद्धिक दृष्टि से आत्मसात् हो चुकी थी। दूसरे शब्दो में चीन की राष्ट्रीयता पहले तो उन राजनीतिक, आर्थिक व वित्तीय आक्रामक कारवाइयो के प्रति रक्षात्मक प्रतिक्रिया के रूप में प्रकट हुई, जिनसे चीन के अस्तित्व को ही खतरा पैदा हो गया था; किन्तु सन् १९३१ तक यह राष्ट्रीयता चीन की चेतना मे व्याप्त हो चुकी थी, जिसका विशिष्ट आक्रामक कारवाइयो से ही सबध नही रह गया था। एक संकटापन्न स्थिति से सुरक्षा की भावना के स्थान पर अब खोये हुए 'राष्ट्रीय' अधिकारों को वापस लेने के लिए आक्रमण की भावना आ गयी थी; विचारो की यह धारा सन् १९२५ व सन् १९३१ के बीच पलटी थी। किन्तु, यह एक विदेशी धारणा ही थी, जो चीन मे आदोलन के रूप में प्रकट हुई—चाहे उस आंदोलन का स्वरूप रक्षात्मक रहा हो या आक्रामक।

इसके विपरीत राज्यसत्ता-सबंधी राष्ट्रीयता का पश्चिमी दर्शन-पुनस्सस्थापना के पूर्व के जापान की विचारधारा से पूरी तरह मेल खाता था। शब्दावली भले ही नयी रही हो और विदेशों से आयी हो, पर विचारधारा विदेशी नही थी। इस प्रकार, चीन की अपेक्षा जापान महायुद्ध से पूर्व के सार्वभौम राष्ट्रीय राज्यो के अतरराष्ट्रीय समाज में शामिल होने के लिए पहले से ही तैयार था।

दूसरी ओर, चीन ने जब पश्चिमी जगत् के राष्ट्रीयता के दर्शन को स्वीकार करना शुरू किया, तब तक राष्ट्रसंघ की स्थापना कर पश्चिम इस दर्शन से हट चुका था। कुछ समय तक धारा उग्र राष्ट्रीयता से अंतरराष्ट्रीयता की ओर बहती रही। उन्नीसवी शताब्दी के दूसरे दशक के अंतरराष्ट्रीयता तथा अंतरराष्ट्रीय संबंधों में सैन्यवाद के उन्मूलन के नये दर्शन को चीन में, जापान की अपेक्षा अधिक पूर्ण और अधिक शीघ्रता पूर्वक स्वीकृति मिल गयी; जापान में पश्चिमी राज्यों की भाँति व्यवहार व विचार सबधी अनेक विरोधाभास प्रकट हुए। जहाँ तक चीन का सबंध था, इस स्वीकृति के दो बड़े आधार थे। एक तो इस नये दर्शन में तथा पश्चिमी सम्पर्क से पूर्व जो चीनी दर्शन था उसमें बड़ा साम्य था। विशेषतः चीनी विद्वान् विदेशो से लायी गयी प्रतियोगितामूलक राष्ट्रीयता को स्वीकार नही कर पाते थे, पर इस नयी विचारधारा को वह प्रसन्नतापूर्वक स्वीकार कर रहे थे। परस्पर-विरोधी हितों व उनसे उत्पन्न विवादों को आपसी समझौतों द्वारा शांतिपूर्वक हल करने की बात चीन की मौलिक विचारधारा से अधिक मेल

खाती थी, युद्ध तक पहुँचाने वाला संघर्ष का दर्शन उसके लिए विदेशी था। दूसरे, चीन बड़ा होते हुए भी राष्ट्रीय शक्ति के रूप मे दुर्बल व पिछडा हुआ देश था। ऐसे राज्य को अपना अस्तित्व कायम रखने के लिए शातिपूर्ण समझौते का वह नया ढंग अधिक पसन्द था, जो महायुद्ध के पहले प्राप्त नही था। चीन ने सन् १९१४ के पहले भी अपने अस्तित्व के बचाव के लिए अंतरराष्ट्रीय कारखाई का आश्रय लेने का प्रयास किया था। उदाहरण के लिए चीन स्वय इतनी शक्ति संचित कर लेने की जगह एक देश को दूसरे के विरुद्ध उभारना अधिक पसन्द करता था, जिससे वह न्याय की अपनी धारणा को मूर्त्त रूप दे सकता। परिस्थितियो के अतर को ध्यान में रखा जाय, तो राष्ट्रसघ द्वारा अपनाये गये ढग इससे बहुत भिन्न नहीं थे। किन्तु जापान में स्थिति इसके बिलकुल विपरीत थी। वहाँ राष्ट्रीयता देशी थी और अंतरराष्ट्रीयता विदेशी और अन्तरराष्ट्रीयता को आत्मसात् करने मे उस देश को बड़ी कठिनाई थी।

अतएव जापान के लिए यह स्वाभाविक ही था, कि सन् १९३१ मे नयी अतर राष्ट्रीयता का बहिष्कार कर राष्ट्रीयता के पुराने सिद्धान्त के ढग को अपना ले। उस वर्ष तथा उसके बाद की जापानी कारखाइयों को उद्योगीकरण व बढती हुई जन-सख्या की समस्याओं के आर्थिक दबावों के सन्दर्भ मे समझाने की प्रवृत्ति है; ये समस्याएँ भी जापान के पश्चिमी सपर्क की ही धरोहर थी, किन्तु उसकी कारर-वाइयाँ समझने के लिए गहरे जाना होगा। यह सही है, कि जापान की जनसंख्या अधिक थी और उसके आर्थिक साधन सीमित थे; यह भी सही है कि मचूरिया में उसके हित व अधिकार थे, जो चीन की नीतियो से संकट में पड़ रहे थे, किन्तु यह भी सही है, कि जापान ने अपने वैध हितो की रक्षा के लिए शक्ति-प्रयोग के पूर्व नयी स्थापित अतरराष्ट्रीय सस्थाओं की सहायता प्राप्त करने का प्रयत्न नही किया। यह भी सही है, कि चीन द्वारा अंतरराष्ट्रीय सस्था की सहायता लिये जाने पर एक ऐसे समझौते का प्रस्ताव आया,[१] जिससे जापान के मूल दावे व घोषित आवश्यकताएँ पूरी हो जाती, किन्तु जापान ने इस समझौते को ठुकरा दिया। इस समझौते को अस्वीकार करने के साथ ही जापान राष्ट्रसघ से हट गया। प्रसारवादी राष्ट्रीय राज्य के परपरागत ढग जापान ने अपनाये, क्योकि वहाँ की प्रभावी विचारधारा राष्ट्रीयता की थी, अतरराष्ट्रीयता की नही।

दूसरी ओर चीन में जापान द्वारा मंचूरिया में की गयी कारखाई के संबध में पहली प्रतिक्रिया यही हुई, कि पश्चिम व अंतरराष्ट्रीय संस्थाओ को इस मामले के बीच में डाला जाय। सैनिक शक्ति दृष्टि से इस प्रतिक्रिया को प्रतिरोध-क्षमता

में कमी के रूप में भी देखा जा सकता है और कहा जा सकता है, एक सशक्त राज्य का मुकाबला करने मे निर्बल राज्य की यही प्रतिक्रिया होती है; किन्तु इस प्रतिक्रिया को पूरी तरह और सन्तोषजनक ढंग से समझने के लिए और व्यापक दृष्टि से देखना होगा। नानकिंग शासन की प्रतिरोधहीन नीति का समर्थन उन सभी राज्यो मे हुआ, जो या तो स्वभावत: ही राष्ट्रसघ के प्रतिज्ञा-पत्र के सिद्धान्तो का समर्थन करते थे या जो देश रक्षा के लिए एक देश को दूसरे देश के विरुद्ध उभारने का ढंग अपनाते रहते थे। जो भी हो, सुदूरपूर्व में यथास्थिति कायम रखने के लिए पश्चिम की शक्ति के उपयोग की इच्छा प्रकट हुई। इस प्रकार एक ओर जापान सुदूरपूर्व के प्रश्न को हल करने के लिए पश्चिम के हस्तक्षेप को मूलत: अस्वीकार करता रहा और दूसरी ओर चीन इस विशिष्ट प्रश्न को हल कराने के लिए उन पश्चिमी देशों की सहायता चाहता था, जो अब तक सुदूरपूर्व में प्रबल थे। इस स्थिति में 'मंचूकुओ' के स्वतत्र राज्य की सफल स्थापना के दो परिणाम निकले। एक ओर यूरोप से आयी अन्तरराष्ट्रीयता की नयी शक्ति की अन्तरराष्ट्रीय संबंधों मे निर्बलता सिद्ध होने से चीन राष्ट्रीय शक्ति के राष्ट्रीय आधार को स्वीकार करने को बाध्य हुआ; दूसरी ओर, जापान यह समझ गया कि आधुनिक युग में वह यूरोप की परवाह किये बिना आगे कदम बढ़ा सकता है।

## (५) सुदूर पूर्व के शक्ति-संबंध

वस्तुस्थिति यह है, कि सन् १९३१ तक सुदूरपूर्व में शक्ति-सन्तुलन बदल चुका था। शक्ति, पूर्ण निरपेक्ष नही सापेक्ष धारणा है और आपेक्षित रूप मे ही वह आँकी जाती है। किसी देश की सैनिक या नौ-सैनिक शक्ति-स्थायी बनी रहे और दूसरे किसी देश की इस बीच में सैन्य शक्ति बहुत अधिक विकसित हो जाय, तो निष्कर्ष यही निकाला जायगा कि पहले देश की शक्ति क्षीण हो गयी या वह निर्बल हो गया। इस दृष्टिकोण से शक्ति-राजनीति में जापान की सैन्य-शक्ति बढ़ने से अन्य राष्ट्र निर्बल हो गये थे। सन् १८९५ मे यूरोपीय राष्ट्रो की हस्तक्षेप की धमकी भर से जापान शिमोनोवे की संधि की शर्तें बदलने को बाध्य हो गया था। उस समय जापान अधिक से अधिक तीसरे दर्जे की शक्ति था। दस वर्ष बाद रूस से सफल टक्कर लेकर जापान शक्ति-स्तर पर बहुत ऊँचा चढ़ आया था, यद्यपि यह सफलता आंग्ल-जापानी समझौते और अमरीका के मैत्रीपूर्ण संबंधों के कारण ही संभव हुई थी। सन् १९१४ व सन् १९१८ के बीच यूरोप के देश महायुद्ध में अपनी सैनिक-शक्ति व्यय कर चुके थे, जबकि जापान की जल-थल सैन्य-शक्ति अक्षुण्ण थी। इस बीच वह एशिया महाद्वीप पर अपनी आर्थिक व राजनीतिक स्थिति भी मजबूत कर

चुका था। वाशिंगटन-सम्मेलन में नौसैनिक अनुपात मे जापान की शक्तिशाली स्थिति स्पष्ट हो गयी थी। अमरीका, ब्रिटेन व जापान ने वहाँ यह सिद्धान्त स्वीकार किया था, कि शक्ति का अनुपात ऐसा हो कि हर देश अपने क्षेत्र में किसी एक देश के हमले की स्थिति में सुरक्षित रहे। सम्मेलन के चीन-संबधी प्रस्तावो मे तो जापान को राजनीतिक दृष्टि से पीछे हटना पड़ा था, किन्तु नौसेना-अनुपात तथा किले-बन्दी-विरोधी समझौतो से जापान अपने साम्राज्यवादी हित-क्षेत्रो मे पूर्ववत् छाया रहा था। इस प्रकार शक्ति की दृष्टि से जापान यूरोपीय राज्यो की अपेक्षा लगातार आगे बढ रहा था। इसका अर्थ था कि पश्चिम लगातार धीरे-धीरे (अकस्मात् नही) सुदूरपूर्व की घटनाओ के नियन्त्रण व निर्देशन को खोता जा रहा था। जापान के शक्ति के रूप में उदय की कथा इस भाँति पश्चिम के सुदूरपूर्व मे आपेक्षिक अस्त होने की कथा भी है। बीसवी शताब्दी के आरम्भ में जापान कोरिया व मचूरिया-संबंधी अपनी नीतियाँ केवल पश्चिमी देशो की सहमति से ही कार्यान्वित कर पाता था, किन्तु सन् १९३१ में जापान को नियन्त्रित रखने के लिए पश्चिमी देशो का संयुक्त, सामूहिक प्रतिरोध आवश्यक हो चुका था।

इस बात का, कि बीसवी शताब्दी के पहले तीस वर्षों में जापान पश्चिमी देशों की तुलना में अपनी शक्ति लगातार बढा रहा था, एक अपवाद भी था। यह अपवाद अमरीका का था, यद्यपि यह वास्तविक कम था दिखाऊ अधिक था। नौसैनिक दृष्टि से वाशिंगटन-सम्मेलन के निश्चय के अनुसार अमरीका व ब्रिटेन की शक्ति समान कर देने से अमरीका की शक्ति मे सैद्धान्तिक रूप से जापान की शक्ति तीन व पाँच के अनुपात में बढ़ाने की तुलना में अधिक वृद्धि हो गयी थी। सन् १९१४-१९१८ के महायुद्ध मे भाग लेने के समय अमरीका की सैनिक-क्षमता और उसकी संभाव्य-शक्ति का प्रदर्शन अत्यत महत्त्वपूर्ण रहा था और इसी प्रकार उसकी आर्थिक व वित्तीय शक्ति का बोध भी महत्त्वपूर्ण था। महायुद्ध मे शामिल होने से अमरीकी शक्ति पूरी तरह से उपयुक्त या क्षीण नही हुई थी और इसलिए युद्ध के बाद अन्य देशो की तुलना मे (जापान को शामिल करके भी) अमरीका जितना सबल व सशक्त बचा था, उतना पश्चिमी देशों की तुलना में जापान भी नही था। वाशिंगटन सम्मेलन के सुदूरपूर्वीय निर्णयो से वहाँ की राजनीति के सबंध मे निर्णय लेने की अमरीका की नयी क्षमता का पता लगता था। किन्तु अंतरराष्ट्रीय राजनीति में निर्णयात्मक स्थिति केवल वास्तविक या सभाव्य शक्ति-मात्र से नही आती, उसके लिए इस शक्ति के उपयोग की इच्छा भी होनी चाहिए। यह इच्छा वाशिंगटन सम्मेलन के समय तो प्रकट हुई, किन्तु उसके पहले या बाद इस इच्छा के अस्तित्व का पता नही लगा।

सन् १९०१ से सन् १९३१ के वर्षों में अमरीकी राजनीति के अध्ययन से लगेगा कि जो कुछ भी शक्ति अमरीका में थी, उसका सक्रिय उपयोग कर पूर्वी एशिया में उपयुक्त नीतियों को प्रभावकारी ढंग से लागू करवाने की इच्छा उसमें कभी नहीं रही। उसने 'उन्मुक्त द्वार' व चीन की अविच्छिन्नता की नीति प्रतिपादित कर दी और चीन के अंतरराष्ट्रीय संबंधों में इस नीति के लागू करने का मौखिक समर्थन अन्य राष्ट्रों से प्राप्त कर लिया। किन्तु जब कभी किसी देश ने इस नीति का उल्लघन किया, तब उसके समर्थन के लिए हमेशा दूसरे देश ही सामने आये, अमरीका नहीं। मुक्का-आंदोलन के बाद जब रूस ने मंचूरिया मे उन्मुक्त द्वार व चीनी अविच्छिन्नता के सिद्धान्तो के विरुद्ध स्थायी नियत्रण स्थापित करने का प्रयास किया, तब अमरीका नही जापान ने ही उसे रोका। पोर्ट्समाउथ सधि का रूजवेल्ट ने समर्थन किया था, क्योंकि वह समझते थे कि मंचूरिया में रूस व जापान एक दूसरे को रोके रहने में समर्थ होगे। किन्तु जब हुआ इसके विपरीत और इन संभाव्य शत्रुओं ने मैत्री करके अपने-अपने क्षेत्र व नीतियों के संबंध मे समझौते कर लिये, तब अमरीका ने राजनयिक प्रतिवाद तो किया; किन्तु अपनी नीति को लागू करवाने के लिए अपनी शक्ति का कोई उपयोग नही किया। बाद मे टैफ्ट के शासनकाल में हुए प्रयासो के बावजूद अमरीकी पूँजी के लगाने के क्षेत्र के रूप मे मंचूरिया का दरवाजा बन्द हो गया। अमरीका की नीतियो और प्रतिवादों की अवहेलना इसलिए भी की गयी कि लोग समझते थे कि मौखिक प्रतिवादों के आगे अमरीका बढ़ेगा ही नहीं। पूँजी लगाने के समान हित होने के कारण ब्रिटेन को इस मामले में घसीट लाने की कोशिश बेकार हो गयी, क्योंकि ब्रिटेन का जापान से समझौता था और अमरीका ब्रिटेन को वे आश्वासन देने को तैयार नही था जो जापान दे चुका था।

अपनी सुदूरपूर्वीय नीतियों को प्रभावकारी ढंग से लागू करवाने के लिए शक्ति-प्रदर्शन में अमरीकी अनिच्छा का एक कारण यह भी था, कि इस क्षेत्र में उसके भौतिक हित कम थे, जबकि कुछ अन्य क्षेत्रों में वे यहाँ की तुलना में बहुत अधिक थे। बीसवीं शताब्दी के पहले तीस वर्षों में चीन में अमरीका की काफी पूंजी लग गयी थी पर अमरीका के लिए वह बड़े महत्त्व की कभी नहीं थी। सन् १९०२ में अमरीका ने १.९७ करोड़ डालर की पूँजी चीन में लगा रखी थी, १९१४ में यह राशि बढ़कर ४.९३ करोड़ तथा सन् १९३१ में बढ़कर १९.६८ करोड़ डालर हो गयी थी, किन्तु सन् १९०२ में जितनी विदेशी पूँजी चीन में लगी थी, अमरीकी पूँजी उसका केवल २.५ प्रतिशत थी, जबकि ब्रिटेन की ३३, रूस की ३१.३ तथा जर्मनी की २०.९

तथा फ्रांस की ११.६ प्रतिशत थी। सन् १९१४ में अमरीकी प्रतिशत ३.१ हुआ और सन् १९३१ में केवल ६.१। इसी बीच जापानी पूंजी का प्रतिशत .१ से बढ़ कर ३५.६ हो चुका था और वह ब्रिटेन की टक्कर पर जा पहुँचा था। इससे प्रकट है कि पूंजी लागत की दृष्टि से अन्य देशो की तुलना में अमरीका के भौतिक हित चीन में नगण्य ही थे और इसीलिए किसी नीति को लागू करवाने में उसकी इतनी दिलचस्पी नही थी। इस निष्कर्ष को इस तथ्य से भी बल मिलता है, कि रूस को छोड कर शेष यूरोपीय देशो व अमरीका की चीन मे पूँजी लागत के अनुपात मे क्षेत्र-नियंत्रण बहुत कम था। "आम धारणा के विपरीत स्थिति यह थी कि मुख्य विदेशों द्वारा लगी पूँजी के मुकाबले मे उनके अधीन क्षेत्र महत्त्वहीन थे। प्राध्यापक रेयर इस निष्कर्ष पर पहुँचे है कि मंचूरिया मिलाकर चीन में लगी विदेशी पूँजी का १.३ प्रतिशत अमरीका का, ४.३ प्रतिशत जर्मनी का, ४.८ प्रतिशत फ्रास का और ५.९ प्रतिशत ब्रिटेन का था।"[२] अतएव यदि शक्ति के दृष्टिकोण से किसी देश की राष्ट्रीय नीति पूँजी लागत के आधार पर सशक्त या निर्बल आँकी जाती हो तो यह स्पष्ट है कि अमरीका को अपनी नीति लागू कराने में कम दिलचस्पी होनी चाहिए थी। अमरीका की दिलचस्पी संभाव्य थी वास्तविक नही और संभाव्य हित व दिलचस्पी के लिए राजनयिक चालें तो चली जा सकती है, सभावनाओ तथा अभौतिक हितो की रक्षा में सेनाएँ उतारने मे देश झिझकते है।

किन्तु, व्यापार के दृष्टिकोण से अमरीका की चीन मे दिलचस्पी लगातार बढ़ रही थी। चीन के साथ होनेवाले अमरीकी व्यापार की राशि सन् १९१२ मे ७ १६ करोड़ हैकवान ताएल थी, जो सन् १९२० मे २१.०३ करोड़, सन् १९२५ मे २८.५७ करोड़, सन् १९३० में ३६.४३ करोड़ व सन् १९३१ मे ४४.१५ करोड़ हो गयी थी। चीन से होनेवाले कुल व्यापार का अमरीकी प्रतिशत सन् १९१२ मे ८.५ था, जो सन् १९३१ में बढ़कर १८.८ हो गया था। यह वृद्धि अमरीका द्वारा विदेशी बाजारो की लगातार खोज के फलस्वरूप हुई थी; इसके अतिरिक्त, महायुद्ध के समय यूरोपीय देशों ने सुदूरपूर्व के बाजारो में अपना माल भेजना रोक रखा था, जिससे अमरीका व जापान दोनो को प्रतियोगिता के अभाव मे व्यापारिक रूप मे अपने पैर जमाने का अवसर मिल गया था; अमरीका उन देशो की जगह भी लेता जा रहा था, जिनके विरुद्ध चीन समय-समय पर बहिष्कार के नारे लगाता रहता था। किन्तु चीन से होने वाले व्यापार में वृद्धि अमरीका की विश्वव्यापी व्यापार-वृद्धि का अंगमात्र थी; आँकड़ो से प्रकट यह वृद्धि पूरे अमरीकी व्यापार का एक नगण्य अंश थी। दूसरे क्षेत्रों में अमरीका की जितनी व्यापारिक दिलचस्पी थी, उतनी चीन में नहीं थी।

व्यापार व पूंजी लागत मे प्रकट अमरीका की सुदूरपूर्व में भौतिक दिलचस्पी केवल चीन तक ही सीमित नही थी। बीसवी शताब्दी के पहले तीन दशको में अमरीका का जापान से व्यापार भी लगातार बढ़ा था। सन् १९१३ मे यह व्यापार ३०.६ करोड़ येन का था, सन् १९२० मे १४३.८ करोड़, सन् १९२५ में १६७ करोड़, सन् १९३० मे ९४ करोड़ तथा सन् १९३१ में ७६.१ करोड़ येन का। जापान के व्यापार में अमरीका का प्रतिशत २२.५ से बढ़कर ३२.२ प्रतिशत हो गया था। सबसे अधिक प्रतिशत सन् १९२९ में था, जब यह ३५ ९ रहा था। इस प्रकार चीन से होनेवाले व्यापार के प्रतिशत की तुलना में जापान से हुए अमरीकी व्यापार का प्रतिशत अधिक था। यही बात पूंजी लगाने के संबध में भी सही थी। सन् १९३० के अंत में जापान में लगी पूंजी का अनुमान विदेशी तथा घरेलू व्यवसाय के अमरीकी कार्यालय ने ४४.४६ करोड़ डालर लगाया था।[१]

किन्तु अमरीका के जापान से संबंधों और वहाँ पूंजी व व्यापार के वास्तविक या सभाव्य हितों की रक्षा के प्रश्न से वे अनोखी समस्याएँ नहीं उत्पन्न हुई—न प्रत्यक्षत. और न अन्य देशो की नीतियों या काररवाइयो के फलस्वरूप अप्रत्यक्षतः—जो चीन में हुई और जिनके कारण विशिष्ट नीतियो के प्रतिपादन और उनके कार्यान्वय की समस्याओं से उलझना पड़ा। सन् १८९४ के बाद जापान में न तो अमरीका ने और न किसी अन्य देश ने ऐसे विशेष अधिकार या सुविधाएँ प्राप्त की थी, जिनके लिए जापानी सरकार की नीतियो से खतरा पैदा हुआ हो और जिनकी रक्षा करनी पड़ी हो या दबाव में आकर जिन्हें छोड़ना पड़ा हो। जापान इतनी शक्ति संचित कर चुका था कि वह चीनी साम्राज्य में विशेष सुविधाओं की होड़ में न केवल पश्चिमी राष्ट्रो से अपनी रक्षा ही कर सकता, बल्कि वह स्वयं उनके साथ प्रतिद्वन्द्विता में उतर भी सकता था। अतएव जहाँ तक जापान का सबंध था, अपनी नीतियो को लागू कराने के लिए शक्ति प्रयोग की इच्छा-अनिच्छा का महत्त्व जापान को छोड़ कर सुदूरपूर्व के शेष क्षेत्रो में नीति-भेद तक ही सीमित था।

## (६) फिलिपिनी द्वीप-समूह

चीन में पूंजी तथा व्यापार की संभावनाओं तथा वहाँ धार्मिक, मानवीय तथा सांस्कृतिक काररवाइयों व दिलचस्पियों के अतिरिक्त फिलिपिनी द्वीप-समूह के अमरीकी साम्राज्य में शामिल होने से अमरीका की सुदूरपूर्व की राजनीति में दिलचस्पी बढ़ चुकी थी। स्पेन से यह क्षेत्र लेने की माँग ही इस निगाह से की गयी थी, कि वहाँ के आर्थिक व राजनीतिक जीवन में अधिकाधिक भाग लिया जायगा। किन्तु इस प्रश्न पर अमरीकी जनमत में गहरा मतभेद हो गया, जो काफी सीमा

तक दलगत राजनीति में परिलक्षित हुआ। डेमोक्रेटिक या जनतंत्र दल ने अपने को साम्राज्यवाद-विरोधी घोषित किया और इसलिए फिलिपिनी स्वतन्त्रता का पक्ष लिया; रिपब्लिकन या गणतंत्र दल ने, जो द्वीप-समूह पर आधिपत्य तथा उसके बाद कुछ समय तक सत्तारूढ था, दो शर्तो पर द्वीप समूह को अतत स्वतंत्रता देने का आश्वासन दिया ."..... जब अमरीका समझ लेगा कि वहाँ की जनता स्वतत्रता कायम रख सकती है तब फिलिपिनी द्वीप-समूह को स्वतत्र कर दिया जायगा, और यह स्वतंत्रता दे दी जायगी, यदि वहाँ की जनता तब भी स्वतत्रता चाहे। रिपब्लिकन दल के नेताओ मे इस बात पर कभी द्विधा या ढुलमुलपन नही आया, कि दोनो देशो की जनता के बीच स्थायी सबंध वाछनीय व विवेकपूर्ण है........[४] किन्तु वास्तव में रिपब्लिकन व डेमोक्रेट, दोनो दल स्वतत्रता को अतिम लक्ष्य ही बनाकर चल रहे थे। फलतः, द्वीप-समूह में तुरत स्वतंत्रता प्राप्त करने के लिए आदोलन चला और अमरीका में उन लोगो ने इसका समर्थन किया, जो अपने को साम्राज्यवाद-विरोधी कहते थे।

द्वीप-समूह के शासन में वहाँ की जनता शुरू से ही अमरीकियो से सम्बद्ध थी। सन् १९०२ मे कानून बनाकर निर्वाचित विधानसभा की व्यवस्था कर दी गयी थी और जैसे ही समझा गया, कि वे अब उन कामो के लिए उपयुक्त है, स्थानीय निवासियों को निचली प्रशासकीय व सरकारी नौकरियो में लिया जाने लगा। जब तक अमरीका में रिपब्लिकन दल सत्तारूढ रहा, द्वीप-समूह मे अधिक महत्त्वपूर्ण पद और इसलिए प्रभावकारी नियंत्रण अमरीकी अधिकारियो के हाथो मे ही रहा, सैद्धान्तिक दृष्टि से भी और व्यावहारिक दृष्टि से भी। स्वतंत्रता के समर्थको की लक्ष्य-प्राप्ति की दिशा में पहला महत्त्वपूर्ण कदम सन् १९१६ में उठाया गया, जब डेमोक्रेट दल के शासन ने जोस-कानून बनाया। यह कानून और गवर्नर-जनरल हैरिसन का प्रशासन फिलिपिनी जनता के हाथो मे शासन का नियत्रण काफी हद तक देने के माध्यम बने। सन् १९२० के चुनाव के बाद रिपब्लिकन दल फिर सत्ता में आ गया और प्रभावकारी अमरीकी नियत्रण के लिए द्वीप-समूह में प्रशासकीय कदम उठाये गये, तर्क यह था, कि जब तक अमरीका का उत्तरदायित्व है, उस उत्तरदायित्व को निबाहने के लिए काफी अधिकार भी अमरीका के पास होने चाहिए।

हूवर-प्रशासन के अंत समय अमरीका में मन्दी आ जाने के कारण नयी आर्थिक परिस्थिति के फलस्वरूप नये राजनीतिक दृष्टिकोण अपनाये गये। राजनीतिक व नैतिक आधार पर फिलिपिनी स्वतंत्रता के समर्थको को अमरीकी खेतिहर हितों के

प्रतिनिधियों, संगठित श्रमिकों के गुटों और खेती की उपज को बिक्री के योग्य बनानेवालो के गुटों का समर्थन आर्थिक आधार पर भी मिलने लगा—फिलिपिनी ही नही अमरीकी आर्थिक हितो के आधार पर भी।

किन्तु, तीस वर्षों के अमरीकी नियंत्रण के फलस्वरूप द्वीप समूह और अमरीका की अर्थ-व्यवस्थाओ में बड़े घनिष्ठ संबंध स्थापित हो चुके थे। यह सबंध सन् १९०९ के बाद दृढ़तर हो गये थे, जब दोनो देशो के बीच अबाध व्यापार और द्वीपसमूह व शेष दुनिया के बीच व्यापार बिल्कुल बन्द कर देने की नीति अपनायी गयी थी। व्यापार-संबंधी आँकडो से यह घनिष्ठता स्पष्ट हो जाती है। द्वीपसमूह अमरीका के लिए बाजार के रूप में लगातार विकसित हो रहा था। "सन् १८९९ मे अमरीका ११.५ लाख डालर का सामान फिलिपिनी द्वीप को भेज रहा था। सन् १९०८ तक जो कि स्वतंत्र व्यापार का अंतिम वर्ष था, अमरीकी सामान की बिक्री मुश्किल से ५० लाख डालर तक पहुँच पायी थी; किन्तु नयी व्यापार नीति लागू होने के पहले वर्ष में ही यह व्यापार दुगुना हो गया था और सन् १९२९ में यह राशि ९,२५,९२,९५९ डालर के आश्चर्यजनक स्तर पर पहुँच गयी थी; यह वर्ष व्यापार की दृष्टि से चरम उत्कर्ष का था। व्यापारिक मन्दी के कारण सन् १९३३ तक द्वीप में अमरीकी आयात गिर कर इस राशि के आधे से भी कम रह गये थे, किन्तु सन् १९३४ में हालत कुछ सुधरी थी और राशि बढ़ कर ५,४६,८०,००० डालर हो गयी थी।"[५] फिलिपिनी उत्पादकों के लिए अमरीकी बाजार का महत्त्व और भी अधिक था; सन् १९३० में ७९ प्रतिशत, सन् १९३३ में ८७ प्रतिशत तथा सन् १९३४ में ८४ प्रतिशत निर्यात केवल अमरीका को हुआ था। स्थिति यह थी, कि अमरीका का काम तो द्वीप-समूह के बाजार के बिना भी चल सकता था, किन्तु, अपेक्षतया निर्यात की स्वतंत्रता मिल जाने से स्वयं द्वीप-समूह की हालत यह हो गयी थी कि वह पूरी तरह अमरीका के बाजार पर ही निर्भर हो चुका था। यह स्थिति अमरीकी नीति का ही परिणाम थी। इस आर्थिक अंतरावलम्बन के कारण इसमें संदेह किया जाने लगा था, कि अमरीका फिलिपिनी स्वतंत्रता का अपना वचन कभी भी पूरा करेगा या द्वीप स्वयं अमरीकी सीमा-शुल्क-व्यवस्था के बाहर जाना कभी पसन्द भी करेगा। सन् १९३० तक इस वचन को पूरा करने का समर्थन इस मूलत. राजनीतिक दृष्टि से ही होता रहा था, कि "गोरे लोगों की जिम्मेदारी" निबाहते हुए अमरीका को यह उत्तरदायित्व था, कि फिलिपिनी जनता को ऊपर उठाकर स्वशासन में प्रशिक्षित कर, उसे अंततः अपना राज अपने आप सम्हालने की जिम्मेदारी दी जा सके। स्वतत्रता की यह भावना फिलिपिनी जनता

की हितचिन्ता से ही उत्पन्न थी। द्वीप-समूह से चले आना अतिम कर्त्तव्य था, आत्म-त्याग का असाधारण कृत्य था, अमरीका तथा अमरीकी जनता के हित मे उठाया जानेवाला कोई कदम नहीं था।

फिलिपिनी जनता की चिन्ता की जगह अमरीकी उत्पादक के हितों की चिन्ता के नये दृष्टिकोण का प्रमाण तब मिला, जब स्मूट-हौले शुल्क-दर-व्यवस्था-सबंधी कानून मे यह सशोधन रखा गया, कि "फिलिपिनी सामान पर आयात-कर लगाया जाय;"[१] अमरीका के उन उत्पादको का हित अब खतरे में पड़ रहा था, जो वही सामान बनाते थे, जो द्वीप-समूह से आता था। इस प्रश्न पर समिति की बैठको में विचार तक के लिए संशोधन पर विचार स्थगित हो गया। लगभग तत्काल ही सीनेट-सदस्य हाउज व कटिंग के एक विधेयक के फलस्वरूप प्रश्न शुल्क-दर से बदल कर फिलिपिनी स्वतंत्रता का हो गया। इस विधेयक में व्यवस्था थी कि पाँच वर्ष तक दोनों देश शुल्क दरें बढ़ाते जायँगे और इस अवधि की समाप्ति पर द्वीप की जनता इस बात पर मतदान करेगी, कि आर्थिक स्वाधीनता के प्रयोग के बाद वह राजनीतिक स्वाधीनता चाहती है या नही। इस विधेयक पर सन् १९३० से सन् १९३३ तक विचार जारी रहा। विधेयक को आर्थिक हित-दृष्टिकोण वाले गुट के अतिरिक्त किसानो के प्रतिनिधियो का भी समर्थन मिल रहा था, जब कि औद्योगिक उत्पादकों के प्रतिनिधि, जिन्हें द्वीप का बाजार भी चाहिए था और वहाँ का कच्चा माल भी, इसका विरोध कर रहे थे। विधेयक के राजनीतिक परिणामो में दिलचस्पी रखने वाले लोग भी दोनो पक्षो मे शामिल थे। इस प्रकार आर्थिक हितो की दृष्टि से स्वतंत्रता के समर्थकों को स्वशासन के मौलिक अधिकार में विश्वास करने वालों का अनुमोदन व सहयोग प्राप्त हो गया था। दूसरी ओर विधेयक के विरोधियों को उन लोगों का सहयोग मिल गया था, जो कहते थे, कि द्वीप की जनता अभी स्वशासन के योग्य नही है और स्वतंत्रता वहाँ की जनता तथा अन्य औपनिवेशिक शक्तियो के लिए दुर्भाग्यपूर्ण होगी तथा इसकी अंतरराष्ट्रीय प्रतिक्रिया गलत होगी। सरकार के कार्यकारी पक्ष का भी यही मत था।

अततः, हूवर के शासनकाल के अतिम दिनो मे उनके निषेधाधिकार प्रयोग के बावजूद हेअर-हाउज-कटिंग विधेयक स्वीकृत होने के उपरान्त, मार्च १९३४ मे स्वतंत्रता-संबधी विधेयक स्वीकार हो गया; फिलिपिनी प्रतिद्वन्द्विता से अपनी रक्षा करने के इच्छुक, स्वतंत्रता के समर्थक तथा स्वयं फिलिपिनी नेता यही माँग कर रहे थे। इस पहले वाले विधेयक से द्वीप की जनता को तत्काल मताधिकार मिल गया

था। मत लेने पर जनता के बहुमत ने इस विधेयक के विरुद्ध मत दिया—इसलिए नहीं कि लोग स्वतंत्रता के विरुद्ध थे, बल्कि इसलिए कि स्वतंत्रता प्राप्त करने के लिए, जो कुछ शर्तें लगायी गयी थी, वे उनके विरुद्ध थे। अमरीकी कांग्रेस में पुनर्विचार हुआ और टाईडिंग्स-मैकडफी कानून बन गया।

इस कानून के अनुसार फिलिपिनी विधानसभा या एक विशेष सम्मेलन द्वारा स्वतत्रता के लिए सहमति प्रकट करने पर एक सविधान-सम्मेलन बुलाने की व्यवस्था की गयी थी। कानून में वर्णित कुछ शर्तों के अनुरूप ही संविधान का मसौदा बनना था। और इसे अमरीकी राष्ट्रपति का समर्थन भी प्राप्त होना था। सविधान तैयार हो गया, उसे राष्ट्रपति की स्वीकृति मिल गयी और सन् १९३५ के अंत तक एक राष्ट्रमंडलीय सरकार स्थापित हो गयी। नयी सरकार स्वतंत्र राज्य की सरकार नही थी, क्योंकि अमरीकी नियत्रण की समाप्ति के लिए दस वर्ष की अवधि नियत कर दी गयी थी और इस अवधि मे पूर्ण स्वतत्रता के लिए आर्थिक संबध समायोजित होने थे और वे तैयारियाँ भी होनी थी, जिनसे नयी सरकार इस स्थिति को कायम रख सके।

यह वही समय था, जब एशिया में जापान की प्रसार काररवाइयो से सुदूरपूर्व के अंतरराष्ट्रीय सबधो में उथल-पुथल हो रही थी। यदि फिलिपिनी स्वतन्त्रता का प्रश्न अतरराष्ट्रीय शाति व स्थायित्व के समय उठता तो उस पर भली प्रकार विचार हो सकता था क्योंकि, दोनो देशो के आर्थिक सबंधों तथा अन्य प्रभावों का सबध एक तरह से एक ही देश पर पड़ता था और मामले की अतरराष्ट्रीय प्रतिक्रिया नही होती थी। किन्तु तात्कालिक परिस्थितियो में, सुदूरपूर्व के क्षेत्र में राजनीतिक संबंधो पर प्रभाव पड़ने के कारण इस सबंध में हुए निर्णयों की अतरराष्ट्रीय प्रतिक्रिया होती थी। दस वर्ष की अवधि के बाद द्वीप के स्वतंत्र होने के निर्णय से सुदूरपूर्व की राजनीति मे एक नया तत्व शामिल होता था, क्योंकि द्वीप स्वतंत्र इकाई के रूप मे राजनीति में भाग लेता, जबकि अभी तक अमरीका के अधीन होने के कारण उसकी नीतियो का प्रभाव केवल अमरीका पर ही पड़ता था। अब प्रश्न द्वीप की जनता के सुचारु रूप से शासन-व्यवस्था चलाने की क्षमता का था। यदि शासन सुव्यस्थित हो तो अन्य राष्ट्र अपने हितों व नागरिको की रक्षा के लिए हस्तक्षेप करने का तर्क उपस्थित नहीं कर सकते थे। द्वीप की जनता को संभाव्य बाहरी आक्रमण से अपनी स्वाधीनता की रक्षा भी स्वयं करनी थी; यदि दस वर्ष की अवधि के बाद भी द्वीप के स्वरक्षा में असमर्थ होने पर

अमरीका द्वारा उसकी रक्षा-व्यवस्था करने की अपेक्षा होती तो दूसरी बात थी। नये राष्ट्रमडलीय शासन की स्थापना की शर्ते इस प्रकार थी कि दस वर्ष की अवधि मे ही अमरीका का यह नैतिक के अतिरिक्त अन्य प्रकारो का भी उत्तरदायित्व हो जाता कि अपने द्वारा दी गयी इस स्वतत्रता की वह रक्षा करे। द्वीप में आंतरिक शाति व व्यवस्था कायम रखने के लिए हस्तक्षेप करने तथा नौ-सेना सचालन के लिए जहाजी बेड़ो के लिए द्वीप मे अड्डा बनाने और उसके सचालन का अधिकार अमरीका के लिए सुरक्षित था। इसके अतिरिक्त, दस वर्ष की अवधि के बाद भी द्वीप-समूह की स्थायी रूप से अन्तरराष्ट्रीय समझौते के आधार पर तटस्थ स्थिति कायम रखने की शर्त भी शामिल कर दी गयी थी। इस सबके कारण यह निष्कर्ष गलत होता कि फिलिपिनी राष्ट्रमडलीय सरकार बनने के बाद तत्काल या कभी भी द्वीप के प्रति अमरीकी उत्तरदायित्व समाप्त होने की स्थिति आ सकती थी। इससे तत्काल केवल यह हुआ कि अन्य राष्ट्रा की पृष्ठभूमि मे अमरीका की स्थिति अनिश्चित सी हो गयी।

सन् १९३१ व उसके बाद, जापान तथा सभवत रूस को छोडकर शेष देशो की नीतियाँ स्थायित्व की दिशा मे प्रेरित थी। तात्पर्य यह है कि ब्रिटेन, फ्रास व नेदरलैंड अब प्रसारवादी नीतियाँ नही चला रहे थे। अमरीका के साथ, ये देश अपनी तात्कालिक राजनीतिक स्थिति की रक्षा मे लगे थे। जैसा कि कहा जा चुका है, चीनी राष्ट्रीयता के दबाव के कारण चीन मे यह स्थिति बदल रही थी। इस दृष्टि से, सन् १९३१ मे, पश्चिम का ज्वार उतार पर था। फिलिपिनी द्वीप के बदले हुए राजनीतिक स्तर व तत्सबंधी अमरीकी नीति के परिवर्तन से चीन मे पश्चिमी देशो की स्थिति पर प्रभाव नही पड़ता था। दूसरी ओर, चीन में हो रही तथा चीन के सबध में हो रही घटनाओ का—चाहे वे आंतरिक रही हो या अतरराष्ट्रीय—फिलिपिनी द्वीप सुदूरपूर्व के अन्य औपनिवेशिक क्षेत्रो के भविष्य पर महत्त्वपूर्ण प्रभाव हो सकता था। सन् १९३१ के बाद यह प्रभाव जापान की चीनसबंधी नीतियों तथा चीन मे की गयी कारखाइयो के कारण अधिक पड़ा, चीनी राष्ट्रीयता की अभिव्यक्ति के फलस्वरूप कम हुआ। इस प्रकार, जापान व जापानी प्रसार के सबंध में फिलिपिनी स्वतंत्रता एक समस्या बन गयी।

सन् १९३१ तक द्वीप-समूह में जापान की व्यापारिक स्थिति अमरीका के बाद सबसे अधिक मजबूत थी। इससे जापान को कोई महत्त्वपूर्ण स्थान प्राप्त नही हुआ था, क्योंकि कुल व्यापार का यह केवल ७.२ प्रतिशत ही था। किन्तु यह स्पष्ट था कि जापान की व्यापारिक स्थिति इतनी गिरी होने का कारण अमरीका व द्वीप के

बीच अबाध व्यापार से अमरीकी व्यापारियो को मिलने वाली वरीयता के कारण ही थी। यदि, विदेशी उत्पादकों के लिए 'उन्मुक्त द्वार' नीति अपनायी गयी होती तो द्वीप के बाजार का महत्त्व जापानी उत्पादकों के लिए बहुत बढ जाता। यदि फिलिपिनी सरकार अपने यहाँ जापानी बाजार के विस्तार को न रोकती या वहाँ सामान्य प्रशासन असफल न हो जाता—और इस प्रकार जापान को हस्तक्षेप करने का बहाना न मिल जाता—तो इस विस्तार से सुदूरपूर्व की राजनीतिक शक्तियो का संतुलन बिगड़ने की कोई सभावना नही थी। इसके अतिरिक्त, जापानी विस्तार के क्षेत्र में स्वतंत्र फिलिपिनी राज्य के प्रवेश से भी यह राजनीतिक सतुलन बिगड़ सकता था। द्वीप-समूह को जापानी साम्राज्य में लाकर जापानी निर्यात के लिए वही वरीयता प्राप्त करने के लिए, जो पहले अमरीका को प्राप्त थी, द्वीप के व्यापार-प्रबन्धो पर नियंत्रण की इच्छा से भी संतुलन बिगड सकता था।

संभावनाओं की दृष्टि से, यह स्वीकार करना होगा कि सभाव्य बाजार के अतिरिक्त भी जापान की द्वीप मे आर्थिक दिलचस्पी थी, और अब भी है। द्वीप मे जनसंख्या बढने की गुजाइश है। चीन, मंचूरिया तथा चोजेन में जिस निचले स्तर की प्रतियोगिता का सामना उसे करना पड़ा था, वह इस द्वीप में नही है और देशी जनता के मुकाबले में जापानी प्रवासी बहुत आसानी से टिक सकते थे। द्वीप के कुछ साधन प्रतियोगात्मक नही पूरक है और उनका शोषण जापान के लिए लाभदायक होता। अमरीकी निरीक्षण के समय ही दवाओं प्रान्त में सन के उत्पादन का जापान ने पूर्ण नियंत्रण कर रखा था। सन के अतिरिक्त द्वीप के लोहे, क्रोमाइट, लकड़ी, सोने आदि का भी जापान अपने साधनो के पूरक रूप मे उपयोग कर सकता था। बाजार व शोषण हितो के अतिरिक्त, दक्षिणपूर्वी एशिया व प्रशान्त महासागरीय क्षेत्रो के हवाई यातायात के केन्द्र के रूप में मनीला का महत्त्व बहुत बढ़ गया है और जिससे जापान व अन्य देशों के लिए आर्थिक महत्त्व बहुत बढ़ गया है।

इसके अतिरिक्त, उस समय जापानी साम्राज्य में शामिल फारमोसा के दक्षिणी छोर फिलिपिनी द्वीप बहुत निकट थे। यदि द्वीप पर भी जापान का प्रभुत्व हो जाता तो जापान का सुरक्षात्मक परदा पूरा हो जाता और समुद्र के मार्ग से चीन में प्रवेश की संभावना समाप्त हो जाती। इससे जापानी संरक्षण के अन्य द्वीपो के शेष साम्राज्य से सबंधो मे भी परिवर्तन होता। किन्तु, इस प्रकार के विस्तार से जापानी साम्राज्य का क्षेत्र दक्षिणपूर्वी एशिया व प्रशान्त महासागर के क्षेत्र के ब्रिटेन व हालैण्ड के उपनिवेशों के बहुत निकट भी हो जाता। तब जापान

व आस्ट्रेलिया के बीच केवल हॉलैण्ड के उपनिवेश ही व्यवधान रह जाते। इसके अतिरिक्त, जापान के फिलिपिनी द्वीप पर नियत्रण स्थापित कर लेने से हिन्द-चीन मे फ्रास की स्थिति अ-धार्य हो जाती। विशेषकर, यदि दक्षिणपूर्वी चीन व हैनान पर भी जापानी नियत्रण हो जाता। इससे यह निष्कर्ष स्पष्ट है कि फिलिपिनी द्वीप की स्थिति मे कोई भी परिवर्तन, विशेषकर यदि इस परिवर्तन से अमरीका की जगह किसी अन्य औपनिवेशिक शक्ति द्वारा ले लेने की संभावना बढ़ती, तो सुदूरपूर्व व प्रशान्त क्षेत्र में हर पश्चिमी राष्ट्र की स्थिति के लिए महत्त्वपूर्ण होता। सन् १९३१ से सन् १९४० तक जो परिस्थिति थी, जब जापान का विस्तार उत्तर से दक्षिण की ओर हो रहा था, उसमे फिलिपिनी द्वीप जापान के लिए ही रोक का काम कर रहे थे, अमरीका या किसी अन्य पश्चिमी देश के लिए उत्तर में चीन की ओर बढने और अपने हितो का विस्तार करने के लिए अड्डे का काम नही कर रहे थे। इस प्रकार, सन् १९३१ के बाद सुदूरपूर्व की राजनीति मे द्वीप-समूह की ऐतिहासिक भूमिका ही बदल चुकी थी।

## (७) ब्रिटेन की स्थिति व हित

पूर्वी एशिया मे जिन सामुद्रिक शक्ति वाले पश्चिमी देशो के क्षेत्रीय हित थे, उनमे से केवल अमरीका ही सन् १९३१ तक ऐसा था, जो इन क्षेत्रो से हट आने का विचार तक कर रहा था। भारतीय राष्ट्रीयता के दबाव के कारण ब्रिटेन वहाँ डोमिनियन या औपनिवेशिक स्वराज्य स्थापित करने की दिशा में कुछ धीमी प्रगति अवश्य कर रहा था। उत्तरदायी शासन की स्थापना की ओर पहला कदम सन् १९०७-१९०९ के मिण्टो-मौर्ले सुधारो द्वारा उठाया गया था। सन् १९१४ के बाद ब्रिटेन के साम्राज्य के हितों की रक्षा के लिए महायुद्ध मे भारत ने जो शानदार योगदान दिया उससे भारतीय राष्ट्रीयतावादियो के दबाव के फलस्वरूप, सन् १९१७ में ब्रिटेन की सरकार ने आश्वासन दिया कि ब्रिटेन के साम्राज्य के अविच्छिन्न अग के रूप में भारत मे उत्तरदायी शासन की स्थापना की दिशा में कदम-कदम बढ़ने के लिए स्वशासन संस्थाओं का क्रमिक विकास[७] किया जायगा। इसके उपरान्त, सन् १९१८ में, मोण्टेग-चेम्सफर्ड प्रतिवेदन और सन् १९१९ मे भारत सरकार के नये कानून आये। इन कानूनो द्वारा प्रान्तो में द्वैध शासन-प्रणाली की व्यवस्था की गयी और कुछ विषय राज्यपाल व उसकी कार्यकारिणी-परिषद् के अधिकार-क्षेत्र मे रख दिये गये और कुछ निर्वाचित प्रान्तीय विधानसभाओं के उत्तरदायी मन्त्रिमंडलो के सिपुर्द कर दिये गये। जहाँ तक पूरे देश के शासन का संबंध था वाइसराय का अबाध नियत्रण था यद्यपि उसकी एक ऐसी सलाहकार-परिषद् की स्थापना की व्यवस्था की

गयी थी, जिसमें कुछ सदस्य निर्वाचित होते और कुछ नामजद, इसके अतिरिक्त एक केन्द्रीय विधानसभा की भी व्यवस्था थी, जिसमें निर्वाचित सदस्यो का बहुमत था।

किन्तु, इस कानून के बनने तक गंभीर सघर्ष की स्थिति उत्पन्न हो चुकी थी। कांग्रेसदल द्वारा संगठित राष्ट्रीय आदोलन का नेतृत्व महात्मा गाधी के हाथ मे आ गया था और उन्होने विरोध के लिए सविनय अवज्ञा तथा निष्क्रिय प्रतिरोध के उपाय निकाले थे। नयी व्यवस्था इस विरोध की पृष्ठभूमि मे आयी। इस व्यवस्था का एक अग दस वर्ष के भीतर, अनुभव के आधार पर इस व्यवस्था की जाँच व सुधार के सुझाव देने के लिए एक संसदीय आयोग का गठन भी था। अवधि समाप्त होने के दो वर्ष पूर्व ही आयोग—साइमन-आयोग—बना दिया गया। दुर्भाग्यवश, इस आयोग में कोई भारतीय सदस्य नही रखा गया और फलत जाँच व सिफारिश के काम मे आयोग को भारत का सक्रिय सहयोग बिलकुल प्राप्त नही हुआ। यद्यपि आयोग का प्रतिवेदन काफी बडा व सर्वांगीण था, उसकी सिफारिशों को भारतीय राष्ट्रीयतावादियो का समर्थन प्राप्त नही हुआ, क्योकि उनमे स्वशासन या औपनिवेशिक स्वराज्य की व्यवस्था नही की गयी थी। प्रतिवेदन में प्रान्तो में द्वैध शासन समाप्त कर उत्तरदायी शासन का परिमाण बढाने का सुझाव तो था, किन्तु केन्द्रीय शासन के संबंध में ऐसा कोई सुझाव नहीं था।

सन् १९२९ मे ब्रिटेन में दूसरी बार श्रमिक दल की सरकार बनी और भारतीय जनमत को सतुष्ट करने के लिए, जो साइमन आयोग के गठन और उसकी सिफारिश से अत्यधिक असंतुष्ट था, गोलमेज-सम्मेलन का सुझाव आया। भारत के लिए औपनिवेशिक स्वराज्य का आश्वासन ब्रिटेन से मिलने के कारण पहले गोलमेज-सम्मेलन को महात्मा गांधी या उनके अनुयायियो का सहयोग प्राप्त नही हुआ। सविनय-अवज्ञा-आदोलन चला और उसका इतना दबाव पड़ा कि सन् १९३१ में दूसरे गोलमेज-सम्मेलन के समय तक ब्रिटेन की नीति में कुछ परिवर्तन हुआ। इस नीतिपरिवर्तन का एक कारण देशी राजाओ का पहले सम्मेलन के समय ही ब्रिटेन के आधिपत्य वाले भारत के साथ एक संघ बनाने का निश्चय और इसलिए ब्रिटेन के हितो की रक्षा का बेहतर साधन मिल जाना भी था; राष्ट्रीयतावादियो की तुलना मे देशी राजाओ के हितो का साम्य ब्रिटेन के हितो के साथ ही था और अपेक्षा यह थी कि राजा अंग्रेजो के हितो की रक्षा करेंगे ही।

संसद् के विचारार्थ भारतीय संविधान प्रस्तुत होने के पूर्व तीन गोलमेज-सम्मेलन हुए। सन् १९३३ मे भारतीय शासन के सबंध में एक श्वेत पत्र तैयार

हुआ और सन् १९३५ मे उसने कानून का रूप ले लिया। इसके अनुसार भारत के लिए सघीय शासन की व्यवस्था की गयी। सघ मे मताधिकार कुछ विस्तृत हुआ और केन्द्र व प्रान्तो मे उत्तरदायी शासन की दिशा में कुछ और प्रगति हुई। किन्तु शासन के महत्त्वपूर्ण विषय अब भी विधानसभाओ के अधिकार-क्षेत्र के बाहर थे। इस प्रकार पूर्ण औपनिवेशिक स्वराज्य अब भी नही मिला और उसके लिए दबाव पडता रहा; सन् १९३९ मे दूसरा महायुद्ध छिड जाने के कारण इस दबाव का प्रभाव बढ गया।

भारत की जिस राष्ट्रीयता ने औपनिवेशिक सबध बदल दिये वह सुदूरपूर्व मे जन्मी तो नही थी, किन्तु उस क्षेत्र की घटनाओ से उसे प्रेरणा अवश्य मिली थी। अपनी स्वतत्रता कायम रखने तथा पश्चिमी राष्ट्रो से समता का स्तर प्राप्त करने मे राष्ट्रीय जापान की सफलता, विशेषकर, सन् १९०४-१९०५ के युद्ध मे रूस पर विजय से चीन व भारतीय राष्ट्रीयता को स्फूर्ति मिली थी। किन्तु इसके विपरीत, भारत के राजनीतिक विकास का बीसवी शताब्दी के चौथे दशक तक सुदूरपूर्व की स्थिति पर कोई प्रभाव नही पड़ा था।

किन्तु आर्थिक क्षेत्र में स्थिति भिन्न थी। राजनीतिक आदोलन के साथ ही साथ भारत मे आधुनिक उद्योगों के विकास के लिए आर्थिक आदोलन भी चल रहा था। उन्नीसवी शताब्दी के अत तथा उसके बाद अंग्रेजों ने बहुत पूँजी भारत मे लगायी थी, साथ ही देशी पूँजी का भी विकास हुआ था। इससे भारत व ब्रिटेन के संबंधो मे परिवर्तन तो हुआ ही था, सन् १९३० के बाद जापानी माल, विशेष कर वस्त्र, आना शुरू होने पर, उससे रक्षा में दिलचस्पी भी शुरू हो चुकी थी। आर्थिक दृष्टिकोण से भारत व ब्रिटेन के हित समान रूप से जापान-विरोधी थे, यद्यपि राजनीतिक दृष्टिकोण से जापान के उदाहरण से भारत के राष्ट्रीय आदोलन को अंग्रेजों से स्वाधीनता प्राप्त करने की प्रेरणा मिली थी।

भारत व फिलिपिनी द्वीप-समूह मे जिस प्रकार की राजनीतिक गतिविधि थी वह दक्षिणी-पूर्वी एशिया के उन देशो मे—बर्मा छोड़ कर—कही भी परिलक्षित नही थी जहाँ अंग्रेजो का प्रभुत्व था। अग्रेजो का नियत्रण कायम ही नही था, सिंगापुर में मजबूत नौ-सैनिक व हवाई अड्डे बनने से वह सुगठित भी हो रहा था। औपनिवेशिक शक्ति के रूप मे ब्रिटेन को कोई देशी चुनौती नही मिली थी, इसलिए, यद्यपि ब्रिटेन की अब क्षेत्रीय प्रसार की नीति नही थी, मलेशिया में पहले हुए प्रसार के फलस्वरूप प्राप्त क्षेत्र पर वह अपना आधिपत्य कामय रखने को दृढ़ सकल्प था। और, उस क्षेत्र में अन्य शक्तियो की जो स्थिति थी, ब्रिटेन को केवल

खतरा तब हो सकता था जब जापान अपना प्रसार दक्षिण की ओर आरभ कर देता। सन् १९३१ व उसके कुछ समय बाद तक ऐसी कोई सभावना नहीं दिखायी देती थी। जापान की दिलचस्पी के मुख्य क्षेत्र थे मंचूरिया व भीतरी मंगोलिया और वहाँ अंग्रेजो के हित अति सामान्य थे। दीवार के दक्षिण मे राष्ट्रीयतावादियों के नेतृत्व मे चीन खड़ा था। स्वय चीन मे ब्रिटेन के हित काफी गहरे थे। सन् १९३१ में चीन मे जापान व ब्रिटेन की जितनी पूँजी लगी थी, वह लगभग बराबर थी। जापान की अधिकाश पूँजी मचूरिया में लगी थी, ब्रिटेन की चीन मे, और पूँजी लगाने का मुख्य क्षेत्र था शंघाई। उन्नीसवी शताब्दी भर ब्रिटेन व्यापार में अग्रणी रहा था, किंतु हागकांग को छोड़ दें, तो अब वह जापान व अमरीका से पीछे पड़ गया था। फिर भी, चीन मे ब्रिटेन के पूँजी व व्यापार के हित इतने व्यापक थे कि उसका प्रभाव काफी था। चीनी राष्ट्रीयता ने जब दावे शुरू किये तो विदेशियो की स्थिति के पुनस्सगठन मे ब्रिटेन ने प्रमुख भाग लिया था और इस प्रक्रिया में यह भी प्रकट हो गया था कि चीन मे अपनी परंपरागत स्थिति कायम रखने की उसकी इच्छा अब भी कायम है। किंतु सन् १९३१ मे जो स्थिति थी, उससे प्रकट था कि आर्थिक व राजनीतिक दोनों दृष्टियो से चीन मे ब्रिटेन अब विस्तारवादी नहीं, प्राप्त अधिकारो की रक्षा का इच्छुक ही है। किंतु हितो की यह रक्षा जापान के विस्तार से नहीं, चीन की राष्ट्रीयता से थी, क्योंकि जापानी हित मूलतः मंचूरिया में केन्द्रित थे।

यदि टींटसीन में मिली रिआयत या शंघाई की अंतरराष्ट्रीय बस्ती को न गिना जाय तो एशिया में ब्रिटेन की क्षेत्रीय दृष्टि से सबसे उत्तर की चौकी हांगकांग ही थी। और सन् १९३१ में ब्रिटेन का हागकांग से हटने या अपनी स्थिति के संबंध में कोई समझौता करने का कोई भी इरादा नही था। इस प्रकार मलेशिया के ब्रिटेन के अधिकार के क्षेत्रो को उत्तर से संकट होने की स्थिति में हागकाग ही उसकी प्रथम, यद्यपि निर्बल, रक्षा-पक्ति था। चीन में स्थिति ब्रिटिश हितो की रक्षा के लिए भी वह एक फौजी अड्डा था। किन्तु रक्षा की दृष्टि से इसका महत्त्व चीन की स्थिति पर निर्भर करता था। किन्तु हागकांग के पीछे सिंगापुर तो था ही ब्रिटेन के दक्षिणी उपनिवेशो व चीन या जापान के बीच समुद्र मे फिलिपिनी द्वीप-समूह और महाद्वीप पर फ्रांसीसी हिन्द-चीन मौजूद थे। इस प्रकार ब्रिटेन की उत्तरी बोर्नियो सरावाक, मलाया, सिंगापुर आदि उपनिवेशों में जो स्थिति थी उस पर हिन्द-चीन या फिलिपिनी द्वीप के स्थिति-परिवर्तन का प्रभाव पड़ता था। इस प्रकार अमरीकी नीति का ब्रिटेन की सरकार के लिए बहुत बड़ा महत्त्व था। प्रशान्त महासागर के

उसके उपनिवेशों के लिए भी इस नीति का काफी महत्त्व था, क्योंकि फिलिपिनी द्वीप-समूह तथा आस्ट्रेलिया व न्यूजीलैण्ड के बीच केवल हालैण्ड के अधीन पूर्वी द्वीप-समूह ही थे। यदि फिलिपिनी द्वीप अपनी स्वतत्रता अक्षुण्ण नही रख पाया और यदि, परिणामत, वह किसी प्रसारवादी देश के नियत्रण में आ गया तो सकट का विस्तार आस्ट्रेलिया व न्यूजीलैण्ड तक हो जाता और इस प्रकार सुदूरपूर्व के शक्ति-संबंधो में ये देश भी निश्चय ही आ जाते।

## (८) डच पूर्वी द्वीप-समूह

जापानी उपमा के अनुसार फिलिपिनी द्वीप डच अधिकार के पूर्वी द्वीप समूह के हृदय पर तनी हुई कटार था—और डच दृष्टिकोण से यदि यह कटार गलत हाथों में पहुँच जाती तो यह खतरनाक हथियार भी सिद्ध हो सकती थी। बहुधा यह भुला दिया जाता है कि प्रशान्त महासागर के पश्चिमी अचल मे हालैण्ड एक बड़ी औपनिवेशिक शक्ति के रूप में मौजूद था और उसके उपनिवेश वहाँ चार अक्षाशो मे फैले हुए थे। उसके इस द्वीप-साम्राज्य का क्षेत्रफल ७,३३,४९४ वर्गमील था और जनसंख्या छ करोड़ से अधिक; यह क्षेत्र ब्रिटेन के अधीन पूर्वी एशिया से लेकर आस्ट्रेलिया तक फैला हुआ था। पूर्व से लेकर पश्चिम तक फैले हुए इस क्षेत्र से फिलिपिनी द्वीप का दक्षिणी भाग बहुत निकट था और सुदूरपूर्व के लिए यह एक कड़ी भी बन सकता था और अवरोध भी, कड़ी या अवरोध होना राजनीतिक परिस्थितियों पर निर्भर था।

सन् १८१५ के वियना-सम्मेलन के उपरान्त उपनिवेशो की वापसी के बाद से उसके पूर्वीय साम्राज्य में हालैण्ड के आधिपत्य को किसी ने भी गंभीर चुनौती नही दी थी। इसका एक कारण तो यह था कि हालैण्ड यूरोप या विश्व की राजनीति से संन्यास सा ले चुका था। दूसरे अपने साम्राज्य में प्रशासन सुचारु रूप से किया था और अन्य देशों को वहाँ शांति व व्यवस्था स्थापित करने के बहाने पहुँचने का अवसर नहीं मिला था। यूरोप के अन्य सशक्त देशों की प्रतिद्वद्विता शुरू से ही चीन में शुरू हो जाने के कारण भी हालैण्ड अपनी वह स्थिति इस क्षेत्र मे कायम रखने में समर्थ रहा था, जिसकी रक्षा की शक्ति उसमें नही थी। दूसरे शब्दो मे, उन्नीसवी शताब्दी व बीसवीं शताब्दी के पहले तीस वर्षों में अन्य औपनिवेशिक शक्तियो के मुकाबिले में यदि हालैण्ड अपना साम्राज्य सुरक्षित रख सका तो यह अपनी शक्ति की बदौलत नहीं था।

और न यह इस कारण ही था कि उसके अधीन क्षेत्रों का मूल्य या महत्त्व ही इतना कम था कि अन्य देशों ने हालैण्ड को अछूता छोड दिया। बाजार की दृष्टि

से क्षेत्र महत्त्वपूर्ण था और वहाँ के आयात सन् १९१३ मे १७.५५ करोड डालर के थे, जो सन् १९२९ में बढकर ४३ १ करोड़ डालर के हो चुके थे। इस आयात का बडा भाग हालैण्ड से आता था, और अमरीका, ब्रिटेन, जर्मनी व जापान शेष भाग के लिए प्रतिद्वन्द्विता करते थे, जिसमे जापान लगातार आगे बढ रहा था; सन् १९३२ में जापान की ऐसी स्थिति हो चुकी थी कि वह हालैण्ड से भी आगे बढने लगा था। किन्तु इस द्वीप-समूह का मुख्य महत्त्व वहाँ से शक्कर, चाय, कहवा, तम्बाकू, सुपारी जैसी कृषि उत्पत्ति तथा रबड़, खनिज तेल व पेट्रोल, टीन, नारियल का तेल आदि औद्योगिक महत्त्व की वस्तुओ की प्राप्ति के कारण था। इस सबके कारण द्वीप-समूह व वहाँ के डच-प्रशासन मे औद्योगिक देशो, विशेषकर जापान को बहुत दिलचस्पी हो गयी थी।

अपने उपनिवेशों में हालैण्ड का प्रशासन आर्थिक अधिक था, सामाजिक या राजनीतिक कम। तात्पर्य यह है कि सफल आर्थिक शोषण के लिए जितना हस्तक्षेप आवश्यक था, उससे अधिक हस्तक्षेप हालैण्ड वहा की देशी जनता के जीवन मे नही करता था। कुछ भागो मे यह प्रशासन देशी राजाओ के द्वारा होता था (जिन पर डच अधिकारियों का निरीक्षण रहता था) और अन्य भागो मे डच स्वय प्रशासन को अपने हाथो मे लिये हुए थे। किन्तु जहाँ यह प्रशासन स्वय डच अधिकारियो के हाथ में था, वहाँ भी वह देशी परपराओ के अनुरूप और देशी मुखियाओं के द्वारा ही होता था। इससे पहले महायुद्ध के बाद तक हालैण्ड उन कठिनाइयों से बचा रह गया था, जो गणतंत्र व राष्ट्रीयता-संबंधी पश्चिमी विचारो को फैलाने से उत्पन्न होती थी। दूसरी ओर, उन्नीसवी शताब्दी के अतिम २५ वर्षों में डच-प्रशासको ने अपने अधीन देशी जनता की आर्थिक भलाई के प्रश्न में भी दिलचस्पी ली थी और नयी भूमि पर खेती शुरू करायी थी, सिंचाई का प्रबन्ध कर खेती की उपज बढायी थी तथा देशी जनता के हितों व आवश्यकताओ को देख कर ही कृषि-प्रणाली का गठन किया था। यद्यपि भूमिका मुख्यत: शोषक की ही थी, जनता के हितो की ओर भी थोड़ा ध्यान दिया गया था।

इस प्रशासन से स्थायित्व लाकर तथा अतरराष्ट्रीय राजनीति मे भाग न लेकर हालैण्ड-सरकार प्रभावकारी सैनिक या नौ-सैनिक शक्ति न रहते हुए भी अपना साम्राज्य कायम रखने मे समर्थ हो गयी थी। इसका एक कारण यह भी था कि अन्य देश यह सोचते थे कि आर्थिक व राजनीतिक क्षेत्रो में जो प्रतिद्वन्दी है, उनके हाथो में जाने से अच्छा यही है कि यह सपन्न क्षेत्र हालैण्ड के अधिकार मे रहे। उदाहरण के लिए ब्रिटेन के हित में यही था कि जर्मनी या जापान की जगह इस

क्षेत्र मे हालैण्ड का ही अधिकार बना रहे। फिलिपिनी द्वीपो मे अमरीका की जो स्थिति थी, उससे भी डच-क्षेत्रो को मूलतः सुरक्षा ही मिलती थी। किन्तु, सन् १९३१ के बाद जब जापानी साम्राज्य ने प्रशान्त महासागर व सुदूरपूर्व के क्षेत्रों मे व्यापार व क्षेत्राधिपत्य के सबध में आक्रामक नीति बरतनी शुरू की, तब उस क्षेत्र में दिलचस्पी रखने वाले अन्य देशो व हालैण्ड को एक नयी स्थिति का सामना करना पड़ा। फिर भी, यहाँ पर जिस बात पर जोर दिया जा रहा है वह यह है कि हालैण्ड भी अपने उपनिवेश छोड़ने के लिए बिलकुल तैयार नही था और इस बात में उसने अमरीका की फिलिपिनी नीति का अनुसरण करने की जगह ब्रिटेन की उपनिवेश-नीति का ही अनुसरण किया था।

## (९) सुदूर पूर्व में फ्रांस

सुदूरपूर्व में क्षेत्राधिपत्य की दृष्टि से तीसरे सबसे अधिक महत्त्वपूर्ण पश्चिमी देश, फ्रांस के संबंध में भी यही निष्कर्ष निकलता था। फ्रांसीसी हिन्द-चीन में कोचीन-चीन, कम्बोडिया, अन्नम, टोंगकिंग व लाओस के २,८४,९०० वर्गमील तथा २,१६,००,००० जनसंख्या (सन् १९३१ के आँकड़े) वाले क्षेत्र शामिल थे। इस प्रकार, फ्रासीसी उपनिवेशों का यह सबसे बड़ा क्षेत्र ही नही था, बल्कि स्वय फ्रास से भी कुछ बड़ा और फ्रास की आबादी की आधी आबादी वाला क्षेत्र भी था। इसके अतिरिक्त, इस क्षेत्र का महत्व आबादी या क्षेत्रफल में ही नही, वहाँ के आर्थिक साधनों में निहित था। चावल, काली मिर्च, चाय, दालचीनी जैसी कृषि-उपज के अतिरिक्त इस क्षेत्र से निर्यात होने वाली वस्तुओ मे टीन, कोयला, रबड़, नारियल तथा जस्ता प्रमुख थे और जस्ते का तो यह प्रमुख निर्यात क्षेत्र था। सन् १९३१ में इस क्षेत्र का लगभग आधा आयात-व्यापार फ्रास से था और इसका चौथाई निर्यात फ्रास को होता था।

यद्यपि औपचारिक रूप से इस क्षेत्र में से केवल कोचीन-चीन ही उपनिवेश कहा जाता था और शेष संरक्षित क्षेत्र कहलाते थे, वास्तव मे, यह सारा-का-सारा क्षेत्र ही फ्रांस के प्रशासकीय अधिकार मे था, क्योकि सरक्षित क्षेत्र मे अधिकारियो के निर्देशन अधिकार उतने ही प्रभावकारी थे, जितने कोचीन-चीन में राज्यपाल के। वास्तव में सारा प्रशासन गवर्नर-जनरल के अधीन केन्द्रीभूत था, जो हनोई मे रहता था। सन् १९२३ के बाद उसके निरीक्षण-अधिकार दक्षिणी प्रशान्त महासागर के फ्रासीसी आधिपत्य के द्वीपों तक मे हो चुके थे। फ्रास के आंतरिक शासन मे उसकी स्थिति उपनिवेश-मंत्री की थी।

सन् १८८५ में टोंगकिंग के स्थायी रूप से चीन से अलग हो जाने के बाद से

फ्रांस की इस क्षेत्र में नीति यह थी कि प्राप्त क्षेत्रों को संगठित किया जाय, वहाँ के शासन में केन्द्रीकरण हो और सुदूरपूर्व के क्षेत्रों को फ्रांस में आत्मसात् कर लिया जाय। निश्चय ही, संरक्षित क्षेत्रों मे देशी प्रशासकीय ढाँचे को नाममात्र के शासकीय अधिकार देकर कायम रखा गया था और किसी हद तक उन्हे मजबूत भी बनाया गया था। जहाँ फ्रास के हितो व आवश्यकताओ से विरोध नही था, वहाँ आंतरिक शासन स्थानीय परंपराओ व प्रथाओ के अनुरूप रखा गया था। चूँकि यह क्षेत्र क्रांतिकारी चीन से जुड़ा हुआ था और चूँकि श्याम स्वतत्र होकर अपनी स्वाधीनता कायम रखे हुए था, इस क्षेत्र की जनता मे, डच-उपनिवेशो की तुलना में बहुत अधिक मात्रा में पश्चिमी विचारो का समावेश हुआ था और फ्रास को स्थानिक शासन-संस्थाओं की स्थापना की बढ़ती हुई माँग का सामना करना पड़ रहा था। इन माँगो की आशिक पूर्ति गवर्नर-जनरल की परामर्शदात्री परिषद् स्थापित करके की गयी थी जिसमे स्थानीय प्रतिनिधि होते हुए भी स्थानीय देशी जनता के प्रतिनिधियो का अनुपात बहुत कम था। देशी सस्थाओ को मजबूत करके भी कुछ माँगो को टाला गया था। किन्तु इन प्रवृत्तियो के बावजूद, वास्तविकता यही थी कि, औपनिवेशिक शक्ति के रूप मे फ्रास की स्थिति को मजबूत करने की दिशा में ही काररवाई हो रही थी, वहाँ से हटने का कोई इरादा कही से प्रकट नही था।

टोगकिंग में अपनी सत्ता स्थापित करने के बाद फ्रास ने चीन के दक्षिणी-पूर्वी प्रान्तों की ओर अपनी निगाह डाली। फ्रासीसी हिन्द-चीन से युन्नान प्रान्त जाने वाले रेल-मार्ग तथा क्वांग चू वान के पट्टा-क्षेत्र से यह प्रकट था कि फ्रांस चीन मे अपने हितों व अपनी स्थिति की रक्षा में तत्पर है। रेलमार्ग-अधिकार, आर्थिक प्राथमिकताओं, पट्टा-क्षेत्रो तथा हैनान द्वीप के सबध में इस समझौते से कि वह किसी अन्य देश को नही दिया जायगा, फ्रास ने चीन मे अपने हितो व दिलचस्पियों का एक अलग क्षेत्र बना रखा था। वाशिंगटन-सम्मेलन या उसके बाद के दशक में फ्रांस ने ऐसा कोई संकेत नही दिया था कि दिलचस्पी के अपने क्षेत्र मे वह अपनी स्थिति का विकास—और सभव हुआ तो विस्तार—करना छोड़ देगा। इसके अतिरिक्त, टींटसीन व शघाई में प्राप्त रिआयतो पर फ्रांस अब भी जमा बैठा था; चीन मे पूँजी लगाने में भी फ्रांस की गहरी दिलचस्पी थी और जो पूँजी लगी थी, वह सीधी पूँजी लागत व सरकारी आभारो मे लगभग बराबर-बराबर बँटी हुई थी। व्यापार में लगी कुल पूँजी सन् १९१४ में ६ करोड़ डालर थी जो सन् १९३१ में बढ़कर ९.५ करोड़ डालर हो चुकी थी, जब कि सरकारी आभारो में यह राशि, इसी अवधि में, गिर कर ११.१४ करोड़ से ९.७४ करोड़ डालर रह गयी थी। राजनीतिक दृष्टि से, इस

राशि मे, बेल्जियम द्वारा लगायी गयी पूँजी जोडना भी आवश्यक है, जो बडी न होते हुए भी महत्वहीन नही थी। इस प्रकार, चीन मे फ्रास की भौतिक दिलचस्पी यद्यपि कुछ अन्य देशो के अनुपात मे ही कम हो रही थी, किन्तु तव भी वह काफी थी। किन्तु फ्रास की स्थिति की मजबूत नीव हिन्द-चीन में ही थी। सुदूरपूर्व की घटनाओ के संबध मे फ्रासीसी प्रतिक्रिया चीन-स्थित फ्रासीसी हितो पर पड़ने वाले प्रभाव से नही, औपनिवेशिक साम्राज्य मे फ्रास की स्थिति पर पड़ने वाले प्रभाव से ही आँकी जा सकती थी।

## (१०) संक्षेप

सन् १९३१ में पश्चिम की पूर्व मे जो स्थिति थी, उसके सक्षिप्त विवरण में यह कहा जा सकता है कि एक ओर रूस के माध्यम से यूरोप उत्तरी एशिया मे बढ़कर प्रशान्त महासागर तक पहुँच गया था और उसका प्रभुत्व दक्षिण मे आमूर तक हो गया था, और दूसरी ओर, चीन की सीमा से लगे यूरोपीय उपनिवेश बीसवें दक्षिणी अक्षाश से लेकर पूर्व में प्रशान्त महासागर मे फैले हुए थे। एशिया महाद्वीप से जापान दक्षिण की ओर फिलिपिनी द्वीप-समूह तक फैला हुआ था और स्वयं महाद्वीप पर, उसने कोरिया पर अधिकार, मचूरिया में अधिभावी स्थिति व चीन में अन्य विदेशो की तुलना में बढ़ते हुए महत्त्व की आर्थिक दिलचस्पी पैदा करके, अपनी स्थिति बहुत मजबूत कर ली थी। फिलिपिनी द्वीप से हटने के अमरीकी निश्चय के बाद वहाँ के भविष्य के संबंध मे एक प्रश्नवाचक चिह्न लगा हुआ था, और इसी प्रश्नवाचक चिह्न से ब्रिटेन, फ्रास व हालैण्ड की भविष्य की नीतियो के प्रश्न-चिह्न भी जुड़े हुए थे, क्योकि स्वतंत्र फिलिपिनी राज्य–एक ओर जापान व दूसरी ओर इन देशों के उपनिवेशों के बीच व्यवधान बन कर खड़ा हो रहा था। राष्ट्रीयता की भावना चीन में एकता व आधुनिकता की प्रक्रिया शुरू कर चुकी थी और इस प्रक्रिया के एक अग के रूप में ही चीन में विदेशी हितो व दिलचस्पियो मे बलात् परिवर्तन हो रहा था। एकता व आंतरिक संगठन से बढती हुई शक्ति द्वारा चीन अपनी नियत व भविष्य पर स्वय नियत्रण करने और अततः, सुदूरपूर्व की राजनीति में सबसे अधिक सबल शक्ति के रूप मे उदय होने की दिशा मे बढ रहा था। इस प्रयाण मे, सैद्धांतिक दृष्टि से, उसे वाशिगटन की नव-राष्ट्र-सधि से सहायता मिल रही थी, जिसमें उसे आश्वासन दिया गया था कि राजनीतिक अशांति समाप्त कर स्थायित्व प्राप्त करने और उससे सशक्त बन कर, सभवतः, अधिभावी स्थिति में आने के लिए उसे पूर्ण और अबाध अवसर दिया जायगा और विदेशी शक्तियाँ उसमे हस्तक्षेप न करेंगी। किन्तु उसी समय जापान की ओर से एक दूसरी ही धारा चलनी शुरू हो गयी, जिससे सुदूरपूर्व मे दिलचस्पी रखने वाले सभी देशो व चीन की राजनीतिक समस्या ही बदल गयी।

# परिशिष्ट

## (पाद-टिप्पणियाँ)

### अध्याय १

१. एस. डब्लू. विलियम्स—मिडिल किंगडम, जिल्द १, पृष्ठ २६३।

२. असैनिक सेवाओं-सम्बन्धी परीक्षा की प्रणाली का आरम्भ हान राजवंश (ईसा पूर्व २०६ से २१४ ईसवी तक) के समय में हुआ, किन्तु यह सुव्यवस्थित हुई ति' आंग राजवंश (६१८-९०६ ईसवी)।

३. 'हवा और पानी' का सिद्धान्त। ऐसा माना जाता है कि पृथ्वी और आकाश पर साधु और असाधु योनियों का प्रभाव होता है, अतः किसी गृह का निर्माण करने के लिए, या कब्र खोदने के लिए अथवा नगर का निर्माण करने के लिए भूमि का चुनाव करते समय इन बातों पर विचार कर लेना चाहिए।—के. एस. लातूरेते, दि डेवलपमेण्ट आव चाइना, पृष्ठ १२४।

४. गाँवों के नामकरण के प्रश्न पर ए. एच. स्मिथ ने अपनी पुस्तक 'विलेज लाइफ इन चाइना' अध्याय ३ में भलीभाँति प्रकाश डाला है।

५. एन. बी. मोर्स—ट्रेड ऐण्ड ऐडमिनिस्ट्रेशन आव चाइना, पृष्ठ ५१।

६. अध्याय ११ पृष्ठ २४९-२५० में इस विषय पर विस्तार से विचार किया गया है।

७. सुधार-आन्दोलन पर आगे अध्याय ७, अनुभाग ८ में प्रकाश डाला गया है।

८. प्रभार की नियमित प्रणाली की व्यवस्था किये जाने के पूर्व प्रथम सन्धियों के काल तक की यह बात सही थी। आगे चलकर जब विदेशी माल पर लगने वाले शुल्क से सम्बद्ध सेवा का पुनस्संघटन किया गया और उसमें निरीक्षकों के पद पर विदेशियो की नियुक्ति हुई तब कहीं जाकर भ्रष्टाचार का उन्मूलन हो सका।

९. स्थायी नियुक्ति की शर्त पर। देश के कुछ भागों मे ऐसा रिवाज था कि मजिस्ट्रेट ही मुखिया के नाम का प्रस्ताव किया करता था। लेकिन इसे नियम का अपवाद ही समझना चाहिए।

१०. पीछे पृष्ठ १२-१३ पर।

## अध्याय २

१. पूर्व की ओर रूस के प्रारम्भिक बढ़ाव के सम्बन्ध में देखिए, अध्याय १८, अनुभाग २।
२. एस. डब्लू. विलियम्स, मिडिल किंगडम, जिल्द २, पृष्ठ ३०३।
३. वही, पृष्ठ ३०७।
४. कोहोग की स्थापना के बाद गवर्नर के अधीन सबसे प्रमुख अधिकार हो पो, जो राजस्वमंडल ( हु पु ) से लिया गया था और जिसके प्रति वह कैण्टन के सीमाशुल्क आयुक्त के रूप मे मुख्यतः जिम्मेदार था।
५. टी. डेनेट—अमेरिकस इन ईस्टर्न एशिया, पृष्ठ ६३।
६. औसत आयात सन् १८०० से १८११ तक ४०१६ पेटियो का, १८११ से १८२१ तक ४४९४ पेटियों का (आई. मोर्स कृत इण्टरनेशनल रिलेशंस, पृष्ठ १७६), १८२१ से १८२८ तक ९७०८ पेटियों का, १८२८ से १८३५ तक १८७१२ पेटियो का (आई. मोर्स पृष्ठ १८२) था।
७. व्यापार अधीक्षक के रूप में जिन तीन व्यक्तियों की नियुक्ति हुई, उनमें लार्ड नेपियर वस्तुत. प्रथम व्यक्ति थे। चूंकि आरम्भ से अन्त तक वे ही अगुआ रहे, इसलिए इस तरह उनके नाम का प्रयोग हुआ है मानो ब्रिटिश प्रतिनिधि वे अकेले रहे हो।
८. एच. बी. मोर्स—इण्टरनेशनल रिलेशंस, जिल्द १, पृष्ठ १२६-१२७।
९. मार्च १०, १८३९।
१०. वैसे प्रारम्भिक संघर्ष तो नवम्बर, १८३९ में ही हुए, किन्तु जून, १८४० में कहीं जाकर इतनी बड़ी सेना अंग्रेजो की इकट्ठी हो पायी कि युद्ध छेड़ा जा सके।
११. डेनेटकृत 'अमेरिकंस इन ईस्टर्न एशिया' में उद्धृत, पृष्ठ १०७।
१२. डब्लू. सी. कास्टिन—ग्रेट ब्रिटेन ऐण्ड चाइना १८३३-१८६० (१९३६) पृष्ठ ४-७।
१३. डेनेट, पृष्ठ १६५, आई. मोर्स पृष्ठ ३२०-३२१।
१४. डी. एफ. सियाग—दि एक्सटेंशन आव इक्वल प्रिविलेजेज टु अदर नेशंस दैन दि ब्रिटिश आफ्टर दि ट्रीटी आव नानकिंग। चाइनीज सोशल एण्ड पोलिटिकल साइंस रिव्यू, जिल्द १५, पृष्ठ ४४३। इसके पहले का उद्धरण भी पृष्ठ ४२८ पर दिये गये उसी लेख से है। चीनी सूत्रों के आधार पर लिखे गये इस लेख (पृष्ठ ४२२-४४४) में प्रश्न की भलीभाँति मीमांसा की गयी है।

लेकिन उसी पत्रिका की जिल्द १६, पृष्ठ ७५-१०९ पर दिये गये टामस कार्नें के लेख 'दि सियांग डाकुमेंट्स' में इससे भिन्न निष्कर्ष निकाला गया है।

१५. मुख्यतः इस कारण कि चीनी अधिकारी इस बात पर दृढ़ थे कि उन्हें 'किसी भी कीमत' पर पेकिंग जाने से रोका जाय।

१६. यद्यपि यह बात स्पष्ट रूप से अनुबद्ध नहीं थी और इसके कार्यान्वय के लिए परिषद्-आदेश शीघ्र ही जारी किये गये, किन्तु अंग्रेज वार्ताकारो ने यह समझ लिया था कि नानकिंग की सन्धि के अनुसार उनके नागरिको को अपरदेशीयता के अधिकार प्राप्त हैं। अमेरिकन सन्धि में जो विस्तृत व्यवस्था थी उसके लिए विशेष रूप से इस कारण आग्रह किया गया था कि ब्रिटेन को हांगकांग देकर अलग से सुविधा प्रदान की गयी थी। जो भी हो, चीन के न्याय-प्रशासन में, जहाँ तक विदेशी नागरिकों का सवाल है, इतनी खामियाँ थीं कि अमेरिकनो को उससे टेरानोवा मामले के समय (१८२१) कठिनाई समझ मे आयी और उन्होने यह अनुभव किया कि विदेशी नागरिकों की रक्षा के लिए कुछ-न-कुछ किया जाना अत्यन्त आवश्यक है।

१८४४ से आजतक चीन में अपरदेशीयता के प्रश्न पर डब्लू. डब्लू. विलोबी ने 'फारेन राइट्स ऐण्ड इन्टरेस्ट्स इन चाइना', अध्याय २ में संक्षेपतः अच्छा विचार किया है। १८४४ की सन्धि के मूलपाठ के लिए देखिए—मेलाय, जिल्द १, पृष्ठ १९६–२१०।

१७. यह बात ध्यान में रखने की है कि सन्धियों के चीनी पाठ में 'नगर की भीतरी सीमा मे' विदेशियों के निवास-संबंधी अधिकार की बात स्पष्ट रूप से नहीं आयी थी, यद्यपि कैण्टन में विदेशियों ने इस बात पर जोर दिया था। इसलिए कायदे से कहा जाय तो चीनियों की काररवाई से सन्धि की शर्तों की अवहेलना नही होती थी।

१८. झगड़े के समय तक उसकी रजिस्ट्री की अवधि समाप्त हो चुकी थी। लेकिन रजिस्ट्री का यह प्रश्न तो चीनियो ने अपनी बाद की काररवाइयों का औचित्य प्रमाणित करने के लिए मामले में सान लिया, क्योंकि उस समय तक उन्हें इसकी जानकारी नही थी। दूसरी बात यह कि जहाज उस समय हांगकांग जा रहा था, जहाँ उसके लाइसेंस का नवीनीकरण हो गया होता।

१९. ब्रिटेन और फ्रांस इस समय रूस के विरुद्ध एक हो गये थे (क्रीमिया का युद्ध)।

इस प्रकार उनका यह सहयोग एक माने में पूर्व मे भी अस्थायी यूरोपीय सहयोग के रूप में प्रकट हुआ ।

२०. टाइलर डेनेट—अमेरिकस इन ईस्टर्न एशिया—पृष्ठ ५६१–५६३ ।

२१. प्रशान्त की ओर चीन के बढाव के बारे में और विस्तृत विवरण अध्याय १८, अनुभाग १,२ में देखिए ।

२२. इन शक्तियो के प्रतिनिधि १८६० से ही पेकिंग में रह रहे थे, किन्तु सम्राट् के पास तक उनकी प्रत्यक्ष पहुँच नही थी । विदेशी मामलों के सम्बन्ध में एक मण्डल (सुगली यामेन) की स्थापना १८६१ में हुई, जो पूर्ण रूप से स्वतंत्र नहीं था । इसके सदस्य प्रशासन की अन्य शाखाओं के प्रतिनिधि थे । इस मंडल के जिम्मे यह काम भी नही था कि वह बाहरी दुनिया के साथ सम्पर्क बढ़ाकर चीन का हित-साधन करे । इसके ठीक विपरीत यह बाहरी दुनिया से कम-से-कम सम्पर्क रखने की ही कोशिश करता था ।

२३. १८९४ तक कितना परिवर्तन हो गया यह जानने के लिए देखिए, आगे अध्याय ३, अनुभाग ७ ।

## अध्याय ३

१. इस प्रश्न पर वांग यू कुआन ने पैसिफिक अफेयर्स, जिल्द ९ के पृष्ठ २०१–२२० पर प्रकाशित 'दि राइज आव दि लैंड टैक्स ऐण्ड दि फाल आव डाइनेस्टीज इन चाइनीज हिस्ट्री' 'नामक लेख में अच्छी तरह विचार किया है ।

२. डिप्लोमेटिक करेसपांडेस, १८६४, पृष्ठ ८५९ से । टी. डेनेट ने 'अमेरिकंस इन ईस्टर्न एशिया' के पृष्ठ ३७५–३७६ पर इसे पूरे का पूरा उद्‌धृत किया है ।

३. एच. बी. मोर्स—इंटरनेशनल रिलेशंस आव चाइनीज एम्पायर, पृष्ठ १८७ ।

४. डेनेट द्वारा पृष्ठ ३८५ पर उद्‌धृत ।

५. मोर्स—पृष्ठ २४२ ।

६. वही—पृष्ठ २४८ ।

७. वार्ड के मरने के बाद एक दूसरे अमेरिकन बर्गोविन को सेना की कमान सौंपी गयी । लेकिन इस व्यक्ति के मन में महत्वाकांक्षा जाग उठी, जो चीन सरकार के अधीन उसके सहायक अधिकारी के पद के अनुरूप नहीं थी, अतः बहुत दिन तक उसके हाथ में कमान नहीं रखी जा सकती थी । उसके विफल हो जाने पर अंग्रेजो ने कैप्टेन गार्डन को नामजद किया ।

८. मूलतः 'लिकिन' का मतलब ऐसा प्रभार जो माल के यातायात पर लगाया

जाय। यह माल के मूल्य के हजारवें या अधिक भाग की दर से लगाया जाता था। लेकिन व्यापक रूप से तथा प्रचलित अर्थ में 'लिकिन' से वे सारे कर समझे जाने लगे जो अनेक रूपों में तथा अनेक राशियों में आन्तरिक व्यापार पर लगाये जाते थे।—स्टैनली के हार्नबेकचाइना टुडे : पोलिटिकल, पृष्ठ ४६०; नोट नम्बर ५ के रूप मे एच. एस. क्विगले और जी. एच. ब्लेक्सली द्वारा 'दि फार ईस्ट' मे पृष्ठ १२४ पर उद्धृत।

९. मोर्स—पृष्ठ ३०८।

### अध्याय ४

१. प्राग्रेस आव जापान, पृष्ठ २१।
२. ग्युबिंस—उपरि उद्धृत ग्रन्थ।
३. जी. बी. सैनसम—जापान ए कल्चरल हिस्ट्री (१९३१) पृष्ठ ४५५।
४. वही, पृष्ठ ४५७।
५. सैनसम ने उपरि उद्धृत ग्रन्थ में पृष्ठ ४६० पर एम. ताकिजावा की पुस्तक 'दि पेनिट्रेशन आव मनी इकानामी इन जापान (१९२७)' से विस्तृत उद्धरण दिया है।
६. वही—पृष्ठ ४६२।
७. वही—पृष्ठ ४६०।
८. व्यापारी वर्ग की वास्तविक स्थिति में हुए परिवर्तनों पर संक्षिप्त विचार के अतिरिक्त, देखिए पीछे, पृष्ठ ९२।
९. उपरि उद्धृत ग्रन्थ पृष्ठ ३८–३९।
१०. जे. डब्लू. फास्टर द्वारा 'अमेरिकन डिप्लोमेसी इन दि ओरियेण्ट' मे पृष्ठ १५१–१५२ पर उद्धृत।
११. टी. डेनेट द्वारा 'अमेरिकंस इन ईस्टर्न एशिया' में पृष्ठ २६३–२६४ पर उद्धृत।
१२. डेनेट—उपरि उद्धृत ग्रन्थ, पृष्ठ २६४।
१३. फास्टर—पृष्ठ १५२।
१४. जब तक अभियान की योजना परिपक्व हुई तब तक इसका मुख्य उद्देश्य सधि मे दिये गये अधिकारों को कार्यान्वित कराने से बदलकर शोगुन के समर्थन में प्रहार करना हो गया। देखिए— पी. जे. ट्रीट, अर्ली रिलेशंस, अध्याय १०।

## अध्याय ५

१. इसमें सबसे प्रधान चोशू निवासी किडो था। दूसरे लोग थे—सैगो, ओकुबो (सतसुमा सामुराय), इतागा की (तोसा) इतो (चोशू) और ओकुमा (हिजेन)। दरबार के अमीरो (अभिजातवर्गियों) के प्रतिनिधि राजकुमार इवाकुरा ने भी रेस्टोरेशन (पुनः स्थापन) और उत्तर-रेस्टोरेशन काल में प्रमुख भूमिका अदा की थी।

२. मैक-गोवर्न—माडर्न जापान, पृष्ठ ४६।

३. साविधानिक आन्दोलन के सबध में विचार करते समय इस शपथ और १८६८ के तथाकथित सविधान पर विचार किया जायगा।

४. मैक-लेरेन—पोलिटिकल हिस्ट्री आन जापान, अध्याय ३। मैक-लेरेन और नार्मन (जापांस इमर्जेंस ऐज ए मार्डन स्टेट, पृष्ठ ९४) दोनों का कहना है कि दाइम्यो को सामान्य राजस्व का आधा मिलता था। लेकिन दशमांश ठीक प्रतिशत प्रतीत होता है।

५. मैक-लेरेन—उपरि उद्धृत ग्रन्थ, पृष्ठ ७७।

६. वही—अध्याय ३।

७ देखिए—नार्मन, जापांस इमर्जेंस ऐज ए माडर्न स्टेट, पृष्ठ ९४–९६।

८. मैक-गोवर्न—माडर्न जापान, पृष्ठ ६१। लेकिन यह याद रखना चाहिए कि विस्तार के सबंध मे दूसरे वर्ग का विरोध इस कारण नही था कि वह इसको अवांछनीय मानकर अंततः अस्वीकार करता था, वरन् इसलिए कि वह पहले से पुनस्संगठन की आवश्यकता का अनुभव करता था। देखिए—आगे अध्याय ६।

९. मैक-गोवर्न—उपरि उद्धृत ग्रन्थ।

१०. यहाँ जिस अनुवाद का प्रयोग किया गया है, वह विलोनी और रोजर्स-कृत 'ऐन इण्ट्रोडक्शन टु दि स्टडी आव गवर्नमेण्ट' के परिशिष्ट में मिलेगा।

११. बजट के सबंध मे राजकुमार ईटो के विचार इतने रोचक और शिक्षाप्रद है कि उन्हें यहाँ उद्धृत करने का लोभ सवरण नही किया जा सकता। उनका कहना है—'बजट एक प्रकार की माप है, जिसके अनुसार प्रशासनाधिकारियों को चालू वर्ष मे व्यवस्था करनी चाहिए।......यह बात ध्यान में रखनी चाहिए कि ठीक प्रकार से तैयार किया गया बजट वही है, जो बचत का न होकर घाटे का हो। यदि मन्त्रियो से यह आशा नही की जाती कि वे कोई ऐसा खर्च, केवल इसलिए कि बजट मे उसकी व्यवस्था नहीं है, करेंगे जो

अनावश्यक हो तो ऐसा भी नहीं है कि विनियोजनों से अधिक या बजट में न दी गयी मदो या रकमों से अधिक खर्च करने में, जो अनिवार्य परिस्थितियों के कारण आवश्यक हो गया हो, उनके ऊपर कोई सांविधानिक प्रतिबन्ध हो—स्टीड, जापान बाइ दि जापानीज—पृष्ठ ५७।

१२. जैसा कि अध्याय ४ में बताया जा चुका है।

१३. इस बार वार्ता टोकियो के बजाय लन्दन मे चली ताकि टोकियो की क्षुब्ध जनता उसे प्रभावित न कर सके।

१४. अध्याय ४, पृष्ठ ९७–९८।

१५. नार्मन—जापास इमर्जेंस ऐज ए माडर्न स्टेट, पृष्ठ १४३–१४४।

१६. वही, पृष्ठ १४४।

१७. लातूरेते—डेवलपमेट आव जापान, पृष्ठ १६३।

### अध्याय ६

१. अध्याय ४।

२. पहले चीन सरकार को अपना रुख निश्चित कर लेने की चेतावनी देने के बाद। सुंगली थामेन ने फ्रांसीसी राजदूत बेलोने से यह आशा प्रकट की थी कि फ्रांस मामले की तहकीकात और शान्तिपूर्ण वार्ता का कार्य अग्रसर कहता रहेगा।—टी. एफ सियांग, साइनो जापानीज रिलेशंस (१८७०–१८९४), चाइनीज सोशल ऐण्ड पोलिटिकल साइंस रिव्यू, जिल्द १७, पृष्ठ ५३–५४।

३. सियांग, ऊपर उद्धृत ग्रन्थ में पृष्ठ ११।

४. ऊपर उद्धृत ग्रन्थ, पृष्ठ ६१।

५. टी. सी. लिन, ली हुंग-चाग—हिज कोरियन पालिसीज (१८७०–१८८५)। चाईनीज सोशल ऐण्ड पोलिटिकल साइंस रिव्यू, जिल्द १९, पृष्ठ २०३। प्रोफेसर लिन ने इसकी समानता आधुनिक युग में भी ब्रिटेन के औपनिवेशिक राज्यो और ब्रिटिश क्राउन (राजा) के बीच विद्यमान सम्बन्धों में ढूंढ़ निकाली है।

६. सियांग, ऊपर उद्धृत ग्रन्थ में, पृष्ठ ५३–५४।

७. मोर्स, इंटरनेशनल रिलेशंस, जिल्द ३, पृष्ठ ९।

८. मोर्स, ऊपर उद्धृत ग्रन्थ मे पृष्ठ ९ पर। कमोडोर शुफेल्ट ने, ली के साथ हुए पत्राचर में, कहा था कि यत. कोरिया चीन का अधीनस्थ राज्य है, अतः मैंने सन्धि वार्ता में चीन की सहायता प्राप्त कर ली थी। उन्होंने कोरिया के राजा का एक पत्र भी वाशिंगटन भेजा था, जिसमें कोरिया के राजा ने यह माना था कि कोरिया चीन का अधीनस्थ राज्य है। यह दुर्भाग्य की बात है कि चीन

की दृष्टि से इन पत्रो का कोई आधिकारिक महत्त्व नहीं था। इन सारे प्रश्नो को विस्तार से जानना हो तो देखिए—डेनेट, पृष्ठ ४५४–४६४ तथा सियाग, ऊपर उद्धृत ग्रन्थ में पृष्ठ ६८–७०। सियाग का कहना है कि ली हुंग-चांग ने कोरिया और पश्चिमी देशो के बीच में सन्धियाँ इसलिए सम्पन्न करायी कि जापान प्रभाव-शून्य हो जाय।

९ हलबर्ट—पासिंग आव कोरिया, पृष्ठ ९३।

१०. मैक-केंजी—कोरियाज फाइट फार फ्रीडम; पृष्ठ २६–२७।

११. मोर्स, उपर उद्धृत ग्रन्थ मे पृष्ठ ११। सियांग के अनुसार (ऊपर उद्धृत ग्रन्थ में पृष्ठ ८०–८१) इस बार मुख्य प्रतिनिधि थे चेन-तांग। युआम शिह् काई उस समय चीनी सैनिको के कमाण्डर जनरल वू चाओ-यू के अधीन क्वार्टर-मास्टर पद पर थे। बाद में (१८८५ में) युआन रेजिडेण्ट हो गये।

१२. मोर्स, ऊपर उद्धृत ग्रन्थ मे, पृष्ठ १२ पर।

१३. श्री पेरिल के नाम २० मई, १८८० को सर आर. हार्ट द्वारा लिखा गया पत्र। मोर्स द्वारा पृष्ठ १६ पर उद्धृत।

१४. वही, पृष्ठ १८।

१५. ग्रेशम के नाम डेनबी का पत्र। फारेन रिलेशंस आव दि युनाइटेड स्टेट्स, १८९४, परिशिष्ट १, नंबर १२७, पृष्ठ २०।

१६. तिनत्सिन-सम्मेलन में पहले से नोटिस देने की बात तय हुई। ली हुंग चांग ने कहा कि मुझे यह सूचना मिल चुकी थी कि सैनिको के प्रस्थान के पूर्व पेकिंग से नोटिस भेजी जा चुकी थी।

१७. इस बात को लेकर जापानी काररवाई पर काफी वाद-विवाद चला कि काउ-शिंग ब्रिटेन द्वारा भाड़े पर लिया गया जहाज था और उस पर ब्रिटिश झण्डा फहरा रहा था।

१८. सिवा इस बात पर विचार करने के कि चीन स्वयं इतना कमजोर और पिछड़ा था कि वह बाहरी हमले से न तो कोरिया की रक्षा कर सकता था न अपनी।

१९. ग्रेशम के नाम डेनबी का पत्र, फारेन रिलेशस आव दि युनाइटेड स्टेट्स, १८९४, परिशिष्ट १, नम्बर १७, पृष्ठ २४।

२०. युद्ध मे पहली पराजय के बाद उसका मयूरपंख और पीत जैकेट उससे छिन गया तथा तिन्त्सिन के अपने पद से वह हटा दिया गया। लेकिन युद्ध का सचालन करते रहने के लिए उसे विवश किया गया।

२१. यह सन्धि २१ जुलाई, १८९६ को हुई थी। इससे जापान को यह सुविधा हो

गयी कि पश्चिमी राष्ट्रों की भाँति उसे भी चीन में सारी सहूलियतें मिल गयी। इसके सिवा चीन ने जापान का यह अधिकार भी मान लिया कि वह सन्धि वाले बन्दरगाहों में अपने उद्योग खड़ा कर सकता है। 'अत्यन्त अनुग्रह प्राप्त राष्ट्र' वाली धारा के अन्तर्गत इस नये अधिकार का सामान्यीकरण किया गया। इसके परिणाम बहुत ही महत्त्वपूर्ण हुए।

२२. डेनेट द्वारा पृष्ठ ४९९ पर उद्धृत।

### अध्याय ७

१. सिवा उस अवधि के जब कि श्री बरलिंगम अमेरिकी दूतावास में प्रधान पद पर थे और जबकि नेतृत्व कुछ समय के लिए अमेरिकनों के हाथ में आ गया था।

२. अधिक विस्तृत जानकारी के लिए देखिए, मेम्वायर्स, अध्याय ४।

३. ली हुंग-चाग पर यह भी आरोप है कि उसने लोभवश समझौता किया।

४. विलोबी—फारेन राइट्स ऐण्ड इटरेस्ट्स इन चाइना, पृष्ठ २९६—२९७।

५. ह्वाइट—मेम्वायर्स, पृष्ठ ९५।

६. 'चाइनीज ईस्टर्न' समझौते के अनुच्छेद १० के अनुसार यह व्यवस्था हुई कि चीन या रूस के बीच स्थल मार्ग से (रेल द्वारा) माल का जो भी आयात-निर्यात होगा उसके लिए सन्धि में तय जकात के अनुसार एक तिहाई काटकर शुल्क दिया जायगा। यह उम्मीद की गयी थी कि इससे व्यापार बढ़ेगा।

७. चीन इस बात के लिए तैयार हो गया कि शानतुंग प्रान्त को विकसित करने के लिए यदि विदेशी मुद्रा की आवश्यकता होगी तो वह पहले जर्मनी से माँगेगा तथा इस कार्य के लिए सामान भी जर्मनी से ही खरीदेगा। यदि जर्मनी की शर्तें भी अन्य देशों की भाँति ही अनुकूल हुईं।

८. नियमित समुद्री सीमाशुल्क मे हर १० में ४ के हिसाब से कमी की जाने की बात तय हुई।

९. ओवरलैंच—फारेन फिनांशल कण्ट्रोल इन चाइना, पृष्ठ ५।

१०. अध्याय ४, पृष्ठ ८८—९३।

११. वी. मूरकृत, डाइजेस्ट आव इण्टरनेशनल ला, पृष्ठ ५३५ (जर्मन सरकार के नाम प्रेषित पत्र से लिया गया)।

१२. इसके साथ ही यह इच्छा भी शामिल थी कि यदि शक्तियों के बीच चीन का विभाजन हुआ तो इस प्रदेश पर दावा किया जा सके।

१३. चीन के समुद्री सीमाशुल्क-सेवा में काम करनेवाले एक अंग्रेज श्री हिप्पस्ले के

माध्यम से इस सर्कुलर की रचना में एक प्रकार से परोक्ष ब्रिटिश प्रभाव दिखाई पड़ता था। इसकी पूरी जानकारी के लिए देखिए, ग्रिस्वोल्डकृत 'दि फार ईस्टर्न पालिसी आव दि युनाइटेड स्टेट्स, अध्याय २। अमेरिकी नीति पर ब्रिटिश प्रभाव के बारे में उनके निष्कर्ष कुछ अतिरजित प्रतीत होते है।

१४. हे-प्रस्तावो को स्वीकार करने के लिए अन्य शक्तियो ने भी यह शर्त रखी।
१५. वी. मूर का डाइजेस्ट, पृष्ठ ५४५।
१६. चीन की एकमात्र आशा के रूप में अनूदित।
१७. मोर्स द्वारा दिये गये शासनादेशो की सूची, जिल्द ३, पृष्ठ १३७–१३९।
१८. वी. मूर का डाइजेस्ट, पृष्ठ ४८२।

### अध्याय ८

१. यह दायित्व केवल इसलिए स्वीकार किया गया था कि जापान के विरुद्ध चीन की रक्षा की जाय, किन्तु चीन का यह समझना भी उचित ही था कि कम से कम रूस तो चीन का कोई भाग हड़पने की चेष्टा न करेगा।
२ पीछे, पृष्ठ १५२–१५३।
३. पीछे, पृष्ठ १६४।
४. यद्यपि प्रत्यक्षतः इस पर ३० जनवरी, १९०१ के पूर्व हस्ताक्षर नहीं हुए।
५. जापान सरकार ने आगे चलकर इस विशिष्ट स्थिति के लिए जोर डाला।
६. निश्चय ही, सिवा इसके कि हांगकांग पर पहले अधिकार कर लिया जाय। उसका शामिल होना अवश्य ही सामान्य एशियाई और साम्राज्यवादी गति-विधियों के अनुरूप था।
७. इसके सिवा यह भी था कि स्वयं यूरोप में इंग्लैण्ड और जर्मनी के सम्बन्धों में कटुता आती जा रही थी तथा यूरोप में कोई ऐसा राष्ट्र न था जिससे ब्रिटेन को पक्के समर्थन और सहायता का आश्वासन प्राप्त रहा हो। इसलिए जापान-ब्रिटेन सन्धि को विश्व तथा पूर्वी एशियाई रंगमंच की महत्त्वपूर्ण घटना समझना चाहिए।
८. आसाकावा—रूसो-जापानीज कानफ्लिक्ट, पृष्ठ, २९८।
९. हर्नबेक—कानटैम्पोरैरी पालिटिक्स इन दि फार ईस्ट, पृष्ठ २५३–२५४।

### अध्याय ९

१. फारेन फिनांशल कण्ट्रोल इन चाइना, पृष्ठ २७२।
२. मोर्स—ट्रेड ऐण्ड ऐडमिनिस्ट्रेशन आव चाइना, ३१२–३२७। पृष्ठ २९७ के सामने जो सारणी दी हुई है वह देखने योग्य है।

३. अवश्य ही राजनय के कारण राष्ट्र की व्यापारिक और वित्तीय संस्थाओ का ध्यान ऐसे क्षेत्रो की ओर आकृष्ट हो सकता है जिनकी पहले उन्होंने उपेक्षा की हो तथा ध्यान जाने पर जिसमें नेतृत्व करने के लिए वे प्रवृत्त हो जायँ। एक ही बात जो वे नही कर सकते हैं वह है अपने नागरिकों के लिए सुविधाएँ प्राप्त कर लेना।
४. मैक-मरे—ट्रीटीज एटसेटरा, पृष्ठ १४–१५।
५. विलोबी—फारेन राइट्स ऐण्ड इण्टरेस्ट्स इन चाइना, पृष्ठ ४८५-४८६।
६. आगे, पृष्ठ २५८।
७. समुद्री सीमा-शुल्क तथा कतिपय प्रान्तीय शुल्कों द्वारा भी प्राप्त। वैसे इनसे पहले भी युद्ध-संचालन के लिए ऋण प्राप्त हुआ था।
८. जापानी, फ्रांसीसी और रूसी व्यवस्थाओं में यही स्थिति थी।
९. पीछे, पृष्ठ १६७–१७०।
१०. जब तक कि हुकुआग-ऋण का सारा ब्योरा तय नहीं हो गया।
११. मिलार्ड—अवर ईस्टर्न क्वेश्चन, पृष्ठ २५।
१२. विलोबीकृत 'फारेन राइट्स ऐण्ड इण्टरेस्ट्स' में पृष्ठ ५०१ पर उद्धृत राष्ट्रपति विलसन की घोषणा से।
१३. यह उचित प्रतीत होता है कि क्रान्ति के बाद की चीनी वित्तीय समस्याओं पर यहाँ विचार न कर, आगे के अध्यायों में उन पर विचार किया जाय क्योंकि १९११ के बाद की राजनीतिक पद्धति के विकास के सन्दर्भ में इस पर विचार करने से बात सुविधापूर्वक समझ में आयेगी।
१४. जापान के हितो पर अध्याय १६ में अच्छी तरह विचार किया गया है।

### अध्याय १०

१. अधोलिखित उद्धरण ब्लाण्ड और ब्लैक हाउसकृत 'चाइना अण्डर दि एम्परेस-डोवागर' पृष्ठ ४१९–४२४ से लिये गये हैं।
२. ऐसा समझा जाता है कि ली ऊआंगचांग के अधीन और नियंत्रण में आधुनिक ढंग की सेना थी, किन्तु इसे आधुनिक या राष्ट्रीय सेना नहीं माना जा सकता।
३. इस काल के सामाजिक और सामान्य आर्थिक परिवर्तनों पर अध्याय १२ मे विचार किया गया है।
४. पीछे, पृष्ठ १७५–१७८।
५. आगे, पृष्ठ २४०–२४२।
६. चाइना ईयर बुक १९१२, पृष्ठ ३५३।

७. अमेरिकन फारेन रिलेशंस (१९०८), नम्बर १००५, पृष्ठ १९२ ।

८. अमेरिकन फारेन रिलेशंस (१९०८) नम्बर ९८९ में दिये गये विनियमो के अनुवाद से ।

९. इस प्राधिकार का उपभोग उसे कुवांग सू की विधवा (नयी डोवागर सम्राज्ञी) के साथ मिलकर करना पड़ा ।

१०. केण्ट—पासिंग आव दि मंचूज, पृष्ठ ४३ ।

११. ब्लाण्ड—रिसेण्ट इवेण्ट्स ऐण्ड प्रेजेण्ट पालिसीज इन चाइना, पृष्ठ १४ ।

१२. ब्राउन—दि चाइनीज रिवोल्यूशन, पृष्ठ ३-४। इस बात पर जरा ध्यान दीजिए कि दुर्भिक्ष और सक्रिय क्रांति के स्थान एक ही थे ।

१३. ब्लाण्ड, ऊपर उद्धृत ग्रन्थ, पृष्ठ १५ ।

१४. केण्ट, ऊपर उद्धृत ग्रन्थ, पृष्ठ ५८ ।

१५. वही, पृष्ठ ५९ ।

१६. वही, पृष्ठ ६०

१७. राज्य-त्याग सम्बन्धी घोषणाओ के अनुवाद के लिए देखिए, चाइना ईयर बुक (१९१३), पृष्ठ ४८१–४८४ ।

## अध्याय ११

१. राजनीतिक प्रणाली की जानकारी के लिए देखिए अध्याय १, अनुभाग ५ ।

२. नानकिंग परिषद् ही १९१३ के चुनावों तक सारा विधानी कार्य करती रही । इस चुनाव के फलस्वरूप ही सिनेट और प्रतिनिधि सभा अस्तित्व मे आयी ।

३. पीछे अध्याय १०, पृष्ठ २४६–२४७ ।

४. नानकिंग परिषद् द्वारा उस समय इस पद पर प्रतिष्ठित जब कि उसने युवान को राष्ट्रपति चुना । इसके साथ ही वह हुकुआंग के वाइसराय पद पर भी प्रतिष्ठित था ।

५. विस्तृत विश्लेषण के लिए देखिए—विनाके, माडर्न कांस्टीट्यूशनल डेवलपमेंट इन चाइना (१९२२), पृष्ठ १४१–१४७ ।

६. बड़ी शक्तियों में केवल अमेरिका ने इस गणराज्य को मान्यता दी । तिब्बत का प्रश्न हल होने तक इंग्लैण्ड ने मान्यता रोक रखी थी ।

७. मनोरंजक राष्ट्रपति-निर्वाचन-कानून में इसके लिए व्यवस्था की गयी थी ।

८. प्रस्तावित संघटन का यही एक अंश था जो कभी अस्तित्व में नहीं आया ।

९. देखिए, चाइना ईयर बुक (१९१६), पृष्ठ ६०६ ।

१०. आगे अध्याय १६, अनुभाग ४ ।

११. अध्याय १६, अनुभाग ५–६ में इन पर विचार किया गया है।
१२. नेशनल रिव्यू (चाइना), २८ अगस्त, १९१५।
१३. इस इश्तहार के अनुवाद के लिए देखिए—बी. एल. पुत्नम वील, दि फाइट फार दि रिपब्लिक इन चाइना, अध्याय १०।
१४. युद्ध में चीन के योगदान के बारे में देखिए, आगे अध्याय १७।
१५. एच. एम. विनाके, माडर्न कास्टीट्यूशनल डेवलपमेंट इन चाइना, पृष्ठ २३८।
१६. इसमें घूस देना, सांसदिको का मनोरंजन करना तथा संसद भवन के समक्ष सामूहिक प्रदर्शन भी शामिल हैं।

### अध्याय १२

१. ऐरनाल्ड—चाइनाज पोस्टवार ट्रेड, एनल्स आव अमेरिकन एकेडेमी, नवम्बर १९२५, पृष्ठ ८२।
२. पिछले तीन वर्षों के उच्च निर्यात स्तर की अपेक्षा यह कम है, किन्तु १९२६ के मुकाबले अधिक है।
३. चाइना ईयर बुक (१९२४), पृष्ठ ६७१।
४. इस शर्त पर कि देशी उत्पादन उसी अनुपात में घटा दिया जाय।
५. चाइना ईयर बुक (१९२४), पृष्ठ ५५२।
६. ये आँकड़े उस सारणी से लिये गये हैं जो जुलियन ऐरनाल्ड ने ऊपर उद्धृत ग्रन्थ के पृष्ठ ८४ पर तथा ग्रोवर क्लार्क ने 'इकानामिक राइवलरीज इन चाइना (१९३२)' पृष्ठ १११ पर दिया है।
७. देखिए, इस अध्याय का अनुभाग ४।
८. ऐरनाल्ड—कामर्शियल हैंडबुक आव चाइना (१९१९), जिल्द २, पृष्ठ ३२२।
९. चाइनीज सोशल ऐण्ड पोलिटिकल साइंस रिव्यू, जिल्द ८, संख्या १ और २ में प्रकाशित जे. बी. टेलर का लेख 'चाइनीज रूरल इकानामी।' गरीबी की सीमा रेखा उन्होंने १५० डालर या इससे कम की वार्षिक आय पर रखी है।
१०. ऊपर उद्धृत ग्रन्थ, पृष्ठ २४४–२४५।
११. कई किस्मों में तो संस्थानों की संख्या १९२२ और १९३१ के बीच दूनी ही हुई, किन्तु कुछ में चौगुनी हो गयी।
१२. उद्योगीकरण के मार्ग में आनेवाली इन तथा अन्य प्रकार की बाधाओं की चर्चा पोलिटिकल साइंस क्वार्टरली, जिल्द ५२, पृष्ठ १८–५० पर प्रकाशित बार्चार्ड के 'कंट्रास्ट्स इन दि प्राग्रेस आव इण्डस्ट्रियलाइजेशन इन चाइना ऐण्ड जापान' में भलीभाँति की गयी है।

१३. चाइना ईयर बुक (१९२४), पृष्ठ ६५८ देखिए। जे. बी. काण्डलिफीकृत चाइना टुडे : इकानामिक, पृष्ठ १०५–११० भी देखा जा सकता है।

१४. टी. पी. मेग और सिडनी गेम्बल—प्राइसेज, वेजेज ऐण्ड स्टैण्डर्ड आव लिविंग इन पेकिंग (१९००-१९२४)। चाइनीज सोशल ऐण्ड पोलिटिकल साइंस रिव्यू, जुलाई १९२६ के विशेषाक मे प्रकाशित।

१५. वही, पृष्ठ ११०।

१६. वही, पृष्ठ १११।

१७. शघाई चाइल्ड लेबर कमीशन की रिपोर्ट से। रिपोर्ट चाइना ईयर बुक (१९२४-१९२५)। पृष्ठ ५४५–५६१ पर पूर्ण रूप मे प्रकाशित हुई है।

## अध्याय १३

१. साइरस एच. पीक—नेशनलिज्म ऐण्ड एजुकेशन इन माडर्न चाइना, पृष्ठ ७१।

२. हु शिह—दि चाइनीज रेनेसाँ, पृष्ठ ७२–७३।

३. पीक, ऊपर उद्‌धृत ग्रन्थ, पृष्ठ ७१।

४. चाइना ईयर बुक (१९२४), पृष्ठ ६४३।

५. देखिए, चाइनीज सोशल ऐण्ड पोलिटिकल साइंस रिव्यू, जिल्द ६, पृष्ठ ९७ पर प्रकाशित हुशिह का लेख। 'दि चाइनीज रेमेसाँ' नाम से प्रकाशित उनके विचारपूर्ण व्याख्यान भी देखे जा सकते है।

६. वही, पृष्ठ ९७।

७. वही, पृष्ठ ९९।

८. पीक, ऊपर उद्‌धृत ग्रन्थ, पृष्ठ १३९ तथा उसके बाद के पृष्ठ। एम. टी. जेड त्याउ कृत चाइना अवेकेड, पृष्ठ ११ भी देखा जा सकता है।

९. सूटहिल—दि थ्री रेलिजस आव चाइना, पृष्ठ ४९।

१०. सूटहिल, ऊपर उद्‌धृत ग्रन्थ, पृष्ठ १४३।

११. वही, पृष्ठ १०८।

१२. चाइना ईयर बुक (१९२४), पृष्ठ ६१४।

१३. विलियम्स—चाइना येस्टर्डे ऐण्ड टुडे, पृष्ठ ३१०।

## अध्याय १४

१. पीछे, अध्याय ५, अनुभाग ८।

२. ब्रायन—जापान फ्राम विदिन, पृष्ठ १९७।

३. इस कथन के सामान्यतया सच होते हुए भी यह बात जानने योग्य है कि प्राक्-आधुनिक युग के अनेक कालो में स्त्रियो की साहित्य तथा मनोरंजन विषयक

गतिविधियाँ मान्य रही हैं।

४. अध्याय १५, अनुभाग ६।

५. ब्रायन, ऊपर उद्धृत ग्रन्थ, पृष्ठ १३९।

६. गुलिक—वर्किंग विमेन आव जापान, पृष्ठ १०५।

७. वही।

८. राबर्टसन-स्काट, फाउण्डेशंस आव जापान, पृष्ठ ३२९।

९. अध्याय १५, अनुभाग ९।

१०. राबर्टसन-स्काट, ऊपर उद्धृत ग्रन्थ, पृष्ठ ८८।

११. अध्याय १५, अनुभाग ७।

१२. ब्रायन, ऊपर उद्धृत ग्रन्थ, पृष्ठ १४३।

१३. वही, पृष्ठ १४४।

१४. अध्याय १५, अनुभाग ४।

१५. ब्रायन, ऊपर उद्धृत ग्रन्थ, पृष्ठ २४७।

१६. वही, पृष्ठ २१५।

१७. जापान ईयर बुक (१९२६), पृष्ठ १८७; (१९४०), पृष्ठ १५५; जापान-मंचूकुओ ईयर बुक (१९३७), पृष्ठ १३५–१३६।

१८. ब्रायन, ऊपर उद्धृत ग्रन्थ, पृष्ठ २६२।

१९. जापान ईयर बुक (१९२६)।

### अध्याय १५

१. इस अध्यादेश में १९०८ में इस उद्देश्य से संशोधन किया गया कि सेवानिवृत्त अधिकारी काम पर लाये जा सकें, किन्तु इससे स्थल या नौ-सेना का नियंत्रण समाप्त नहीं हुआ। आगे चलकर मूल व्यवस्था पुनः संस्थित हो गयी।

२. हार्नबेक—कांटेम्पोरैरी पालिटिक्स इन दि फार ईस्ट, पृष्ठ १५२।

३. मे आइजी काल की समाप्ति के बाद। सम्राट् मत्सुहितो की मृत्यु १९१२ में हो गयी। उनके उत्तराधिकारी योशिहितो ने सिंहासनारूढ़ होने पर 'ताइशो' (महान् नीति परायण) की उपाधि ग्रहण की।

४. हार्नबेक, ऊपर उद्धृत ग्रन्थ, पृष्ठ १६७–१६८।

५. वही, पृष्ठ १६७।

६. इवासाकी—वर्किंग फोर्सेज इन जापानीज पालिटिक्स, पृष्ठ १०५।

७. जापान ईयर बुक (१९२१–१९२२), पृष्ठ ६२।

८. अध्याय ५, अनुभाग ८।

९. अध्याय १६ विशेष रूप से देखिए।
१०. लाटन—एम्पायर्स आव दि फार ईस्ट, जिल्द २, पृष्ठ ९२६।
११. अध्याय १६, अनुभाग ३।
१२. सबसे अधिक निर्यात १९१७ मे हुआ था जो कि ७,६९,१२९ कोकू था। पिछले १५ वर्षों के आयात सम्बन्धी आँकड़े घटते-बढ़ते रहे है—१९१६ मे जहाँ यह ३,०९,१५८ ही कोकू था, वहाँ १९१८ मे ४६,४७,१६८ कोकू था। जे. डब्लू. राबर्ट्सन-स्काट, फाउण्डेशंस आव जापान, पृष्ठ ३८८।
१३. ब्रायन—जापान फ्राम विदिन, पृष्ठ ११८–११९।
१४. वृद्धि का यह क्रम १९३४ तक थोडी घट-बढ़ के साथ जारी रहा। इस अवधि में सर्वाधिक उत्पादन १९३३ में ७,०८,२९,११७ कोकू का था। आँकड़ो की विस्तृत जानकारी के लिए देखिए, जापान-मचुकुओ ईयर बुक (१९३७), पृष्ठ ३६६।
१५. राबर्ट्सन-स्काट, फाउण्डेशंस आव जापान, पृष्ठ ३७०।
१६. वही, पृष्ठ १५३।
१७. राबर्ट्सन-स्काट, वही, पृष्ठ ३५९।
१८. वही, पृष्ठ ३५९–३६०।

### अध्याय १६

१. अध्याय ६ और ८।
२. अनुच्छेद ३ का मूलपाठ, जैसा कि जापान ईयर बुक (१९१५), पृष्ठ ५७० पर दिया हुआ है।
३. जापान-ईयर बुक (१९२१-१९२२), पृष्ठ ५९०—५९१।
४. वही अपेक्षित स्थिति आगे के वर्षों मे भी कायम रही। जापान ईयर बुक के बाद के संस्करण भी देखिए।
५. इस दृष्टिकोण का विस्तृत प्रतिपादन कावाकानी और अडाची आदि लेखको ने अपनी रचनाओं में किया है। क्लाइड द्वारा अपनी पुस्तक 'इण्टरनेशनल राइवलरीज इन मंचूरिया' में समस्या का जो विश्लेषण किया गया है वही इसका आधार है।
६. टी.एफ.एफ. मिलार्ड जैसे अमेरिकन विधिवेत्ताओ की रचनाओ में भी यह दृष्टिकोण प्रकट हुआ है।
७. देखिए, अध्याय ९।
८. २९ मई, १९१३ को हुए समझौते के अनुसार उन्हें नियमित सीमाशुल्क उगाही का दो-तिहाई ही देना पड़ता था।

९. डाक-सुविधाओं का नियंत्रण भी इसलिए किया गया कि जिसमें विदेशियों को परेशानी हो और जापानियों को सहायता मिले।
१०. हार्नबेक—कांटेम्पोरेरी पालिटिक्स इन दि फार ईस्ट, पृष्ठ २६२।
११. अन्तिम रूप से सर्वोच्च न्यायालय द्वारा १९२२ में निर्णीत। ताकाओ ओजावा बनाम संयुक्त राज्य अमेरिका।
१२. देखिए, वील कृत इनडिस्क्रीट क्रानिकल फ्राम दि पैसिफिक।
१३. अमेरिकन डिप्लोमैट इन चाइना, पृष्ठ १२३। टी. ई. ला. फार्गुए कृत 'चाइना ऐण्ड दि वर्ल्ड वार' मे हाल की ऐंग्लो-जापानी वार्ता का विवरण बहुत ही सावधानी के साथ दिया हुआ है।
१४. अमेरिकन डिप्लोमेसी इन चाइना पृष्ठ १२९।
१५. राइंस्ख, ऊपर उद्धृत ग्रन्थ, पृष्ठ १३३।
१६. वही, पृष्ठ १३४। पूंजीवादियों द्वारा समर्थित ओकुमा-सरकार की मूल माँगो मे यह जो पाँचवाँ समूह सेना के दवाव से जोड़ा गया वह इस बात का स्पष्ट परिचायक था कि आर्थिक साम्राज्यवाद से भिन्न राजनीतिक साम्राज्यवाद का जोर ज्यादा है।
१७. अध्याय ११।
१८. ए. डब्लू. ग्रिस्वोल्ड—दि फार ईस्टर्न पालिसी आव दि युनाइटेड स्टेट्स, पृष्ठ २१५–२१६।

### अध्याय १७

१. वील द्वारा 'फाइट फार दि रिपब्लिक' में उद्धृत, पृष्ठ ३३२।
२. वील, पृष्ठ ३३४।
३. त्याऊ, चाइना अपेकेण्ड परिशिष्ट बी, पृष्ठ ३९७। सिनेट की परराष्ट्र सम्बन्ध समिति के समक्ष डाक्टर जान. सी. फर्गुसन द्वारा दिया गया वक्तव्य भी देखिए। फारेन राइट्स ऐण्ड इण्टरेस्ट्स इन चाइना (प्रथम संस्करण) नोट, पृष्ठ ३९२ पर विलोबी द्वारा उद्धृत।
४. छात्र आन्दोलन के सम्बन्ध में अध्याय १३, अनुभाग ६ देखिए।
५. इस बहिष्कार आन्दोलन का यह प्रभाव देखने में आया कि मई और सितम्बर के बीच जापान से सूत का आयात गिरकर १२ से ४ हजार पिकुल तक आ गया। अन्य पदार्थों का आयात भी इसी अनुपात में गिर गया था।
६. चाइना ईयर बुक (१९२५), पृष्ठ ७८३–७८५ में दिये गये मूलपाठ से।

## अध्याय १८

१. मेम्वायर्स आव ए रिवोल्यूशन, पृष्ठ १६९ ।

२. अध्याय ७, अनुभाग २ ।

३. पहले तो पश्चिम के लोगों ने इस सैनिक टुकड़ी को बालशेविज्म का प्रतिकारक माना और यह आग्रह किया कि इसे हटाने के बजाय साइबेरिया पर नियन्त्रण स्थापित कर लेने दिया जाय । पहले तो इन लोगो ने इसे स्वीकार न किया, किन्तु जब इन पर हमला हुआ तो इन्हे अपनी प्रतिरक्षा करनी पड़ी । फलतः अनचाहे पर लोग साइबेरिया के मामले मे फँस गये । इस देश पर उनका अधिकार तथा उनका यह कहना कि हमने पूंजीवाद के लिए इस पर कब्जा कर रखा है उनके लिए खतरनाक सिद्ध हुआ । रूसी उन्हें शका और सन्देह की दृष्टि से देखने लगे । वस्तुतः यही उनके लिए खतरनाक साबित हुआ न कि सशस्त्र जर्मनों और आस्ट्रियनों की उपस्थिति ।

४. न्यूयार्क टाइम्स, करेण्ट हिस्ट्री, जिल्द ८, पृष्ठ ४६६–४६७ ।

५. वही ।

६. ऐसा प्रतीत होता है कि यह काम अमेरिकी पूंजी के सामने चारा फेकने के लिए किया गया । इसका उद्देश्य कदाचित् यह था कि रूस सरकार अमेरिका को सुविधा देकर इसके शोषण के लिए मार्ग प्रशस्त कर रही थी । उस वक्त यह कहा जा रहा था कि रूस की सरकार इस प्रकार जापान और अमेरिका को आपस में उलझा देने की आशा कर रही है ।

७. निकोलेवस्क में हुए सघर्ष में कई सौ जापानी तथा बहुतेरे रूसी मारे गये । इस उपद्रव की बहुत कुछ जिम्मेदारी जापानियो पर है, जिन्होने वहाँ स्थापित सरकार का स्वरूप निश्चित करने का प्रयास किया ।

८. अनुच्छेद ५ । मूलपाठ के लिए देखिए । मचूरिया-सन्धियाँ और समझौते, कार्नेगी एनडाउमेण्ट फार इण्टरनेशनल पीस (१९२१), पृष्ठ ३२-३३ ।

९. अध्याय २०, अनुभाग १–३ ।

१०. फ्रांसीसी अनुवाद से अनूदित घोषणा के मूलपाठ के लिए देखिए, चाइना ईयर बुक (१९२४), पृष्ठ ८६८–८७० । यह जानने के लिए क्या यह उपबन्ध वस्तुतः मूल रूसी घोषणा में था तथा इस प्रश्न के बारे में विस्तृत विवरण प्राप्त करने के लिए देखिए आर. टी. पोलार्डकृत 'चाइनाज फारेन रिलेशन' (१९१७–१९३१), १९३३, अध्याय ५–६ ।

११. यह उपबन्ध एक उपबन्ध के रूप में बढ़ा दिया गया था जिसमें ऐसी ही सोवियत सन्धियाँ उसमें शामिल की जा सकें।

१२. इस समझौते का विरोध इस आधार पर किया गया था कि यह वाशिंगटन-सम्मेलन में स्वीकृत सिद्धान्तो के विपरीत पड़ता था। रूस में सुव्यवस्थित और एकीकृत राज्य की स्थापना तक अमेरिका नें उसको नैतिक संरक्षण देने का विचार अपनेपन में पल्लवित कर रखा था। सरक्षण का यह विचार चीनी-पूर्वी रेलवे के सम्बन्ध में कार्यान्वित भी किया गया था। अन्य पक्षों को अलग रखने का जो विरोध किया गया उसका कोई असर न हुआ। इस समझौते के अनुसार फ्रांसीसी बन्ध धारकों, रूसी एशियाई बैंक तथा मित्रों के नियंत्रण काल में सामग्री और उपकरण आदि देने के कारण रेलवे प्रशासन पर दावा रखने वाले अमेरिकनों के हितो को संरक्षण देने की बात बिलकुल ही हवा हो गयी।

१३. इसके मूल पाठ के लिए देखिए, चाइना ईयर बुक (१९२५), पृष्ठ ७९७—८००।

१४. अध्याय १०, अनुभाग ५।

## अध्याय १९

१. हवाई सम्बन्धी अमेरिकी नीति के लिए देखिए, आई. पूरका डाइजेस्ट, पृष्ठ ४८३-४८८। यह बात कही जा सकती है कि इसमें और जापान की मंचूरियाई नीति में बहुत कुछ सादृश्य है।

२. इस अपवाद से ब्रिटेन को यह सुविधा प्राप्त हो गयी कि वह सिंगापुर की सुदृढ़ किलेबन्दी कर सके।

३. वाशिंगटन सम्मेलन के पहले और बाद में भी साइबेरिया की स्थिति के सम्बन्ध में पीछे अध्याय २८, अनुभाग ४—६ में विचार किया गया है।

४. कानफ्रेंस ऑन लिमिटेशन आव आरमामेंट, सिनेट डाकुमेंट नंबर १२६, पृष्ठ ४४४। आगे एस. डी. के साकेतिक नाम से इसकी चर्चा की जायगी।

५. एस. डी. नम्बर १२६, पृष्ठ ४५४—४५५।

६. देखिए, अध्याय १६, अनुभाग २ तथा अध्याय ७, अनुभाग ७।

७. एस. डी. नम्बर १२६, पृष्ठ ६३०।

८. सिद्धान्तों और नीतियों के बारे में नौ शक्तियों के बीच हुई सन्धि के लिए देखिए एस. डी. नम्बर १२६, पृष्ठ ८९५—८९९ पर उल्लिखित अनुच्छेद १

९. एक दूसरे अपवाद की ओर भी ध्यान आकृष्ट करना आवश्यक प्रतीत होता है। वह है मौजूदा वायदो के बारे मे प्रस्ताव । इसके अनुसार यह व्यवस्था हुई थी कि चीन तथा विदेशी सरकारों के बीच जो भी समझौते हों उनकी शर्तों से सम्मेलन के सचिवालय को तथा शक्तियों को अवगत कराया जाय ।
१०. चाइना ऐट दि कानफ्रेंस, पृष्ठ ३३८–३३९ ।
११. यह तय हुआ कि चीन उन सरकारी नोटों को जापान से छुडाने के लिए किसी विदेशी सूत्र से ऋण न लेगा ।
१२. अध्याय २०, अनुभाग ६ ।
१३ रिपोर्ट का मूल पाठ अमेरिकी परराष्ट्र विभाग ने प्रकाशित किया है (१९२७)। इसकी सिफारिशों के लिए देखिए, पृष्ठ १०७–१०९ ।
१४. मूलपाठ के लिए देखिए, एस डी. नम्बर १२६, पृष्ठ ८९७–९०१ ।
१५. विस्तृत विवरण के लिए देखिए, चाइना ईयर बुक (१९२४), पृष्ठ८३७–८४९ तथा (१९२५), पृष्ठ १२९६–१३०० ।
१६. इसके अनुसार काररवाई करने का एक पक्षीय अधिकार प्राप्त हो गया ।

### अध्याय २०

१. ति'आंग लियांग–ली, इनर हिस्ट्री आव दि चाइनीज रिवाल्यूशन, पृष्ठ १३९ ।
२. सन-जाफ घोषणा के मूल पाठ के लिए देखिए, चाइना ईयर बुक (१९२४), पृष्ठ ८६३ ।
३. ति'आंग लियांग-ली, इनर हिस्ट्री, पृष्ठ १७७ । ति'आग ने लिखा है कि सनयात सेन ने प्रेसिडेसी (राष्ट्रपतित्व) को समाप्त कर देने का प्रस्ताव किया था, किन्तु प्रस्तावित दलीय संविधान पर रिपोर्ट देने के लिए जो समिति उन्होने नियुक्त की थी उसने उनकी बात अनसुनी कर दी। ति'आंग का यह भी कहना है कि सनयात सेन ने दलीय सघटन का मसविदा स्वयं उपस्थित किया, जिसका मतलब यह हुआ कि इसे मैंने तैयार किया है, भले ही उन्होने यह स्पष्ट रूप से कहा न हो । इस प्रश्न पर तथा दलीय घोषणा-पत्र का मसविदा तैयार करने में रूसी प्रभाव पर राष्ट्रवादी चीनी लेखको द्वारा व्यक्त किये गये मतो और लुई फिशर द्वारा 'दि सोवियत्स इन दि वर्ल्ड अफेयर्स' जिल्द २, पृष्ठ ६३९–६४० पर व्यक्त किये गये मत का तुलनात्मक अध्ययन मनोरजक सिद्ध होगा ।
४. इस कागज की प्रामाणिकता और इसके प्रारूप के बारे में देखिए, एच.एफ.मैंक-नायर, चाइना इन रिवाल्यूशन, पृष्ठ ७९ । ति'आंग, इनर हिस्ट्री, पृष्ठ १९३–१९७ । इस 'वसीयत' का महत्त्व इसलिए उतना नही है कि इसमे क्या

लिखा है, वरन् इसलिए है कि इसमें जिन कागज-पत्रों की चर्चा आयी है उन्होंने राष्ट्रवादी चिन्तन को ठोस रूप दिया है।

५ यह बात ध्यान देने योग्य है कि इस दृष्टि से जीवन-यापन के सिद्धान्तों के बारे में पहले दिये गये व्याख्यानों तथा बाद की अपूर्ण श्रृंखला वाले व्याख्यानों में स्पष्ट असगतियां है। ऐसा प्रतीत होता है कि मारिस विलियम्स की पुस्तक 'सोशल इण्टरप्रिटेशन' पढ़ने के बाद सनयात सेन के विचार बदल गये।

६. यह १८ महीने तक जारी रहा।

७. हैंकाऊ और नानकिंग द्वारा अभियान जारी रखने का प्रयास किया गया, किन्तु इसमें इतनी ही सफलता मिली कि पहले जो कुछ हानि हुई थी उसके आँसू पुंछ गये।

८. हैंकाऊ सरकार द्वारा जब हैंकाऊ और क्यूकियांग मे ब्रिटेन को प्राप्त सुविधाएँ रद्द कर दी गयीं तो उसकी परेशानी बढ़ गयी। टैकाइके परराष्ट्रमन्त्री के रूप में यूजेन चेन ने जो घोषणाएँ की उनसे विदेशियों की आशंकाएँ कम नहीं हुई और न उन घोषणाओं का इरादा ही आशंका घटाने का था।

९. फेंग यू सियाग पीकिंग-तिन्त्सिन क्षेत्र पर कब्जा न कर ले, इस उद्देश्य से येन सि-शानको पहले ही उस पर अधिकार कर लेने का आदेश दे दिया गया।

१०. जापानी सैनिको ने १९३७ में जब इस पर अधिकार कर लिया तो उसका नाम बदल कर पीकिंग कर दिया गया।

११. इसका मतलब था १९११ के बाद बनी हर सरकार के समक्ष उपस्थित मुख्य समस्या पर सीधा प्रहार।

१२. वहाँ वह राजनीतिक दृष्टि से १९३३ तक एक प्रकार से निष्क्रिय रहा। १९३३ में ही उसने जापान का लगातार विरोध करने की आवाज उठायी और युद्धविराम की शर्त पर समझौते की निन्दा की।

१३. इसी हैसियत में पहले हैंकाउ में वह रह चुका था।

१४. यह भी सभव था क्योकि उसे शंघाई के बैंक मालिकों का विश्वास प्राप्त था।

१५. एच. एस. क्विगले और जी. एच. ब्लैकसली रचित 'दि फार ईस्ट, ऐन इण्टरनेशनल सर्वे' पृष्ठ १६२।

## अध्याय २१

१. लिटन आयोग द्वारा।

२. फ्रेडरिक वी-फील्ड द्वारा सम्पादित 'इकानामिक हैण्डबुक आव पैसिफिक एरिया' १९३४, पृष्ठ ३५३। इस अध्याय में जो भी आँकड़े दिये गये है, सब इसी

पुस्तक के है। प्रोफेसर सी. एफ. रेमर द्वारा अत्यंत परिश्रमपूर्वक लिखी गई पुस्तक 'फारेन इनवेस्टमेंट्स इन चाइना' (१९३३) भी देखिए।

३. ऊपर उद्धृत ग्रंथ, पृष्ठ ३६०।

४. इनसाइक्लोपेडिया आव दि सोशल साइंसेज, जिल्द १२, पृष्ठ ११०–१११।

५. ग्रेसन किर्क, फिलिपाइन इनडिपेंडेंस, १९३६, पृष्ठ ६०।

६. किर्क, उपर उद्धृत ग्रन्थ, पृष्ठ १०३। अध्याय ५ में कांग्रेस द्वारा इस प्रश्न पर हुए विचार का विश्लेषण किया गया है।

७. श्री माटेगू द्वारा हाउस आव कामंस में दिये गये वक्तव्य से जी. एन. स्टाइ-गर द्वारा हिस्ट्री आव दि फार ईस्ट (१९३६), पृष्ठ ८०७ पर उद्धृत। माटेगू-चेम्सफोर्ड रिपोर्ट में इस बात की सिफारिश की गयी थी कि सावधानी से, किन्तु अधिकाधिक अधिकार निर्वाचित केन्द्रीय और प्रान्तीय परिषदों को समर्पित किये जायँ। देखिए, इनसाइक्लोपेडिया आव दि सोशल साइंसेज, जिल्द ७, पृष्ठ ६६९।